'पण' : देवपूजा-प्रकाशस्तंभ

यं देवासोऽवथ वाजसातो
यं शूरसाता मरुतो हितेधने।
प्रातवर्णं रथमिन्द्रसानसिम
अरिष्यन्तम् आसहेमास्वस्तये ॥
[ऋग्वेद, १०-६३-१४]

—हे देवताओ, हे मरुतो, जिस शक्तिकारक, शूर संग्राहक, हितसाधक और धनदायक रथ को तुम संभालकर चलाते हो, प्रातः होते ही चल पड़ने वाले, सीधा इन्द्र द्वारा तक पहुँचानेवाले और टूट-फूट से बचा हुआ रहनेवाले उसी रथ पर हम भी चढ़ा चाहें और परम सुख-लाभ किया चाहें।

•

हमारी वैश्य जाति के आदि पूर्वज इसी मन्त्र-मर्म के उद्गाता पण नामक बलशाली-पराक्रमी शासक थे। उनका शासन गो-धन पर था, व्यापार पर, अन्तर्राष्ट्रीय बाणिज्य पर था। समुद्र की लहरों को वे अपनी विशाल नौकाओं के चप्पुओं से मथते थे और उनसे नवनीत-रूप स्वर्ण-रौप्य अर्जित करते थे। उनके दल सरस्वती, गंगादि विशाल नदी के तटों पर विराजते थे। विचरण, प्रवास, समुद्र-यात्रा, पर्यटन और गतिशील मानव-रूप बनकर ये चारों दिशाओं के दक्ष ज्ञाता थे।

वेदकाल, पुराणकाल के बाद भारत के ३००० वर्षीय हिन्दूकाल का जब अवसान निकट आया, तब भी ये अपने यौवनकाल में थे ! गुप्तकाल इन्हीं के संबल से भारत का स्वर्णकाल कहलाया। स्वर्ण बहुमूल्य धातु का नाम तो है ही, लोक-जीवन के महत् धर्म की बहुमूल्य परिणति का नाम भी है !

८ वीं सदी से पण जाति के उत्तराधिकारी वैश्य पुनः प्रवास-धर्म के नायक बने, १८ वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक बने रहे। देश-काल की बलिवेदी पर प्रवास-धर्म का मूल्य ये चुकाते रहे, पर वैदिक धर्म और वष्णव पूजा के धनी भी बने रहे। इनसे ही २० वीं सदी के महानगर बने। इनसे ही विगत २००० वर्षों के सहस्त्रों मंदिरों ने दीर्घ जीवन का अस्तित्व पाया।

विनम्र सूचना

जालान पुस्तकालय का यह तृतीय पुष्प-ग्रन्थ पाठकों के हाथों में देते हुए हमें जो संतोष हो रहा है, उसे उचित शब्दों में प्रकट करना सरल नहीं है ! प्रथम दो ग्रंथ गीता की विशद व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किये गये थे और उनके लेखक थे जयपुर के श्री मोतीलाल जी शास्त्री, जिनकी विद्वत्ता से भारत के प्रथम राष्ट्रपति तक प्रभावित हुए थे। मोतीलाल जी अब इस दुनियां में नहीं हैं, लेकिन वे राजस्थान के वरद् पुत्र थे। उनके लिखित दोनों ग्रंथ विद्वानों द्वारा समादृत हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ भी अपने विषय का प्रथम ग्रंथ बना है, इसे पाठक गण स्वीकार करेंगे। राजस्थान के मंदिरों पर पुराविदों ने अपनी-अपनी दृष्टि से फुटकर रूप में विचार किया है, प्राचीन मूर्तियों के लेख अनुसंधान व शोध-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र निकले हैं। लेकिन मंदिरों की एक धारावाहिक कहानी का ग्रंथन अपने आप में कठिन दायित्व था, उनका चित्रीकरण तो और भी दुरूह कार्य नजर आ रहा था। हमें संतोष है कि इस काम में राजस्थान सरकार के सूचना-विभाग के डायरेक्टर महोदय ने तथा देवस्थान के विभाग के अधिकारियों ने स्तुत्य सहयोग दिया, उसी के बल पर इस ग्रंथ का प्रारंभिक कार्य सम्पन्न होने की स्थिति प्राप्त हो सकी। आदरास्पद लेखक ने एक साथ छः मास तक इस ग्रंथ के सूत्रों का संचय व चित्रीकरण जिस निष्ठा से किया, वह हमारे लिए प्रारम्भिक संतोष का विषय था। कुल मिलाकर मंदिरों के व प्राचीन मूर्त्तियों के २००० चित्र उतारे गये।

श्री सूरजमल जी जालान का जीवन-कृतित्व इस ग्रंथ का प्रथम खण्ड है, मन्दिर-प्रकरण द्वितीय खण्ड। द्वितीय खण्ड की काफी शोभनीय सामग्री प्रथम खण्ड से ही चित्रित करने का सिलसिला कलात्मक शैली से प्रारम्भ किया गया है। द्वितीय खण्ड में मूर्तियों व मन्दिरों के चुने हुए तिरंगे, इकरंगे व रेखाचित्र लगभग ४०० की संख्या में दिये गये हैं। राजस्थान के प्राचीन मंदिरों में प्राप्त होनेवाली शृंगार-मूर्तियां तो संभवतः इतनी बड़ी संख्या में प्रथम बार ही प्रकाशित की जा रही हैं। यह हमारे लिए गर्व की बात है कि प्रथम बार ही, अन्य अनेक प्राचीन-अर्वाचीन प्रतिमाओं के साथ, मीरा के गिरधर नागर का चित्र प्रकाशित किया जा रहा है।

यह इस विषय का विनम्र प्रयास है। इसे प्रस्तुत करते हुए हम उन सब के प्रति आभार प्रकट करते हैं, जिनके साहाय्य-सहयोग से यह ग्रन्थ तैयार हो सका। इन महानुभावों की पूर्ण सूची ग्रन्थ के अन्त में 'आभार' स्तंभ में संलग्न की गई है।

—रामकृष्ण सरावगी
मंत्री

सम्पादक :

राधाकृष्ण नेवटिया

श्यामदेव देवड़ा

सूरजमल मोठोलिया

रामकृष्ण सरावगी

(प्रथम और द्वितीय खण्ड)

लेखक

ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ'

प्रकाशक :

सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय

१८६, चित्तरंजन ऐवेन्यू ,

कलकत्ता-७

मूल्य २५) रुपये

भगवान राम

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान् वशी ॥ ८ ॥
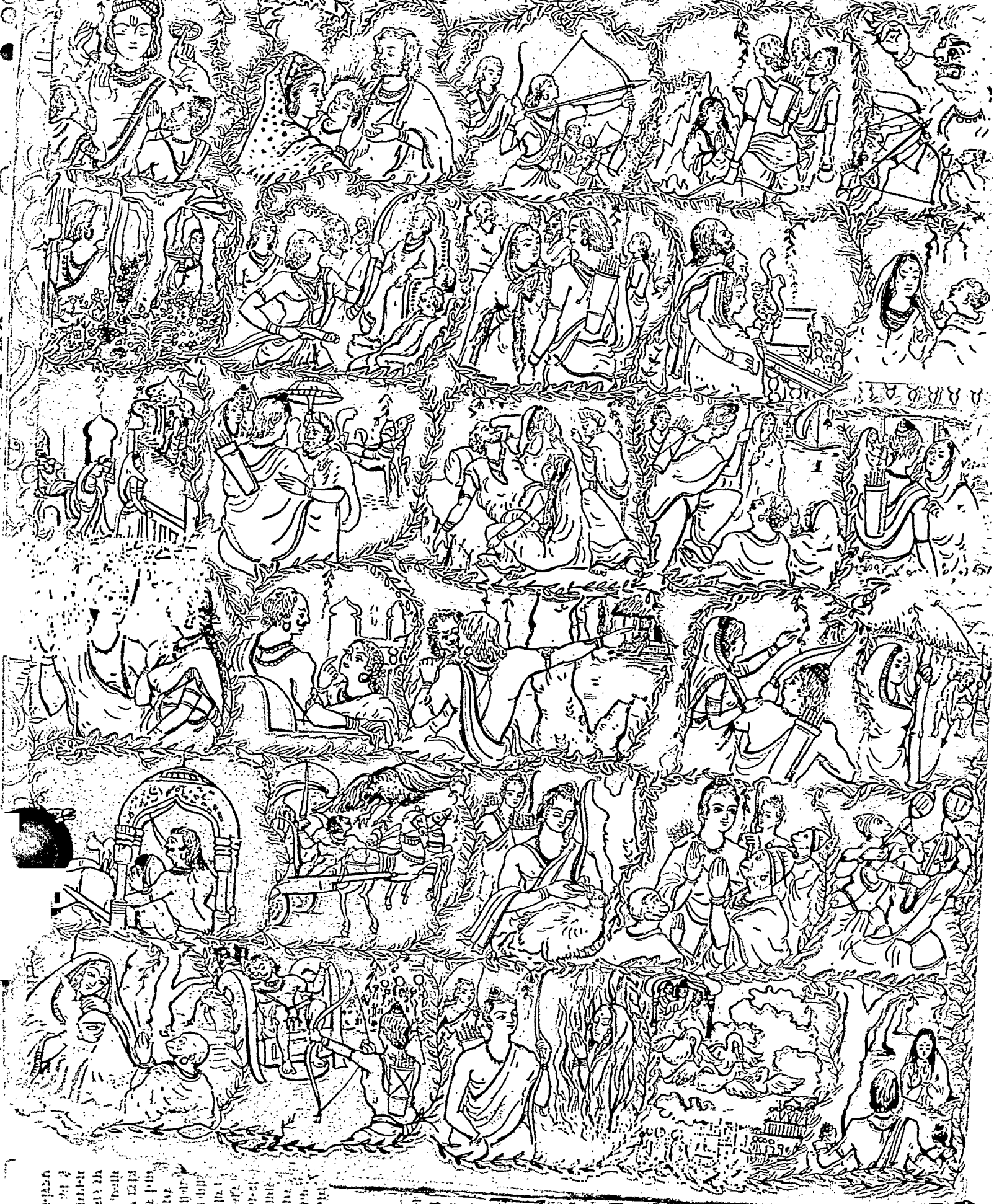
महाराज इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न श्रीरामचन्द्र जी को सब जन जानते हैं। वे नियतस्वभाव (मन को वश में रखने वाले), बड़े बली, अति तेजस्वी, आनन्दरूप, सब के स्वामी हैं।

बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ ९ ॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ १० ॥

सर्वज्ञ, मर्यादावान्, मधुरभाषी, श्रीमान्, शत्रुनाशक, विशाल कंधे वाले, और मोटी भुजाओं वाले, शङ्ख के समान गरदन पर तीन रेखा वाले, बड़ी ठुड्डी (ठोढ़ी) वाले, चौड़ी छाती वाले और विशाल धनुषधारी हैं। उनकी गरदन की हड्डियां (ऊपरी हड्डियां) मांस से छिपी हुई हैं, उनकी दोनों बाहें घुटनों तक लटकती हैं। उनका सिर और मस्तक सुन्दर हैं और वे बड़े पराक्रमी हैं ॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥ ११ ॥

उनके समस्त अङ्ग न बहुत छोटे हैं और न बहुत बड़े हैं, (जो अंग जितना लम्बा या छोटा होना चाहिये वह उतना ही लम्बा या छोटा है।) उनके शरीर का चिकना सुन्दर रंग है, वे प्रतापी व तेजस्वी हैं। उनकी छाती मांसल है (अर्थात् हड्डियां नहीं दिखलाई पड़तीं), उनके दोनों नेत्र बड़े हैं, उनके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुन्दर हैं और वे सब शुभ लक्षणों से युक्त हैं।

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥ १२ ॥

वे शरणागत की रक्षा करना, इसे अपना धर्म जानने वाले हैं। प्रतिज्ञा के दृढ़, अपनी प्रजा के हितैषी, अपने आश्रितों की रक्षा करने में कीर्ति-प्राप्त, सर्वज्ञ, पवित्र, भक्ताधीन, आश्रितों की रक्षा के लिए चिन्तावान् अथवा निज तत्व का चिन्तन करने वाले हैं।

प्रजापतिसमः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ १३ ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ १४ ॥

वे ब्रह्मा के समान प्रजा का रक्षण करने वाले, अति शोभावान्, सब के पोषक, शत्रु का नाश करने वाले अर्थात् वेदद्रोही और धर्मद्रोही उनके शत्रु हैं, उनको नाश करने वाले, धर्मप्रवर्तक, स्वधर्म और ज्ञानी जन के रक्षक हैं। वेद वेदाङ्ग के तत्वों को जानने वाले तथा धनुर्विद्या में अति प्रवीण हैं।

श्री लक्ष्मणजी, श्री भगवान रामजी, श्री मातेश्वरी सीताजी एवं हनुमानजी।

[जालान स्मृति-भवन में प्रतिष्ठित प्रसिद्ध विग्रह]

सम्पादकीय :

मधु-छत्र रूपी जीवनादर्शों का चरित्र
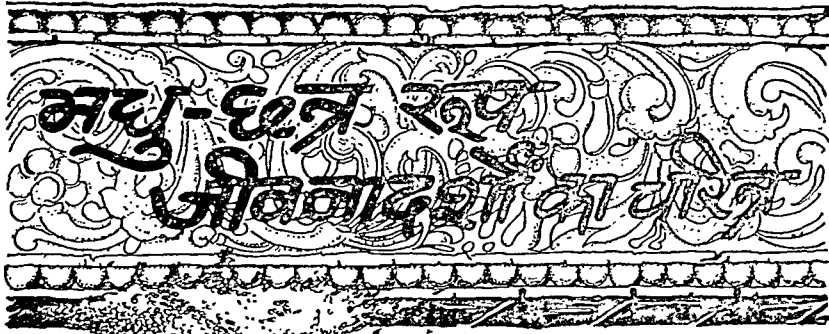
स्पष्ट रूप से उन्नीसवीं और बीसवीं सदी का जो अन्तर युग की परिस्थितियों में रहा, वैसा ही एक स्थूल विभाजन वंश-परम्पराओं में रहा। राजस्थान के जो प्रवासी भाई कलकत्ता में आकर स्थायी रूप से बसे और उन्होंने अपनी गद्दियाँ स्थापित कीं, उनकी गाथा अनेक अवसरों पर अनेक प्रकार से लिखी गयी है और उनमें व्यक्तियों के महत्व को प्रमुखता दी गयी है। पर क्यों कुछ व्यक्ति अपने वंशों की गहरी नींव रोप गये, क्यों कुछ व्यक्ति कुछ युगों के लिए भारत-विख्यात् गद्दियों की नींव डाल गये और क्यों कुछ व्यक्ति केवल व्यापार के अथवा अन्य जीवन-अवलम्बनों के प्रवाह में ही बहते हुए अकल्पनीय चमत्कार उत्पन्न करने में ही शेष हो गये, इस पृष्ठभूमि के रहस्यमय

सत्यों का विश्लेषण अभी तक नहीं हुआ है। यह व्याख्या तभी संभव हो सकती है, जबकि हम १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध और २० वीं सदी के प्रारंभ की भाव-धाराओं का स्पष्ट अंतर समझ लें। इसी विनीत प्रयास को सूत्रवद्ध करने के लिए इस योजना का सम्पादन हाथ में लिया गया था।

यद्यपि कलकत्ता में सूतापट्टी, अफीम चौरस्ता और वड़ा वाजार के अन्य अंचलों में १९वीं सदी के बीतते न बीतते अनेक प्रसिद्ध गद्दियों का आविर्भाव हुआ है, किन्तु २० वीं सदी के शुरू होने के वाद जिन व्यापारिक प्रतिष्ठानों का अस्तित्व सामने आया, वे अपने पूर्ववर्ती सेठ-साहूकारों की रीति-नीति और जीवन-शैली से वहुत आगे प्रगति-प्रिय वन चुके थे। कहने को सुधारवादी और चपकन-पार्टी अथवा समाज-पंच अथवा रूढ़िवादी अथवा सनातनी कह कर हम दो व्यक्ति-दलों की चर्चा कर दिया करते हैं, लेकिन इस स्थूल परिवेश में उन दिवंगत व्यक्तियों की आत्मा अपने दिव्य दर्शन नहीं देती। जो राजनीतिक जागरण का संदेश सामाजिक धरातल पर लाते हुए सुधारों का अभियान लेकर सामने आये, उनका सत्य अवश्य स्तुत्य रहा, लेकिन जो इस युग के तुमुल-घोष से दूर रहकर, समाज-हित की अनेक वरणीय योजनाओं का श्रीगणेश कर गये, उनका कृतित्व भी व्यापक स्तर पर वंदनीय वना है।

इस सदी के द्वितीय चरण में 'सूरजमल नागरमल' नामक फर्म की स्थापना हुई थी। सेठ सूरजमल जालान उसके स्वप्नदृष्टा प्राण थे। उनकी स्मृति में सेन्ट्रल-ऐवेन्यू में, मुक्ताराम वावू स्ट्रीट मोड़ पर, एक विशाल जालान-स्मृति-मंदिर खड़ा हुआ है। कई सहस्र व्यक्ति वहाँ पर उपस्थित होते हैं। यह एक भवन ही उनकी यशोगाथा नहीं कहता। वे क्या निर्माण समाज को देकर गये, वह कहानी वड़ी है। वे गरीवी से उठे थे। प्रारंभ में उन्होंने अपने पिता-श्री का ऋण भी चुकाने में कोई कसर न रखी। पर जीवन की अन्तिम घड़ियों में उन्होंने कलत्रगहि सैन्य (वश में रहनेवाली सेना) की तरह अपनी अगाध सम्पत्ति को इस तरह समाज-सेवा के लिए नियुक्त किया कि सहसा ही महर्षि जनक की स्मृति मूर्तिमान हो जाती है। वे निस्पृह भाव से जैसे सम्पत्ति-जनित अपना रहा-सहा मल धोकर ही इस लोक से विदा हुए, कुछ इस रहस्य को स्फुट रूप में व्यक्त करते हुए उन्होंने अपनी मृत्यु-शैया पर अपनी अगाध पूँजी में से जो वितरण किया, अपने आपमें वही कहानी इतनी पर्याप्त है कि हम सव श्रद्धा से उनके प्रति विनीत हो उठते हैं। कोई वहलवान, वाग का माली, दरवान, ड्राइवर, वहन-वेटी, भानजा-भतीजा, गरीवी के दिनों के विश्वासपात्र मित्र, निष्ठावान मुनीम और अनेक दूरस्थ परिचित जन उस वितरणसे वंचित न रहे। उसके वाद उन्होंने ५ लाख रुपयों से एक स्मृति-मंदिर वनवानेका 'डीड' अपने हाथ से लिखा। उसकी वारीक से वारीक योजनांश पर स्वयं अपने विचार पुष्ट किये। वे ऐसे ही निर्भुक्त योगी थे! साधुता के सरल वेश में वे युग-वंदनीय वैश्य थे।

सूरजमल जी का नाम नई संतति में लोकप्रिय वना रहे, यह किस की चाहना न रहेगी। उनके अनेक आदर्श आज भी अनुकरणीय हैं। उनका जैसा साहसी जीवन में जो हो जाये, तो शेष क्या रहे? वह साहस मानसिक वल या आत्मा का वल लेकर वहुत अधिक न था, वह तो उनकी अन्तर्दृष्टि का था। शायद इसी का सुफल था कि वे अनेक कम्पनियों के सर्वेसर्वा होकर भी, उनके डायरेक्टर अथवा चेयरमैन न हुए। उन्हें इस तरह के पदों से मोह न रहा। ऐसा न था कि उन जैसे धनपति के लिए इस प्रकार का और इस शैली का जीवन विताने का लाभ अथवा लोभ न रहा होगा। लेकिन वे अपना अधिकांश समय निष्ठा एवं विनीत भाव से व्यतीत करने में विश्वास करते थे। उसी विश्वास का सुदृढ़ वीज वाद में इतना चित्ताकर्षण करनेवाला हुआ कि समाज में वे लोकप्रिय वने; जो लोग उनके विचारों से सहमति नहीं रखते, वे भी उनके पास परामर्श एवं सहायता लेने के लिए जाते थे। उनकी दिशाओं की संख्या हम कैसे गिनें, जवकि समस्त दिशाओं के रुचि-भेद के लोक-ख्यात् व्यक्ति उनके प्रति श्रद्धा-सम्मान रखते थे। यह सम्मान इसलिए नहीं था कि सरकारी पदवियाँ उन्होंने ग्रहण की थीं, कभी नहीं। यहाँ तक कि वीकानेर राज्य के सम्माननीय सेठ होने के वावजूद उन्होंने वहाँ के दरवार से भी कोई सम्मान ग्रहण नहीं किया। पदवियाँ और सम्मान क्षणिक हैं, सूरजमल जी की आसंदी इस स्तर से ऊपर की थी।

[५. झालावाड़ के सूर्य-मंदिर
का कलात्मक स्तंभ]

सूरजमल जी के जीवन की कहानी घटनाओं को लेकर विस्तार पाने के लोभ का संवरण करती । उस कहानी का एक ही वर्म है । एक छत्र छत्रपति सम्राट का होता है, एक छत्र आंचलिक नरेश का ता है । एक छत्र वर-यात्राके समय भी शिरोधार्य कराने के लिए अपने सुनहले रूप को लेकर उठता है, किन मधु-छत्र की तुलना में अन्य सभी राजसी अथवा सामाजिक छत्रों की महत्ता अपना अर्थ उसी तरह ोने लगती है, जिस तरह संजीवनी बूटी के समक्ष अन्य जड़ी-बूटियाँ विनीत और संकोच में रह जाती हैं।

ल जी ने अपना जीवन किन आदर्शों को लेकर व्यतीत किया, इसका अध्ययन करने के बाद एक ८ सत्य हमें हाथ लगता है कि वे आजीवन मधुछत्र की केवल कल्पना ही नहीं करते रहे, उसकी रचना करने में उन्होंने अपने को खपाया, अपने को होमा । उनका वह मधुछत्र उनके बाद रिक्त न हुआ, प्रबल भाव से द्विगुणित हुआ है । इस यशोगाथा का मूल रहस्य यही है । अथर्व वेद के ये चार श्लोक ही मानो वे आजीवन गुनगुनाते रहे थे :

अश्विना सारघेण मा, मधुनांक्तं शुभस्पति ।
यथा भर्गस्वतीं वाचम्, आवदानि जनां अनु ।।१३६।।

हे शुभ संरक्षक ,अश्वी देवो ! मुझे शहद की सी मिठास से भर दो । लोगों के मध्य में मैं जो भी शब्द कहूँ, वह (मीठे) प्रभाव से भरा हो ।

मधु जनिषीय, मधु वंशिषीय ।
पयस्वानग्न आगमं, तं मा संसृज वर्चसा ।।१४०।।

मैं मिठास को पैदा करूँ । मैं मिठास को आगे बढ़ाऊँ । हे अग्नि देव ! मैं पुष्टि से भरा हुआ आया हूँ । मुझे प्रतापी बनाओ ।

यथा मधु मधुकृतः सम्भरंत मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनी ध्रियताम् ।।१४२।।

जैसे मधु-मक्खियाँ मधु के ऊपर मधु जोड़ती रहती हैं, हे अश्वी देवो ! वैसे ही मेरे अन्दर(प्रताप के ऊपर) प्रताप(नित्य) जुड़ता रहे ।

यथा मक्षा इदंमधु न्यजंन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्चस्, तेजो बलमोजश्व ध्रियताम् ।।१४३ ।।

जैसे (शहद की) मक्खियाँ मधु के ऊपर मधु थोपती जाती हैं, हे अश्वी देवो ! वैसे ही मुझ में प्रताप, तेज, बल, और ओज एकत्रित होता रहे ।

इस ग्रंथ में दो खंड प्रस्तुत किये गये हैं । एक में सेठ सूरजमलजी जालान का जीवनादर्श एवं युग में किये गये नवनिर्माण की भूमिकाओं का मूल्यांकन है । दूसरे खंड में राजस्थान के मंदिरों का प्रामाणिक इतिहास है । पहली बार, इस इतिहास को चार सौ रंगीन व सादे चित्रों में सचित्र किया गया है । इस रूप में राजस्थान के सांस्कृतिक पक्ष को सर्वप्रथम बार शोभनीय रूप में प्रकाशित करने का जो यह आयोजन हुआ है, उसके लिए हम केवल सूरजमल जी के जीवन का पुण्य ही स्मरण करते हैं । उन्होंने न केवल देव-मंदिरों की कल्पना की, बल्कि विद्या-मंदिर, स्वास्थ्य-मंदिर, चिकित्सा-मंदिर आदि अनेक रुपाय मंदिरों की योजना की दीर्घ शृंखला के नियामक बनने का संकल्प वे लिये रहे । अतः इस द्वितीय खंड को हम उनके प्रति श्रद्धांजलि रूप में यहाँ भेंट कर रहे हैं ।

श्री मोहन लाल जी जालान सेठ सूरजमल जी के एकमात्र वंश-दीप हैं । साहित्य और संस्कृति के समस्त आयोजनों में उनका सहयोग रहता है । वे केवल रतनगढ़ की सार्वजनिक योजनाओं में ही अत्यधिक समय नहीं देते, सम्पूर्ण राजस्थान के मनोरम इतिहास के पुनर्लेखन में उनकी रुचि बराबर रही है । उनका यह सहयोग इतिहास के क्षेत्र में सदैव स्मरणीय रहेगा ।

यह ग्रंथ समाज को समर्पित है, नई पीढ़ी को सस्नेह भेंट है ।

—सम्पादक

[प्रतापगढ़ में दुर्लभ शिल्प- दर्शन की वस्तु : दीपाली
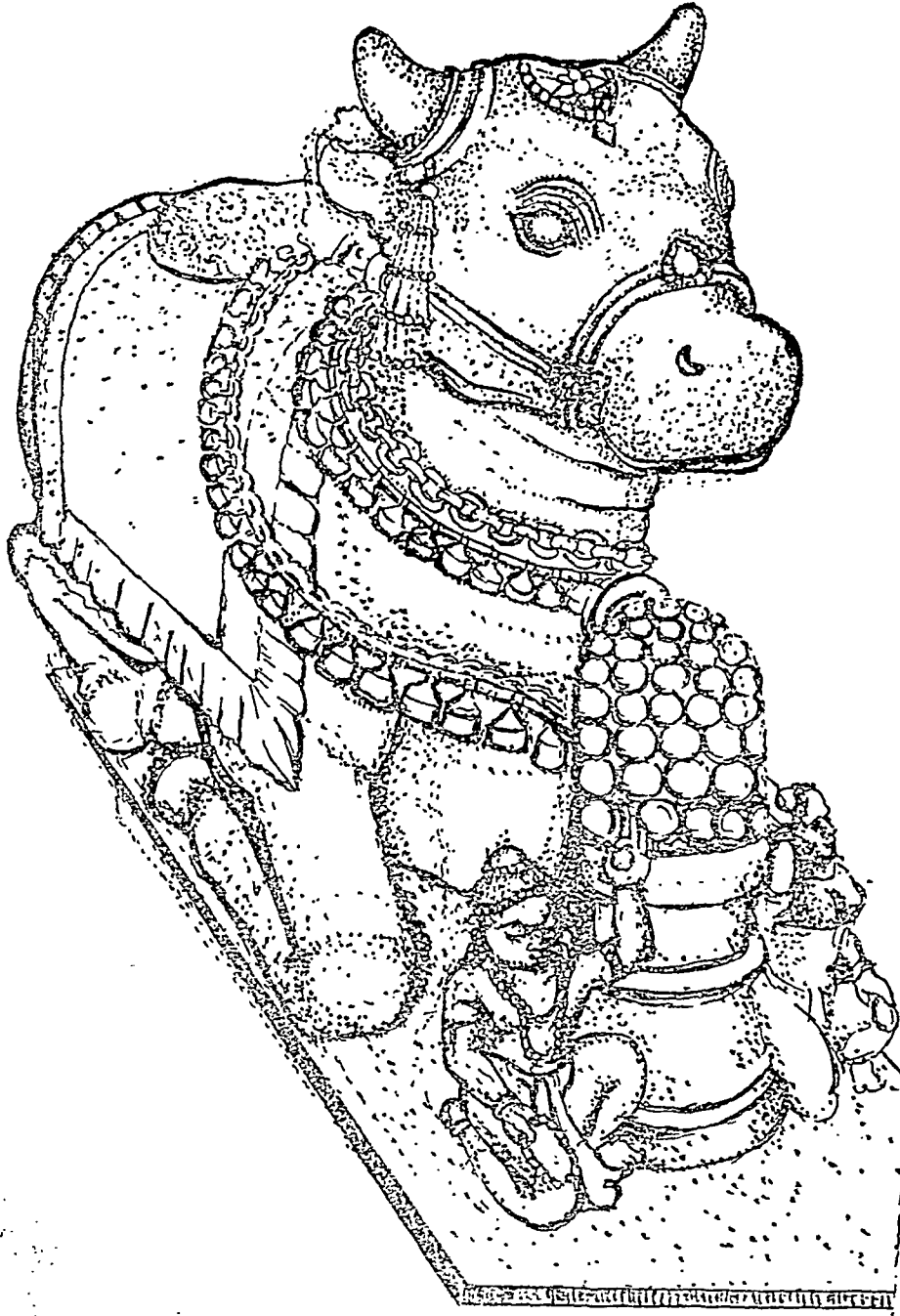
[कोटा में चम्बल के तट पर छोटी समाधि पर
स्थित विशाल नंदि : लगभग ३५० वर्ष प्राचीन

नंदि-श्रेष्ठ और उनके कुल की वंदना

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु
गोष्ठे रणयन्त्वस्मे
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय
पूर्वोरुषसो दुहानाः
(अथर्व ४।२१)

—गौओं ने हमारे यहाँ आकर हमारा कल्याण किया है। वे हमारी गोशालाओं में सुख से बैठें और उन्हें अपने सुन्दर शब्दों से गुंजा दें। ये विविध रंगों की गौएँ अनेक प्रकार के बछड़े-बछड़ियाँ जनें और इन्द्र (परमात्मा) के यजन के लिए उषःकाल से पहले दूध देनेवाली हों।

●

गावोमामुपतिष्ठन्तु हेमश्रृंग्यः पयोमुचः
सुरभ्यः सौरभेय्यश्च सरितः सागरं यथा ।
गा वै पश्याम्यहं नित्यं गावः पश्यन्तु मां सदा
गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम् ।।

—नदियाँ जिस प्रकार समुद्र से जा मिलती हैं, उसी प्रकार सुवर्ण श्रृंगवाली और दूध देनेवाली गौएँ मुझे प्राप्त हों। ऐसा हो कि मैं नित्य गौओं को देखूँ और गौएँ मेरी ओर देखें; कारण, गौएँ हमारी हैं और हम गौओं के हैं; गौएँ हैं, इसी से हम लोग भी हैं।

(इक्ष्वाकुवंश के राजा सौदास को महर्षि वशिष्ठ द्वारा दिया गया उपदेश)

●

उपेदमुप पर्चनमासु गोषूप पृच्यताम्
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ।।
(ऋग्वेद ६।२८।८)

—यह पुष्टिकारक अन्न इन गौओं में परिपूर्ण होकर रहे; हे इन्द्र ! तेरे पराक्रम में तथा बल के वीर्य में यह सब है।

वृषस्त्वं भगवान देव ! (स्कन्द० नागर० २५६।५८)

—देव ! तुम वृष रूपी भगवान हो ! देवताओं ने यह प्रार्थना वृषभ के रूपमें, सुरभि से जब शंकर भगवान अवतीर्ण हुए, तब की थी। उसके अनन्तर प्रजापति के आग्रह से भगवान शिव ने वृषभ को अपना वाहन बनाया और अपनी ध्वजा को उसी वृषभ के चिह्न से सुशोभित किया। इसी से उनका नाम वृषभध्वज पड़ा। यह वृषभ कृष्ण भगवान का श्रेष्ठतम नंदि था।

गौर्मे माता ऋषभः पिता मे दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा। (ऋग्वेद)

—गाय हमारी माता हैं, नंदि हमारे पिता हैं। ये दोनों हमें स्वर्ग और ऐहिक सुख प्रदान करें। भारतीय शिल्प में शिव की प्रतिमा के समक्ष नंदी का माहात्म्य यही है!

नयनोत्सव की दिशाएँ जिन्होंने एक क्षितिज पर सिमटाई थीं !

अरं लोकः प्रियतमो देवानाम पराजितः।   अ ५, ३७, १७

—यह लोक देवताओं को प्यारा है, यहां पराजय का क्या काम ?

दक्षश्च मे वलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।   य १८, २

—मेरी क्षमता और मेरा वल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो !

[१]

सन् १९५०। वारह वर्ष पहले की वात है। लाहौर जेल से छूटकर, पांच वर्ष तक राजस्थान में हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अपनी विनीत सेवाएँ प्रस्तुत करते हुए, राजस्थान की अनेक दिशाओं में भटकता रहा था। यह भटकना तरीके का न था, तरतीव से न था। कि सहसा ही कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले 'नवभारत-टाइम्स' का प्रधान समाचार-सम्पादक नियुक्त हुआ। कलकत्ता

[आबू के विमल वसही मंदिर का उन्नत द्वार →

की दिशाएँ आनन्द-दायिनी हैं; यह सुन चुका था। जब कलकत्ता १ जनवरी, १९५०, को पहुँच गया, स्थायी निवास सहसा ही न मिला। ऐंटाली-स्थित पत्र-कार्यालय में ही टिकने के लिए विवश था। जब अवकाश मिलता, मित्रों से कलकत्ता का प्रारंभिक परिचय जानता। राजस्थान के प्रवासी भाइयों ने कलकत्ता के जन-जीवन में विशाल योगदान दिया है, यह पढ़-सुन रखा था। इन्हीं भाइयों के अंचल को देखने के लिए मैं पहली वार अपने एक मित्र के साथ वड़ावाजार आया और सबसे पहले उसने सेंट्रल-ऐवेन्यू से प्रारंभ करते हुए, शुभ-श्री-गणेश के रूप में, राम-मंदिर दिखाया। उसे 'जालान-मंदिर' भी कहते हैं। वह सेठ सूरजमल जालान की स्मृति में बनाया गया है। इस दर्शनीय स्थल को देखते ही सुपुप्त भावनाओं का सागर मानो उमड़ पड़ा। मंदिर के अन्दर ही पुस्तकालय और कन्याओं का उच्चस्तरीय हाई-स्कूल स्थापित है, यह देखकर राजस्थान की महत् परम्पराओं का भूला-विसराया अतीत आँखों के आगे झिलमिल करने लगा। देशी रियासतों के इतिहास से पहले, हमारे मरु-प्रदेशीय मंदिरों का अस्तित्व, सामाजिक संदर्भ में, निरा पूजा-भवन मात्र न था, उसके अर्थ वहुत-सी भाव-धाराओं को चरितार्थ करते थे। पूजा, नैवेद्य और परम ज्ञान के वे त्रि-संगम थे। केवल वयस्क ही वहाँ न पहुँचते, वालक-वालिकाओं के लिए वहाँ पर सुपुष्ट ज्ञानामृत भी वितरित हुआ करता था। जालान-मंदिर में भारतीय संस्कृति के सजीव-सप्राण इस त्रि-संगम के आधुनिक संस्करण को देखकर विचारधारा को सहसा ही एक नये क्षितिज का मानो दर्शन हो गया; वहुत देर तक वहाँ रहा और राजस्थान में वड़े पैमाने पर किये गये अपने भ्रमण की स्मृतियों को एक सीधी रेखा में वैठाने की चेष्टा करने लगा। यद्यपि आधुनिक मंदिरों में पुस्तकालय व कन्या-पाठशाला स्थापित करने की वात एक अभिनव कल्पना थी, लेकिन निश्चित रूप से सनातन भारत की अछूती परंपरा को ही यहाँ पर प्रतिष्ठित किया गया था। प्राचीन भारत में हमारे देवालय हमारी ज्ञान-पीठिका के वंदनीय दायित्वों को वहन करते थे। वहीं पर हमारे ज्ञान-कोष ग्रंथ सुरक्षित रखे जाते थे। मंदिर सामाजिक स्तर पर प्रजा का मिलन-गृह था, गृह-लक्ष्मियों का शील-सुलक्षण प्रासाद था। कुलीन गृहणियाँ नियमित समय पर देवाराधन के लिए उपस्थित होतीं। वह सम्पूर्ण अतीत आँखों के आगे मूर्तिमान हो गया। किसी आनन्द-तीर्थ में जैसे अवगाहन हो गया हो, कुछ ऐसे ही अतिरेक भावों से स्नात् मैं वाहर चला आया।

अव, वहुत देर तक मंदिर के वाहर सड़क पर खड़ा हुआ, भवन की कलात्मक शिल्प-रचना को ही नहीं देखता रहा, मंदिर में आगत दर्शनार्थियों को भी दृष्टि-स्पर्श देता रहा। मुझे ऐसा लगा कि यह मंदिर केवल मंदिर ही नहीं, या स्थानाभाव को स्तुत्य रूप से पुस्तकालय एवं वालिका-विद्यालय का परिवेश पहनाकर, यहाँ पर धर्म-गंगा व ज्ञान-गंगा की सुरसरि भी नहीं वहायी गयी है। यह तो वास्तव में ऐसा नवोद्धृत है, जो सदैव ताजा मक्खन के रूप में कोटि-कोटि आगतों को अपनी अक्षय स्निग्धता से सम्मोहित, परिपूरित करता रहेगा। मित्र ने वताया कि वर्ष भर में, यहाँ जालान-मंदिर में लगभग चार-पाँच लाख दर्शनार्थी उपस्थित होते हैं। सुन कर विश्वास हो गया, इस देश में पश्चिमी सभ्यता की महामारी के संक्रमण को चुनौती देता हुआ, यह भारत की सनातन शुद्ध जीवन-प्रणाली का पुष्पोद्यान वना रहेगा।

सूरजमल जालान स्मृति-मंदिर को देखने के वाद, वड़ावाजार के एक-दो दर्शनीय स्थल और देखे, फिर हम लौट आये। कई दिनों तक पुरानी स्मृतियों की पृष्ठभूमि में वड़ावाजार में राजस्थान के प्रवासी समाज के वैभव का गुणनफल भिन्न दृष्टिकोणों से मैं करता रहा। आखिर इस निष्कर्ष पर मुझे पहुँचने में देर न लगी, कि राजस्थान केवल क्षत्रियों का इतिहास-पुंज ही नहीं है। वहाँ पर सत्रहवीं सदी के वाद, नगर-नगर और ग्राम-ग्राम वैश्यों की संस्कृति ही हावी रही है। नगर-रचना में शोभनीय रूप से वैश्य व ब्राह्मण वर्गों ने अपना अद्वितीय-अविस्मरणीय कृतित्व प्रस्तुत किया है और अधिकांश में जो मंदिर वहाँ पर वनते रहे हैं, उनका श्रेय इन्हीं दो वर्गों को है। क्षत्रिय अपने गढ़ व प्रासाद में रहा, नगर-विस्तार इन दो वर्गों ने किया। गढ़ के प्राचीर के अन्दर जो धन आया, वह इन्हीं वर्गों का अर्जन था। रह-रह कर दुख उपजा कि राजस्थान के जो इतिहास आज तक प्रकाशित हुए हैं, सामन्तों व नरेशों का दारुण्य ही अधिक प्रदर्शित हुआ है, शेष प्रजा-वर्गों के कृतित्व की दरिद्रता ही दरसाई गयी है। मन पर एक वोझ-सा समा गया। और अवसर की प्रतीक्षा में रहा कि राजस्थान के इन वन्द सम्पुटों को खोलने का अभियान प्रारंभ करना चाहिए। लेकिन, उचित प्रमाणों के अभाव में, कुछ वर्षों तक यह कार्य हाथ में न ले सका। हाँ, इस अवधि में मारवाड़ी समाज के अतीत पर अनुसंधान-कार्य का प्रचुर समय मुझे मिला। ठोस प्रमाण हाथ लगे, फिर भी क्रमवद्ध सूत्रों की शृंखला वहुत जल्दी हाथ न लगी। हाँ, चार वर्षों वाद, नवलगढ़ नगर पर एक संक्षिप्त अनुसंधान[१] करने का सुअवसर हाथ आया। वह शेखावटी का एक प्रसिद्ध ठिकाणा रहा है, लेकिन उसकी संस्कृति किस तरह वैश्य-संस्कृति निर्धारित की जा सकती है, इस पर मैं ने विस्तार से प्रमाण प्रकाशित किये। कलकत्ता में सुधियों ने उसे अपनी स्वीकृति दी।

कलकत्ता का जालान-मंदिर रतनगढ़-निवासी जालान वंश द्वारा स्थापित किया हुआ है। १९४४ के उपरान्त रतनगढ़ दो-तीन अवसरों पर देखा था, वहाँ के हनुमान-पुस्तकालय को मैंने अपना प्रवास-तीर्थ वनाया था। जव १९६१ में, दिसम्वर मास में, मैं मारवाड़ी समाज के ५ हजार वर्षीय इतिहास की अनुसंधान-यात्रा पर निकला, तो पहला पड़ाव रतनगढ़ में ही किया। सन् १८७० में प्रकाशित गजेटियरों में रतनगढ़ की चर्चा है। पर गजेटियरों में जो वर्णन है, वह झञ्झी (फूटी कौड़ी) की ध्वनि ही देता है, उसमें राजपूताना के

१ नवलगढ़-विद्यालय स्वर्ण-जयंती अंक में विधिवत् प्रकाशित

अंचलों का विशुद्ध राष्ट्रीय स्वरूप अपना घोष नहीं करता। इसलिए इस बार रतनगढ़ किस तरह आदर्श रूप में वैश्य-संस्कृति का नगर बनता गया है, इसी अध्ययन की दृष्टि से उसका निरीक्षण किया। नगर की रचना सुव्यवस्थित, नगर के अन्दर-बाहर पक्की सड़कें, दोनों ओर सघन छायादार वृक्ष, दर्शनीय पिंजरापोल, सेवार्थ स्थापित वस्तु-भंडार, कालेज, पानी की टंकी और सार्वजनिक नल, विशाल आधुनिक अस्पताल, उच्चस्तरीय विद्यालय का इतना बड़ा भवन कि जिसमें एक सहस्र छात्र आधुनिकतम रीति-नीति का उच्च शिक्षण प्राप्त कर सकें, और भवन की वाह्य रूपरेखा ऐसी कि मनमें गर्व उपजे, विद्युत से सज्जित आरामप्रद धर्मशाला, ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, बीच नगर-चौक में अपनी मनः हर शैली का नया प्रतिनिधि घंटाघर, सार्वजनिक 'स्विमिंग-पूल' और विशाल उद्यान, रामेश्वरम् शिवालय का शिखर आधुनिक राजस्थान की भव्य कलाकृति, स्टेशन से शहर में घुसते समय बीच सड़क के चौराहे पर अशोक-स्तम्भ, अद्भुत शिला-विधानों से गर्वोन्नित अनेक मंदिर, रेल-लाइन के निकट रमादेवी शिवालय को घेरे हुए दूसरा विहार-उद्यान और प्राचीन-अर्वाचीन पुस्तकों का उल्लेखनीय भंडार 'हनुमान पुस्तकालय'—इस तरह रतनगढ़ बीकानेर राज्य का एक मुख्य स्थान रहा है। सबसे बड़ी बात यह कि बीच बाजार में मुख्य सड़क पर दोनों ओर जो भी हवेली, वह किसी करोड़पति की। अथवा किसी करोड़पति की ससुराल! करोड़पति नवलगढ़ आदि में भी हुए, पर रतनगढ़ कोट्यावीशों का नगर है, इसलिए यहाँ का जो भी जन-वैभव है, नगर की दर्शनीयता है, वह राजकीय नहीं है, वह नगर-सेठों की है। और इस समय रतनगढ़ के मुख्य नगर-सेठ ये जालान ही हैं, जिन्होंने कलकत्ता में जालान-मंदिर का निर्माण करवाया है।

आधुनिक राजस्थान में नगर-सेठों ने, राजस्थान की दुहरी गुलामी से मुक्ति के बाद, किस तरह अपने ग्राम व कस्बों को नगरों का वैभवपूर्ण बाना पहनाया है, रतनगढ़ में यह देखकर आनन्द का अस्फुट उच्छ्वास रह-रहकर एक नये अभीष्ट का स्वप्न देखने लगा। प्रवासी वैश्य और अन्य वर्ग राजस्थान से बाहर घनघोर कष्टों में गये, लौटे तो वे अपने पूरे गाँव भर के लिए सम्पत्ति लेकर लौटे, अपने ऐश्वर्य में वे सब को साझीदार बनाकर यहाँ नये सिरे से आबाद हुए। जब कि अंग्रेज भारत की सारी सम्पत्ति का अपहरण करने में लगे हुए थे, उस समय इस देश का वणिक, कम से कम राजस्थान में, इन्हीं अंग्रेजों के साथ व्यापारिक सहयोग से जो सम्पत्ति अर्जित कर रहा था, उसका रोपण समाज-कल्याण और नगर-कल्याण के लिए कर रहा था। नवलगढ़, पिलानी, रामगढ़, डूंडलोद, महणसर, लक्ष्मणगढ़, फतहपुर आदि, और यह रतनगढ़ नगर अकेले खड़े हुए इस महत् परम्परा की ओजस्वी विजय के अनोखे आदर्श हैं। लेकिन, उस समय तो मैं एक अनिवर्चनीय सुखानुभूति का प्रसाद पा गया, जब मुझे मालूम हुआ कि रतनगढ़ के इस नगरी वैभव को अधिकांश में सेठ सूरजमल जी जालान के जीवन-काल में ही स्थापित करने का सिलसिला शुरू कर दिया गया था। इस उदात्त भद्र भावना का समारोह उन्हीं के वरद् हस्त से उद्घाटित हुआ था, वे ही इस पूजा-भावना के भीष्म पितामह[1] थे! उनकी पूजा समाज-हित में अर्पित थी। वे जीवन का प्रतिक्षण कल्याण-कामना में होमते थे। उनके बाद ही उनके दीर्घ क्रम को उनके सुपुत्र मोहनलाल जी जालान निरंतर, अभी तक, फलित किये जा रहे हैं। पर योजना तो उनके पिता श्री सूरजमल जी की ही है। अनायास मुंह से निकल गया कि ऐसे ही पुत्रों को लेकर हमारी यह वसुन्धरा 'देवयजनी' कहलायी है, क्यों कि उसके पुत्र किसी भी देवता से कम सिद्ध नहीं हुए हैं। कालांतर में हमने पृथ्वी से इतर शक्तियों को देवता कहा है, लेकिन मूल में देवता हमारी पृथ्वी के ही अभिनन्दनीय शक्ति-तत्वों का नाम था।

पद्म-पुराण में 'देवता' शब्द की अमृतधारा

[२]

जन-जीवन में हम किसी मनुष्य को देवता कहने के अभ्यस्त नहीं हैं। उसका कारण यह है कि ४००-५०० वर्षों से, जब से हमारे देश में बाहरी आक्रमणों का सांघातिक प्रहार होने लगा, दासता का अभिशाप हमारे संस्कारों को कुंठित बनाने पर तुल गया, हमारी वसुधैव कुटुम्बकं की नीति पीड़ित रहने लगी, तो जीवन-अस्तित्व की रक्षा करते हुए हमारे पूर्वजों की कष्ट-साधना के फलस्वरूप देवत्व की प्राप्ति का सिलसिला बहुत कुछ अवरुद्ध हो गया। ३६ कोटि देवी-देवता मध्ययुग से पहले जो निर्धारित हो चुके थे, वे हो चुके थे। उसके बाद राजस्थान में अंगुलियों पर गिने-चुने जो दिव्य पुरुष आये, उन्हें हमने संत कहकर ही संतोष किया। जाँभा जी, दादू जी, सुन्दरदास जी, लाल बाबा जी आदि ऐसे ही देवता-तुल्य महाभाग हुए। फिर भी लोक-जीवन में यह धारणा स्थान बनाये ही रही कि अमुक व्यक्ति देवता-स्वरूप है। देवता उस शक्ति का नाम है, जो शुभलक्षणों से युक्त रहते हुए, कर्मयोग का चमत्कार योजना-पुरुष हो। कृष्ण अथवा राम का देवत्व उनकी दिव्य योजनाओं में है। आर्यावर्त्त क्योंकि कर्म को अखंड यज्ञ-ज्योति की भूमि रहा,

---

[1] भीष्म-पितामह का अभिनव लोक-अर्थ मुझे मेवात में मिला, वहाँ एक मुहावरा इस प्रकार है—बेटा, भीष्म पितामह तब बनोगे, जब तोर सिर [illegible]!

इसीलिए इसके अधिकांश पूर्व-पुरुष ऋषि और महर्षि हुए और वे जन-जीवन में देवता के तुल्य वंदनीय मान्य हुए। शास्त्रों में अनेक स्थलों पर कौन मनुष्य देवता-स्वरूप हैं, उनकी गद्गद् कंठ से महत् शब्दों में चर्चा की गयी है। पद्म-पुराण (सृष्टि-खंड) में लिखा है :

सुराणां लक्षणं ब्रूमो नररूपव्यवस्थितम्।
द्विज देवातिथीनां च गुरुसाधु तपस्विनाम्॥
पूजा तपोरतो नित्यं धर्मशास्त्रे नीतिषु।
क्षमाशीलो जितक्रोधः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥
अलुब्धः प्रियवाक् शांतो धर्मशास्त्रार्थ सम्प्रियः।
दयालुर्दयितो लोके रूपवान मधुरस्वरः॥
वागीशः सर्वकार्येषु गुणी दक्षो बहावलः।
साक्षरश्चापि विद्वांश्च गीतनृत्यार्य तत्ववित्॥
आत्मविद्यादि कार्येषु सर्वतंत्रीस्वरेषु च।
हविष्येषु च सर्वेषु गव्येषु च निरामिषे।
सम्प्रीतश्चातिथौ दाने पर्वनीतिषु कर्मसु।
स्नानदानादिभिः कार्यैर्व्रतैर्यज्ञे सुरार्चनैः।
कालोगच्छति पाठैश्च न क्लीवं वासरं भवेत्।
अयमेव मनुष्याणां सदाचारो निरंतरम्॥ (पद्म० सृ० ७४,१०७-१११,११३-११४)

—अब हम नर-रूप में स्थित देवताओं का लक्षण बतलाते हैं। जो द्विज, देवता, अतिथि, गुरु, साधु और तपस्वियोंके पूजन में संलग्न रहनेवाला, नित्य तपस्या-परायण, धर्म एवं नीति में स्थित, क्षमाशील, क्रोधजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, लोभहीन, प्रिय बोलनेवाला, शांत, धर्मशास्त्र-प्रेमी, दयालु, लोक-प्रिय, मिष्टभाषी, वाणी पर अधिकार रखनेवाला, सब कार्यों में दक्ष, गुणवान, साक्षर, विद्वान, आत्म-विद्या आदि के लिए उपयोगी कार्यों में संलग्न, घी और गाय के दूध-दही आदि में तथा निरामिष भोजन में रुचि रखनेवाला, अतिथि को दान देने और पार्वण आदि कर्मों में प्रवृत्त रहनेवाला है, जिसका समय स्नान-दानादि, शुभ कर्म, व्रत, यज्ञ, देवपूजन तथा स्वाध्याय में ही व्यतीत होता है, कोई भी दिन व्यर्थ नहीं जाने पाता, वही मनुष्य देवता है।

पद्म-पुराण के इस कथन की पृष्ठभूमि में सहसा ही सूरजमल जी का चित्र विनयी भाव से लहराने लगा। रतनगढ़ में ही उनका जीवन विलक्षण बन कर नहीं रहा। कलकत्ता में जालान-स्मृति-भवन उन के मूर्तिमान यश को स्तम्भ-ध्वज सा लिये खड़ा है। वह मात्र स्मृति-भवन ही नहीं है, वर्ष-पर्यन्त अखंड रूप से चलनेवाला स्मृति-पर्व है। काशी में, हरिद्वार में और लक्ष्मणगढ़ जैसे अन्य स्थानों में सूरजमल जी ने जो आयोजन किये, वे उन के इस सेवा-समर्पित अभिमान के प्रतीक हैं कि वे रतनगढ़ के निवासी भर नहीं थे, उनका कीर्तन दिशाओं के ज्ञान को भूलने लगा था। देवता बनने की चाह उनमें नहीं थी; उस पथ के वे तीर्थयात्री अवश्य रहे, जो लोक-लोकान्तरों की समष्टि-भावना का चरणामृत पीने में आजीवन विश्वास दिलाता रहे। शास्त्र-विहित कर्मों में व्यस्त रहना उन्होंने सीख लिया था, अपने धन का वितरण वे शास्त्रीय रीति-नीति से करने के लिए दिवा-जागरण तो करते ही, रात्रि-जागरण भी करते। इन पंक्तियों के लेखक के पास सूरजमलजी जालान के हाथ-लिखे जो ४३ पत्र हैं,[१] वे इस बात के प्रमाण हैं कि उनकी श्वास-प्रश्वास में प्रार्थना, ऋत और सत्य की भावना, पवित्रता की भावना, श्रद्धा, आत्मविश्वास और प्रचंड सूर्य-सा आत्मविश्वास था। उदात्त भावनाओं का दीपक दिशि-दिशि जलाने में उनकी लालसा बहुत थी। उनकी तुष्टि कहाँ पूर्ण विराम पा सकी, वह कहानी अपने युग की एक विलक्षण कहानी है, वह कहानी उनके जीवन के अंतिम क्षणों की पठनीय कहानी है। रतनगढ़ उन्हीं सूरजमल जी की कर्म-वीरता की लोकप्रिय कहानी के रूप में बसा हुआ है। उस नगर में उनके कार्यों की सूची इतनी बड़ी है कि उससे पता चलता है, उनकी तपोच्छ्वास जैसी करुणा का हाथ अपने जीवन-लेख मौन भाव से घर की चौखट से बहुत दूर, सर्वजन की चौखटों पर मंडित तोरणों पर लिख गया है। इसी रूप में वे राजस्थान के प्रातःस्मरणीय नगर-सेठों की सूची में अपना नाम अमर कर गये हैं!

वे नगर-सेठ किस कोटि के थे, किस राष्ट्रीय स्तर पर वे संदेशवाहक ओज के धनी थे, उस को चरितार्थ करनेवाली एक घटना यहाँ पर दे दी जाए। बंगाल में (संयुक्त बंगाल में) लीग का मंत्रिमंडल बना हुआ था और साम्प्रदायिक अनाचार, शोषण, हिन्दुत्व के विपरीत अनर्गल प्रलाप आदि का जोर क्लेशदायक बना हुआ था। ऐसे क्षणों में मंत्रिमंडल को भंग करने के लिए एक योजना बनी। उस योजना की पूर्ति के लिए रुपया चाहिए था। स्व० मौलाना आजाद और स्व० बसन्तलाल मुरारका 'सूरजमल नागरमल' पहुँचे। रुपयों

१ ये पत्र उन्होंने श्री सूरजमल जी माठोलिया को लिखे थे।

की वात की गयी। सूरजमल जी के छोटे भाई ने विचार करने के लिए एक दिन की मुहलत माँगी और दूसरे दिन अपने ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा से २५ हजार की रकम दे दी गयी। लेकिन वाद में कुछ घटना ने ऐसा रुख लिया कि उन रुपयों की जरूरत नहीं पड़ी। वे रुपये वापस आ गये। सूरजमल जी ने उन रुपयों को लेने से इंकार कर दिया। उत्तर दिया कि ये रुपये तो राष्ट्र के लिए, राष्ट्र की सेवा के लिए दिये जा चुके, अव इनका उपयोग किसी और रूप में आप लोग ही राष्ट्र के लिए लगा दीजिएगा !

मौलाना आजाद को इस से पहले शायद इस तरह का दूसरा उदाहरण नहीं मिला था। राष्ट्रीय कार्यों के लिए दान पहले काफी दिये जा चुके थे, लेकिन दान का प्रति-दान जहाँ मुक्तकंठ से दान-दाता के प्रति 'वाह' कहने को विवश कर दे, वह यह पहला था !!

मन्दिरों की सत्ताके प्रहरियों का अखंड जागरण

[३]

रतनगढ़ बीकानेर के रतन सिहजी महाराज[1] के नामसे वसा। उससे पहले यह कोलासर नाम से साधारण गाँव था। १८वीं सदी के पूर्वार्द्ध में उसकी नींव पड़ी। और, ७० साल में वहाँ पर १६ मंदिर चिने जा चुके थे, यह सूचना गजेटियर देता है। राजस्थान के गजेटियर ने स्पष्ट रूप से समस्त नगरों और प्रमुख ऐतिहासिक स्थानों का संक्षिप्त परिचय देते हुए, यह अवश्य वताया है कि वहाँ कितने मंदिर हैं। वात क्या थी ? गढ़ अथवा राज-प्रासाद के वाद, सभी नगरों में गगनचुम्बी एक ही चीज सब का ध्यान आकर्षित करती थी, वह थी मंदिरों के ऊँचे शिखरों पर फहराती हुई ध्वजाएँ। मीलों दूर से ये मंदिर-ध्वजाएँ ही रेगिस्तान में वटोहियों-राहगीरों को शुभ सूचना देती थीं कि अव वे किसी रक्षित वस्ती के निकट पहुँच रहे हैं। दूसरे, इन मंदिरों का लोकसमाज में एक अर्थ और था। प्रजा का पालक राजा हुआ, लेकिन प्रजा को अभयदान इन मंदिरों ने ही दिया। प्रजा जहाँ नये स्थान पर गयी, वहाँ सब से पहले उस ने कुएँ खोदे और उसके वाद मंदिर वनाये। नगरों की रचना में मंदिरों का स्थान विशेष रूप से रक्षित किया जाता रहा है। उनकी योजना वनाने में नगर-शिल्पि अत्यधिक वुद्धि-श्रम करते थे। जिन स्थानों पर राजाओं अथवा उनकी रानियों ने मंदिर वनवाये, उनसे भी पता चलता है कि वे नगर के वहुत ही विशिष्ट स्थानों पर खड़े किये गये हैं। १७ वीं सदी के पहले मंदिर का निर्माण (उपलब्ध प्रमाणों से ऐसा पता चलता है) प्रजा-पति का दायित्व था, लेकिन १७ वीं सदी के वहुत पहले से उनको चिनवाने की दृष्टि से जो प्रणेता सामने आये, वे वैश्य व ब्राह्मण थे। १७वीं सदी के वाद, जिसे राजस्थान में हम जन-जीवन को राहत देने की दृष्टि से 'प्रतिजीवन-युग' कह सकते हैं, मंदिरों की लम्बी कतार, मरुधरा की इस दिशा से उस दिशा तक, जिन्होंने छायादार वृक्षों की तरह रोपी, वे प्रवासी वैश्य ही थे। अत्यधिक कष्ट-साधना से उन्होंने परदेशों में रुपया कमाया, लेकिन जव अपने गाँव या नगर लौटे तो कंधों पर लादी गयी थैली से उन्होंने एक मंदिर जव तक न वनवा लिया, उन्हें चैन न पड़ा। मंदिर के रूप में मानो वे अपने जीवन की सार्थकता और उनके अस्तित्व का प्रतिचिंतन करते थे। वह उनके जीवन-दर्शन का सवसे उज्जवल परिच्छेद वन गया था।

पर यह संकल्प सूरजमल जी अपने जीवन में इसलिए पूरा न कर सके, क्योंकि प्रभु के यहाँ से उन्हें अधिक जीवन-श्वासें न मिली थीं; वे प्रभु के प्यारे थे, उन्हें प्रभु का वुलावा अधिक जल्दी मिल चुका था। पर अपने मृत्यु-क्षणों में उन्होंने अपने हाथों से रातों-रात वैठकर एक योजना तैयार की। वह ज्ञान-स्मृति-मंदिर की थी। अभी तक जो मंदिर वनते थे, वे कोरे मंदिर वनते थे, पूजा-आरती और दर्शन के मंदिर होते थे; सूरजमल जी ने कहा कि नहीं, ऐसे मंदिर वहुत अधिक हित-सम्पादन नहीं करते, ऐसे मंदिर तो वहुत वन भी चुके, अव ऐसा वने कि जिस में पूजा-आरती और दर्शन का विधिवत् विधान जाग्रत रहे, लेकिन जहाँ कीर्तन-प्रवचन भी चले और जहाँ पर ज्ञान-धारा का सागर उमड़े और जहाँ पर कन्याओं के रूप में गृह-लक्ष्मी की शिक्षा का यज्ञ भी प्रज्ज्वलित होता रहे। यह नया मार्ग-दर्शन था, युगों-प्राचीन रूढ़ि का, सत्साहस करते हुए, एक नवीन मोड़ अपने हाथों प्रकट कर देना था। सूरजमल जी ने अपने जीवन में अनेकों साहसी कार्य किये, लेकिन इस साहस की तुलना किस से की जाए ? कहने दीजिये, वाण-शैया पर सोये भीष्म को जल-तृप्त करने के लिए जिस तरह अर्जुन ने वहीं पर वाण के छेदन से पृथ्वी का गर्भ चीर कर, जल की धारा को उद्गमित किया था, उसी तरह सूरजमल जी ने अपनी मृत्यु-शैया पर यह अंतिम साहसिक कार्य किया कि मंदिर में ही पुस्तकालय और कन्या-विद्यालय स्थापित करने का पर्व वारहों मास आयोजित होता रहे—यह पर्व समाज में ज्ञान-समृद्ध श्रद्धा का नया प्लावन करने वाला सिद्ध हुआ।

पश्चिमी शासन ने इस देश में मंदिरों के महत्व को गौण वनाने में कम कार्य नहीं किया। पश्चिमी शिक्षा हमें मंदिरों से उदासीन वनाती है, और इस तरह हमें हमारी मूल भारतीय संस्कृति के प्रति उन्मन करने में वड़ा काम करती है। यदि दुर्भाग्य से, मुगल काल के वाद,

1. वीकानेर के संस्थापक के वाद संभवतः रतन सिंहजी १०वें राजा थे।

जब कि इस देश में हमारे प्राचीन-तम मंदिरों का भग्नीकरण व उन्मूलीकरण हो चुका था, अंग्रेजों के काल में मंदिरों का निर्माण भी समाप्त-प्राय हो गया होता, तो यह कल्पना करना कठिन है कि उस हालत में इस देश की सांस्कृतिक विकृति किस रूप में हो गयी होती। पर वैश्यों और ब्राह्मणों ने हाथ से हाथ बांधकर, अपने दिव्य नेत्रों से, चिंतामणि के निर्माण से भी महत्, इस कष्टकर कर्म में कोई विघ्न न आने दिया। दासता के युगों में जनता का पारस्परिक सौमनस्य कंटकाकीर्ण हुआ, मंदिरों की छत्रछाया में जनता की मनस्विता में कोई बड़ा छिद्र उत्पन्न न होने पाया, वह पूर्ववत् मंदिरों की घंट-ध्वनि से अपनी एक्य भावनाओं को सम्मोहित करती रही और देव-पूजन में सामूहिक रूप से सम्मिलित होकर, समाज की दृढ़ ऋज्जुओं को निर्भय भाव से मूलबद्ध करती रही।

आश्चर्य की बात तो देखिए, हमारे देश में ही नहीं, मिश्र, मेसोपोटामिया, सीरिया, स्पेन, आदि उन देशों में, जहाँ मनुष्य-सभ्यता का सूर्य सर्व-प्रथम आलोकित हुआ, वहाँ के राजप्रासाद मिट गये, धूल में मिल गये, वहाँ के नगर जल-प्लावन और कठोर ऋतुओं के अभिशाप में तृण-दग्ध हो गये, किन्तु उनके मंदिरों का स्मृति-चिन्ह वहाँ की जनता को स्मृति-विरासत में बराबर प्राप्त होता रहा। यही हाल भारत का है। पुरातत्व-विभाग का अधिकांश कार्य प्राचीनतम नगरों के अवशिष्ट मंदिरों को केन्द्रित करके ही पूरा हुआ है, हो रहा है। गुप्तकाल के बाद जो प्राचीन खंडहर अवशिष्ट हैं, वे अधिकांश में मंदिरों के हैं। मध्यकाल में मंदिरों का क्रम विकृति को प्राप्त होने लगा, क्योंकि उनके भग्नीकरण का दुखद अध्याय बड़े पैमाने पर शुरू हो चुका था। सिन्ध और पंजाब के प्राचीनतम संप्रदाय व मंदिर अभी तक पुरातत्व की जी-तोड़ कोशिश से भी नया प्रकाश नहीं देख सके हैं। राजस्थान ने भी अपने मंदिरों का भग्न किया जाना देखा, पर यहाँ तो मंदिर एक टूटा, हजार नये बने। सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने जैसलमेर की पुरानी राजधानी लुघरवा को न केवल लूटा और उसे जमीन में मिलाया, बल्कि, उसने मंदिरों की मूर्तियों को तुड़वा कर और उन्हें चूने की भट्टी में चढ़वा कर, उनका चूना पान में रख कर खाया! पर अन्त क्या हुआ, कौन-सा इतिहास परिवर्तित हुआ? आज स्थिति यह है कि समूचे राजस्थान में लगभग १० हजार से ऊपर मंदिर हैं। नेपाल के बारे में यह उक्ति बड़ी प्रचलित है कि वहाँ जितने घर हैं, उतने मंदिर हैं और जितनी जन-संख्या है, उतनी ही देव-प्रतिमायें हैं, लेकिन राजस्थान में भी यह दीप्तिमान सत्य खुली आँखों देखा जा सकता है कि यहाँ पर नगर रूढ़ि-भेद से प्राचीरों से आवृत्त मात्र नहीं हैं, वे मंदिरों को केन्द्र बना कर अपनी गहन जिजीविषा का अखंड स्रोत पा गये हैं। मंदिरों का साम्राज्य किसी को देखना हो, तो वह राजस्थान का व्यापक भ्रमण करे। दक्षिण भारत के तुल्य हमारे विराट और उत्तुंग शिखर वाले मंदिर अब पूर्ण नहीं रह गये हैं, क्योंकि इतिहास का क्रूर आघात उन्हें निर्ममता-निर्दयता से सहना पड़ा है। फिर भी मंदिरों की जबरदस्त खेती, यदि वन की खेती के बाद हुई है, तो वह राजस्थान में हुई है!

रतनगढ़ में जब सूरजमल जी जालान के समस्त कृतित्व को मैं लगातार तीन दिन तक देखता रहा, तो सहसा ही मेरा मस्तक उन के प्रति श्रद्धा-निवेदन में झुक गया। वे सचमुच इतिहास-पुरुष थे। अंग्रेजों ने हमारी ज्ञान-दृष्टि बड़ी कुंठित कर दी है, कि हम केवल युद्ध और शासन की विकृतियों में रस लेनेवाले व्यक्ति को इतिहास-पुरुष मानते हैं। महाभारत हमें ऐसा पाठ नहीं पढ़ाता, पुराण हमें ऐसा ज्ञान नहीं देते। हमारे देश में इतिहास-पुरुष वह है, जो मनुजों की सहस्त्र दिशाओं में रखे, किसी भी अनजले या अर्द्ध-बुझे दीपक को स्नेह-सिंचन दे, अन्धकार को विदीर्ण करनेवाली ज्योति का यज्ञ रचाये और भविष्य को अभय-दान दे!

राजस्थान में मंदिरों की सत्ता की रक्षा करते हुए जिन प्रहरियों ने अखंड जागरण किया है, उन वैश्यों व ब्राह्मणों की सूची बहुत लम्बी है। सूरजमल जी उसी सूची के एक मणि-रत्न हैं। मैं ने सूरजमल जी को जब मन ही मन नमस्कार किया, तो एक प्रकार से राजस्थान में हजारों-हजार मंदिरों का निर्माण करनेवाले सपूतों को याद किया। वे मरु-पुत्र भविष्य में भी हमारी नई पीढ़ी का वंदन पाते रहें, यही कामना है। क्योंकि हमारे जीवन के अदृश्य दीर्घ सूत्रों को ये मंदिर ही स्फटिक मणि के तुल्य हस्तामलक-सा बनाये हुए हैं। लक्ष्मण-रेखा तो कुछ पलों बाद ही अर्थहीन हो गयी थी, समाज की कठोर मर्यादाओं का दुरतिक्रम इन मंदिरों ने ही अपने तपोबल से, अपने निर्माताओं के चरित्रबल से, आज तक बनाये रखा है।

जीवन-निधि का प्रति-दर्शन और देवाराधन का महत् यज्ञ

[४]

शिरोमणि संत शिवरामजी कारन्त ने कहा है कि जब तक हमारा जीवन विशाल नहीं होगा, हमारा चिंतन भी विशाल नहीं होगा। जब तक हमारी करुणा विशाल नहीं होगी, दीखने वाली सरसता-विरसता, सुख-दुख का सही मूल्य हमारी समझ में कभी नहीं आयेगा।

रतनगढ़ से प्रस्थान करने के क्षणों में मुझे सूरजमल जी के जीवन के अनेक सत्य हाथों हाथ सौंपे गये। उन्हें सुन कर मुझे उन की जीवननिधि का प्रिय प्रतिदर्शन मिला। सूरजमल जी ने जब से जीवन का होश संभाला, वे वरणीय करुणा के धनिक बन कर रहे। मामूली से जीवन से उठ कर वे करोड़पति बने थे, लेकिन उनके हृदय से उद्‌गमित होने वाली करुणा की धारा अविराम गति से बही। उन के चारों ओर करुणियों (करुणा-पात्रों) की कहीं कमी नहीं थी। कमी थी तो यह कि इन करुणा-पात्रों को कोई व्यक्ति पितृ-तुल्य ग्रहण करता। आज समाज में सार्वजनिक पितृत्व का अकाल छाया हुआ है। राजनीति के कुटिल खलनायकों की बाढ़ आई हुई है। इस विषम स्थिति में हमारे देश में जो अनेक प्रिय व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में पितृ-तुल्य स्नेह का वर्षण करने के लिए १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अवतरित हुए, उनमें एक स्थान मैं सूरजमल जी को देता हूँ। वे इसी रूप में राजस्थान के महाभाग पुरुष थे।

सूरजमल जी का कर्मक्षेत्र बहुत अधिक विशाल नहीं रहा। राजनीति के व्यामोह से वे बहुत दूर रहे। सचाई तो यहाँ तक है कि अन्य धनिकों की तरह उन्होंने सभा-सोसाइटियों का सभापतित्व या अध्यक्षता या सभा-संचालन तक करने से परहेज रखा। ये दिशाएँ करुणा को महामहिम नहीं बनातीं। कलकत्ता, हावड़ा, हरिद्वार, काशी, देवघर, पुरी और रतनगढ़ जैसे स्थानों में सूरजमल जी ने मात्र अपनी करुणा का कृतित्व तैयार किया, इन स्थानों में उन की करुणा सुनहरी रेखाओं से अलंकृत लेख कल-लिपि में लिखती रही। इन सभी क्षेत्रों में उनकी स्मृति मौन भाव से करुणानिधि पिता के रूप में आज भी बराबर अक्षुण बनी हुई है।

१८वीं सदी के बाद से मारवाड़ी समाज के अनेक क्षेत्रों में अनेक रूप लेकर अनेक कोटि पूर्वज अवतरित हुए हैं। अपने युग की अवश सीमाओं से वे निःसन्देह विवश भी रहे, लेकिन वे अपनी युग-विवशताओं के जित् भी रहे। मंदिरों और जलाशयों और धर्मशालाओं का निर्माण करना, सदाव्रत खोलना, सहायता-समितियों की नींव का रोपण करना, परदेशों में इच्छुक भाइयों के लिए ढाबों की व्यवस्था करना, राजस्थानी शैली के ढाबों को खुलवाने में सहयोग व प्रश्रय देना, बंगाली भाषा-प्रधान स्कूलों से अलग राजस्थानी शैली की शिक्षा-नीति की गुरु-पाठशालाओं के खुलवाने में सहायक होना, गौ-रक्षा आदि कार्यों को आगे बढ़ाते हुए पिंजरापोल जैसी संस्थाओं के निर्माण में अग्रसर होना, विधवा-सहायक फंड जैसे सार्वजनिक कोषों की प्रतिष्ठा करना, नागरिक अधिकारों व व्यापारिक अधिकारों के प्रतिनिधित्व की दिशा में प्रेरणा-स्रोत प्रस्तुत करना—ये कुछ ऐसे कार्य हैं जो मारवाड़ी समाज में बड़े पैमाने पर आयोजित हुए हैं। इनके आयोजक जो कार्य कर गये, उनसे न केवल कलकत्ता-स्थित राजस्थान के प्रवासी समाज को, बल्कि देश के विभिन्न अंचलों में फैले हुए राजस्थान के प्रवासी समाजों को स्थायी रूप से अपने-अपने नये अंचलों में बसने के लिए नैतिक बल मिला, स्थानापन्न नागरिकों की दयनीय स्थिति से ऊपर उठने की स्वस्थ मनोदशायें मिलीं, प्रवास करते हुए स्थायी प्रवास करने वाले नगरों में अचल सम्पति खड़ी करने की प्रज्ञा हाथ लगी और पारिवारिक सुखों की वृद्धि के लिए माताओं और बहन-बेटियों और पत्नियों को राजस्थान के ऊजाड़-निर्जीव ग्रामों से लाकर, अपने साथ रखने की आधार-शिलाएँ हाथ लगीं। वह कष्टकर तप-साधन की विभीषिकाओं का युग था। उस युग में मारवाड़ी समाज के अनेक व्यक्तियों को नमस्य पद पर आसीन करने के लिए भला आज कौन संकोच करेगा? किसी भी संक्रमण-काल में, लौकिक अर्थों में, देवता-तुल्य कार्यों का सम्पादन करना एक अर्थ रखता है। २०वीं सदी के प्रारंभ तक कलकत्ता के सामाजिक जीवन में किये गये राजस्थानी प्रवासियों द्वारा कार्यों का यही अर्थ प्रधान रहा। उन पूर्वजों का स्मरण इसीलिए समय-समय पर रोमांच उत्पन्न करता है।

सूरजमल जी समस्त राजस्थानी प्रवासी-समाज के एक पूर्वज हैं। उनकी तुलना करने के लिए क्या कोई विशिष्ट शब्दन खोजना होगा? प्रश्न है कि हम तुलना करने की चेष्टा क्यों करें? सूरजमल जी का जीवन-व्यापार इतना सुस्पष्ट हुआ है कि सहसा ही हमें उनका स्मरण करने में एक सुखानुभूति होती है। वह वीणा, जिसके तारों का स्वर बेमेल हो, वितंत्री कही जाती है। साधारण जीवन में मनुष्य कुछ इस तरह की वितंत्री बन कर रहता है कि वह अपने आत्म-स्वरों की मेल-ताल भी उचित रीति से नहीं बैठा पाता। माया-लिप्त जीवन हमें इसे ही कहना पड़ता है। मायाविनी माया का मोहपाश उस मेल में व्याघात उपस्थित करता रहता है। लेकिन सूरजमलजी तो अपने जीवन में एक क्षण भी वितंत्री बनकर न रहे। उनका सारा जीवन दरिद्रनारायण के अर्पित था, यह दूसरी बात है कि वह अर्पण एक नयी शैली से था। वे देवाराधन की सौम्य मूर्ति थे। व्यक्तिगत जीवन में उनका स्वर कड़ा भी होता था और स्वजनों को यथास्थान मर्यादित रखने के लिए वे उस कड़े स्वर को बराबर व्यवहार में भी लाते थे। लेकिन सार्वजनिक पुरुष के रूप में विनम्र बनकर रहते, सेवा-परायण तुल्य व्रत करने में अधिक से अधिक लालसा रखते। उनका जीवन-संगीत स-स्वर बहुत कम सुनने में आया, लेकिन सत्य यह है कि उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं में और उनकी स्मृति में अचल भाव से अडिग बने स्मृति-मंदिर में उनका जीवन-संगीत प्रतिदिन नियमित रूप से स-स्वर उच्चरित हुआ है। उनका यह कृतित्व सहस्रों की दिशा-निर्दिष्ट गति में इसी प्रकार संचरित होता रहता है।

सूरजमल जी वित्ताढ्य हुए, अर्थात् बहुत धनी हुए, लेकिन यह शब्द उनके प्रति पूरा न्याय नहीं करता। कहना चाहिए कि उन्होंने (धन लानेवाले) वित्तायन होने की कष्ट-साधना उस उच्च स्तर पर की, कि जिस धन से वे समाज में अयाचित दान देने में ही समर्थ न हुए, बल्कि जिस धन को उन्होंने सर्व-कल्याण के निमित्त अंजलि भर-भर कर उलींचने का हर्ष अर्जित किया। हर्ष की यह

जीवन-निधि इसी पथ के पथिक पाया करते हैं। उनकी धन-लालसा इसी तरह पराग-कणों में स्वाभाविक रूप से बिखर कर दिशि-दिशि चर्चित और रंजित हुई। वे ऐसे ही (उत्सवों का आयोजन करनेवाले) विततोत्सव थे!

इस संबंध में एक बात और कही जाए। सूरजमल जी के जीवन पर जब मैं ध्यानावस्थित होकर विचार करता हूँ, तो सहसा ही बिन जुते खेत में बैलों को लेकर उतरनेवाले किसान का स्मरण आता है। वह धरती-पुत्र कहा जाता है। लेकिन राजस्थान में जो धरती-पुत्र हुए, उन का न्यंकु-गुण प्रसिद्ध रहा है, वे बहुत चलनेवाले हुए, जिस दिशा चले, खूब चले। बिन चले राजस्थान में गति नहीं है। सूरजमल जी राजस्थान के धरती-पुत्र थे और अपने श्रम से वे वरद् पुत्र भी हुए। राजस्थान की भूमि देव-मातृका कही गयी है। जिस भूमि पर कृषि के लिए केवल वर्षा का जल ही प्राप्य हो सके, और जिस जल से ही कृषि संभव हो सके, उसे देव-मातृका कहा गया है। सूरजमल जी देवमातृका-भूमि के होनहार पुत्र थे। उन्होंने इस 'देव' शब्द की आराधना आजीवन की। वे अपने इष्ट के प्रति सत्य बन कर रहे। (उनके एक इष्ट वायुपुत्र हनुमान भी थे, जो समर्पित सेवा का गुणनफल निकालने में ही आजीवन दत्तचित्त रहे!) और, धन की खेती तन्मय भाव से करते रहे। जीवन में अकिंचन बनकर रंगमंच पर उपस्थित हुए, जीवन के अंतिम क्षण कोट्याधीश बन कर गये। पर उस समय भी उनकी अकिंचनता का हिसाब अपनी हद से बाहर था, वे सम्पत्ति का बहुत बड़ा अंश लोक-अर्पित करने के बाद ही इस दुनिया से गये। जब कलकत्ता में पहली बार आये, शायद उन्हें दस व्यक्ति भी न चीन्हते होंगे। लेकिन जब उनका नश्वर शरीर पंचतत्व को प्राप्त हुआ, उस अंतिम विदाई के समय समाज का कौन सा ऐसा बड़ा और छोटा व्यक्ति न था, जो अर्थी के पीछे चलने के लिए न आया। लगभग ५ सहस्र व्यक्ति उनके अंतिम दर्शन के लिए उपस्थित थे। इसीलिए उनके जीवन पर और उनके कार्यकलापों पर विचार करने के लिए मैं खेतिहर शब्द की याद करता हूँ। वह किसान जब अपने खेत में उतरता है तो एक कोने से हल चलाना प्रारंभ करता है और केन्द्र की ओर परिक्रमा करता हुआ हल चलाता है। इस क्रिया को भाँवर कहते हैं। सूरजमलजी ने ३२ वर्ष की आयु में विधुर होकर, पुनर्विवाह की भाँवरें नहीं पढ़ीं। वे धन का अर्जन कर रहे थे और उस समय पत्नी-सुख उन्हें नये सिरे से किसी भी कीमत पर सुलभ हो सकता था। लेकिन वे समझ चुके थे कि उन का जीवन साधारण मनुजों की तरह जीवन बिताने के लिए नहीं हुआ है। भगवान ने एक पुत्र दिया है, वंश-दीप के रूप में वह पर्याप्त है। इसलिए उन्होंने एक दम भिन्न, निराली भाँवरें ग्रहण करने, उन भाँवरों का लोकहिताय न्यौछावर-कर्म पूरा करने के लिए, अपने को भी योगी बना लिया, वे नित्याभियुक्त हो गये। प्राणरक्षा मात्र के लिए कुछ खा कर और शेष सभी वस्तुओं को त्याग कर सदा अपने इष्ट की साधना में लगे रहे। अब वे इसी रूप में सार्वजनिक कल्याण की खेती करने के लिए उल्टी भाँवरें पढ़ने लगे, बीच खेत के केन्द्र से बाहरी सीमान्तों की ओर अग्रसर होने लगे। बाहर से केन्द्र की ओर अग्रसर होनेवाले कृषिहर का लोभ आप क्या जान सकेंगे? वह बीज रूप एक दाने को अपना अंतिम लक्ष्य मानता है, लेकिन जिस ने बीज रूप दाने का लोभ त्याग दिया है, वह पूर्ण लहलहाते खेत को अपना लक्ष्य न मान कर, उस की उपज को मुक्त हाथों बाँट देने में अपना अहोभाग्य मानने लगता है। पुस्तकालय की स्थापना, कन्या-पाठशाला की स्थापना, अन्य योजनाओं की रचना और अपने विनीत रिश्तेदारों को हर संभव प्रकार से समर्थ बनाने का स्वप्न। अपना हल लेकर वे जीवन-पर्यन्त भाँवरें लेते रहे। उनकी इस विधुर लीला पर मुग्ध रह जाना पड़ता है। वे ईर्ष्या-योग्य भाँवरों के ऐसे ही प्रणयी सिद्ध हुए!

सूरजमल जी की जीवन-निधि का यह प्रतिदर्शन है। पर इस का अंतिम उपसंहार भी है। वह पक्ष या पहलू देवाराधन का है। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम अध्याय का लेखन करते हुए एक विराट देव-मंदिर की स्थापना का संकल्प लिया था। वह उनके जीवन के बाद पूर्ण हुआ। कलकत्ता में जालान-स्मृति-मंदिर उसी का नाम है। कलकत्ता में और बंगाल में मारवाड़ी समाज ने अनेक मंदिरों की स्थापना का श्रेय लिया है। यों बंगाल में मंदिरों की संख्या प्रशंसनीय रूप से संतोषप्रद है। पर इस काली-पूजा क्षेत्र में मारवाड़ी समाज ने अन्य इष्ट-संप्रदायों के मंदिर बनवा कर पूजा के प्रिय रंगों की एक झिलमिल झाँकी लहरा दी है। (धन की गरमी) धनोष्मा का आनन्द वे ही ले सकते हैं, जो अपने धन को रुई की तरह धुनने में कमाल हासिल कर लेते हैं। यही कारण है कि जो यह कमाल नहीं सीखते, धन की तहें जमाते चलते हैं, लोक-समाज ने उनके लिए 'धन्ना सेठ' नाम रख छोड़ा है। यह कोई प्रिय नाम नहीं है। धन की गति शास्त्रों ने बहुत रूपों की बताई है; पर धन की गति वही श्रेष्ठ है, जब हम उसे रुई की तरह धुनने का कमाल हासिल कर लें। मंदिर का निर्माण इसी कमाल का प्रशंसा-योग्य चमत्कार है। पूजा-निष्ठा की आसंदी हम लोकसमाज के लिए प्रतिष्ठित करायें, इससे बड़ा यज्ञ दूसरा नहीं है।

सूरजमल जी के हाथों उन के प्रधान यज्ञ-क्षेत्र रतनगढ़ में भी अनेक विद्या-मंदिर बने। उनकी दर्शनीयता से बढ़कर, उनका समाज-उपयोग अधिक उल्लेखनीय है।

रतनगढ़ से जब मैंने विदा ली, तो स्टेशन पर, गाड़ी की प्रतीक्षा करते हुए, प्लेटफार्म पर चहलकदमी के क्षणों में यह निश्चय किया कि यदि सूरजमल जी की जीवनी का लेखन-श्रम शिरोधार्य करना है, तो यह शर्त पहली होनी चाहिए कि राजस्थान भर के देवाराधन-पूजार्चन की विराट आत्मा के एक अंश रूप में वे मनोनीत किये जायें। राजस्थान मंदिरों का, द्विजोत्तम रूप, अखंड द्वीप है। द्वीप की कल्पना इसलिए सार्थक होती है, क्योंकि, इसके चारों ओर मंदिर-विहीन नीरवता का सागर लहराता हुआ मिलता है। हरियाणा और राजस्थान की बीच की भूमि, उधर उत्तर-पश्चिम में जैसलमेर का विराट रेगिस्तान, उत्तर में पंजाब के उर्वर खेत और दक्षिण-पूर्व में मालवे का पठार,

पूर्व-उत्तर में व्रज-भूमि की गोचर-भूमि, जहाँ अब नये नगर स्थापित होने जा रहे हैं। सीमान्तों के दायरे में राजस्थान के प्राचीनतम मंदिरों की श्रृंखला चारों ओर छाई हुई है, बीच के दायरे में मध्ययुग से आज तक बनते चले आ रहे मंदिरों का भव्य मधु-छत्र बीच नभ-मंडल के साये में सज्जित बना हुआ है। ऐसी स्थिति में हम सूरजमल जी के कृतित्व का रूप-दर्शन यदि राजस्थान के मंदिरों के वृहद् कैन्वास पर, तरल रंगों में, केशर की तरह छिटका दें, तो हमारे विस्मृत होते हुए इतिहास की कठिन रक्षा हो जाए। मंदिर खूब बने, लेकिन उनके प्रति २० वीं सदी के प्रारंभ से नई संतति में जो उदासीनता व्याप्त हुई है, तब से प्राचीन मंदिरों का परम्परा-क्रम विशृंखलित होने लगा है और उनके मूल्यों का मूल्यवान अर्थ हम हल्का करने लगे हैं। श्रद्धा पर जब अज्ञान का परदा चढ़ जाए, तो वह मृतप्राय हो जाती है। ऐसी श्रद्धा से समाज में उज्ज्वल कर्म की रेखाएँ प्रसूत नहीं हुआ करतीं। राजस्थान में आज जनतंत्र-शासन अवश्य है, देशी राज्यों की रीति का निभाव करते हुए, 'देवस्थान-विभाग' की स्थापना भी की गयी है। लेकिन मंदिरों का पूजावान स्वरूप दृष्टव्य नहीं रह गया है। कारण यह है कि हम मंदिरों के सामाजिक अर्थ भूलने लगे हैं, उनका एकांगी अर्थ ही हमारे मानस में कहीं दबा-छिपा रह गया है। धुएँ की घुटन की तरह वह हमें तिलमिलाता रहता है।

देवारावन का महत् यज्ञ पुनः यज्ञ-ज्योति ग्रहण करे, इसके लिए यह उत्तम निश्चय रहेगा कि राजस्थान के मंदिरों का वृहद् दर्शन हमें सुलभ हो। इसी संकल्प को गाँठ में बांध कर हम रतनगढ़ से लौटे।

योजना के कर्णधार और राजस्थान की दिग्विभावित परिक्रमा

[५]

राजस्थान में मंदिरों का भूगोल बहुत स्पष्ट नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन यह अवश्य है कि वह दिग्व्याप्त है और इस नाते राजस्थान के भूगोल की स्पष्ट परिच्छेदक रेखाओं का अवलंबन ग्रहण करने से हमारा कार्य सरल हो जाता है। राजस्थान का जो इतिहास जेम्स टाड तथा उसके अनुवर्ती लेखकों ने लिखा है, और जिस महत् कार्य को और भी सुस्पष्ट रूपसे गजेटियरों ने पूर्ण किया है, वे राजस्थान के भूगोल को उसी रूप में समझाने का प्रयत्न करते हैं, जिस रूप में कालिदास ने मेघदूत में अपने यक्ष के मार्ग का भूगोल शब्दजाल में अस्पष्ट ही रख छोड़ा है। वास्तव में भूगोल राजस्थान में अपने प्रतिबोधक तत्वों को इतिहासिक तत्वों से एकदम अलग लिये बैठा है। इस प्रदेश के खंड और भूमि-भाग भिन्न युगों में गुजरात, मालवा, पंजाब, हरियाणा, और उत्तर प्रदेश के उपजाऊ हिस्सों को अपने में समोते रहे, अपने स्पर्श से दूसरों को धन्य करते रहे; लेकिन राजस्थान का भूगोल केवल उसके मंदिरों की उगी-हुई सी कतारों का वशवर्ती बना रहा। भूगोल यहाँ का प्राचीनतम है, प्रागैतिहासिक काल से पूर्व का है; मंदिर ईसा से पहली या दूसरी सदी के बाद के मिलते हैं; उससे पहले के चरणचिन्ह जो हैं, उनका पूर्ण संदर्भ अभी पुरातत्व के साधनों से पूर्ण नहीं हुआ है। फिर भी प्रदेशीय भूगोल ने मंदिरों के भूगोल को अपना प्रभावोत्पादक संरक्षण दिया है। उद्धत प्रकृति ने जब मंदिरों को अपने प्रकोप से भूमिसात् किया है, तो वह भी भूगोल की एक रोचक कहानी बनकर रह गया है। इस तरह भूगोल की आधार-पीठिका पर मंदिरों ने ही अपना सर्वाधिक प्रागल्भ्य, भाग्यरेख की तरह, अमिट बनाया है।

रतनगढ़ राजस्थान का केन्द्र नहीं है, लेकिन यदि हम इसी स्थान पर एक बहुत ऊंची मीनार पर चढ़ कर सम्पूर्ण मरु एवं पहाड़ी क्षेत्रों पर योजन-दीर्घ दृष्टि प्रसारित करने की शक्ति से शक्तिवान बन सकें, तो अनुभव करेंगे कि अरावली के पश्चिमी भागों में मध्ययुग से पहले की सभ्यताओं के अनेकानेक लुप्तप्राय स्थल हैं और उनमें उन युगों के मंदिर भूमि-गर्भ में विश्राम कर रहे हैं। इस विभाजक-रूप अनंग्य पहाड़ी दीवार के पूरब में उन मंदिरों का विस्तार है, जो ईसवी सन् के बाद प्ररूढ़ हुए और जिनकी जड़ें आसपास के निकटवर्ती अंचलों में भी गहरे प्रविष्ट होती चली गई हैं। उदाहरण के तौर पर मालवा में उज्जैन का महाकाल का शिव-मंदिर उन शक्तितत्वों द्वारा आरोपित हुआ है, जिनके पूर्वज राजस्थान की शैव-सम्पदा के अधिपति होकर रहे थे। सिरोही के निकट भगवान महावीर की विचरण-भूमि जैन धर्म ने घोषित की है, उसका एक ही अर्थ है कि इसी की सीमारेखाओं के अन्तर्गत धर्म की श्वास अधिक पवित्र रहती थी। बीच केन्द्र के रूप में अजमेर का पुष्कर है ही, जहाँ पर आदि देव ब्रह्माजी ने भी तप किया था। परशुराम ने भी यहीं पर मंत्र-सिद्धि की थी।

मंदिरों की प्रामाणिक परिक्रमा करने के लिए हमने रतनगढ़ से सीधा जयपुर का मार्ग ग्रहण किया और वहां से एक सांस चलते हुए चित्तौड़ पहुँचे। अजमेर से लेकर चित्तौड़ तक जो पर्वतीय उपत्यकायें हैं, उनमें हमारे इतिहास का शैशव व्यतीत हुआ है। चित्तौड़ से चलकर हम ने पहला पड़ाव उदयपुर में किया। पाषाण-युग और उसके बाद ताम्र-युग की वस्तुएँ यहां पर खुदाई में मिली हैं, मौर्य-काल की माध्यमिका नगरी के अवशेष सुलभ हुए हैं, यहाँ जल की धारा मानो प्राचीनतम संस्कृति की कुक्षि से प्रसवित हो रही है! झाड़ोल ग्राम के पास में

कमलनाथ पर्वत पर रावण ने शिव की आराधना की थी और वहीं पर कमल पुष्प के अभाव में अपने मस्तक काट-काट कर उनकी पूजा म चढ़ाये थे। रामायण-काल के इस स्मृति-चिन्ह के बहुत बाद का है एकलिंगजी का मंदिर, जो किसी प्राकृतिक प्रकोप से भूमि-आच्छादित हो गया था और ७वीं सदी के बाद बाप्पा रावल के हाथों नये सिरे से प्रतिष्ठित हुआ।

उदयपुर में वैष्णव मंदिरों के साथ, वल्लभकुल सम्प्रदाय के कृष्ण-मंदिरों की अपनी उल्लेखनीय प्रधानता है। नाथद्वारा, काँकरोली और स्वयं उदयपुर, जहाँ निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रधान गद्दी-स्कंध विद्यमान है। इन स्थानों की यात्रा के लिए जब हम निकले तो मार्ग में, एकलिंगजी की कैलाशपुरी से कुछ मील आगे, बड़ौदा है और वहाँ पर अवतारों की झाँकी से समृद्ध पद्मनाथजी (विष्णु) का मंदिर है। किन्तु उदयपुर के इन उल्लेखनीय मंदिरों में से जिनकी सुकीर्ति कान्त-मणि की तरह जगमग कर रही है, उनमें से एक हैं हरिहर महादेव और ऋषभदेव के कालिया देव। ८ वीं सदी की जो स्थापत्य-कला से चमत्कृत मूर्तियाँ पुरातत्व-विभाग को राजस्थान की विभिन्न दिशाओं में मिली हैं, उनमें विष्णु से शिव की संयुक्त मूर्तियाँ भी मिली हैं। ओशिया में जो मंदिर आज भी अपने वैभव की कहानी कहने के लिए विद्यमान हैं, उनमें हरिहर का मंदिर मुख्य है। हरिहर महादेव नामक ग्राम एक बारहमासा जलधारा के तट पर आसन जमाये है, मूर्ति बड़ी विलक्षण है, चार फुट की है। पर इससे भी बड़ी मूर्ति कालिया देव की है, जहाँ पर शायद नाथद्वारे के बाद, उदयपुर में सबसे अधिक दर्शनार्थी परिक्रमा का सुख, आनन्द,संतोष एवं जीवन में समुन्नति का विश्वास लेकर आते हैं। दुख का विषय है कि इसके विगत ३०० वर्षों के इतिहास को आज बुरी तरह कुंठित किया जा रहा है, इसे एक संकीर्ण जैन-मंदिर की रूपरेखा दी जा रही है, जबकि उदयपुर महाराणा के जो भी उपलब्ध फरमान हमारे सामने आये, उन में स्पष्ट उल्लेख है कि यह सर्वपूजा स्थल है, सत्य भी यही है कि प्रारंभ में इसकी रक्षा भीलों ने की, बाद में इसका माहात्म्य हिन्दुओं की वैष्णव पूजा-पद्धति से गौरवास्पद हुआ और अब जहाँ पर 'जैन मंदिर' का साइनबोर्ड लटकाया गया है! ऋषभदेव राजस्थान में, अपनी महत् परम्परा और सर्व-सम्प्रदाय-मान्य देवाराधन की अद्वितीय पद्धति का एकमात्र स्थान है।

उदयपुर शाक्त सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से ओजपूर्ण कथानक प्रस्तुत करता है। उदयपुर महाराणाओं की इष्टदेवी अम्बा हैं और उनका मंदिर नगर के बाहर है, जहाँ पर महाराणा स्वयं उपस्थित होते थे। पर महाराणा प्रताप ने चावंड ग्राम में (जहाँ उनका निधन हुआ) चावंड माता का मंदिर स्थापित कराया था। जावर माता का स्थान अपना महत्व रखता है और आवरी माता का स्थान अपने अध्याय आज भी लिख रहा है, जहाँ पर जाने के बाद बहुत से लकवे के मरीज एक नया जीवन लेकर लौटते हैं। लालबाई-फूलबाई तथा चित्तौड़ के निकट जाँपली माता के मंदिर भी आंचलिक महत्व के हैं। इन की परिक्रमा करते हुए हम आगे की दिशा, पुराने क्षेत्रीय विभाजन की दृष्टि से, डूंगरपुर की दिशा आगे बढ़ गये। और फिर बाँसवाड़ा की परिक्रमा की। यद्यपि उदयपुर में, नगर से चार मील की दूरी पर, राजकीय-सम्मान से प्रतिष्ठित सूर्य-मंदिर विद्यमान है, लेकिन १०वीं शती का सूर्य-मंदिर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में तलवाड़ा में है। यह स्थान बाँसवाड़ा से ६ मील दूर है। अरथूणा लगभग २५ मील है, जहाँ पर ९वीं-१०वीं शती के शिव-मंदिरों का एक नक्षत्र ही विराजमान है। सोम और माही नदी के संगम पर बेणेश्वर और डूंगरपुर में घाणेश्वर महादेव के दर्शन करने से जो रोमांच हुआ, उसका वर्णन शब्दातीत है।

उदयपुर से हम, चित्तौड़ के मार्ग से, प्रतापगढ़ गये। वहाँ विस्तृत यात्रायें कीं। लौट कर, मेनाल और बिजोलिया होते हुए बूंदी, जहाँ सतूर नामक स्थान पर 'दुर्गा-सप्तशती' ग्रंथ का लेखन हुआ। यहाँ से कोटा और आगे बढ़ कर झालावाड़, झालावाड़ पाटन और चन्द्रावती नगरी, जिस नाम से दूसरी नगरी आबूरोड के पास विद्यमान थी। इस तरह पूर्व-दक्षिणी राजस्थान के विराट अन्तराल के दर्शनों का लाभ अत्यन्त कष्टकर यात्राओं से प्राप्त हुआ।

कोटा और बूंदी के बीच मेनाल और बिजोलिया ऐसे स्थान हैं,जिन्हें देखकर जेम्स टाड ही स्तंभित नहीं रह गया था, कोई भी पुरातत्व का जिज्ञासु जड़वत खड़ा रह जाएगा। हूणों ने किस तरह अपने वैभव को यहाँ घनघोर पर्वतीय कन्दराओं में छिपा कर रखा था, और वे किस तरह शैव-धर्म के अनुयायी दृढ़ निष्ठा के साथ हुए थे, इस के जीते-जागते, अर्द्ध-निद्रित प्रमाण यहाँ मेनाल में पड़े हुए हैं। इसी शैवधर्म की सुरसरि आगे बिजोलिया में बह कर गयी है। मेनाल और बिजोलिया जिन जलधाराओं पर स्थित हैं, उन्हें देखकर पहली अनुभूति यही हुई और समस्त राजस्थान में यात्रा करते हुए वह प्रमाणित होती चली गयी कि जो भी शिव-मन्दिर ८वीं सदी और १६वीं सदीके मध्य की अवधि में बना, वह किसी प्रकृत जलधारा के संचय-स्थल पर या दो जलधाराओं के संगम पर बना!

कोटा और झालावाड़ पर्वतों के बीच में जिस तरह स्थित हैं, वे दुर्द्धर्ष राजस्थानी मानवों का स्मरण कराते हैं। झालावाड़ में इतिहास का इति-वृत्त उस युग का है, जब आदि मानव कपि-सभ्यता का सूर्योदय देख रहा था। झालावाड़ की उपत्यकाओं में अनेक गुफाएँ प्राचीन युगों की मिली हैं। चन्द्रावती नगरी के परकोटे के बाहर, बीच झालावाड़ पाटन नगर में, जो सूर्य-मंदिर है, वह ठेठ दिल्ली की दिशा से यहाँ तक चले आये सूर्य-मंदिरों की दीर्घ शृंखला का अन्तिम छोर है। सीकर के निकट, सिगरावट के पास, मुजरासनदेवरा स्थान है। हर्ष के खंडहरों की रूप-रेखा को एक सिलसिले से समझना हो, हम मुजरासनदेवरा में एक पत्थर पर चमत्कारी ढंग से खड़े खंडहर को देखें, जो वास्तव में 'सूर्य-आसन देवरा' था!

पश्चिमी-दक्षिणी राजस्थान की परिक्रमा हमने आबू[1] से शुरु की। वहाँ से सिरोही गये। और, जोधपुर की दिशा बढ़ गये। मंडोर रावण की ससुराल कही जाती है। जोधपुर से ५ मील दूर है। जोधपुर गढ़ पर जो मंदिर हैं, उनका दर्शनानन्द हृदय को बलवान बनाता है।

यहाँ से ओसिया की दिशा ग्रहण की, ओसवालों का जन्मस्थान होने के कारण इसे अधिक स्मरण किया जाता है, लेकिन मुख्य बात यह है कि यह स्थल कृष्ण-भक्ति की दृष्टि से प्राचीनतम है। ओसिया के पुरातत्व-महत्व के हरिहर-मंदिर में ८-९वीं शती के कृष्ण-लीला-दृश्यों के पाषाण-अंकित पट्ट आज भी विद्यमान हैं। जोधपुर की प्राचीन राजधानी मंडोर से कृष्णलीला के अंकित स्तंभ गुप्तकाल के प्राप्त हुए हैं। ओसिया से आगे फलोदी है, जहाँ पर लटियाल माता का १५वीं सदी का मंदिर है, और उससे आगे रामदेवरा,[2] राजस्थान के पूज्य वीर रामदेवजी, जिनके पिता पुत्र-प्राप्ति की कामना के लिए द्वारका गये थे, अर्थ यह हुआ कि यहाँ भी कृष्ण-भक्ति का दौर मध्यकाल से पहले रहा। ऐसी स्थिति में कृष्ण-भक्ति का यह प्रदेश यदि १६वीं सदी में मीरा जैसी भक्त कवियत्री को जन्म दे सका, तो वह सहसा उफान न था, उसके पीछे ८०० वर्षों की पुष्ट मुक्ता-सीप तुल्य कृष्ण-भक्ति का परिपाक अन्तर्निहित था।

जैसलमेर पोकरण से आगे है और आज भारत की पश्चिमी सीमा पर स्थित है। १४वीं सदी के बने हुए सुन्दर जैन-मंदिर सहसा ही यह प्रश्न उद्भूत करते हैं कि यहाँ पर जो प्राचीन मंदिर थे, उनका क्या हुआ, वे किस सम्प्रदाय-विशेष का प्रतिनिधित्व करते थे? तो इतिहास चुपके से लुधरवा की ओर इंगित करता है, जो जैसलमेर की प्राचीन राजधानी थी, और जहाँ पर मुहम्मद गोरी ने और उसके बाद अलाउद्दीन खिलजी ने इस नगर को भूमि में मिला दिया। यहाँ पर बौद्ध मठ थे, प्राचीन देवालय थे, काबुल को जानेवाला महापथ था।

यह विषय नितान्त क्लिष्ट है कि जैसलमेर की दिशा से कौन-से सम्प्रदाय सिंध की ओर गये, कितने वहाँ से आये? हाँ, हिंगलाज देवी की सूचनाएँ जोधपुर, फतहपुर-शेखावाटी तथा एक-दो अन्य स्थानों पर मिलती हैं। हिंगलाज का मुख्य स्थान सिंध के और पश्चिम में था, इस किंवदन्ती के प्रश्न भी ऐसे हैं, जिन पर अधिक अध्ययन की अपेक्षा बनी हुई है।[3]

पुरातत्व की दृष्टि से ही नहीं, नृवंश-इतिहास एवं भारतीय भूगोल के इतिहास-पूर्व सम्पन्न हुए मन्वन्तर की कथा आज भी यहाँ पर अपने चरण-चिन्ह जमाये हुए है। जो यदा-कदा फौसिल्स यहाँ प्राप्त होते हैं, उससे सरस्वती नदी का संगम समुद्र से किस स्थान पर होता रहा होगा, उसके धुंधले सूत्र हाथ लगने लगते हैं। जिस राजस्थान को हम प्रवासी मारवाड़ियों के नाम से, केवल मारवाड़ ही जानते हैं, उसमें जैसलमेर का भू-भाग ही आत्मावत् स्थिर बना हुआ है। माड़ जैसलमेर का नाम है। मरु शब्द का आधार लेकर जो मारवाड़ी शब्द की व्युत्पत्ति करने लगते हैं, वे भी जैसलमेर के अथाह कोसों फैले रेगिस्तान से अपनी मुक्ति नहीं कर पाते। अरावली यहाँ तक आते-आते एक ऊँचे पठार में अन्तःसलिला सी बन जाती है। उसके बाद रेतीले पहाड़ मनुष्य को चुनौती देते हुए अपनी बाँहें पैशाचिक भाव से विस्तीर्ण करने लगते हैं। किन्तु जैसलमेर में अर्जुन और कृष्ण का नाम जब मिलता है, तो कृष्ण-भक्ति की भावधारा के नये उद्गम हाथ आने लगते हैं। वास्तव में जैसलमेर में आज इतिहासिक कारणों से केवल जैन-मँदिर (जो कि १४वीं सदी के बाद के है) ही शेष रह गये हैं, अन्यथा ओसिया के समानान्तर यहाँ भी ८वीं सदी के बाद से कृष्ण-मंदिर ही रहे होंगे। यों नाथों का प्रभाव १०वीं सदी के बाद से अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। उनके ऐतिहासिक उपाख्यान अभी तक उपलब्ध होते हैं। लुधरवा से एक मील पर जो खंडहर है, वे इन्हीं नाथों के डेरों के हैं, उन्हें कुछ विद्वान बौद्धों के मठों का अवशेष भी मानते हैं।

जैसलमेर[4] से वापस पोकरण और फिर जोधपुर के मार्ग से नागौर। जिस तरह शेखावाटी में नवाबों का आतंक रहा, उसी

---

१ आबू के बारे में पहला कथन लोक-समाज में यह है—जमी और आसमाँ विच, आबू तीजो लोक। दूसरा कथन इस प्रकार है—

टूँके टूँके केतकी, झरणे झरणे जाय।
अर्बुद की छवि देखताँ, और न आवे दाय॥

आबू में ५ जैन मन्दिर हैं, जिनमें वस्तु और शिल्प-कला की दृष्टि से विमल शाह का मंदिर श्रेष्ठ है। इसका निर्माण संवत् १०८८ वि० में हुआ था। इसमें ११७ मंडप तथा संगमरमर के १२१ स्तम्भ हैं। वस्तुपाल का मंदिर, इससे १५० वर्ष बाद का बना हुआ है।

२ यह मन्दिर फलोदी से २० मील दक्षिण में, कोलू नामक गाँव में विद्यमान है। रामदेव जी के ही समकालीन गोगा देव थे, जो साँपों के देवता भी कहे जाते हैं। गोगा मेड़ी में भाद्रपद नवमी को गोगा जी के प्रति श्रद्धा-निवेदन के लिए बड़ा मेला भरता है। जहाँ अन्यत्र इनकी मूर्तियाँ स्थापित हैं, वे शमी वृक्ष के नीचे ही मिलती हैं। कहा भी जाता है—गांव गांव गोगो नै गाँव-गाँव खेजड़ी।

३ हिन्दी बृहद् शब्द कोष में इस शब्द की चर्चा करते हुए हींग-प्रदेश की बात कही गयी है।

४ जहाँ अग्नि की प्रलय साक्षात् देखी जा सकती है और जहां जल बूँद-बूँद पिया जाता है, वहाँ विधि की अकल्पनीय रसज्ञता भी देखने को मिलती है। काश्मीर ही नहीं, समस्त भारत के नारी-सौंदर्य को पराजीत-पराभूत करनेवाला नारी-सौंदर्य जैसलमेर में ही होता है—

मारवाड़ नर नीपजे, नारी जैसलमेर।
तुरी तो सिन्धाँ सातराँ, करहल बीकानेर॥
घर-घर पदमण नीपजे, अइहो धर जोसाण।
उर चोड़ी कड़ पातली जीका रा री बाण॥
जे सुख चावे जीव रो, तो धन मागची आन॥

—मर्द तो मारवाड़ में ही उत्पन्न होते हैं, स्त्रियां जैसलमेर में। घोड़े सिन्ध में ही जन्म लेते हैं, ऊँट बीकानेर में। धन्य है जैसलमेर की धरा, जहाँ घर घर में पद्मिनियाँ जन्म लेती हैं। यदि सुख प्राप्त करना चाहो तो जैसलमेर की पद्मिनि लाओ, जिसका वक्षःस्थल चोड़ा और कटि-प्रदेश पतला होता है। स्वभावतः ही जो बातचीत में सम्मान-सूचक 'जी' का प्रयोग करती है।

तरह नागौर भी क्षत्रियत्व के दंभ में गड़ा हुआ काँटा बन कर रहा। और, नागौर के बाद बीकानेर तथा उसके निकटवर्ती तीर्थस्थल। कठोर, आग-बरसाती ग्रीष्म में जैसलमेर से लेकर बीकानेर तक का मार्ग मनुष्योचित मार्ग नहीं रह जाता, लेकिन सत्य यह है कि मनुष्य ही इस ग्रीष्म में प्रति प्रहर गर्वोन्नत सिर उठाकर पगडंडियों पर चलता है !

बीकानेर का इतिहास बहुत नया है, लेकिन बीकानेर से पहले जो गणराज्य थे, वे प्राचीन थे और उन से पहले यहाँ पर राजमहल तथा अन्य सभ्यताओं के केन्द्र थे। बीकानेर के संग्रहालय में इटाली विद्वान तेसीतोरी ने रंगमहल की जो खुदाई की थी, उसमें गुप्तकाल के गोवर्द्धनधारी कृष्ण के टैरेकोटा प्राप्त हुए हैं, इस तरह ओशिया, रामदेवरा और रंगमहल तक कृष्ण-भक्ति का हाशिया विस्तीर्ण बना हुआ था।

बीकानेर में पहुँचते ही हमें त्रेतायुग की अवतरण-तिथि का स्मरण हो आता है। पर मूल बात यह है उस स्मृति के जाग्रत होने की, कि इस दिन परशुराम का जन्म हुआ था और वे बीकानेर की भूमि में जन्मे थे। उनके पिता श्री जमदग्नि ऋषि का तपोवन कोलायत से एक मील दक्षिण में जागेरी गाँव पर था। कोलायत व जागेरी के बीच चाँदी नामक ग्राम है, वह च्यवन ऋषि का स्थान माना जाता है, च्यवन ऋषि ने बीकानेर उत्तर-पूरब में, हरियाणा की सीमा-स्थित, नारनौल के ढोसी पहाड़ पर बैठ कर तपस्या की थी। परशुराम का कर्म-क्षेत्र दक्षिण भारत में भी रहा, आसाम में भी रहा, उत्तर भारत भी रहा, लेकिन उन्होंने अपने रक्त-सने फरसे को हरियाणा के पावन तीर्थ रामरा में ही धोया था। जमदग्नि महर्षि की समाधि चौमूँ (जो शिकारपुर के रूप में प्रसिद्ध है, और जयपुर का एक अंग है) के निकट एक डूँगरी पर बनी हुई है। परशुराम की माता का नाम रेणुका था। इस डूँगरी के पास जो नदी है, उसका पुराना नाम रेणु है। इस नदी को गंगा के समान पवित्र माना जाता है। वसिष्ठ के आश्रम आबू के निकट हैं।

कोलायत और बंगाल में गंगासागर का पारस्परिक संबंध कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ है। कपिल का मूल स्थान कोलायत भी रहा है। केवल बीकानेर में ही नहीं, ऋषियों का साम्राज्य यहाँ चहुँ दिशाओं में व्याप्त रहा। हारीत ऋषि उदयपुर में हुए। ऋषियों, लोकदेवों और माताओं की सूची लम्बी है। अतिरिक्त पाँच लोक-देवता और हैं, जो सर्वाधिक पूजनीय हैं, गोगा जी, रामदेव जी, पाबू जी, मेहा जी, हरमू जी[1]। लोक-अग्रज सन्तों की एक लम्बी परम्परा ११वीं सदी के बाद से रेगिस्तान के इस अथाह शुष्क सागर में दिव्य प्रकाश-स्तंभों की तरह से जग-जहान को आलोकित करती रही है। बिश्नोई-पन्थ, जसनाथी पन्थ, दादू-पन्थ, रामस्नेही-सम्प्रदाय (सीथल, शाहपुरा, रैण स्थानीय) निरंजनी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, गूदड़-पन्थ, जयहरि-सम्प्रदाय, अलखिया-पन्थ, लाल बाबा सम्प्रदाय और तेरा-पन्थ, इस तरह कुछ नाम सहसा ही स्मरण आते हैं। जब मंदिरों की पूजा-पद्धति का उदासीन-युग आया, तब इन पन्थों ने अपना अलख जगाया ! राजस्थान की इस दिशा से लेकर उस दिशा तक इन के मठ-मन्दिर और डेरे व्याप्त हैं। मंदिरों के इतिहास में हम उनका कैसे विस्मरण कर सकते हैं ? बसन्तगढ़ की शारदा-पीठ, बीकानेर के संग्रहालय में सरस्वती और बिड़लाओं द्वारा स्थापित पिलानी की सरस्वती— स त्रिकोण के निगूढ़ अर्थ बड़े मार्मिक हैं।

बीकानेर से रतनगढ़ हम वापस आ जाते हैं। अब शेष रह जाता है शेखावटी। सरदार शहर, चूरू,[2] रामगढ़, फतहपुर-शेखावटी, डूंडलोद, नवलगढ़, सीकर, लोसल, सिगरावट, खंडेला आदि स्थानों की परिक्रमा में प्राचीन बहुत अधिक नहीं है, लेकिन मध्ययुग का तुमुल संघर्ष इतना अधिक है कि इतिहास की तरतीब बैठाने में ही बहुत परिश्रम पड़ता है। १६वीं सदी के बाद के मंदिर यहाँ खूब मिलते हैं, पर इन सब से एकदम भिन्न रंगों की दैवी छवि फिर भी शीर्ष पदीय रह जाती है। लोहार्गल व सकराय के जो तीर्थ हैं, पुराणकालीन हैं। सीकर में १०वीं सदी का शिव-मंदिर है। और हम पुनः रतनगढ़ वापस आ जाते हैं। स्थूल दृष्टि से पूर्वार्द्ध परिक्रमा का यह परिचय है।

रतनगढ़ से अब हम जयपुर की दिशा, पहले बैराठ जाते हैं। लेकिन इस तीसरी परिक्रमा से पहले लुहारगल (लोहार्गल:लोह–निर्मित अर्गला ?) से शुरू होनेवाली परिक्रमा की चर्चा पूरी कर दें। चिराणा बहुत पुराना स्थान है और वैश्य-संस्कृति प्रधान नगर है। यहाँ पर ब्रह्माणी-रुद्राणी के भग्न मंदिर हैं, जो कमसे कम १२वीं सदी का ध्यान दिलाते हैं। चिराणा की घाटी पुराणों की कथाओं से ओतप्रोत है। किरोड़ी, कोट, सकराय, नाक (नाग ?) कुंड, भगवा की ढाणी, कालाचारजी की घाटी, टपकेश्वर महादेव, सोभावती नदी, खाकी खाड़ा, नीमड़ी की घाटी, रघुनाथ गढ़, खोरी कुंड, गोल्याला, चेतनदास की बावड़ी, ज्ञान वाय, भीम गोड़ा, लोहार्गल (जहाँ पर फिर सूर्य-कुंड है और सूर्य-मंदिरों का एक अविच्छिन्न सूत्र उपस्थित करता है), और अन्तमें गोल्याला होते हुए वापस चिराण—यह २४ कोसकी परिक्रमा भाद्रपद कृष्णा नवमी से अमावस्या तक चलती है। लाखों नर-नारी इसमें भाग लेते हैं। व्रज की ८४ कोस की परिक्रमा के तुल्य इसका माहात्म्य है।

बैराठ विराट नगरी है और पाँडवों के वनवास-काल का अन्तिम पड़ाव रहा था। यहाँ पर भारत का प्राचीनतम मंदिर प्राप्त हुआ है, जो गोलाकार है और भग्न-अवशेषों में से एक है। भीमजी की डूँगरी और पाँडुपोल (जहाँ पर हनुमान जी का २री सदी का मन्दिर बताया जाता है) इसी के निकट हैं। अशोक का शिलालेख भी प्राप्य है। अकबर-जहाँगीर काल के स्मारक हैं। १६वीं सदी का जैन-मन्दिर है।

---

१ धार्मिक अनुष्ठानों के पूर्व इनका आह्वान करते समय कहा जाता है—

पाबूः हरभू, रामदे मांगलिया मेहा।
पांचों पीर पधार ज्यो गोगाजी नेहा॥

२ ये दोनों नगर वास्तव में शेखावाटी के अन्तर्गत माने जाने चाहिए।

वैराठ से आगे, अलवर है। अलवर का इतिहास बाबर से प्रारंभ होता है,लेकिन उस से पूर्व के इतिहास-सूत्र अभी अलिखित हैं[1]। अलवर से हम भरतपुर की दिशा जाते हैं, जो राजस्थान और व्रज की सीमा-संधि पर महत्वपूर्ण केन्द्र है। यहाँ पर गंगामाई का मन्दिर है और लक्ष्मण जी की सर्वप्रधान पूजा का महोत्सव विगत २५० वर्षो से चल रहा है। भरतपुर के बाद धौलपुर का सीमा-प्रदेश है। यहाँ मुचुकुन्द तीर्थ[2] है। अन्य मन्दिर हैं। शक्ति-पूजा के स्रोत राजस्थान में कौन-सी दिशा से प्रवाहित हुए, उसके सूत्र यहाँ पर प्राप्य हैं।

मन्दिरों के प्रसंग में दो बातों का उल्लेख आवश्यक है। विद्वानों के लिए यह नया विषय रहेगा। उधर हमारा ध्यान अनायास नहीं गया, राजस्थान की जातीय जीवन की महत् परम्पराओं का अध्ययन करते समय गया। मन्दिर केवल धर्म का घंट ध्वनित नहीं करता, वह समाज के घंटों का घोष दिव्य भाव से करता है, हम केवल उस से अपने को तटस्थ बनाये हुए हैं। दिल्ली से बीकानेर जाते हुए, राजस्थान की पूरी परिक्रमा कर लेने के उपरान्त, धौलपुर-आगरा मार्ग से वापस दिल्ली आते हैं तो लगभग ५०० मन्दिर सारे राजस्थान में शनैश्चर के मिलते हैं,जहाँ पर डाकोत पुजारी हैं। शनिवार को वहाँ पर तेल चढ़ाया जाता है। भृगु-वंश में चिकित्सा व ज्योतिष-पटु डामराचार्य की उत्पत्ति हुई, उनके वंशज डक्क कहलाये, अब डाकोत नाम से परिचित हैं। ये पूर्व में ब्राह्मण थे। दूसरा प्रश्न है अलवर में नारायणी देवी के मन्दिर का। वहाँ पर समस्त राजस्थान ही नहीं, भारत भर के नाई अपनी पूजा करने आते हैं। वह नाइयों का एकमात्र मन्दिर माना जाता है। वह अधिक पुराना नहीं है, लेकिन क्षौर-कर्म के प्रणेताओं की ऐतिहासिक वंश-परम्परा के सूत्र वहाँ से हस्तगत हो सकते हैं।

अन्तिम बात का संकेत और कर दिया जाये। २ लाख वर्ष से मानव-जीवन का समुल्लास हमारे देश में किन-किन भू-भागों में पूरित होता रहा है, इस विषय पर काफी उत्खनन हुए हैं। राजस्थान में मोहनजोदड़ो सभ्यता से पूर्व के चरण-चिन्ह पर्याप्त संख्या में मिले हैं। इस संदर्भ में ४थी शती के बाद से जो मंदिर मध्ययुग तक हुए हैं, उनके तीन अर्थ और मुखर होने चाहिए। जो व्यापारिक पथ थे, वे इन्हीं मन्दिरों का स्पर्श करते हुए चलते थे। सन्तों का आवागमन भी इन्हीं मन्दिरों की दिशाओं को दृष्टि-पथ में रख कर होता रहा। तीसरे, इन मन्दिरों को गर्भ-तुल्य सहेजते हुए मध्यकाल से पूर्व की महानगरियाँ जो आबाद थीं, वे अपने सूत्र, प्रयास करने पर नये सिरे से, अभिव्यक्त कर सकती हैं। मन्दिर के और भी अर्थ हैं, जिनकी चर्चा द्वितीय खण्ड में यथास्थान आयेगी।

अन्तिम बात की अन्तिम बात एक प्रश्नवाचक चिन्ह हमारे लिए बनी हुई है। सारे भारत में अनेक प्रकार के मन्दिर विद्यमान हैं, लेकिन सतियों के मन्दिर प्रायः राजस्थान में हैं। ये चामुंडा और दुर्गा के मन्दिरों से अलग, उन पति-प्रियाओं के हैं,जो अपने पतियों के साथ सती हुई थीं। इनमें से अधिकांश मंदिर १२वीं सदी के बाद के हैं। इन सतियों के मंदिरों में से अधिकांश वैश्य जाति के हैं और उनसे पता चलता है कि मूल निवास इन लोगों का कहाँ पर रहा। गोयनका, सराफ, भरतिया, बिस्से, जालान, केजड़ीवाल आदि अपनी अलग-अलग सतियों की मान्यता रखते हैं। हरियाणा में भी इस तरहके कुछ सूत्र ब्राह्मणों ने अपनी सतियों के सुरक्षित किये हैं।[4] प्रश्न है: सती-पूजा क्या १२वीं सदी से पहले न थी? क्या उस समय उनके मन्दिर मान्य न थे[5]? क्या यह सती-पूजा शुद्ध रूप से भारतीय है? क्या सती-प्रथा के बन्द होने के बाद, इन मन्दिरों में शक्ति-पूजा का मूल विश्वास ही घनीभूत नहीं होता रहा है? इन प्रश्नों के साथ कुछ और प्रश्न हैं, जो यथास्थान प्रस्तुत किये जायेंगे।

इस यात्रा में जहाँ दिव्य और दुर्लभ देव-दर्शनों का पुण्य मिला, वहीं साथ ही साथ, समूचे भारत के लिए अप्रतिम राजस्थान की स्थापत्य-कला को देखने का दृष्टि-लाभ भी मिला। विराट शिवलिंग, विराट विष्णु-मूर्तियाँ, विराट शेष-शायी विष्णु, दुर्गाएँ, चामुण्डाएँ, हनुमान जी (१५ फुट विशाल तक) और अन्य आंचलिक देवता। यक्ष आदि के लिए हमें जयपुर के मार्ग से अलवर और भरतपुर जाना पड़ा। इसी मार्ग में पाँडुपोल व विराट (वैराठ) नगर भी देखे। बलरामजी के मंदिरों की परम्परा भरतपुर के इर्द-गिर्द रमणीक बनी हुई है। सुग्रीव की मूर्ति भी भरतपुर के निकट बरामद हुई है। यों भरतपुर गंगामाई और लक्ष्मण जी[6] की पूजा के लिए ख्यात है!

रामायण-काल से पहले, राजस्थान राष्ट्रीय स्तर पर एक तीर्थ-अंचल था, शेष भारत के महाभाग यहां के पावन कुंडों में अवगाहन करना व यहाँ के देवालयों में अपनी विनीत श्रद्धांजलि देना परम आवश्यक व अनिवार्य समझते थे। रामायण एवं महाभारत-काल तक यही सुखद स्थिति रही। मध्यकाल के पहले तक आर्य नरेशों ने भी इसी स्तुत्य स्थिति को वरणीय बनाये रखा। लेकिन गजनी, गोरी और खिलजी आदि ने मूर्ति-भंजन के अपने अभियान में इस ३००० वर्षीय अध्याय में पूर्ण विराम लगा दिया। बाद का इतिहास दुखद है, चिंतनीय है, क्लिष्ट है, फिर भी संतोषप्रद रीति से आर्य-परम्पराओं का संवाहक है। हाँ, यह बात जरूर हुई कि मुस्लिम-आक्रमणों और

---

१ ८वीं सदी के आसपास अलवर में गूजरों का राज्य था। पाणिनि-काल में 'साल्व' जनपद अलवर से बीकानेर तक था।

२ महाराज मांधाता नर्मदा नदी के तट पर ओंकारेश्वर महादेव स्थान पर हुए। इनके पुत्र तेजस्वी सम्राट मुचुकुन्द हुए। यह तीर्थ [illegible] दो [illegible], पश्चिम में, धौलपुर से एक मील दूर है।

३ झुंझनूं में राणी सती का मन्दिर १३वीं सदी के अन्त में पूजा-योग्य स्थल बन चुका था।

४ महम में भी वैश्यों और ब्राह्मणों की सतियों के ऐतिहासिक अवशेष नगर के बाहर हैं। अग्रोहा के ऐसे चिन्ह अब नष्टप्राय हैं।

५ उदयपुर संग्रहालय में १२वीं सदी के दो चौकोर सती-स्तम्भ प्रदर्शित हैं, ये अजमेर के चौहान वंश से संबंधित हैं।

६ लक्ष्मणजी की पूजा का चरम अर्थ क्या है, इसके लिए भरतपुर में सबसे यशस्वी पुराने लक्ष्मणजी के मंदिर के महन्त श्री [illegible] के पास [illegible]

नवाबों के शासन की वजह से राजस्थान में जो स्पष्ट शैव, शाक्त, वैष्णव आदि पूजाओं[1] के प्रिय रंग थे, वे सब घुलमिल कर इस तरह हो गये, जैसे केशर के रंग में टेसू का रंग तो मिल ही गया हो, हल्दी का रंग भी मिलने से न चूका हो ! फिर भी इन मंदिरों की श्रद्धा-मुखर मूर्तियों ने अपन में से निसृत होनेवाली गंधवती बयार से ही इस महाप्रदेश राजपूताना को गंधवान रखा, तपोतेजमय रखा, दृढ़ गति आगे अग्रसर होने वाली संतति का नैतिक संरक्षण सबल बनाये रखा। यहाँ की संतति युग के किसी भी क्षण टिक कर नहीं रही, जम कर नहीं रही, दिशि-दिशि महाप्रयाण-स्वरूप गति की चुनौती शिरोधार्य करती रही। यही कारण है कि मोहनजोदड़ो, रंगमहल आदि की सभ्यता के काल से लेकर, शुंगकाल, क्षत्रपकाल, गुप्तकाल, परमार और परिहार-काल में भी यहाँ का आध्यात्मिक इतिहास दर्पवान है, शीलवान है, राजनीति व समाज के बीच का अखंड सेतु है और शेष भारत के आध्यात्मिक अध्याय की मूल भित्तियों से सुदृढ़ रहा है।

इस संपूर्ण यात्रा में मैं बराबर सूरजमल जी का स्मरण करता रहा। जिस नगर गया, वहाँ पर वैश्यों ने मानो एक ही चिंतन-शैलीसे समाज में अपना अभीष्ट योग दिया है। शोभनीय मंदिरों का नवनिर्माण, धर्मशालाओं की स्थापना, हट्टवेश्माली की बुनियाद चिनना[2] और दान-सदाव्रत में अग्रणी रहना। सूरजमल जी के जीवन का यह अक्षय पुण्य ही मुझे लगा कि इस प्रवास में सहज रीति से चमत्कारी देव-देवियों के दर्शन हुए और राजस्थान के मंदिरों का क्रमबद्ध इतिहास कम से कम समय में हस्तगत हो गया।

इस योजना का संपादन एक दुरूह दायित्व था और इसके चिंतन-मनन तथा स्पष्टीकरण में ही तीन वर्ष से अधिक का समय लगा। आखिर, मित्रों ने निश्चय किया कि श्री सूरजमल जी जालान की जीवनी का विशद लेखन हाथ में ले लिया जाए। सेठ मोहनलाल जी ने इस विषय पर विचार करने के लिए सर्वश्री राधाकृष्णजी नेवटिया, श्यामदेवजी देवड़ा और रामकृष्णजी सरावगी को निमंत्रित किया। एक दूसरी बैठक में हमें भी उपस्थित होने का आग्रह प्राप्त हुआ। निश्चय हुआ कि एक स्थायी महत्त्व के ग्रंथ की रूपरेखा तैयार की जाए। इस कार्य में रतनगढ़-निवासी श्री सूरजमल जी माठोलिया से जब परामर्श हुआ, तो उनके सत्परामर्श बड़े महत्त्व के सिद्ध हुए। श्री माठोलिया जी के पास श्री सूरजमल जी जालान के संस्मरणों की जैसे एक पेटिका ही भरी हुई थी। ग्रन्थ की योजना बनी। यह सौभाग्य का विषय था कि जिस तरह विगत अनेक अवसरों पर श्री राधाकृष्ण जी नेवटिया ने हमारी अन्य वृहत् योजनाओं का संपादन और नेतृत्व किया, इस बार भी वे इस बोझिल कार्य का नेतृत्व करने के निमित्त मुख्य संपादक बनने के लिए सहर्ष तत्पर हो गये। श्यामदेव जी देवड़ा और रामकृष्ण जी सरावगी राजस्थानी साहित्य के मर्मज्ञ हैं और कलकत्ता में सार्वजनिक मंच के जाने-पहचाने स्वजन हैं।

यह हमारे जीवन का महत् परिच्छेद है कि इस ग्रन्थ के मन्दिर-प्रकरण की पूर्णाहुति में बहुत से स्वजनों और परिचित-अपरिचित मित्रों का सहयोग राजस्थान की दीर्घ यात्रा में मिला है। उनकी संख्या काफी बड़ी है। ग्रन्थ के अन्त में हम ने उन के प्रति हमारा आभार-प्रदर्शन प्रस्तुत किया है। हम विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी, राजस्थान के अन्य इतिहास-विषयों पर कार्य करने के क्षणों में, उन का सुखद सहयोग इसी प्रकार सुलभ होता रहेगा। यात्रा प्रारंभ करने के पूर्व हम 'कल्याण'-संपादक श्री 'भाईजी' हनुमान प्रसाद जी पोद्दार से मिलने गोरखपुर गये। उनकी वरद् शुभकामनाएँ बहुत फलप्रदा रहीं। श्री झाबरमलजी सराफ ने जीवनी-खंड की तिथियों को और घटना-क्रमों को प्रमाणिक बनाने में निरन्तर समय दिया। श्री बहरामल जी भड़ँच ने सामग्री-चयन में स्तुत्य-श्रम किया। इन दोनों के प्रति हम हृदयतः कृतज्ञ हैं।

भारत की सुजला-सुफला मातृभूमि की वंदना हम अनेक रूपों में करते हैं। अतीत के गौरव व स्मृति-ऐश्वर्य की चर्चा भी अपने पूर्वजों के गुणगान के रूप में कर रहे हैं। राजनीति के इस युग में हम निःसन्देह अपने उन पूर्वजों को भूलते जा रहे हैं, जिन्होंने विनीत भाव से स्वस्थ मनुष्य के लिए उपयोगी समाज का स्वप्न देखा था। यह ग्रंथ ऐसे ही सपूतों को विनीत श्रद्धांजलि देने के लिए किया गया लेखनी-श्रम है। नयनोत्सव की परम्पराएँ हमारे राष्ट्र में पुनः प्रतिष्ठा-सहित जन-मन की वंदना से पूजित होने लगें, यही हमारी विनीत कामना है।

दीपोत्सव, सन् १९६३

कमरा नं० १२१, माधोभवन
११६-१, महात्मा गाँधी रोड,
कलकत्ता-७

—ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ'

---

१ हिजड़ों का एक मात्र मंदिर यों पूना में बताया जाता है, पर राजस्थान में बल्लभगढ़ और नसीराबाद में इनकी गद्दियाँ विद्यमान हैं। सोचिए, हिजड़ों को पूजा हम कैसे भूलें ?

२ रघुनाथगढ़ (सीकर) में विशाल व्यापारिक मंडी आज भग्न पड़ी है। इस तरह के अन्य चिन्ह राजस्थान में अन्यत्र भी मिलते हैं

अर्घ्य-पुष्पगुच्छ

प्रथम परिच्छेद : पूर्णगर्भा मरुभूमि के लवकुश

द्वितीय परिच्छेद : सूरजमलजी के जीवन की ज्योत्स्ना

तृतीय परिच्छेद : अलौकिक उपहार का प्रेरक बल

चतुर्थ परिच्छेद : रतनगढ़ में जन-कल्याण के भिन्न महोत्सव

भरतपुर संग्रहालय में सुरक्षित यह विशाल शिवलिंग लगभग १५०० वर्ष प्राचीन है !

स्वागत-श्री का चारुहास
[बीकानेर की कलाकृति]

षट्भुजा का ललितललाम मंदिर रास
[जैसलमेर, १४वीं सदी]

पंचम परिच्छेद : परिवार की समृद्धि और संतति की वृद्धि

षष्ठ परिच्छेद : पाट-व्यवसाय के गहन व्यूहचक्र में

सप्तम परिच्छेद : देवघर के संथाल अंचल में ग्राम-पाठशालाओं का राष्ट्रीय कार्यक्रम

अष्टम परिच्छेद : ज्योति-पर्व की अंतिम महायात्रा

संक्षिप्त उपहार : दीर्घजीवी महोत्सव एवं सुकर्म-संकीर्तन

प्रथम खण्ड की चित्र-सूची

आयुध-भूषिता भगवती का श्रद्धास्पद सौंदर्य
[आबू पर्वत के जैन-मंदिर में १३वीं सदी]

चित्ररूप चित्रलेखा का सांगीतिक उच्छ्वास
[अर्थूणा १०वीं सदी]

उषा-वेला की चंचलायमान
वेणु-चंदिनी
[ग्ररयूणा, १०वीं सदी]

ग्रभिसार-इप्टा का रमण
[ग्ररयूणा]

—०—

देव-मंदिर प्रकरण

द्वितीय परिच्छेद

पृष्ठ

●

शृङ्गार-मूर्त्तियाँ

प्रस्तुत देव-प्रकरण में हमने शुरु से लेकर अंततक लगभग १०० से ऊपर वे श्रृंगार-मूर्त्तियाँ रेखा-चित्रों में प्रस्तुत की हैं, जो अरथूणा, डूंगरपुर, सिरोही, जैसलमेर, अलवर, भरतपुर, कोटा, ऋषभदेव, उदयपुर, अजमेर, बांसवाड़ा आदि में प्राप्त हैं। यद्यपि कुल मिलाकर ५०० श्रृंगार-मूर्त्तियों के चित्र उतारे गये थे, किन्तु स्थानाभाव से सब को दिया जाना संभव नहीं था।

●

देव-प्रतिमाओं और देवताओं के दर्शन

प्रस्तुत प्रकरण में लगभग ३०० से ऊपर देवालय, प्राचीन मूर्तियाँ और अर्वाचीन विग्रहों के चित्र यहाँ आर्टपेपर पर प्रकाशित किये जा रहे हैं, जिन का परिचय यथास्थान आर्ट-प्लेटों पर ही मुद्रित किया गया है। लगभग २००० चित्रों में से, स्थानाभाव के कारण इतने ही हम संलग्न कर पाये हैं।

●

दिगम्बर व जैन श्वेताम्बर मंदिरों-प्रतिमाओं के चित्र

निश्चित योजना के अनुसार पर्याप्त संख्या में इस संदर्भ को भी हम सचित्र करना चाहते थे। पर दुख है कि हमें सिरोही व बीकानेर को छोड़ कर कहीं भी चित्रीकरण की सुविधा नहीं दी गई। अतः हम अवश विवश रह गये हैं। आशा है, पाठकगण इसे सहृदयता से ग्रहण करेंगे।
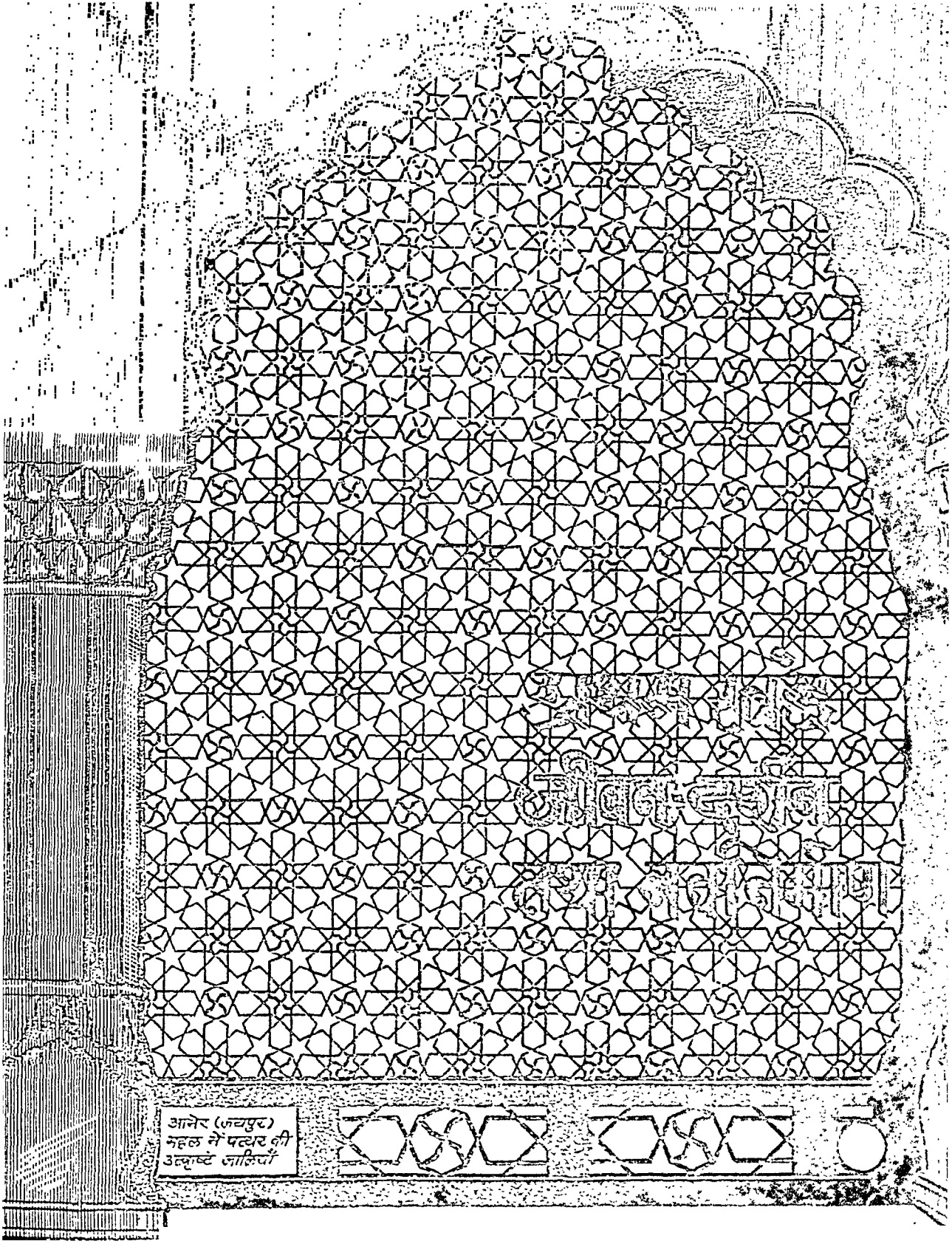
आमेर (जयपुर) महल में पत्थर की उत्कृष्ट जालियाँ
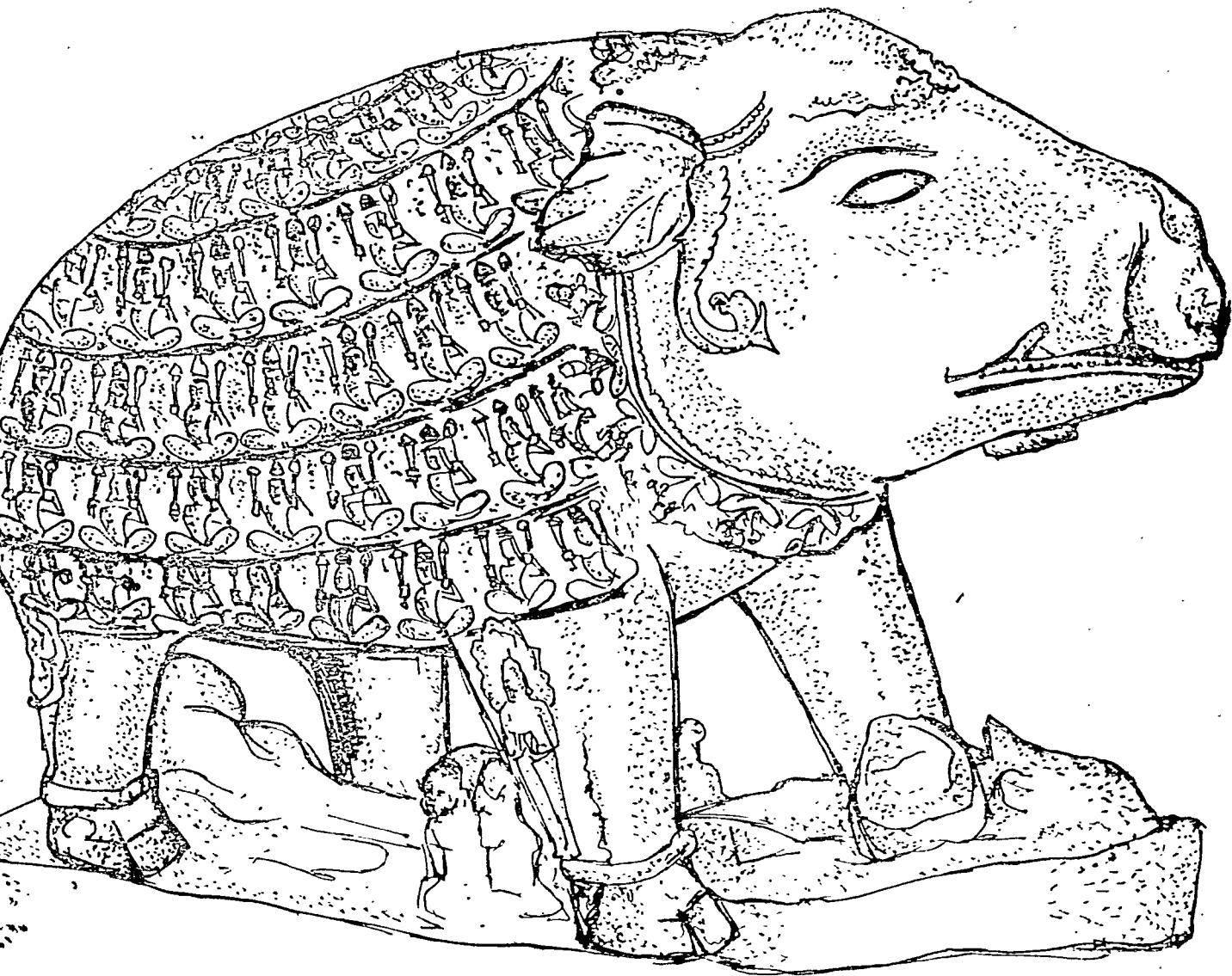
[शूकर वराह, बड़ी कत्तामंडी,
८ वीं सदी, झालावाड़ संग्रहालय

यज्ञों के सृजनकर्त्ता इस दिव्य अवतार-रूप का हम स्तवन करते हैं।

प्रलय में पृथ्वी जब जल-लुप्त होने लगी तो विष्णु भगवान ने वेद-यज्ञमय वराह-शरीर ग्रहण किया और पाताल में से पृथ्वी का उद्धार किया। यह विष्णु भगवान का तृतीय अवतार था। किन्तु वराह-रूप इस अवतार के अर्थ यहीं शेष नहीं हो गये। प्रलय जिन कारणों से हुई और उस क्षय की प्रवलता के कारण पृथ्वी का पतन भी रसातल को पहुँच गया, उन से शोधित नई सृष्टि को यज्ञमय बनाने के लिए भगवान ने अपने वराह-रूप का त्याग करने से पहले, उस के अंग-अंग से अनेक यज्ञों की रचना की। ज्योतिष्टोम, वह्निष्टोम, पौनर्भवस्तोम, वृद्धस्तोम, वृहत्स्तोम, अतिरात्र तथा वैराग आदि यज्ञ इसी वराह-अवतार की देह से सिरजे हुए हैं। पुराणों ने बताया है कि उनकी देह से कुल ६० हजार यज्ञ उत्पन्न हुए। उनकी आत्मा यज्ञ-पुरुष के रूप में मान्य हुई।

भारतीय शिल्प में शूकर-वराह की देह पर ६० हजार यज्ञज्योति-पुरुष अंकित करने की परम्परा है। इस परम्परा का एक लौकिक अर्थ यह भी है कि देह धारण कर प्रत्येक मनुष्य कर्म-यज्ञ-पुरुष बने!
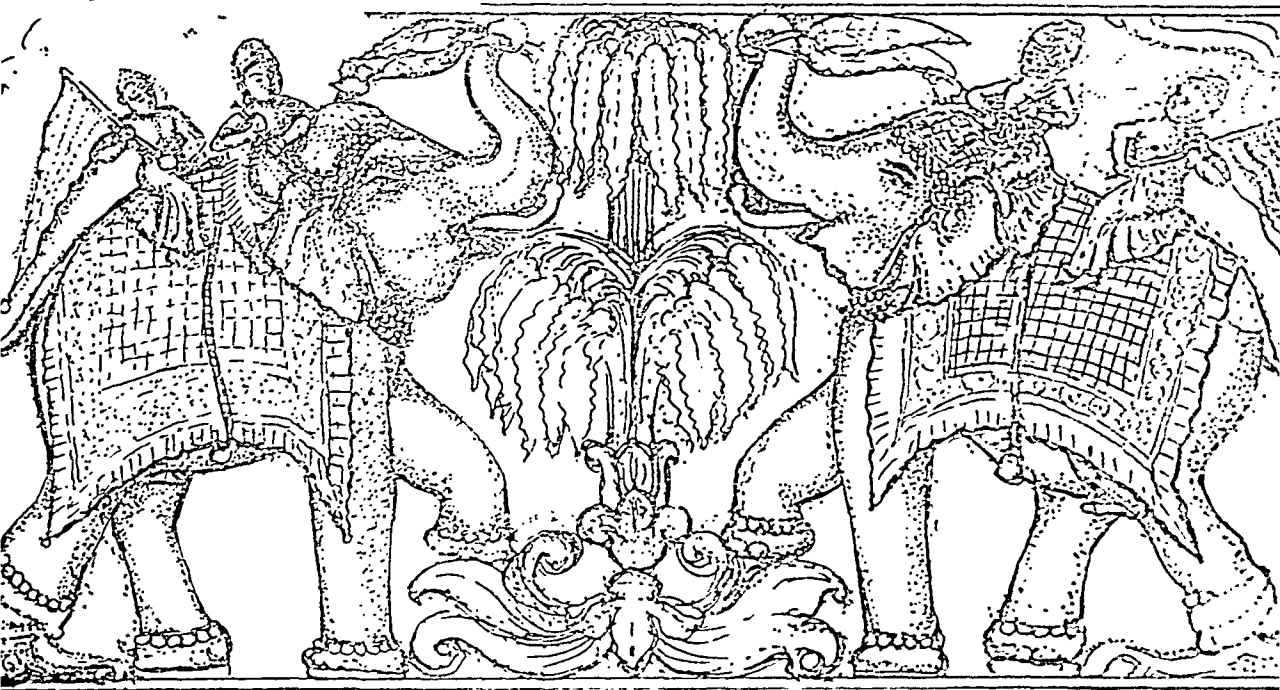
[जयपुर में मध्यकालीन गैटूर की छत्रियों पर शिल्प की उपलब्धि का भाव-अंकन

प्रथम परिच्छेद

पूर्णगर्भा मरुभूमि के लव-कुश

○

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठं स्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥
चरैवेति, चरैवेति ॥

—सोनेवाले का नाम कलि है, अंगड़ाई लेनेवाला द्वापर है, उठ कर खड़ा होनेवाला त्रेता है और चलनेवाला कृतयुग है । इसलिए चलते रहो, चलते रहो ।

(वनमें राजकुमार रोहित को देवराज इन्द्र द्वारा दिया गया अमर सन्देश)

○

[१]

दक्षिणी राजपूताना का इतिहास ७वीं सदी के बाद से क्रीड़ाशील ही नहीं होने लगता, उसके वीरोचित शृंगार के लिए उत्तमोत्तम वीर-रत्न भी उत्पन्न होने लगते हैं। यही वह प्रदेश है, जहां सभ्यतापूर्व का इतिहास रचित है, नागयुग[1] का चरण धीर गति से चलता हुआ अपने पद-चिन्ह छोड़ गया था। प्राचीनतम ऋषियों के स्थान यहां प्राप्त हैं। आदिम मानवता की

१ देखिए, 'लेजेन्ड हैमिगार ऑफ दि हिस्ट्री आफ राजस्थान'।

कहानी के सूत्र सुलभ होते हैं[1]। पौराणिक समय की जलधाराएँ बहती हैं। दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में हमारा गहन अतीत एकदम धराशायी नहीं है, उसके प्राणों की ध्वनि विद्यमान है। अरावली शृंखला के पूर्व में इस प्रदेश के ऊपर सर्वोपरि तीर्थ पुष्कर है और उससे उत्तर में गणेश्वर महादेव, गालव ऋषि का स्थान, लोहार्गल व सकराय हैं। किन्तु अरावली के पश्चिम में जो प्रदेश उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ है, उसकी कहानी १५वीं सदी के बाद से अधिक सुस्पष्ट लिखी हुई मिलती है। केवल बीकानेर में, जहाँ पर सरस्वती की घाटी विद्यमान रही थी, वहाँ पर मोहनजोदड़ो और ईसा-पूर्व के अन्य युगों के अवशेष खोजने पर हाथ लगते हैं[2]। स्थूल दृष्टि से यह लगता है कि जिस प्रदेश को हम जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर के रूप में जानते हैं, वह रेगिस्तान होने के कारण रामायण-काल से भी पहले से अलंघ्य बना रहा। बात यह पूर्णांश में सत्य नहीं है। पुराण और पुराणोत्तर काल की नृवंश-गाथा के सूत्र यहाँ पर रहे थे। मध्ययुग में एक ओर यह कठोर ग्रीष्म, कठोर अकाल-विभीपिका और कठोर रूढ़-धर्माध आघात के अत्याचारों से पीड़ित रहा, फल यह हुआ कि इसका अतीत अपने प्राचीन और हिन्दू-कालीन भाग्यलेख को विस्मृत कर बैठा। फिर भी यहाँ पर मनु-पुत्रों की लघु नगरियाँ आबाद बनी रहीं। पंजाब में यौधेयों का साम्राज्य था। वह बहुत अधिक स्थिर न रह सका, क्योंकि पश्चिम में भारतीयों के पारस्परिक विग्रह का आग्रह उसे पराभूत करने के लिए अनेक बार सचेष्ट हुआ। हार कर वे पूर्व में गये, फिर और दक्षिण में उतर आये ; १२वीं सदी तक राजस्थान के मरु-प्रदेश के दुरूह अंचलों में रहने के लिए विवश रह गये।[3] इनकी जीवन-पद्धति प्राचीनता लिये हुए थी। उसमें अनेक राजनीतिक क्रांतियों के प्रतिदर्शन समाहित थे। उसमें हिन्दू विधि-निषेध भी थे, उनके निजी विशेष पूजाभाव भी थे। रहन-सहन की परम्परा भारतीय थी, शासन में स्वयं जीवित रहने का सौमनस्य वे सब के साथ निभाना चाहते थे। दूर-दूर तक केवल उनकी ही ढाणियाँ थीं, अन्य जातियों का प्रादुर्भाव उनके इर्द-गिर्द बहुत उल्लेखनीय नहीं हो पाया था। उनका कृतित्व कृषि में नया उत्तम अध्याय क्यों रच गया, यह आज सहज भाव से नहीं जाना जा सकता, लेकिन जिन स्थानों पर आज राजस्थान के नगर आबाद हैं, वहाँ पर मनुष्य-योग्य निवास पहले उनके ही बने थे। इनके गण महत् आदर्शों का निर्वाह कर रहे थे, शांति के साथ जीवन व्यतीत करते थे। अपने संस्कारों पर गर्व करने में उनका उच्छ्वास मधुर हो जाता था। मरुभूमि ऐसे ही मनुजों को लेकर, मुगलकाल के पूर्व तक, पूर्णगर्भा बन चुकी थी।

पश्चिमी विद्वान कहते हैं कि राजपूतों ने इन गणों के साथ विश्वासघात करते हुए इन पर विजय प्राप्त की। प्रश्न है, यह कथन कहाँ तक प्रमाणयुक्त है। विजय किसने किस की की, यह प्रश्न बहुत अधिक महत्व नहीं रखता। न ही राजस्थान का वास्तविक इतिहास इस दृष्टिकोण से सहज गम्य हो सकता है। १०वीं सदी तक अरावली शृंखला के पूर्व में राज्य-शक्तियों का नया अध्याय प्रारंभ हुआ था। पंजाब और सिंध में जो शक्ति-तत्व थे, वे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए मध्यपूर्व के आक्रामकों से जूझ रहे थे। पश्चिम दिशा से आये ये प्रवास केवल राजनीतिक न थे, धार्मिक भी थे। सूर्य-मंदिर जो थे, वे ध्वस्त थे; शिवालयों की व्यवस्था भी दयनीय हो-हो कर पुनः जीर्णोद्धार को प्राप्त हो रही थी[4]। शाक्त मतावलम्बी ये गण बड़े पैमाने पर रहे, पर वैष्णव सम्प्रदाय की कृष्ण-भक्ति शाखा भी जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर प्रदेश में, इन राज्यों के अस्तित्व में आने से पूर्व, स्थायी बनी हुई थी। इस तथ्य को मुख्य रूप से हमें हृदयंगम करना होगा—मंदिरों में कृष्णलीला का अंकन सूक्ष्म रूप में बड़ा मनोहर होने लगा था। परम वीर होते हुए ये गण खलनायक अब नहीं रह गये थे; शांति से जीवन बिताते, कुटिल राजनीति से परहेज रखते। जब नई साम्राज्यवादी क्रांति आई, तो वह राजनीतिक से अधिक धार्मिक राजनीति बनकर आई। अरावली के पूर्वमें जो शक्तितत्व अपना विस्तार करने के लिए पश्चिम की दिशा बढ़े, वे नये सिरे से सूर्य, रामचन्द्रजी, तलवार और पशु-बलि की प्रथा का स्वर लेकर आगे बढ़े। पर जब तक क्रांति का पहला दौर पूरा हुआ,तो शासन अवश्य राजपूतों का प्रसार पाने लगा, पर कृष्ण, दुर्गा, सूर्य और रघुनाथ जी ये सभी अपनी-अपनी शक्ति भर नये सिरे से मंदिरों में ही नहीं,गढ़-प्रासादों में स्थान पाने लगे। और वास्तविक स्थिति यह भी थी कि इन सबकी मान्यता सार्वजनिक स्तर पर सब के मन में एक समान समा गयी थी। विग्रह नहीं रह गया था। इसलिए जाटों के गण पराभूत हुए, राजपूत शासक हुए—यह एक शैली है, बात कहने की। गण अवश्य अपना अस्तित्व खो बैठे, पर जाटों के गाँवों में उनका अस्तित्व नहीं मिट पाया। वहाँ पर जीवन का अस्तित्व तभी प्रसूत होता था, जब कि वह कठोर संघर्ष-जित बनते हुए परस्पर में एक दूसरे के जीवन-अस्तित्व की रक्षा का वचन भी देता था।

ऐसे ही प्रदेश में जब पाँचवीं सदी के बाद, एक नई जाति का स्थानान्तरण हुआ, तो तुमुल नाद बहुत अधिक नहीं बढ़ा। हिसार के निकट अग्रोहा है और वह अग्रवाल जातिका, हर्ष-साम्राज्य[5] से पूर्व केन्द्र था। वेदकालीन पणि जाति का रूपान्तर नाम-भेद से, वेश-भेद से, खान-पान भेद से, पूर्व-पुरुष की शक्ति-सामर्थ्य भेद से,

---

१ डा. एच० डी० सांकलिया, 'बिगिनिंग आफ सिविलिजेशन इन राजस्थान'

२ स्टुआर्ट पिग्गाट, 'प्रि—हिस्टारिक इंडिया'।

३ जेम्स टाड, 'एनाल्स आफ राजस्थान' में बीकानेर-इतिहास।

४ एक मोटे अनुमान के हिसाब से ११वीं सदी तक सम्पूर्ण राजस्थान में १००० शिखर-बन्द शिवालय विद्यमान थे, जिन में से अब केवल ५०-६० भग्नावशेष ही पुरातत्व के सौभाग्य से शेष रह गये हैं।

५ सम्राट हर्ष का सर्वस्व दान उसके साम्राज्य के समस्त वैश्यों को सातवीं सदी में दीन-दरिद्र बना गया था।

सम्पत्ति-प्रबलता-भेद से और दान-धर्म व यश-भेद से निरन्तर गौरव ग्रहण करता रहा था। रामायण-काल[1] में हम उन्हें शांतिप्रिय नागरिक के रूप में कोट्यावीश बना हुआ देखते हैं। महाभारत-काल में वे भी अस्त्र उठाते हैं,क्योंकि विचार-आदर्शके लिए धर्मयुद्ध हो रहा है। हर्ष के शासन-सूत्रों की विशृंखलता का सूत्रपात होते ही वे अपने केन्द्र से, विकीर्ण किरणों की तरह, अपना स्थान छोड़ते हैं और दक्षिण दिशा में नया स्थान खोजते हैं।[2] पूर्व में यमुना नदी के पार जन-संकुल प्रदेश है, आबादी घनी है। अस्तित्व-रक्षा के बहुत उपाय शेष नहीं हैं। लेकिन दक्षिण में गणराज्य हैं, वे शांतिप्रिय नागरिक-आगतों को प्रश्रय देते हैं। राजपूतों के आतंक-संकट के निवारण में ये आगत ही काम आते हैं। इसलिए प्रवासी वैश्यों का ये गण आलिंगन करते हैं, अत्यधिक मान देते हैं; किन्तु गणों की दयनीय परिस्थितियों से ये अग्रवाल संतुष्ट नहीं रहते। राजपूत क्षत्रिय हैं, भूमि का विस्तार चाहते हैं; वैश्य व्यापार का और कृषि का विस्तार चाहते हैं। गण की सीमाएँ बहुत संकीर्ण थीं इसलिए राजपूतों व वैश्यों का नया गठबंधन होता है। जाटों ने इस नई क्रांति का बहुत अधिक विरोध नहीं किया। वे अब शांतिप्रिय नागरिक बन गये, वैश्य उनके सह-अस्तित्व के भागीदार बनकर रहने लगे। यद्यपि चित्तौड़ के पास माध्यमिका नगरी अब लुप्तप्राय है, लेकिन उसकी कहानी यही है। अन्य व्यापार-नगरियों के जो क्षीण चिन्ह राजस्थान में पहली-दूसरी सदी के आसपास के मिलते हैं, उनकी कहानी यही है। स्थायी बसने का जन्मलेख उनके भाग्य में नहीं था, प्रवास उनके ही जिम्मे आया था; फिर भी नई-नई नगरियों में स्थायी रूप से बसने में वे पूरा विश्वास करते थे। मरुभूमि जब पूर्णगर्भा हुई, तो उसने इन्हीं वैश्य व राजपूत नामक दो, लव-कुश रूप में, भूमि-पुत्रों को नई संतति के रूप में प्रस्तुत किया।

सिकन्दर महान् की महानता भारत में इसलिए दिग्विजयी न बन सकी, क्योंकि सिंध-पंजाब व हरियाणा में महान नगरियों का जाल बिछा हुआ था, उसमें वह फंसे हुए मृग की तरह स्वयं ही आहत हो सकता था। ये महान नगर वैश्यों की संस्कृति का विस्तार लिये हुए थे। उनके वैभव से इन नगरों का सुयश बना था। अतः यह कहना रुचिकर लगता है कि सिकन्दर की महानता इन वैश्य-नगरियों को अंतिम प्रणाम कर वापस पैर लौट गई थी।

राजस्थान में जब इस जाति का शुभ आगमन अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए हुआ, तो वह कुछ समय बाद ही स्थानान्तरण के रूप में स्थायी बन गया। पंजाब के नगरों का अस्तित्व संकट में पड़ता चला गया, राजस्थान के गणों की सीमाओं में इन वैश्यों का अस्तित्व नये आलम्बनों की खोज में दत्तचित्त हो गया। उनके श्रम से छोटी ढाणियाँ बड़ी होने लगीं। अरावली की उपत्यका में जहाँ जलधाराएँ थीं, वहाँ पर छोटी नगरियाँ जन्म ग्रहण करने लगीं। दूरस्थ अंचलों में वर्षा-जल के संचय की प्रकृत भूमि को केन्द्र बनाकर नवीन बस्तियाँ भी अपने आधार चिनती रहीं।

प्रारंभ में इन वैश्यों का जमाव फतहपुर(शेखावटी) में हुआ, नारनौल में हुआ और जयपुर की उन उपत्यकाओं में हुआ, जहाँ पर जलधारायें थीं। हिसार से जब नवाबों की एक शाखा फतहपुर में आकर बसी, उस समय तक वह समृद्ध नगर था। नारनौल में अभी १२ वर्ष पहले बड़ी मस्जिद के गर्भ से जिस देवी-मंदिर का, उत्खनन के फलस्वरूप, प्राण-श्वास उच्छ्वासित हुआ है, उससे भी पता चलता है कि वह गुप्तकाल के बाद से ही एक बड़ा नगर था। यह उच्च कुलीय ब्राह्मणों का प्रधान केन्द्र था।

सन् १४५९ में जोधा जी ने मंडोर से अपनी राजधानी जोधपुर में स्थानान्तरित की। सन् १४६५ में बीकानेर राज्य की नींव पड़ी। नये राज्यों के निर्माण के साथ नये व्यापार की संभावनाएँ वृद्धि पाने लगीं। फतहपुर के अनेक अग्रवाल व माहेश्वरी व ओसवाल वैश्य-वंश दक्षिण-पश्चिम में नये सिरे से स्थानांतरित होने लगे। झुंझनूं में जब नवाबों का शासन सुव्यवस्थित हुआ, तो उस नगर में वैश्यों का जमाव बड़े पैमाने पर हुआ। अन्य नगरों में भी वे फैलते चले गये। ये नगर अपने युग की रूप-रेखाओं की दृष्टि से बड़ी ढाणियों के अतिरिक्त कुछ न थे।

रतनगढ़ का शिलान्यास और उसका वैभव

[२]

कानेर[3] का राज्य एक प्रकार से वैश्य-प्रधान राज्य रहा है। वे उसकी प्रमुख शक्ति बने, उन्होंने ही राज्य को समृद्ध करने के लिए रेतीले टीबों से भरपूर प्रदेश में कष्टसाध्य धन की खेती की। वैश्य उस कर्मठ जाति का नाम था, जो अपने लिए किसी भी नई अपरिचित भूमि को उपजाऊ बनाने में विश्वास ही न करते थे, उस भूमि के इर्द-गिर्द एक नया नगर अथवा मनुष्य-योग्य आवास बनाने में अपने को होम दिया करते थे। कृषि और धन की खेती करनेवाले वे ऐसे ही संकल्पित [illegible] थे। किसी नये नगर के बसने का समाचार पाकर वैश्य ही सबसे

१ बाल्मीकि-रामायण, अयोध्या-कांड

२ कन्नोज का अधःपतन वैश्य-जाति के लिए प्रबलतम कष्टों की आंधी लाया।

३ बीकानेर की स्थापना सन् १४८८ के १३ अप्रैल को हुई है।

अधिक हर्षित होते और अपने पुराने संकीर्ण स्थानों को त्यागने के लिए अविलम्ब उद्यत हो जाते। बीकानेर के नक्शे पर आज जो बड़े और छोटे नगर बसे हुए हैं, उनकी कहानी वैश्यों के स्थानान्तरण और उनके सुखद प्रवास की कहानी है।

अंग्रेजी काल में जो इतिहास पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं, उनसे लोक-प्रसिद्ध यही हुआ है कि इस राज्य में अनेक नरेशों ने अपने-अपने नामों से नये-नये नगर बसाये थे और उनकी स्थापना को विस्तार दिया था। पर बात सच यही है कि इन नये नगरों की पूर्व भूमि पर प्राचीन आबादियाँ स्थिर बनी हुई थीं, और उन स्थानों में अन्य जातियों के साथ वैश्य-ब्राह्मण अच्छी संख्या में रहते थे। जाटों की संख्या सबसे अधिक प्रायः हुआ करती थी। इन नरेशों ने इन आबादियों को गढ़ की प्राचीर-भित्तियों से इस तरह आवृत कर दिया कि वे शासकीय परिधियाँ बनती चली गईं—उन आबादियों की पूर्ण सुरक्षा वही मानी जाती थी। उसी सुरक्षा को कालान्तर में यह महत्व दिया गया कि प्राचीर-निर्माता शासकों का नाम उस नगर के निर्माता के रूप में लोक-ख्यात् होता गया। शासन के नये अध्याय इसी तरह लिखे गये हैं, इसी तरह पुराने लेखों को नया रूप दिया गया है। बीकानेर के सभी नगरों की यही परिवर्तनशील विरासत रही है।

शेखावाटी में फतेहपुर नवाबी का केन्द्र था। वहाँ पर वैश्यों की संख्या इस नाते अधिक बस गयी थी कि ठाकुरों और नवाबों का संघर्ष एक दीर्घ समय तक प्रायः शांत बना रहता था। पंजाब की सीमा के निकट स्थित होने का दूसरा लाभ फतेहपुर ने उठाया, पंजाब से बीकानेर की ओर जयपुर आदि की ओर जानेवाले व्यापार-मार्गों की वह पहली-प्रथम मंडी ही नहीं बना, राजस्थान के 'व्यापार का राजद्वार' भी कहलाया। वैश्यों के परिवार जब वृद्धि को प्राप्त हुए और उधर नये सिरे से सामन्तों व नवाबों का पारस्परिक द्वंद्व युद्धों के रक्त से सराबोर हो गया, तो वैश्यों ने बीकानेर व जोधपुर की ओर प्रवास प्रारंभ कर दिया। अन्य दिशा जो गये, और वहाँ जाकर जो बसे, उनकी पूर्व भूमिका इस नवाब-राजपूत संघर्ष से ओतप्रोत है। बीकानेर की पूर्व सीमा पर जो बड़ी ढाणियाँ थीं और वहाँ पर जो वैश्य १६वीं-१७वीं सदी में बड़ी संख्या में आकर बसे, उनका इतिहास यही है।

चूरू जिले में और निकटवर्ती अंचलों में 'सर' प्रत्यय से युक्त लगभग ६० प्रतिशत गाँव बसे हुए हैं। सर कच्चे तालाब का नाम है। यह तथ्य प्रमाणित करता है कि सर प्रत्यय लगा देने से पेय जल की, जो कि मरुप्रदेश की अमूल्य निधि थी और बड़े कष्टसाध्य उपायों से सुलभ होती थी, ध्वनि प्रमुख बन जाती थी। ये सर वर्षा जल के संचय से बनते थे। इस जल-संचय से खेतिहर व दुधार पशुओं की रक्षा होती थी। वर्ष-पर्यन्त यही जल पीने के लिए मिलता, क्योंकि प्रायः कुओं का जल खारा निकलता।

सन् १८२८ तक बीकानेर की राजनीतिक विषमताएँ रक्तपात के नये-नये खेल खुल कर खेल रही थीं। शासकीय अनाचार से सब पीड़ित थे। कृषि के प्रति उत्साह न था। ऐसे क्षणों में बीकानेर की गद्दी पर १८२९ में रतनसिंह जी ने अपना शासन प्रारंभ किया। वे समृद्ध नगरों का स्वप्न देखते थे, अपने राज्य में अधिकाधिक नये नगर चाहते थे। राज्य-विस्तार के लिए सचेष्ट थे।

उनके पिता सूरत सिंह जी एक बार इसी मार्ग से बीकानेर जा रहे थे। विश्राम के लिए वे इसी ढाणी में ठहरे। उस समय तक इस दिशामें केवल चूरू था और उसे उन्होंने बाहुबल से जीत लिया था। 'सर करना' भी एक मुहावरा है। फारसी शब्द से यह बना है, किन्तु, राजस्थान के जिन गाँवों में शासक अथवा समृद्ध वैश्य अथवा प्रभावशाली पुरोहित गण एक जोहड़ा अथवा तालाब बनवा देते थे, उसे भी 'सर करना' कहा जाता था। सूरतसिंह जी ने चूरू को सर किया था। उसे अपने राज्य में मिला लिया था। उस विजय से पूर्व, वे सोद्देश्य यहाँ ठहरे थे। यहाँ पर कोलासर व राजिया[1] नामक दो ढाणियाँ थीं। कोलासर में सराफ वैश्यों का बाहुल्य था। राजिया में कुछ साधु और उनके पूजनीय महन्त रहते थे, सराफों से भेंट होने पर सूरतसिंह जी ने इच्छा प्रकट की कि अरे, मेरे रतनीया के नाम पर क्या एक गाँव नहीं बसाया जा सकता। वैश्यों ने कहा कि ढाणी तो बसी ही हुई है, आप और जमीन दें, परकोटा बनवा दें, हम लोग यहाँ ढंग से रहने लगें, आपकी इच्छा पूरी हो जायगी। पिता ने बीकानेर पहुँचकर यह बात अपने शासक पुत्र से कही। उन्हें यह बात याद रही। द्वितीय चूरू-विजय से वे लौटे, तो यहाँ पर उनका पड़ाव हुआ। राजिया ढाणी में उन्होंने सिद्ध साधुओं के दर्शन किये। उन से बात करने पर जब रतनसिंह जी ने अपने मन की बात कही तो साधुओं ने भू-भाग के नृपति से यही बात दुहराई, "यहाँ पर नगर बसे, तो हम सब को भी उच्छिष्ट भाग की दो रोटयाँ मिल जायें।" रतनसिंह जी ने देखा कि यहाँ पर पेय जल प्रचुर है, ऐसे पानीय जल को केन्द्र बनाकर एक नया नगर बस जाये, उससे उत्तम एक राज्य के कर्ता-धर्ता राज-पुरुष के लिए और क्या उत्तम प्रस्ताव हो सकता है। विचार को कार्यान्वित करने के लिए आदेश दे दिया गया। उनके पुरोहितों में हुणतराम दीपराम नामक प्रसिद्ध व्यक्ति थे, वे ब्राह्मण थे। उन्होंने इस नगर को बसाने का भार अपने ऊपर ले लिया। ब्राह्मणों का मनोजगत सदैव उत्तम वैश्यों से भरपूर नई आबादियों के लिए आग्रह करता रहा है। उन्होंने यहाँ के सराफों से आग्रह किया कि वे जमीन के पट्टों में वृद्धि स्वीकार करें और जो अन्य सुविधाएँ चाहें, उसे भी ग्रहण करें। कोलासर के लोगों को पुराने मठ के पास लाकर बसाया गया। रतनसिंह जी ने वहाँ पर

---

१ 'राजिया' शब्द यद्यपि मुसलमानी संस्कृति से प्लुत अ-हिन्दू नाम होने की ध्वनि देता है, किन्तु डिंगल भाषा के प्रभाव-क्षेत्र में इस शब्द के जितने अनिवार्य अर्थ मिलते हैं, वे प्रायः सभी हिन्दू-संस्कृति के द्योतक हैं। 'राजिया' के दोहे' नाम से जिस काव्य का प्रचार इधर बहुत लोकप्रिय हुआ है, वे कृपाराम जी बारहठ सीकर से ९० मील दूर एक ढाणी में रहते थे।

करणीजी के मंदिर की स्थापना भी कर दी, वही राज्य की इष्ट देवी थी। इसी मंदिर को केन्द्र बनाकर सराफों ने अपनी नई आबादी बसानी शुरू कर दी। राज्य की ओर से आबादी के चारों ओर परकोटे की नींव डाल दी गई, राजकीय शासन के प्रतिनिधि आकर रहने लगे। छोटा गढ़ बस गया, उस पर बीकानेर का ध्वज फहराने लगा। उस ध्वज के नीचे प्रजा आश्वस्त भाव से रहने लगी। वैश्यों ने दूरस्थ अंचलों में बसे हुए अपने नाते-रिश्तेदारों को तथा भुआ, चाची, बहनोई आदि की संतानों को भी आमंत्रित किया कि वे यहाँ पर आकर आराम से बसें और नई भूमि प्राप्त करें। जो छोटे गाँव या ढाणियाँ थीं, वहाँ पर ठिकाणेदारों-ठाकुरों का अंकुश-व्यवहार विशेष रूप से वैश्यों को दुखी बनाकर उन्हें विवश कर रहा था कि वे ऐसे स्थान पर चले जायें, जहाँ संख्या मे वैश्य अधिक रहते हों और उन्हें सम्मान-योग्य जीवन-सुविधायें मिली हुई हों।[1] १७वी सदी के बाद से जिन नगरों में वैश्यों का अधिकाधिक स्थानान्तरण हुआ है, उस के पीछे यही प्रवृत्ति काम करती रही थी। रतनगढ़ इसी प्रवृत्ति से लाभान्वित हुआ।

राजस्थान में, मध्य युग के बाद, निरन्तर होनेवाली रक्त-क्रांतियों से आतंकित होकर, कृषि व व्यापार के धनी वैश्य गढ़ में रहना अधिक निरापद समझते थे। यही कारण है कि नयी शासकीय रीति-नीति से रक्षित गढ़-नगरी में क्रमशः नये नागरिक आसपास के ग्रामों से आकर बसने लगे थे। जब एक वैश्य अपने स्थान का परिवर्तन करता, उसके साथ ब्राह्मणों के परिवार भी नये स्थान की दिशा चल पड़ते। वैश्यों ने ब्राह्मणों का आर्थिक संरक्षण उतना नहीं किया, जितना स्थूल दृष्टि से दिखाई देता है। सत्य यह है कि वे एक वृहत् परिवार की भावना से साथ रहते,अन्य जातियों और वर्गों की अपेक्षा वैश्य ही अधिक धर्म-नियोजन में सोत्साह रुचि लेते, उस नाते उन के सम्पर्क में ब्राह्मणों का एक कार्य धर्म-आयोजन के कठोर प्रहरी दृढ़ता से बन कर रहना था। वैश्य उस धर्म-निष्ठा के प्रतिपालक थे, उन के इस धर्म-व्यापार में ब्राह्मण अपनी जीवन-चर्या को अविभाज्य अंग बनाने का मुख-लाभ पाते थे। इस से दो लाभ थे, ग्रामों में आबादी का साहचर्य वृद्धि पाता था, सुख-दुख में सब का हाथ बँटता था, अकाल-अभाव में कई सौ हाथ मिल कर उसका सामना करते थे, लोक-जगत में समर्थ साथियों का संग-साथ दृढ़ बनता था। एक ही शरीर के ये सबल अंग आपस में मिलकर युगधर्म का महत् भार उठाते थे। ऐसे जन-संकुल केन्द्रों की ओर आकृष्ट नये शक्तितत्व भी अपना संरक्षण देते, साधु-सन्तों का जमाव होने लगता, अन्य अन्त्यज जातियाँ भी ऐसी सामाजिकता के केन्द्र के निकट रहने में अपनी सुरक्षा समझती थीं। खेती में वैश्य प्रवृत्त होते, ब्राह्मण भी हल चलाने में उत्साहित रहते[2]। खेतिहर का हल सब को अनुप्राणित करने,और नये वर्ष में सब को प्रचुर अन्न का सुख मिले, इसलिए कठोर श्रम करना। रतनगढ़ इसीलिए बीकानेर राज्य का विकासमान नगर बनने लगा, दिल्ली की दिशा में स्थित होने से इसका महत्व बढ़ता रहा। महत्व के अनुरूप नई प्रजा दूरस्थ अंचलों से स्थानांतरित होती हुई बसती रही, उनकी संतति के प्रसार से नगर का आयतन भी प्रसार पाता रहा।

सन् १८२६ से लेकर सन् १९२६ तक, केवल सौ वर्षों में, किन-किन वैश्यों के परिवार रतनगढ़ में आकर बसे,और उनके कितने घर अब विद्यमान हैं,उनका एक सिंहावलोकन इस प्रकार हो सकता है :

१. सराफ	:	१००घर	१७. सेरावाला[7]	:	१५घर
२. पोद्दार	:	८०घर	१८. सुरेका	:	१५घर
३. धानुका	:	५०घर	१९. तापड़िया[8]	:	१५घर
४. खेताण	:	४५घर	२०. भरतिया	:	१०घर
५. केड़िया[3]	:	२०घर	२१. कन्दोई	:	१०घर
६. अजीतसरिया[4] :		२०घर	२२. गनेड़ीवाला[9]	:	१०घर
७. चांदगोठिया	:	२०घर	२३. मोर	:	१०घर
८. खेमका	:	२५घर	२४. गुप्ता	:	१०घर
९. पसारी	:	२५घर	२५. कसेरा	:	८घर
१०. थरड़	:	२०घर	२६. भुवालका	:	८घर
११. चमड़िया	:	२०घर	२७. मेंदसरिया[10] :		६घर
१२. गोगीसरिया[5] :		३०घर	२८. धीरासरिया[11]:		५घर
१३. जालाण	:	१५घर	२९. सांघरी	:	३घर
१४. बाजोरिया	:	१५घर	३०. सोढ़िया	:	३घर
१५. भईच	:	१५घर	३१. सिवाणिया[12]:		३घर
१६. आलेऊवाला[6] :		१५घर			

इनके अतिरिक्त सराबगी, बीदासरिया, टांटिया, ढाबड़ीवाला, फोगला, लढ़िया, जालानसरिया, सूत, पाटोदिया, भागीरथका, सरस-

१ १७ वीं सदी के बाद राजस्थान के इतिहास में राजपूती विलासिता का युग अवतरित होता है। वे अपने व्यय-साध्य विलास के लिए इन वैश्यों को अनेक रूपों में कष्ट-यातना देते हुए विवश करते हैं कि वे अपने तप-साध्य धन का प्रधान अंश उन्हें देते रहें। इस विवशता से रक्षा का उपाय यही शेष रह जाता है कि वे इन ठिकानों से अपनी गिरिस्ती को उठाकर अन्यत्र जा बसें और जीवन की नई सुविधाओं की तलाश में नया प्रयास प्रारंभ करें।

२ हल मनु-स्मृति के अनुसार ऐसा जीवनोपाय है,जो परिस्थिति-विशेष में सभी जातियों के लिए मान्य-गम्य रहा है। आज हरियाणा में बड़े पैमाने पर और राजस्थान में यत्र-तत्र खेतिहर ब्राह्मण बड़े स्वाभिमान के साथ जीवन-यापन करते हुए मिलेंगे।

३ केड ग्राम रतनगढ़ के पास है। यहीं से ये उठे हैं। ४ अजीतसर गांव से आये हैं। ५ रतनगढ़ से ४ कोस पर गोगीसर गांव है, यहां से आये हैं। ६ आलेऊ गांव [illegible] के पास ही स्थित है। ७ सेरा गांव से है। ८ ये माहेश्वरी हैं। [illegible] माहेश्वरियों के कुलनाम इस प्रकार हैं—लाहोटी, [illegible], मोदी, [illegible] के कुलनाम इस प्रकार हैं—केड, [illegible], पोद्दार, [illegible] हीरावत, [illegible] । ९ [illegible] मार्ग में स्थित है। १० मेंदसर चूरू से [illegible] है। [illegible] है। ११ [illegible] है। १२ [illegible] के पास हरियाणा और राजस्थान की सीमा पर स्थित है।

गढ़िया, गाड़ोदिया, पांडुसरिया, लीहला, सिंघाणिया, वजाज और चमड़िया भी विद्यमान हैं।

इसी अनुपात में ब्राह्मणों के परिवार भी वृद्धि को प्राप्त हुए हैं। १०० वर्षों में इस प्रकार वैश्य-संस्कृति प्रधान नगर के रूप में रतनगढ़ वड़े शोभनीय रूप में बढ़ा-फूला है।

किन्तु, रतनगढ़ के विकास की कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। इस विकास के दो भिन्न परिच्छेद हैं। एक विकास तो वह है, जो परम्परा-वादी शैली से हुआ है, दूसरा विकास आधुनिक शैली का है। पहले हम परम्परावादी शैली से इसके विकास को किस तरह वल मिला है, उसकी संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत करें।

रतनगढ़ में मुहल्लों के नाम इस तरह हैं :

१. पारीकों का मुहल्ला, २. धानुकों की गली, ३, अजीतसरियों की ढाणी, ४. जोधराज (ये अच्छे नामी सेठ हुए, उन्होंने यह सारी जमीन ब्राह्मणों को दान में दे दी थी) मंदिर का मुहल्ला ५. थरड़ों की गली, ६. पोद्दारों का मुहल्ला ७.मठवाली गली (यही वह स्थान है, जहाँ पर सबसे प्राचीन मठ है और जिसे केन्द्र बनाकर रतनगढ़ में नई आवादी वसने के लिए बीकानेर नरेश ने अधिकतम सुविधाएँ प्रदान की थीं), ८. होली-धौरा, १०. गढ़वाले कुएँ की गली, ११.हरिदास (ये एक यशस्वी भक्त हुए हैं) की ढाणी, १२. चमड़ियों की ढाणी, १३.तेलियों का मुहल्ला, १४.हरिजनों का मुहल्ला, १५. जालाणों की ढाणी और १६.जालाण-स्ट्रीट।

आधुनिककरण की दृष्टि से रतनगढ़ में 'स्ट्रीट' नाम कैसे आया, यह विवरण अभी वाद में लेंगे। अव हम इन वैश्य-प्रधान गली-महल्लों में स्थित मंदिरों की सूचि प्रस्तुत करें, कि उनका निर्माण किन वंशों के हाथों हुआ। गजेटियर ने लिखा है कि सन् १८७८ में रतनगढ़ में १६ मंदिर थे।[१] यह एक विशेष बात थी। बीकानेर राज्य में इस युग में इतने अधिक मंदिर और किसी नगर में संभवतः नहीं थे। रतनगढ़ के वैश्य कितने मंदिर-प्रिय थे, इसका परिचय निम्न सूचि से लग सकता है—

१. रघुनाथ जी का वड़ा मंदिर	: लाडोवाई चारणी ने वनवाया।
२. मठ का प्राचीन मंदिर	: पुराना है।
३. राधाकृष्ण जी का मंदिर	: चांदगोठियों ने वनवाया।
४. करणी माई का मंदिर	: पुराना है।
५. सत्यनारायण जी का मंदिर	: मोरों ने वनवाया।
६. जानकीवल्लभ जी का मंदिर	: तापड़ियों ने वनवाया। संभवतः यही सब से पुराना मंदिर है। यहाँ के पुजारी निरंजनी सम्प्रदाय के थे।
७. राधाकृष्ण जी का मंदिर	: कसेरों ने वनवाया।
८. गंगामाई का मंदिर	: खेमकों ने वनवाया।
९. वीरों का मंदिर	: राधाकृष्ण की प्रतिमा है।
१०. स्टेशन-स्थित शिवालय	: चौधरियों ने इसका जीर्णोद्धार कराया। पहले यहाँ पर श्मसान था। जहाँ पर भी पुराने शिवालय हैं, वे प्राचीन श्मसान की सूचना देते हैं।
११. ताल के हनुमान जी	: यह ताल अव सूख गया है। इन हनुमान जी की मान्यता बहुत व्यापक है। प्रायः रतनगढ़-निवासी नगर में आगमन और विदा के समय इन का दर्शन आवश्यक मानते हैं।
१२. लक्ष्मीनाथ जी का मंदिर	: पोद्दारों ने वनवाया।
१३. सराफों की सती का मंदिर	: सराफों ने वनवाया।
१४. रामचन्द्र जी का मंदिर	: गनेड़ीवालों ने वनवाया।
१५. रामेश्वरम् शिवालय	: विशाल रामचन्द्र पार्क में स्थित, वाजोरियों द्वारा निर्मित।
१६. रेलवे लाइन के पास रमा देवी शिवालय	
१७. जालाणों का मंदिर	: जालाणों द्वारा निर्मित।

इन के अतिरिक्त अन्य मंदिरों की संख्या काफी है।

किसी भी नगर के वसने के लिए यह जरूरी रहता है कि पहले वहाँ पर कुएँ वनवाये जायें। हर नये कुएँ के साथ हर नया मुहल्ला विस्तार पाता है। वैश्य-परम्पराओं में एक सबल प्रवृत्ति यह भी रही है कि वे अर्जित धन से अपने या नगर के उन अंचलों में, जहाँ जलाभाव हो, नये कुएँ चिनवायें और पुराने कुओं का जीर्णोद्धार करवायें। सन् १९४५ तक रतनगढ़ में १०० कुएँ वन चुके थे; जव से नगर में वाटर-वर्क्स की स्थापना हुई है, और सार्वजनिक नल लगे हैं, इन कुओं का महत्व गौण हो चला है। धर्मशालाएँ प्रायः १५ हैं। दातव्य औषधालय भी हैं।

इस परम्परावादी विकास के संतुलन में नगर का आधुनिक पद्धति का विकास जिस वंश ने प्रधान रूप से अपने हाथ में लिया है, वह जालाण या (आधुनिक उच्चारण!) जालान-वंश है। रतनगढ़ किस तरह एक फलता-फूलता ठेठ आधुनिक नगर वना, इसकी जानकारी के लिए हमें रतनगढ़ में जव से जालान-वंश आकर वसा है, उसका घटनाओं से ओतप्रोत इतिहास जान लेना चाहिए।

१ राजस्थान के गजेटियर ने सन् १८७८ में पृष्ठ २०० पर लिखा था, "Ratangarh is a tolerably large place. The bazar and houses are good, and many of the inhabitants are affluent. The Post-office established here receives and despatches 200 letters a day. There are 16 temples."

झूँझनूँ के जालान-वंश की फलवती लता-वल्लरी

[३]

जालान अग्रवाल हैं। ये अपने को अग्रसेन जी के वंशज मानते हैं। अग्रवालों के साढ़े १७ गोत्र इस प्रकार हैं——

गर्ग, गोभिल, गौतम, मैत्रेय, जैमिनी, शाण्डिल्य, वत्स, और्व, कौशिक, काश्यप, तांडव, मांडव्य, वशिष्ठ, धौम्य, मुद्गल, धन्यास, तैत्तिरैय और नागेन्द्र। इन्हीं को लोकान्तर में गोयल, गोवन, मीत्तल, जिदल, सिंघल, बांसल, एरन, कांसिल, कंछल, तुंगल, मंगल, विंदल, गर्ग, मधुकल, टैलण, तायल, टेरन और नागल नाम से उच्चारित किया जाता है।

पूर्व-पुरुष पूज्यपाद जालीराम जी, संवत् १३५० विक्रमी (सन् १२९३) के लगभग, डोकुआ ग्राम से आकर झूंझनूं में बसे थे। उस समय झूंझनूं झूजे जाट की ढाणी नाम से प्रसिद्ध था। जालीरामजी डोकुआ ग्राम से इसलिए चले आये, क्योंकि वहां का ठाकुर निरंकुश था, वैश्यों का सम्मान करने में वह कृपण था। झूजे जाटकी ढाणी के पूरब में एक ऐतिहासिक नगर बसा हुआ था, जो अब धूमिलप्राय खंड-हरों में विलुप्त हो चुका है। अग्रोहा की तरह यहां भी किंवदन्ती प्रचलित है, कि इस नगर पर किसी साधु के शाप से सवा पहर तक गरम राख की भयानक वर्षा हुई थी। फलस्वरूप वह नगर धूलराशि में दब गया। वहां से भागी हुई जनसंख्या इस ढाणी में आकर बसने लगी थी, पाटन में वह लौट कर नहीं गयी। आज भी खोदने पर पाटण में पुराने खंडहर प्राप्त होते हैं।

जालीराम जी के पिता का नाम साधनाराम जी था। उनके पितामह का नाम खुदनराम जी[1] था। जालीराम जी के दो पुत्र हुए, तनधनदास और कमलराम। जालीराम जी ने ढाणी में आबाद होने के बाद अपने ज्येष्ठ पुत्र का विवाह किया। इसी विवाह की मर्मान्तक घटना इस वंश में एक रोमांचक इतिहास रच गयी।

डोकुआ ग्राम महम के पास है। महम अग्रोहा से लगभग ५० मील पूरब-दक्षिण में है। महम नाम बादशाह बाबर की एक बेगम के नाम पर पड़ा। यह वास्तव में एक प्राचीन स्थान है; बाबर ने इसको अपने अधिकार में कर, अपनी बेगम के नाम पर इसे प्रसिद्ध किया, कारण कि यह पहले से एक ऐतिहासिक नगर था और शक्कर बनानेकी भट्टियां यहां पर अत्यधिक संख्या में विद्यमान थीं, जो खुदाई में प्राप्त होती हैं। इसी महम को दुर्गादास राठौर ने, अपने एक प्रतिशोध को पूर्ण करने के लिए, लूट लिया था। अग्रोहा और झूंझनूं के बीच में हिसार और हांसी प्रमुख स्थान हैं। डोकुआ तथा अन्य ग्राम प्रधान कड़ी बन कर रहे हैं।

जालीराम जी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का संबंध डोकुआ में इसलिए किया, ताकि पितृभूमि से कुछ संबंध बना रहे। संभव है, उन्होंने डोकुआ का त्याग करने से पहले, गुरुसहायमल जी को (गरुनामल जी ?) वचन दे दिया हो कि आपकी कन्या मेरी पुत्रवधू रहेगी। तनधनदास जी की पत्नी इन्हीं की कन्या थीं और उनका नाम नारायणी देवी था। यों जालीराम जी का जन्म दिल्ली में हुआ था, क्योंकि, हिसार और राजस्थान के उत्तरी भाग में रहनेवाले सभी वैश्यों को व्यापार के लिए दिल्ली की दिशा में जाना अनिवार्य-सा हो गया था। एक किंवदन्ती यह भी है, कि कुछ समय बाद, जालीरामजी के पिता ने हिसार में अपना स्थायी निवास स्थान बनाया था और वहां पर हिसार के नवाब ने उन्हें अपना दीवान-पद दिया था। उनका नाम [illegible] कहा जाता है। उधर, दूसरे वंश के नवाबों ने झूंझनूं में राज्य-विस्तार किया, समय का पुण्य योग देखते हुए जालीराम जी झूंझनूं में आ बसे। हिसार-नवाब के साथ उनका सौहार्द्रपूर्ण संबंध नहीं रहा था। दुर्भाग्य की बात देखिये कि जालीरामजी के और हिसार-नवाब के पुत्रों में अनायास वैमनस्य उत्पन्न हो गया। यह वैमनस्य इतना उग्र हुआ कि द्वेष-भाव में बदलता चला गया। नवाबी प्रतिहिंसा बलवती हो गयी और शाहजादे ने अपने उक्त अधिकारों का प्रयोग जिस तरह किया, उस ने जालीराम जी के जीवन में घोर अशांति का बीज बो दिया।

'देवड़ा जाति की वंशावलि' में यह कथा इस प्रकार है:

"जालीराम जी राज्य का कार्य करते हुए भी अपना व्यापार करते थे, इस से उनके पास अपार सम्पत्ति हो गयी थी। चारों तरफ उनका यश फैल गया था।

"सम्पन्न पिता के पुत्र तनधनदास जी को घोड़े रखने का बहुत शौक था। उनके पास एक सुन्दर घोड़ी थी, जो हजारों में लाखानी थी। उनके मस्तक में तिलक था और सफेद पैर, गोरखार कलौंसियों से सुशोभित रंग-बिरंगी बालों की पूंछ थी। चलने में वह पवन के समान तेज थी। उसे देखकर हरएक आदमी का मन लुभा जाता था।

"नवाब के शाहजादे ने उस घोड़ी की प्रशंसा सुनी तो वह खुद उस घोड़ी को देखने के लिए जालीराम जी के घर पहुंच गया। वह उस प्रकार की सुन्दर लक्षणोंवाली घोड़ी देख कर मन ही मन उसे प्राप्त करने की बात सोचने लगा।

"उस ने अपने पिता से कहा कि 'मुझे दीवानजी के लड़के तनधन दास वाली सफेद घोड़ी पसन्द है, मैं सवारी करूँगा, मुझे वह घोड़ी

1 खुदनराम जी के पिता का नाम महलोराम जी था। इससे पूर्व पांच पीढ़ियों के वंशजों के नाम इस प्रकार और मिलते हैं: १ श्री नाथेरामजी, २ श्री राधूराम जी, ३ श्री रतूराम जी, ४ श्री रूपतराम जी और ५ श्री मशिनाराम जी। खुदनराम जी इन्हीं के पुत्र थे।

मंगवा दीजिये।' नवाव जानता था कि उस घोड़ी पर दीवानजी के लड़के के सिवाय और कोई सवारी नहीं कर सकता था। इस कारण नवाव ने शाहजादे को बहुत समझाया, परन्तु उसने एक न मानी और हठ पकड़ लिया कि मुझे तो वही घोड़ी मंगवा दें। बालक का हठ देखकर नवाब ने लाचार होकर जालीरामजी से कहा,'जिस घोड़ी पर आपका लड़का तनधनदास सवारी करता है, वह घोड़ी शाहजादे को बहुत पसन्द है, अतः वह घोड़ी आप एक बार भिजवा दें, फिर चाहे ले जाइयेगा। जालीरामजी यह बात सुनकर कुछ देर चुप रहे और मन ही मन विचार करने लगे कि अगर मैं हाँ कर देता हूँ तो तनधन की राजी विना कैसे दूँगा, अगर ना करता हूँ तो नवाव साहब नाराज हो जाते हैं, इस कारण जालीरामजी ने नवाव से कहा कि तनधन से पूछकर आपको इस बात का जवाब दूँगा।

"जालीरामजी ने घर आकर नवाव का हुक्म सुनाया और कहा 'समस्या अति कठिन है। नवाव की नाराजी होनेपर यहाँ रहना असंभव हो जायगा। बेटा, संसार में कोई भी वस्तु साथ में नहीं जाती। यह संसार तो मेला है। अतः घोड़ी में मोह करना व्यर्थ है। ऐसी घोड़ी और मिल जायगी, पर बात फिर हाथ न आयेगी।' तनधनदास ने कहा कि पिता जी, घोड़ी मैंने अपने लिए पाली है,मैं इस घोड़ी को कदापि नहीं दे सकता। शाहजादा सोचता है, वह नवाव का लड़का है, घोड़ी जबरदस्ती मँगवा लेगा। यह हर्गिज नहीं हो सकेगा, चाहे खून की नदी क्यों न बह जाय। क्या मैं शाहजादे से कम हूँ। आप मेरे मन को मार कर घोड़ी देना चाहें तो दे सकते हैं, क्योंकि यह घोड़ी आप की है, मैं भी आप का हूँ।

"जालीराम जी ने तनधन की बात का मर्म समझ लिया और नवाब से जाकर साफ कह दिया कि घोड़ी नहीं मिल सकती। शाहजादे को जब यह मालूम हुआ तो उस के मन में दुख हुआ। उसने घोड़ी को किसी प्रकार भी हथियाना चाहा,जिस के लिए वह उपाय सोचने लगा। नवाब साहब की इतनी हिम्मत नहीं थी कि वे जबरदस्ती घोड़ी को मँगवा लेते, क्योंकि जालीराम जी का प्रभाव नवाब से कम न था।

"एक दिन रात में शाहजादा अपने आप गुप्त शस्त्र लेकर एक साथी के साथ उस घोड़ी को हाँक लाने के ख्याल से जालीराम जी की घुड़साल में जा घुसा। अपरिचित आदमियों को देखकर घोड़ी हिनहिनाने लगी। उधर पैरों की आहट और घोड़ी के हिनहिनाने की आवाज सुनकर समीप में ही हवेली में सोते हुये तनधन दास की आँखें खुल गईं और वे जाग पड़े। घुड़सालमें जाकर देखते हैं तो घोड़ी खुली हुयी है। यह देखकर उन्हें निश्चय हो गया कि कोई चोर आया है, जिसकी यह सब करतूत है। शाहजादा भय से घुड़साल की एक बागर में घुस गया। उसका साथी भाग निकला। तनधनदास इधर-उधर खोजते-खोजते घास की बागर पर जा चढ़े और उनके हाथ में लोहे की अंकुश थी, जिसको बागर में घुसाना चाहा। संयोगवश वह शाहजादे के हृदय में जा घुसी, जिससे उसका काम तमाम हो गया। भावी प्रबल है, भवितव्य होकर ही रहती है।

"जालीराम जी को जब यह समाचार मिला तो वे सावधान हो गये और बुद्धिमानी से काम लिया। रात ही रात में अपने परिवार और आदमियों को साथ लेकर वे अपनी सम्पत्ति लेकर झूंझनूं (शेखावटी) में चले गये। नवाब के आदमियों ने पीछा किया, पर वे राज्य की सीमा के बाहर पहुँच चुके थे, अतः वे लोग कुछ न कर सके। झूंझनूं में हिसार का नवाब उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था, क्योंकि, वहाँ के नवाब से हिसार के नवाब की अनबन थी। अब वह अपने पुत्र का बदला लेने का कोई उपाय सोचने लगा।

"जालीरामजी जब तनधनदास का गौना करने के लिए डोकुवा-हिसार[1] के पास पहुँचे, तब उनको इस बात की आशंका थी कि कहीं नवाब चढ़ाई न कर दे,इस कारण वे करीब ७०० आदमियों को साथ लेकर गौना करने पहुँचे थे। गौने का कार्य अच्छी तरह सम्पन्न हो गया। तब बहुत सी धन-दौलत ले, अपनी पुत्र-वधू नारायणी को रथ में बैठा कर,दलबल सहित झूंझनूं के लिए प्रस्थान किया। नवाब को यह खबर लग चुकी थी। वह बहुत से आदमियों को साथ लेकर डोकुवा की सीमा पर जा डटा। ज्यों ही जालीराम जी का दल सीमा के बाहर आया, नवाब के आदमी टूट पड़े और दोनों में घमासान युद्ध हुआ। लड़ते-लड़ते नवाब के भी बहुत से आदमी काम आये और जो बचे वे भाग गये। जालीराम जी अपने पुत्र और सब आदमियों सहित धराशायी हो गये। सिर्फ एक राणा सेवक और नारायणी बाई बची और सब वीरगति को प्राप्त हो गये! नारायणी बाई में इस घटना को देख कर एक दैवी शक्ति आ गयी थी। उसका प्रचंड रूप देख कर शेष सभी शत्रु नौ-दो ग्यारह हो गये। उस ने राणा से कहा, 'चिता के लिए लकड़ी ले आओ।' राणा ने वैसा ही किया और हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया, 'देवि, दास को क्या आज्ञा है?' घबड़ाओ मत, तुम्हारे पास में यह जो घोड़ा है, वह तुम्हारी मदद करेगा। तुम मेरी भस्मी इस पर लाद कर ले जाना,जहाँ पर यह ठहर जाय, वहीं मेरा स्थान बनेगा। मेरी भस्मी को, मेरे परिवार वालों को छोड़कर, और कोई हाथ न लगा सकेगा।'

"चिता बनवा कर नारायणी बाई ने अपने पति का शव गोद में लेकर सतीत्व की ज्वाला में अपने-आपको समाप्त कर दिया और सती रूप में अमर हुई। चितासीन होते समय राणा से कह गयी, 'जो कोई भी मेरी आराधना,पूजा एवं ध्यान करेंगे उनकी मन-इच्छा पूरी होगी।' सती ने 'स्वस्तिक' का चिन्ह अपने हाथ से बनाया था, जिसकी पूजा आज तक होती चली आई है।

१ इतिहास में यह हिसार-फिरोजा के नाम से प्रसिद्ध है। हिसार का अर्थ गढ़ होता है। दूसरा हिसार ईरान के निकट स्थित है। इतिहास में यह एक बड़ी भ्रान्ति है कि फिरोजशाह ने हिसार-फिरोजा बसाया था। उससे पूर्व यह बड़ा ग्राम था और यहाँ पर अनेक जैन-मन्दिर विद्यमान थे।

"राणा सच्चा सेवक था। उसने सती की आज्ञानुसार उसकी भस्मी झुंझनूं पहुँचा दी और जालीराम जी के परिवार वालों को सारा हाल कह सुनाया। घोड़ा जिस जगह पर खड़ा हुआ, वहाँ से टस से मस तक नहीं हुआ। भस्मी के समीप जालीराम जी के परिवार वालों को छोड़ कर कोई न जा सका। वहीं मंदिर बनवाया गया, जो आज एक दर्शनीय स्थान है।[1]

"इस प्राचीन मंदिर में जालीराम जी के परिवारवालों के सिवाय अन्य-अन्य जातियाँ भी श्री राणी सती जी की पूजा करने जाती हैं। श्री राणी सती की कृपा से आज उनके कुल में अगणित संख्या में उनके सेवक हैं। इसी कुल में और भी १२ सतियाँ हो चुकी हैं, जिनका नाम क्रमशः इस प्रकार है --

१. श्री सुजानी (ज्ञानी) सती	२. श्री पूराँ सती
३. श्री विरागी सती	४. श्री जमना सती
५. श्री रेनी सती (श्री टीली सती ?)	६. श्री काली सती (श्री वाली सती ?)
७. श्री मनभावनी सती	८. श्री मनोहरी सती
९. श्री उलमेल सती	१० श्री सीना सती
११. श्री मोदी सती (श्रीमदी?)	१२ श्री गूजरी सती

"यह अंतिम सती सम्वत् १८६० वि० के भादवा वदी १५ को हुई थी, अतः भादवा वदी १५ और मार्गशीर्ष वदी ९को जहाँ-जहाँ श्री राणी सती जी के स्थान हैं, वहाँ पर मेले भरते हैं। विशेष रूप से पूजा होती है। विवाह के समय बींदनी को झालरा नाम का जो (चांदी) चन्द-गहना पहनाया जाता है, उसकी १३ पातड़ियों पर इन १३ सतियों के नाम खुदाये जाते हैं।"

जिन तीन अग्रवालों के कुल की सतियाँ हुई थीं, उन के कुल के मनुष्य अपने-अपने घरों में भादों की अमावस्या के दिन सती माता की पूजा करते हैं। तेरह सतियों के मंदिरों के तेरह चिन्ह बना दिये जाते हैं। सतियों की पूजा करते समय रामकरण देवना[2] की भी पूजा करते हैं। पूजा में चढ़ाई गई वस्तुएँ इन वंशों की बेटियां ही ले लेती हैं। विदेश में जिन भाइयों को लड़का-बच्चा नही होता, उन लोगों को भी 'जात' देने के लिए घर पर बुला लिया जाता है। घर के समस्त स्त्री-पुरुष मिलकर एक साथ पूजा करते हैं, जिसे सती माता की जात बोलते हैं। झुंझनूं में रानी सतियों की पूजा करने जो व्यक्ति जाते हैं, वे एक चूनड़ी और १२ ओढ़नी ले जाते हैं। रानी सती के मंदिर पर चूनरी और सब पर ओढ़नी चढ़ा देते हैं। जब सन् १८१९ ई० में सरकार ने कानून बनाकर सती-प्रथा पर रोक लगाई थी, तब से शेखावाटी में कोई सती नहीं हुई।

१ इस घटना-क्रम में सबसे पहली सूचना यह मिलती है कि काल-क्रम में मदांध होकर ये नवाब प्रजापालक नहीं रह गये थे और उद्धत भाव से उनका मद अन्धा हो चला था। नारायणी देवी ने दिव्य भाव से अपनी भस्मी को झुंझनूं पहुंचाने की जो आज्ञा दी थी, उस में मानो अपनी पति-मृत्यु का तीव्र प्रतिशोध शामिल था। पितृ-गृह के स्थान पर, पति-गृह की नगरी में नारायनी देवी का मन्दिर जन-पूजित बना।

२ रामकरण जी 'सता' हुए, इनका कुल-परिचय अज्ञात है।

जालीरामजी की सन्तान झुंझनूं में जालान कहलायी। जालीराम जी के पश्चात् निम्न लिखित महापुरुष इनके वंश में हुए—

१. श्री जालीराम जी, २. श्री कमलाराम जी, ३. श्री टीलाराम जी, ४. श्री चूड़मल जी, ५. श्री बेगराज जी, ६. श्री भगतराम जी, ७. श्री तुलसीराम जी। जालीराम जी से सातवीं पीढ़ी में तुलसीराम जी हुए थे। तुलसीराम जी के पांच पुत्र हुए—१. रामदास जी, २. हरखदास जी, ३. सुन्दरदास जी, ४ लालजी मल अथवा लालचन्दजी ५.दामोदरदास जी। ये पाँचों महापुरुष तुलस्यानों के पाँच थामा कहलाते हैं। दामोदरदास जी बड़े भाग्यशाली पुरुष थे। उनके आठ पुत्र हुए—१.देवकरणजी, २.नागरमलजी, ३.सागरमलजी, ४. धूड़मलजी, ५.लूणकरणजी, ६. टोडरमलजी, ७. कनकसिंहजी, ८. उदयरामजी। दामोदर दास जी ने संवत् १७७९ में झुंझनूं में एक बावली (वापिका) बनवाई थी। वह जलाशय आज भी बड़े गर्व से इन पूर्वजों की कीर्त्ति-लता सिंचित कर रहा है। उसे तुलस्यानों की अथवा 'धर्मदास जी की बावड़ी' कहते हैं। अब तक शेखावाटी में इन वंशों में अनेक लखपति और कोट्याधिपति हो चुके हैं; पर ऐसी कीर्ति-लता आरोपित करने में कोई समर्थ नहीं हुआ, जो आज तक हरी-भरी रह सके। तुलस्यानों की बावड़ी के बाद दो तलैया और भी बनी हैं। एक मेड़तनी जी की है और दूसरी गिरधर-लाल जी की है।

झुंझनूं में 'तुलस्यानों का मोहल्ला' नाम का एक मोहल्ला है। उस में तीन बड़े-बड़े दरवाजे हैं। वे आज भी भग्नावस्था में खड़े प्रतापी पूर्वजों की यश-गाथा सुना रहे हैं। उनमें से एक तुलसीराम जी का, और दूसरा भोज जी का और तीसरा गोकुल सरने का कहलाता है।

झुंझनूं में जालानों और तुलस्यानों की श्मशान-भूमि भी है। वह रानी सतियों के मंदिर के पीछे है। उसी के एक स्थान में जालान और तुलस्यानों के मुर्दे जलाये जाते हैं। श्मशान की एकत्रीभूत बृहत् भस्म-राशि को कलकत्ता-निवासी सूर्यमलजी शिवप्रसाद ने हरिद्वार पहुँचवा दिया था।

संवत् १७९३ मे झुंझनूं में शेखावतों की प्रसिद्ध लड़ाई हुई थी। उस समय अनेक जन झुंझनूं[1] छोड़कर शेखावाटी के अन्य ग्रामों में जा बसे, जहाँ वे अनेक वाचक नामों से पुकारे गये। अनेक स्थानों में जाकर वे लोग झुंझनूंवाला कहलाये। पर जो लोग झुंझनूं में रहे, वे लोग तुलस्यान ही कहलाते हैं। उक्त युद्ध के समय इन वंशों के जो लोग शेखावटी-भूमिभाग के फतेहपुर, रामगढ़ और बीकानेर-वाटी के रतनगढ़ आदि स्थानों में जा बसे, वे निम्नलिखित वंशों (कुल-नामों) के नाम से विख्यात हैं—

१ झुंझनूं जयपुरवाटी का एक अंग है।

२ शेखावाटी सन् १८१४ के बाद से जयपुर-राज्य की सीमा के अन्तर्गत मान्य हो चुका था।

३ बीकानेरवाटी की सीमायें पूर्व में शेखावाटी से मिलती हैं।

१. जालान
२. तुलस्यान
३. रामदासका
४. जैतीरामका
५. दामोदरदासका
६. चन्द्रसेनका
७. झूंझनूंवाला
८. बाँकेसरिया
९. समर्थरायका
१० परमानन्दका
११. नागरदासका
१२. भज्जूरामका
१३. दयारामका
१४. भोजराजका
१५. साँवलरामका
१६. सुन्दरसेनका
१७. तारभोपतका
१८. लल्लु-बल्लुका
१९. सुन्दरदासका
२०. उदयरामका

२१. हरखदासका
२२. लूणकरणका
२३. टोडरमलका
२४. उदैका
२५. कनकसिंहका
२६. कांकरका
२७. वाछूका
२८. शरणेका
२९. शिवचन्दका
३०. फतेचन्दका
३१. चौधरी
३२. नोपरायका
३३. टाँईवाला
३४. नोपानी
३५. कटारूका
३६. नेमानी
३४.. जटिया
३८. कुड़कड़ीवाला
३९. रुइया
४०. पतासिया

४१. विशनका
४२. नारसरिया
४३. मोदी
४४. नूंवावाला
४५. पाटोदिया
४६. मस्करा
४७. बूबना
४८. जलेवीचोर
४९. मुसाणिया
५०. पसारी
५१. छाजूका
५२. तपसी
५३. कनोई
५४. वठारिया
५५. नोलपुरिया
५६. पिपलीवाला
५७. कालूंडवाला
५८. महजतिया
५९. पालड़ीवाला

६०. नागड़
६१. मलसीसरिया
६२. करवेला
६३. कालिनसरिया
६४. लून्डिया
६५. सुलतानिया
६६. टमकोरिया
६७. गिन्दोडिया
६८. क्याल
६९. देवड़ा
७०. कन्ठारूसका
७१. महलवाला
७२. मोडा
७३. गीदूरामका
७४. मटुरिया
७५. मलानुरका
७६. हालण
७७. कनवेलिया
७८. काननसरिया ।

इस सूचि में विगत २५ वर्षो में अनेक संशोधन-परिवर्द्धन हुए हैं ।

रूड़मल जी जालान की एक म्यान और तीन तलवारें

[४]

१८वीं सदी की चिंतनीय समाप्ति होते न होते, रतनगढ़ में पश्चिम से, पूर्व से, उत्तर और दक्षिण से छोटे सामन्तों द्वारा पीड़ित वैश्य आकर बसने लगे। उन्हें भूमि दी गई, बसने के लिए राजकीय संरक्षण दिया गया, सम्मानपूर्ण जीवन बिताने के लिए आश्वासन दिया गया और एक बड़े गाँव में मात्र वैश्यों और ब्राह्मणों का अस्तित्व प्रमुख बने, ऐसे वैश्य-संस्कृति प्रधान केन्द्र में और भी वैश्य-ब्राह्मण आकर बसें, इसके लिए द्वार खुला रखा गया। देखते न देखते रतनगढ़ बीकानेर की पूर्वी सीमा पर, चुरु से पहले, समृद्ध नगर बन गया, यद्यपि रूपरेखा उसकी एक कस्बे के समान रही।

रुड़मलजी जालान रतनगढ़ की नई प्रजा थे, वे यहाँ पर सन् १८३० के आसपास आकर आबाद हुए। अपने दो भाइयों के साथ वे शेखावाटी के किसी एकान्त अंचल में जीवन-यापन कर रहे थे, लेकिन अस्तित्व की रक्षा के लिए चिंतित रहते थे। भाग्य-चमत्कार उनके आवास के इर्द-गिर्द अधिक नहीं रह गया था। वैश्य का जीवन व्यर्थ की श्वास लेने का अभ्यस्त कभी नहीं रहा। वह व्यापार-श्रम अथवा कृषि-कर्म में निरन्तर प्रवृत्त रहा है। जहाँ इन दोनों साधनों का अकाल आ गया, वहाँ जीवन को अशुभ मान-समझ कर अपने स्थायी रैन-बसेरे को तत्काल त्याग देने के लिए वह कलपता रहा है। किसी नई और शुभ दिशा को खोज निकालने के लिए, वह हजार कष्टों के बाद भी, उत्साहित रहा है।[१] रुड़मल जी के एक भाई तो हरियाणा में स्थित सिरसा की तरफ चले गये, दूसरे भाई झंझनूं-फतहपुर की तरफ निकल गये। रुड़मल जी का परिवार शेखावाटी की सीमाओं को पार करता हुआ बीकानेर राज्य के इस नये बसते हुए नगर में आ कर ठहर गया। यहाँ बसने का आदरास्पद निमंत्रण-आग्रह मिला तो आबाद हो गया, उन्हें भी जमीन दी गई। रुड़मल जी ने रतनगढ़ में पहला काम यह किया कि अपने परिवार के लिए एक पक्का मकान

१ टाड के शब्दों में, "energetic, shrewd and intelligent", पृ० १३८३

चिनवाने का सिलसिला प्रारंभ कर दिया। आपकी गृहलक्ष्मी का नाम तुल्स्याँ बाई था। वे अपने साहस का विश्वास करती थीं। उन्होंने ही यह आग्रह किया कि जब यहाँ तक आ गये, तो यहीं बसेंगे। पर बसने से पहले पक्की छत रहनी चाहिए, पक्की छत के लिए धन तो यही नगर देता रहेगा। साध्वी की वाणी भला सत्य कैसे न निकलती। रूड़मल जी ने रतनगढ़ में बैठकर जब व्यापार प्रारंभ कर दिया तो भाग्यलक्ष्मी की अनुकम्पा उन पर इतनी होती रही कि मकान को पक्का बनवाने का व्यय करने में उन्हें कोई असुविधा सामने न आई।

रूड़मल जी जालान (जालीराम जी जालान के वंश में), एक सौ वर्ष बाद, एक शाखा के पूर्व-पुरुष पूरणमल जी जालान की पीढ़ी में उल्लेखनीय बनकर जीवन-यापन कर रहे थे। आपके पूर्वजों की सूची इस प्रकार है: पूरणमल जी, लाडूराम जी, लुनराम जी, हीरानन्दजी, किसनलालजी, हरजीमलजी, चेतरामजी, मनसारामजी, सुखराम जी, जैकिशनदास जी, डूंगरसीदास जी, तुलसीराम जी और रूड़मल जी। रतनगढ़ में जालान-वंश के आप ही पूर्व-पुरुष बनकर आये और यहाँ पर अपने यशस्वी वंश की नींव का उल्लेखनीय रोपण करने के लिए, मौन तपस्वी की तरह, मंत्र-सिद्धि करने में तन-मन-धन से जुट गये।

रूड़मल जी सद्गृहस्थ थे। समाज में सेठ नाम से अभिहित थे। क्योंकि जालान वंश के अकेले व्यक्ति थे, इसलिए आदर-भाव से देखे जाते थे। रतनगढ़ में उन्होंने अपने श्रम से जीविका के लिए अच्छा व्यापार किया और पक्की हवेली बनाकर रहने लगे। परिवार-धन की दृष्टि से वे तीन सन्तानों के बड़भागी पिता बने। सामंती घरों में केवल ज्येष्ठ पुत्र पर गर्व किया जाता था, शेष पुत्र राज्य-वृद्धि करने का स्वप्न पूरा कर सकें, तभी वे सम्मान पाते थे। लेकिन वैश्यों ने हमेशा अपने सभी पुत्रों को अपनी पाँच अंगुलियों का प्यार दिया। वे व्यापार में पाँच गगनचुम्बी वल्लियों का सहारा बन कर खड़े होते थे। कस्तूरचन्द जी ज्येष्ठ पुत्र थे। उन से छोटे बींजराजजी थे। कनिष्ठ पुत्र का नाम गुलाबरायजी था। वे वास्तव में अपने वंश के गुलाब-पुष्प के तुल्य गंधवान्, प्रतिभावान और संतान-श्रेष्ठ सिद्ध हुए। रतनगढ़ में जब तीनों पुत्र एक साथ बाजार में निकलते, तो बड़े-बूढ़ों की हर्षमना उंगलियाँ उठतीं, वे हर्ष-पुलकित होकर कहते, "देखो, जालानों के ये तीन मतीरे कितने बड़े हो गए हैं।" मतीरा मरुभूमि का ऐसा फल है, जिसमें दिव्य मधुर रस का गूदा भरा रहता है। कठोर ग्रीष्म में उसकी ललाई, तरुणाई से भरे रक्त की याद दिलाती है। मतीरा तरुणाई का उफनता रक्त माना भी जाता है। गबरू जवान बेटों से इसीलिए उसकी तुलना लोक-भाषा में दी जाती थी। रूड़मल जी के ये तीन बेटे उन की व्यापार-खेती के तीन हल बन चले थे। कस्तूरचन्द जी अब अपने सुखी पिता के दायें हाथ थे। बींजराजजी पर रूड़मलजी को इसलिए प्यार उमड़ता था, क्योंकि वे उनकी अधूरी अतृप्त कामनाओं की चर्चा किया करते थे, और रूड़मलजी कभी-कभी आश्चर्यचकित हो जाया करते कि यह कैसे मेरे मन की बात भाँप लिया करता है। सच कहा है, बिचला बेटा पिता के हृदय की गोपनीय बातों को मुखर करने वाला हुआ करता है। गुलाबराय जी बचपन से ही पक्के खिलाड़ी थे, अपने साथियों में वे साहसी माने जाते। अधिक खेलते, बड़े मुँह सी बातें अधिक करते। साहसी वीरों की बातों में उन्हें रस आता। परदेशों को जानेवाले व्यापारियों का काफिला जब रतनगढ़ में आकर ठहरता, तो वे बड़े ध्यान से उनका अध्ययन करते। उनकी बातें मन ही मन पिया करते। पिता को तंग करते और विदेश नाम किस चिड़िया का है, इसकी जानकारी के लिए तरह-तरह के प्रश्न करते। रूड़मल जी के मित्र कह दिया करते कि देखना, यह बेटा हवा में उड़कर रहेगा, इसे जरा अच्छी तरह पिंजरे में बन्द कर रखा करो। रूड़मल जी तब हंसते और कहते कि अरे, असली भेद तो मुझ से पूछो। रतनगढ़ की दिशा जब से मैं आया हूँ, यही तो यहाँ हुआ था। अब यह क्या नये कदम न भरेगा। इसे ऊँट की चाल का मजा पेट में मिला है!

जैसे ही कस्तूरचन्द जी २६ साल के हुए कि उन्होंने बंगाल की दिशा जाने का मंसूबा बाँध लिया। एक दिन पिता से अपने मन की बात कह दी। रतनगढ़ में ऐसा क्षेत्र न था कि एक परिवार के तीन वयस्क पुत्र एक ही म्यान में दुधारू तलवारों की तरह से रह सकें। पिता से जब कहा तो वे दिवास्वप्न के सुख में डूबने-उतराने लगे। उन्हें याद आया कि किस तरह वे स्वयं व्यापार करने के लिए परदेश चलने के इरादे से विवश हो गये थे और किस तरह कष्ट उठाते हुए रतनगढ़ आ कर बस गये थे। लेकिन जब कस्तूरचन्द जी ने परदेश जाने की बात कही तो वे एकबारगी ही काँप गये। क्या यह बेटा भी इसी तरह परदेश में जा कर बस जायेगा? क्या हमेशा के लिए इसका मुँह फिर देखने को न मिलेगा? नहीं, नहीं, वे अपने इस प्रिय पुत्र को इस तरह अपने से विदा न करेंगे। और, वे अवसर की तलाश में रहने लगे कि कोई अच्छा भरोसे का साथ मिले, तो उस के साथ ही इस शर्त के साथ इसे भेजेंगे कि यह अपने परिवार का मोह बनाये रखे, नियमित रूप से रतनगढ़ आता रहे, और नाभि-नाल का संबंध हठात् न तोड़ बैठे। शीघ्र ही ऐसा सुयोग आ गया। ओसवालों का एक दल बीकानेर की तरफ से दिल्ली की दिशा जा रहा था। उनका इरादा बिहार की तरफ जाने का था। पूरे दो महीने का सफर था। जोखिम का मार्ग था। पर रूड़मल जी ने देखा कि सभी वाणियों ने कंधोंपर बंदूकें ले रखी हैं और सभी कद्दावर लठैत हैं। कस्तूरचन्द जी ने उस दल के नवयुवकों के साथ गहरी मित्रता की, पिता ने भारी हृदय से उसे उनके साथ विदा कर दिया। एक ऊँट की सवारी निश्चित कर दी, जो उसे दिल्ली तक पहुँचा आये। साथ में सफर-खर्च तो दिया ही, अपने हृदय का भरापूरा आशीर्वाद भी दिया। कस्तूरचन्द जी जब अग्रसर होने के लिए ऊँट पर सवार हुए तो उनका हर्ष देखते ही बनता था, पर पिता की आँखों में जो
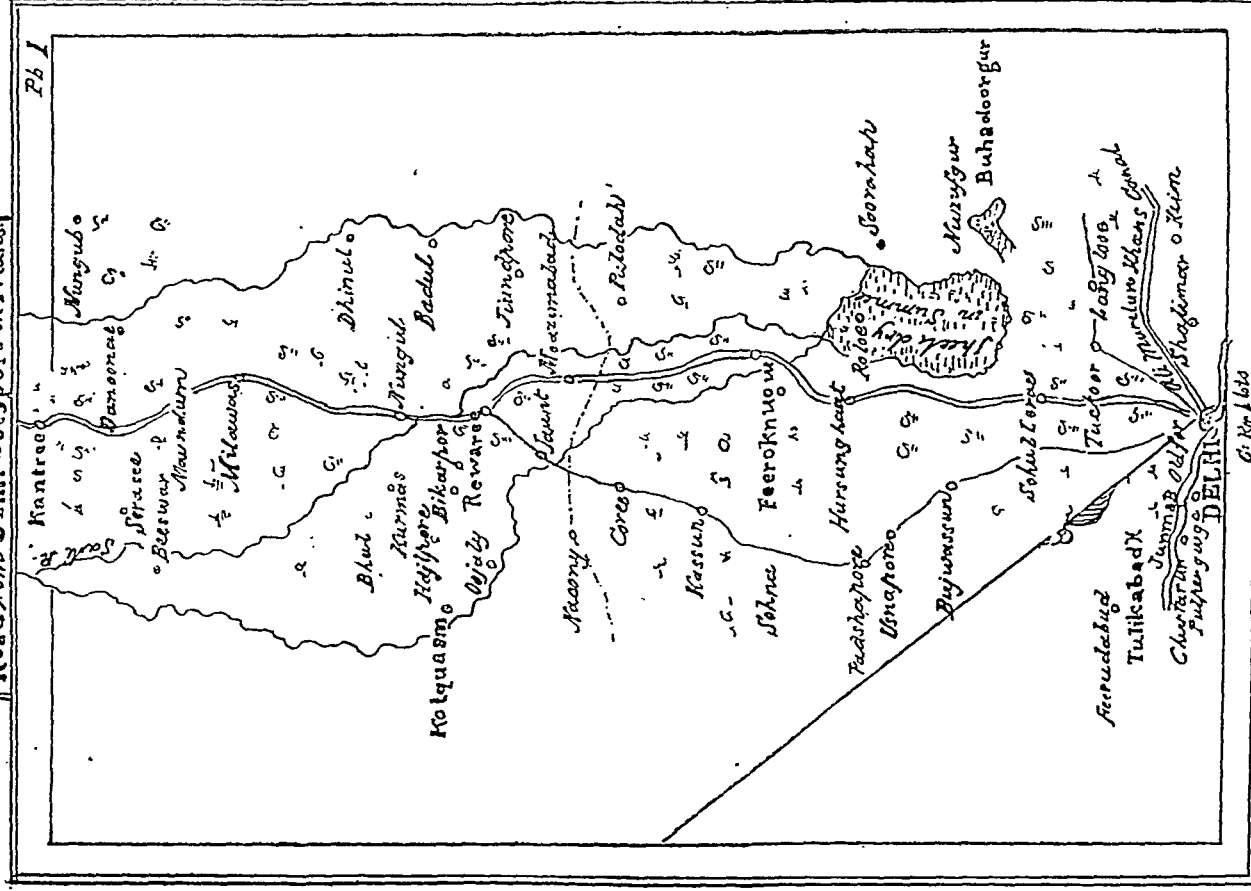
सन् १८२८ में कलकत्ता में, लियोग्राफिक प्रेस कम्पनी से, प्रकाशित भारत-व्यापी सड़कों की एक पुस्तक में जयपुर से दिल्ली तक की सड़क का यह मार्ग अपने युग की एक कहानी कहता है। तीर का निशान उत्तर दिशा का द्योतक है

आँसू थे, उनकी बात केवल रतनगढ़ के बड़े-बूढ़े ही मौन भाव से सुन पाये ...

रतनगढ़ से दिल्ली तक का मार्ग जयपुर होकर जाता था। जाने के लिए नारनौल के ढोसी पहाड़ की दिशा का मार्ग भी खुला था। दिन भर यात्री ऊँटों पर चलते, रात विश्राम करते। इस तरह लगभग २० दिनों में ये दिल्ली पहुँचे और वहाँ से कानपुर की दिशा आगे बढ़ गये। दल के कुछ लोग मिरजापुर रुके, कुछ लोग पटना की दिशा चले। लेकिन कस्तूरचन्द जी ने अपने कुछ युवक मित्रों के साथ आसाम की दिशा चलने का फैसला किया। मार्ग में वे कलकत्ता भी रुके, लेकिन दिलजमई न हुई; वे आगे बढ़ते ही गये।

रतनगढ़ से कलकत्ता का मार्ग आज से १०० वर्ष पूर्व कितना क्लिष्ट, दारुण कष्टों से भरा हुआ और चोर-डाकुओं के आतंक से भयावह बना हुआ था, आज उसकी कल्पना भी सहज नहीं रह गयी है। किन्तु ग़दर से पहले तक, जब कि सारे देश में राजनीतिक अराजकता छायी हुई थी, व्यापारियों का घर से बाहर निकलना एक दुस्साहस से अधिक कुछ नहीं माना जाता था। रतनगढ़ से दिल्ली पहुँचने का मार्ग अधिक निरापद समझा जाता था। जयपुर होकर आगरे का मार्ग सुरक्षित नहीं था। इन सारे मार्गों को ऊँटों पर ही पार करना पड़ता। दिन भर सब विश्राम करते किसी पड़ाव पर, यदि ग्रीष्म ऋतु हुई और रात को चलते। किन्तु सरदियों में यात्रा दिन में होती। दिल्ली पहुँच कर ऊँटों को विदा दे दी जाती और अंग्रेजों द्वारा चलाई जा रही घोड़े-गाड़ियों की डाक में स्थान पाने की चेष्टा की जाती, अन्यथा और किसी उपाय से कानपुर तक पहुँचा जाता। फिर गंगाजी के जल-मार्ग से सब कलकत्ता का दर्शन कर पाते। कितने दिन लगते, भोजन-पानी का कितना कष्ट होता, यह वर्णन आज भी सुनने में असह्य है। किन्तु कलकत्ता से आगे डिब्रूगढ़ तक पहुँचने में और अधिक समय लगता--- रतनगढ़ से आसाम का मार्ग पूरे तीन मास का था! मृत्यु के साक्षात् आह्वान को शिरोधार्य कर जिन्होंने सर्वप्रथम ये यात्राएँ कीं, उन में हम कस्तूरचन्द जी का नाम भी लेना चाहेंगे। इस सारी यात्रा में भोजन-पानी की क्या व्यवस्था रहती, वह कहानी बहुत लम्बी है, यहाँ पर वह अप्रासंगिक रहेगी......

कस्तूरचंद जी ऐसे स्थान में डेरा डालना चाहते थे, जहाँ व्यापार के लिए राजस्थानी व्यापारियों का दल अधिक न जमा हो। पहुँचते-पहुँचते उन्हें ग्वालपाड़ा पसन्द आया। वे वहीं रुक गये। वहाँ से उन्होंने पिता को एक पत्र लिखा कि मैं सकुशल पहुँच गया हूँ। कानपुर से नये-नये बाजार देखते, व्यापार की जाँच करते पूरे दो महीनों में आसाम पहुँचे थे। आसाम की स्थिति व्यापार में वही थी, जो युद्ध में अग्रिम पंक्ति की हुआ करती है। अंग्रेजों ने यहाँ पर नई मंडियों की स्थापना की थी। नई वस्तुओं का व्यापार प्रारंभ किया था। कस्तूरचन्द जी ने पहले तो किसी गद्दी पर काम किया,[१] पर कुछ दिनों बाद उन्होंने व्यापार ही श्रेयास्पद माना। उसमें मुनाफा था, सुभिस्ता था, जोखिम न थी। देनदारी का झमेला ज्यादा न था। चावल, प्याज आदि खाद्यान्न आसाम में यथास्थान पहुँचाना एक कठिन समस्या थी, कस्तूरचन्द जी ने इसी दायित्व का व्यापार अपने हाथों में कर लिया। कुछ दिनों बाद उन्होंने स्थान-परिवर्तन किया और गोलाघाट के अच्छे व्यापारियों की पंगत में जमकर बैठ गये। वर्ष-डेढ़ वर्ष में नियमित समय पर आसाम से रतनगढ़ पहुँचते। समय की चाल यही थी, कि दो पीले हाथ हो जायें तो पक्की छत का चिनाव करें। बहुत जल्दी अर्जित धन से कस्तूरचन्द जी ने अपने लिए रतनगढ़ में एक दूसरी पक्की हवेली खड़ी कर ली। अब उनका परिवार समर्थ कर्मरथी की तरह इसी हवेली में जीवन-यापन करने लगा। पक्की हवेली जिस वैश्य के हाथों बनती थी, वह गद्दीदार साहूकार माना जाता। रुड़मल जी अपने ऐसे धन्य-भागी पुत्र के कार्य-कौशल से कारण अब बड़े साहूकार बाजने लग गये थे।

जब गोलाघाट में कस्तूरचन्द जी अच्छी तरह से व्यापार करने लगे, और ऐसा माना जाने लगा कि उन्होंने गोलाघाट बसाया है तो गुलाब राय जी भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ वहाँ व्यापार करने चले गए। ग्वालपाड़ा से आगे गोहाटी है, फिर जोड़ाहाट आता है और उससे भी १०० मील आगे गोलाघाट है। पहले कलकत्ता से रात को चलते थे और दूसरे दिन रात के ग्यारह बजे गोलाघाट पहुँच जाया करते थे। यह बात तब की है, जब भारत और पाकिस्तान एक था और रेल थी। लेकिन जिन दिनों रेल नहीं थी, उन दिनों यह मार्ग पूरे २० दिनों में पूरा हुआ करता था। लेकिन मारवाड़ी समाज के शौर्य-समर्थ प्रवासियों ने अपनी दिशाओं में बढ़ चलने के लिए किसी बाधा को स्वीकार न किया। गुलाबराय जी भी उन में से एक ऐसे ही मरु-पुत्र थे।

जिस समय गुलाब राय जी ने गोलाघाट में पहुँच कर अपने बड़े भाई के साथ उस गोले को बसाने की दृष्टि से स्थायी निवास किया, उससे पहले तक आसाम में केवल अंग्रेजों ने ही स्वतं रूप से अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सर्व-विदित है कि आसाम में अंग्रेजों ने जो चाय-बगान की बस्तियाँ बसाई थीं, उनका सारा व्यय हिन्दुस्तानियों पर डाला गया था। किन्तु गदर के बाद, मारवाड़ियों ने इस पूर्व-उत्तर सीमान्त प्रदेश में, अंग्रेजों की बस्तियों के व्यय-साध्य निर्माण के संतुलन में, जो अपने बल-बूते पर बस्तियाँ बसाईं, उनकी कहानी संघर्षों से भरी हुई है। अपरिचित प्रदेश, अपरिचित भाषा, कोई राजकीय संरक्षण नहीं। किन्तु मरु-पुत्रों ने इन सब चुनौतियों को स्वीकार किये बिना हार न मानी। जहाँ कलकत्ता म 'बड़ा बाजार' का बड़ा अंचल १९ वीं सदी के समाप्त होते तक उन्हीं के हाथों बसाया गया था, कुछ उसी के समानान्तर गोलाघाट का निर्माण भी जालानों के साथ अन्य दृढ़ व्रती प्रवासियों ने किया था।

१ प्रारम्भ में आपने बंगालियों की फर्म पर काम किया।

गोलाघाट के निर्माण में जालानों का हाथ

[५]

आसाम के मुख्य मंत्री जब श्री बारदोलाई थे, उन्होंने स्पष्ट रूप से एक बार कहा था, "असम में जो बड़ी-बड़ी बस्तियाँ और नगर आबाद हैं, उन सब का श्रेय प्राय: मारवाड़ियों को ही है। यहाँ के व्यापार-व्यवसाय और उद्योग-धंधे भी प्राय: उन्हीं की देन हैं। किसी भी बड़ी बस्ती या नगर में चले जाइए, उसके मध्य या मुख्य स्थान में मारवाड़ी भाई की दुकान या मकान मिलेगा। इससे स्पष्ट है कि उस बड़ी बस्ती या नगर में पहली दुकान या मकान को किसी मारवाड़ी भाई ने बनाया और उन के चारों ओर वह बस्ती अथवा नगर बसता चला गया[1]।"

गोलाघाट की कहानी यही है। उसे रुड़मल जी जालान के दो पुत्र कस्तूरचन्द जी तथा गुलाबराय जी ने बसाया[2]। जब गुलाबराय जी गोलाघाट पधारे तो आप ने यहाँ पर स्वतंत्र व्यवसाय प्रारंभ किया। आपने कपड़े की दुकान से यह काम शुरू किया। और धीरे-धीरे अपने अंचल में वे उस दुकान को लोकप्रिय बनाने में जुट गये।

आसाम भारत के पूर्व-उत्तर में बसा हुआ है। अंग्रेज इस प्रदेश को अपने व्यापार-साम्राज्य की 'क्रेडिट-बैलेंस' कहा करते थे। वास्तव में इस शब्द का रहस्य यह था कि जब तक मारवाड़ी समाज के लोग उधर नहीं गये, अंग्रेजों के हुक्काम ही वहाँ के सारे व्यापार पर दख़ल रखते थे, और मनचाही शर्तों से कृत्रिम वस्तु-अभाव उत्पन्न करते हुए मंहगे भावों पर बिक्री का आयोजन करने में कुशल होते थे। अगर शेष भारत में उनका कोई उत्पादन जरा सस्ता भी बिकता था, तो उसका लाभांश वे आसाम से प्राप्त करने की चाल में सदा सफल रहा करते थे। यहाँ का यातायात नौकाओं से होता था। अंग्रेज इसी रास्ते से धुर-उत्तर नागा प्रदेश की पहुँच तक हाथों में रखते थे। जब मारवाड़ी समाज के प्रवासी आसाम पहुँचे तो अंग्रेजों को अधिक विश्वासपात्र-सहयोग सुलभ होने लगा। अब वे बहुत विश्वासी भाव से मारवाड़ी प्रवासियों को व्यापार की सुविधाएँ देने लगे, क्योंकि उनका भुगतान सच्चा होता था। समय पर होता था। वे व्यापार के रहस्य को समझते थे। ऊँचे स्तर का व्यापार करने में समर्थ थे। वस्तुओं का व्यापक प्रचार करने में दक्ष थे। जहाँ आसाम के आंचलिक व्यापारी राजस्थान के प्रवासी व्यापारियों से प्रतिद्वंद्वी भाव रखने लगे, वहीं पर अंग्रेज उन्हें 'सीक्रेट इंटेलीजेंस' घोषित करने में कोई संकोच अनुभव न करते थे। उनकी मान्यता थी कि मारवाड़ी व्यापारी के पास चाहे पूँजी थोड़ी हो या अधिक, वह हौसले में हम से पीछे नहीं है। अन्तर सिर्फ इतना था कि अंग्रेज व्यापारी सात समुद्र पार से आया था, मारवाड़ी व्यापारी हजार डेढ़ हजार मीलों का कष्ट झेल कर आता था। यही कष्ट-सहिष्णुता दोनों के बीच में एक सौमनस्य और लगाव का सूत्र पिरोया करती थी।

कस्तूरचन्द जी ने यद्यपि अच्छा स्वास्थ्य पाया, लेकिन गुलाबराय जी ने आसाम में स्वास्थ्य का सुख नहीं भोगा। आसाम की जलवायु शुष्क नहीं है, वहाँ का खाद्यान्न भी जिसे रुचता है, उसे ही सुख मिल सकता है। फिर भी गुलाबराय जी ने गोलाघाट की दिशा ही अपने व्यापार के लिए शुभंकरी समझी। वे अपने ज्येष्ठ भाई के साथ वहाँ रहे तो अन्य मारवाड़ी भाई भी क्रमशः वहाँ आकर बसने लगे; यों आसाम में १९वीं सदी के अंतिम चरण से उन्होंने स्थायी-अस्थायी व्यापार करना शुरू कर दिया था और आसाम के अन्य अंचलों में वे अपने कृतित्व के स्थायी चरण-चिन्ह छोड़ने लगे थे। चूरू[3] आदि स्थानोंके लोग वहाँ पर जा चुके थे और उनके बीच एक वृहत् परिवार की तरह जालान-वंश के जन भी रह रहे थे।[4] लेकिन गुलाब राय जी ने स्वास्थ्य का सुख अधिक नहीं पाया।

गुलाबराय जी का पहला विवाह रामलाल जी सिंघाणिया की बहन से हुआ था। यह रस्म लगभग सन् १८५८ में सम्पन्न हुई। इस पत्नी[5] से उन्हें सन् १८६४ में एक पुत्र की प्राप्ति हुई। यह पुत्र रतनगढ़ में ही जन्मा। इस समय तक प्रवासी समाज के लोग अपने परिवार को परदेश ले जाना न तो अभीष्ट समझते थे, न वैसी सुविधाएँ ही प्राप्त थीं। किन्तु परिवार-सुख और स्वास्थ्य-लाभ की

१ कनोई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १, प्रथम खण्ड

२ अग्रवाल जाति का इतिहास, प्रथम भाग (संस्करण सन् १९३७) में पृष्ठ २४२ (अग्रवाल जाति के कुछ प्रतिष्ठित परिवार खण्ड) में लिखा है, "कस्तूरचन्दजी ने देखा कि धनश्री नदी के किनारे पर एक बहुत अच्छा मैदान जंगल के रूप में पड़ा है। आपने अपनी विचक्षण बुद्धि से उस स्थान पर एक गांव बसाने की कल्पना की और तत्काल ही वहां के कलक्टर को इसके लिये सूचित किया। कलक्टर की स्वीकृति होने पर आपने वहां अपने कुछ साथियों के साथ गोलाघाट नामक बस्ती बसाई और वहीं अपना गोला कायम किया। कुछ समय पश्चात् आपने वहीं अपने भाइयों को भी बुलवा लिया। कहना न होगा कि आपकी बुद्धि और प्रतिभा के कारण आपके व्यापार में बहुत उन्नति हुई। अनुमानतः करीब ५० वर्षों तक आपका व्यापार वहीं सुचारु रूप से चलता रहा। आपका स्वर्गवास सं० १९२९ (सन् १८७२)में हो गया।"

३ बीकानेर राज्य के इस नगर से अग्रवाल-परिवार के स्व० हरविलास अग्रवाल ही सर्व-प्रथम ऐसे मारवाड़ी हैं, जिन्होंने सन् १८६८ में असम में चाय-उद्योग शुरू किया था। —'जेइति मरल', डिब्रूगढ़, सन् १९५२, में श्री लखीकान्त दत्त का लेख।

४ "अग्रवाल, खेमानी तथा सहरिया परिवारों की तरह इस जिले के पुराने परिवारों में बेड़िया, मोदी, केड़िया, कनोई, जालान, लोहिया और बगड़िया परिवारों का नाम भी उल्लेखनीय है।"—श्री सत्यदेव विद्यालंकार, क० उ० ग्र०, पृ० १९।

५ इनका नाम था हस्ता देवी। सिंघाणिया जी रतनगढ़ के नये निवासी थे।

दृष्टि से नियमित रूप में वे राजस्थान की यात्रा करते थे। राजस्थान के लोकगीतों में अधिकतर पारिवारिक महिलाओं के मुख से प्रवास और परदेश-गये प्रीतम के आगमन की व्यग्र प्रतीक्षा के गीत गाये जाते हैं, उन से यही ध्वनि मिलती है कि प्रवासी जन अपना परिवार राजस्थान में ही छोड़ कर जाते थे।[१]

गुलावराय जी ने अपने पुत्र का नाम हरदेवदास रखा। इस की माता[२] ने अधिक जीवन नहीं पाया। इसलिए लगभग ३२ वर्ष की आयु में उन्होंने दूसरा विवाह किया। इस बार उनका संबंध श्री हरिव्यानदास जी जसरासरिया[३] की कन्या गोरावाई से हुआ। यह परिवार रतनगढ़ में रहता था। गुलावराय जी यह विवाह-सुख भी अधिक दिन नहीं भोग सके। लगभग ३३ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने इहलोक[४] से विदा ले ली। १५ वर्षीय हरदेवदास जी का संरक्षण उस के बाद इस सुलक्षणा विमाता ने ही किया।

जीवन-भार मिलने पर हरदेवदास जी ने गोलाघाट में अपने पिता के जमाये व्यापार को सम्हाल कर रखा। किन्तु पिता से उन्हें विरासत में रुग्ण रहने का अधिकार मिला था। आसाम की जलवायु उन्हें सहन न थी, पर व्यापार का तकाजा था कि वे अधिक से अधिक आसाम में रहें। यही कारण है कि नियमित समय पर स्वास्थ्य-लाभ के लिए वे रतनगढ़ पहुँचते और गद्दी-भार सम्हालने के लिए अविलंब गोलाघाट पहुँच जाते। स्वभाव के वे दबंग थे। आवाज में उन की कड़क ऐसी थी कि बहुत कम लोगों में देखने में आई। श्रम के धनी थे। विश्रान्ति में उनका विश्वास कभी न रहा। कठोर श्रम की जैसे पूजा करते थे। धार्मिक निष्ठा के साथ उज्ज्वल भविष्य की कामना करते थे। उन्होंने बहुत चेष्टा की कि अपने पिता के व्यापार को समृद्ध करें, लेकिन उन का स्वास्थ्य साथ न दे रहा था। यद्यपि अपना परिवार वे आसाम में साथ ही रखते, और इस तरह खान-पान में उन्हें कष्ट न रहता, लेकिन आसाम की जलवायु उन्हें पीड़ित किये रहती। अपने रोगी पिता की तरह वे भी बहुत अधिक स्वस्थ न रह पाये। पर वे हिम्मत हारनेवाले व्यक्ति न थे। आसाम का त्याग उन्होंने न किया।

हरदेवदास जी ने बचपन से ही पिता जी के साथ गोलाघाट में जीवन-यापन शुरू कर दिया था और उन के व्यापार में अपना कंधा दिये रहते थे। १५वर्ष की आयु होते ही आप का विवाह लक्ष्मणगढ़ में किया गया। श्री बख्शीराम जी[१] की कन्या जानकी बाई का यह सौभाग्य था कि वे जालान-वंश में बहू बन कर आईं। इस समय तक दोनों परिवार अपने-अपने क्षेत्रों में फलप्रद व्यापार करते थे। समाज में प्रतिष्ठित थे। और वृद्धिशील धन की दृष्टि से सम्मानित थे। इस पत्नी से प्रारंभ में दो संतानें अवश्य हुईं, लेकिन उनमें से एक भी जीवित न बची। ऐसा दुर्दैव का कोप था कि संतान-सुख का लाभ न मिल रहा था। जो विमाता थी, उसे अल्पायु में ही वैधव्य का अभिशाप मिल गया था और निस्सन्तान थी। उस के लिए भी यह एक मार्मिक कष्ट था। अन्त में जब तीसरा प्रसव एक पुत्र हुआ, तो उस की दादी ने भगवान की शरण ली। यह जन्म सम्वत् १९३८ के भाद्रपद में शुक्ला एकादशी के शुभ दिन हुआ था। रतनगढ़ में भगवान की सवारी बाजार में निकल रही थी, दादी जी ने नवजात पुत्र को एक वस्त्र में लपेटा, गोद में उठाया और उसे भगवान की सवारी के नीचे से भगवान-अर्पण का शुभ संस्कार सम्पन्न कराते हुए, वापस ले आईं। दादी जी को अब निश्चित विश्वास हो गया था, यह सन्तान अब भगवान की दी हुई रहेगी और असमय में न जायेगी। दादी का विश्वास, यह एक बड़ी बात निकली, खंडित न हुआ। पुत्र की आयु में कोई विकार न आया, गोदियों से वह घुटनियों चला, फिर ललकता-मचलता बाल-सुलभ चपलता से उंगलियों के सहारे भी चलने लगा और बहुत जल्दी उसका शैशव जब दादी की गोदी में बीत चुका, तो वह होनहार पुत्र के रूप में घर की शोभा बनकर रहने लगा। पुत्र-रत्न से अधिक, वंश के गौरव को शोभित करनेवाले संस्कार लेकर यह उत्पन्न हुआ था। पिता ने बड़े चाव से इस का नाम सूरजमल रखा। काफी वर्षों की तपस्या के बाद माता और पिता ने संतान-रहित परिवार में संतति-प्रकाश का शुभोदय देखा था।

इस समय तक कस्तूरचन्द जी के हुणतराम जी हुए और उनके पुत्र बिरदीचन्द जी व गजानंद जी थे। बींजराज जी के ईशर दास जी व हरखचन्द जी इस तरह दो पुत्र हुए। इनमें से हरखचन्द जी को कोई सन्तान न हुई, क्योंकि, उन्होंने विवाह ही न किया। ईशरदास जी के दो पुत्र हुए : शिवनारायण जी और लक्ष्मीनारायण जी। लक्ष्मीनारायणजी ने निःसन्तान, विधुर जीवन बिताया। जब हरदेवदास जी के घर में सूरजमल जी का जन्म हो गया तो तीनों वंशों

---

१ २० वीं सदी के प्रारम्भ से, जब से प्रवासी जन अपना परिवार भी कलकत्ता, आसाम, बम्बई आदि की दिशा ले जाने लगे हैं, इन लोक-गीतों में ह्रास आया है।

२ जालान-वंश में कुएं इत्यादि बनवाने की रीति-नीति पहले से चली आ रही है। गुलावराय जी ने अपनी इस पत्नी के गाँव में एक कुआँ बनवाया था।

३ जसरासरिया जी का परिवार यद्यपि रतनगढ़ में रहता था, लेकिन अनेक वर्षों से अब इनका वंश भागलपुर-निवासी हो गया है, जहाँ वह कपड़े का व्यापार करता है। पर इनकी जमीन-जायदाद अभी रतनगढ़ में विद्यमान है।

४ 'अग्रवाल जाति का इतिहास' में गुलावराय जी जालान की निधन-तिथि संवत् १९३६ (सन् १८७९) दी गई है। और लिखा है कि इस निधन से पहले ही कस्तूरचन्दजी व गुलावरायजी तथा तीसरे भाई बींजराज जी तीनों का कारबार भी अलग-अलग हो गया था।

१ बख्शीरामजी की धर्मपत्नी का नाम भक्तिदेवी था। आपके पिताश्री का नाम बोदूराम जी था, जिनकी गृहलक्ष्मी का नाम सरूपा देवी था। बख्शीरामजी ज्येष्ठ पुत्र थे और उनके अतिरिक्त कालूरामजी और बालमुकुन्दजी इस तरह तीन संतानें थीं। बख्शीरामजी की संतानों का नाम यह था—लक्ष्मीनारायणजी, सुन्दरीबाई, गुरुमुखरायजी, जानकी बाई, श्योजतरामजी, हरदेई बाई और रामदेवजी—इस प्रकार उन्हें सात संतानें प्राप्त हुईं। लक्ष्मीनारायणजी के पुत्र बद्रीनारायणजी हुए और उन्हें गौरीशंकरजी, संपतकुमारजी तथा कुंजलालजी इस तरह तीन पुत्र प्राप्त हुए। गुरुमुखरायजी की संतानों के नाम हैं श्रीकृष्णजी, ब्रजमोहन जी और कांताप्रसादजी। शिवदत्तरायजी की संतानों के नाम हैं रामकिशनदास जी, बद्रीनारायणजी (ये लक्ष्मी-नारायणजी के दत्तक गये), कन्हैयालाल जी और बजरंगलाल जी। रामदेव जी के पुत्र का नाम रामप्रताप जी है।

में कुल-गौरव दीपक की तरह से ये पुत्र सब को हर्षित करने लगे। रतनगढ़ का जालान-वंश पुत्रों से भरापूरा बन गया। बाद में हरदेवदास जी के बंशीधर जी और सोनीबाई, इस तरह दो संतानें और हुईं।[1]

सूरजमल जी ८ वर्ष की आयु में आसाम में पिता के साथ रहने चले गये थे। वहीं पर माता जी रहने लगी थीं। जब वे ११ बरस के थे, तो आसाम से आते हुए कलकत्ता में उनकी माताजी रुग्ण हुईं और सहसा ही उन का शरीरांत हो गया। पिता-पुत्र यह चाहते थे कि श्राद्ध-पक्ष से पहले ही हम रतनगढ़ पहुँच जायें, किन्तु बीमारी के कारण उन्हें कलकत्ता में ७-८ रोज रुकना पड़ा और तब तक पितृ-पक्ष शुरू हो गया। यह एक अनभ्र वज्रपात था। पर दैव के सामने चारा क्या था। पिता-पुत्र ने दाह-संस्कार तो कलकत्ता में ही किया, लेकिन श्राद्ध-कर्म रतनगढ़ में पहुँचकर ही पूरा किया।[2] पितृ-पक्ष में यात्रा वे करना नहीं चाहते थे, पर दूसरा चारा क्या था? इस तरह सूरजमल जी को बालपन में ही आसोज बदी अष्टमी, संवत् १९४८, को माता का वियोग हो गया।

हरदेवदासजी ने दूसरा विवाह हरनंदराय जी चौधरी की पुत्री जानकी बाई से किया। ये रतनगढ़ के ही निवासी थे।

चौधरी-वंश की शोभा बने हुए हरनंदराय जी का घर, रतनगढ़ में, संतति की दृष्टि से, भरा-पूरा था। आप के तीन पुत्र थे—सूरजमल जी, मनसुख राय जी, तनसुख राय जी। सूरजमल जी के तीन पुत्र हुए—जमनाधर जी (ये तनसुखराय जी के दत्तक गये), गंगाधर जी और दुर्गादत्त जी। मनसुख राय जी के भी तीन पुत्र हुए—रामकुमार जी, बनवारीलाल जी और सीताराम जी। सूरजमल जी की बहन जानकी बाई से हरदेवदास जी का रिश्ता कर लिया गया, तो इन दोनों वंशों का पारस्परिक संबंध और भी प्रगाढ़ हो गया। यह विवाह संवत् १९४९ की फाल्गुन बदी ३ को (प्रथम पत्नी के निधन के चार-पांच मास बाद) हुआ।

हरदेवदास जी ने जब दूसरा विवाह किया, तो यह एक विचित्र संयोग था कि द्वितीय पत्नी का नाम भी जानकी बाई ही निकला! उनका स्वास्थ्य कृश चल रहा था, इसलिए परिवार की रक्षा करने के नाते एक कुल-लक्ष्मी की आवश्यकता थी। आयु भी २८-२९ से अधिक न होगी। इस क्षण तक सूरजमल जी लक्ष्मणगढ़ में रह रहे थे। द्वितीय विवाह के तीन-चार मास बाद, हरदेवदास जी घर-गृहस्थी का भार अपनी माता को संभाल कर आसाम चले गये। बच्चों की यह कुलशीला विमाता रतनगढ़ ही रहीं। घर पर हरदेवदास जी की माता सर्वाधिकारिणी थीं। उन्हीं के संरक्षण में बच्चे और नई बहू रतनगढ़ में रहते रहे। बच्चे अभी छोटे थे, इसलिए भरण-पोषण की दृष्टि से नई गृहलक्ष्मी आई और बच्चों की अबोधावस्था को संरक्षण मिला। मातास्थानीय गृहिणी बच्चों को जीवन का रस देती है, उन्हें पोषण भी सरस मिलता है। दादी जी की यही मनोकामना थी, वह पूरी हुई। हरदेवदास जी जब आसाम चले गये, तो दादी जी समय-समय पर सूरजमल जी और सोनी बाई को लक्ष्मणगढ़ से बुलवा भेजतीं। दो-तीन सप्ताह उन्हें अपने पास रखतीं। इस तरह उनका सान्निध्य स्नेहमयी विमाता से बढ़ने लगा, उनके प्रति आसक्ति का निखार होने लगा। शनैः-शनैः विमाता ने भी अपने ममत्व के आंचल में इन बच्चों को गाढ़े कसना शुरू कर दिया। इस दूसरी पत्नी से हरदेवदास जी को दो संतानें प्राप्त हुईं। बैजनाथजी का जन्म संवत् १९५२ में फाल्गुन शुक्ला १४ को हुआ। सौभाग्यवती कमलाबाई संवत् १९५६ के मंगसिर मास में कृष्ण पक्ष की एकम को हुई।

हरदेवदास जी ने अपने पिता-श्री से जमा-जमाया व्यापार गोलाघाट में प्राप्त किया था। वे स्वयं व्यापार में दक्ष थे, पारंगत थे। लेकिन उनका दीन-दुर्बल स्वास्थ्य उनके मार्ग में बाधक था। बार-बार अपने स्वास्थ्य को सुधारने के लिए वे रतनगढ़ की दिशा जाते थे। उस अवधि में गोलाघाट की गद्दी पर काम शिथिल पड़ जाता था, आर्थिक लाभ की सम्भावनाएँ विवश रह जाती थीं, नई समस्याएँ उत्पन्न हो जाती थीं। हाथ बँटाने के लिए वयस्क संतति का सुख न था। सूरजमल जी आयु में अभी बालक थे। उस के बाद चार अन्य सन्तानें और हुईं तो उनका व्यय-भार बढ़ा, पर गृहस्थी-लाभ के अतिरिक्त व्यवसाय-लाभ की दिशायें रह-रह कर प्रकाशमान होने से रह जाती थीं। स्थिति को संभालने का उन्होंने हर संभव उपाय किया, पर सौभाग्य की अधिक घड़ियाँ हाथ न लगीं।

हरदेवदासजी को अपने पिता की ही तरह दीर्घायु के संस्कार नहीं मिले थे। उनके पितामह प्रौढ़ावस्था में गये थे, उनके पिता भी प्रौढ़ावस्था की देहली पर पैर रखते ही विदा हो गये थे। उन्हें अवश्य ३५ साल की आयु हाथ लगी—जबकि कलकत्ता में प्लेग फैली हुई थी, वे जैसे ही रतनगढ़ जाने के लिए कलकत्ता से गुजरे तो बीमार पड़ गये। सन् १८९६ से लेकर सन् १९०३ तक कलकत्ता में नियमित रूप से प्लेग फैलने लगी थी। यह फाल्गुन मास से शुरू होती और चैत्र मास तक चलती। इस प्लेग की महामारी में सैकड़ों व्यक्ति पीड़ित होते, सैकड़ों स्वर्गवासी बनते। जो लोग देश की तरफ प्राणरक्षा के लिए भागते, उन्हें गाँव से बाहर टिकने पर विवश किया जाता, ताकि रोग-संक्रमण गाँव में प्रसारित न हो जाये। जब हरदेवदास जी रतनगढ़ पहुँचे तो गाँव के बाहर ढाणी में ठहर गये। लक्ष्मणगढ़ जाकर भी उन्होंने काफी इलाज करवाया। वहीं पर उन्होंने रुग्णावस्था में पूरे तीन-चार मास बिताये। इस अवधि में उनके संबंधी सराफ-वंश के गोविन्दरामजी ने उनकी सेवा-सुश्रुषा में अत्यधिक समय

1 बंशीधर जी का जन्म संवत् १९४१ में, फाल्गुन सुदी १२ को हुआ। सोनीबाई का जन्म फाल्गुन सुदी एकादशी, संवत् १९४३, को हुआ।

2 इस समय तक यात्रा में रतनगढ़ पहुंचने के लिए ६-७ रोज लगते थे।

सेठ हरदेवदासजी जालान

[रतनगढ़ में स्थापित शोभनीय प्रस्तर-मूर्त्ति]
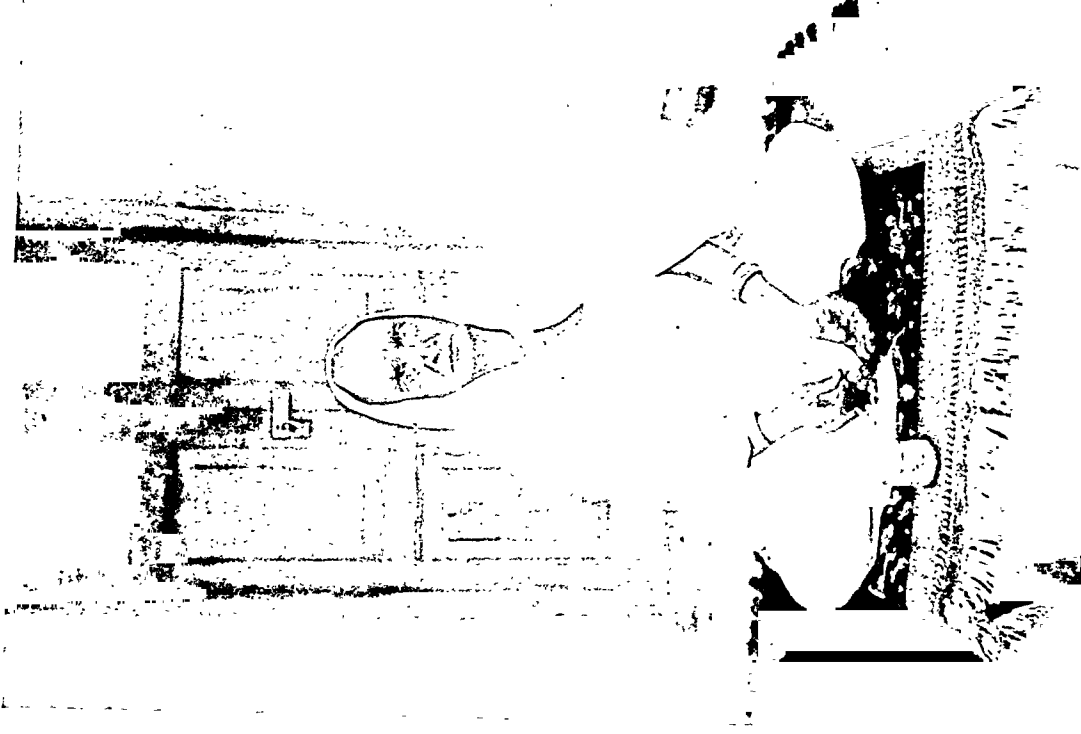
श्रीमती गोरादेवी जालान

श्रीमती नारायणीदेवी बाजोरिया

दिया। जब देखा कि अब उनका अंतिम समय पास आ गया है, तो वे उन्हें उनके घर पर ले आये। लोक-विश्वास है कि शरीर का त्याग अपने परिवार के भवन में हो तो वह मृत्यु सुखद मान्य रहती है। संवत् १९५६ (सन् १८९९) की जेठ वदी १४ को रतनगढ़ में उनकी शांति के साथ मृत्यु हुई। गोविन्दरामजी ने उनके दाह-संस्कार में पूरा हाथ बँटाया। अपने पीछे हरदेवदास जी एक भरा-पूरा परिवार छोड़कर गये।

हरदेवदास जी के समय तक गोलाघाट का विस्तार काफी हो चुका था। वहाँ पर मारवाड़ी समाज के अनेक वंश आकर बस चुके थे। किन्तु जालान-वंश के गुलाब राय जी ने जहाँ अपने पुरुषार्थ से एक नया व्यापार स्थापित किया था, उनके पुत्र हरदेवदास जी के साथ ही वह क्रमशः अवसान को प्राप्त हो गया। फिर भी गोलाघाट के इतिहास में इन दोनों मरु-पुत्रों का नाम सदैव याद किया जाता रहेगा।[1]

हरदेवदास जी की पहली पत्नी २८-२९ वर्ष की अवस्था में गई थीं। उनकी दूसरी पत्नी भी, अपने पति के दिवंगत होने के बाद, केवल १३ वर्ष जीवित रहीं,और वे भी ३४-३५ वर्ष की अवस्था में परलोक सिधारीं। उनका देहान्त संवत् १९६९ (सन् १९१२) की फाल्गुन वदी तृतीया को हुआ। किन्तु परलोक सिधारने से पहले उन्होंने अपने पति की सभी सन्तानों का एक वीर स्त्री की तरह से पालन-पोषण किया। उनका वरद हस्त परिवार में सबके लिए सुखद रहा। अपने हाथ से वे अपनी सभी सन्तानों का विवाह रचा कर गई और सभी बहुओं की सेवा ग्रहण करने का सौभाग्य भी उन्होंने पाया।

हरदेवदास जी का स्मरणीय श्राद्ध

[६]

जीवर के जीवन-अध्याय हमारे देश के सांस्कृतिक इतिहास में सदैव मौन लेखनी से ही लिखे गये हैं। हरदेवदास जी का कठोर संघर्ष जिस समय अवसान को प्राप्त हुआ, उस समय उनके ज्येष्ठ पुत्र की आयु केवल १८ वर्ष की थी। हरदेवदास जी को संतोष था कि उन का यह पुत्र विरासत को सही तौर पर थामे रहेगा।

पिता जी का स्वर्गवास हुआ, उस समय परिवार-जन रोगशैया के निकट थे। प्राणवत् पुत्र के कंधों पर पिता का शव उसी तरह शुभ्र हो उठता है, जिस तरह सुखद शैया पर पुष्पों का बिछावन। वास्तव में निधन-समय गतिशील प्राणों को अंतिम यात्रा के समय, वयस्क पुत्र के कंधे पर पुष्प-शैया का ही लाभ मिलता है। और, जिस समय उसके हाथों अग्नि का स्पर्श चिता पर सुलभ होता है, तो संपूर्ण जीवन की शेष गरिमा से वह धन्य हो उठता है। यह अग्नि-स्पर्श,सत्य यह है, विदा लेते हुए पिता के संग्रहणीय पितृत्व का स्पर्श होता है। और, उसके बाद ज्येष्ठ पुत्र उसी की लोकख्यात् आसंदी पर साधिकार आसीन हो जाता है।

सूरजमल जी ने अपनी शक्ति भर पिता जी का श्राद्धकर्म किया और लड्डुओं की ब्रह्मपुरी की। ब्रह्मपुरी नाम वाराणसी का है, ब्रह्मलोक का है, कालांतर में वाराणसी ही ब्रह्मलोक के रूप में ख्यात् हुई। जो जन अन्तिम समय अपना शरीरत्याग वाराणसी में करते थे, उनके श्राद्ध के लिए वहाँ के ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। शनैः-शनैः यह परम्परा चली कि जिस नगर में शरीर-त्याग हो जाये, वहीं के ब्राह्मणों को यदि श्राद्ध-समय भोजन कराया जाये, तो ब्रह्मपुरी का पुन्य ही प्राप्त होता है। राजस्थान में ब्रह्मपुरी इस तरह रूढ़ शब्द बनता चला गया। संपन्न परिवारों में श्राद्ध के समय, विवाह के समय और किसी विशेष हर्ष-उत्सव के समय ब्रह्मपुरी का किया जाना एक अलौकिक परम्परा घोषित हो गयी। जिस भोज में सभी जातियाँ शामिल की जातीं, उसे सर्ववट ब्रह्मपुरी या सातों जातकी ब्रह्मपुरी कहा जाता, ब्राह्मण तो उसमें भाग लेते ही। ब्रह्मपुरी जब आयोजित होती, तो केवल अपने गाँव अथवा नगर के ब्राह्मणों को ही निमंत्रित न किया जाता, निकटस्थ ग्रामों के ब्राह्मणों को भी सादर बुलाया जाता। यह भोज ब्राह्मणों के प्रति उपकृत होना माना जाता, वैश्यों की धर्म-निष्ठा इससे फलवती बनती, ब्रह्म-द्रव (गंगाजल) का अभिषेक जैसे उन्हें सहज भाव से प्राप्त होता।

हरदेवदास जी ने अपने जीवन-काल में सूरजमल जी को तीन वरदान दिये। उन्होंने अपने इस ज्येष्ठ पुत्र को अत्यधिक प्यार दिया और अपने भाई-बहनों को कितना प्यार करना चाहिए, सूक्ष्म संकेत से यह समझाते रहे। दूसरा वरदान यह दिया कि कठिन परिस्थितियों में जूझते हुए किस तरह अविचलित रहना चाहिए, यह हमेशा कंठस्थ कराते रहे। तीसरा वरदान ही सूरजमल जी को उज्ज्वल भविष्य के राज-द्वार की कुंजी सम्हाल गया, यह था—अपने से सम-आयु और अपने से बड़ों से सदा सीख लेना। सूरजमल जी आजीवन इन तीनों आज्ञाओं का स्मरण करते रहे।

---

१ रतनगढ़ में जिस स्थान पर हरदेवदासजी का दाह-कर्म हुआ, वहीं पर उनके पिता गुलाबरायजी का दाह-कर्म हुआ था। दोनों की पुन्य स्मृति में, उस स्थल को आज लोक-कल्याणार्थ 'शिक्षा-यज्ञ-भूमि' में परिवर्तित कर दिया गया है।-यहाँ पर जालानों द्वारा निर्मित 'रमा ज्ञान-भवन' है।

[विशाल ३ फुटी शिव-मुंड, कल्याणपुर (उदयपुर) से प्राप्त, उदयपुर-संग्रहालय में सुरक्षित]

ॐ नमः शिवाय

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे ।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यते ।।

[श्रीमद्भा० ३।१४।३४]

—महादेव श्री रुद्र को नमस्कार, जो उग्रमूर्ति धारण करके (दुष्टों को) दंड देते हैं और (सज्जनों के लिए) मंगल-मूर्ति धारण करके शान्त हो जाते हैं। वे परब्रह्म लिंग-स्वरूप हैं।

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिंगलम् ।
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वैनमः ।।

[तैत्तिरीयारण्यक. १०।१२]

—उत्तम स्वरूप ऋतम् (रुद्र) ही सत्यम् (ब्रह्म) है। रुद्र ने कण्ठ में माया-रूप तम को धारण किया है और वाम भाग में उमा को धारण किया है। उस परिणाम-रहित त्रिपाद-स्वरूप, कूटस्थ, निराकार, समस्त जगत् के आकार में विवर्तरूप से व्यापक, प्रसिद्ध रुद्र पुरुष को नमस्कार है।

नित्यं योगिमनः सरोजदलसंचारक्षमस्त्वत्क्रमः
शम्भो तेन कथं कठोरयमराड् वक्षः कवाटक्षतिः ।
अत्यंतं मृदुलं त्वदंङ्घ्रियुगलं हा ! मे मनश्चिन्तय-
त्येतल्लोचन गोचरं कुरु विभो ! हस्तेन संवाहये ।

[शिवानन्द लहरी]

—हे भगवन् ! कहाँ तो आपके सुकोमल चरणयुगल, जो सदा योगियों के हृत्पंकजों में रमण करते रहते हैं और कहाँ यमराज का कठोर वज्रोपम वक्षःस्थल, जिसे आपने अपने उन चरणों के प्रहार से भेदन किया। उस कर्कश आघात से आपके चरणों को जरूर गहरी चोट आई होगी। लाइये, उन्हें मुझे सौंपिये, मैं उन्हें सहला कर स्वस्थ कर दूँ !

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च
नमः शंकराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च ।।

[यजुर्वेद]

[समिद्धेश्वर महादेव मंदिर, चित्तौड़, में बैलगाड़ी पर उपद्रवी हाथियों के आक्रमण का दृश्य-अंकन

द्वितीय परिच्छेद

सूरजमलजी के जीवन की ज्योत्स्ना

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज। (यजु० ४।२७)

—हे प्रकाश-स्वरूप अग्नि-देव, मुझे दुष्कर्मों से बचाकर सत्कर्मों में दृढ़ता से स्थापित कीजिये।

भद्रं भद्रं न आभर (ऋग् ८।९३।२८)

—भगवान, हमें बराबर कल्याण को प्राप्त कराइए।

] ७]

सूरजमल जी की आयु मात्र १० वर्ष की थी, उन्होंने कलकत्ता में अपनी माता को चिता पर अग्नि दी थी। जब रतनगढ़ में श्राद्ध-कर्म पूरा हो गया तो उनकी नानी उन्हें और उनकी बहन को रतनगढ़ से लक्ष्मणगढ़ ले गईं। छोटे भाई वंशीधर जी दादी के पास रतनगढ़ रहे। ननिहाल का स्नेह दौहित्र पर नैसर्गिक रूप से प्रबल हुआ करता है, कपिला गौ के घृत के तुल्य उसका मूल्य माना गया है।

रावराजा लक्ष्मणसिंह जी सीकर की गद्दी पर सन् १७९५ में बैठे थे। सन् १८०५ में उन्होंने सीकर से १८ मील दूरी पर अवस्थित बेड़गांव की पहाड़ी पर, जो पहाड़ी न होकर अपने १०० मील के दायरे में एक भूली-चूकी चट्टान-खंड मात्र है, परिस्थितियोंका गहरा सामना करने के लिए किला बनवाना शुरू किया। और एक

वर्ष बाद, उसके पूर्ण हो जानेपर, वहाँ पर लक्ष्मणगढ़ नामक शहर बसाने की योजना को पूरी करने में लग गये। थोड़े ही समय में यह नगर भी वैश्यों से भर गया। यहाँ पर गनेड़ीवाला प्रसिद्ध सेठ हुए। इसी लक्ष्मणगढ़ में सूरजमल जी की ननिहाल सुरेका वंश में थी, वे लक्ष्मणगढ़ में व्यापार करते थे और उनका वंश प्रसिद्ध था।

सूरजमल जी का बाल्यकाल कठिन अवस्था में बीता। जिस समय वे शिशु मात्र थे, उस समय तक पिता का व्यापार चिंतनीय स्थिति से गुजर रहा था, इसलिए उन्हें नियमित गुरु-विद्या न मिल पाई। कुछ समय के लिए वे रतनगढ़ में चांदगोठियों की धर्मशाला में गुरु जी के पास अवश्य गये। आसाम में जब पिताजी के साथ चले गये तो वहाँ हिन्दी आदि पढ़ने की उतनी सुविधाएँ न थीं। गुरुओं की पाठशाला भी कहीं खुले, ऐसी सुगम परिस्थितियाँ न थीं। वह भिन्न भाषा और संस्कृति का देश था। बोलचाल में असमी का प्रयोग अनिवार्य था। राजस्थान के प्रवासी वैश्यों का अधिकांश बल मात्र व्यापार में नियोजित था, वे अभी अपने समाज के स्थायी निवास की सुख-सुविधाएँ और अपनी सन्तति के लिए हिन्दी-आधारित शिक्षण-संस्थाओं को खोलने की दिशा में प्रवृत्त न हुए थे। सूरजमल जी का अधिकांश समय अपने पिता के साथ बीतता, कुछ संगी-साथियों के साथ। माता का दुलार बालक को क्रीड़ा की चपलता देता है,सूरजमल जी में उसका अभाव न था। भविष्य की मृदु कल्पनाएँ वहाँ आसाम की प्रकृत भूमि में पनपने लगी थीं। पारिवारिक पूजा-भावना और जातीय संस्कृति के प्रति सहज अनुरक्ति थी। क्योंकि जीवन मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों के बीच में था, इसलिए अपनी मातृभाषा के प्रति अधिक उत्साह था। वंश के अनुरूप विशुद्ध राजस्थानी वेशभूषा में रुचि बनी रही। वंश-परम्परा से चले आ रहे व्यापार को समझने लगे, पिता के हाथ की शक्ति का एक अंश वे बन रहे हैं— यह पिता को संतोष था। आसाम में बाल्यावस्था की यह अवधि ढाई वर्ष ही रही। ११ वर्ष के होते न होते उनकी माता का निधन हुआ, जीवन में चपलता व क्रीड़ा-विनोद-प्रियता का परिच्छेद मानो समाप्त हुआ। अल्पावस्था से गंभीरता का समावेश इस प्रकार मानों विधाता ने रच दिया।

लक्ष्मणगढ़ में नाना जी श्री बख्शीराम सुरेका जीवित थे। नानी जी जीवित थीं। बालक को उन्होंने अतिशय दुलार दिया, मातृ-प्रेम की आंशिक पूर्ति की। अपने प्रेम से उसे निहाल रखा। योग्य बालक वह बने, इसलिए उसकी शिक्षा का प्रबंध भी कर दिया। गुरु पाठशाला में वह महाजनी पढ़े, यह विशेष ध्यान रखा। इन गुरुजी का नाम पंडित रामदयाल जी जोशी था। इस तरह आसाम-प्रवास के बाद, सूरजमल जी का द्वितीय प्रवास लक्ष्मणगढ़ में हुआ और उस ने उन के जीवन पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ा।

अरब के एक दार्शनिक ने कहा है कि छोटी आयु में माता का देहान्त विरले मनुष्यों को इसलिए सौभाग्य दे जाता है,क्योंकि उसके रहते जो शक्तियाँ खेलकूद में नष्ट हो जाती हैं, वे जीवन की कठोर दिशाओं में बढ़ चलने के लिए सुरक्षित रह जाती हैं। सूरजमल जी के जीवन में संभवतः यही परिस्थिति शनैः-शनैः प्रवेश पा रही थी। माता के रेशमी स्नेहांचल से दूर,नानी के स्नेह से उन्हें परिवार का सुख अवश्य मिला, किन्तु उससे अधिक उन्हें अपना एक निजी एकान्त भी मिल गया। उस एकान्त में बैठ कर, जब भी समय मिलता, कुछ सोचने की स्थिति में रहते। उनका स्वभाव कुछ चिंतन का हो चला। साथ में छोटी बहन थीं। अपने साथ खिलाते,उसे प्रसन्नचित्त रखते। उसे प्यार से कुछ अधिक अपना भाईचारा देने के लिए उत्साहित रहते। नाना जी का संसर्ग आसाम के वातावरण से दूर, एक नया मनोमंथन देता रहा। महाजनी की शिक्षा के साथ, नाना जी के उपदेशों का स्थायी प्रभाव यह पड़ा कि अपनी शक्तियों का नया परिचय उन्हें अनुभव होने लगा। आत्मविश्वास जहाँ दृढ़ हुआ, वहीं पर एक नया प्रभाव भी आया। लक्ष्मणगढ़ यद्यपि रतनगढ़ से कुछ पहले बसा था, लेकिन सीकर के रावराजाओं की वजह से वहाँ पर नगर की बसावट आधुनिक तरीके से होती जा रही थी। नगर छोटा था, किन्तु वहाँ पर अधिकतर लोग कलकत्ता में और बंबई में व्यवसाय करनेवाले थे। उन के बालकों से सूरजमल जी का मेलजोल बढ़ा और उसी के साथ कलकत्ता में और अन्यत्र चल रहे व्यापार की जानकारी भी बढ़ी। वे अपने पिता के व्यापार की अब अच्छी तरह समीक्षा करने की शक्ति पा चुके थे। जितना ही संसर्ग व्यापारिक वंशों के पुत्रों से बढ़ता, उनके मन में चित्र-विचित्र स्वप्न भावी व्यापार के बनने लगे। वे समृद्धि-प्राप्त परिवारों के बालकों को देखते, उनका रहन-सहन देखते, उनके बाल-सुलभ संस्कारों में एक विकल सी जिज्ञासा उद्भूत होती। वे उन आडम्बरों से पूर्ण बालकों के रहन-सहन को आलोचना-दृष्टि से ही देख पाते, यह एक मजबूरी थी, परेशानी थी। उन्हें प्रशंसा की दृष्टि से न देखने की विचित्र सी लाचारी थी। नाना जी बहुत ही सादे ढंग से रहते। उस युग के जो अन्य प्रतिष्ठित परिवार थे, वे भी साधारण भाव से जीवन बिताने का आनन्द लिया करते। नाना जी कहा करते, "सूरजमल, सूरज का आनन्द यह है कि वह चुपचाप दुनियाँ को प्रकाश देता है और अपनी मौज में रहता है। न किसी से पूछता है, न किसी से माँगता है। अपने जो देना है,चुप से दे देता है।" सूरजमल जी यह बात सुनते, भोर में टीबों की ओर जब दिशा आदि के लिए जाते, तो एकटक उगते सूर्य को देखते, और मन में बड़े मधुर विचार उठते। घर पर आ कर मुँह-हाथ धोते तो स्नेहमयी नानी कलेवा तैयार रखतीं। कलेवा करते हुए मंत्रमुग्ध सी बैठी नानी का चेहरा निहारते बड़ा सुख लगता। लगता, माता ही मानो सामने आकर बैठ गयी है। वे नानी के प्रति असीम श्रद्धा से भर जाते। नानी कहती, "सूरजिया, तू जब छोटा था, तो अपनी माँ की गोदी से उतर कर मेरी गोदी में आ जाया करता था। भगवान ने तुझे अब मेरे पास ही भेज दिया है।" और यह कहते हुए नानी का गला सहसा

भर आता। यद्यपि सुरेका-परिवार में और भी बालक थे, लेकिन नानी जी तो सूरजमल और सोनी बाई के भरण-पोषण में मानो सारा समय निकाल देतीं। छोटी बहन सोनी बाई की आयु पांच बरस की हो चली थी।

इस तरह दो वर्ष बीते। इस अवधि में दोनों बालक अपनी माता के वियोग को भूले और नये उत्साह के साथ भावी जीवन के प्रति तैयार होते गये। नाना जी ने अपने संरक्षण में सूरमजमल जी को महाजनी की शिक्षा दिलाई। उन्हें अपनी दूकानों पर बही-खाते लिखने का काम सिखाया, हिन्दी आदि का ज्ञान भी सन्तोषपूर्वक उन्हें हो गया। व्यवहार में अब कुशलता थी और बातचीत में विनीत रहते। सात्विक भाव उनके चेहरे से झलकते थे। स्वास्थ्य में कुछ सुधार हो गया था। बालावस्था का चिन्ह अब शरीर पर न था। तरुणाई से तप्त युवक हो चले थे। नाना जी को उन पर गर्व था, नानी जी उन में अपने प्राण दिये हुए थीं।

दो वर्ष तक सूरजमल जी नाना जी के पास ही रहे। अधिकतर व्यापार के गुरु-मंत्र कंठस्थ करने में उनकी रुचि विस्तार पा रही थी। कि पिताजी आसाम से लौटे। अब सूरजमल जी की आयु १३-१४ वर्ष की हो चली थी और राजस्थान में यही विवाह-आयु प्रमाणित मानी जाती थी। होनहार बालक के साथ अपनी कन्या का रिश्ता करने के लिए अनेकानेक परिवारों ने हरदेवदास जी पर दबाव देना शुरू कर दिया था। कन्याओं के पिताओं की यह स्पृहा थी कि वे ही सूरजमल जी को अपना जामाता बनायें। लेकिन सौभाग्य तो उस कन्या के लिए निश्चित था, जिसने पूर्व जन्म में ही उन्हें प्राप्त करने के लिए तप किया था। रतनगढ़ में ही बाजोरिया-वंश के साथ हरदेवदास जी ने संबंध पक्का कर लेने का निश्चय किया। यह पाणिग्रहण संस्कार जेठ सुदी ७, संवत् १९५२ में हुआ। बाजोरिया-परिवार भी पहले से रतनगढ़ में आकर बस गया था। सूरजमल जी के श्वसुर रामचन्द्र जी कलकत्ता में सात टोपीवालों की फर्म मे जूट-डिपार्टमेंट का काम सम्हालते थे और इसी विभाग में उन की साझेदारी थी। वधू का नाम रमादेवी था। हरदेवदास जी ने अपनी इन विधु-वदनी पुत्रवधू को उसी रूप में ग्रहण किया, जिस तरह सूर्योदय होते ही गृह का प्रकाश-त्यक्त एकान्त सूर्य-रश्मियों को सानन्द ग्रहण करने लगता है। पुत्र-जन्म जिस दिन होता है, उस दिन कुल-दीपक प्राप्त होता है, लेकिन जिस दिन पुत्र-वधू गृह-प्रवेश करती है, उस दिन तो मानो उस कुल-दीपक की दीपावली ही जगमग कर उठती है! रमादेवी जालान-वंश में एक नवोदित आलोक के रूप में समादृत हुई।

हरदेवदास जी को यही अभीष्ट था कि यदि पुत्र की ससुराल रतनगढ़ में रहेगी, तो दोनों परिवारों का साहचर्य भविष्य में सुदृढ़ रहेगा। एक नगर के परिवारों का रिश्ता इस लिए भी व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से मान्य रहा करता था, क्योंकि नगर छोटे थे और उनमें बसे हुए परिवारों का अपनत्व प्रगाढ़ रहने से नगर का सौख्य द्विगुणित होता था, हाथ में हाथ देने का बल प्रधान बनता था।

जिन क्षणों में सूरजमल जी का विवाह हुआ, उनमें भाव-व्यंजक साधुता बहुत अधिक आ चुकी थी। पिता जी की अनुपस्थिति में, छोटी अवस्था से ही घरमें गृहकार्यों को निपुणता से करने की मानो जन्मजात शक्ति विद्यमान थी। स्वास्थ्य उत्तम था, मिलन-सार थे, लेकिन कम बोलने का मन्त्र उन्होंने स्वयं ग्रहण कर लिया था। फल यह हुआ कि उत्तम जनों से मिलते, गंभीर प्रकृति के मित्रों को पसंद करते। मंगलामुखी पत्नी ने जिस क्षण उनके जीवन में प्रवेश किया, वे उत्तम गृहपति के योग्य कार्यों में दक्ष हो चुके थे। पत्नी ने मानो उनके जीवन के दूसरे अध्याय का मंगलाचरण प्रस्तुत किया था। वे ऐसी ही असीम स्वस्तिक भावनाओं की मंजूषा अपने साथ बांध कर लाई थीं। उस संस्पर्श से सूरजमल जी को धन्य होने की भावभूमि मिल गयी। परिवार में वे बायें हाथ की शक्ति बन कर आई थीं, सूरजमल जी को अब दायें हाथ से अपने जीवन के मांगल्य का मार्ग खोजने के लिए दृढ़ीभूत बल मिलता चला गया।

विवाह के बाद, उन्होंने १५ वर्ष की आयु में, एक स्वतंत्र चेता युवक के रूप में परदेश-प्रस्थान की तैयारी की। बालपन बीता, परिवार-संरक्षण का दायित्व आया। पिता जी अस्वस्थ थे, उन्हें आसाम में सेवा की जरूरत थी, सेवा के साथ वंश-व्यापार में कंधा लगाने की कष्टकर साधना में सहयोगी की चाहना थी। साध्वी पत्नी ने भारी हृदय से अपने नव-पति को विदा दी। वे अपने पिता जी के साथ आसाम चले गये। दाम्पत्य जीवन का मनोरम एकांत अब दो भागों में बंट कर महाबाहु बन गया। पत्नी ने गिरिस्ती में ज्येष्ठाओं की चरण-सेवा करना अपना अहोभाग्य समझा, पुत्र ने पिता के जीवन-व्यापार का रथी बनने का काम संभाल लिया। अल्पावस्था का विवाह, लेकिन जीवन-भार दीर्घ आयुष्य की दुरुह भावनाओं से आतुर। सूरजमल जी ने इन सब द्वंद्वों पर कस कर अंकुश लगाया और···और, वे आसाम के कर्मक्षेत्र में अवतरित हुए। स्थिति चिंतनीय थी पिताजी के व्यापार की। फर्म की हालत डांवाडोल थी। एक लम्बे समय की बीमारी ने व्यापार को अपार क्षति पहुँचाई थी। किस उपाय से उसे एक नया मोड़ दिया जाए, नया अध्याय लिखा जाए, यह साधारण बुद्धि का खेल न था। इस से भी क्लिष्ट प्रश्न यह आ रहा था कि पिता जी का स्वास्थ्य आसाम में पहुँचते ही गड़बड़ाने लगता। वे थे कि इस डगमग करती नौका को बीच मंझधार में खेने की जोखिम लिये जा रहे थे। पुत्र की आंखों ने आसन्न संकट को पहचान लिया। उन्होंने पिता जी को यह समझाने में सफलता पाई कि नौका जर्जर हो चुकी है, यह डूबे, हानि नहीं है; लेकिन चतुराई मल्लाह की इसी में है कि वह स्वयं तो अपने प्राणों की रक्षा करे!

सूरजमल जी ने सारे आसाम पर निगाह दौड़ाई। उसके बाद उन्होंने कलकत्ता पर निगाह दौड़ाना शुरू किया। सहानुभूति का हाथ कहीं दिखाई देता था तो वह कलकत्ता ही था, जहाँ उनके मामा जी थे, उनके श्वसुर थे। दो पीढ़ी पहले आसाम अवश्य उनके पूर्वजों को अमृत-फल दे गया था, लेकिन अब भाग्य का खेल अवश्य ही दूसरी दिशा है, यह पुत्र ने पिताजी को गंभीरता से समझा दिया। बात अवश्य सच थी। अवश्य उस पर पालन किया जाना चाहिए। पिता ने सारी वस्तु-स्थिति को विहंगम दृष्टि से देखा, पुत्र की बात में सारांश अधिक था। वे स्वयं तो अशक्त शरीर लिए रतनगढ़ लौट आये,पुत्र ने मामा जी के पास सत्परामर्श के लिए कलकत्ता में पड़ाव डाला। श्वसुर के भी दर्शन किये, उन से भी राय ली। भविष्य के लिए कार्यक्रम पर विचार किया। इतना तो स्पष्ट हो ही गया था कि अब ज़ीवन-यापन का क्षेत्र यह कलकत्ता रहेगा। आसाम में वे केवल सवा वर्ष रहे थे।

जिन क्षणों में १९ वीं सदी लगभग पूर्ण हो चुकी थी और २० वीं सदी का भोरकाल शुरू ही हो रहा था, सूरजमल जी ने कलकत्ता नगरी में कदम रखा। आसाम और राजस्थान के बीच यह सेतुबंध की तरह स्थित था। पर व्यापार के क्षेत्र में कलकत्ता की वही स्थिति थी, जो शतरंज के खानों में वजीर की होती है। नगर अधिक विस्तार न पा सका था, पर मालदार होने की कसौटी यहाँ बीच बाजार रखी रहती थी, अपनी बुद्धि को उस पर रगड़ो, उसे खरा स्वर्ण बनाने की भाग्य-आजमाइश सब के लिए खुली थी। कपड़े का बढ़ा-चढ़ा व्यापार था,जूट ने नवीनतम दिशाओं का स्वर्ण-सूत्र उद्घाटित कर दिया था; वह महामणि के तुल्य, व्यापार की समुन्नत अवस्था का पर्याय बन गया था। व्यापार की बेकारी न थी, बाहुबल के लिए बहुत गुंजाइश थी, बुद्धि-बल के लिए पूरा मैदान आह्वान करता-सा प्रतीत होता था। अंग्रेज-कम्पनियों के स्वत्वाधिकारी मारवाड़ी प्रवासियों का सर्वाधिक विश्वास करते थे, उनके भरोसे व्यापार करने में सुभिस्ता समझते थे। मारवाड़ी समाज संगठित परिवार के तुल्य, अपने बड़ा बाजार[1] में स्थायी सम्पत्तिका निर्माण करने लगा था, मारवाड़ी ऐसोसिएशन का गठन-करने में सफलता प्राप्त की थी। बंगाल चैम्बर जैसी अर्द्ध-सरकारी संस्था की सदस्यता अनेक मारवाड़ी गद्दियों को प्राप्त हो चुकी थी और उसकी अपनी जातीय पंचायत सक्रिय थी। परिश्रमशीलता की दृष्टि से सभी पूरे समाज की संबद्ध शक्ति के रूप में सर्वाधिक धनी बनने के लिए सचेष्ट थे।

कलकत्ता में अभी सूरजमल जी ने स्वतंत्र रूप से काम शुरू भी न किया था कि उन के पिताजी का निधन हो गया। लोक-समाज में पिता का हाथ जब सिर से ऊपर उठता है तो लोकजगत, छोटी आयु होने पर, कहता है कि वह पितृहीन हो गया। लेकिन पिता का गौरव जिसे विरासत में मिल जाता है, उस के लिए लोकसमाज कहने लगता है कि वह पिता धन्य हो गया। पर एक तीसरी स्थिति और भी है और वही सूरजमल जी को, दुर्भाग्य-मार्जन के रूप में, मिली थी। उस के लिए मध्यप्रदेश में 'पितृ-घंट' बालक शब्द प्रयुक्त होता है। इस शब्द के लिए वहाँ पर एक लंबी कहानी चलती है, पर उस का आशय यही है कि जो पुत्र अपने पिता के बाद, उसके नाम का घंट शान्त नहीं होने देता, उसके यश की जय-ध्वनि निरंतर निनादित करता है, उससे उत्तम संतति और क्या हो सकती है। सूरजमल जी के जीवन की ज्योत्स्ना दिन-प्रति-दिन प्रकाश से भर रही थी। माता के वियोग ने उन्हें अन्य परिवार में ममत्व से स्निग्ध जीवन बिताने पर बाध्य किया था, उन संस्कारों ने उन्हें वृहत् पारिवारिकता की भावना से घनीभूत बना दिया था। पिताजी के असामयिक निधन ने उन्हें छोटी अवस्था में ही जीवन-व्यूह के भेदन के प्रति असीम उत्साह भर दिया था। निरुत्साहित होने के लिए वे नहीं जन्मे थे, जन्म उन्हें शत-शत व्यक्तियों को उत्साहित करने के लिए मिला था। उन्हें अपने छोटे बहन-भाइयों का ध्यान था, उनकी शिक्षा-दीक्षा की चिंता थी, दादी जी और सगी माता से भी बढ़कर धर्म-माता का ख्याल था। पूरे सात प्राणियों का परिवार था। अपनी महत्वाकाँक्षाओं की पूर्त्ति अभी शुरू भी नहीं हुई थी।

लेकिन सूरजमल जी इस दैवी-दायित्व के भार से, चिंतित से अधिक, उज्ज्वल भविष्य का नियोजन करने के लिए कृत-संकल्प हुए। 'पितृ-घंट' बालक की कहावत चरितार्थ करने के लिए अब उन्होंने कलकत्ता में और भी कठिन साधना प्रारंभ कर दी। परिचय-वृद्धि में निष्णात् वे हो चुके थे, अब अपरिचितों के बीच में उन्होंने अपनी जीवन-नौका का लंगर खोल दिया। चक्षुप्पथ जब स्पष्ट हो, तो गति शिथिल करने का कोई सवाल नहीं रहता। जीवन की कर्म-रेखाएँ अपने हाथों ही जब खिंचती हैं, तो स्वर्ण-स्याही से लिखी गई लिपि कल-लिपि[1] कहलाती है। अभी तक वे साधारण गति चल रहे थे,अब उन्होंने अपने कदम बढ़ाये। उन कदमों की दृढ़ता बहुत जल्दी मौन नहीं रह गयी, उनके स्वर सुनाई पड़ने लगे। समाज ने उन्हें बहुत ध्यान से सुना, श्रवण किया, फिर वह दिन भी पास आया, जब उन कदमों का दर्शन भी शुभ माना जाने लगा; जिधर वे चरण पड़ते, शुभ और कल्याण वहीं चर्चित होते। समाज ने इसीलिए सूरजमल जी के कृतित्व को बड़े हर्ष के साथ ग्रहण करना शुरू किया था। ऐसी शोभनीय ज्योत्स्ना से सूरजमल जी ने अपने जन्म-पादप (वंशवृक्ष) का नया रोपण जिन क्षणों में प्रारंभ किया,हम पुन: स्मरण करें, उस समय उनकी आयु केवल १८-१९ वर्ष की थी। उस समय वे कलकत्ता महानगरी में अज्ञात सैनिक की तरह से अत्यल्प परिचित थे!!

---

१ कलकत्ता में स्थायी रूप से रहने वाले राजस्थान के प्रवासी बड़ाबाजार को बड़े गर्व के साथ 'अपना' मानने लगे थे।

१ स्वर्ण की स्याही से लिखी गई लिपि।

कलकत्ता में मारवाड़ी समाज के गतिशील चरण

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि [ऋग० १०।३७।६]

—हम कल्याण-मार्ग पर चलते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हों।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः [ऋग० १०।१२८।१]

—मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जायें। अर्थात् प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता मिले।

[८]

कक्षा छोटी, वैसे ही छोटा व्यापार; बड़ा व्यापार ऊँचे स्तर का ज्ञान और बुद्धि-बल चाहता है। सूरजमल जी ने नाना जी के पास लक्ष्मणगढ़ में वही-खाते और रोकड़-लेखन आदि से परिचय पा लिया था। ननिहाल ने आप के ऊपर अपना संरक्षण अल्प समय में न हटा लिया; जब आप कलकत्ता की विराट दिशाओं में आजीविका के प्रश्न को हल करने के लिए पहुँचे तो वहाँ पर मामा जी की फर्म मेसर्स गुरुमुखराय शिवदत्तराय ने आप को 'कैश' का काम सिखाने का श्रीगणेश किया। व्यापार में नहीं, व्यापार के गुणनफल और जोड़ की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बारीकियों में लक्ष्मी बसती है। भ्रमर पुष्प-पराग पर केवल भ्रमता है और गुँजन करता है, लेकिन मधुमक्खी उस पराग-कण का संचय कर, उसका परिपाक करती हुई, उसे मधु में परिवर्तित कर देती है। व्यापार की लक्ष्मी बन के परिपाक से उद्भूत समुन्नत अवस्था के मधु में स्पष्ट झिलमिल करने लगती है। सूरजमल जी क्रीड़ा-प्रिय चपल बालक अब नहीं रह गये थे। उन में गंभीरता आंशिक रूप से अधिक आई थी, पर उस से भी अधिक गंभीरता विषय-प्रवेश की समाई थी। एक वर्ष में उन्होंने 'कैश' का काम समझ लिया,'कैश'की भिन्न परिभाषाओं को कंठस्थ कर लिया। मामा जी का व्यापार काफी समृद्ध था, इसलिए उन की वहियों में 'कैश' का ज्ञान और उस की मीमांसा बढ़े-चढ़े रूप में विद्यमान थी, सूरजमल जी ने खूब बारीकी से उसे हृदयंगम कर लिया; व्यापार में हानि-लाभ के कारण-भाव अनायास किस तरह प्रकट हुआ करते हैं, इस सद्विवेक का परिचय पा लिया। मामा जी व्यवहार में कड़े थे, अंततः ममत्व से छलकते थे। देखने में इस जिज्ञासु भानजे के प्रति सरल शायद न रहे, पर छिपे तौर पर उन्होंने इतना प्रबंध अवश्य कर दिया कि वह 'कैश' की सारी जोड़-बाकी की निगूढ़ रहस्यमयी क्लिष्टता से अवगत हो जाए। फलप्रद व्यापार के लिए 'कैश' की किन सतर्कताओं से होशियार रहना चाहिए, उन सब गोपनीय तथ्यों से उसे परिचित करा दिया गया।

जिन क्षणों में सूरजमल जी कलकत्ता पधारे, उनकी आयु १६ वर्ष को पार कर चुकी थी। २० वीं सदी के प्रथम चरण में जितने भी महाभाग मारवाड़ी प्रवासी कलकत्ता में व्यापार करने आये, यह एक विस्मयजनक सत्य है,वे प्रायः सभी १५-१६ वर्ष की आयु में ही इस महानगरी में अपने प्रारंभिक संघर्षों का कर्म-लेख लिखने के लिए चले आये थे। राजस्थान के प्रवासी समाज का यह गौरव रहा है कि उसके अल्पायु बालकों ने अपने ओज व शौर्य से बड़े चमत्कारी कार्य किये हैं। जयपुर, शेखावाटी के फतहपुर, लक्ष्मणगढ़, नवलगढ़, रामगढ़, और बीकानेर के सुजानगढ़, चूरू, सरदारशहर, रतनगढ़ आदि नगरों के यशस्वी वंशों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि उनके पूर्वज छोटी-सी आयु में ही, अपने अभाव-अभाग्य को तुच्छ मान कर, कर्म-क्षेत्र में उतरे और उन्होंने आसाम, कलकत्ता, बम्बई आदि में वह काम किया, जिसकी कहानी शेष भारत में बड़े सम्मान के साथ पढ़ी-लिखी जाती है। सूरजमल जी के भाग्य में यह दायित्व १९ वीं सदी के ठीक अन्त में आया। वे २० वीं सदी के प्रथम चरण में उन महाभागों की पंक्ति में आगे चल रहे थे, जिन्होंने दो-तीन युगों के बाद, सन् १९२०-३० की अवधि में, कलकत्ता आदि नगरों में मारवाड़ी समाज का मुख उज्ज्वल किया। यह उज्ज्वलता समाज के मुख से जब कंठ में अवतरित हुई, समाज ने मानो सोमरस पीया। इस उज्ज्वलता की स्निग्धता, पानीय रूप-रस के सदृश्य जातीय इतिहास-लेखकों को सम्मोहित करती रही है!

२० वीं सदी के प्रारम्भ तक कलकत्ता सम्पूर्ण भारत की राजधानी ही न था, देश भर के व्यापार का प्रधान केन्द्र था, समस्त विदेशी बाजारों के निमित्त संचालित होने वाले कारोबार के हेड-आफिस यहीं पर थे। यही कारण है कि यहाँ का बन्दरगाह दिन-प्रति-दिन विकसित ही न हुआ, अंतर्राष्ट्रीय महत्व की दृष्टि से यहाँ पर समुन्नत प्रबन्ध-व्यवस्था स्थापित की गई। विदेशी व्यापारी ही यहाँ के भाग्यविधायक थे और इन का बंगाल चैम्बर सरकारी स्तर पर सारे देश के व्यापार-वाणिज्य का शासन-प्रबंध करने में अग्रणी समझा जाता था। लोहा, जूट, नील, हैम्प, सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र, पत्थर का कोयला, नील, अफीम, मशीन, चाय, खनिज, औषधियाँ, बैंक आदि जितने भी व्यापार-उपादान थे, उन के भिन्न क्षेत्रों में केवल अंग्रेजी कम्पनियां तथा अन्य विदेशों की कम्पनियां मनमाना

करती थीं, भारतीयों के लिए बहुत अधिक सुविधाएँ न थीं। कलकत्ता में १८ वीं सदी के अन्त होते तक खत्री समाज और बंगाली समाज के लोग अवश्य कुछ अंशों में धन्यभाग बने हुए थे।

ऐसी जन-संकुल महानगरी में मारवाड़ी समाज के प्रवासी व्यापारी जब इस दिशा एक बड़ी संख्या में आए, तो उन का कर्म-बल, शौर्य-बल, आत्मबल, बुद्धि-बल, सत्य-बल, और निष्ठा के साथ कठिन परिस्थितियों से जूझने का अन्त: प्रेरक बल प्रारंभ में किसी को प्रभावित न कर सका, किन्तु शनैः-शनैः विदेशी-व्यापारी उन के इन गुणों की ओर अधिकाधिक आकर्षित होने लगे, उन का विश्वास लेने और उन्हें अपने विश्वास में लेने के लिए मानो एक होड़-सी लग गयी। शीघ्र एक दृश्य-परिवर्तन हुआ। भारतीय व्यापार के ईस्ट इंडिया कम्पनी-कालीन इतिहास में विक्टोरिया ने अपने घोषणा-पत्र से एक नया क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया था। किन्तु मारवाड़ी समाज के इन व्यापार-प्रबुद्ध व्यापारियों ने मौन भाव से विक्टोरिया महारानी के घोषणा-पत्र का इस तरह दिशा-परिवर्तन प्रारंभ कर दिया कि प्रारंभ में उसके अर्थ स्वयं अंग्रेजी कम्पनियों को और सात समुद्र पार बसे हुए शासक-वर्ग को भी दृष्टिगोचर न हुए। वे प्रगट होने लगे २० वीं सदी के द्वितीय चरण में, जब प्रथम विश्व-युद्ध शुरू हुआ। उस समय विदेशी सत्ता ने पहली बार महसूस किया कि सारे व्यापार का बहुत कुछ आधार और उसके प्रबंध-बंदोबस्त का मूल आधार ये मारवाड़ी व्यापारी हैं!

प्रारंभ में मारवाड़ी जन बेनियन हुए। मुत्सद्दी हुए। मुनीम हुए। दलाल हुए। किन्तु २० वीं सदी के प्रारंभिक क्षणों में हम उन्हें प्रमुख बैंकर, कपड़े के बड़े व्यापारी, प्रधान जूट-बेलर, अग्रिम पँक्ति के लोहे के व्यापारी, चाय-बगानों के स्वत्वाधिकारी, अफीम के उल्लेखनीय मर्चेंट और गवर्नरों के प्रिय पात्र बनता हुआ देखते हैं। जिन क्षणों में भारत की राष्ट्रीयता का पुनर्जागरण-काल आया, उस के प्राण-स्वरूप भारतीय व्यापार को भारतीय व्यापारियों के सबल हाथों नियंत्रित रखने का कठिन व्रत भी इसी के साथ प्रारंभ हो चुका था। जब पूरे जोर-शोर के साथ भारत का स्वतंत्रता-आन्दोलन छिड़ा तो उस में इन मारवाड़ी व्यापारियों ने बढ़-चढ़ कर अर्थ का अर्घ्य महा-बाहु योद्धाओं की तरह से दिया। यह युद्ध इसी अर्घ्य-घृताहुति से दिव्य भाव को प्राप्त हुआ!

सूरजमल जी जिस समय कलकत्ता पधारे, एक प्रकार से वे रिक्त हस्त आये थे। व्यापार की महानगरी में उनके पास केवल व्यापारी पिता के दिये हुए उत्तम संस्कार थे और वही उनकी जमा-जोड़ी पूँजी थी। पर इस पूँजी का अर्थ जहाँ पर उत्तम भाव को ग्रहण कर सकता था, वह कलकत्ता नगरी ही थी—जहाँ पर व्यापार के प्रति दृढ़ निष्ठा रखने से ही व्यापार-लक्ष्मी के वरदान अनायास मिल जाते हैं। वे व्यापारिक प्रगति के धनी बने हुए, मारवाड़ी समाज के युवक-पुत्र थे। इस समाज के पूर्व-पुरुष कलकत्ता में यह उज्ज्वल परम्परा घर-घर में आशीष की तरह से रोप गये थे कि हम आगे बढ़ें तो अपने समाज के १०-२० युवकों को गाढ़े थाम कर आगे बढ़ें। सूरजमल जी को कलकत्ता आते ही काम की तलाश में रुकना न पड़ा, प्रतीक्षा न करनी थी; आगे बढ़ने की सरगर्मी का जोर बंधा हुआ था, उन्हें भी समाज ने अपने साथ ले लिया। समाज के गतिशील चरणों में लक्ष्मी की लीला रमण करती थी। सूरजमल जी के चरण भी, इस रमणवती लीला से सधे हुए अब गतिशील हो गये।

कलकत्ता में चिड़ावा-नगरी के श्री सूरजमल जी झूंझनूंवाला एक महाभाग पुरुष १६ वीं सदी के अन्तिम काल में हो गये हैं। उनका दबदबा देखते ही बनता था। वे पहले पुरुष थे जो 'समाज के सूरज' कहलाये। एक बार इंग्लैंड के कुछ बड़े व्यापारी भारतीय व्यापार की समीक्षा करने आये थे। कहा जाता है कि इन लोगों ने सूरजमल जी से भी भेंट करने की इच्छा प्रकट की, क्योंकि उनका नाम विलायत में प्रसिद्ध था। झूंझनूंवाला जी जब तक उन के बीच रहे, एक व्यापारिक सम्राट की तरह सिर ऊँचा किये मुस्कराते रहे। उनकी इस वैभवपूर्ण मुद्रा से वे अंग्रेज बहुत ही अधिक जैसे आसक्त हो गये! उन्होंने पूछ ही तो लिया कि हमें यह बताइये, राजस्थान का मारवाड़ी बिना पढ़े-लिखे भी विलायत के किसी भी पढ़े-लिखे व्यापारी से कम बुद्धिमान और गणित-सिद्ध नहीं है। सुनकर झूंझनूंवाला जी विनीत भाव से संकोच में भर गये। आपने जरा खुलासा करते हुए कहा, "हम वैश्यों की उत्पत्ति ब्रह्मा जी के उरु-प्रदेश से हुई है। यही कारण है कि इतिहास में हमें चलने का भार मिला है। चलते रहने से व्यापार की बुद्धि तीक्ष्ण होती है। मेरे समाज के लोग कलकत्ता में व्यापार का ठेका लेने नहीं आये हैं, वे यहाँ के व्यापार को नई गति देने आये हैं। हम गति के पुजारी हैं।"

सूरजमल जी ने मानो अपने इस कथन से २० वीं सदी के महाभाग व्यापारियों के लिए एक भविष्यवाणी कर दी थी। वे 'गति' का अमर संदेश अपनी भावी पीढ़ी को सुना गये थे।

सूरजमल जी जालान भी एक प्रकार से झूंझनूं से प्रवासी हुए अग्रवालों की एक शाखा के उत्तराधिकारी पुत्र थे और इस कलकत्ता में उस समय पधारे थे, जिस समय कि सूरजमल शिवप्रसाद झूंझनूंवाला का अद्वितीय कृतित्व पूर्णता की सीमाओं का संस्पर्श कर चुका था। सूरजमल जी ने अपनी गति को जो संबल दिया, वह मारवाड़ी समाज की तप-साधना से उद्भूत था। वे इसी की प्रार्थना करते हुए कलकत्ता के कर्म-क्षेत्र में उतरे। यजुर्वेद (२५।१४) का एक मंत्र है—

आ नो भद्रा ऋतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरातीस उद्भिदः।

—हमें ऐसे शुभ संकल्प प्राप्त हों जो सर्वथा अविचल हों। जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और जो हमें उत्कृष्ट जीवन की ओर ले चलने वाले हों। उत्कृष्ट जीवन की दिशा! मारवाड़ी समाज की यही दिशा थी। सूरजमल जी ने इसी दिशा का प्रस्थान अंगीकार किया।

सेठ बंशीधर जालान

सिता की ओर उन्होंने कभी आँख उठा कर न देखा, रतनगढ़ और लक्ष्मणगढ़ में जीवन की जो चकाचौंध प्राप्य न थी, पर जो कलकत्ता में प्राप्य थी—उसके प्रति उनका मोह न रहा। वे दत्तचित्त रहते हुए जल्दी से जल्दी इस व्यापार-कार्य को कंठस्थ कर लेने और उसके समस्त गुरों को गाँठ में बाँध लेने के लिए उद्यत रहते। उसी में एकाग्र रहते। लक्ष्य-भेदी छात्र की तरह अपने में निमग्न रहते।

ऐसे ही क्षणों में एक उद्वेजक घटना घटी। एक दिन की बात है। सूरजमलजी किसी बगल की गद्दी में किसी काम से गये थे[1]। वहाँ पर काम का अवकाश था और लोग ताश खेल रहे थे। उन्होंने सूरजमल जी को भी ताश खेलने के लिए बैठा लिया। ताश राजस्थान के युवकों का मनचीता व्यसन रहा है। व्यापार करते हुए, दिन के अवकाश में, वे ताश में रम जाते हैं। सूरजमल जी ने भी देखा, अभी दुपहर का समय है, कामकाज विशेष है नहीं, भुगतान के लिए अभी कोई आनेवाला भी नहीं है, इसलिए मित्रों के बीच में वे भी रम गये। पर घटना असावधानी से दुर्घटना बनती है,बात की बात के लिए, उधर गद्दी पर कोई दरवान हुंडी के भुगतान के लिए उपस्थित हो गया। वहाँ पता चला कि कैशियर बाबू बगल की गद्दी पर ताश खेल रहे हैं; वह यह सोच कर लौटने लगा कि इतने अपना दूसरा काम कर आयें,जब लौटेंगे तो भुगतान ले लिया जायेगा। वह लौटने लगा तो गुरुमुखराय जी उसे सीढ़ी पर मिले। अपनी गद्दी से बिना भुगतान लिये उसे लौटते हुए देख लिया। फौरन पूछा कि क्यों आये थे और क्यों चले? दरवान ने बताया कि भुगतान लेने आया था, कैशियर बाबू बगल की गद्दी पर गये हैं, सोचा लौटते ले लूंगा, तब तक दूसरा काम कर आऊँ। गुरुमुखराय जी को यह सह्य नहीं था कि उनकी गद्दी पर इस तरह की अव्यवस्था अपना रूप धारण करे और वह भी अपने प्यारे भानजे की वजह से। प्रतिष्ठित गद्दियों की यह जबरदस्त परम्परा थी कि भुगतान में एक मिनट भी देरी न हो जाए। उन्होंने तत्काल सूरजमल जी को बुलाया और कहा कि अपनी गद्दी से भुगतान का कोई भी व्यक्ति कभी खाली हाथ न लौटे, लौटना ही नहीं चाहिए। सूरजमल जी यद्यपि उनके अपने प्रिय परिवार-जन थे, लेकिन गद्दी की मर्यादा की रक्षा के लिए उन्होंने यह आदेश जरा कड़ाई से दिया। सूरजमल जी यह सुन कर बहुत लज्जित हुए। गद्दी से कुछ क्षण अनुपस्थित होने का परिणाम मिला, यह तो सबक था; लेकिन वे कुछ क्षण भी क्यों अनुपस्थित हुए, इसका उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। न मैं ताश खेलने जाता, न यह कर्तव्य-च्युति की लांछना सर पर हावी होती। अब मैं कभी ताश खेलने न जाऊँगा, तत्काल ही उन्होंने संकल्प कर लिया। और...यही हुआ। उन्होंने जीवन-पर्यन्त न तो कभी ताश को हाथ लगाया,न ताश के खिलाड़ियों की ओर दृष्टिपात किया। जीवन का पहला संकल्प मात्र यह न था, अनेक संकल्पों की कड़ी वे इसी तरह बाँधने में लगे थे। जीवन का संघर्ष-युद्ध व्यूहचक्र के अन्दर था, वे अभिमन्यु की तरह से संकल्पों के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा उसे विजित करने में अपनी कठिन परीक्षा दे रहे थे। कर्तव्य और दायित्व हमारा तभी तक उपकार करते हैं, कि हम उन के लिए कठिनमना जूझे रहें।

प्रतिवर्ष रतनगढ़ में ससुराल से यह प्रबल आग्रह रहता कि कलकत्ता में प्लेग शुरू होते ही वे रतनगढ़ पधारें। सन् १८६६ से कलकत्ता में व्यापक पैमाने पर प्लेग का संक्रमण चलने लगा था। प्रारंभिक दो-तीन साल की प्लेग तो विनाशिनी बन कर आई, उसने अपार मनुष्य-क्षति की। बाद में उस का प्रकोप साधारण भाव से प्रकट होता रहा। फाल्गुण मास से प्लेग के आसार कष्टदायक बनने लगते, चैत्र मास तक उस व्याधि का आतंक बना रहता। इस अवधि में प्राय: चिंतनशील बड़े-बूढ़े अपने परिवार और बच्चों को राजस्थान की दिशा प्रस्थान के लिए प्रेरित करते। अब सूरजमल जी ही अपने परिवार के प्रतिपालक थे, सब की आशाओं के सहारे थे। इसलिए दादी जी भी इस आग्रह में शामिल रहतीं कि वे रतनगढ़ इस अवधि में पहुँचे रहें। माता जी का स्नेह बराबर उन्हें वर्ष में एक-दो मास पास रहने के लिए उमड़ता रहता था। ऐसे भरे-पूरे परिवार में एक उद्रेक और था। कुल-लक्ष्मी रमाबाई यद्यपि कहने को तो निरी पुत्रवधू थीं, लेकिन परिवार में उन का स्थान भी इतना आनंदमय था कि परिवार का स्वामी परदेश से घर आया है,तो जैसे उसी का मौन तप भगवान ने स्वीकृत किया है!

पिता जी के निधन के बाद ही सूरजमल जी ने अपना परिवार कलकत्ता में साथ लाना प्रारंभ कर दिया था। दादी जी व माताजी भी रतनगढ़ से आ गईं। उनकी सेवा तो साथ में रहने से ही की जा सकती थी। अभी तक रामचन्द्र जी जीवित थे, रमादेवी जी की माता जी नियमित रूपसे कलकत्ता आती रहती थीं। उनका स्नेह-ममत्व बहुत प्रबल था, वे अपनी बड़ी और बिचली दोनों कन्याओं को सम्हालने के लिए व्यग्र रहती थीं। सूरजमल जी के प्रति उनका अधिक ममत्व था। सन् १६०३ में जब बंशीधर जी का विवाह संपन्न कर, वे कलकत्ता वापस आये तो उनकी नई बहू को भी साथ लेते आये। इस समय तक बंशीधर जी ने कलकत्ता में काम प्रारंभ कर दिया था। वे हरदेवदास जी गुरुदयाल के यहाँ काम सीखने लगे थे; बंशीधर जी के प्रति सूरजमल जी की अनुरक्ति देखते ही बनती थी। दोनों भाइयों का चेहरा-मोहरा सौम्य था, स्वभाव में भी समानता थी, परस्पर का भ्रातृभाव पैतृक गुणों से ओतप्रोत था। बंशीधर जी अपने ज्येष्ठ भ्राता को पितृस्थानीय मानते, उनकी आज्ञा में रहते, उनके परामर्शों में अपूर्व निष्ठा रखते।

सूरजमल जी ने पहले अमरतल्ला में पाट की कोठी में परिवार के लिए कमरा लिया। फिर वे आड़ीबाँसतल्ला में भी कुछ दिनों मकान लेकर रहे।

[1] यह गद्दी १९२, दत्तापट्टी में थी।

पाट-व्यवसाय से प्रारंभिक परिचय

तेल तिला में नीपजै, वन में निपजै कपास ।

खंदै माटी नीपजै, इण तीनाँ को इक वास ।।

—तेल तिलों में रमा रहता है, जंगल में कपास उगती है, खाई में मिट्टी भरी रहती है और इन तीनों को एक ही स्थान पर निवास करना पड़ता है । भाग्य का यह चमत्कार अपने आप ही बूझो !

[१०]

रतीय संस्कृति में उत्तम जामाता के मूल्य बढ़-चढ़ कर मिलते हैं । परिवार में जामाता[1] का स्थान मनस्कांत निधि के रूप में माना गया है ।

रमाबाई जालान अपनी माता की बिचली लाड़ली कन्या थीं,[2] उनकी माता नारायणी देवी अपने जामाता के प्रति विशेष अनुराग रखते हुए उनके उज्ज्वल भविष्य की परिकल्पना में कुछ चिंतित रहा करती थीं । जब सूरजमल जी ने 'कैश' का काम भली-प्रकार सीख लिया, उन के आग्रह को स्वीकार करते हुए, रामचन्द्र जी बाजोरिया ने अब सूरजमल जी से आग्रह किया कि वे कुछ दिन पाट[3] की दलाली और समझ लें । वे स्वयं कलकत्ता में सात टोपीवालों की प्रसिद्ध फर्म में जूट-डिपार्टमेंट[4] के साझीदार थे और उस का काम देखते थे । उन का विचार था कि इस व्यापार का प्रारंभिक ज्ञान हो ले, तो उचित समय पर स्वतंत्र रूप से भी इस क्षेत्र में सूरजमल जी का प्रवेश कराया जा सके ।

रामचन्द्र जी श्री बिशनदयाल हरदयाल के यहाँ एक स्थान रखते थे । वस्त्र-व्यवसाय की तरह, बंगाल में जूट और हेसियन का काम बड़े महत्व का था, उल्लेखनीय मारवाड़ी जन इस क्षेत्र में अपना स्थान बनाने पर तुले हुए थे । जूट यों तो भारत का प्राचीन उद्योग रहा है, और विदेशों में इसकी माँग सदा से रही है, लेकिन ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रारंभिक काल बीतने पर, इस व्यवसाय ने देश के निर्यात-व्यापार में बड़ा मार्मिक स्थान बना लिया था । भारत सरकार अंग्रेजों की थी, इसलिए उस ने इस व्यापार को मुख्य रूप से अंग्रेज व्यापारियों के हाथों सुरक्षित और अधिकृत कर दिया था और विलायत की डंडी आदि स्थानों की जूट-मिलें ही इस व्यापार का मुख्य लाभांश भोग करती रहती थीं ।

पाट के नामों पर दृष्टि डालने से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारंभ में इसका उपयोग औषधि और भोजन के लिए भी होता रहा है । जिसके पत्ते कड़वे होते हैं, वे कृमि आदि रोगों में महा उपकारी माने जाते हैं । इस तिक्तपाट[5] की खेती नहीं होती, भारत व ब्रह्मदेश (बर्मा) में जंगलों में यह प्राप्य है । बाफूली पाट[6] उत्तर प्रदेश, पंजाब, सिंध, काठियावाड़ के दक्षिण-पश्चिम भाग में, गुजरात में और दक्षिण में होता है; भारत की मरुभूमि में जो पुष्प पाये जाते हैं, वे इसी जाति के हैं । इसका गुण चिकित्सा की दृष्टि से शीतल और मेहरोग में लाभदायक है । नरछापाट[7] विशेषत:बंगाल व आसाम में बोया जाता है, इस की पत्तियों से अभिषिक्त जल रक्त-आमाशय, ज्वर आदि रोगों में लाभ पहुँचाता है । इस के बीज को भूनने के बाद दीपक में जलाने के लिए तेल निकाला जाता है । घी-नलिता पाट[8] चीन देश से भारत लाया गया था, कैंटन में इस की खेती कई शताब्दियों से होती आ रही थी । इसका व्यवहार शाक के लिए होता रहा है । ज्वर, उदर-रोग में भी इस का प्रयोग करते हैं ।

---

१ उदयपुर-शेखावाटी में बहुत ही उत्तम बात सुनने को मिली । एक बहन बोलीं, "जी, जँवाई जिका प्राण-तीरथ में बेटी के भागाँ को पुन्य बहे ।" अर्थात् शुद्ध रूप में जामाता उसी शक्ति-स्रोत का नाम है, जहाँ पहुंच कर हमारी कन्या के जीवन का उत्तरार्द्ध केवल पुण्य संचित करता रहता है ।

रिवाड़ी (दिल्ली-जयपुर के बीच पंजाब का सीमान्त नगर) में कहा जाता है : जँवाई रूपवती बेटी के माँग की सिन्दूर ने दमदमाहट देवै से ।"

२ सौभाग्यवती रमाबाई बाल्य काल से ही लाडली रही थीं ।
बड़ी कन्या का नाम लक्ष्मी बाई था और उनका विवाह दाता-रामगढ़ (सीकर के निकट) में ही रामप्रताप जी से हुआ था । इस वंश की गद्दी कलकत्ता में मनोहर दास कटरा में, रामदयाल भीमराज नाम से थी । ३ संस्कृत शब्द पट्ट या पाट है, जो वस्त्र अथवा रेशम शब्दार्थ का बोधक है । रेशम के तुल्य रेशेदार पदार्थ सन को भी इसीलिए पट की श्रेणी में ले लिया गया । पटसन शब्द के गठन की यही पृष्ठभूमि है । ४ जूट विभाग का काम करने वाली गद्दी का नाम था : दुर्गाप्रसाद चिरंजीलाल

५ भारत व सिंहल में उन स्थानों में अधिक होता है, जहाँ गरमी अधिक पड़ती है । इसका अंग्रेजी नाम Corchorus Acutangulus है । ६ पंजाबी नाम बाफूलि, कुरांग, बीफाली, बाबुना और सिंधी नाम सुधिरी है । अंग्रेजी नाम Corchorus antichorus है । ७ इसे बम्बई में हिरनसोरी और भूपाली कहते हैं । सिंध में इससे रस्सियां बनती हैं । अंग्रेजी नाम Corchorus Capsularis है । ८ कैंटन में बोमैयो, मालवदेश में रापित्नजिना, मिस्र व सीरिया में क्रमशः मेलोखिय व मिटेमोल-चिर्दा नाम रहा है । इनके अतिरिक्त दो पाट और होते हैं : Moulchia Corchorus और Travense Corchorus Tropicularsii. ये समस्त सूचनाएं बृहद् हिन्दी विश्व कोष से ली गई हैं ।

अपने बड़ गुदामों में उनके वस्तों की जंचाई कराकर नये सिरे से कच्ची गाँठों में परिवर्तित करते हैं। उस के बाद मुकामों के व्यापारी दलालों की मार्फत वह पाट कलकत्ता में बेलरों या मिलों में बेच दिया जाता है। बहुत सा पाट काशीपुर, हठकोला, फूलबागान, बागबाजार[1] में आढ़तियों के द्वारा बिकता था। पहले बेलर लोग हाथ की प्रेसों से पक्की गाँठें बांधते थे, बाद में स्टीम-चालित प्रेस बैठे, २०वीं सदी के दूसरे युग से बिजली की मशीनें लगीं।

सन् १६०० तक पाटके काम में मारवाड़ी समाज के बहुत लोग अपना एक स्थान बना चुके थे, इस व्यापार में दत्तचित्त थे और मुख्य रूप से इसे करने में जुट गये थे। उस से २५ वर्ष पहले तक पाट का काम मुख्य रूप से बंगाली जनों के हाथों में था। वे ही विदेशी बेलरों के बाद, संख्या में अधिक थे। लेकिन जब मारवाड़ी जनों ने, वस्त्र—व्यापार के बाद, दूसरे व्यापार पर हाथ डालने के लिए निगाह दौड़ाई, तो उन्हें बंगाली बेलरों का काम आकर्षक लगा और उसमें परांगत होने के लिए उन्होंने इन बंगाली बेलरों के यहाँ नौकरी कर ली। ईशरचन्द जी चोपड़ा सिराजगंज के एक ऐसे ही बंगाली पाट-व्यापारी के यहाँ नौकरी करते थे, बाद में उन्होंने अपने बुद्धिबल से इतनी उन्नति की कि वे अपने समय के करोड़पति ही नहीं हुए, बेलरों में उनका स्थान मुख्य गिना जाने लगा। वे पाट की सब से बड़ी फर्म हरिसिंह निहालचन्द[2] के पार्टनर थे और दूसरे साथी डालचन्दजी सिंघी थे। ईशरचन्द जी चोपड़ा मानवी गुणों के बड़े मर्मज्ञ थे।

रामजीदास बाजोरिया (फर्म शिवदयाल रामजीदास), पनैचन्द जी सिंघी (फर्म देसराज गिरधारीलाल), दुलीचन्द जी ककराणिया (फर्म हरमुखराय दुलीचन्द), जीवनमल चन्दनमल फर्म के जीवनमल जी बेंगानी ने इस क्षेत्र में बहुत उन्नति की। जीवनमल जी का नाम तो पाट के क्षेत्र में एक आतंक की सृष्टि तक करने लगा था। लोग जब पाट के व्यापार में चिट्ठी-पत्री देते तो लिखा करते थे कि आज का भाव तो यह है और कल का भाव जीवनमल जाने। जीवनमल जी इतने बड़े बेलर हो चले थे कि उन के गुदामों में प्रतिदिन ३००० मन पाट की जंचाई कई दिनों तक होती रहती थी!

अधिकतर ओसवाल ही पहले इस क्षेत्र में पूरे उत्साह के साथ उतरे थे। वे इस व्यापार के प्रतिष्ठित व्यापारी माने जाते थे। विशनदयाल हरदयाल फर्म तथा अन्य फर्में भी जूटके कामको सम्हालतीं थीं। किन्तु यह संख्या उँगली पर गिनी जाने लायक थी। पाट की दलाली में काफी मारवाड़ी दलाल व्यस्त हो चुके थे।

श्री रामचन्द्र जी गोयेनका के जीवनकाल में रैली ब्रदर्स पाट का काम करते थे, पर गोयेनका जी केवल वस्त्र का व्यापार ही देखते थे। पर उन के अंतिम समय में उन की फर्म ने भी पाट के काम में हाथ डाल दिया था और वे बेलर बन चुके थे। उन के पार्टनर लिछमीपत जी कोठियारी (फर्म महासिंह मेघराज) पाट के बड़े जानकार थे; किन्तु इस क्षेत्र के बड़े दक्ष पुरुष तो रामचन्द्र जी बाजोरिया हुए, जो नौका देख कर या गाँठ देखकर यह कह सकते थे कि यह पाट देशी है या कौन से वर्ग का है और किस केन्द्र का है। आज तो डिस्ट्रिक्ट का पाट पहचाननेवाले उँगलियों पर रह गये हैं, पर रामचन्द्र जी डिस्ट्रिक्ट में से भी किस केन्द्र का पाट है, यह केवल देख कर बताने की क्षमता रखते थे। यही कारण है कि सात टोपीवालों ने पाट के जिस काम में बहुत उन्नति की, उस का श्रेय रामचन्द्र जी को और उन के बुद्धिबल को ही जाता है। उन की पैनी दृष्टि के ही कारण सात टोपीवालों ने उन्हें अपने पाट-डिपार्टमेंट में साझीदार बना कर आदरास्पद स्थान दिया था।

१ फूल बागान, हठकोला और बागबाजार का बाजार अब प्रायः बन्द-सा हो गया है।
२ यह फर्म सन् १९०० में कलकत्ता बेल्ड-जूट ऐसोसिएशन की सदस्य बनी थी।

रामचन्द्र जी बाजोरिया ने अपने दामाद सूरजमल जी को, नये निश्चय के अनुसार, इसी महत्वपूर्ण पाट-व्यवसाय में लगा देने का सूत्रपात कर दिया। आप ने बीकानेर के मेघराज जी कोचर के साथ उन्हें जूट की दलाली में खड़ा कर दिया। इस काम से दो लाभ होने लगे। यह काम फलते व्यापार का था, दूसरे प्रारंभिक परिचय बढ़ने के साथ, बाजार का नया अध्ययन सहज होने लगा था। इस विशिष्ट व्यापार के उत्तम व्यापारियों से व देशी-विदेशी अधिकारी-जनों के साथ उन की मिल-भेंट होने का सुयोग फलप्रद होने लगा, यही रामचन्द्र जी का बड़ा स्वप्न था। प्रतिदिन के कार्य पर वे निगाह रखते और सूरजमल जी को बराबर सत्परामर्श देते, उन्हें पाट के व्यापार के पेंच समझाते, पाट की बारीकियों से अवगत कराते। इस तरह सूरजमल जी ने पूरे एक वर्ष तक अथक परिश्रम किया। और इस अवधि में आप ने इस व्यवसाय के मर्म व रहस्यों का प्रत्यक्ष अनुभव किया। सन् १८६६ में आप की गतिविधि यही रही।

'दीपक' की बूझ-पहेली का एक बड़ा सरस दोहा राजस्थान में कहा जाता है। तेल तिलों में रमता है, जंगल में कपास उगती है, खाई में मिट्टी भरी रहती है और इन तीनों को एक स्थान पर निवास करना पड़ता है। भाग्य का यह चमत्कार अपने आप ही बूझो। बूझना क्या है, सरल सा उत्तर है कि वह दीपक है। इस बूझ-पहेली में भाग्यवान विजेता की जीवन की कहानी भरी हुई है। वही पहेली सूरजमल जी के जीवन में चरितार्थ होने आई थी। कर्मवीर ही खाई से मिट्टी खोदता है। वही दीपक की ज्योति के निमित्त रुई की बत्ती बंटता है और वही तिलों से तेल निकालता है। बंगाल में जूट उगता है, अंग्रेजों ने उसका निर्यात-व्यापार फलप्रद बनाया था। मारवाड़ी समाज ने कई करोड़ रुपया इस व्यापार में इस १६वीं सदी के पूर्ण होने तक झोंक दिया था। सूरजमल जी के लिए भी अब कर्मवीर बनने की कसौटी प्राप्त हो गई थी। वे उसी चमत्कार को फलप्रद करने के लिए अब सन् १६००में पूरे साहस के साथ पाट के व्यवसाय में उतर गये। भविष्य उनके साथ था, भाग्य का वरद्हस्त उनके साथ था। परिवार का और ससुराल का संबल उनके साथ था, जालान-वंश का पुण्य प्रताप उनके साथ था। व्यापार-क्षेत्र के मित्रों का साहाय्य उनके साथ था, उनका श्रम-यत्न उनके साथ था।

उड़ीसा में अल्प प्रवास, पुनः कलकत्ता में

[११]

सूरजमल जी पाट के क्षेत्र में एक विशेष गुण का परिचय प्रारंभ से ही देने लगे थे। आप बाजार के घटते-बढ़ते दरों पर जिस सतर्कता के साथ अध्ययन की गहराई की बात कहने लगे थे, उसी अनुपात में आप उच्चस्तरीय अधिकारियों को भी अपने संतुलित तर्कों से प्रभावित करने लगे थे। सात टोपीवालों के यहाँ आप जब भी अपने श्वसुर से भेंट करने जाते, तो वहाँ पर आपके गुरु-गंभीर वाणिज्य-ज्ञान से सेठ लोग भी प्रसन्न होते थे। रामचन्द्र जी का आदर-भाव उनके परिवार में क्योंकि निष्ठा के साथ था, इसलिए उनकी दृष्टि उनके इन जामाता पर भी पड़ने लगी और अपने व्यापार में ही इन्हें भी एक आदरास्पद स्थान देने का विचार वे करने लगे।

नया वर्ष आप के लिए नया प्रवास लाया। नया दायित्व लाया। नया कार्य लाया। लेकिन इस प्रवास में आप की जीवन-दिशायें नहीं बदलीं। कलकत्ता में आपके कार्यों की जमी हुई जड़ों को नया पोषण देने के लिए ही मानो यह प्रवास आयोजित किया गया। यह प्रवास सन् १९०० में हुआ। प्रवास में नया मनोबल प्राप्त हुआ करता है। आप को इसी मनोबल की प्राप्ति के लिए विधि ने मानो उड़ीसा की दिशा जाने का कार्यक्रम बना दिया।

कटक में कलकत्ता की बिशनदयाल हरदयाल फर्म की ब्रांच थी। वहाँ पर किरासिन तेल का काम और अन्य काम होता था। रामचन्द्र जी बाजोरिया की प्रेरणा से सेठों ने यह व्यवस्था स्वीकार की कि सूरजमल जी को वहाँ मैनेजर बना कर भेजा जाये, ताकि ब्रांच की स्थिति और मजबूत बन जाये। उनकी कार्यक्षमता से कलकत्ता में सब परिचित हो चुके थे, इसलिए यह कठिन दायित्व उन्हें दिया गया। यह एक मिशन था। सूरजमल जी ने इस मिशन को पूरे नौ-दस मास तक कटक में रह कर पूरा किया। उस के बाद रामचन्द्र जी का संकेत पाकर आप वापस कलकत्ता लौट आये। यहाँ पर स्वयं रामचन्द्र जी को अपने पाट-डिपार्टमेंट में अत्यावश्यक सहयोग की जरूरत थी। उड़ीसा में रहते हुए सूरजमल जी ने पहली बार पगड़ी धारण करना शुरू किया और उसके बाद आपने इस शिरोपरिधानका श्री-वरण आजीवन नियमित रखा। पगड़ी मारवाड़ी समाज की गृह-दीप्ति के तुल्य रही है।

आप जब वापस आये, बिशनदयाल हरदयाल फर्म का काम कई कारणों से बन्द हुआ। इन क्षणों में रामचन्द्र जी ने, दुर्गाप्रसाद चिरंजीलाल नाम से जिस पाट-डिपार्टमेंट का काम सम्हाल रहे थे, उसकी आर्थिक स्थिति को अनेक उपायों से चिंतनीय न बनने देने के लिए कठोर श्रम किया। इस कठोर श्रम में सूरजमल जी की भागादौड़ी भी इतनी अधिक रही कि वह बहुत दिनों तक पाट-क्षेत्रमें चर्चा का विषय रही। सूरजमल जी ने रात-दिन एक करते हुए जितना भी पावना था, वह ब्रोकरों से, मिल-मालिकों से, साहबों से और व्यापारियों से मिल कर उठा लिया। साथ ही जो देना था, वह भी बाकी न रहने दिया। रामचन्द्र जी चाहते थे कि गद्दी का काम बन्द हो रहा है, वह हो ले, लेकिन उनकी निजी प्रतिष्ठा बाजार में बनी रहे। सूरजमल जी को इस तरह व्यापक स्तर पर,जीवन में व्यापार की 'प्रतिष्ठा'के नये अर्थ मिले,इस मर्म-गर्भित भावना के नये रहस्य हाथ लगे। बादमे, आगे चलकर, आप ने व्यापार में इसी 'प्रतिष्ठा' को अपने जीवन का मूल मन्त्र बना कर रखा। साथ ही, आपने रामचन्द्र जी में जितना भी साहसिक मनोबल था, और उसका जो असाधारण परिचय वे समय-समय पर दिया करते थे, उससे भी बहुत कुछ सीखा। किस तरह अविचलित भाव से किसी कार्य की बिगड़ती हवा को अनुकूल रुख दिया जा सकता है,यह भी मनोनुकूल अध्ययन प्राप्त हो गया। इस से अधिक उत्तम अवसर भविष्य में कब और कैसे मिलता, इसकी संभावना की प्रतीक्षा करने का समय था भी नहीं। इस नाते, रामचन्द्र जी के जीवन के अंतिम क्षणों में जो घटना-क्रम पूरी तेजी के साथ घूमता रहा, उस में आप ने उन के दायें हाथ के रूप में अपने को व्यस्त रखा। सहयोगी से अधिक, आप उनके प्रिय प्राण बन कर रहे।

कलकत्ता में आप अब पुनः पाट की दलाली के सूत्रों को हाथ में थाम कर कुछ कार्य करने लगे। अब तक, रामचन्द्र जी के कारण, आप का संबंध जूट-क्षेत्र के प्रायः सभी प्रमुख व्यक्तियों से हो चुका था। इसलिए दलाली में कुछ सुविधा के साथ काम अधिक मिलने लगा। रामचन्द्र जी का अपना रुतबा था, अपना प्रभाव था, अपना दायरा था; वे निरंतर चौकसी रखते हुए, अपने इस जामाता के भविष्यकी नींव इस तरह जमा देना चाहते थे कि उनका अपना प्रभाव मुखर होने लगे और उसी के साथ उस प्रभाव का लाभ भी उन्हें व्यापार में और अधिक सुविधाओं के साथ अर्जित होने लगे।

कि विधि ने इस वरद् हस्त को सूरजमल जी से छीन लिया। जिन क्षणों में रामचन्द्र जी अपने जामाता के इस नये स्वतंत्र व्यापार में अधिक सहायक भी न हो पाये थे कि कराल काल ने उनको उठा लिया। संवत् १९५८ (सन् १९०१) की चैत बदी चौथ को कलकत्ता में उनका देहान्त हो गया। आयु अधिक न थी, रोग भी अधिक न भोगा था, लेकिन आयु काल के सामने अनायास पूरी होने

के लिए विवश रहती है। क्या उनकी योजनाएँ थीं, क्या वे भविष्य के लिए रच रहे थे, वह कोई कुछ न जान पाया। सूरजमल जी पर यह पिता जी के निधन से भी बड़ा आघात था। रामचन्द्र जी अनेक रूपों में उनके कलकत्ता–प्रवास का संरक्षण ही न कर रहे थे, उनके लिए निरंतर एक ऐसा स्थान बनाने की दीर्घसूत्री योजना प्रारम्भ कर चुके थे, जिसके पूर्ण होने पर वे कम से कम अपनी एक गद्दी स्थापित कर सकें। किन्तु उनके लिए विधाता ने मानो अब रामचन्द्र जी पर अधिक भार छोड़ना उचित न समझा। अब सूरजमल जी को वे 'एकला चलो रे' की कसौटी का पात्र बनाने का विधान रच रहे थे। पिताजी गये तो घरमें वे ज्येष्ठ पुत्र के नाते परिवार-पालक बनने के लिए अवश रह गये। अब दो वर्ष बाद, श्वसुर चले गये तो ससुराल में लोकपक्ष की दृष्टि से वे ही ऐसे जामाता रह गये, जिन पर इस परिवार की आशाओं का भरोसा भी टिक गया, ठहर गया।

रामचन्द्र जी अपने पीछे एक छोटी पुत्री, विधवा पत्नी, और गोद में ढाई वर्ष का बालक छोड़ कर गये थे। अपने हाथों वे अपनी दो पुत्रियों का विवाह कर गये थे। लेकिन एक प्राणी घर में और था और वह थी एक कुलशीला विधवा बालिका।

रामचन्द्र जी के जीवन में, परलोक-गमन से तीन-साढ़े तीन वर्ष पूर्व, एक ऐसी घटना घटी थी कि उनके परिवार में इस विधवा बालिका का स्थान निश्चित सा हो गया। पूरे ३५ वर्ष तक रामचन्द्र जी को जब कोई पुत्र प्राप्त न हुआ, तो आप ने निराश होकर बद्रीदास नामक एक बालक को गोद ले लिया था। आपने उसका विवाह भी रचाया और पुत्रवधू को घर में ला कर आप संतोष के साथ जीवन बिताने लगे। लेकिन विधि को अपने हाथों आयोजित उनका यह परिवार-संतोष रुचिकर न लगा।

विधि के रचनाक्रम विचित्र होते हैं, मनुष्य के जीवन में वे आकस्मिक हर्ष की रचना ही नहीं कर जाते, एक अकल्पनीय सौभाग्य का प्रतिदान भी रच जाते हैं। बद्रीदास के दत्तक लेने के कुछ ही मास बाद रामचन्द्र जी को, आखिर लम्बी निराशा के बाद, एक पुत्र-रत्नकी प्राप्ति हुई। बड़े उत्साह के साथ आपने परिवार में इस जन्म पर हर्ष मनाया, पास-पड़ोस भी इससे हर्षित हुआ, शिशु की ज्येष्ठ बहनें भी हर्षित हुई। शिशु की माता के हर्ष का तो ठिकाना ही न था। पर इस हर्ष की धूमधाम में केवल एक प्राणी ऐसा था, जो यह समझ न पा रहा था कि वह हर्ष किस भावना के साथ मनाये। रामचन्द्र जी विवेक की दृष्टि से परम ज्ञानी थे, भावनाओं की दृष्टि से बहुत पहुँचे हुए आप्त पुरुष थे; व्यवसाय में उनका यथार्थ ज्ञान उन सबके लिए ग्रहणीय था, जो उनसे पहले इस क्षेत्र में बहुत अग्रणी हो चुके थे। जिसे वे विश्वास देते थे,उससे केवल यही आशा करते थे कि वह अन्य को भी सत्य विश्वास दे। इस नाते, जिस पुत्रवधू ने अपना तन,मन,आशा-निराशा इस घर की चहारदीवारी में ही सीमित कर दीं, उसके लिए भी इस पुत्र के जन्म-समय हर्ष का अंश रहना चाहिए। अब घर में दो पुत्र हो गये। रामचन्द्र जी इस भगवत्कृपा पर फूले न समाये। लोक-समाज में इस घटना ने एक आश्चर्य व्याप्त कर दिया। सब के मन में एक जिज्ञासा भर गई कि अब रामचन्द्र जी इस दत्तक पुत्र के प्रति कैसा व्यवहार बरतेंगे। यद्यपि किसी ने उनसे यह प्रश्न नहीं किया था, पर वे तो एक आदर्श पुरुष थे और इस मामले में एक अद्भुत आश्चर्य स्थापित कर देना चाहते थे। किसी ने भी जो कल्पना न की थी, रामचन्द्र जी ने वही एक आदर्श के रूप में रामगढ़ में कर दिखाया। परिवार की नयी मर्यादा कुशलतापूर्वक नियोजित कर दी, आपने अपने पुत्र के जन्म लेने के तीन-चार मास बाद ही उसे बद्रीदास जी को गोद दे दिया और स्वयं बद्रीदास को ही अपना परम प्रिय स्थानीय पुत्र मान्य रखा!

रतनगढ़ में इस अलौकिक व्यवस्था पर बड़ा संतोष था। किन्तु शीघ्र ही सब लोग दुखी हो गये। कराल काल ने बहुत जल्दी बद्रीदास को छीन लिया। इस आकस्मिक घटना से सारे घर में शोक छा गया। रामचन्द्र जी को भी आघात लगा। उसके कुछ दिन बाद लक्ष्मीबाई भी जाती रहीं। अब आपने अपनी इस विधवा पुत्र-वधू को और भी अधिक स्नेह देना प्रारंभ कर दिया।

समाज को जब यह पता चला तो वे कृत-कृत्य हो गये। रामचन्द्र जी की इस अतिशय उदारता से सभी बहुत प्रभावित हो गये। और, इस नवजात पुत्र का सौभाग्य भी देखिए कि क्या तो इस गृह में एक पुत्र का जन्म दुर्लभ-सा हो गया था, और पुत्र हुआ तो उसे जन्मते ही दो मातायें, सम्पूर्ण लौकिक अधिकारों के साथ, उसे गोदी में खिलाने के लिए तत्पर प्राप्त हुईं। इस नवजात पुत्र का नाम नागरमल रखा गया।

जब रतनगढ़ आबाद हुआ था, तो नये अतिथि नागरिक के रूप में रामचन्द्र जी के पिता रामनारायण जी बाजोरिया भी आकर बस गये। रतनगढ़ से दक्षिण दिशा में, सीकर के निकट, हर्ष-पर्वत के पास बाजोर ग्राम है। वहीं के वे मूल निवासी थे। उसी ग्राम के नाम पर वे बाजोरिया कहलाये। रामचन्द्र जी आप की इकलौती संतान थे। रामचन्द्र जी की धर्मपत्नी नारायणी बाई सीकर के लोहिया-वंश की वरद् पुत्री थीं।

रामचन्द्र जी के बाद, घर की सारी बागडोर नारायणी बाई ने अपने हाथों में संभाल ली। कहना चाहिए, रामचन्द्रजी के बाद, नारायणी बाई ने ही अलौकिक रूप से इस बाजोरिया-परिवार की नई प्राण-प्रतिष्ठा इस तरह की कि उसका यश दो पीढ़ियों से लोक-समाज में व्याप्त होता हुआ चला आ रहा है!
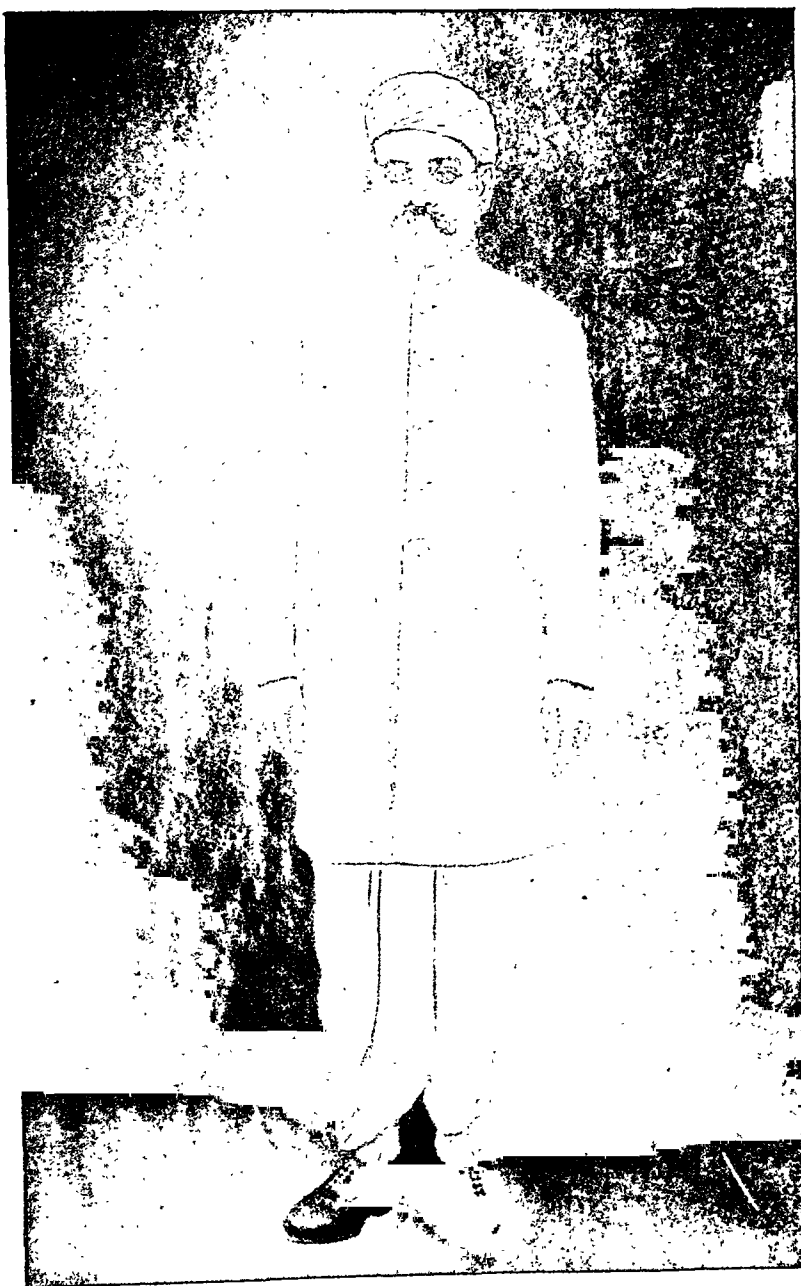
सेठ बैजनाथ जालान
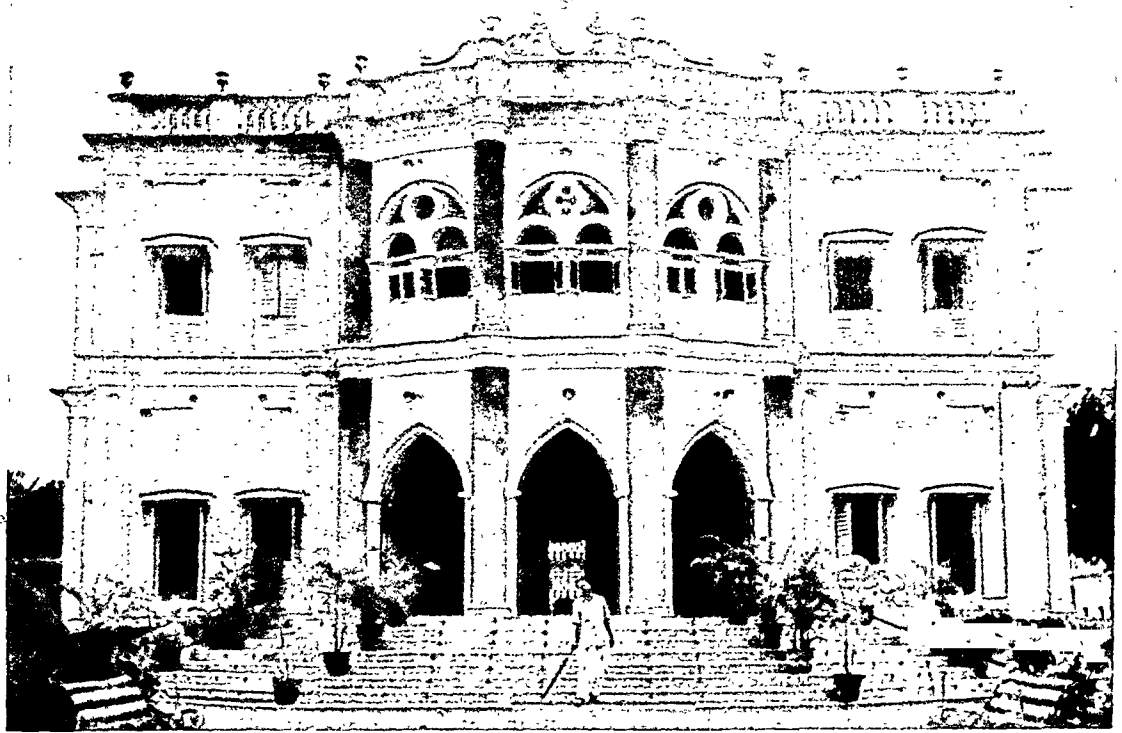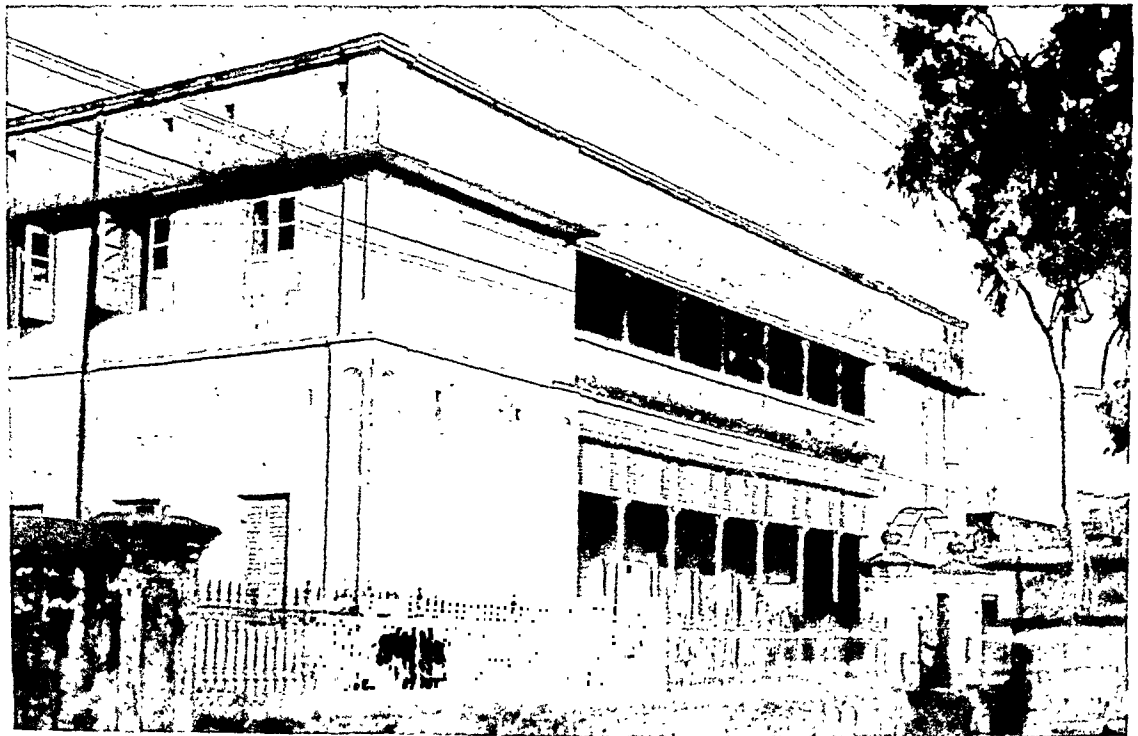
श्री रामचंद्र जी बाजोरिया के निधन-उपरान्त

शं च मे मयश्च मे, प्रियं च मे ऽनुकामश्च मे।
कामश्च मे सौमनसश्च मे, भगश्च मे द्रविणं च मे।
भद्रं च मे श्रेयश्च मे, वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। (यजुर्वेद १८,८)

—मेरा सुख और मेरा आनन्द यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो। मेरी प्रीति का विषय और मेरी अनुकूलता का विषय यज्ञ द्वारा समुन्नत हो। मेरी चाहना और मेरी चाहभरी मन की भावना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो। मेरा ऐश्वर्य और मेरा वैभव यज्ञ द्वारा समुन्नत हो। मेरा भद्र और मेरा कल्याण यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो। मेरी कीर्ति और मेरा यश यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो।

[१२]

सन् १९०१ में सूरजमल जी की आयु मात्र २० वर्ष की थी, इस आयु में व्यक्ति का बालपन पूरी तरह रीता नहीं हो लेता है। किन्तु कठिन भाग्य की कसौटी जिसे १५ वर्ष के बाद से ही मिलती आ रही हो, उसे २० वर्ष की आयु में जीवन का चिंतनीय आघात मिला तो कैसे उसे आकस्मिक कहा जाए। १६ वर्ष की आयु में जीवन-नौका को खेने के लिए वे अकेले परदेश में आए। १८ वर्ष की आयु में पिता का वरद् हस्त सिर पर से उठ गया और अब ढाई वर्ष बाद एक भरोसे का सहारा तक न रहा, श्वसुर की छत्र-छाया भी न रही। स्थिति ऐसी हो गई, मानो माटी बिना लीक की हो!

रामचन्द्र जी का निधन बाजोरिया-परिवार पर एक वज्र-प्रहार के तुल्य था। उनके पीछे केवल विधवा पत्नी बची थी, और एक कन्या व ढाई वर्ष का बालक। इनके अतिरिक्त स्वर्गीय बद्रीदास जी की विधवा पत्नी भी थीं।

सूरजमल जी अविलंब रतनगढ़ पहुँचे। आपने शोक-संतप्त परिवार को सांत्वना दी। और ऐसे क्षण में जो भी आवश्यक कर्म होते हैं, उन सब का भार अपने ऊपर ही ले लिया। श्वसुर-गृह में सूरजमल जी का स्थान ही ज्येष्ठ पुत्र के तुल्य था। श्राद्धकर्म पूरे उत्साह के साथ सूरजमल जी ने ही कराया और रामचन्द्र जी की सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप भोज व लड्डुओं की ब्रह्मपुरी कराई।

जिस तरह की सामाजिक परिस्थितियाँ राजस्थान में बनी हुई थीं, उसमें परोसगीरी के समय पत्तलों का बिछाया जाना प्रारंभ नहीं हुआ था। यदि पूरी-साग की परोसगीरी होती तो, चाहे वे ब्राह्मण जन हों अथवा अन्य जन, थाली अपने साथ लाते। लोटा तो दोनों अवस्थाओं में, सूखी या गीली परोसगीरी के समय, साथ लाना जरूरी रहता। गलियों में अथवा मुख्य रास्तों पर बिना किसी फर्श-बिछावन, सब उकडू बैठ जाते, लोटों में पानी परोसा जाता और जब केवल लड्डुओं की परोसगीरी होती तो कर-पात्र (हाथ की अंजलि!) में वे चार-चार या आठ-आठ लड्डू संभाल लेते। बाल्टियों में लड्डू रखे जाते। बाल्टी लेकर परोसनेवाले, जिनके करपात्र रिक्त हो लेते, उनमें और लड्डू रख देते।

लड्डुओं की ब्रह्मपुरी का माहात्म्य था, आर्थिक सम्पन्नता का उससे पूर्वभास मिलता था। लपसी और सीरे की ब्रह्मपुरी भी की जाती, लपसी में घी का व्यय साधारण होता, सीरेमें घी उदारभाव से जीमनेवालों को अपने दर्शन देता था। लपसी का स्वाद वे ही ले पाते, जो लपसी को उत्तम व्यंजन समझते, सीरे का स्वाद उन्हें आनंद देता, जिन्हें लपसी के खाने में एक निम्न स्तरीय भोजन की सी झिझक महसूस होती। स्तर-भेद दोनों में पाकशास्त्र का उतना न था, जितना सामाजिक स्तर का। पर यह सत्य है कि लपसी अति-रेकानंद के लिए बस स्निग्ध धारा में तरल भाव से बहती हुई जिह्वा को नैसर्गिक मधुरता का स्नान करा दिया करती थी! कहावत कुछ इस तरह भी है कि लपसी उसे गहे, जो लपसी में बहे।

कर्तव्यपरायण के रूप में, रतनगढ़ में सब ने अनुभव किया कि, सूरजमल जी ने एक नया आदर्श उपस्थित किया है। ससुराल में मात्र श्राद्ध आदिमें सहयोग देना एक साधारण लौकिक कर्तव्य है। किन्तु, जब कि इस गृहमें अब ज्येष्ठ व्यक्ति कोई नहीं रह गया था, सूरजमल जी ने अपने गृह के समान ही इस गृह पर भी अपने ज्येष्ठ भावका सबल हाथ घनिष्ट आत्मीयता के साथ बढ़ा दिया था। उस ज्येष्ठ भाव को उन्हों ने आजीवन, व्रत की तरह, नियमित रखा।

श्राद्ध-कर्म आदि सब से निवृत्त होकर आप एक दिन अपने घर पर बैठे हुए थे कि रतनगढ़ के कुछ परिचित मित्र आप से मिलने आये। उन्होंने जब रामचन्द्र जी के असामयिक निधन पर दुख प्रकट किया तो सूरजमल जी ने कहा, "जो दुख है, वह भी प्रभु की इच्छा है। अग्नि से ही यज्ञ होता है, अग्नि से ही यज्ञ करने वाला पुरुष भी होम होता है। इस मर्त्य-लोक में हम केवल यज्ञ करने आये हैं। प्रभु जितना यज्ञ इन हाथों से करा ले, वह कम है।"

चिन्मय, सत्य-स्वरूप परब्रह्म को नमस्कार !

[...ग्नुख ब्रह्माजी, १५ वीं सदी, उदयपुर]

यल्ला भान्नापरो लाभः यत्सुखान्नापरं सुखम् ।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।
यद् दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।
तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
अनन्तं नित्यमेकं यत्तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।। (आत्मबोध)

—ब्रह्मा जी को सम्बोधित कर कहा गया है, कि जिस लाभ से अधिक लाभ और नहीं है, जो सुख और आनंद सर्व श्रेष्ठ है, जिस ज्ञान से अधिक विशेष ज्ञान नहीं है, वही ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित है। और जिसका दर्शन करने से अन्य दृश्य अवशेष नहीं रह जाता, तथा जिसके होने से नर-जन्म नहीं होता, जिसका ज्ञान हो जाने पर कुछ भी अज्ञेय नहीं रहता, वही ब्रह्म है। जो पूर्ण हैं, सत् चित्त और आनंद से युक्त हैं, अद्वय हैं, सदा नित्य और एक हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म हैं।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेस्वभिज्ञः स्वराट् ।
तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।।
तोजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा ।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।
(भागवत १-१-१)

—जिनसे इस दृश्यमान जगत में जन्म-स्थिति और लय हो रहा है, जिनकी सृष्टि वस्तुमात्र में तद्रूप में विद्यमान है, तथा जो तेज, जल और आकाश आदि में तात्विक विधान से युक्त हैं तथा जो सत्व, रज और तम इन गुण त्रय से भी युक्त हैं, परन्तु रज गुण ही सृष्टि का प्रधान कारण है, उस सत्य-स्वरूप परब्रह्म को नमस्कार है।

सावित्रीवामपार्श्वस्था दक्षिणस्था सरस्वती ।
सर्वे च ऋषयो ह्यग्रे कुर्यादेभिश्च चिन्तनम् ।।
(कालिकापुराण ८२)

—ब्रह्माजी के ज्योति-मंडल में सरस्वती वाम पार्श्व में और दक्षिण पार्श्व में सावित्री निवास करती हैं, हंस और पद्म से जो युक्त हैं, ऐसे सृष्टि के कारण ब्रह्म को प्रणाम है।

सुवर्णाभदिव्याम्बरैर्भासमानां
क्वणत्किंकिणी मेखला शोभनाम् ।
लसद्धेमपट्टेन विद्योतमानां
कटिं भावये स्कन्द ते दीप्यमानाम् ।।
(सुब्रह्मण्यभुजंगम, श्री शंकराचार्य की कृतियां, भाग १७)

—जो सुवर्ण कान्ति से युक्त आकाश के समान परिव्याप्त, संपूर्ण सृष्टि के कारण-स्वरूप हैं, जिन्होंने अपनी कला-कुशलता से अखिल विश्व का निर्माण किया है, ऐसे ही परात्पर ब्रह्म जीव और अखिल लोक के नायक को नमस्कार है।

श्री मल्लीनाथ

केसर-काली पर आरूढ़ पाबूजी

श्री हरबूजी सांखला

[मंडोर में शिला-अंकित देवी-देवताओं का अंकन

तृतीय परिच्छेद

अलौकिक उपहार का प्रेरक बल

●

भगस्य रातिमीमहे। [ऋ० ३-६२-११]

—हम ऐश्वर्य की प्राप्ति करते हैं।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा, भद्रं पश्येमाऽक्षभिर्यजत्राः [ऋ० १-८९-८]

—हे देवताओ, हम कानों से भला सुनें। हे पूजनीयो, हम आँखों से भला देखें।

देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्। [ऋ० १-८९-२]

—हम ने देवताओं की मित्रता लाभ की है।

●

[१३]

बड़े-बूढ़ोंकी यह उक्ति नितान्त सत्य है कि हमारे पूर्वज या तो अपनी सम्पत्ति विरासत में छोड़कर जाते हैं, या पुण्य—इतना बल-वर्द्धक पुण्य कि वह हमें आजीवन ओज और पुष्टि से धन्य-धन्य रखता है। विरासत में मिली पूंजी क्षय को प्राप्त हो सकती है, किन्तु पूर्वजों का दिया हुआ पुण्य कभी भी क्षय को प्राप्त नहीं होता, वह एक-दो पीढ़ी तक अपना अलौकिक संरक्षण बनाये रखता है। वास्तव में यही पुण्य हमें अलौकिक उपहार के रूप में प्राप्त हुआ करता है। जो इस ओर दृष्टि उठाकर कृतज्ञ भाव से विनीत रहते हैं, वे इस उपहार के प्रेरक बल से बली बने रहते हैं, जो इस ओर अपने ज्ञान-चक्षु नहीं खोल पाते, उन पर इस वरेण्य बल की कृपया यत्किंचित ही हो पाती है।

रामचन्द्र जी चले गये तो सूरजमल जी उनके गुणों की ओर कलकत्ता में उन का व्यक्तित्व कितना स्तुत्य हुआ था उसी की चर्चा करते नहीं अघाते थे। एक मेधावी जामाता के रूप में आप नारायणी बाई को धैर्य बँधाते और नागरमल को अपनी गोद

में खिलाते हुए यही कहते, "वंश-दीप तो यही एक वहुत । यही अपने कुल का नाम ऊँचा करने के लिए काफी होगा । कुल-दीपक का क्या छोटा, क्या बड़ा। कुल-दीपक की तेल-बाती भगवान बनाये रखे, ज्योति तो अपना प्रकाश फैलाती रहेगी ।"

ब्राह्मण-भोज आदि जव रतनगढ़ में पूरा कर लिया गया तो रमाबाई ने एक दिन अपनी माता जी को समझाया कि आप को भी अब यहाँ एकान्त में नहीं रहना चाहिए । आप कलकत्ता चलें। वहाँ मकान है ही । जो सेवा मुझ से होगी, वह आपकी करती रहूँगी । ऐसा ही आग्रह सूरजमल जी ने भी किया ।

रतनगढ़ पैतृक भूमि की दृष्टि से उत्तम स्थान है । जीवन-सुविधाएँ भी आसपास के गाँव-कस्बों से अधिक हैं । किन्तु जीवन का प्रचुर संरक्षण वहाँ दीर्घ अवधि तक सहेजा हुआ बना रहे, यह अवश्य कठिन है । नारायणी बाई केवल कुल-लक्ष्मी ही न थीं, वे अपने पति के प्रारब्ध का उत्तम नियोजन भी करती रही थीं । अब उन्हें यह एहसास होते देर न लगी कि विधाता ने जो रच दिया है, उससे निराश और दुखी होने से काम न चलेगा । अब तो अपने पैरों पर खड़े होकर चलना होगा और अपने हाथों किये कुछ करना होगा । यह रतनगढ़ एकाकी स्त्री को सहायक कैसे हो पायेगा ? कलकत्ता में ही भविष्य का मार्ग खोजे मिल सकता है । नागरमल जी के पिता के मित्रों की संख्या कम नहीं है । रतनगढ़ के गनेड़ीवाला जी भी वहीं कलकत्ता में हैं । और रमा बाई व सूरजमल जी भी वहीं हैं । सगे-सम्बंधियों की जो दुनिया है, वह कलकत्ता में है—वहीं भरोसे का जीवन चल सकेगा । इन विचारों के साथ नारायणी बाई जी अपने बच्चों और वहू को लेकर कलकत्ता चली आई । जिस मकान में अब तक वे रहती आ रही थीं, उसी में निवास स्थिर रखा ।

रमाबाई नियमित समय पर जा कर माता की सेवा करतीं । नागरमल को अपनी गोदियों में खिलातीं । सूरजमल जी घर-गिरिस्ती की जिम्मेदारियाँ संभालते । नारायणी बाई के पास अब केवल आशीष के सिवा और क्या शेष रह गया था । हृदय से वही देतीं और कहतीं, "भगवान, तुम दोनों की जोड़ी बनाये रखें, वस, अब मेरा यही सुख वहुत है । नागरमल भी उसी सुख में सुखी रह लेगा ।" जब वे यह बात पूरा कर लेतीं, एक दिव्य तेज उनके माथे पर प्रकाशित हो उठता ।

रामचन्द्र जी ने थोड़ी सी पूंजी अवश्य कलकत्ता के व्यापार से बचाई थी, लेकिन वह इतनी न थी कि इसका अधिक भरोसा रखा जाता । भरोसा तो अब यही था कि उनके जामाता सूरजमल जी किसी तरह उस पूंजी को फलीभूत करें और उसके सहारे नागरमल के भविष्य को आश्वस्त कर दिया जाये ।

स्वस्थ और दृढ़ भाव से उन को सासू जी ने एक दिन सूरजमल जी को अपने पास बुलाया । आज उनके मुख पर एक अलौकिक भाव था, दिव्य मनोबल था । नारायणी देवी केवल साध्वी ही नहीं थीं, वरन् आपत्तियों में दूर की बात सोचने की उन में अपूर्व शक्ति थी । शोक-संतप्त बने रहने से लाभ न था, शोक पर विजय पाने से ही जीने का नया अध्याय दुखी हृदय को राहत पहुँचा सकेगा । यों अन्य नाते-रिश्तेदार थे, लेकिन इस गहरे दु:खमें तो भविष्य बस अंधकारमय लगता था । नारायणी देवी ने भारी हृदय से अपने आंसुओं को रोक कर कहा, "अब इस परिवार की आगे क्या गति भगवान को और करनी है, यह तो वह जाने । पर तुम को एक काम करना है । नागर के पिता जी थोड़ी सी पूंजी छोड़ गये हैं । वे तुम को काम भी दिखा गये हैं । ये दस हजार रुपये मेरे पास अभी हैं । नागर का भाग्य होगा तो इन से नया काम चल निकलेगा । पाट के काम में इन्हें लगा दो ।"

सूरजमल जी को जब सासूजी के बढ़े हाथ में वे १००००) रुपयों के नोट दिखाई दिये, तो सहसा ही यह एहसास हुआ कि जैसे ज्योतिपुंज अपनी दिव्य चमक झलका कर अदृश्य हो गया है। वे हर घड़ी भगवान का सुमिरण करते थे, हनुमान जी उनके इष्ट थे । उन रुपयों को स्पर्श करने से पहले उन्हों ने अपने इष्ट का स्मरण किया,मानो वे ही आज यह राशि उन्हें किसी निगूढ़ रहस्य के साथ दे रहे हों । मानो आज उनकी वहुत दिनों की एक साध पूरी हो रही हो । उन्होंने वे रुपये ले लिये और नारायणी देवी से केवल यही कहा, "नागर अब आपका ही टावर नहीं है, अब वह मेरा भी अंग है । यह सम्पत्ति उस की है, मेरे पास धरोहर के रूप में रहेगी, यह मैं कहता हूँ ।"

सासू जी ने वस मौन आशीर्वाद दिया और भारी हृदय से वे आगे कुछ न बोल सकीं । जिस जामाता में घनीभूत विश्वास कर अपनी कन्या का भार उन्हें सौंपा था, अब वे पूरे परिवार का भार उठाने के लिए सहर्ष तत्पर हैं, तो इससे बड़ा सुख इस महादु:ख में और क्या हो सकता है ? गृह-स्वामी के चले जाने के वाद से एक गहरा विषाद हावी हो रहा था, वह सहज भाव से दूर हो गया। हृदय से धर्म-माता ने उन्हें सफल होने का आशीर्वाद दिया और बड़ी आशाओं से आश्वस्त होकर उन्हें विदा किया ।

सूरजमल जी को आर्थिक सहयोग जो मिला, तो उनका पथ प्रशस्त हो गया । पर उनकी गंभीरता में अन्तर न आया । श्वसुर-गृह से जो आंशिक सामर्थ्य प्राप्त हुई थी, वह एक नया दायित्व लेकर आई थी । धन की धरोहर थी, और निकटतम परिवार की निधि थी, उसे बीज रूप में व्यापार-क्षेत्र में आरोपित करना था । सादगी से जीवन बिताने का आनंद वे अवश्य ले रहे थे । कलकत्ता में उतरते-चढ़ते क्लिष्ट व्यापार की पेचीदगियों में कर्मठ युवक के रूप में सारा कार्य अपने हाथों से करने का सुख भी भोग रहे थे । ऐसे क्षणों में परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों के संरक्षण से अधिक

चिंतनीय भार अब एक अल्पवयस्क बालक का उन्हें मिला है। आज घर जब पहुँच गये, तो उन्हें गोदी में ललकते हुए शिशु नागरमल की मूरत विस्मृत न हुई। अब वह मानो उन्हीं का पुत्र हो! उसके भरण-पोषण का भार जैसे भाग्य ने उनके ऊपर धर दिया हो। मौन भाव से यह विधि-विधान उन्होंने शिरोधार्य कर लिया। भाग्य के प्रति उनकी निष्ठा अब सफल हुई थी। नये अभियान के लिए अदृश्य हाथों ने वह उपहार भी अभी तक के श्रम की क्षतिपूर्ति के लिए ही दिया था। अदृश्य शक्ति के हाथों दिये उपहार का एक अर्थ वैसे भी क्षतिपूर्ति हुआ करता है। उस उपहार से वे सचमुच उपकृत हो गये। जीवन का नया दीपक प्रोत्फुल्ल भाव को प्राप्त हो गया।

अकल्पनीय रूप से नागरमल जी की माता जी ने सूरजमल जी को स्वतंत्र व्यापार करने के लिए जो बड़ी राशि प्रदान की, तो चिम्मनलाल जी गनेड़ीवाला के सत्परामर्श ही वह रुपया दिलवाया गया था।

चिम्मनलाल जी का आत्मीय भाव रामचन्द्र जी के साथ बहुत पहले से चला आ रहा था। वे रामचन्द्र जी से आयु में छोटे थे और नागरमल जी की माता जी को भाभी जी कहा करते थे। जब उन का निधन हुआ तो उनकी जमा पूँजी के ट्रस्टी चिम्मनलाल जी थे।

सूरजमल जी स्वयं कर्मठ थे और प्रति प्रहर व्यापार में दत्त-चित्त रहते। उन्होंने अब, सन् १९०२ के बाद से, खुदरा काम कम कर दिया था और कलकत्ता में ही रहते हुए, पाट की आढ़त को ज्यादा बल देना प्रारंभ कर दिया था। मुकामों से पाट मंगवाते और यहां मिलों को और बेलरों को बेच देते।

इस राशि के देने के बाद, जब घाटा आया, तो चिम्मनलाल जी को यह प्रिय न लगा, लेकिन सासू जी ने यही प्रश्न किया कि जो रुपया खोया है, वह व्यापार में खोया है, या किसी दूसरे काममें? उन्हें बताया गया कि व्यापार में, तो उन्होंने चिम्मनलाल जी के पास संदेश भिजवाया कि व्यापार में रुपया खोया गया है, इसलिए और रुपया उन्हें दे दिया जाये। १०हजार रुपया और दे दिया गया।

इससे ही पहले सूरजमल जी को काफी लाभांश प्राप्त भी हो गया, और उसी जूट से प्राप्त हुआ, जिस से एक मास पहले क्षति का मुख देखना पड़ा था।

प्रारंभ में सूरजमल जी का संबंध इस तरह क्रमशः चिम्मनलाल जी से बढ़ा। नागरमल जी की माताजी के निगूढ़ ममत्व को देखते हुए, उनका स्वाभाविक स्नेहभाव भी सूरजमल जी के प्रति घनीभूत होने लगा। उन्हें व्यापार में सत्परामर्श भी वे देने लगे।

चिम्मनलाल जी गनेड़ीवाला रतनगढ़ के यशस्वी व्यक्ति थे। वहां की पंचायत में उनका गणनीय स्थान था। अन्य पंचों में श्री जुहारमल जी खेमका, जेठमल जी नवलगढ़िया, सम्पतराय जी भरतिया और ताराचन्द जी जालान थे। किन्तु चिम्मनलाल जी ने इन सबसे अधिक नाम पाया। कलकत्ता में मारवाड़ी ऐसोसिएशन के नेतृत्व की स्थापना में उनका महत् योगदान आज तक स्मरणीय है। जो चपकनिया पार्टी थी, उसके प्रमुख चार व्यक्तियों में से वे एक थे। बुद्धि के दैत्य न थे, लेकिन उससे कम भी न थे। उनके बारे में कहा गया है कि गनेड़ी गाँव की धुंआ जब गहरी हुई तो वह चिम्मन की चिमनी में से निकली! यों हैदराबाद और लक्ष्मण-गढ़ में भी गनेड़ीवाला प्रसिद्ध वंश हुए हैं।

जब नियमित रूप से काम में आंशिक वृद्धि होने लगी तो आपने १९२ सूतापट्टी के दूसरे तल्ले पर 'सूरजमल नागरमल' नाम से गद्दी की स्थापना की। (सन् १९०३ में) रथयात्रा के ऊपर आषाढ़ सुदी दूज, संवत् १९६०, को बसना करना प्रारम्भ किया। नागरमल जी छावछरिया लक्ष्मणगढ़ के निवासी थे और प्रारंभ में रामचन्द्र जी बाजोरिया के साथ काम किया करते। अब उन्होंने सूरजमल जी के साथ इस काम का भार उठाना शुरू कर दिया।

सन् १९०३ से लेकर १९०५ तक गद्दी के काम में निरंतर आंशिक लाभ प्राप्त होता रहा। अब स्थिति यह थी कि श्वसुर-गृह से प्राप्त राशि का लाभांश भी उस परिवार के भरण-पोषण के लिए आपने नियमित रूप से देना प्रारंभ कर दिया था। जो स्वयं का लाभांश था, उसमें कुछ बचाने का क्रम निभाते रहे। और एक दिन आप उस गद्दी पर पहुँचे, जिस की देनदारी पिताजी के जीवनकाल में आसाम के व्यापार की उगाही रुकने से रह गयी थी। इस तथ्य से पता चलता है कि वे किस धर्म-निष्ठा भाव से अपना जीवन चला रहे थे। पितृ-ऋण का चुकाना उन्होंने बराबर अपना सर्वप्रथम कर्तव्य निर्धारित कर रखा था। शास्त्रों में पितृऋण के चुकानेवाले पुत्र का यश गाया गया है। जिस दिन पितृऋण चुकता हो गया, उस दिन सूरजमल जी के कंधों से एक असह्य भार उतर गया। ईश्वर के तईं विनीत बने हुए उन्होंने उस दिन पिता जी का स्मरण किया और उन्हें प्रतीत हुआ, मानो वे ऊपर से उन्हें भूरि-भूरि आशीर्वाद दे रहे हों।

इस आशीर्वाद का एक महत् प्रतिफल सूरजमल जी को पुण्य भाग्य के रूप में प्राप्त हुआ। विवाह हुए यद्यपि ग्यारह वर्ष हो चुके थे, लेकिन जो दो-तीन संतानें हुईं, उनमें से एक भी जीवित न रही। सन् १९०५ में इस बार एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। इस पुत्र का नाम मोहनलाल रखा गया। इस पुत्र के शुभ जन्म से नई दैवी घटनायें अपना दर्शन देने लगीं। इसी वर्ष व्यापार का इतना अच्छा लाभ हुआ कि आप ने पाट-व्यवसाय के दूसरे अध्याय में प्रवेश करने का संकल्प कर लिया। व्यापार में आपका ऐसा ही दृढ़ मनोभाव प्रशस्त दिशाओं की ओर अग्रसर हो रहा था। आपकी गति की प्रबलता स्वयं बहुमुखी होने लगी।

परिवार की नई कीर्ति-लता

●

देव सवितः प्रजावत् सावी : सौभगम् ।। (ऋ ५, ८२, ४)

—हे सवितः देव, हमें प्रजा भी दे और साथ में ऐश्वर्य (भी) दे।

●

[१४]

अपने जीवन का तृतीय परिच्छेद जब सूरजमल जी ने प्रारंभ किया,तो वे एक यज्ञ-भाव से उद्यत हुए। उनकी यह यज्ञ-रचना शीघ्र ही किस तरह आनंदभाव से भर गयी, यही बात आगे के पृष्ठों में हम प्रस्तुत करेंगे।

सन् १६०१ तक मारवाड़ी समाज के परिवार पारस के तुल्य रहते चले आ रहे थे। राजस्थान के अपने गाँवों में या प्रवास में स्वर्ण का और धन का अर्जन करते थे और स्वर्ण का फहराता हुआ ध्वज सभी परिवार-सदस्यों के हाथों में रहे, इस की सिद्धि के लिए यह अनिवार्य समझते थे कि सभी को अपनी पारिवारिक परम्पराओं का मूल मंत्र कंठस्थ करा दें ताकि उन्हें भी पारस-संस्पर्श का सुख नसीब होता रहे। हर व्यक्ति स्पर्श-मणि बन जाये, यह साधना समाज में सर्वोपरि थी, पारयिष्णु थी, भ्राजिष्णु थी। मारवाड़ी समाज की पहली सामाजिक परम्परा यही थी कि उस के सभी सदस्य आर्थिक सम्पन्नता से सशक्त बने रहें।

व्यापार में जब सूरजमल जी सुस्थिर हुए तो आपने अपने पारिवारिक दायित्वों को पूरा करने की दिशा में कदम बढ़ाये। दो बहनें और दो भाई तो अपने ही परिवार में थे, और एक पुत्र तथा एक कन्या ससुराल में थी। इस तरह इन सब बच्चों के विवाह संपन्न करने थे।

परिवार जीवन की रूक्ष गुणा-बाकी नहीं है। परिवार किसी जंगल में उपजनेवाला अनाथ उद्यान भी नहीं है। परिवार वही, जिसकी शोभा हो,जिस के नाम मात्र से हृदय में प्रकर्ष की भावना का उदय अनायास हो जाये। उत्तम परिवार के लिए उत्तम गृहपति की आवश्यकता होती है। परिवार का मूल्य परिवार में निहित नहीं रहता, वह समाज अपने अंतराल में स्थिर करता है। उसी मूल्य से समाज का गर्व बढ़ता है, गौरव बढ़ता है और कुलशील बढ़ता है और उसी मूल्य से भविष्य की संतति को जीवन का और भी उत्तम सुख नसीब होता है। सूरजमल जी अपने जीवन में केवल व्यापार ही नहीं कर रहे थे। अपने प्रारब्ध के भरोसे शुष्क व्यापारी भर न थे। वे सुबह से शाम तक व्यापार के अतिरिक्त अपने परिवार का निर्माण कर रहे थे। उन्होंने अपनी और अपनी पत्नी के सारे सुखों को परिवार की नींव में इस तरह लवलीन कर दिया था, जिस तरह जमीन में बने हुए ईंटों के कच्चे भट्टे को पकाने के लिए निर्धूम अग्नि लवलीन हो जाती है। ख्याति-प्रिय वे न थे, पर परिवार के गुणों की अनुकूल वृद्धि हो, इसके लिए सतर्क प्रहरी बन कर रहते थे। सन् १६०० से मारवाड़ी समाज में धनका प्रवेग बड़े प्रबल रूपसे गर्भित हो रहा था, और उसी अनुपात में परिवार में संयुक्त भाव से मिल-जुल कर रहने की मर्यादायें भग्न होने लगी थीं। सूरजमल जी ने इसके विपरीत, अपने बुद्धि-कौशल से जिस धन का उपार्जन किया था, उसे वे एक बलशाली परिवार के निर्माण में उलीचे जा रहे थे। उस कारण को समझ लेना उचित होगा।

सूरजमल जी वैश्य परिवार में जन्मे थे और बालपन में उन्होंने धनका अमोघ यंत्र न देखा था। धन की अतिरिक्त गरिमा से वे भाग्यशाली बनकर न जन्मे थे। वैश्य के लिए प्रचुर धन इस लिए चाहिए, क्योंकि उससे व्यापार का हल चलता है। धन वैश्य के हाथ में कृषि-धन बैल की प्राणवत् शक्ति बन कर रहता है। मुगल-काल में देशके इस कोने से लेकर उस कोने तक निरन्तर होती रहने वाली राज्यक्रान्तियों ने वैश्यों की जीवन-प्रणाली को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया था। वे अपने प्राचीन व्यापार-पथ तक भूल गये थे। अकाल और महामारियों ने उन्हें इतना दीन बना दिया था कि वे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए भी दीन बन चुके थे। ऐसे क्षणों में अंग्रेजों ने भारत में पदार्पण किया। मुगलों ने राज-शासन करते हुए केवल भारतीय व्यापारियों के बल पर यहां के व्यापार का संचालन किया, लेकिन अंग्रेजों ने शासन भी अपना स्थापित किया, व्यापारी भी वे अपने देश से लाये ! जो विदेशी व्यापारी बाहर से आये, वे एकजुट शक्ति से ग्रथित व्यापारिक परिवार बन कर आये। उन्होंने संयुक्त परिवार के उच्च आदर्श को इतना मान्य किया कि उस के सामने भारत की अति प्राचीन संयुक्त परिवार-प्रणाली भी दोषयुक्त लगती थी। सूरजमल जी की सूक्ष्म दृष्टि इन सब तथ्यों से अवगत हो रही थी। वे एक निजी इकाई में विश्वास करना नहीं चाहते थे,वे अपने परिवार की दहाई-सैकड़ा इकाईयों का स्वप्न लिए जीवन जी रहे थे और उसी स्वप्न को चरितार्थ करते हुए,अपने हाथों स्थापित सूरजमल नागरमल फर्म को एक संयुक्त परिवार की

सुपुष्टता का अरुणोदय देनेवाले भाग्य-विधायक वने हुए थे। उन की एक ही कामना थी कि उनके सभी भाई और पुत्रस्थानीय नागरमल जी भविष्य में उत्तमोत्तम यश के सूत्र संभालने वाले सिद्ध हों। वे सव अर्थ-गौरव को समझने वाले हों, अर्थघ्न-न वनें, अर्थ-चिंतन में अग्रणी वने रहें, अर्थ-दूषण का अपराध जीवन में कभी न करें, अर्थ-पति चाहे न हों लेकिन अर्थ-पिशाच की दिशा उन्मुख न हों, अर्थ-प्रवन्ध के कौशल में प्रवुद्ध धनुर्धारी के तुल्य मान्य होते रहें, उनकी अर्थ-सिद्धि समाज के कल्याण की सिद्धि के निमित्त नियमित वनी रहे।

सवसे पहले आपने अपने से छोटी वहन सोनीवाई का विवाह रचाया। पिताजी का वरद् हस्त सिर से उठे हुए अभी ६ मास भी पूरे न हुए थे कि आपने इस महत् दायित्व का वहन किया। यह विवाह रतनगढ़ मे ही हुआ। श्री गोविन्द राम जी सराफ के पुत्र श्री गजानन जी सराफ के साथ यह रिश्ता किया गया। यह सराफ वंश रतनगढ़ का ही निवासी था। श्री गोविन्दराम जी ने हरदेवदास जी जालान के अंतिम क्षणों में उनकी काफी सेवा-सुश्रुषा की थी। यह विवाह फाल्गुण सुदी २, संवत् १९५६, को हुआ।

सन् १९०२ में वंशीधर जी १८ वर्ष के हो चुके थे। समाज-सुधार की दृष्टि से यह एक उल्लेखनीय तथ्य था कि अभी तक उनका विवाह संपन्न नहीं हुआ था। १४ वर्ष की आयु में वालकों का विवाह कर दिया जाना पिता अपने दायित्व को पूरा हुआ समझ लिया करते थे, किन्तु सूरजमल जी ने मौन भाव से समाज में प्रचलित इस भावना को हृदयंगम् कर लिया था कि विवाह तो १८ वर्ष की अवस्था में ही होना चाहिए। अतः आयु की श्री प्राप्त होते ही उन्होंने अपने इस प्रिय भ्राता के विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दीं।

वंशीधर जी का विवाह[1] रतनगढ़-निवासी गणेशदास जी वीदासरिया की कन्या भूरीवाई के साथ रतनगढ़ में ही संपन्न हुआ। ये रतनगढ़ में ही सट्टे का काम किया करते थे। भूरी वाई अद्वितीय रूप से साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूप थीं। घरमें उनका पदार्पण होते ही जालान वंशमें शुभ नक्षत्रों का उदय होना प्रारंभ हो गया। सूरजमल जी उनको भ्रातृ-वधूके रूपमें ग्रहण कर अतीव संतुष्ट थे। वे गृह-कार्यो में केवल चतुर ही न थीं, पारिवारिक कुलशील में अद्भुत रूपसे पारंगत थीं। उनके आगमन से रमावाई को मानो दो अधिक हाथ मिल गये। परिवार के आनन्द में मानो पुष्प लहलहा उठे। भूरीवाई सौभाग्य की देवी थीं, उनके आगमन के वाद ही, कलकत्ता में सूरजमल जी ने, वड़े उत्साह के साथ 'सूरजमल नागरमल' नाम से अपनी गद्दी की स्थापना कर दी थी। गद्दी की यह स्थापना, परिवार के आर्थिक वल की समुन्नति का पहला प्रमाण वनकर, प्रियवती सिद्ध हुई।

सन् १९०७ में नागरमल जी की सवसे छोटी वहन आनंदी वाई का विवाह उन्होंने रचाया। कन्या-दान की दृष्टि से नारायणी वाई पर वस उसी का भार वचा रह गया था। रतनगढ़ में जाकर यह विवाह किया गया। पहले से सूरजमल जी रतनगढ़ चले गये। कालूराम वख्तावरमल्ल पोद्दार फर्म के सूरजमल जी के योग्य पुत्र हुणतराम जी से उनका पाणिग्रहण-संस्कार संपन्न हुआ। उन्होंने वड़े आनंद के साथ विवाह में वह सव-कुछ किया, जो एक पिता अपनी कन्या के लिए सोत्साह किया करता है। अवस्था इस समय सूरजमल जी की केवल २५ वर्ष की थी, लेकिन दायित्व वे ५० वर्षीय पिता के तुल्य निभा रहे थे और यह भगवत्कृपा थी कि इस तरह की सभी परीक्षाओं में वे उत्तीर्ण हो रहे थे।

जव वैजनाथ जी १४ वर्ष के हो गये, तो रमा देवी जी ने वड़ी धूमधाम के साथ उनके विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ कीं। परिवार के लिए अव अतिरिक्त स्थान की आवश्यकता भी वढ़ चली थी, इसलिए आड़ी वांसतल्ला के मकान को छोड़ कर, विवाह करने से पहले, पूरे परिवार को कलाकार स्ट्रीट के एक मकान में सन् १९०८ में स्थानांतरित कर दिया गया। यहाँ वढ़ी हुई परिवार-प्रतिष्ठा की दृष्टि से एक स्वतंत्र फ्लैट स्थायी-निवासके लिए लिया गया था। इस वार यही विचार हुआ कि वैजनाथ जी का विवाह यहीं कलकत्ता से करेंगे।

सन् १९०९ में सूरजमल जी ने अपने सवसे छोटे भाई वैजनाथ जी का विवाह[2] धूमधाम से रचाया। श्री सूरजमल गंगाप्रसाद मोर की प्रसिद्ध फर्म थी और सूरजमल जी मोर की कन्या तीजी देवी के साथ वैजनाथ जी का पाणिग्रहण संस्कार सानंद पूर्ण हुआ। यह विवाह कलकत्ता में हुआ। इस समय तक जालान वंश का भरा पूरा परिवार रतनगढ़ के परिवारों में अपना उल्लेखनीय स्थान वना चुका था। शालीन स्थिति के अनुरूप सूरजमलजी ने सन् १९०८ में, जव कलाकर स्ट्रीट में पूरा एक फ्लैट किराये पर ले लिया था, एक घोड़ागाड़ी भी निजी उपयोग के लिए खरीद ली।

भाइयों का विवाह जव तक कर चुके थे, तव तक नागरमल जी विवाह-योग्य आयु को पहुँच चुके थे। रिश्ते में वे साले लगते थे, लेकिन उन्होंने नागरमल जी को गोदियों खिलाया था, उसे पुत्रवत् मानते थे। नागरमल जी अपने वंश के एकमात्र दीप थे, उनकी पूरी परवरिश वे वड़ी योग्यता के साथ कर रहे थे। सन् १९१० में, नारायणी देवी की आज्ञा पाकर, उन्होंने नागरमल जी का रिश्ता पक्का किया। दो वर्ष पहले समाज में सव को हर्षित करते हुए उन्होंने उनकी सगाई की, फिर विवाह रचाया।[3] गुरुमुखराय

---

१ यह विवाह फाल्गुन वदी ४, संवत् १९५९, को हुआ।

२ यह विवाह रतनगढ़-निवासी मोर-वंश में हुआ। वरात ७ नं०, हंसपुकरिया लेन से गई थी।

३ यह विवाह रतनगढ़ में संपन्न हुआ। इस समय नागरमल जी की आयु १२ वर्ष की थी। क्यों कि परिवार के इकलौते पुत्र थे, इसलिए कुल-परम्परा के अनुरूप इस विवाह में मक्तनों के नृत्य की मजलिस भी जमी थी।

हरमुखराय फर्म के श्योदानमल जी सराफ की सुमुखि कन्या झीमी वाई के साथ उनका संवंध हुआ। पुत्रवधू को पाकर नारायणी देवी ने पहले सूरजमल जी को हृदय से आशीर्वाद दिया और ईश्वर का स्मरण करते हुए, जिस दिन गौनावली पुत्रवधू आई, उसके सिर पर हाथ फेरते हुए यही आशीर्वाद दिया कि इस घरकी शोभा वनो, पुत्रवती वनो, दूध-पूतों फलो। उन्होंने वड़े कष्ट के साथ अपने इस पुत्र का पालन-पोषण किया था, जीवन के अंधकार से अभिभूत, वैधव्य जीवन विताते हुए, इसके भविष्य का मार्ग भी सूरजमल जी की सहायता से निर्मित कर दिया था। अव वह दिन आया है कि यह वड़ा हुआ है, वींद वन चुका है और पुत्रवधू भी घर में आ गयी है। नागरमल जी को अपने पिता के श्रेष्ठ गुण विरासत में मिले थे। वे अपनी दोनों माताओं की तन-मन से सेवा करते, उन के संतोष के लिए वह सव परिश्रम करते, जो उन्हें करना चाहिए था। सूरजमल जी के प्रति उनका आदरभाव वहुत अधिक था। उनकी सभी इच्छाओं को वे अपना अहोभाग्य मान कर चलते। नागरमल जी का विवाह रचाकर मानो सूरजमल जी ने अपने पौरुष का पहला अध्याय विधिवत्, समाज को साक्षी कर, लिख दिया था। यद्यपि नागरमल जी अभी १२-१३वर्ष के अवोध वालक थे, लेकिन सूरजमल जी ने उनके नाम से चल रहे व्यापार में, पूरी ईमानदारी से वहियों को मानो प्रभु-अर्पण कर रखा था। उनकी यही चाहना थी कि जिस दिन नागरमलजी अपने पैरों पर खड़े हों, उस दिन समाजमें उनके समकक्ष ही आसन ग्रहण करने लगें। पुत्रस्थानीय मानकर भी वे उनके वुलंद व्यक्तित्व की चाहना रते थे और यह चाहते थे कि नारायणी देवी के सामने ही नागरमल जी किसी वड़े उद्योग-व्यवसाय के अधिस्वामी वन जायें। स्वामी तो वह समृद्ध हो रहे व्यापार में, सूरजमल नागरमल फर्म में, अपने कर्मवल से वन ही रहे थे।

ऐसे परिवार के हित-चिंतन में प्रवृत्त सूरजमल जी ने अपने परिवार के शेष पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए सन् १९११ में अपनी सवसे छोटी वहन कमलावाई का विवाह पूरा किया। वहनों का विवाह जो भाई कराये, उसके लिए राजस्थान में उसे 'विण डालका वरम-रुँख' कहते हैं।[1] गिरधारीलाल गोवर्द्धन दास फतेहपुरिया[2] फर्म के श्री गिरधारीलाल के पुत्र श्री गौरीशंकर जी से यह विवाह हुआ।

जिन क्षणों में यह विवाह पूर्ण हुआ, सूरजमल जी के प्रति रतनगढ़ में एक आदरभाव व्याप्त हो चुका था, समाज के पंच उनके प्रति उच्चस्तरीय भावना रखने लगे थे, समाज के कर्णधार रतनगढ़ में नियोजित होनेवाले सार्वजनिक कल्याण-योजनाओं में उनका सत्परामर्श ग्रहण करने में अपना ही आदर मानते थे। इस वहन का विवाह पूर्ण हो जानेके वाद, अव गिरिस्ती में ऐसा कोई दायित्व शेष नहीं रह गया था, जो पितृ-ऋण के रूपमें अधूरा रह गया हो। पराधीनता के युगों में कन्या पिताके वंश में ऋण वन कर जन्म ग्रहण करती है, यह व्यर्थ का अभिशाप समाज में जीवित रहा है। पर सूरजमल जी ने अपनी वहनों को, केशर की क्यारी के तुल्य, लाड-प्यार दिया और उनका उत्तम वरों से संवंध किया, ताकि उत्तम भविष्य का पर्व उनके जीवन में क्षण-क्षण परिव्याप्त वना रहे।

नागरमलजी के विवाह के पहले, उनके परिवार को भी आपने पास ही वुला लिया, क्योंकि दूर रहनेसे प्रतिदिन की सुचारु देखभाल संभव नहीं रह गयी थी। पहले वे नाई-टोला में रहते थे, कुछ दिन अमरतल्ला में भी निवास किया था। अव नारायणी देवी ने ४ नं० वहरापट्टी में निवास वनाया। वे तपस्विनी थीं और हर समय ईश्वराराधन में अपना समय व्यतीत करती थीं। नागरमल जी अव सूरजमल जी के साथ व्यापार का प्रारंभिक कार्य सीखने लगे थे। चुन्नीलाल जी सोमाणी खजांची नियुक्त हुए थे।

अथर्ववेद (३-३०-१) का श्लोक है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।

—हे गृहस्थो! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेष की गन्ध भी न हो। तुम एक दूसरे से उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरंत जन्मे वछड़े को प्यार करती है। प्रत्यक्ष रूप में सूरजमल जी इसी लोक-ख्यात् आदर्श का वहन कर रहे थे।

यद्यपि १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध से कलकत्ता में और अन्य नगरों में नाते-रिश्तेदारों की संयुक्त निधि से संचालित गद्दियाँ अपना चमत्कारी कृतित्व प्रस्तुत करती रही हैं, पर जिन परिस्थितियों में सूरजमल नागरमल गद्दी का अस्तित्व प्रगट हुआ और गद्दी की स्थापना होते ही उसका नवोन्मेष शीघ्र गति से प्रसार पाने लगा, उसकी पृष्ठभूमि में सूरजमल जी की अभिजित परिवार-पोषण की कामना और अपने संपूर्ण परिवारके लिए अभिधेय उज्जवल कीर्ति-नियोजन समाज में ऐसा आदर्श अभिदेश-मंत्र वन गया कि अन्य परिवारों को भी ऐसी ही स्तुत्य एकता के साथ आगे वढ़ने की प्रवल इच्छा होने लगी। सूरजमल जी शायद अपने परिवार की चिंता कम करते थे, नागरमल जी की और उनके परिवार की कल्याणास्पद चिंता अधिक करते थे। ऐसे वरद् स्नेह के नीचे नागरमल जी एक मेधावी युवक के रूप में प्रस्तुत हो रहे थे।

---

१ ऐसा धर्म-वृक्ष, जिसमें डालियां और फूल-पत्तियाँ न हों, किन्तु जिसके नीचे अद्वितीय संरक्षण विद्यमान रहे हैं।

२ ये फतहपुरिया विसाऊ के थे और कलकत्ता में, मुक्तारान वावू स्ट्रीट में, निवास करते थे। यह विवाह कलकत्ता में ही संपन्न हुआ।

व्यापार का उत्तरोत्तर विकास : बेलिंग-क्षेत्र में पदार्पण

लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि । (ऋग्वेद ६।११३।६)

—भगवान् ! मुझे उस पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कराइए, जहाँ केवल प्रकाश ही प्रकाश है ।

प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः (ऋग्वेद १०।५६।१)

—भगवन् ! हमें नवीन से नवीन और उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर जीवन की ओर बढ़ते रहें ।

[१५]

जूट प्रारंभ में व्यवसायिक लाभ की वस्तु न होकर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में एक स्थानान्तरित वस्तु के रूप में मान्य होता रहा । यह अवस्था सन् १८५० तक रहती है । किन्तु अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में पार्सल की वेष्टन, जहाज की पाल, नौका की बिछावन, चीनी आदि चूर्णतुल्य वस्तुओं के निमित्त थैले और रूस आदि में उत्पन्न होने वाले फ्लैक्स में अतिरिक्त मिश्रण की आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से जूट प्रशंसनीय रूप से उत्तम परिणाम प्रस्तुत कर रहा था । सन् १८८२ में प्रकाशित होनेवाले तथ्यों से प्रमाण मिलता है कि केवल इंग्लैंड ही नहीं, स्काटलैंड, आयरलैंड, फ्रांस, बेल्जियम, आस्ट्रिया, स्पेन और नारवे जैसे समृद्ध देश भी अपनी व्यापारिक वस्तुओं के वेष्टन व थैलों के लिए भारतीय जूट की माँग बढ़ाने लगे थे—इस प्रकार जूट का द्वितीय अध्याय वह है, जब इसे व्यापारिक जगत् में क्रय और विक्रय की वस्तु के रूप में प्रयोग करने वाली इंग्लैण्ड-स्थित डंडी की मिलें, इसकी बनाई हुई वस्तुओं पर, व्यापारिक लाभांश से प्रसन्न होने लगीं । यह स्थिति सन् १८८० तक रहती है । इस समय तक भारत से बाहर जाने वाली जूट की गाँठें ३०० पौंड की नहीं होती थीं, जैसा कि सन् १८६० तक होता रहा, न ही ३५० पौंड की होती थीं, जैसा कि सन् १८७० तक होता रहा, बल्कि ४०० पौंड की होने लगी थीं, क्योंकि हाइड्रौलिक प्रेस स्थापित किये जा चुके थे और उनसे भारत में ही पक्की गाँठों का बंधन संभव होने लगा था ।

कच्ची और पक्की गाँठों का प्रश्न यहाँ पर एक स्पष्टीकरण चाहता है—इस विवरण से ही हम सूरजमल जी ने सन् १९०५ के बाद क्या उत्तम उपार्जन किया, उसे भलीभाँति समझ सकेंगे ।

सन् १८५४ तक भारत के कलकत्ता-बंदरगाह से केवल कच्चे पाट का निर्यात ही होता था । यह निर्यात हाथ से बंधी गाँठों के रूप में होता था । एक दोष इन हाथ-बंधी गाँठों में यह रहता था कि वे बहुत ढीली और फूली हुई रहती थीं और जहाजों में स्थान भी अधिक घेरती थीं । फलतः बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए अनेक जहाजों के प्रयोग का व्यय करना पड़ता था ।

पर यह प्रश्न जब चिंतनीय बनने लगा और यह समस्या व्यापारिक स्तर पर सरदर्द बनने लगी कि हाथ-बंधी गाँठों से घिरे हुए स्थान में और कमी कैसे की जाए, तब प्रारंभिक स्तर के ऐसे हस्तयंत्र यत्र-तत्र बैठाये गये जो फूली और ढीली गाँठों को कुछ अधिक कस कर बाँधने लगे । आंशिक रूप से—जब स्थान की समस्या का समाधान निकला तो एक जहाज पर अब पहले से अधिक गाँठें रखी जानी संभव हो गईं । ऐसी स्थिति में जूट की कच्ची गाँठ बाँधने वालों का बहुत अधिक महत्व नहीं रह गया था ।

पर विदेशों के वैज्ञानिकों को इससे संतोष न हुआ । वे इस काम में हाथों से अर्थात् मजदूरों पर आने वाले व्यय के अनुपात में बाँधी जाने वाली गाँठों की प्रगति से संतुष्ट न थे । उसी का यह परिणाम था कि शीघ्र ही वाष्प-संचालित प्रेस-मशीनों का आविष्कार हो गया । पक्की गाँठों का युग, उसी के साथ, प्रारंभ हो गया ।

सन् १८८२ में इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए श्री पीटर शार्प ने लिखा—

"Bales—which economize space and thus enable ships to take larger cargoes then formerly, when the bales were formed in hand-presses and cargoes had to be made up with some heavier material.[१]"

इस तरह जूट-व्यवसाय में जूट-बेलर का एक आवश्यक स्थान निर्यात-क्षेत्र में निश्चित हो गया । प्रारंभ में बेलर विदेशी जन ही बने, शनैः-शनैः बंगालियों ने इस क्षेत्र में एक स्थान बनाना प्रारंभ किया, किन्तु १९ वीं सदी के समाप्त होते न होते, मारवाड़ी समाज के अनेक व्यक्ति भी सफल बेलर बनने लगे ।

जूट का चौथा अध्याय इसी 'बेलिंग' के अध्याय से प्रारंभ होता है । इस की वजह से जूट की कीमत में कोई वृद्धि न होने पाई थी और वेष्टन रूप में प्रयुक्त होने वाली इस वस्तु का दाम सस्ते से सस्ता रहे, ऐसा संभव हो रहा था । १९ वीं सदी के अन्त तक जूट की इसी लोकप्रियता का अध्याय चलता है । श्री पीटर शार्प ने इसी लोकप्रियता के रहस्य को उद्घाटित करते हुए सन् १८८६ में लिखा था, "The great secret of this may have been its

१ 'Flax, tow and Jute-Spinnig'; 1886.

cheapness and the practicability of manufacturing it by means of machinery already in existence. On its introduction it was thought possible to make it into goods as fine as Cambric, but this was subsequently found to be impracticable, hence it has been principally used in the manufacture of coarse goods, sacking etc. At the present time, however, a small proportion is made into line-yarns, for window drapery, paddings etc, being hackled and spun in the same way as flax.[१]

ऐसा ही मान्यताओं के कारण जूट को 'टैक्सटाइल-फाइवर' की श्रेणी में गिना जाने लगा। डंडी की मिलें इसे फ्लैक्स के कपड़े में मिश्रण के रूप में प्रयुक्त करने लगीं। १९ वीं सदी के अन्त तक जूट के अन्य उपयोग भी दृष्टिगोचर होने लगे[२]। इन सव का परिणाम यही निकला कि इसकी अंतर्राष्ट्रीय माँग वढ़ती रही।

सूरजमलजीने जव गद्दी स्थापित कर ली तो आपने अव और भी उत्साह के साथ जूट-व्यवसाय में वड़े पैमाने पर काम शुरू कर दिया। आप का कार्य-क्षेत्र धूलियान में ही रहा। यह मुर्शिदावाद जिले का प्रधान जूट-केन्द्र है और हावड़ा स्टेशन से रेल-मार्ग द्वारा यहाँ पर ८-९ घंटे में पहुँचा जाता है। स्टेशन का नाम भी धूलियान है। पहले तो सूरजमलजी स्वयं ही इस केन्द्र में पहुँच कर जूट का संचय और अपने गुदामों में जंचाई करवाया करते थे, लेकिन अव काम जम जाने के वाद आपके अन्य सहयोगी और दलाल इस काम में व्यस्त रहने लगे। आसपास में वनगाँव, झींगरगाछा, कोयलाघाट, हावड़ा आदि हैं, जहाँ पाट की खेती होती है। इन सव स्थानों से नौकाओं द्वारा, गोरू-गाड़ी द्वारा अथवा रेल-मार्ग से खरीदा हुआ पाट कलकत्ता के विक्री-केन्द्रों तक पहुँचाने की व्यवस्था की जाती। यह खुदरा काम आपने लगभग ३-४ वर्ष ही किया और इस वीच आप जूट-व्यवसाय की द्वितीय समुन्नत स्थिति—वेलिंग-व्यवसाय, को हस्तगत करने की तैयारी करते रहे। विना वेलर हुए एक चिंतनीय दीनता सी काम-काज पर हावी रहती थी। जो वेलर थे, उनका अंकुश सहन करना पड़ता था और सव से कटु सत्य यह भोगना पड़ रहा था कि शिप्पर्स के साथ कोई सीधा संवंध वने, ऐसी न्यायपूर्ण सुविधायें हाथ नहीं लग सकती थीं।

आखिर एक दिन कुछ ऐसा घटित हुआ कि सूरजमल जी को एक नया संकल्प करना पड़ा। अपनी गद्दी पर आकर आपने यह निर्णय घोषित कर दिया कि आज से अपने जूट की गाँठें भी स्वयं ही वांधने की व्यवस्था रखेंगे। यह स्थिति जल्दी आई, यह सूरजमल जी के लिए हर्ष का विषय था। इस स्थिति में जिनसे सहयोग मिला, वह मारवाड़ी समाज के स्वनामधन्य व्यक्ति दुलीचंदजी ककराणिया थे, जो चिड़ावा की एक निराली विभूति थे। उन्होंने सूरजमल जी को आश्वासन दिया कि आप का कार्य और आगे वढ़े, इसके लिए मेरा पूर्ण सहयोग सदा वढ़-चढ़ कर रहेगा। यह वात सन् १९०५ की है। मारवाड़ी समाज में दुलीचंदजी किस प्रकार सवके प्रति सहयोग भाव रखते थे, उसके अनेक उदाहरण हैं, यह उनमें से एक है।

गोलावाड़ी स्थान में दुलीचन्द जी ककराणिया के वेलिंग-प्रेस को किराये पर ले लिया गया। एक प्रेसमें कई वेलर अपना कार्य निभाते थे और जिस दिन उनकी वारी आती थी, उस दिन वे अपनी गांठें तैयार करवाते थे। नियमित रूपसे सूरजमल जी प्रेस जाते, दुपहर में वेल्ड-जूट एसोसिएशन में रहते और शाम होते ही अपनी गद्दी पर चले आते। यहाँ हिसाव-किताव का संचालन करते। जितना ही कार्य विस्तृत हो रहा था, उनके श्रम का प्रवेग वढ़ रहा था। जूट के व्यापार में वे निरंतर दक्ष वन रहे थे। जूट की वारीकियों से और वाजार-भाव से वे सतर्क रहते। मिलों के अंग्रेज अधिकारियों से उनका सौमनस्य दिन-प्रति-दिन उत्तम हो रहा था। दलाल उनसे संतुष्ट थे, आर्थिक स्थिति की क्षमता से उनका अपना संतोष पौष्टिक वन गया था, और यही कारण है कि अव वे अपने परिवार का संरक्षण और भी उत्तम रीति से करने लगे थे। श्वसुर-गृह के सभी कार्यो में वे अधिक से अधिक अपना भागधेय देते हुए, हर्षमना तत्पर रहते थे।

वंशीधर जी का सहयोग मात्र सहयोग न था। पाट के काम में सहयोगी से अधिक घनिष्ट विश्वासी कर्मियों की जरूरत थी। इनके अभाव में अनेक ऐसी गद्दियों का काम ठप्प पड़ चुका था, जिन्होंने वढ़-चढ़ कर प्रारंभ में अपना एक स्थान वनाया था। वंशीधरजी ने अपना प्रारंभिक काम सीखने की अवधि में[३] पाट की जानकारी इतनी उत्तम कर ली थी कि अव वे सूरजमलजी के समृद्ध विवेक के आत्मीय अंश वन गये और वेलिंग के काम को अत्यधिक सफल वनाने में गहरी निष्ठा के साथ जुट गये। यद्यपि अभी अपना प्रेस नहीं था, लेकिन सूरजमल नागरमल सफल वेलर के रूप में मान्य हो गए और वेल्ड-जूट ऐसोसिएशन के एक लोकप्रिय सदस्य भी वन गये। मारवाड़ी समाज के इस समय गिने-चुने व्यक्ति ही जूट-वेलर थे,[४] उनमें सन् १९०५ में सूरजमल नागरमल का स्थान अग्रणी पंक्ति में था।

---

१ वही।

२ "Its high quality yarns are used in the manufacturing of fuses in the chemical-industry. Jute is extensively used in car-upholstery."—'The Jute-fibre', S. N. Kar; p. 5.

३ वंशीधर जी ने इससे पहले जिस गद्दी पर काम सीखा था, वह वेलिंग का ही काम करती थी और आपने वहुत थोड़े समय में वहाँ पर जूट-वेलिंग के काम को कुशाग्र बुद्धि से समझने की निपुणता दिखाई थी।

४ श्री वालचन्दजी मोदी अपने ग्रन्थ में पृष्ट ५७१ पर ऐसे ही एक प्रमुख व्यक्ति पनेचंदजी सिंघी के वारे में लिखते हैं, "जूट-वेलिंग के व्यवसाय में इनकी धाक पड़ती थी। इनकी कुशलता का प्रमाण तो यही है कि संवत् १९३३ के एक ही वर्ष में इन्होंने प्रायः २० लाख रुपये पैदा किये थे।"

जूट-बेलर्स ऐसोसिएशन की स्थापना में योगदान

"The Association started its career during the period when the economic awakening found a more arousing and tangible expression in the formation of Associations of Indians, and the year 1909, in which this Association was established, was particularly a year of cautious experiment in associating Indians with the Government of the Country."

—Foreword, Golden Jubilee, Souvenir,
The Jute-Balers' Association, Calcutta, 1959.

[१६]

जूट का इतिहास एक बात है, जूट-उद्योग का क्रमिक विकास दूसरा विषय है। किन्तु जूट और जूट-उद्योग के क्रमिक विकास के अतिरिक्त तीसरा विषय, जो जूट से संबंधित ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों के जीवन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा है, वह जूट का निर्यात-व्यापार है। भारत में जूट की खपत जो होती रही है, और सन् १९०८ के आसपास जो हो रही थी, वह इतनी गौण थी कि केवल उतने से व्यापार पर कई करोड़ की पूंजी का केन्द्रीकरण नहीं हो सकता था। यह ठीक है कि सन् १९०९ तक ३८ कम्पनियां भारत में मिल-उद्योग की दृष्टि से जूट का उत्पादन करने वाली थीं और उनके तत्वावधान में ३०००० लूम और ६ लाख ७५ हजार स्पिंडल्स चालू थे, फिर भी निर्यात-व्यापार में भारत से साढ़े इक्कीस करोड़ रुपयों का कच्चा और भारत-निर्मित जूट-सामान विदेशों को जा रहा था। यह राशि सन् १८५१ में केवल इकतालीस लाख रुपये मात्र थी। इस अनुपात में निर्यात-व्यापार में जो वृद्धि हो रही थी, उसी के कारण जूट का महत्व भारतीय व्यापार में बड़े-चढ़े मूल्यों से आंका जा रहा था।

पर ब्रिटिश भारत के शासन में यह निर्यात व्यापार मुख्य रूपसे उन शिप्परों द्वारा नियंत्रित होता था, जो हर दृष्टि से विदेशी थे और इस निर्यात का अधिक लाभांश स्वयं ग्रहण कर लेते थे। यद्यपि कलकत्ता में बेलरों की संख्या मारवाड़ी जनों के रूप में अधिक होने लगी थी, किन्तु जिस संस्था के अन्तर्गत इन माड़वाड़ी बेलरों को हर दृष्टि से अभिशापपूर्ण मनोस्थिति का सामना करना पड़ रहा था, वह गहरे अंकुश के साथ-साथ देश के स्वाभिमान पर सांघातिक आघात करनेवाली थी। इस संस्था का नाम कलकत्ता बेल्ड-जूट ऐसोसिएशन था।

जब सन् १८९२ में कलकत्ता में बेल्ड-जूट ऐसोसिएशन बनाया गया तो उसने यह शर्त सब पर पाबन्द करने के लिए लागू की कि कोई भी सदस्य ऐसोसिएशन के कंट्राक्ट-फार्म के नियमों के अनुसार ही दर्ज किये बिना निर्यात के लिए जूट का व्यापार नहीं कर सकता। यह ऐसोसिएशन एक प्रकार से यूरोपियनों के हाथ में था। इसकी कमिटी में कोई हिन्दुस्तानी सदस्य नहीं हो सकता था। एक-दो जो हिन्दुस्तानी जन थे भी, उनकी कोई आवाज इस ऐसोसिएशन में न थी। फलतः यह ऐसोसिएशन भारतीय जूट व्यापारियों पर अपना पूरा अंकुश रखता था और उनके अनाचार के सामने कोई भारतीय व्यापारी न्याय की बात करने में समर्थ न रह पाता था। इस ऐसोसिएशन की एक शर्त यह भी थी कि इसका सदस्य किसी बाहरी व्यापारी के साथ व्यापार भी नहीं कर सकता था।[1]

प्रश्न है कि इस ऐसोसिएशन ने आखिर इस तरह का निरंकुश आघात देशी बेलरों के ऊपर क्यों थोप रखा था? इसी प्रश्न के सहज उत्तर में वह रहस्य समाहित है, जिस से पता चलता है कि ब्रिटिश सत्ता ऐसे ऐसोसिएशनों के माध्यम से और इन की आड़ में किस तरह भारतीय पूंजी का शोषण कर रही थी। केवल जूट ही प्रधान विषय न था, जिसमें भारतीय समृद्धि को अवरुद्ध करने की चेष्टा की जा रही थी, जूट के प्रति निरन्तर बढ़ते हुए भारतीय व्यापारियों की रुचि को भी ब्रिटिश सत्ता के प्रतिनिधि अपनी ही हठवादिता से संकुचित करने का षड़यंत्र रचते रहते थे और इन भारतीय व्यापारियों द्वारा नियोजित करोड़ों की पूंजी पर अपना अंकुश निरन्तर लगाये रखना चाहते थे।

सन् १९०९ तक भारत में राजनीतिक चेतना के अग्नि-स्फुलिंग नई हवा का संस्पर्श पा कर चिनगारियां देने लगे थे। यद्यपि सम्राट-भक्ति का गीत दुहरा-दुहरा कर वर्ष भर में समस्त भारतीय छात्र-छात्राओं से गवाया जाता था और 'यूनियन जैक' के प्रति स्वामि-भक्ति की शपथ भी दुहराने का स्वांग आयोजित होता रहता था, लेकिन बंग-भंग आन्दोलन और स्वदेशी-आन्दोलन इन दो जन-समर्थित विद्रोही प्रवृत्तियों ने भारतीयों में ब्रिटिश सत्ता के कठोर

---

१ इस ऐसोसिएशन का २३ वां नियम था—
"Any member of the association shall not do business in any ···with or for any firm or person, who is not a member of the Association."

अंकुश के प्रति एक दुराग्रही उत्कंठा आरोपित कर दी थी। ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध यह जागरण स्थायी बीज की तरह से कलियाने लगा और इस जागरण ने अपनी चतुर्मुखी दिशायें भी ढूंढनी शुरू कर दीं। भारतीय व्यापार में भी इसी जागरण की एक प्रकाश-किरण किस तरह संघ-बद्ध भाव से प्रस्फुटित हुई,वह बड़ी रोचक कहानी है। वह कहानी उस वृहत्तर कहानी का एक प्रारंभिक परिच्छेद ही माना जाना चाहिए, जिसके अन्तर्गत जाग्रत भारतीय व्यापारियों का देशव्यापी कृतित्व, ब्रिटिश सत्ता के आधीन व्यापार करते हुए, है; भारतीय हितों का संरक्षण करने में विदेशी स्थिरहितों से कस कर लोहा लिया जाना वर्णित हुआ है। लोहा केवल क्रांतिकारी ही नहीं लेते रहे, अहिंसक भाव से सत्याग्रही ही नहीं लेते रहे, अपने प्राणों को होम करते हुए वकील-बैरिस्टर-अध्यापक-छात्र-छात्रायें ही नहीं लेते रहे, भारतीय व्यापारी भी अपनी रीति-नीति से लेते रहे। इस कलकत्ता वेल्ड-जूट ऐसोसिएशन के विरुद्ध किस तरह यह लोहा लिया गया, उसकी कहानी जरा से विस्तार के साथ देने का लोभ हमें संवरण नहीं हो पा रहा है। आज इस कहानी में पठनीयता शायद अधिक नहीं रह गयी है, लेकिन इस का निगूढ़ मर्म अपने युग की मौन संघर्ष-पूरित दास्तान को अवश्य निर्भीक भाव से प्रस्तुत कर देता है।

जूटके व्यापार में यों तो सभी तत्व अपने स्थान पर अपना महत्व रखते हैं, लेकिन बेलर्स का एक स्थान कितने बड़े मार्के का था, यह निम्न वर्णन से और भी स्पष्ट हो जायेगा।

वेल्ड-जूट ऐसोसिएशन ने, सन् १९०८ तक, जो निरंकुशता व्याप्त कर रखी थी, उसी संतुलन में जूटके क्षेत्रमें अनेक मेधावी मारवाड़ी जनों ने अपना गौरवपूर्ण स्थान बना लिया था, इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। फिर भी वे इस ऐसोसिएशन में किस तरह का व्यवहार पाते थे, उसकी चर्चा सर बद्रीदास जी गोयेनका ने इन पंक्तियों के लेखक से एक भेंट में करते हुए कहा था, "इस संस्था में एक विचित्र स्थिति चल रही थी। इस समय तक शिप्पर्स, बेलर्स, ब्रोकर्स—ये तीन ही वेल्ड-जूट एसोसिएशन के मेम्बर होते थे। संख्या की दृष्टि से ऐसोसिएशन में मारवाड़ियों की संख्या अधिक थी। शिप्पर्स[1] और ब्रोकर्स के सम्मिलित अनुपात में बहुमत बेलरों का रहता था[2]। इन बेलरों में भी प्राय: मारवाड़ियों की संख्या ज्यादा थी। इतना होते हुए भी, इस संस्था की कार्य-समितिमें सभी अंग्रेज होते थे। श्री एस. सी. चन्द्र की फर्म के एक हिन्दुस्तानी व्यक्ति अवश्य इसमें थे, लेकिन कार्य-समिति में उनकी कोई आवाज न थी। वैसे वे भले आदमी थे। अंग्रेज सदस्यों की यह नीति स्थायी हो चली थी कि वे किसी भी हिन्दुस्तानी को कार्य-समिति में लेना पसन्द नहीं करते थे और न लेना ही चाहते थे। उचित प्रतिनिधित्व न होने के कारण, अनेक दृष्टियों से हिन्दुस्तानी बेलरों की स्थिति बड़ी शोचनीय बनी हुई थी।[3]

"जब मैं ने यह काम शुरू किया[4], उस समय तक हाल यह था कि सारे बेलर रायल ऐक्सचेंज के दरवाजे पर ही खड़े रह सकते थे। रायल ऐक्सचेंज के मेम्बर न होने के कारण उन्हें अन्दर जाने की अनुमति नहीं थी। आफिस के अन्दर दलाल ही जाते थे। और अन्दर केवल शिप्पर्स ही रह सकते थे। बेचनेवाले होने की वजह से इस व्यवसाय के प्रमुख तत्त्व बेलर होते थे, पर इस बहुमूल्य तथ्य के बावजूद इस ऐसोसिएशन में उनकी स्थिति शिप्पर्स द्वारा उपेक्षा और निज की उदासीनता के कारण अनेकानेक अन्यायों से असह्य होती जा रही थी।

"जूट का काम शुरू करने से पहले मैं इस व्यवसाय से एकदम अनभिज्ञ था। इसमें ठीक तरह से हाथ डालने में मुझे पनैचन्द जी सिंघी से बहुत मदद मिली। इस क्षेत्र के दूसरे अनुभवी पारखी डालचन्द जी सिंघी थे। पाटके क्षेत्र में अनुभव का तीसरा बल रामजीदास जी बाजोरिया से मिला। ये तीनों ही सज्जन मुझ से उम्रमें बड़े थे, लेकिन इनका स्नेह बराबर मिलता रहा। जब मैं इस क्षेत्र में चल निकला, तो अनेक सुधारों को पूरा करने में बराबर के मित्रों का सा परामर्श और सहयोग ये देते रहे।

"काम शुरू करते ही मेरा ध्यान बेलरों की स्थिति में सुधार करने की ओर हुआ। पनैचन्द जी, डालचन्द जी, और रामजी-

---

१ कलकत्ता वेल्ड-जूट ऐसोसिएशन की सन् १८९९-१९०० की वार्षिक रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि शिप्पर्स की सूची में एक भी भारतीय का नाम नहीं है।

२ वही। इस वर्ष (सन् १९००) में कुल बेलर ७३ थे, जिनमें भारतीयों की संख्या ४९ है। मारवाड़ी बेलरों में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं: चोकचंद कन्हू राम, दुर्गा प्रसाद राधा कृष्ण, बा. सुखलाल राय सुरेका, हीरालाल बीजराज, हरदेव दास गुरुदयाल, हरसुख दास दुलीचन्द, ऐसराज गिरधारी लाल, लछमी राय शिवनारायन आदि।

३ इस ऐसोसिएशन के कुछ नियम इस शोचनीय स्थिति को किस तरह दारुण बना रहे थे, उनमें से ८२ वाँ नियम यहाँ देना पर्याप्त होगा—

"On and after the 1st October 1897, no Jute baled in Calcutta, Howrah or the suburbs, shall be brought or sold or offered for sale in Calcutta or else-where in India, by any member of the Association except for delivery within 3 months from date of sale."

इसी नियम की एक दूसरी धारा इस प्रकार है—

"No offer or sale of or transaction in new crop jute baled in Calcutta, Howrah of the suburbs, shall be made or effected in Calcutta or elsewhere in India, by any member of the Association before the first of July of each year."

४ सन् १९०५ में। इस वर्ष कलकत्ता वेल्ड-जूट ऐसोसिएशन के नये सदस्य निम्न फर्में बनी थी—रामदत्त रामकिशन दास, सेवा राम रामरिखदास (शिप्पर्स व बेलर्स), हुकुम चन्द हुलासचन्द (बेलर्स), सूरजमल नागरमल (बेलर्स), शिवसुख राय हरकिशन दास आदि। इस वर्ष तक, बेलरों की कुल संख्या ८३ हो चुकी थी, जिसमें भारतीयों की संख्या ६९ और मारवाड़ियों की संख्या ३५ तक बढ़ गई थी।

दास जी न मर विचारों का समर्थन किया। और मैं इस दिशा में आगे बढ़ूँ, तीनों ने इसका बराबर आग्रह भी रखा। इन सब का सक्रिय सहयोग बराबर पथ-प्रदर्शक बना रहा।

"इस समय तक हमारी फर्म रामदत्त रामकिशनदास बंगाल चैम्बर की सदस्य बन चुकी थी। वह रॉयल ऐक्सचेंज ऐसोसिएशन की सदस्य भी थी। इन दोनों बातों के कारण हम रॉयल ऐक्सचेंज में जाने के अधिकारी थे,पर मैं वहाँ कभी गया नहीं। मैं तो चाहता था कि बेलर भाइयों की स्थिति में सुधार हो जाए। इसलिए रायल ऐक्सचेंज में न जाकर, मैं नेशनल बैंक के सामने अपनी बग्घी में बाहर बैठा रहता था। पर दूसरे बेलर भाई तो खड़े ही रहते थे।

"काम शुरू करते ही जब कुछ दिन हो चुके और कार्य-समिति के चुनाव का समय आया, तो प्रथम प्रयास के रूपमें मेरा नाम भी चुनाव में प्रस्तुत किया गया। शाम को पता चला कि मैं चुनाव में हार गया। फिर भी चुनाव में मेरे नाम के रखे जाने से, एक उत्साह तो शेष भाइयोंमें आ ही गया था कि सुधार की ओर प्रयास शुरू हुआ है। मेरे लिए वही एक बड़ी बात थी। सुधार की दिशा में इस तरह एक श्रीगणेश कर दिया गया था।

"दूसरे साल मैं चुनाव में फिर खड़ा हुआ। इस वार सहज ही चुन लिया गया। यहाँ पर यह कहना प्रासंगिक लगता है कि मै पहला मारवाड़ी सदस्य था, जो इस ऐसोसिएशन की कमिटी में चुना गया था। पर कमिटी के सदस्य चुने जाने मात्र से मुझे संतोष न हुआ। उससे स्थिति में ठोस अन्तर न आया। कमिटी में अंग्रेजों का वही पुराना बहुमत बना रहा। बेलरों की और उनके बहुमत की पूरी उपेक्षा करते हुए, शिप्पर्स लोग ऐसोसिएशन में अपनी ही मनमानी करते थे।

"मित्रों से बात बराबर चलती थी। शिप्पर्स की मनमानी को पूरी तरह समाप्त करने का एकमात्र उपाय यही था कि बेलरोंका एक अलग ऐसोसिएशन बनाया जाये। शीघ्र एक संस्था जूट-बलर्स ऐसोसिएशन के नाम से बना ली गई। इसके बनने से मुझे संतोष था, अन्य बेलर भाई भी खुश थे। इसके पहले सभापति डालचन्द जी सिंघी हुए। हमारे ऐसोसिएशन का कार्यालय बॉडेड वेयर-हाऊस ऐसोसिएशन के आफिस के नीचे एक कमरे में शुरू किया गया। अब सभी बेलर भाइयों के खड़े रहने का युग खत्म हुआ। वे इसी कमरे में आदर के साथ बैठने लगे। बहुत दिनों बाद, उन्हें इस तरह बैठने का संयोग और सुविधा मिली थी। इस ऐसोसिएशन के बनते ही स्थिति में नया परिवर्तन आ गया। अब रास्ता पार कर दलाल हमारे आफिस में आने लगे। अब वे हमारे ऐसोसिएशन में हाजिर होकर बिक्री का प्रबंध करने लगे। अब इसी कार्यालय में बैठ कर वे अन्य संबंधित मामलों का हल निकालने लगे। शिप्पर्स की दया या सहानुभूति का कोई प्रश्न शेष नहीं रह गया था।

"इस नय एसोसिएशन के बनने से पहले एक तमाशा और था। किसी भी आर्बिट्रेशन के मामले में बेलरोंका प्रतिनिधित्व भी शिप्पर्स ही करते। और वे ही आर्बिट्रेशन किया करते थे। इसीलिए बेलर सदा भयभीत रहते थे कि कहीं शिप्पर्स नाराज न हो जायें—जैसे तो उनकी कृपा पर सारा कुछ दारमदार रहता था। इस मामले में भी, इस ऐसोसिएशन के बनते ही, दूसरा परिच्छेद शुरू हो गया। श्रीरामजी दास जी बाजोरिया बड़े जोरदार व्यक्ति थे और बड़े कट्टर थे। ऐसोसिएशन बनते ही वे हमारा प्रतिनिधित्व करने के लिए सहर्ष तैयार हो गए। इसी प्रकार श्रीडालचन्द जी सिंघी भी आर्बिट्रेशन करने को राजी हो गए। सब बेलरों में, इस नई स्थिति से, एक नई आशा का संचार हो गया। अब बेलरों की स्थिति में स्पष्ट तौर पर एक नया सुधार आ गया था। बात नई थी, चीज नई थी, वातावरण में एक नई करवट थी। इस अध्याय का मुख्य काम और उसका सारा श्रेय श्री पनैचन्द जी, रामजी दास जी बाजोरिया और डालचन्द जी को जाता है।"

मारवाड़ी समाज ने किस तरह अपने अधिकारों और स्वत्वों की रक्षा व्यापार में की है, यह उसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। सूरजमल जी भी इसी पाट के क्षेत्रमें अवतरित हो चुके थे और निर्भय भावसे आगे बढ़ रहे थे। वे इसके प्रतिष्ठापक सदस्य बने।[1]

इस के प्रतिष्ठापक सदस्यों की सूची इस प्रकार है—

१.	हरिसिंह निहालचंद	जूट बेलर्स व शिप्पर्स
२.	सूरजमल नागरमल	,, ,,
३.	हरसुख दास दुलीचंद	,, ,,
४.	जेसराज गिरधारीलाल	,, ,,
५.	सुगनचंद केदारनाथ	,, ,,
६.	चिमनीराय जसवंत मल	,,
७.	बख्शीराम रिद्धकरण	,,
८.	लक्ष्मीनारायण भैरूंदान	,,
९.	रामचंद्र चौथमल	,,
१०.	जीवनमल चंदनमल	,,

सन् १९१८ की ३० मई को इस ऐसोसिएशन की रजिस्ट्री हुई, उसमें दर्ज की गई सूची ही यहाँ दी गई है। यह रजिस्ट्रेशन सन् १९१३ में बनाये गये रजिस्ट्रेशन एक्ट के अनुसार हुआ था। सन् १९०९ में जो प्रथम कार्यकारिणी बनी थी, उसकी कोई सूचना न तो जूट-बेलर्स ऐसोसिएशन में सुरक्षित है, न किसी अन्य सूत्र से प्राप्त हो सकी है। केवल इतनी ही सूचना हाथ लगती है कि श्री डालचन्द जी सिंघी इस के सभापति पूरे पांच वर्ष तक रहे थे।

---

१ सन् १९१३ के सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अनुसार इस ऐसोसिएशन की रजिस्ट्री जब १९१८ में हुई, उस समय सूरजमल नागरमल प्रतिष्ठापक सदस्य के रूप में ही मान्य रहे। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि जूट-बेलर्स ऐसोसिएशन के बन जाने मात्र से कलकत्ता बेल्ड-जूट ऐसोसिएशन की महत्ता कम न हो गई। हाँ, उसका उच्छृंखल अनाचार और निरंकुश पीड़न अवश्य बन्द हो गया।

शिप्पर्स की आदरास्पद श्रेणी में

सुत्रामासं पृथिवीं द्यामनेहसं, सुशर्माणम् अदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावे स्वरित्रामनागसम्, अस्रवन्तीम् आरुहेमा स्वस्तये ।। (ऋ०१०: ६३: १०)

—आओ, देवताओं की नौका पर चढ़ जावें, ताकि जीवन सफल हो। यह उत्तम रक्षा करनेवाली है। यह विस्तृत औरविशाल है। यह प्रकाश से युक्त और सुकल्याण से भरी है। यह दुखरहित, छिद्ररहित और (असमय में प्रमाद करनेवाली के समान) अपराध-भाव से रहित है। इस की उत्तम गति है। और इसके उत्तम चप्पू हैं।

[१७]

मानव-सभ्यता के इतिहास की गौरवपूर्ण गाथा के एक अध्याय के रूप में भारत से की जाने वाली चारों दिशाओं की जल-यात्रा है। ऋग्वेद है, उस से हमें उक्त श्लोक के प्रमाण-स्वरूप समुद्री यात्राओं के उल्लेख मिलते हैं। प्रारंभ में पृथ्वी का विस्तार कम था, जल-विस्तार अधिक था। भारत के पश्चिम में सरस्वती नदी का जल गहन था, विस्तृत था। बाद में सिंधु का महत्व बढ़ा। महानद में जब नौकायें चल सकती थीं तो विराट सागर में भी वे चलायी जाने लगीं। नौकाओं की इन सुदीर्घ यात्राओं ने शनैः-शनैः सांस्कृतिक आदान-प्रदान का स्वरूप आत्मसात् कर लिया, वस्तुओं का आदान-प्रदान होने लगा। यह विनिमय कालांतर में समुद्री व्यापार से जाना जाने लगा। एक भारत स्वयं था, एक द्वीपांतर भारत था—अर्थात् उन द्वीपों में बसा हुआ भारत, जहाँ वह अपनी प्रचारित-प्रसारित संस्कृति की गंधवती श्वास के साथ निवास करता था। तीसरा भारत वह था, जो अपनी निर्यात की हुई वस्तुओं के रूप में देशान्तरों में निवसता था। भारत के हाथी, तलवारें, रेशमी वस्त्र, मधु, उत्तम फल, अस्त्र-शस्त्र, चमड़े का सामान, बारीक कपास-वस्त्र, जीवित शेर-चीते और तूलिका-कौशल के अत्युत्तम चित्र रोम, ग्रीस, मिश्र आदि देशों में जैसे तो भारतीय आत्मा का ही दिग्दर्शन कराते थे। यह स्थिति स्पष्ट करती है कि भारत ने अपना समुद्री व्यापार सदा ही बढ़ा-चढ़ा कर रखा।

आज भारत को, विभाजन होने के बाद, ४००० मील लम्बा समुद्री तट प्राप्त है और इस पर उत्तमोत्तम बन्दरगाह सुलभ ही नहीं, विद्यमान हैं। पर प्राक्-वैदिककाल में स्थिति भिन्न थी, उस समय पश्चिमी भारत का समुद्र-तट अवश्य लाहौर से दक्षिण में कुछ नीचे ही रहा होगा और इधर बीकानेर तक समुद्रीय मार्ग यथावस्थित रहा होगा। कुल मिलाकर भौगोलिक वरदान के रूप में यह समुद्रीय तट कितना दीर्घ था, यह तो कहना संभव नहीं है, किन्तु इतना अवश्य है कि पूर्वी तट की आवश्यकता न रही होगी। सरस्वती का शुष्कीकरण पूर्ण हो जाने के बाद ही,पूर्वी तट का महत्व द्राविड़ जाति को अनुभूत हुआ होगा।

अरब सागर तथा हिन्द महासागर में यह सुविधा है कि यहाँ सभी ऋतुओं में जहाज आ-जा सकते हैं। जहाजों की सुखद और निरापद यात्राओं के लिए मानसून का और सामुद्रिक हवाओं का पता अवश्य रहना चाहिए। इस ज्ञान का आविष्कार सबसे पहले प्रथम ईसवी सदी में हिप्पस नामक व्यक्ति ने लगाया था। परन्तु भारतीय नाविकों को इससे बहुत पहले विशद ज्ञान ही नहीं था, वे सोत्साह दीर्घ जल-यात्राएँ करते थे और सामुद्रिक हवाओं पर अपनी विजय-पताका फहरा कर चलते थे। वैदिक ऋषि तुग्र ने अपने पुत्र भुज्य को एक बड़े जहाज में बैठाकर शत्रुओं से लड़ने के निमित्त पठाया, किन्तु मार्ग में किसी यांत्रिक गड़बड़ी से वह डूबने लगा, तब ऋषि-पुत्र की रक्षा के लिए अश्विनीकुमारों ने रक्षक-दल की प्रार्थना स्वीकार करते हुए, १०० डांडों वाले एक जहाज को रक्षार्थ भेजा, जिस पर बैठ कर उस साहसिक ऋषि-पुत्र ने आगे की यात्रा प्रारंभ की (ऋ० १:११६:३-५)। स्पष्ट रूप से एक मंत्र इस तरह मिलता है—हे देव, हमारे आनंद और कल्याण के लिए हमें जलपोत द्वारा सागर-पार ले चलो (ऋ० १:९७:८)। यह सामुद्रिक व्यापार की ओर संकेत करता है। ऋषि वशिष्ठ की ऐसी ही यात्रा का प्रसंग (ऋ० ७:८८:३-४ में) मिलता है।

सामुद्रिक ज्ञान का सब से प्रोज्जवल अभिज्ञान तो वह है, जब कि वरुण को जल-अधिदेवता कहा गया है। इस से प्रमाणित होता है कि समुद्र-विजय पूर्णतया कर ली गई थी और वरुण का अधिनायकत्व उन्हें सदैव के लिए सुमांगलिक रहने लगा था। वरुण-पूजा का विधान इसी से सार्वदेशीय बना है। वरुण के लिए साफ तौर पर कहा गया है कि वे समुद्र के उन मार्गों का पूरा ज्ञान रखते हैं, जिनमें जहाज आते-जाते हैं तथा उनके सिपाही समुद्र में चारों ओर रक्षार्थ फिरा करते हैं (ऋ० १:२५:७)।

आख़िर ये सामुद्रिक यात्राएँ और इनका सफल अनुभव पणि जाति के लिए हितकर और लाभप्रद होने लगा। वे अधिक लोभ (अधिक धन की प्राप्ति की महत् आशा?) के लिए अपने बड़े जहाजों को दूर देशों तक भेजा करते थे (ऋ० २:४८:३) एवं सारे समुद्र को मथ डालते थे (ऋ० १:५६:२)। किन्तु देव-पणि शब्द भी आया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि पणि द्रविड़ व्यापारियों के लिए रहा होगा और यह शब्द आर्य-व्यापारियों के लिए आया है, पर हमारी यह स्पष्ट मान्यता है कि देव-पणि उन धनी व्यापारियों के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा, जो अन्य छोटे पणियों को सहयोग, निर्देश और वशवर्ती रखने-करने की अभिशक्ति से महामहिम बन चुके होंगे! पणि जाति एक थी, सदैव से ही वैश्य जाति एक रही होगी और रही है। केवल आंचलिक भेद और भाषा-भेद से ही वे भिन्न नाम प्राप्त करते रहे हैं। यही कारण है कि जब जातियों का स्वरूप निर्धारित हुआ और तीन श्रेणियाँ बनीं, तो शूद्र से पहले वैश्य ही आये। ये केवल 'आर्य' (?) ही नहीं थे, समस्त भारत के वैश्य थे। वैश्यों की व्याख्या में कभी कोई अन्तर्द्वन्द्व न रहा।

वैदिक-काल से लेकर १०-११ वीं सदी तक भारत का समुद्री व्यापार, उसका नौ-निर्माण उद्योग और नाविकों का समृद्ध ज्ञान अभूतपूर्व रहा। गुप्त-काल जो स्वर्ण-काल कहलाया, वह इसी सामुद्रिक व्यापार-अभियान को तीव्र करने के कारण।

१५ वीं सदी से समुद्री व्यापार की दिशाओं में एक विपरीत गति का क्रम शुरू होता है। पहले विशाल जलपोत भारत में बनते थे, इन जलपोतों में भारतीय नाविक ही समुद्री यात्रा में पारंगत और दक्ष होने के कारण यात्रा करने में समर्थ बनते थे। अब स्थिति यह हो गयी कि विदेशों में जलपोतों का निर्माण बड़े पैमाने पर शुरू हो गया और वे भारत की दिशा आने के लिए कमर कसने लगे। सन् १४९८ में वास्को-डि-गामा भारत में आया, यही वर्ष यूरोपियनों के लिए प्रथम भारत-परिचय था। दूसरे शब्दों में वे भारत की दिशा आने वाला समुद्री-मार्ग खोज पाये थे। बहुत जल्दी यह परिचय आक्रमण, सशस्त्र अत्याचार, आर्थिक शोषण और राजनीतिक दासता में बदल गया। भारत दास हो गया। समुद्री यात्राओं में दीन बन जाने भर से वह कुछ ऐसा गुलाम हुआ कि उस की ५००० वर्षीय संस्कृति भी मानो पश्चिमी जगत में ३०० वर्ष पहले अभ्युदय को प्राप्त हुई यांत्रिक प्रगति के वशीभूत सी हो गयी।

१६ वीं सदी तक भारत में ही बड़े जहाज बन रहे थे। इंग्लैंड आदि में ३००-४०० टन से अधिक के जहाज न होते थे, पर भारतीय बन्दरगाहों में ५०० और उस से ऊपर के जहाज तक होते थे। जब अंग्रेजों ने इस देश की सत्ता पर निरंकुश अधिकार कायम किया तो क्रमशः उन्होंने यहाँ के जहाज-निर्माण को पूर्णतया चौपट करने का बीड़ा उठा लिया।

सन् १७८९ में भारतीय व्यापारियों के पास इतने अधिक जहाज थे कि जितने ईस्ट इंडिया कम्पनी, डचों, फ्रांसीसियों और अमरीका वालों के पास कुल मिलाकर होंगे। तत्कालीन वाइसराय लार्ड वेलेज़ली ने भारत और इंग्लैंड दोनों के हित की दृष्टि से इंग्लैंड की सरकार से सिफारिश की कि इन दोनों देशों के बीच व्यापार के लिए भारत में ही निर्मित जहाजों को काम में लाया जाए। उसने लिखा, "The Port of Calcutta contains about 10,000 tons of shipping built in India, of a description calculated for the conveyance of cargoes. From the quantity of private tonnage now at command in the Port of Calcutta, from the state of perfection which the art of ship-building has already attained in Bengal (promising a still more rapid progress and supported by abundant and increasing supply of timbers) it is certain that this port will always be able to furnish tonnage to whatever extent may be required for conveying to the port of London the trade of the private British merchants of Bengal.[१]"

वेलेज़ली भारतीय नौ-उद्योग को इसी लिए प्रोत्साहन देना चाहता था कि अंग्रेज व्यापारियों को भारत में तैयार जहाज मिल जायें। पर ब्रिटिश सत्ता तो किसी और ही घात में तैयार बैठी थी। १८१४ तक भारतीय जहाज इंग्लैंड आते-जाते थे। पर इसी वर्ष पार्लियामेंट ने एक कानून बनाकर किसी भी ऐसे भारतीय जहाज का अपने बन्दरगाह में आना निषिद्ध कर दिया, जिस का कैप्टेन कोई अंग्रेज न हो। इसी के साथ, तीन वर्ष पहले बंगाल में एक कानून जारी कर दिया कि कलकत्ता व चटगांव के बन्दरगाह में जो अंग्रेजी जहाज सामान लायेंगे, उन पर साढ़े सात प्रतिशत चुंगी पड़ेगी, पर यदि कोई भारतीय जहाज सामान लायेंगे तो उन पर १५ प्रतिशत। स्पष्ट था कि बाहरी देशों के लोग इस अधिक चुंगी वाले जहाज पर अपना सामान भला क्यों भेजते। नकद परिणाम यह हुआ कि भारत में जहाज कभी दुनियाँ भर में श्रेष्ठ कोटि के निर्मित होते थे, वह अध्याय ही सदा-सदा के लिए समाप्त हो गया!

यद्यपि भारत सन् १९०० तक राजनीतिक क्षेत्रों में पूर्णरूप से आर्त था, पराये बंधन में था, सात समुद्र पार की संगीनों का वशवर्ती था, अपने समस्त क्षेत्रीय उत्पादनों और उपजों पर उसका अधिकार कम से कम था, लेकिन बौद्धिक रूप से उसका नवजागरण हो चुका था; इस नवजागृति के दूत भारत की चारों दिशाओं में जन्म ग्रहण कर चुके थे। वे राजनीतिक दासता के कठोर बंधन को, ग़दर के विद्रोह के बाद, अनेक रूपों में निष्क्रिय करने में दत्तचित्त हो चुके थे। भारतीय शासन में वे अपना स्थान बनाने लगे थे। नये सिरे से वे लोकनेता बनें, ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण करने लगे थे। अपनी प्राचीनतम संस्कृति के महत्तर ग्रंथों से विदेशियों को परिचित करने-

१ 'भारतीय व्यापार का इतिहास', कृष्णदत्त वाजपेयी।

भारतीय व्यापार में आयात और निर्यात का अध्ययन करने से पता चलता है कि भारत की आर्थिक रीढ़ को स्वस्थ न बनने देने के के लिए कम कोशिशें नहीं हो रही थीं, किन्तु शिप्पर्स की कोटि में जब मारवाड़ी तथा अन्य समाज के लोग आने लगे, उसी समय से एक राहत यह अवश्य निकल आई कि अब भारतीय भी अपने देशीय हितके लिए दृढ़ होने लगे हैं और सामुद्रिक व्यापार का ज्ञान भी उन्हें अभिनव रूप से प्राप्त हो चुका है।

जूट बेलर्स ऐसोसिएशन की स्थापना करने से ही कलकत्ता के जूट-व्यापारियों को संतोष न हुआ। अब वे अपने इसी ऐसोसिएशन के माध्यम से शिप्पर्स के अनुरूप सुविधाओं का अधिकार भी हस्तगत करने में एक साथ जुट गये। सूरजमल जी ने इस स्थापना में योग-दान देने के क्षणों में ही शिप्पर्स का काम भी शुरू कर दिया। याद न दिलाना होगा कि सन् १९०८ में इस ऐसोसिएशन को गठित करने के लिए प्रयास शुरू हुआ था और सन् १९०९ में यह पूरा हो गया था।

शिप्पिग का कार्य उच्चस्तरीय था और विदेशों से व्यापार करते हुए भारतीय बाजार से तालमेल बैठाकर रखने की कठोर साधना करनी पड़ती थी। एक्सचेंज के घटते-बढ़ते दर और जूट के उतरते-चढ़ते दरों की चिंता-बोझिल समस्याओं का तात्कालिक समाधान हाथों में तैयार रखना होता था। यही काम वास्तव में जूट-उद्योग के अन्तर्गत अपना मार्मिक स्थान रखता था। सूरजमल जी अपने कनिष्ट भ्राता बंशीधर जी के सबल सहयोग और धर्म-माता नारायणी बाई के फलप्रद आशीर्वाद से शिप्पर्स की आदरास्पद श्रेणी में जब आ बैठे, तब इस संयुक्त परिवार की प्रतिष्ठा प्रिय भाव से और भी बढ़ने लगी।

लोकप्रिय मार्काओं पर स्वत्वाधिकार

●

यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येवते स्वयम्।
न हि कस्तूरिका मोदः शपथेन विभाव्यते ।।

—मनुष्यों में यदि गुण होते हैं, तो उनका प्रकाश स्वयं हो जाता है। कस्तूरी की सुगंध को, शपथ खाने से सिद्ध नहीं किया जा सकता, वह तो साक्षात् दर्शन मात्र से, स्वयं सिद्ध हो जाती है।

●

[१८]

र्म-बल का एक अर्थ महामना मदनमोहन जी मालवीय 'कस्तूरी-मृग' भी दिया करते थे—कि कर्म-बली मनुष्य ही अपनी नाभि में 'कस्तूरी' की दिव्य गंध संचित करते रहने का पुण्य अर्जित करता रहता है। जूट के क्षेत्र में, चाहे वह प्रेस स्थापित करने का प्रश्न रहा हो अथवा स्पिनिग मिल बैठाने का, विदेशियों ने अपने कर्म-बल का चमत्कार प्रस्तुत करते हुए कलकत्ता की हुगली नदी के दोनों किनारे इस व्यवसाय के कारखानों का ऐसा जाल बिछा दिया था, मानों किसी विशाल पेड़ की डाली पर यहाँ से वहाँ तक मधु-मक्खियों के छत्ते टंगे हुए हों!

सूरजमल जी जालान ने बेलिग और शिप्पिग का काम जब अपने हाथों में पूरी तत्परता के साथ सम्हाल लिया, तो आपने अपने कर्म-बल की साधना का एक नया परिचय और दिया।

इस प्रेस के खरीदने के साथ ही आपने 'राजेन्द्र' और 'राम' मार्का भी खरीद लिये। जो गाँठें जहाजों द्वारा विदेशों में जाया करती थीं, उन पर बेलरों की तरफ से अपने मार्के लगते थे। इन मार्कों से जूट की उत्तमता, उसकी श्रेणी, रेशे के वर्गीकरण आदि का पूर्व-निर्धारित निश्चय हो जाया करता था। शनैः-शनैः कुछ मार्के विदेशों में बड़े लोकप्रिय हुए। इन मार्कों की क्रय-शक्ति पर व्यापार में अपनी प्रेस-गठित गाँठों का व्यापार एक अर्थ रखता है। 'पाट, हेशियन और बोरे' नामक ग्रन्थ के लेखक श्री शिवनारायण लाल जी लिखते हैं, "गाँठ में किस तरह का पाट है, यह जानने के लिये हर एक गाँठ पर एक खास निशान होना चाहिये, जिसे अंग्रेजी में मार्क कहते हैं। जो पक्की गाँठ के व्यापारी हैं, वे किस गाँठ में कैसा माल दे रहे हैं, यह बताने के लिए उन्हें अपनी गाँठों पर खास मार्का देना पड़ता है। यह मार्का उन्हें कलकत्ता बेल्ड-जूट एसोसियेशन से पास करा लेना पड़ता है। मार्का पास करने के समय ऐसोसियेशन में इसका पूरा ब्यौरा लिख लिया जाता है कि इस मार्के की गाँठ में किस तरह का पाट रहता है, जिससे व्यापारी अपने मार्के की गाँठों में दूसरी तरह का पाट न भर दे। कलकत्ता बेल्ड-जूट ऐसोसियेशन अपने यहाँ रजिस्टर्ड किये हुए मार्कों की तालिका लंदन और डंडी जूट ऐसोसियेशन के पास हरसाल भेज देता है, जिससे से उन्हें यह मालूम हो जाये कि कौन-कौन से प्रचलित मार्के हैं, और किस मार्के का कैसा पाट है। हर

साल जून महीने तक जितने मार्के रजिस्टर्ड हो जाते हैं, उन्हीं के नाम मार्कों की सरकारी किताबों में लिखे रहते हैं। इसी किताब की प्रति लन्दन और डंडी आदि स्थानों पर, तथा अमरीका आदि देशों में भेजी जाती है। जिन मार्कों की रजिस्ट्री जून के बाद होती है, वे दूसरे वर्ष की किताब में दिये जाते हैं।

"इन मार्कों के सहारे विदेशी व्यापारी कलकत्ता से पाट मंगाते हैं। यदि किसी खास मार्के का माल बेचा जाये तो उसी मार्के का माल देना पड़ता है और यदि ग्रूप के नाम से बेचा जाये तो उस ग्रूप के चाहे किसी मार्के का माल दिया जा सकता है। सन् १९३० तक यह परम्परा थी कि लन्दन जूट ऐसोसियेशन से हर साल जुलाई महीने में मार्के की सूची निकलती थी, जिसमें चुने हुए और ऐसोसियेशन से पास किये हुए ऐसे मार्के रहते हैं, जिनका माल अच्छा रहता है और जिन्हें विदेशी जूट डीलर्स खरीदने में विश्वास करते हैं। इन मार्कों के माल को एक्चुअल (यथार्थ) और विश्वासीय कहा जाता है। भेजा हुआ माल घटिया निकलने पर सारी जिम्मेदारी माल बेचनेवाले पर रहती है। पाट के व्यापार में जिन मार्कों का व्यवहार होता है, उनकी दस श्रेणियाँ मानी गयी हैं। १.डायमंड, २. मंगो, ३.ढाका, ४. रेड, ५. फर्स्ट, ६.लाइटनिंग, ७. हार्ट, ८. देशी, ९. तोशा, १०.कटिंग। इन श्रेणियों के भिन्न-भिन्न मार्कों में यह जरूरी नहीं है कि सबमें एक ही तरह का माल हो। न सब मार्कों का दाम ही एक होता है।"

इन संक्षिप्त सूचनाओं से, पहला परिचय इतना अवश्य मिल जाता है कि जूट के व्यापार में मार्कों का व्यापारिक महत्व कितना है। जब सूरजमल जी ने अपना निजी प्रेस स्थापित कर लिया तो आपने उन मार्कों के क्रय के लिए चेष्टा की, जिनका नाम विदेशों में प्रिय बन चुका था। पर जब आपने 'राम' मार्का खरीदा तो एक विचित्र सा क्लेश फैल गया। जिस फर्म से आपने यह मार्का भारी मूल्य चुका कर लिया, उसका बयाना देने के बाद, यह बात पक्की सी हो गयी कि वह 'राम' मार्का सूरजमल नागरमल के स्वत्वाधिकार में आ गया है। किन्तु मारवाड़ी समाज में बहुत से रोग व्यापारिक क्षेत्र में आ बैठे थे। ऐसे एक रोग ने सूरजमल जी को भी विचलित कर दिया। बयाना लेकर भी, 'राम' मार्का के मालिकों ने इस मार्के को किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति को बेच दिया, जिससे उन्हें ऊँचा दाम मिल गया था। यद्यपि ये सज्जन सूरजमल जी के निकटस्थ मित्र और आत्मीय होते थे, लेकिन ऐसी कार्यवाही जब उन्होंने कर ही दी, तो सूरजमल जी ने व्यापारिक न्याय के लिए अदालत की शरण ली। किन्तु विचित्र तथ्य यह था कि उधर अदालत में जोर-शोर से न्याय की तुला पर युद्ध चलता था, लेकिन दैनिक व्यवहार में सूरजमल जी ने इन लोगों से कभी भी व्यक्तिगत कटुता मोल न ली, बल्कि, उल्टे रोज ही दोनों जूट बेलर्स ऐसोसिएशन में आनन्द के साथ बैठते, और किसी भी दिन इस मामले को लेकर पारस्परिक सौजन्य का सरस व्यवहार बन्द न किया। आज इस तरह की मन: स्थिति के दर्शन नहीं हो पाते। सूरजमल जी का हृदय कितना विशाल था, यह एक प्रमाण है।

यह मामला अदालत में बहुत दिनों तक चला और अन्त में विजय सूरजमलजी को मिली। 'राम' मार्का आगे चलकर उन्हे शुभ सिद्ध हुआ।

'सूरजमल नागरमल' ने 'राम' मार्का के अतिरिक्त 'राजेन्द्र' मार्का भी एक बंगाली सज्जन से खरीद लिया। इन दो मार्कों के स्वत्वाधिकारी हो जाने से जूट के बाजार में इस फर्म की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और विदेशों के बाजार में भी इस फर्म की धाक जमने लगी।

पाट का व्यवसाय वस्त्र से भी दुरूह व्यूहचक्र के तुल्य रहा है। इसका भेदन और इस पर पूर्ण विजय और इस क्षेत्र पर सार्वकालिक आधिपत्य और इस पर, विदेशी पूंजी के सन्तुलन में, कर्म-बल से अपनी पूंजी के साम्राज्य की स्थापना मारवाड़ी समाज ने किस तरह की है, उसकी एक संक्षिप्त सी झलक सूरजमल जी के स्वस्थ गति से चल रहे व्यापार में मिलती है। उनके सहधर्मी और उनके समवयस्क अन्य मारवाड़ी जनों ने अंग्रेजों से किस तरह एक एक अंग में इस व्यूहचक्र की अग्रिम पंक्ति को ध्वस्त किया है, उस कथा में मिलती है। सूरजमल जी सन् १९११ में, स्थूल दृष्टि से, प्रेस के अधिकारी बन गये थे, लेकिन स्थिति वास्तविक अर्थों में इतनी ही न थी। बहुत शीघ्र, विश्वयुद्ध शुरू होते ही, आप ही पाट के प्रमुख व्यापारी मान्य हुए। यह मान्यता एक व्यक्ति की न थी, समूचे समाज की थी, समूचे समाज के बाहुबल की परिचायक थी, उसके गौरव की घोषणा करनेवाली थी। सन् १९१४ तक भारत में राष्ट्रीय युद्ध, पूरी तरह, प्रारंभ भी न हुआ था। क्रांतिकारी आन्दोलनों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का नवोन्मेष होने लगा था। लेकिन गोखले और तिलक ने अवश्य अपने अविस्मरणीय अध्याय प्रेषित कर दिये थे और वह बीहड़ जंगल साफ कर दिया था, जिस पर चलने के लिए फिर गांधी जी को अपने पुरुषार्थ का इतना अधिक क्षय न करना पड़ा। किन्तु उस सन्तुलन में, भारतीय व्यापार का, राष्ट्रीय आन्दोलन कहीं अधिक उग्रता के साथ शुरू हो चुका था। मारवाड़ी समाज में बड़े पैमाने पर एक से एक धुरंधर व्यक्ति, अपनी व्यापारिक शक्ति के बल पर, अंग्रेजों द्वारा कुटिलता पूर्वक आरोपित षड्यंत्रों से भरे जिन्हों के व्यूहचक्रों को तोड़ने का विद्रोह लिये आगे बढ़ रहे थे और जूझ रहे थे। विनीत भाव से इस व्यूहचक्र के ध्वंस करनेवालों में से एक कर्म-रथी सूरजमलजी भी थे।

'हैम्प' के सबसे बड़े 'एक्सपोर्टर'

भोम सराहो ठाकराँ, काँई सराहो विन्द।
भू विन भला न नीपजैं, नर, तुर, और गयन्द॥

—धरती की यह विशेषता है कि वह अपनी तासीर का परिचय गुणी जनों को अवश्य देती रहती है। विशेष भूमि में ही विशिष्ट गुण-शील चमत्कारी पुरुष, घोड़े और हाथी उत्पन्न हुआ करते हैं। बीज की बात को अनावश्यक महत्व देने से भूमि के साथ पूरा न्याय नहीं हुआ करता।

[१६]

नों का दोहन करने से गऊ हमें दूध देती है? शास्त्रकारों ने इसी भाव को लक्ष्य में रखते हुए पृथ्वी की तुलना भी गाय से की है और बताया है कि वैश्य जाति इसी पृथ्वी का दोहन करने से संपत्ति का संचय किया करती है।

खनिज और वनस्पति पदार्थों के अतिरिक्त, वानस्पतिक रेशों की दृष्टि से कपास और जूट के बाद, एक तीसरा पदार्थ सन रहा है, जो कुछ दृष्टियों से मानव-जाति के इतिहास में उतना ही प्राचीन जितनी कि कपास।

भारतीय इतिहास में पुराणकाल से भिन्न-भिन्न भूमि-खंड समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यापारों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। जिस तरह मनु-स्मृति में काशी का रेशम और अन्य स्थानों की विशिष्ट वस्तुओं का वर्णन मिलता है,उसी तरह कालिदास के काव्यों में और बाणभट्ट, भारवि, हर्ष आदि के काव्यों में भिन्न-भिन्न व्यापारिक नगरों का पठनीय उल्लेख आया है। फाहियान, इब्नबतूता, बाबर द्वारा लिखित'बाबरनामा','आइने-अक्बरी',सर टामस रो के यात्रा-वृत्तांत, आदि में बराबर उन नगरों की चर्चा मिलती है, जहाँ पर विशिष्ट पदार्थों का व्यापार होता था। हमारा देश व्यापार-वाणिज्य की दृष्टि से हर युग में बहुत समुन्नत रहा है। हमारे वैश्यों की व्यापार-लक्ष्मी का वैभव इतना समृद्ध रहा है कि उससे आकर्षित होकर वैदिक काल से ही पश्चिमी देशों के व्यापारी-वर्ग बराबर इधर आते रहे। फ्रांसिसी लोगों और डचों का आगमन पुर्तगालियों के उपरान्त हुआ। और, १७वीं सदी के अन्त तक, अंग्रेजों ने भी अपने कदम इस तरह अडिग बनाने शुरू किये कि उनकी छत्र-छाया में बसनेवाली नई व्यापारिक मंडियों के प्रति भारतीय व्यापारियों का आग्रह बढ़ने लगा। १६वीं सदी के अन्त में कलकत्ता का प्रारंभिक प्रारूप ऐसी ही अनिश्चित मंडी के रूप में था। शासकीय नगर की रूप-रेखा कुछ इसी के बाद निश्चित होने लगी थी। १८वीं सदी के अन्त तक, ३०० वर्षों में, यह पश्चिमी व्यापार का मुख्य बन्दरगाह ही घोषित नहीं हो गया, विदेशी शासन के संरक्षण में संचालित भारतीय व्यापार का प्रधान सूत्र-संचालन-केन्द्र भी बन गया। अंग्रेजों ने भारत के प्राचीन व्यापार को अनेक मोड़ दिये, अनेक नई वस्तुओं को व्यापार का केन्द्र बनाकर उनकी लोकप्रियता को चरम छोर तक पहुँचा दिया। पश्चिमी औद्योगिक क्रांतिके कारण,उनकी मिलों में बने हुए वस्त्र, इस देश के वस्त्रों में शिरमौर हो गये। जूट का जैसे आविष्कार हुआ हो, इसका व्यापार देखते न देखते खूब बढ़ा-फूला। जूट की श्रेणी का दूसरा रेशा हैम्प था। विश्व के व्यापार में भारतीय हैम्प की माँग बहुत अधिक प्रारंभ में न रही,रूस और चीन से जानेवाले हैम्प का नाम ही ज्यादा चलता था। एक बार तो, लगभग ५० वर्षो तक स्थिति यह रही कि इंग्लैण्ड में मशीनों द्वारा जो फ्लैक्स तैयार होता था, उसमें रूससे आया हुआ हैम्प प्रयुक्त होता था और उत्पादकों को यह लिखित गारंटी अपनी गाँठों पर घोषित करनी पड़ती थी कि इसमें भारतीय हैम्प का मिश्रण नहीं है! वह युग रूसी हैम्प का था, और उसी की माँग सारी दुनिया में फैली हुई थी।

लेकिन रूसी हैम्प का परिच्छेद सहसा ही अन्ताराष्ट्रीय व्यापार में समाप्त हो गया। १९वीं सदी के ५० वर्ष बीतते-न-बीतते, रूस और पश्चिमी देशों के बीच में राजनीतिक विग्रह इस सीमा तक बढ़ा कि उसने अपना हैम्प बाहर भेजना बन्द कर दिया। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन में डंडी की मिलें ठप्प पड़ गयीं। उस समय भारत में एक नये रेशे की तलाश हुई और उसी का परिणाम था कि भारतीय जूट को महत्व मिलने लगा। इसी महत्व-वृद्धि के साथ भारतीय हैम्प का व्यापार भी नई गति करने लगा। अन्ताराष्ट्रीय व्यापार में अब भारतीय हैम्प के साथ परहेज का व्यवहार बन्द होने लगा।

१९ वीं सदी के अन्त तक हैम्प का व्यापार भारत में कौन से नये अध्याय रच रहा था, यह समझने से पहले हमें इसका इतिहास देख लेना होगा। मनुष्य ने सभ्यता के आदि युगों में जिन वानस्पतिक रेशों से बुनाई शुरू की थी, उसमें से हैम्प भी एक है। वनस्पति-शास्त्र के जानकार इस विषय में एकमत हैं, कि यह मूलतः केन्द्रीय व पश्चिमी एशिया का पौधा है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हीरोडोटस ने हैम्प की चर्चा की है और बताया है कि सीथिया और थीरोगिया में यह उगता

था। वस्त्रों के उत्पादन में इसका प्रयोग इतनी उत्तमता से होने लगा था कि उसे देखकर लिनन की भ्रांति होती थी। ग्रीक लोगों ने इसका ज्ञान पूर्वी देशों से पाया था। रोमनों ने इसका कैन्नाविस नाम ग्रीक भाषा में प्रचलित इसके नाम-रूप शब्द का रूपान्तर करते हुए बनाया था। लेकिन रोमन और ग्रीक शब्द भारत के संस्कृत शब्द सन शब्द से गृहीत हुए हैं। इसका प्रयोग रोमन लोग नौकाओं और जल-पोतों की पाल बनाने में करते थे। कैन्नाविस शब्द से ही फ्रेंच शब्द'कैन्वास' बना है। वस्त्र बनाने से पहले मनुष्य ने वनस्पति के रेशों से कारडेज (रस्सियाँ और रस्से) बनाना शुरू कर दिया था। यों बात इस तरह प्रसिद्ध है कि फाँसी का रस्सा रेशम से बनता है,लेकिन सत्य यह है कि छठी सदी के बाद से यूरोप भर में फाँसी का रस्सा सदैव हैम्प से ही बनता रहा है और आज तक वह नियम पूर्ववत् चला आ रहा है।

पश्चिमी इतिहासकार अनेक प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित करते हैं कि ईसा से २८०० वर्ष पूर्व तक यह चीन में उगता था और भारत में इसकी खेती ईसा की पहली सदी से प्रारंभ हुई है। किन्तु वास्तविक सत्य यह नहीं है। हैम्प की एक जाति का प्रयोग हमारे यहाँ भाँग के रूप में आदिकाल से हो रहा है। विजया भगवान शिव का पेय पुराणकाल से पहले से है। राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान ने यह घोषित किया था कि वेदों में जिस सोमरस की चर्चा है, वह वास्तव में यही भाँग है। भारत में हैम्प के रेशों का प्रयोग अवश्य हुआ,पर विश्व भर में हैम्प का पुराना नाम इंडियन हैम्प कैसे बना, यह एक निगूढ़ पहेली है। लगभग ५० वर्षों से विश्व में अन्य देशों के हैम्प से भारतीय हैम्प का वर्गीकरण अलग करने के लिए इंडियन हैम्प भारत के हैम्प को ही कहा जाता है। हैम्प के औद्योगिक महत्व को देखते हुए विश्व भर के देशों ने अपने-अपने देशों में इसकी खेती प्रारंभ कर दी है। मनीला में अवाका नाम के पौधे से जो रेशे निकलते हैं, वे भारतीय सन से बहुत मिलते-जुलते हैं, इसलिए उसका अलग नाम करने के लिए, उसे मनीला हैम्प कहा जाता है। सीसल हैम्प आगेव नामक पौधे के रेशे से तैयार होता है। अफ्रीका आदि देशों में भी कुछ ऐसे पौधे तैयार होते हैं, जिनका रेशा सन से मिलता-जुलता है। लेकिन ये सब नकली हैम्प हैं। आजकल आस्ट्रेलिया, अमरीका, फ्रांस, इटली, जर्मनी और रूस आदि देशों में असली हैम्प की खेती फाइबर-प्लान्ट नाम से की जाती है। अमरीका में तो यह औपनिवेशिक राज्यों के जमाने से ही उगाया जाने लगा था। अब हैम्प से रस्से, कैवल्स, बोरे, टोप के परदे, कुछ खास किस्म के कागज, कारपेट, कैन्वास आदि वस्तुयें विशेष रूप से बनाई जाती हैं। लिनोलियम, साबुन, रंगों के लिए सूखनेवाले तेल भी इससे व्यापारिक स्तर पर बनते हैं। अमरीका पूर्वी देशों से हैम्प (भांग) के बीज लाखों टन मंगाता है, क्योंकि, उसका रासायनिक तेल निकालने के बाद, जो चूर बचा रहता है, उसका चुग्गा पालतू पक्षियों को दिया जाता है। कुछ लोग इस चूरे को खाद के रूप में भी प्रयुक्त करते हैं। पालतू कबूतर इसका चुग्गा बहुत शौक से खाते हैं।

इस तरह हैम्प औद्योगिक जगत की बहुत लोकप्रिय वस्तु रहा है। अंग्रेजों ने जब जूट के लिए कलकत्ता के आसपास प्रेस और मिलें स्थापित करनी शुरू कीं, तो सन की माँग भी बढ़ने लगी और इसके निर्यात-व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि परिलक्षित होने लगी। बंगाल-चैम्बर की रिपोर्टों को देखने से पता चलता है कि हैम्प भी एक विशेष निर्यात वस्तु रहा है। प्रारंभ में इसका व्यापार अंग्रेजों ने अपने हाथों में रखा, लेकिन २० वीं सदी के प्रारंभ होते ही इस का धंधा भी मारवाड़ी व्यापारियों ने संभालना शुरू कर दिया।

सूरजमल जी जालान ने 'सूरजमल नागरमल' फार्म की स्थापना के दो वर्ष उपरान्त सन् १९०७ से शिप्पिंग का काम भी हाथ में ले लिया था। वे जूट की गाँठों को विदेशों में भेजने लगे थे। जूट के साथ ही उन्होंने हैम्प की बेलिंग का और उसके निर्यात का काम भी यथाशक्ति शुरू कर दिया। अब वे जूट व हैम्प की बेलिंग और शिप्पिंग इस तरह चार मुख्य व्यवसायों के स्वत्वाधिकारी बन चुके थे। क्यों कि मारवाड़ी शिप्पर्स में वे ही पहले एक्सपोर्टर थे, जिन्होंने हैम्प का व्यापार हाथ में लिया था, इसलिए यह स्वाभाविक था कि वे इसका व्यापारिक प्रचार किसी रूप में करें। जब उन्होंने अपने फर्म का, तार देने के लिए, संक्षिप्त सूचना-शब्द पोस्टआफिस में रजिस्टर कराया तो, हैम्प-बेलर (Hempbaler) शब्द ही प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं, विदेशों के बाजार में सूरजमल नागरमल द्वारा निर्यात होनेवाले सन के दो मार्के बहुत अधिक प्रचलित होने लगे— 'रोज' मार्का और 'हनुमान' मार्का, ये दोनों मार्के उन्होंने अपने पुरुषार्थ से बाजार में चलाये थे।

दृश्य जगत में यही प्रसिद्ध रहा कि सूरजमल जी जूट के व्यापार में ही अधिक व्यस्त रहे और उसी के कार्य को उन्होंने अधिक प्रसारित किया। जूट-प्रेस खोलने में प्रगति की। सन् १९११ के बाद दो वर्ष कठिनाई से गुजरे भी न होंगे कि प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो गया। युद्ध के क्षणों में सहसा ही भारतीय हैम्प की मांग बड़े वेग से बढ़ने लगी। सूरजमल नागरमल की व्यस्तता ऐसे मौके पर पूरी तत्परता के साथ जिस तरह वृद्धि पाने लगी, वह देखते ही बनती थी। प्रथम विश्वयुद्ध ने उन सब व्यापारियों को अपने भाग्य की कसौटी प्रदान की थी, जो २०वीं सदी के प्रथम चरण में आगे आये थे। विगत १५ वर्षों से सूरजमल जी ने भी व्यापारिक प्रगति की दृष्टि से काफी तपस्या कर ली थी और अब उनका सौभाग्य-देवता अपना वरद् हस्त उनकी ओर बढ़ाने के लिए लालायित हो गया था। हैम्प के क्षेत्र में यद्यपि बहुत से लोगों ने अपना हाथ डाला, विश्वयुद्ध द्वारा उपस्थित व्यापारिक प्रतियोगिता में वे उतरे, लेकिन सामर्थ्य-शक्ति, व्युत्पन्नमति, सूक्ष्म अध्ययन, विश्व मार्केट को हस्तामलक-सा देखने

की परख, सन के संचय-संग्रह में अत्यधिक शक्ति-नियोजन और विदेशों के डीलरों में अपना विश्वास घनीभूत करने का प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व—इन प्रेरक गुणों से यह बात जग-जाहिर हुए बिना न रही कि सूरजमल नागरमल ही हैम्प के सबसे बड़े एक्सपोर्टर हैं। विश्वयुद्ध के अन्तिम समय तक यह यशस्वी प्रधानता बनी रही। उसका स्थान सबसे प्रथम ही मान्य रहा। इस व्यापार में फलवृद्धि आंशिक गति से हो रही थी। कि सहसा ही विश्वयुद्ध की मध्यावधि में कुछ ऐसा संकट आया कि हैम्प का एक्सपोर्ट भारत सरकार द्वारा स्थगित कर दिया गया। एक विचित्र-सा सस्पेंस तब इस व्यापार में आ गया था। सूरजमल जी क्योंकि केवल हैम्प के काम में ही अपनी शक्ति नहीं लगा रहे थे, इसलिए उनका स्टाक मौके की राह में सुरक्षित रखा रह गया। किसी भारी क्षति का सामना उन्हें न देखना पड़ा।

बाजार में दो स्थानों का हैम्प अधिक प्रचलित था : बंगाल हैम्प और बनारस-हैम्प। उत्तर प्रदेश में हैम्प प्रतापगढ़, आजमगढ़, बिन्दकी, ओरैयां, इलाहाबाद जिला और बनारस जिले में होता है। बंगाल में हैम्प बारसोई, उल्लापाड़ा, सिराजगंज, चौलमोगरिया और धूलियान में होता है। कटक में भी यह होता है, कुछ अन्य स्थानों में होता है, लेकिन सबसे अधिक हैम्प यूपी और बंगाल में होता है। हैम्प के अतिरिक्त एक वीविंग फाइबर 'गंजाम' भी है। यह चन्दौसी, जबलपुर आदि की तरफ होता है।

सन् १९१५ के बाद सन् १९१६ बीता और नया वर्ष आया, कि हैम्प का एक्सपोर्ट कुछ अरसे बाद दुबारा खुल गया। अब क्या था। सूरजमल नागरमल ने पुनः इस क्षेत्र में अपनी अग्रणी स्थिति को दृढ़ किया। विदेशों में हैम्प की माँग एक साथ इतनी अधिक आई कि जहाँ तादाद की बढ़ी-चढ़ी माँग कई गुना बढ़ी हुई थी, उसी के अनुपात में दरों में भी अकल्पनीय वृद्धि हो गयी थी। सूरजमल जी ने पूरी सामर्थ्य के बल पर अधिकतम हैम्प का एक्सपोर्ट किया। इस स्थिति में उनकी भाग्य-लक्ष्मी अब जिस तरह मुस्करा रही थी, वह उज्ज्वल भविष्य की द्योतक थी। वे अब केवल जूट-व्यापारी ही नहीं रह गये थे। अब उनकी गणना व्यवसाय के क्षेत्र में अग्रणी पंक्ति में होने लगी थी!

जिन क्षणों में हैम्प का एक्सपोर्ट विश्वयुद्ध की अवधि में बन्द हुआ था, उस समय तक सूरजमल नागरमल अपने कार्य का विस्तार करते हुए हैम्प के लिए बनारस में भी बेलिंग का काम शुरू कर चुके थे। पहले तो बनारस से कच्ची गाँठें ही कलकत्ता से आतीं और यहाँ पर उन की पक्की गाँठें बांध कर निर्यात के लिए भेजा जाता। लेकिन कार्य-वृद्धि और सुचारू व्यवस्था की दृष्टि से आपने बनारस से पांच मील दूर शिवपुर में बेलिंग करना शुरू कर दिया और हैम्प की पक्की गाँठें वहीं बनने लगीं। वे गाँठें कलकत्ता पहुँचते ही निर्यात के लिए सीधे खिदिरपुर डक में प्रस्तुत कर दी जातीं।

विश्वयुद्ध की अवधि में सन् १९१४ से लेकर १८ तक जूट और हैम्प के दामों में अकल्पनीय वृद्धि हुई। दरों में असामान्य रूप से तेजी आई। एक कारण लाभांश की प्राप्ति का और बना। टेलेग्राफिक ट्रांसफर (जिसे टी० टी० भी कहते हैं) की वजह से विदेशी विनिमय की दरों में जो तेजी आई, उसकी सुविधा से भी लाभ की अधिक गुंजाइश उत्पन्न होती चली गयी।

लाभांश का गुणनफल व्यापार को नवीन क्षमता प्रदान करता है। नवीन क्षमताओं से व्यापार की शक्ति अपनी नई दिशायें और नये अध्याय लिखने की मौलिकता अर्जित करने लगती है। ऐसे ही कारणों के बल पर सूरजमल जी ने हैम्प के कार्य को एक नया मोड़ देते हुए, बनारस में हैम्प का संग्रह करने की दृष्टि से बहुत लम्बे-चौड़े बाड़े बनवाये। जबकि युद्ध के बाद अन्य चीजों में देखने भर की मन्दी आई, हैम्प के काम में इस तरह का कोई ह्रास न आया और सूरजमल नागरमल के हैम्प-व्यापार में निरन्तर प्रगति होती रही। कलकत्ता से श्री श्यामदेव जी देवड़ा को इस विशेष काम का संयोजन करने के लिए बनारस भेजा गया था। वे वहाँ पर चार वर्ष तक रहे। आपने बनारस पहुँचते ही नाके-नाके पर काँटे खड़े करवा दिये ताकि सन के खेतिहर वहीं पर माल तोल कर अपने पैसे लें और घर लौटें। यह प्रगति सूरजमल नागरमल के, प्रसारित हो रहे, यश की दिशाएँ नियोजित करती रही; सूरजमल जी के लिए व्यावसायिक जगत में प्रणम्य प्रशस्ति के आयोजन भी करती रही।

कलकत्ता न केवल अंग्रेजों की सौभाग्य-भूमि रहा, यह राजस्थान के सभी प्रवासी भाइयों के लिए भी सौभाग्य की खेती फलप्रद बनाता रहा। कलकत्ता की भूमि में यह प्रकृत गुण है कि अपने किसी अतिथि को यह बेकार नहीं रहने देती। पुरुषार्थ जिसके पास है, उसे कलकत्ता निहाल करता रहा है। कहना चाहिये, फलवती लक्ष्मी का यह ऐसा प्रभा-पल्लवित मंच बन गया, जिस पर आसीन होकर कोई भी अर्थ-सौजन्य की कृपा से वंचित न रहा। कलकत्ता ने १९वीं सदी के अन्त तक यह विरासत निश्चित कर दी कि जो भी उत्तम व्यापारी है, उसे वरदान-स्वरूप धनाढ्य अवश्य बनाया जाए। कलकत्ता में जब तक बंगाली व्यापारी पूरे श्रम-बल के साथ व्यापार और वाणिज्य में और कृषि में दत्तचित्त रहे, वे एक के बाद एक लक्षाधीश होते गये। जो विदेशी लोग मामूली सी हैसियत लेकर यहाँ व्यापार करने आये, वे भी लक्ष्मीपति होकर यहाँ आबाद रहे और वैसी ही रमणकारी स्थिति में अपने घरों को वापस लौटे। अंग्रेजी हुकूमत इसी कलकत्ता की भूमि से समस्त देश का स्वत्व अर्जित कर पाई। इसी भूमि में सूरजमल जी जालान से पहले, अनेक मारवाड़ियों ने बढ़-चढ़ कर व्यापारिक दक्षता प्राप्त करने का तप किया था और लखपति पद को प्राप्त हुए थे। उनकी संख्या बहुत अधिक यद्यपि नहीं है, लेकिन समाज के इतिहास में उनका नाम पुनः-पुनः लिया जाता है। इसी भूमि में सूरजमल

जी को केवल १५वर्ष की अवधि में सन् १९०३ से लेकर १९१८ तक, लक्ष्मी की सिद्धि सहज भाव से प्राप्त हो गयी थी। इंडियन हैम्प अपने इतिहास का एक नया अध्याय उनके हाथों लिखवाने में समर्थ हो गया था। जूट को विदेशों में स्वर्ण-सूत्र (गोल्डन फाइबर) कहा जाता है। लेकिन हैम्प की दीप्ति भी अतुलनीय है, वह अनेक अर्थों में स्वर्ण से भी उत्तम सिद्ध हुआ है। इसीलिए उसे विदेशों में वाणिज्य-साहित्य के अन्तर्गत कुछ लोगों ने प्रथम विश्वयुद्ध के समय 'सुपर गोल्डन फाइबर' कहा है। सूरजमल जी को यह हैम्प उच्च-स्तरीय सम्मान, यश, कीर्ति, प्रशस्ति, उपलब्धि, व्यापारिक श्रम की पूर्णाहुति और सामाजिक कर्मबल की परिणति ही नहीं समर्पित कर गया, उन्हें लक्ष्मी के वरद् हस्त के स्थायी वरदान के शुभागमन का महोत्सव भी अमूल्य भेंट में दे गया। यहीं से सूरजमल जी के जीवन का पंचम अध्याय, जो कि उनके जीवन का सबसे अधिक प्रशस्त कर्म-लेख है, प्रारंभ होता है।

यह बात यहाँ पर स्मरणीय है कि सन भारत में बहुत अधिक पैदा नहीं होता था। जो होता था, उसका उपयोग स्थानीय क्षेत्रों में ही बहुतायत से हो जाता था। विदेशी जन वेष्टन और त्रिपाल आदि के लिए रेशेदार वनस्पति की तलाश भारत में अवश्य कर रहे थे, किन्तु यह तलाश अत्यंत कुटिलता से बोझिल आधारों पर होती थी। वे यह चाहते थे कि जो भी चीज प्राप्त हो, वह सस्ते में मिल जाए, उसके खेतिहर चाहे अधपेट भूखे रहें, अर्द्धनग्न रहें, किन्तु हमारे मोटे लाभ के लिए उन्हें श्रम करते रहना चाहिए। दास भाव को प्राप्त देश के श्रमिकों को ये विदेशी व्यापारी ऐसा ही पशु समझते रहे। नील आदि की खेती में भारतीय खेतिहरों पर कितना अत्याचार होता था, वह तो गाँधी जी द्वारा चम्पारन में छेड़े गये प्रथम सत्याग्रह से पता चला था। सन की भी यही स्थिति थी। फलतः भारतीय किसान इस की खेती कम से कम करते थे, क्योंकि उन्हें सदा कम से कम दाम प्राप्त हो पाता था। इसकी बनिस्वत वे अन्य दामी जिन्सों की खेती करने में ज्यादा विश्वास करते थे। जब अंताराष्ट्रीय स्तर[1] पर सन के प्रयोग का आग्रह बढ़ने लगा[2] तो विदेशी व्यापारी इसका क्रय-मूल्य बढ़ाने पर विवश हुए, क्यों कि उसी परिवर्तित स्थिति में यह संभव हो सकता था कि इस देश के किसान इस की खेती में उत्साह प्रदर्शित करें। अधिक मूल्य मिलने के बाद ही इस के कृषि-क्षेत्र में अधिक विस्तार होने लगा।

सन की खरीद प्राम्भ में आढ़तदारों की मार्फत हुआ करती थी और सूरजमल नागरमल के अनेक व्यक्ति इन आढ़तदारों के यहाँ उपस्थित रहते थे। किन्तु जब प्रथम विश्वयुद्ध हुआ तो फर्म के आदमियों ने उत्तर प्रदेश के उन सब अंचलों में, जहाँ सन उत्पन्न होता था, किसानों से सीधा खरीदना शुरु कर दिया, ताकि आढ़तदारों के पास पहुँचने से ही पहले किसानों को तात्कालिक रुपयों की अदायगी की जा सके और नकद रुपयों की देनदारी का लाभ उठाते हुए किसान भी अधिक सुविधाओं का आनंद पा सकें।

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले सन ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, ऐंटवर्प आदि देशों में बहुतायत से जाता था। पर प्रथम विश्वयुद्ध ने जर्मनी में में इसकी खपत बहुत बढ़ा दी थी।

जिस प्रकार अन्य वस्तुओं के व्यापारी अपना एक ऐसोसिएशन बना कर रखते, कुछ उसी तरह हैम्प ऐसोसिऐशन भी कलकत्ता में गठित हो चुका था और सूरजमल नागरमल इसकी कार्यकारिणी में सम्मानास्पद स्थान ग्रहण करते थे।

हैम्प के संबंध में बहुत पहले से कलकत्ता में एक वार्षिक रिपोर्ट छपती रही है। इसमें अध्ययन-योग्य आँकड़े, वार्षिक खपत, निर्यात की स्थिति, मूल्यों का संतुलन और हैम्प के व्यापारियों की सूची रहती थी। इस रिपोर्ट से इस वस्तु के देशी-विदेशी व्यारियों को अनेक प्रकार से लाभ पहुँचता था।

सन् १९१७-१८ में प्रथम विश्वयुद्ध पूर्णतया शान्त हो चुका था, उसका रहा-सहा आतंक भी विस्मृत होने लगा था। युद्ध-जनित महंगाई के अनेकानेक प्रभाव समाज में परिलक्षित होने लगे थे, धन की चमक के दर्शन स्वतः हो जाते थे। जो पांच-सात वर्ष पहले तक साधारण व्यापारी थे, वे अब अग्रणी श्रेणी के धनिक थे और उनकी अपनी भौतिक सम्पत्ति उल्लेखनीय बनने लगी थी। किन्तु इसी संतुलन में राजनीतिक अधिकारों की मांग का प्राबल्य एक ऐसी हुमस सार्वजनिक क्षेत्र में पैदा करने लगा था कि सरकार शासन-सुधारों के शब्द-बोझिल सुधारों से इस हुमस को गौण करना चाहती थी। पर सत्य स्थिति यह थी कि देश का राज-नीतिक जागरण शुरु हो चुका था और कलकत्ता में इस की गरमी इतनी अधिक हो गई थी कि जितनी क्रांतिकारी आन्दोलनों के समय भी न रही होगी।

इस संधि-रेखा पर खड़े होकर हम देखते हैं, भारतीय व्यापारी सहृदय भाव से राष्ट्रीय आन्दोलन के मौन अथवा मुखर सहयोगी बनने लगते हैं। सूरजमल जी जालान ने हैम्प और जूट की असाधारण महंगाई का लाभ उठाते हुए केवल व्यक्तिगत संजोग ही ग्रहण न किया, वे इस लाभ का उचित लाभांश अब अन्य कल्याणास्पद दिशाओं में भी वितरित करने लगे। राष्ट्रीय विचारों के समर्थन में उनका मौन कृतित्व किन प्रशस्त पथों पर अग्रसर हुआ, आगे के पृष्ठों में यह सचमुच एक पढ़ने की बात है।

---

१ निर्यात होने वाले समस्त सन का ७० प्रतिशत कलकत्ता बंदरगाह से जाता है, २५ प्रतिशत बम्बई से और शेष मद्रास व अन्य बन्दरगाहों से।

२ सन १८०२ में पहली बार ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कम्पनी के डायरेक्टरों की आज्ञा से सन की गाँठें इंग्लैंड भिजवाई थीं। तभी से इसका स्वागत विदेशों में होने लगा। १८७० में केवल २५०० टन ही यह बाहर भेजा गया था, लेकिन प्रथम विश्व-युद्ध में यह मात्रा बढ़ कर २८००० टन हो चुकी थी।

विन्नु. नृसिंह-वराह-संयुक्त भव्य रूप,
८ वीं सदी. चन्द्रभागा. झालावाड़]

विष्णु का यह रूप वराह-अवतार से लेकर हिरण्यकशिपु के राज्य-विस्तार तक की मानवात्मा का स्मरण कराता है। इस महापराक्रमी राक्षस-राज के अनुह्लाद, ह्लाद, प्रह्लाद और संह्लाद चार दैत्य-वंश-गौरव पुत्र थे। किन्तु प्रह्लाद ने ही पुनः अपने युग में मानवता की रक्षा आसुरी भावों से की थी।

वराह और नृसिंह रूप शोभित विष्णु ही कल्याण हैं !

आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम्।
बिभर्ति कौस्तुभमणिस्वस्वरूपं भगवान्हरिः ॥
(श्रीविष्णुपुराण, १, २२, ६८-७६)

इस जगतके निर्लेप तथा निर्गुण और निर्मल आत्मा को अर्थात् शुद्ध क्षेत्रज्ञ-स्वरूप को श्रीहरि कौस्तुभमणिरूप से धारण करते हैं। श्रीअनन्त ने प्रधानको श्रीवत्सरूप से आश्रय दिया है और बुद्धि श्रीमाधवकी गदा रूपसे स्थित है। भूतोंके कारण तामस, अहंकार और इन्द्रियों के कारण राजस अहंकार इन दोनों को वे शंख और शार्ङ्ग-धनुष रूपसे धारण करते हैं। अपने वेग से पवनको भी पराजित करनेवाला अत्यन्त चंचल, सात्विक अहंकाररूप मन श्रीविष्णुभगवान् के कर-कमलों में स्थित चक्र का रूप धारण करता है। हे द्विज ! भगवान गदाधर की जो (मुक्ता, माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील और हीरकमयी) पंचरूपा वैजयन्ती माला है, वह पंचतन्मात्राओं और पंचभूतों का ही संघात है। जो ज्ञान और कर्ममयी इन्द्रियाँ हैं, उन सब को श्रीजनार्दन भगवान् बाणरूपसे धारण करते हैं। भगवान् अच्युत जो अत्यंत निर्मल खड्ग् धारण करते हैं, वह अविद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय ज्ञान है। श्रीहरि रूपरहित होकर भी माया रूपसे प्राणियों के कल्याण के लिए इन सब को अस्त्र और भूषण रूप से धारण करते हैं।

प्रहलाद ने दैत्यकुमारों से एक ही मर्म की बात कही थी कि विषयों का जितना-जितना संग्रह किया जाता है, उतना-उतना ही वे मनुष्य के चित्त में दुख बढ़ाते हैं। घर में जो कुछ धन-धान्यादि होते हैं, मनुष्य के जहाँ-तहाँ परदेश में रहने पर भी वे पदार्थ उसके चित्त में बने रहते हैं और उनके नाश-दाह आदि की सामग्री भी उसी में मौजूद रहती है। हे दैत्यो, मैं आग्रह पूर्वक कहता हूँ कि तुम इस असार संसार में सर्वत्र समदृष्टि करो, क्योंकि समदृष्टि ही श्री अच्युत की वास्तविक आराधना है।

सेठ नागरमल बाजोरिया

श्री सूरजमल जालान
[सन् १९१६]

देवघर की बिजली कोठी में, सन् १९३३

(खड़े हुए बायें से) सर्वश्री सजनलाल जालान, मुनीम, चिरंजीलाल बाजोरिया, मोहनलाल जालान

(बैठे हुए) रामकुमारजी कनोई, सूरजमलजी जालान, रामचंद्रजी (हेडमास्टर, रघुनाथ विद्यालय),

(नीचे बैठे हुए) श्री किशोरीलाल जालान, नंदलाल बाजोरिया, तोलाराम जालान, नंदकिशोर जालान।

[समिद्धेश्वर महादेव, चित्तौड़-गढ़ में विजय-यात्रा का
उल्लास-सूचक मार्मिक शिल्प-अंकन, १६ वीं सदी

चतुर्थ परिच्छेद

रतनगढ़ में जन-कल्याण के भिन्न महोत्सव

●

रयिश्च मे रायश्च मे, पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे, विभु च मे प्रभु च मे, पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे।
कुयवं च मेऽक्षितं च मे, ऽन्नं च मे ऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥
वित्तं च मे वेद्यं च मे, भूतं च मे भविष्यच्च मे। सुगं च मे सुपथ्यं च मे, ऋद्धं च मे ऋद्धिश्च मे,
क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे, मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजुर्वेद १८ : १०-११)

—मेरा धन और मेरी संपत्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा पोषण और मेरी पुष्टि यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा वैभव और मेरी प्रभुताई यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी पूर्णता और मेरी पूर्णता-भरी स्थिति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी प्रचुरता और मेरी तृप्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा प्राप्त किया जा चुका और मेरा प्राप्त किया जानेवाला यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा भूत और मेरा भविष्यत् यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा स्वास्थ्य और मेरे स्वास्थ्य का उत्तम साधन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे ऐश्वर्य और मेरी संपत्ति की साधना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी सामर्थ्य और मेरी सामर्थ्य की साधना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी मति और मेरी सुमति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

●

[२०]

औचित्य की माँग वहाँ की जाए, जहाँ न्याय की आसंदी किसी देव-मनुष्य ने स्थापित कर दी हो। सामंती युगों में औचित्य का प्रश्न ही कहाँ था, जब कि जीवन की गति कठोरतम अन्याय के अभिशाप से त्रस्त थी। रतनगढ़ जोधपुर-डिवीजन के उत्तर में और जयपुर-डिवीजन के उत्तर-पश्चिम में स्थित है। अन्य राजस्थानी नगरों की तुलना में रतनगढ़ का विकास अपेक्षया बहुत विलम्ब से हुआ है। इस के प्रति बीकानेर राज्य की जो प्रारम्भिक रुचि थी, वह शनैः-शनैः संकुचित होती गई; बाद के नरेशों ने अपने बीकानेर का विस्तार करने में ही उत्साह लेना याद रक्खा। यद्यपि रतनगढ़ में अनेक वैश्य धन-अर्जन की दृष्टि से २० वीं सदी के प्रारंभ होने तक समर्थ

और सबल हो चुके थे, किन्तु उस समय तक नगर के आधुनिकीकरण की ओर किसी की दृष्टि न उठी। सन् १८८४ में जो पौलीटिकल एजेंट आबू में था, उसने एक बार राजस्थान के नगरों के प्राचीनता लिये हुए मटमैलेपन को लक्ष्य में रख कर कहा था, "दुख होता है कि लोग अपने ऊपर नया कपड़ा पहनने में आनंद अनुभव करते हैं, पर अपने नगर को वे नयापन पहराने में कभी नहीं सोचते। नगर के नयेपन से ही भारत के लोगों की तुलना में राजस्थान के लोगों को नया हर्ष प्राप्त हो सकेगा। नगर का नया जीवन उसी तरह होगा, जिस तरह विषाक्त जल से भरे कुएँ की सफाई के बाद मिली हुई शुद्धता।" किन्तु कहने भर से क्या होता है। पौलीटिकल एजेंट के हाथ में ऐसी शक्ति न थी कि वह हर नगर के निवासियों तक यह सन्देश पहुँचा सकता। सब नगरों पर निरंकुश शासन रियासतों का था और देशी शासक इस दृष्टि से बहुत अधिक शिक्षित न थे। यही कारण है कि सन् १९१० तक, बीसवीं सदी का प्रथम युग बीतने तक, राजस्थान उसी प्रकार १०० वर्ष के पहले के भद्दे और मैले वस्त्र पहने हुए जीवन की साँसें लेता रहा। रतनगढ़ इसी भद्दे मैले वस्त्रों की दीनता भोग रहा था।

सूरजमल जी बराबर रतनगढ़ आते रहते थे। रतनगढ़ में जब तक रेल नहीं आई, सब को ऊँटों पर बैठ कर रींगस की तरफ जाना पड़ता। लेकिन जब तक रींगस भी रेल नहीं आई थी, तो फुलेरा से आगे कुचामन रोड पर जाकर गाड़ी पकड़नी होती थी। इसके लिए सब जन दल बाँध कर यात्रा शुरू करते। शाम होते ही लोग ऊँटों पर सवार होते और सुबह होते न होते, १५ कोस की दूरी पर, बसे हुए सालासर पहुँचते। वहाँ पर ऊँटों को फिटकरी और गुड़ दिया जाता। दिनभर सब सालासर रहते, सालासर के प्रसिद्ध हनुमान जी के दर्शन करते, उनकी आराधना में व्यस्त रहते और दाल-बाटी और चूरमा बनता, पुनः शाम होते ही फिर ऊँटों पर यात्रा शुरु की जाती और दूसरे दिन सुबह सीकर से ५ कोस की दूरी पर झालरा रह जाते। यहाँ गाँव में दिन भर ऊँटों को विश्राम दिया जाता, स्वयं भी सब विश्राम करते और वही दाल-बाटी-चूरमे का कार्यक्रम सानंद चलता। तब तीसरे दिन पुनः सायंकाल यात्रा प्रारंभ की जाती और चौथे दिन सुबह रींगस पहुँचते और वहाँ से गाड़ी पकड़ते। नारनौल तक गाड़ी सन् १९०४ में आ गयी थी। जब गाड़ी नारनौल पहुँच गयी लोग नारनौल आकर ही गाड़ी में बैठते। उससे पहले कुचामन का स्टेशन था; इधर के लोग नारनौल होते हुए भिवानी में आकर गाड़ी पकड़ते।

लेकिन यह ऊँटों की यात्रा का प्रकरण रतनगढ़ के लिए सन् १९०८ में समाप्त हुआ। जोधपुर तक गाड़ी जा चुकी थी और वह मेड़ता जंक्शन होते हुए बीकानेर जाने लगी थी। इसी रेल की एक शाखा मेड़ता से सुजानगढ़ आयी। इसे रतनगढ़ तक संबद्ध करने के लिए सुजानगढ़ से लाइन लाई गयी। पहले लाइन बिछाई जाती थी और उस पर सुदृढ़ता की जाँच करने के लिए एक इंजन तीन-चार माल के डिब्बे अपने पीछे खींचता हुआ परीक्षात्मक प्रवास करने आता था। जिस दिन वह इंजन और माल के डिब्बे रतनगढ़ की दिशा आए, तो सारा रतनगढ़ उसे देखने के लिए नगर से ३ कोस की दूरी पर लोहा गाँव गया। स्वयं सूरजमल जी इस दर्शक-समूह में उपस्थित हुए। वे उस दिन हर्षित थे कि अब अपने इस नगर का भाग्य सुमधुर स्वरूप धारण करने लगेगा। इसका बाहरी दुनिया से संबंध और अधिक दृढ़ तथा आत्मीय बनेगा। वे रतनगढ़ को बहुत सज्जित अवस्था में देखने का स्वप्न देखने लगे थे।

प्रायः विद्वज्जनों के बीच में बैठ कर और पंडितों के साथ सत्संगति करते हुए वे यह सुना करते कि प्राचीन काल से भारत में नगरों के अन्दर और दूरस्थ महापथों पर वृक्षों का रोपण करना बहुत उत्तम काम रहा है। एक दिन उन्हों ने किसी परिचित के यहाँ मृत्यु-उपरान्त पारायण होते गरुड़-पुराण में भी यही सुना कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में मार्गों पर वृक्षों का रोपण नहीं कराया, उसका जीवन बहुत सफल नहीं माना जाता। सम्राट अशोक ने अपने जीवनकाल में समस्त पथों पर वृक्षों की कतारें खड़ी करवाई थीं।

सम्राट अशोक ने यात्रियों के आराम और सुख का भी प्रबंध बड़ा अच्छा कर रखा था। सप्तम स्तंभ-लेख (दिल्ली-टोपरा) में ५ वाँ आदेश अभिव्यक्त करते हुए लिखा है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—सड़कों पर मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाये, आम्र वृक्ष की वाटिकायें लगवायीं, आध-आध कोस पर (ह्वेनसांग और बाण के लेखों से निश्चित होता है कि अशोक ने आध-आध कोस पर नहीं, बल्कि आठ-आठ कोस पर कुएँ और सरायें बनवायी थीं) कुएँ खुदवाए, सराएँ बनवायीं और जहाँ-तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के लिए अनेक पौंसले (आपान) बैठाये।

शेरशाह सूरी ने जितनी भी सड़कें तैयार करवाईं, वे छायादार वृक्षों से पूरित करवाई थीं। सूरजमल जी ऐसी बातें ध्यान से सुनते, उन्हें गुनते, उन पर विचार करते, फिर अपने रतनगढ़ पर चारों ओर दृष्टि घुमाते। चारों ओर बीहड़ रेगिस्तानी टीबे। सुनियंत्रित पथों का अभाव। उड़ती रेती से धूमिल होती हुई पगडंडियाँ, गरमी में गरम-गरम लू और उसमें रेतीले पथों का अथाह कष्ट। बरसात में कीचड़ और गीली रेतमें चलने का महाकष्ट। ग्रीष्म में पानी का अभाव। हरियाली मानो विधाता ने रुष्ट होकर राजस्थान से सदा के लिए अपहरित कर ली हो।

सुबह दिशा-आदि के लिए वे जाते, तो बहुत देर तक चारा या सामान सिर पर लादे हुए ग्रामीण स्त्री-पुरुषों को देखते, उनका

मन दुखी हो उठता। इनके लिए न तो पेड़ों की छाया है, न विश्राम का स्थान है। तब उनकी आत्मा स्वयं से प्रश्न करती कि बोल, यह कैसा नगर है कि यहाँ के अतिथियों को विश्राम की सुविधा भी नहीं? उनके पास उत्तर था ही क्या कि वे उत्तर देते। पर वे उत्तर देना चाहते थे। बहुत उत्तम उत्तर देना चाहते थे।

एक दिन बरसात हो रही थी। वे अपने घरके बाहर किसी काम से गये हुए थे। एक स्थान पर रुक गये। देखते क्या हैं कि चारों ओर जल बूंद-बूंद एकत्र हो रहा है और फिर थोड़ी ही देर में छोटी जलधाराओं में यत्र-तत्र बहता हुआ एक बड़ी जलधारा में परिवर्तित हो गया है। राजस्थान में जिस दिन वर्षा होती है, वह परम आनंद का दिन होता है। उस दिन धरती की तृषा शान्त होती है। गरमी से व्याकुल पशु-पक्षियों का और जन-जन का दग्ध मन-मानस शीतलता से विह्वल हो जाता है। सूरजमल जी उस बड़ी जलधारा को देखते रहे। कि उनके मनमें एक विकलता सी आई.........

अथर्ववेद (१ : १५ : ३) के ऋषि ने कहा है :—

ये नदीनां संस्रवन्ति, उत्सासः सदमक्षिताः।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर, धनं संस्रावयामसि ।।

—जिस प्रकार नदियों के सोते सदा अक्षीण भाव से (अपनी-अपनी धाराओं को आपस में) मिलाते हुए बहते हैं, उसी प्रकार धन की सभी धाराओं को मिलाकर हम अपनी ओर बहाते हैं।

ऋषि पुनः आगे कहता है :—

ये सर्पिषः संस्रवन्ति, क्षीरस्य चोदकस्य च।
तेभिः मे सर्वे संस्रावैर, धनं संस्रावयामसि ।।

—जैसे घृत, दूध और जल (इन तीनों की अपनी-अपनी धाराओं के मिल कर सुपुष्ट होने से, इनकी बड़ी धारायें) संयुक्त बहाव से बहने लगती हैं, वैसे ही (बड़े-बड़े) संयुक्त (प्रयासों-चेष्टाओं के) बहावों से हम धन को (समेट कर) अपनी ओर बहा कर ले आते हैं।

पवित्र आत्मा को धन-प्राप्ति में उतना तप नहीं करना पड़ता, जितना अपनी ओर बहते हुए उस प्रबल धन की धारा को यथास्थान सिंचन-तृषित कियारियों में पहुँचाने के लिए सजग भाव से खड़े होना पड़ता है। उनकी विकलता अब यही थी कि आखिर यह जो धारा अब मेरी ओर चली आ रही है, उसका मुख इस रतनगढ़ को कौन सी दिशाओं में कर दिया जाये? करना ही होगा, यह उनकी आत्मा रह-रह कर प्रेरित करती रहती थी, कचोटती रहती थी...

प्रकृति-चित्रांकन की प्रथम बंदनवार

●

चारुवीरुत्तवनः प्रस्निग्धमृदुशाद्वलः।
हविर्धूमवितानेन यस्मादभ्र इवावभौ ।।

('सौन्दरनन्द' में कपिल-आश्रम-वर्णन)

—उस तपोवन में सुन्दर लता और वृक्षों से युक्त वन तथा चिकनी हरी घास के मैदान थे। वह यज्ञ के धूम्र से आच्छादित सदा बादलों से छाया हुआ जान पड़ता था। केसर के विकीर्ण होने से पीले स्निग्ध तथा चिकने बालू के विस्तृत भूमिभाग से वह तपोवन अंगराग से युक्त जान पड़ता था।

●

[२१]

और तो स्मरण नहीं आता, लेकिन राजस्थान में मयूर जब एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर उड़कर जाता है तो कालिदास के 'रघुवंश' का वह प्रसंग सहसा सजीव हो जाता है, जहाँ दिलीप नन्दिनी को चरा कर तपोवन लौट रहे हैं और सांध्या-चित्र संक्षिप्त रेखाओं में मुखर हो रहा है। वहाँ कवि कहता है कि छिछले जलाशयों से वाराहों के समूह बाहर निकल रहे हैं और मयूर अपने निवास करने के वृक्षों पर जा रहे हैं।

किन्तु राजस्थान में इस तरह की मनःहर संध्या का अवतरण हो, ऐसी परिस्थितियाँ कम से कम सामंती राज्यों के एकान्त टीबों के बीच में तो संभव न थीं और यत्र-तत्र जो गांव बसे हुए थे, वे वीरान प्रकृति से मानों अभिशप्त थे। मीलों के बाद किसी एक वृक्ष के दर्शन होते थे। केवल पहाड़ी जलधाराओं की सीमाओं में कुछ घने वृक्षों का सौभाग्य दिखाई दिया करता था।

जब रतनगढ़ में रेलगाड़ी आ गयी और स्टेशन भी बन गया, तो प्रवास के पूर्व शुभ मुहूर्त निकलवा कर प्रायः लोग शाम होते ही निकल पड़ते और स्टेशन पर जाकर बैठ जाते। कभी-कभी यात्रा

का शुभ मुहूर्त दुपहर में निकलता,तब दुपहर में ही स्टेशन पर जाकर बैठना पड़ता और देर रात तक वहाँ गाड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ती। प्राय: अनेक परिवार यात्रा के लिए जब एक ही शुभ मुहूर्त पा जाते तो बड़े दल के रूप में स्टेशन पर सब का पड़ाव रहता। रात को ११ बजे गाड़ी आती। दिसावर से जो आते, वे रात भर स्टेशन पर ही रहते[१]। सुबह दिन उगते घर आते। घर आते हुए कोई वृक्ष न मिलता कि मार्ग में थकान की साँस ली जा सके। स्टेशन पर जितनी देर ठहरना पड़ता तो खुले आसमान के नीचे बसेरा करना होता, अथवा स्थानाभाव न हुआ तो धर्मशाला में। अगर कुछ वृक्ष हो जाते तो कम से कम उनसे ठंडी हवा मिलती और उसके नीचे शयन करने या विश्राम करने का आनंद बना रहता।

एक बार रतनगढ़ से कलकत्ता जाते हुए गाड़ी की प्रतीक्षा में, जब वे बहुत देर तक इसी तरह खुले आसमान के नीचे सामान लिये खड़े रहे और रात का नीरव एकांत उनसे बार-बार पूछता रहा कि क्या तुम इस स्टेशन के पास दस-बीस पेड़ भी खड़े करवाने का सुकर्म नहीं कर सकते, तो उन्हों ने ऊपर मुख उठाकर और भगवान को साक्षी करते हुए उत्तर दिया कि जरूर कर सकता हूँ और अब कर दूंगा! इतना कहना था कि सूरजमल जी का हृदय एक दिव्य भाव से भर गया[२]।

सन् १९१३ में सूरजमल जी को विशेष अवकाश मिला और वे रतनगढ़ पधारे। रमाबाई अस्वस्थ थीं और उन्हें लेकर वे कलकत्ता से आये थे। आपने कई दिनों तक इस समस्या का गंभीर अध्ययन किया कि वृक्ष-रोपण का जो कार्य है, उसका प्रारूप क्या रखा जाये? और उसका शुभ श्रीगणेश किस तरह नियोजित किया जाये। आखिर आपने मूल समस्या को प्रधानता देने का विचार ही पक्का किया। सबसे पहला व्यावहारिक प्रश्न यह था कि नगर से स्टेशन जाते और आते समय एक लम्बा मार्ग तय करना पड़ता है। स्टेशन नगर से लगभग सवा मील दूर है। वहाँ से सामान सिर पर लाद कर अथवा बहली में स्त्रियों को बैठाकर उसके साथ चलते हुए पैदल आना कष्टकर है, पर उससे बड़ा कष्ट यह है कि मार्ग में छाया नहीं है। और वृक्षों की सुखकर शीतल हवा नहीं है। आपने स्टेशन से लेकर रेलवे पुल तक ही, पहले, कच्चे मार्ग के दोनों ओर वृक्ष रोपने का कार्यक्रम बनाया और कुछ व्यक्तियों को दैनिक श्रम की दृष्टि से, नियुक्त करते हुए इसकी शुरूआत भी करवा दी। प्रतिदिन आप अपनी देखरेख में उनके थाँवलों में जल डलवाते। उनके चारों ओर बाड़ बनवाई गयी, ताकि वन्य अथवा गोचर-भूमि को जाते हुए अथवा आते हुए पशुगण उनका भक्षण न कर लें। नगरवासियों ने यह नया आयोजन देखा, कुछ विस्मय में मौन रहे, कुछ जिज्ञासा में कठिन बने, कुछ व्यंग्य में मुस्करा भी दिये,क्योंकि रेगिस्तान में वृक्ष का उगाना रेतमें से तेल निकालने के बराबर है। और, जो सूरजमल जी के नये संकल्पों से और उनमें उद्भूत होती हुई पवित्र भावनाओं से परिचित थे, उन्होंने गद्गद् भाव से उनके इस आयोजन की सराहना की।

फ्रेंच साहित्य में एक बड़ा विशद कथानक जंगल में मुक्त जीवन बिताने के बारे में है, उसके अंतर्गत एक कहावत इस प्रकार आती है, "वृक्षों से भरा जंगल हमारी गुणवती आत्मा का भरापूरा स्वरूप है। एक वृक्ष का उगाना उतना ही कठिन है, जितना कठिन किसी गुण का सीखना और उस पर सत्य व्यवहार करते हुए आगे कदम रखना।" सूरजमल जी ने वृक्षों का रोपण शुरू तो कर दिया और उससे पैदा होनेवाली समस्याओं का समाधान भी शान्त चित्त करने में व्यस्त बने रहे, लेकिन जिस तरह शतायु जीवी मनुष्य शिशु से युवक २० वर्षों में बनता है, उसी तरह वृक्षों और पौधों को, उत्साहित आशा के विपरीत, बहुत धीमी गति से बढ़ते देखकर, जल सींचते हुए, उन्हें एक दिन यह सरस प्रतीति सी हुई कि मानों मैं ने अपनी गोदियों के शिशु सड़क के दोनों ओर जो इस धरती पर बड़े होने के लिए बैठा दिये हैं, क्या यह न्याय है? वे अपनी इस भावुकता पर स्वयं ही मुस्करा दिये और उस दिन शाम को जब वे मित्रों के बीच में बैठे तो अनायास, किसी भूमिका को बाँधे बिना ही, बोले, "वृक्षों का रोपना मनुष्यों की गोदी में नहीं रखा गया[३], यह भगवान की दया ही है। वरना उनके जीव में सुकुमारता कितनी है, यह तो उनमें पानी सींचते समय पता चलता है। सारे दिन भर वे कठोर सूरज के नीचे तपते रहते हैं। देखें, इन सारे पेड़ों में से कितने जीवित रह पाते हैं?"

राम-राम कर गरमियाँ गईं और बरसात आई और लगाये गये पौधों में जीवन की उमंग आई, नई पत्तियों का बल आया, बढ़ती टहनियों का आवेश आया, सिर उठाकर और ऊपर खड़े होने की बलवती कामना आई। और वे कच्ची सड़क के दोनों ओर इस तरह शोभायमान होने लगे, जैसे तो रेतीले टीबों की वन्दिनी आत्मा हर्ष-विह्वल हो लहलहाते गीत गुनगुनाती हुई अपनी केश-राशि ही लहरा रही हो। मनुष्य की जिजीविषा अनेक उपाय रचती है कि वह अपने विघ्नों पर हावी होने की क्षमता पा सके।

---

१ रतनगढ़ में रेल आते हो, स्टेशन पर धर्मशाला यों तो नगरवासियों ने बनवा दी थी, पर वह वृक्षों के अभाव में छाया और शीतलता से त्यक्त थी।

२ 'मेघदूत' में कालिदास ने लिखा है, "आपन्नार्ति-प्रशमनफला: संपदो ह्युत्तमानाम्।" (१-५३)—अर्थात्, उत्तम पुरुषों की संपत्तियाँ आपत्ति-ग्रस्त लोगों के कष्टों को शान्त करने के लिए ही होती हैं।

३ महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एक दिन गंगा जी के किनारे टहलते हुए एक छोटे से पुष्प-क्षुप को देखकर, कि दुपहर का सूर्य उसे कितना-कितना तपा चुका है, सस्वर मानो अपनी घनीभूत वेदना मुखरित करते हुए बोल पड़े—
"रे निरीह मृदु सुकुमार,
क्रूर सूर्य का कोप अथाह, न पारावार।"

और दीर्घजीवन पाये। लेकिन सिंचित होती वनस्पति केवल स्नेह-वर्षण का ललकता हाथ अपने सिर पर चाहती है। तभी उसे जीवन का भविष्य सुगम हो पाता है। वर्षा बीतते न बीतते बहुत से पौधों का उभार आयु-अनुरूप बड़ा प्यारा लगने लगा। उनके हरे-हरे पत्ते मानो यह कहते से लगे कि ठहरो, जरा और बढ़ने दो हमें, तब हम बड़े पेड़ बन जायेंगे और अपने नीचे बटोहियों को भी साया देने लगेंगे। तब ठंडी हवा हमसे धन्य होकर बहेगी, तब पंछी भी दूर-दूर देशों से आकर हमारे नीचे रैन-बसेरा करेंगे। तब कोयल कूकने के लिए आया करेगी और तब चिड़ियायें भी फुदकने और कूजन करने के लिए एक नया नीड़ पा जायेंगी।

सूरजमल जी उन्हें देखते—और अनिर्वचनीय आनंद में मौन रहते! अपने कर्तव्य की इस तरह एक नई दिशा जिम्मेदार व्यक्तियों के हाथों में सौंप कर वे कलकत्ता लौट गए। पीछे से पत्र द्वारा नियमित तौर पर पुछवाते रहते कि अमुक पेड़ अब कितना बड़ा हुआ? राहगीर चलते तो उन पेड़ों को देखकर विनोद करते कि सूरजमल जी के झुलाये हुए पालने हैं, जिनमें बालक बड़े होने को रखे गये हैं। तो कुछ लोग उसी तरह विनोद में यह उत्तर भी देते कि यह पालना नहीं रहेगा, यहाँ तो पेड़ की डालों पर अब बालकों के झूले ही डलेंगे और उस पर वे पींग बढ़ाया करेंगे।

दो-तीन वर्षों बाद वह दिन भी आ गया कि जब इन पोषित पेड़ों की कठिन दृढ़ डालों पर ग्वाल-बालों की टोलियों ने सावन में झूले डाले। छोटी-छोटी बालिकायें भी पींगें बढ़ाने के लिए एकत्र हुई। राहगीरों ने हर्षाश्रु उमड़ाते हुए इन पेड़ों के लगानेवाले की सूझबूझ पर अब हृदय से साधुवाद दिया। शनैः शनैः ये पेड़ बड़े होते रहे और इनके नीचे बटोही, श्रमिक स्त्रियाँ, गाय-भेड़-बकरी-ऊँट और भैंसें जुगाली करने के लिए बैठने लगीं। स्वयं सूरजमल जी जब रतनगढ़ आते, तो सीधे घर के लिए प्रस्थान न कर देते, इन वृक्षों की शीतलता में स्वच्छ सुगन्धित वायु का आनंद लेते हुए आगे बढ़ते। ऐसा लगता, मानो उनकी कष्ट-साधना, जो इन पेड़ों को उगाने में संयोजित हुई, वही इस समय हर्ष की उच्छ्वास बनी हुई उन्हें शीतल लग रही है। ये पेड़ भी मानो उनसे बातें करने के लिए उमग पड़ते। वे जो कुछ कहते, बस उसे सूरजमल जी ही सुन सकते थे . . . वे ही सुनते थे . . . . .

इन वृक्षों के लग जाने से सूरजमल जी बहुत उत्साहित हुए और अब उन्हों ने रेलवे पुल से लेकर नगर तक और अधिक वृक्ष लगवाने का कार्य और भी तेजी से पूरा करना शुरू करवा दिया। पहले रेगिस्तान के बीच केवल रतनगढ़ के घरों की नग्न छतें ही दिखाई दिया करती थीं, लेकिन अब यह स्पष्ट हो गया कि किसी समर्थ हाथ ने इन घरों की छतों के इर्द-गिर्द हरीतिमा की चूनर भी उढ़ा दी है। मरुभूमि की कड़कड़ाती धूप, चलती हुई लू और उस समय वृक्ष का नाम-निशान तक जहाँ न था, वहाँ अब रतनगढ़ में वृक्षों की कतार शोभा पाने लगी। कुछ ही समय में रतनगढ़ शहर से स्टेशन तक ६०, लाल कूप से स्टेशन तक ३६ और शहर से श्मसान तक ९२ वृक्ष लगाये जाने का एक उल्लेखनीय अध्याय पूर्ण हो गया। इन वृक्षों के चारों ओर पक्के गट्टे भी बनवा दिये गये, ताकि उन पर बैठकर, अथवा लेट कर पथिक स्वच्छता के साथ विश्राम कर सकें।

राजस्थान में ईंधन और पशु-निर्वाह के लिए अधिकतर कीकर और शमी वृक्ष ही मिलता है। पाँच पांडव वनवास के समय जब राजस्थान में विराट नगर की दिशा प्रविष्ट हुए थे, और उस समय उन्होंने अपने छद्म वेष को और अधिक छिपाने के लिए अपने अस्त्र-शस्त्रों को नगर के बाहर जिस बड़े पेड़ की कोटर-नुमा खाई में छिपाया था, तो वह वृक्ष भी शमी ही था। उस कथा से पता चलता है कि राजस्थान की रेत में पुराणकाल से शमी ही केवल दीर्घ-जीवी रहा है। खेजड़ला भी इसका एक नाम है। शमी वृक्ष तो राजस्थान में सर्वत्र है। रतनगढ़ में भी खूब है। खेजड़ला राजस्थान की लोकसंस्कृति का ही नहीं, यहाँ की भौगोलिक महत्ता का प्राण-स्पंदन है। वास्तव में राजस्थान की सर्वाधिक हरियाली केवल खेजड़ले पर ही आश्रित है। वेद-कालीन संस्कृति का यह प्रतीक राजस्थान की अति प्राचीन ऐतिहासिकता को हस्तामलक बनाता है। यही कारण है कि लोक-जीवन में इसे पुनः-पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है और धार्मिक महत्व से इसे मंडित किया गया है। हिन्दू-कालीन इतिहास जिन क्षणों में तिरोभाव को प्राप्त हो रहा था, १३ वीं सदी में जांभा जी का आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपने संप्रदाय के २९ सिद्धांतों में से एक खेजड़ला को केन्द्रित कर बनाया। जांभा जी ने कहा कि यह कलियुग की तुलसी है और इसका काटना पाप है, निषिद्ध है। इसीलिए विश्नोइयों के गांव में खेजड़ला खूब मिलता है।

खेजड़ला के बारे में एक दूसरी उक्ति भी इस के प्रति ऐतिहासिक ममत्व का उद्घोष करती है। कहा जाता है—"गांव-गांव नै गूगो, गांव-गांव खेजड़ी!" राजस्थान में खेजड़ले की ही दीर्घ जड़ें चहुँ दिशाओं में व्याप्त हैं और इसके सभी गांवों में गूगा-सदृश वीर प्राप्त होते हैं।

यही कारण है कि इस सर्व-पूज्य वृक्षके प्रति आधुनिक राजस्थानी कवियों ने भी अपनी निष्ठा को सबल शब्दों में व्यक्त किया है। श्री कन्हैयालाल सेठिया की ये पंक्तियां अवश्य स्मरणीय हैं—

"मरुधर रो साथी खेजड़लो।
आप खड़ो लुआं ने झेलै
मुलक मुलक डांफर में खेलै
फदै न रोवै, गाणां गावै

सब नै झाला दय बुलावै
दया भरयो भीतर पण वारै काठी छाती खेजड़लो !
मरुधर रो सायी खेजड़लो।"

श्री अक्षयचंद्र शर्मा की यह पंक्ति भी हृदय में एक गुंजन उत्पन्न करती है—

"हम तो मरु के इंसान कि,
जो एकाकी खड़े खेजड़े से
सह लेते लू-आँधी-अंन्धड़
बढ़ चलते हमीं बण्डर बन
जीवन की दुर्गम घाटी पर !"

सूरजमल जी की दृष्टि भी इसी खेजड़ले पर पड़ती थी, लेकिन यह तो जैसे राजस्थान की वनस्पति की अन्तिम विवशता थी। इसीलिए उन्होंने सघन छाया और सुस्वादु फलों के वृक्ष, जो देवदुर्लभ दर्शनों के तुल्य राजस्थान में न उगने की जिद्द थामे बैठे थे, ही उगाने का संकल्प पूरा किया था। उन्होंने इन वृक्षों की कतार में पीपल, वट, नीम, गूलर, सिरीश-कुसुम आदि वृक्ष ही लगवाये।

एक ज्योति मिट्टी के छोटे-छोटे दीपों में घरों के अन्दर जलती है। इन मिट्टी के दीपों को जब कतार बाँध कर पर्व के रूप में जलाते हैं, तो उस दिन दीपावली मनती है। लेकिन दिवाली सिर्फ एक रात की होती है। रतनगढ़ के चारों ओर रोपी हुई वृक्षों की इन कतारों में, स्पष्ट अनुभूति होती है, किस तरह एक व्यक्ति ने, रेगिस्तान के मरु-दैत्य से लोहा लेते हुए, हरीतिमा की एक-एक ज्योति को एक- एक दीर्घजीवि वृक्ष में जगमग करते हुए बारह-मासा हरियाली का दीपोत्सव ही मानो लहरा दिया है! वृक्ष-रोपण का यह अभियान क्योंकि एक सांस सूरजमल जी के हाथों संचालित होता रहा, इसीलिए आज रेलमें बैठ कर जब हम रतनगढ़ पहुँचते हैं, तो रेल लाइन के दोनों ओर, रेल में बैठे यह आनन्दानुभूति होने लगती है, जैसे हरे-भरे वृक्षों का एक सघन कुँज महक रहा है!

श्री रघुनाथ विद्यालय की स्थापना में वरद् सहयोग

●

पुत्रमनुशिष्टं तो क्यमाहुः।

—पिता पुत्र को अच्छी शिक्षा दे, तो उससे सद्गति मिलती है।

●

[२२]

मानव-कल्याण का प्रथम राजद्वार शिक्षा है। शिक्षा राष्ट्र के अस्तित्व को सुरक्षित रखती है। शिक्षा का दान सात्विक दान है। शिक्षा के लिए दान देने से समाज को तृप्ति मिलती है, उसमें याचना-भावना की दीनता और निरंकुश उद्धत भाव, इससे, नहीं पनपने पाता। शिक्षा हमारे ऊपर अग्रिम ऋण है, और उसे वर्तमान संतति को, उसी के लाभार्थ, चुका देना चाहिए। शिक्षा जिस नगर में होती है, वहाँ देवताओं का समुल्लास व्याप्त रहता है और वहाँ की संतति उत्तम प्रजा बनती है। शिक्षित प्रजा अपने अंचल को संस्कृति के नव-प्रकाश से भरती हुई, अमावस्या के अभिशापों से उसकी रक्षा करती है।

सूरजमल जी जालान ने बालपन में अधिक शिक्षा नहीं पाई थी। लेकिन इस बात को इस प्रकार से कहना और भी अधिक ठीक होगा कि उन्होंने किसी सरकारी आफिस में क्लर्क बननेवाली शिक्षा अवश्य नहीं पाई थी। अंग्रेजी इतनी अवश्यंभावी है कि बिना उसे पढ़े जीवन की गति ही नहीं है, यह बड़े-बूढ़े स्वीकार करने में अपने आप को असमर्थ पाते थे और ऐसे ही बड़े-बूढ़ों के युग में सूरजमल जी ने भारत के उस व्यापार की शिक्षा हिन्दी के माध्यम से ग्रहण कर ली थी, जिस पर अंग्रेजी सत्ता शासन कर रही थी और जिस के भाग्य-विधायक विदेशी व्यापारी बने हुए थे। फिर भी उत्तम शिक्षा के लिए सूरजमल जी के मन में एक तीव्र लालसा रह गयी थी। एक शिक्षा केवल वह है, जो जीवनोपाय का सहारा हाथ में थाम दिया करती है, लेकिन दूसरी उत्तम शिक्षा वह है, जिस से व्यक्ति समाज में ज्ञानवान हो कर, समाज-कल्याण की दृष्टि से ही अपने जीवन की दिशाएँ निर्धारित करता है और यदि वह किसी अभिनव दिशा में अपनी गति चलने लगता है, तो वहाँ भी वह विनय-भाव से समाज के हितों की बात नहीं भूल जाता। इस उत्तम शिक्षा का ज्ञान सूरजमल जी ने प्रभु-कृपा से प्राप्त किया था, उत्तम मित्रों से प्राप्त किया था, देश में प्रकाशित होनेवाले सुरुचिपूर्ण हिन्दी साहित्य से प्राप्त किया था और निरन्तर नियमित रूप से निकलनेवाले हिन्दी दैनिकों, साप्ताहिकों और मासिकों से

प्राप्त किया था। प्राप्त तो उन्होंने सन् १६१२ तक उत्तम वैभव भी कर लिया था, लेकिन एक प्राप्ति के लिए उन के मन में बड़ी तीव्र लालसा रह गयी थी। वह कामना बड़ी विचित्र थी। सूरजमल जी अपनी ही जीवन–शैली से उसे प्राप्त करना चाहते थे। वह प्राप्ति न तो अधिक धन-वैभव के अर्थों में थी, न ही भौतिक सम्पत्ति की चित्र-विचित्रताओं के संग्रह की दृष्टि से की जानेवाली थी। वे यह प्राप्ति अपने नगर रतनगढ़ की समग्र जनता के लाभार्थ करना चाहते थे। उत्तम शिक्षा उन्हें किसी उत्तम विद्यालय के अभाव में न मिल पाई थी, वे उसी अभाव की पूर्ति कर लेने का सुख ही इस प्राप्ति के रूप में ग्रहण करना चाहते थे।

सूरजमल जी सदैव अपने विचारों को संतुलित रखते थे, युग के विचारों से अपने विचारों का समन्वय करने के लिए सजग रहते थे। वे युग की बढ़ती हुई उद्दाम भावना को भी खुली आँखों देख रहे थे कि किस तरह चारों ओर अंग्रेजी स्कूलों का विस्तार हो रहा है, किन्तु जिनमें से शत-प्रति-शत मनोवांछित आकार-प्रकार की ईंटें पक कर नहीं निकलतीं; कुछ टेढ़ी, कुछ विकृत भाव को प्राप्त होकर ही निकल पाती हैं। समाज उस विकृति को प्रगति कह कर, फैशन मान कर उसे हृदयतः स्वीकार कर रहा है। लेकिन सूरजमल जी कहा करते थे कि अंग्रेजी से अभिशप्त बालकों का मनोविकास अपने देशहित के लिए यदि नहीं हो रहा, तो क्या हम उसमें सुधार अपने हाथों नहीं कर सकते? हम कर सकते हैं और इसी सुधार की योजना के लिए हमें ऐसे विद्यालय स्थापित करने चाहिए, जिन में भारतीय रीति-नीति के प्रबुद्ध संस्कार हमारी नई पीढ़ी को मिलें और हमारे बालक, अंग्रेजी के कुसंस्कारों के कारण निरंकुश भाव को प्राप्त बालकों की तुलना में, इस तरह की जीवन-शैली अपनायें, जिनसे राष्ट्र में बढ़ती हुई दास-भावना को अधिक बल न मिले, ओजस्वी देशभक्त बालक भी तैयार होने लगें। सूरजमल जी की यह भावना बड़ी प्रबल हो चली थी कि अंग्रेजी अवश्य दासता को प्रगाढ़ बनाती है, लेकिन हमारी हिन्दी हमें भारतीय शैली का चिंतन और संजीवनी-विद्या का मूल मंत्र सिखाती है। संजीवनी केवल वह नहीं है, जो मृतप्राय व्यक्ति को प्राण लौटा दे, संजीवनी वह भी है, जो दास-भाव को प्राप्त राष्ट्र को आत्मज्ञान कराने का बीहड़ दायित्व ले ले। ऐसी संजीवनी का सामूहिक वर्षण करने वाली ऐसी सशक्त भाषा हिन्दी ही है, सूरजमल जी भी इस तर्क के कायल हो चले थे और वे हिन्दी-माध्यम का विद्यालय रतनगढ़ में स्थापित हुआ देखना चाहते थे।

सन् १६१० तक हिन्दी-विद्यालय बनाम अंग्रेजी विद्यालय का प्रश्न हमारे देशवासियों को क्यों मथने लगा था, इस पर एक दृष्टि डाल लेना जरूरी है। उसी के बाद हम समझ सकेंगे कि सूरजमल जी, व्यापार में दत्तचित्त रहते हुए, किस तरह राष्ट्रीय भावनाओं को प्रशस्त करते हुए, अपनी कार्य-प्रणाली विशुद्ध देशी बनाने का श्रम कर रहे थे।

अंग्रेजी शिक्षा का नाम लेते ही हमें सबसे पहले लार्ड मैकाले का नाम याद आता है। अंग्रेजी एक सशक्त राष्ट्र की भाषा थी और विश्व के अधिकांश देशों में वह अन्तर्देशीय भाषा के रूप में भी प्रयुक्त हो रही थी, इस कारण उस के माध्यम से विश्व की व्यापक घटनाओं की और मानवीय कार्यव्यापार की प्रगति से जानकारी रहती थी। पर लार्ड मैकाले हमारे देश में अंग्रेजी के राक्षस-भाव को ही, ब्रिटिश सत्ता के एक सबसे सांघातिक शस्त्र के रूप में, प्रचलित करना चाहता था। ब्रिटिश सरकार ने उसकी सभी योजनाओं को मान लिया था, क्योंकि मैकाले ने यह दावा किया था कि एक दिन भारतीय अंग्रेजी पढ़ कर भारत में विदेशी सरकार के सबसे बड़े समर्थक सिद्ध होंगे। इसी नीति को स्वीकार कर लेने के बाद से सारे देश में अंग्रेजी विद्यालय और कालेज स्थापित किये जा रहे थे, जिनमें ब्रिटिश सत्ता अपने शासन में खप जानेवाले उत्तम व्यक्तियों का खूब बारीकी से चुनाव कर सकने के लिए उन्हें शिक्षित करती रहे। इस व्यवस्था के माध्यम से वह भारतीय नवयुवकों को ब्रिटिश शासन के पुर्जे बनाने का स्वप्न चरितार्थ करने पर तुल गयी थी। इसीलिए, इसी अवधि के आसपास, सबसे पहले कलकत्ता में, विश्वविद्यालय स्थापित कर दिया गया, ताकि अंग्रेजी शिक्षा देने का एक मॉडल गवर्नर-जनरल की आँखों के नीचे तैयार होता रहे। यह एक प्रकार से अंग्रेजी शिक्षा का बृहत् केन्द्र बन जाये, ऐसी अभिलाषा ब्रिटिश सरकार की अवश्य थी और उसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर वायसराय को इस विश्वविद्यालय का वाइस-चांसलर बनाने का विधान स्वीकृत कर लिया गया था। अन्यत्र जो सरकारी कालेज स्थापित किये जा रहे थे, उनकी संख्या देश की विशालता को देखते हुए नगण्य थी, और उन में जो शिक्षा दी जाती थी, वह केवल क्लर्कों को दीक्षित करनेवाली शिक्षा थी, उनमें केवल क्लर्क-बुद्धि परिपक्व करनेवाली शिक्षा दी जाती थी।

लेकिन यहाँ पर यह स्वीकार करना चाहिए कि लार्ड मैकाले ने कोई नई सूझ-बूझ का परिचय नहीं दिया था। उसने वास्तव में अपने आनेसे पूर्व, सन् १८०१ में स्थापित हुए फोर्ट विलियम कालेज में निर्धारित शिक्षा-नीति को ही और सक्षम बनाते हुए, उसे सारे देश में संचरित करने की योजना अमल में लाने का कार्यक्रम बनाया था। इस फोर्ट-विलियम कालेज में (जिन क्षणों में यह फोर्ट हुगली नदी के किनारे पर बनाया गया था, उस समय इंग्लैंड का राजा विलियम था, उसी के नाम पर इस का नाम फोर्ट विलियम रखा गया था) निर्धारित विद्या-दान का लक्ष्य मात्र इतना था कि ब्रिटेन से आनेवाले शासकीय मशीनरी के अधिकारी भारत की सही जानकारी कर लें, यहाँ की प्रमुख भाषाओं से अवगत हो जायें और ब्रिटिश नीति को किस तरह भारत में व्यावहारिक बनाना है, उन उपायों को कंठस्थ कर लें। सन् १८४० से लेकर सन् १६०० तक भारत में जितने भी अंग्रेजी स्कूल-कालेज आदि, लार्ड मैकाले की

शिक्षा-नीति के आधार पर, स्थापित हुए, उनमें एक प्रकार से फोर्ट विलियम कालेज का शिक्षा-लक्ष्य ही पूर्ण किया जाता रहा। केवल अन्तर यह था कि फोर्ट विलियम कालेज में विदेशों से आनेवाले अधिकारी शिक्षित होते थे, इन कालेजों और स्कूलों में उसी रीति-नीति से भारत की नवसंतति को शिक्षा दी जा रही थी। शिक्षा देने वाले पूर्णतया आश्वस्त थे और समझ रहे थे कि इस तरह हम भारत की दासता-श्रेणियों को और भी गहरे शिकंजे से कस कर रखने की सफल युक्ति पा गये हैं।

लेकिन अंग्रेजी पढ़ कर सभी भारतीय सपूत ब्रिटिश सत्ता की मशीनरी के न तो कलपुर्जे बने और न ही वे अंग्रेजी की मृग-मरीचिका के शिकार हुए। हम ज्यादा आगे न आयें, केवल ३५ वर्ष ही पीछे जायें १६ वीं सदी में, जब कि ग़दर को शान्त हुए केवल सात वर्ष ही मुश्किल से हुए थे! श्री मन्मोहन घोष पहले भारतीय हैं, जिन्होंने श्रीज्ञानेन्द्रनाथ टैगोर के बाद (जो इंग्लैंड के Bar से पास होने वाले प्रथम भारतीय थे। लेकिन जिन्होंने कभी प्रेक्टिस न की) इंग्लैंड के बार से पास कर भारत में सबसे पहले प्रेक्टिस प्रारंभ की थी। जिस समय कि वे बार से पास कर भारत वापस भी न आये थे, तभी उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के बारे में अपने क्रांतिकारी विचार प्रकट करते हुए लिखा था कि यदि हम सच्चे भारतीय हैं, तो इस अंग्रेजी से बहुत ज्यादा लाभ होनेवाला न है। उनका पूरा वक्तव्य आज भी उतना ही सत्य है, जितना कि आज से १०० वर्ष पहले था। श्री घोष ने अंग्रेजी शिक्षा से उद्भूत होनेवाले दूषणों की ओर सीधी उंगली उठाते हुए कहा था :

"The other objection urged by the opponents of the Oriental languages which we have alluded to—namely, that Indians ought not to be permitted to enter the Service unless they are thoroughly Europeanized—raises a very important question and deserves serious reflection, for it involves consequences extending far beyond the legitimate sphere of the present controversy. But we confirm, we should regret nothing more than a system of false education, which would impart to us all the vices of the Europeans, extinguish in us every spark of sympathy for our country, and make us lose all sense of duty towards ourselves. We could not but look with horror upon such a system of training as would result in a total extinction in our mind of all respect for the great Hindu name and for that literature and civilization which are indissolubly connected with that name. We are afraid that the tendency of English education in India has already been, to some extent, to deprive many of us of that sympathy for our country-men which is at present so necessary for our regeneration and to alienate us from all those ties, which ought to bind us to our own country. Is it desirable, then we ask, that English education should impart to us the vices of the European, deprive us of our own virtues, and make us look down with contempt upon our own countrymen? Let us be Europeanized by all means, if that term means being more civilized but let us not lose that respect which we owe to our country, our language, and our literature.[१]"

यही कारण है कि ऐसे ही सपूतों ने बंगाल में, जहाँ पर वायसराय की आँखों के नीचे वृटिश संगीनें तैनात थीं, पुनः क्रांति का बिगुल बजा दिया था, स्वदेशी का आन्दोलन चल पड़ा था और जिस समय लार्ड कर्जन यहाँ से विदा हुआ, तो सारा देश ब्रिटिश सरकार से सख्त नाराज हो चुका था।

लेकिन इस अनुपात में, राजस्थान शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। वहाँ दुहरी गुलामी थी और केवल ऐसी ही शिक्षा का सीमित प्रबंध था, जिससे केवल भारतीयता से घृणा ही इन संस्थाओं के छात्रों में पैदा हो सकती थी। मेयो कालेज ऐसी विषाक्त शिक्षा का गढ़ था। यद्यपि जयपुर में सन् १८४४ से महाराजा कालेज स्थापित कर दिया गया था, किन्तु हम इस कालेज के बारे में एक भी शब्द अपनी प्रशंसा का नहीं दे सकते, क्योंकि यहाँ की शिक्षा का परिणाम केवल उच्च-संभ्रान्त सामन्त-परिवारों के युवकों को ब्रिटिश-भक्त बनाना भर था। पर जयपुर के अतिरिक्त, देशी रियासतों में कहीं भी कागजी योजनाओं के सिवाय विद्या का प्रबंध न था। बीकानेर आदि में जो कुछ भी था, वह जन-संख्या के अनुपात में बहुत चिंतनीय था। जोधपुर में सन् १८७५ में वृटिश राज्य-भक्त बनाने की दृष्टि से ये प्रयास सर्वजन-हित के आधारों पर न होकर,सांप्रदायिक दृष्टि से हुए थे। सरदारों और सामंत-नरेशों के पुत्रों को शिक्षित करने के लिए Powlett Nobles' School खुला था, जिसमें किसी भी अन्य जाति के बालकों का प्रवेश निषिद्ध था। यह पावलेट नाम तात्कालिक जोधपुर रेजीडेंट का था। सन् १६१३ में इसी स्कूल के नये भवन का उद्घाटन लार्ड हार्डिंज ने किया और उस समय तक, सांप्रदायिक आधारों को दृढ़ करते हुए, इसमें केवल राजपूतों के बालक ही प्रवेश पाते रहे थे।

किन्तु स्वयं अंग्रेजी स्कूलों की क्या दशा थी? हम इस के लिए देश के किसी अन्य स्थान का उदाहरण न देकर, कलकत्ता विश्वविद्यालय का ही ऐसा दिल दहलानेवाला और आँखें खोलनेवाला उदाहरण प्रस्तुत करें, जिस की जोड़ का दूसरा दृष्टान्त मिलना असंभवप्राय है। और यह एक उदाहरण स्वयं किसी मामूली

---

१. 'The open Competition for the Civil Service of India,' by M. Ghose, 1866, London, p. 13; reproduced from 'Bengal celebrities: both living and dead', Sanyal R. G., Calcutta, 1889, p. 21.

व्यक्ति ने नहीं, सन् १६१० में भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंज़ ने, जो लार्ड मिन्टो की जगह यहाँ पर आये थे, कलकत्ता में आने के दो-तीन मास बाद ही लिखा है। इस समय तक भारत का वायसराय ही कलकत्ता विश्वविद्यालय का वाइस-चांसलर हुआ करता था। लार्ड हार्डिंज़ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक[1] में लिखा है कि एक दिन सहसा ही कलकत्ता विश्वविद्यालय के होस्टलों की आकस्मिक जाँच करने के लिए मैं सुबह ही होस्टलों में पहुँच गया। जिस समय हम वहाँ गये, छात्र आदि पूरी तरह से उठ भी न पाये थे और न ही वे यह समझ पाये कि कौन व्यक्ति यहाँ का दौरा कर रहा है। मैं बहुत बुरी तरह से उन स्थानों को देखकर, जहाँ छात्र रह रहे थे, जिन की गंदगी और घरौंदों की सी बदबूदार स्थिति ऐसी थी कि उसमें सुविधा का नाम तक न हो सकता था, इतना मर्माहत हुआ कि एक तरह से धक्क से रह गया। कलकत्ता में इस समय अंग्रेजी शिक्षा पाने वाले २०००० छात्र थे, लेकिन उनकी सुविधाओं के लिए जो राशि शिक्षा-विभाग द्वारा व्यय की जा रही थी, वह बहुत असंतोषप्रद थी। मैंने जब छात्रों से उनकी शिक्षा की जाँच करने के लिए कुछ प्रश्न किये तो मैं हैरत में पड़ गया कि प्रायः सभी विषयों के नोट्स तो उन्होंने अपनी कापी में दर्ज कर रखे हैं, और उन्हें रट भी रखे हैं, लेकिन जब मैंने उन नोट्स का भावार्थ उनसे जानना चाहा तो उन में से एक भी छात्र उन पठित विषयों का अर्थ बताने में समर्थ न हुआ! यह सारी वस्तुस्थिति और भारतीय छात्रों में व्याप्त अंग्रेजी शिक्षा की यह दयनीयता देखकर मैं बहुत दुखी हुआ।

पर इस दयनीयता से दुखी होने का प्रश्न था ही कहाँ। विदेशी भाषा की दुरूहता भारत में जिस तरह व्याप्त की जा रही थी, वह कुछ को प्रतिभावान बना सकती थी, सारे देश के छात्रों को वह अनुप्राणित करने में समर्थ न थी।

इसके विपरीत जिन विद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा का प्रयास शुरू हुआ था, वह अपने अनुपम प्रमाण प्रस्तुत करने लगा था। हिन्दी की प्राणशक्ति, इस ब्रिटिश युग में जब कि सशस्त्र आँदोलन सारे देश में चल रहा था, बहुत ही शालीन रीति से देश-भक्ति के मंत्रों का संदेश फूंक रही थी।

यही कारण है कि नवजागरण के संदर्भ में, कलकत्ता-बम्बई-दिल्ली आदि नगरों में सुविजनों ने राष्ट्रभारती हिन्दी के माध्यम से ऐसे विद्यालय खुलवाने शुरू कर दिये थे, जिनमें शिक्षा प्राप्त कर छात्र और छात्रायें भारतीय संस्कृति से ममत्व करना सीखें और भारतीय तरुणाई के लिए उचित शील और सद्विचार भी ग्रहण करने लगें। सन् १६०१ में कलकत्ता में विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय, पिलानी में बिड़ला स्कूल और सन् १६०७ में नवलगढ़ के अन्दर नवलगढ़-विद्यालय की स्थापना कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जो इस दिशा के प्राथमिक प्रयास हैं।

मातृभूमि[1] की सेवा करने की दृष्टि से सूरजमल जी भी एक स्वप्न देख रहे थे। वे बीकानेर राज्य में व्यापक रूप से अशिक्षा की व्याधि देखकर बहुत चिंतित रहा करते थे। उन्होंने स्वयं बालपन में अधिक शिक्षा नहीं पाई थी, लेकिन वे अपने इस अभाव की पूर्ति समूचे रतनगढ़ में कर देना चाहते थे। शिक्षा का अर्थ केवल रटन्त विद्या ही न था, उससे युवकोचित स्वाभिमान का भी उदय होता था। गुरु-पाठशालाओं में जो विद्या दी जा रही थी, वह प्रारंभिक अक्षर-ज्ञान और जीविकोपार्जन के योग्य अवश्य युवकों को तैयार कर दिया करती थी, लेकिन ऐसे युवक जब जीविका की तलाश में कलकत्ता आते, तो उन की मानसिक अवस्था से सूरजमल जी को बहुत हर्ष न होता। पर स्थिति यह भी तो थी समाज की, कि अधिकांश परिवार अपने बच्चों की शिक्षा पर पूरा व्यय नहीं कर पाते थे और इसीलिए वे छोटी सी आयु में ही उन्हें विद्या से उदासीन बना कर जीविका की तलाश में आगे बढ़ा दिया करते थे।

सन् १६१३ में जब सूरजमल जी रतनगढ़ पधारे तो आपने नगर से लेकर स्टेशन तक वृक्षों की कतार आच्छादित करने का अभियान प्रारंभ किया, उसी समय की बात है। साथ में नागरमल जी भी इस यात्रा में थे। अब नागरमल जी की आयु १५ वर्ष की हो चुकी थी। उनका विवाह भी हो चुका था। हरेक महत्वपूर्ण सभा-गोष्ठी या मिल-भेंट के अवसर पर वे उन्हें प्रिय भाव से अपने साथ रखते थे। आपने उनसे एक दिन विचार करते हुए कहा कि अपने धर्मखाते में कुछ रुपया है, उसे किसी काम में अब लगाना चाहिए।

जब सूरजमल जी ने गद्दी की स्थापना की थी, आय का कुछ अंश वे धर्मादा-खाते में रखते जा रहे थे। अब वह बढ़ कर एक उल्लेखनीय राशि के रूप में हो चुका था। आप का विचार था कि इस राशि में से कुछ रुपया रतनगढ़ की किसी सार्वजनिक सेवा-योजना में लगा दिया जाये। नागरमल जी से इस प्रकार विचार करने के बाद आपने रतनगढ़ के सभी आत्मीय जनों व मित्रों को अपने निवास पर बुलाया और उनसे विचार करते हुए यह आग्रह किया कि रतनगढ़ में एक अच्छा विद्यालय नहीं है, इसके लिए कुछ चेष्टा रहनी चाहिए। इस बैठक में श्री चिम्मनलाल जी गनेड़ीवाला, श्री अनन्तराम जी थरड़ और रतनगढ़ के प्रायः सभी

१ My Indian years (1910-16).

१ विद्या की महत्ता और महानता प्राचीन भारत से ही इस रूप में रही है—

माते व रक्षति पितेव हिते नियुंक्ते, कान्ते व चाति रम्यत्यपनीय खेदम्।
कीर्तिञ्च दिक्षु वितनोति लक्ष्मी, किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

—माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हित-साधना में रत रहती है, दुःख के समय प्रियतमा के समान आनन्ददायिनी बनती है, कीर्ति-लता को विकसित करती है, तथा लक्ष्मी का भी प्रसार करती है। कल्प लता के समान यह विद्या क्या-क्या सिद्धि नहीं देती है।

सन्माननीय व्यक्ति उपस्थित हुए। अब सूरजमल जी श्रीमंत की आदरास्पद स्थिति में आ चुके थे, इसलिए आप के इस प्रस्ताव पर सभी बहुत प्रसन्न हुए और सभी ने यह विचार आगे रखा कि जो भी संस्था हो, वह यदि सार्वजनिक भाव से चलाई जाए, तो सारे नगर का सहयोग उसमें मिल सकता है। सूरजमल जी भी यही चाहते थे। विचार उनका यही था कि रतनगढ़ के बालक भी अब एक ऐसे विद्यालय का सुयोग पा जायें, जहाँ की परीक्षायें पास करने के बाद वे उच्चस्तरीय विद्यालय की श्रेणी में बैठने की योग्यता भी ग्रहण कर सकें। किन्तु यह विद्यालय किसी जाति-विशेष का न होकर, रतनगढ़ के सभी बालकों का विद्या-गृह होना चाहिए—यह आपने सब के सामने स्पष्ट कर दिया।

बहुत सोच-विचार के बाद यह बात सामने आई कि सार्वजनिक विद्यालय इस तरह प्रारंभ किया जाए कि उसका एक स्थायी कोष भी हो, जिस से विद्यालय की आर्थिक स्थति को सुदृढ़ रखा जा सके।

इसलिए तय हुआ कि पहले इसी बैठक में कुछ चंदा लिखा जाये और उसके बाद नगर के सभी संभ्रान्त व्यक्तियों से भी, नगर के विद्यालय में सहयोग देने के लिए, चंदा लिखवाया जाए। सबसे पहले चिम्मनलाल जी गनेड़ीवाला ने चंदा लिखा और उसके बाद अन्य ज्येष्ठ जनों ने चंदा मांड दिया। अब बारी सूरजमल जी की आई। आप ने शान्ति के साथ एक साथ १००००) रु० की कलम लिख दी। इतनी बड़ी कलम तो किसी ने भी नहीं लिखी थी। इसलिए चिम्मनलाल जी ने कहा कि इतनी बड़ी रकम आप को नहीं लिखनी चाहिए, क्योंकि गाँव में और कोई इतनी बड़ी रकम के संतुलन में बड़ी रकम दे न सकेगा और इस तरह काम के अग्रसर होने में क्षति होगी। सूरजमल जी ने यह बात सुनकर केवल विनय-भाव से यही कहा, "जब मैं यहाँ आया था, तो सासू जी ने इतनी ही रकम लिखने की बात कही थी, मैं ने अपनी ओर से कुछ नहीं लिखा है।"

सब ने सुना, और रतनगढ़ के समस्त सुधिजनों का मस्तक नारायणी बाई के प्रति श्रद्धा भाव से झुक गया। सूरजमल जी किस तरह उनके कहे में थे, यह एक ज्वलन्त प्रमाण था।

इस चंदे के बाद रघुनाथ-विद्यालय नाम से संस्था प्रारम्भ कर दी गई। रतनगढ़ के बालकों को अब हिन्दी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने की सहज सुविधा हाथ लग गयी। रतनगढ़ इस विद्यालय को पा कर हर्ष-विभोर हो गया। बीकानेर-राज्य के इस अंचल में सूरजमल जी सार्वजनिक शिक्षा के संस्थापक-सूत्रधार पद की आदरणीयता के अधिकारी हो गये।

मनस्कान्त जीवन की पहली घोषणा

●

कबीर देखा एक अंग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस घणी, नैंनू रह्या समाइ॥

—कबीर ने जीवन की ज्योति को अन्य आलोक-रश्मियों से ऊँचा माना है, क्यों कि दूसरे प्रकाश-पुँजों की अपेक्षा यही ज्योति हृदय और नयनों में निगूढ़ भाव से समाई रहती है।

●

[२३]

पंचवटी रामायण का बहुत महत्वपूर्ण अध्याय है, क्योंकि वहाँ पर भगवान राम ने अपने वनवास का पाँचवाँ पड़ाव किया था। पंच की महिमा लोकजगत में इतनी है कि उसका यशोगान अनेक रूपों में गाया गया है। पंचकन्या, पंच-कवल, पंच-कषाय, पंच-काम, पंच- कोल, पंच-कोश, पंच-क्लेश, पंच-क्षार, पंच-गंग, पंच-गव्य, पंच-गुण, पंच-गौड़, पंच-चक्र, पंच-जन, पंच-तंत्र, पंच-तत्व, पंच-तरु, पंच-तिक्त, पंच-तृण, पंच-देव, पंच-द्राविड़, पंच-नद, पंच-पल्लव, पंच-पितृ, पंच-शर, पंच-मकार, पंच-महायज्ञ, पंच-महाव्याधि, पंच-महाव्रत, पंच-इंद्रिय, पंच-मूल, पंच-रत्न और पंच-लोह इस तरह अनेक वस्तुओं का समाहार लोकसमाज में प्रतिष्ठित किया गया है और इन की वरणीय मान्यता पूजित हुई चली आ रही है। जीवन का पाँचवाँ अध्याय विज्ञजनों ने पंचतंत्री वीणा के तुल्य स्वीकार किया है। आशय यह है कि एकतंत्री वीणा में जिस तरह केवल एक तार की शक्ति है, द्वि-तंत्री वीणा में जिस तरह दो तारों की शक्ति है, उसी तरह पंच-तंत्री वीणा में पांच तारों की शक्ति अपनी झंकृति को अनेक रूपों में झंकृत करने का संबल पा जाती है। जीवन का पाँचवाँ अध्याय भी कुछ इसी तरह पंच सुगंधक द्रव्यों की मिश्रित सुगंधि से प्रचुर हो उठता है। जो अनुभव हुए, वे फल-बोझिल होने लगते हैं; जो बुद्धि पक्व हुई, वह मधुरा होने लगती है और जो जीवन-

दृष्टि है, वह पंच-स्नेह के समान तरल और स्निग्धता को प्राप्त हो जाती है। सन् १९१७ में सूरजमल जी ३५ वर्ष के हो जाते हैं। जीवन के चार अध्यायों में अनेक कसौटियों पर अपनी परीक्षा देते हुए वे वीर गति आगे बढ़े हैं। व्यापार में आशातीत सफलता सुलभ कर ली है। अपने अनुजों का उत्तम परिवारों में रिश्ता सूत्रबद्ध कर दिया है। देश और विदेश के व्यापारियों से उच्च स्तरीय संबंध स्थापित कर लिये हैं। जूट-प्रेस के स्वत्वाधिकारी हैं और फर्म में बड़ी संख्या में मुनीम-गुमाश्ते काम कर रहे हैं। विश्वासपात्र सहयोगी साथ में सेवा-परायण बने हुए हैं। ऐसे क्षणों में उनके जीवनादर्शों का पंच-कल्याणक बीच समाज में प्रकट होता है। जिस घोड़े के पैर और मुंह दुग्ध-श्वेत हों, वह मांगलिक माना जाता है और उसे पंच-कल्याणक की संज्ञा दी जाती है। एक चंवर सूरजमल जी पर उस समय डुलाया गया था, जिस समय वे १२ वर्ष की अवस्था में वर-यात्रा के लिए निकले थे। दूसरा चंवर उन पर उस समय परिलक्षित हुआ, जब कि उनके जीवनादर्शों का यह पंच-कल्याणक मांगलिक अश्व लोक-समाज में अपने निर्दिष्ट गंतव्य की ओर बढ़ता हुआ परिलक्षित हुआ!

सूरजमल जी ने प्रारंभ से विनीत जीवन बिताने का आदर्श अंगीकार किया था। धन की दिशाएँ उनकी ओर निरन्तर अभिमुख होती रहीं, लेकिन धन की गरिमा का कोई लक्षण उनके जीवन में किसी तरह किसी को न दीखने पाया। जब आपने अपनी प्रारंभिक अवस्था में आंशिक सुधार कर लिया, तो आपने धन के यश को लोकसमाज के प्रारंभिक कार्यों में रुचि के साथ वितरित करना शुरू कर दिया। गर्व आप में रंच भर न था। गर्व की कल्मष-अछूत को आपने सदा अपने से दूर रखा। जब देश पधारते, तो रतनगढ़ मे गाँव के बाहर से ही वे पैदल हो लेते। आपने कभी यह मौका ही किसी दूसरे को न दिया कि कोई उनसे प्रणाम करे। आप फौरन ही सबसे हाथ जोड़ते, विनीत भाव से अपना प्रेमभाव सब पर बरसाते, उनसे कुशल-क्षेम पूछते। जो परिचित होते, उनके घरों पर स्वयं जाकर उपस्थित होते। किसी के लिए कुछ करना होता, तो बिना पूछे कर दिया करते। जिस परिवार में लड़के-वाले वयस्क हो चुकते, उनको नौकरी दिलाने की व्यवस्था करते। कहते हैं कि ऐसे ही एक बार, रतनगढ़ में थावरमल जी चौधरी सड़क पर जा रहे थे। वे नेत्रहीन थे और अपने बेटे का सहारा लिये हुए चल रहे थे। सूरजमल जी ने उनको देखते ही पहचान लिया और अपने आदर के पात्र मानकर उन्हें सम्मानपूर्वक आवाज लगाई। वे रुक गये तो आपने पास जाकर उनसे कुशल-क्षेम पूछी। जब चौधरी जी ने सुना कि सामने कलकत्ता से आये हुए सेठ सूरजमल जी हैं, तो वे इतने श्रद्धा-विगलित और आदराभिभूत हुए कि उन्होंने सूरजमल जी को बड़ी देर तक आशीर्वाद देने की झड़ी लगाये रखी। उनके मन को मानो सूरजमल जी ने मोह लिया था कि इतने लखपति होकर भी उन्हें अभिमान छूतक नहीं गया है और अपने एक दीन नगरवासी को देखते ही वे कितने प्रेम के साथ मिल रहे हैं।

अपनी प्रिय आर्थिक अवस्था के अनुरूप सूरजमल जी ने रतनगढ़ में नई हवेली सन् १९१५ में बनवाई। इसमें आप जब सपरिवार पुरानी हवेली से स्थानांतरित हुए, तो वहाँ उसके उपलक्ष में ब्रह्मपुरी की।

इस नई हवेली में आपका परिवार जब आया, उससे पहले से रमादेवी जी रुग्ण रहती थीं। इस नई हवेली में आने के पांच मास बाद ही उनका रुग्णावस्था में असामयिक देहान्त हो गया। उनका जन्म सम्वत् १९४० का था, इस नाते देहावसान-समय आपकी आयु ३२ वर्ष की ही थी। आप अपने पीछे अपने एकमात्र पुत्र मोहनलाल जी को छोड़कर इस असार संसार से विदा हुईं।

जब रमादेवी जी की अवस्था शोचनीय हुई, उस समय सूरजमल जी कलकत्ता थे। वे उस समय 'राम' मार्का-विषयक मुकदमे में व्यस्त थे। तार पाते ही रतनगढ़ पहुँच गये। बीच में उन्हें दस-बारह दिनों के लिए एक बार इसी मुकदमे के सिलसिले में कलकत्ता जाना पड़ा। पर वे शीघ्र ही रतनगढ़ लौट गये और गृह-लक्ष्मी के अन्तिम क्षण तक, उनके पास ही रहे।

पत्नी का वियोग उसी तरह का कष्ट है, जिस तरह चरखे में से ताकू टूट जाने के बाद सूत कातने का कष्ट शेष रह जाता है। चिरसंगिनी के अर्थ शास्त्रों ने स्थान-स्थान पर वर्णित किये हैं। जिन घड़ियों में सूरजमल जी को वैभव का वरदान प्राप्त हो रहा था, कटु-कठोर संघर्ष के दिनों में तप-साधना के साथ जीवन को हर तरह सहारा देनेवाली संगिनी का सदा के लिए विदा हो जाना सूरजमल जी के जीवन में एक कठिन प्रश्न बना हुआ, ठिठक कर खड़ा हो गया। अदृश्य देवता की यह चुनौती एक अनबूझ पहेली-सी थी। विनीत और श्रद्धावनत भाव से उन्होंने इस असह्य वेदना को शिरोधार्य किया और मन में एक नया कठिन संकल्प कर लिया। उन्होंने निश्चय किया कि वे रमादेवी जी की स्मृति को इस तरह से समाज में प्रवाहित कर देंगे कि कामधेनु से दूहे गये दूध की धारा के अवगाहन का आनन्द सबको सुलभ होने लगे। जहाँ उन्होंने अनेक रूपों में अपने व्यक्तित्व को आदरास्पद बनाया था, वहाँ वे इस दुर्घटना के दर्द को भी एक नया अर्थ देने के लिए व्यग्र से हो गये।

मोहनलाल ने माता के दाहकर्म का असह्य भार धैर्य पूर्वक झेला। सूरजमल जी ने भी ११ वर्ष की अवस्था में अपनी माता का वियोग सहा था, उनके पुत्र मोहनलाल ने भी, यह कैसा विधि का विधान था कि ११ वर्ष की अवस्था में ही माता का वियोग बरबस अंगीकार किया!

रमादेवी जी के श्राद्धकर्म के अन्तर्गत रतनगढ़ में ब्रह्मपुरी का आयोजन किया गया।

रमादेवी जी की माता जी नारायणी देवी सूरजमल जी को जामाता से अधिक, पुत्रवत् मानती थीं। उनके लिए भी अपनी इस लाडली पुत्री का स्वर्गवास बड़ा कष्टकर रहा। लेकिन उसे वे शीघ्र ही भूल-सी गयीं। उन्हें तो सूरजमल जी के भविष्य की चिन्ता थी। वे ऐसी ही करुणामयी देवी थीं और अपने कर्तव्य को वखूवी पहचानती थीं। अपनी पुत्री का वियोग इस समय इतना महत्वपूर्ण उनके लिए न था, जितना कि सूरजमल जी की गिरिस्ती में मोहनलाल जी के पालन-पोषण का और किसी नई कुल-लक्ष्मी की तलाश का। वे अपने इस प्रिय जामाता की परिधि में बिना कुल-लक्ष्मी का परिवार सहन करने को तैयार न थीं।

अभी सूरजमल जी कलकत्ता में थे कि एक दिन नारायणी देवी का संदेश,बुलाने की दृष्टि से,प्राप्त हुआ। वे उनके निवास पर गये। वहाँ पर नारायणी देवी तो थी हीं, एक वयस्क कन्या सलज्ज भाव से और बैठी थी। जब वे पहुँचे तो वे बोलीं कि इस बाई को देख लो। सूरजमल जी ने एक दृष्टि से, संकोचवश, उस कन्या को देखा और फिर जिज्ञासा में उनका मुख देखने लगे कि इसे देखने का जो आदेश दिया गया है, उसका उद्देश्य आखिर क्या है? अब नारायणी देवी ने उस बाई को आज्ञा दी कि वह जाये। तब गंभीर भाव से बोलीं कि कैसी बाई है? सूरजमल जी ने अब जरा कठिनमना होकर पूछा कि आखिर यह बाई किसके लिए दिखाई जा रही है? उत्तर मिला कि क्यों, आपके लिए। अब ऐसे कैसे जीवन चलेगा? नया विवाह तो करा ही सरेगा। इसीलिए मैंने इस बाई को आपके लिए चुना है। मुझे विश्वास है कि यह आपके योग्य है और आपके परिवार में शोभा बन कर रहेगी।

सूरजमल जी एकदम कठिन हो गये। आज तक उन्होंने अपनी इस जामाता-वत्सला पूजनीया के प्रति सदैव अत्यधिक आदर-भाव से ही व्यवहार किया था, लेकिन आज तो वे सहसा ही कठोर हो गये। फिर भी संयत भाव से, विनय भरे शब्दों में बोले कि अगर आप अभी भी यह चाहती हैं कि मैं आपके प्रति उसी प्रकार पुरानी रीति-नीति से आता-जाता रहूँ, तो भूल कर नये विवाह की बात मेरे सामने न करें। मैं नया विवाह न करूँगा। एक पुत्र भगवान ने दिया है, वह बहुत है। विवाह की भूख तो भगवान ने जिसके लिए जगायी थी, वे अपने साथ ले गयीं। अब नई शादी रचाने का प्रस्ताव जो मेरे सामने लायेगा, मैं उसे अपना शुभचिंतक नहीं मान सकता।

सास जी ने यह सुना तो स्तंभित रह गयीं। उन्होंने अविलम्ब इस विषय की चर्चा स्थगित कर दी और उसके बाद इस बात का कोई सवाल न उठाया।

माता जी के वियोग से जहाँ कुमार मोहनलाल का मन बड़ा दुखी रहने लगा, वहीं सूरजमल जी का चित्त भी अस्थिर सा हो गया। पुत्र का मन बहले और किसी नये वातावरण में कुछ समय बीते, इस दृष्टि से आपने तय किया कि राजस्थान की यात्रा पर चला जाए। इस यात्रा में संग-सहयोग देने के लिए सेठ अनन्तराम जी थरड़ और सेठ सागर मल जी भुवालका साथ में हो लिए। पं० गणपत राय जी खाचरीवासका से भी चलने का आग्रह किया गया। वे मोहन लाल का दिल कथा-कहानी कहकर खूब बहलाया करते थे। यही विचार था कि यात्रा में भी वे मोहनलाल का दिल बहलाते रहेंगे। इस अल्पवयस्क बालक के प्रति उनका वैसा ही स्नेह-प्यार था। वे दिन भर उन्हें बड़ी रोचक कथा-कहानियाँ सुनाया करते थे।

इस यात्रा का प्रारम्भ बीकानेर से किया गया। राजस्थान में यह नगर दर्शनीय ही नहीं है, सामन्ती वैभव के जो स्मृति-चिन्ह हैं, उन्हें देखकर पर्यटकों को स्वाभाविक हर्ष होता है। नगर के निकट गजनेर, लालगढ़ आदि मुख्य-मुख्य स्थान हैं। कोलायत आदि तीर्थ-स्थान हैं। मन्दिरों की संख्या महत्वपूर्ण प्रतिमाओं की दृष्टि से पर्याप्त है। इस यात्री-दल का प्रवास इस नगर में चार दिन रहा। यहाँ से फिर ये सब जोधपुर गये। इस नगर में मन्दिर, गढ़, ऐतिहासिक स्थान, दर्शनीय राजप्रासाद आदि काफी हैं। मंडोर रावण की ससुराल है और पहले जोधपुर नगर का पूर्व रूप वहीं पर आबाद था। इस नगर में सबको पाँच दिन लगे। जो उद्यान आदि थे, वहाँ पर भी सबने मन लगाकर भ्रमण किया।

जोधपुर से सूरजमल जी ने पुष्कर तीर्थ में स्नान करने का विचार किया और सब अजमेर चले आये। राजस्थान में यह भारत का सबसे महत्वपूर्ण तीर्थ है और मुख्य पाँच तीर्थोंमें से इसकी गणना है। जहाँ यात्री दलके अन्य सदस्यों का मन प्रवास के दर्शनीय स्थलों में भ्रमण करते हुए मनो-विनोद में व्यतीत हो रहा था, सूरजमल जी उसी संतुलन में मन्दिर-दर्शन और तीर्थ-स्थानों में सबसे अधिक रुचि ले रहे थे। वे प्रति क्षण भगवद्भजन में संलग्न रहते हुए दैनिक कार्य किये जा रहे थे। अजमेर नगर का भ्रमण करने के बाद सब ने अजमेर शरीफ की दरगाह देखी, आना सागर आदि मुख्य स्थानों के दर्शन करते हुए सब पुष्कर पहुँचे। वहाँ पर शांत चित्त सूरजमल जी ने स्नान करने के उपरान्त दान-पुण्य कार्य सम्पन्नकिये। कुछ, व्रत पूरे करने थे, उनसे निवृत्त हुए। ब्राह्मणों को भोजन कराया। मुख्य मन्दिरों की परिक्रमा की।

अजमेर तक आते-आते मोहनलालका मन यात्रा में ठीक रमने लगा था,वह अपने दुख को भूलता नजर आ रहा था। सूरजमल जी भी अब स्वस्थ हो रहे थे। अब स्वस्थ भाव से वे बहुत स्पष्ट रीति से देख रहे थे कि न केवल इसी पुष्कर में, बल्कि जोधपुर में और बीकानेर में भी कुछ मारवाड़ी जनों ने अनुकरणीय लोक-परोपकार के लिए ऐसा निर्माण करवाया है, जिससे लोक-जगत का उपकार बहुत हो रहा है। उत्तम मन्दिरों का निर्माण सर्वत्र इन दिशाओं में जो भी हुआ है, वह वैश्यों ने ही अपने अर्जित धन से किया है। जैनियों ने भी विशाल धनराशि व्यय करते हुए उत्तम मन्दिर बनवाये हैं। मन्दिरों के साथ उन्होंने धर्मशालाएँ भी स्थापित करवाई हैं। कहीं पर विद्यालयों

का निर्माण हुआ है, कहीं पर तालाव, कूप आदि वने हैं। पुष्कर के पावन तीर्थ की सीढ़ियों पर वैठ कर वे वहुत देर तक चिंतन में लीन वने रहे। उन्होंने अपने जीवन पर विचार किया, जो पथ वे पार कर आये थे उसका पुनर्स्मरण किया। शनैः-शनैः उन्हें एक ऐसे पथ का दर्शन दिवास्वप्न सा देखते हुए हुआ कि जिसे पार करने से यह मानवी जीवन सार्थक किया जा सकता है। जव वे पुष्कर से विदा हुए तो आपने अनेक पवित्र धारणायें गहन अन्तराल में मानो लिपिवद्ध कर लीं। अव आगे से वे जो जीवन वितायेंगे, उसकी एक नई दिशा होगी। अव वे अपने लिए कम जीयेंगे, समाज के लिए समर्पित होकर अधिक जीवन-यापन करेंगे।

यजुर्वेद (३४:१) का एक सूत्र है: मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। —मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो। अथर्ववेद का इसी भावना से ओतप्रोत दूसरा मंत्र इस प्रकार है:

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि, पवमानः पुनातु मा।।

—देव-जन मेरे विचार पवित्र करें। मनु-गण मेरे विचार पवित्र करें। सव भूत-गण मेरे विचार पवित्र करें। पवित्रकारी भगवान मुझे पवित्र करें।

इसी का आगे का महत् भाव इस प्रकार है:

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे।।

—हे सविता देव, पवित्रता और प्रेरणा दोनों द्वारा हमें पवित्र करो। हम देखकर चलने वाले वनें।

सूरजमल जी जव पुष्कर से विदा हुए तो मानो उन्हें नया जीवन-दर्शन मिला, था, जीवन की एक नई पवित्रता सुलभ हुई थी, लब्ध प्रेरणाओं से वे नये प्रकार के धनिक वने थे और भविष्य का उन्हें एक अमूल्य मंत्र हाथ लगा था! वे असीम सुख से भरे हुए अपनी यात्रा पर आगे वढ़ गये।

अजमेर से सव लोग चित्तौड़ गढ़ पहुँचे। भारतीय मात्र का कर्तव्य है कि वह इस शौर्य और प्राण-प्रण की रंगस्थली की धूलि अपने माथे से लगाये और उन हुतात्माओं का स्मरण कर अपने को धन्य करे। गढ़ पर चढ़ कर सव राणा कुम्भा के कीर्ति-स्तम्भ पर चढ़े। हाथी की सवारी का प्रवन्ध था, उसी पर आरूढ़ सव गढ़ पर गये। मीरा का मन्दिर देखा, पद्मिनी का महल देखा, कालिका-मन्दिर देखा और अन्य दर्शनीय स्थल देखे। ऊपर गढ़ पर से चित्तौड़ कस्वे के नर-नारी चींटी के तुल्य चलते हुए नजर आते थे। शुष्क धरती पर वे चलते हुए इस तरह दृष्टिगोचर होते थे, मानो कोई सूक्ष्म रेखा ही चल रही हो। यहां का प्रवास थकान देनेवाला था, लेकिन इस थकान में भी एक आनन्द था, एक सुख था। अतीत के स्मरण का रोमांच था और राणा प्रताप ने जिस स्वदेशभक्ति की लौ आज से ३०० वर्ष पहले सुलगायी थी, उसकी पवित्र तपन से नई ओजस्वी भावनाओं का उदय होता था। एक नया गर्व अपने देश की विगत स्मृतियों के प्रति लेकर सव जव लौटे तो उन्होंने महसूस किया कि सचमुच यह चित्तौड़ चित्त का ऐसा ओढ़ (भारवाही, पर मिट्टी ढोनेवाला) है, जो हमारी देश-गौरव के प्रति उदासीनता को भारी वोझ की तरह से हमारे ऊपर से उतार लेता है और वदले में हमें एक अभिनव राष्ट्रीय ओज भेंट करता है! पुनः दुर्ग को प्रणाम कर सव उदयपुर की दिशा आगे वढ़े।

चित्तौड़ से गाड़ी में वैठकर सवने मावली स्टेशन पर गाड़ी वदली और नाथद्वारे के लिए प्रस्थान किया। यह तीर्थस्थान राजस्थान का सर्वप्रसिद्ध स्थल है। वल्लभकुल सम्प्रदाय का यह केवल मुख्य मन्दिर ही नहीं है, यहाँ पर इसकी मुख्य गद्दी भी है। वर्ष-पर्यन्त यहाँ पर गुजरात, दक्षिण भारत, वंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाव, नेपाल आदि देशों से कई लाख दर्शनार्थी और भक्त उपस्थित होते हैं। यह स्थान उदयपुर से ४० मील दूर है। यहाँ पर सव का मन वहुत रमा। सव छः दिन तक यहाँ पर रहे। यहाँ का प्रसाद तो अद्वितीय और दिव्य था। उसका स्वाद तो नैसर्गिक रूप से चिदानन्द को देनेवाला था। सस्ता इतना कि ४ पैसे में वासुंदी (रवड़ी) केशर-कस्तूरी मिश्रित मिल जाती थी। मात्रा पर्याप्त रहती थी। केशरिया पेड़ों की तो तो मानो यहाँ पर धूम थी। रामकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित 'जयपुर-विलास' काव्य में मिठाइयों का जो वर्णन है, वह यहाँ पर रहने से अनायास स्मरण हो आता है। उसमें भी लिखा है: वासुंदीका कस्य मुटचंते। दूध का भाव एक रुपये का १८ सेर था!

नाथद्वारा में सूरजमल जी ने देवाराधन में काफी समय व्यतीत किया। यद्यपि उन के इष्ट हनुमान जी थे और वे राम के उपासक थे, लेकिन यहाँ पर कृष्ण-भक्ति में अपने को इस तरह लवलीन किया, कि जैसे चन्दन में केशर घुल गयी हो!

यद्यपि नाथद्वारा के पास कांकरोली थी, जहाँ पर द्वारकाधीश हैं, और उससे आगे श्रीनाथ जी का मन्दिर है, लेकिन समयाभाव को देखते हुए उस दिशा जाने का विचार त्यागना पड़ा।

नाथद्वारा का तीर्थ-लाभ करने के वाद सब लोग सूरजमल जी की राय से उदयपुर की दिशा चले आये। यह नगर महाराणा मेवाड़ का शोभनीय नगर है। कई धर्मशालाओं में से एक ऐसी धर्मशाला में ठहरे, जहाँ पर स्नान करने के लिए सुन्दर वापी वनी हुई थी। यह नगर ही ऐसा है कि दिन भर घूमिये, दिन भर कुछ न कुछ अजीवोगरीव देखिये और थकान आने पर स्वादिष्ट मिठाइयां खाइए। पिछोला तालाव देखा, जगनिवास देखा, जगमन्दिर देखा। महलों का निरीक्षण किया। सहेलियों की वाड़ी देखी। गुलाव-वाग का भी निरीक्षण किया। सम्भु-निवास भी गये। और इन सवके वीच यह दल भाव-विभोर होकर उदयपुर की प्राकृतिक रच-नाओं की प्रशंसा करते नहीं थका।

यहाँ आकर सूरजमल जी ने प्रस्ताव किया कि उदयपुर महाराणा के दर्शन भी किये जाएं। उनका यह प्रस्ताव महत्वपूर्ण था। तुरन्त व्यवस्था कराई गयी। महाराणा फतहसिंह जी गद्दी-नशीन थे। गढ़ में जाकर सेठ जी ने उनकी नजर भेंट की और दर्शन-लाभ किये। महाराणा भी इस मुलाकात से बहुत प्रसन्न हुए। कलकत्ता के सेठ इस तरह उनसे आकर मिलें, यह जैसे उनके हृदय को हर्षित करनेवाली बात थी। मुलाकात के समय परस्पर में उनकी सेठजी से बहुत बातें हुईं।

महाराणा जी से जिस समय यह भेंट हुई, उस समय उन्होंने सफेद पाग बांध रखी थी। उनकी सगी पुत्री जोधपुर महाराज को व्याही थी और उनका देहान्त हो गया था। इसलिए जँवाई के वियोग की गमी में उन्होंने यह प्रतीक पाग पहन रखी थी।

पर यह मिलन-भेंट यहीं पर समाप्त नहीं हुई। अब महाराणा साहब ने अपनी ओर से धर्मशाला में राजदूत भेजकर सेठ सूरजमल को महलों में निमंत्रित किया। पूरा दल वहाँ पर समादृत होने गया। महाराणा साहब ने सेठ साहब का बहुत आदर-सत्कार किया। भोजन भी जो परोसा गया, वह उनके सम्मान के अनुरूप था।

यह प्रसंग अन्त में इस रूप में समाप्त हुआ कि दूसरे दिन महाराणा के निजी चारण सेठ जी के डेरे पर आये और उन्होंने महाराणा फतहसिंह जी के सम्मान में कुछ पद पढ़कर सुनाये। उसका एक अंश इस प्रकार है :

सस्त्र समस्त में बाह्य सजावट मेहनत में मजबूती मता को।
टेढ़ी जगा चढ़िवे में टटोरेलो, थाके नहीं फिरता फिरता को।
सिकार के नाम पहाड़ में झार निहार मुठौर सुनेह है नता को।
यथारथ नाम जपै जगता यो है राज फता अवतार पताको॥

अनेक पद पढ़ने के बाद मुखर चारण राजा ने सेठ सूरजमल जी की प्रशंसा में भी एक कविता रच कर सुनाई। उपस्थित जनों ने वाह-वाह कर उनका उत्साह-वर्द्धन किया। सेठ जी ने उचित पुरस्कार देकर उनका मान-वर्द्धन किया। इस तरह राजसी आतिथ्य प्राप्त करने से उदयपुर का यह प्रवास अत्यन्त मनोरंजक और स्मरण-योग्य रहा। यहाँ पर सब ने पूरे आनन्द के साथ एक सप्ताह व्यतीत किया।

उदयपुर के इस प्रवास का एक विनोदी प्रसंग यहाँ पर दे दिया जाए। सेठ जी अपने निजी परिचितों के दल में सदैव विनोदी और स्नेही भाव से रहा करते थे। एक दिन उन्होंने नये आनन्द की रचना करने के लिए विनोद की घड़ियां मानो पहले से सोच कर तैयार कीं। वे सब लोग बाजार गये थे और पं० गणपत जी धर्मशाला में ही रह गये थे। बाजार से वापस आकर सेठ जी ने सागर मल जी और अनन्तराम जी को सम्बोधित करते हुए कहा कि आज अपने बाजार से जो मिठाई लाये हैं, उसमें मावे की कचौड़ियां बहुत ही सुन्दर और बढ़िया हैं। सो पंडित जी को यह नहीं देंगे, अपने ही उनको उड़ा जाओ। यही हुआ भी। इस प्रसंग के समय गणपति जी वापी पर स्नानार्थ गये हुए थे। जब वापस लौट कर आये, तब तक मावे की कचौड़ियाँ सब लोग साफ कर चुके थे, और सेठ जी ही नहीं, सभी जन मौज लेकर हल्के-हल्के हंस रहे थे। जब सेठजी ने इस घटना का भरपूर रस ले लिया और पंडित जी कचौड़ियों के अभावको अभाव-सा महसूस करने लगे, तो भरपूर विनोद में हंसते हुए उन्होंने अब कहा, "नहीं पंडित जी, हमने आपके हिस्से की कचौड़ियाँ केवल छिपा भर दी थीं। लाओ, पंडित जी की कचौड़ियाँ ले आओ और इनको भी दो।" अब तो सभी लोग भरपेट हंसने लगे और छिपाई हुई कचौड़ियाँ पंडित जी के सामने परोस दी गई। सेठ जी परिवार में ऐसे ही रस का मधुर वर्षण किया करते थे।

इसी तरह की एक घटना और है। सब उदयपुर का प्रसिद्ध गुलाब बाग देख कर आ रहे थे। आश्विन मास की बात होगी। मार्ग में गणपति जी ने कहा कि चलें, ताजा सब्जी लेते चलें। उदयपुर यद्यपि राजस्थान के पहाड़ी अंचल में बसा हुआ है, लेकिन वहाँ पर उत्तम सब्जियाँ प्रचुर मात्रा में होती हैं। सब्जी मंडी में भिंडी, तोरई, करेले आदि सभी ताजी सब्जियां थीं। सब रुक गये और पंडित जी ने आगे बढ़ कर गमछे में सब्जी तुला ली। ३ पैसे के भाव में ३ सेर सब्जी आई। बेचनेवाली मालिन थी। जब पंडित जी ने गमछे में उस सब्जी को लिया तो वह बहुत अधिक लगी। इतनी सब्जी लेना उचित न था, इसलिए उससे कहा कि माई, हमें इतनी सब्जी नहीं चाहिए। वह पंडित जी की बात समझी नहीं और बोली कि थम तो पक्के पैसा से लो हो, वै तो कच्चे पैसारी है। और पुनः तराजू में नई सब्जी भरने लगी। तब सागर मल जी ने कहा कि बस, और नहीं चाहिए। वह बेचारी निराश होकर पैसे वापस करने लगी तो सूरजमल जी ने कहा कि पसे तो तू रख ले, हमें तो कम ही सब्जी चाहिए। सेठ जी उदयपुर की मालिनों की इतनी सस्ताई देखकर विस्मय और विचार में पड़ गये। इसी तरह तरल पदार्थों का तोल भी अंग्रेजी तोल से ज्यादा था, और अनुपात में दर कम रहता था!

एक दिन दूध की दुकान पर जाकर सबने दूध पीया। दुकानदार ने एक रुपये का १८ सेर कहा। यह सुनकर गणपत जी ने पूछ ही तो लिया कि जब दूध इतना सस्ता है, तो इसमें कहीं पानी तो मिला हुआ नहीं है? सेठ जी यह सुन रहे थे। दुकानदार ने कहा कि हजूर, यहाँ पर बिना पानी का दूध ही जब पूरा नहीं बिकता, तो पानी किस लिए मिलाया जाये! उसे भला कौन लेगा? उदयपुर में इस सस्ती अवस्था को देखकर सब के मन उत्फुल्ल हो गये। मावे की कचौड़ी तो दो पैसे की एक आती थी और केवल दो खाने के बाद इतनी तृप्ति होती थी, मानो अमृत-मिश्रित कोई दैवी पदार्थ खाने को मिल गया हो।

मोहनलाल को लेकर एक घटना ऐसी और घटी, जो कम मनोरंजक न थी। सब लोग पीछोला झील में नाव में बैठने गये थे। उसके बीच में जगमन्दिर है, उसे भी देखने का विचार था। नाव में सब बैठे थे कि बीच झील में जाकर नाव डगमगाने लगी। लोग जरा घबराये, लेकिन सूरजमलजी ने मानो विनोद की पुट देते हुए कुछ इस तरह एक बात कही कि सभी आश्वस्त ही नहीं हो गये, घबराहट से उबर गये। वे बोले, "आप सब तो अपने-अपने छोरे घर छोड़ आये हो, लेकिन हम तो दोनों बाप-बेटा इसी नाव पर हैं!" वे विपत्ति और चिंतनीय क्षणों के अवसर पर बड़े मार्के की बात कहने में अचूक थे।

सूरजमल जी ने एक दिन कहा कि आज उदयपुर की जेल चलेंगे। वहाँ पर जाकर उन्होंने कैदियों की कारीगरी देखी। सेठजी ने कैदियों के हाथ की दस्तकारी से प्रभावित होकर शतरंजी गलीचा, आसन आदि काफी सामान खरीदा। उसके बाद सब उदयपुर से रतनगढ़ लौट गए। अब रमादेवी जी की छमाही का कार्य पूरा करना था और उसकी तैयारी के लिए पहले ही पहुँचना जरूरी था। इतनि अवधि बीत जाने तक मोहनलाल भी अपनी माता की वियोग-वेदना से स्वस्थ हो चुका था।

रतनगढ़ में लौटकर सूरजमल जी ने अब अधिक समय समाज के सुविज्ञों के साथ गंभीर विचार-चिंतन में लगाना शुरू कर दिया। समाज में क्या अभाव हैं, उनकी पूर्ति किस तरह हो सकती है, अन्य समृद्ध नगरों में वैश्य समाज की ओर से क्या आयोजन हो रहे हैं और रतनगढ़ में क्या कुछ नया आयोजन होना चाहिये, ऐसे प्रश्नों पर वे सबसे सूचनायें संगृहीत करते, उन सूचनाओं पर सबसे सत्परामर्श करते, रतनगढ़ की पुरानी परम्पराओं को देखते हुए कौन सा ऐसा नया कार्य सार्वजनिक स्तर पर शुरू किया जाना चाहिए, जिससे अधिक जनों को सुख-सुविधा मिले, इस पर योजना का प्रारूप बनाते और फिर यह भी जानकारी लेते कि रतनगढ़ से बाहर, निकटवर्ती ग्रामों में सर्वसाधारण के लिए कौन से साधन जुटाये जा सकते हैं। वे रमा देवी जी की पवित्र स्मृति को समाज की कल्याण-भावधारा के रूप में परिवर्तित करने के लिए अब बहुत उत्सुक हो गये। संग्रह की वृत्ति व्यापार के लिए अनेक अंशों में आवश्यक है, लेकिन समाज में ज्येष्ठ भाव से बैठ कर त्याग की प्रवृत्ति भी वे चरितार्थ करना चाहते थे। अब वे नये अर्जन की चिंता में घुले रहते थे। धन से फलित व्यापार के लाभ की पूनियाँ तो उन्होंने बहुत कात लीं और बहुत कातते रहेंगे, लेकिन अब दूसरे किस्म का सूत कातने के लिए उनके हाथ की अंगुलियाँ बेचैनी से भर गयी थीं। रमादेवी जी की अनुपस्थिति ने उनके सामने मृत्यु-व्यापी अन्धकार की जो निशा व्याप्त कर दी थी, वह अब प्रभु-कृपा से छंट रही थी। ऐसे ही मोहनाश को चीरते हुए अथर्ववेद (८:२:१) के ऋषि ने कहा था:

आरभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिम्, अच्छिद्यमाना जरदुष्टिरस्तु ते।
असुंत आयुः पुनराभरामि, रजस्तमो मोप गा भा प्रमेष्ठाः।

—यह जीवन अमृत की लड़ी है, इसे पक्का पकड़ कर चलो। यह लड़ी बीच में टूटने न पावे। तुझे पूरी पक्की हुई अवस्था प्राप्त हो। तेरी प्राण-शक्ति, तेरी जीवन-शक्ति, तेरे अन्दर दुबारा आ रही है। (अतः अब) तू (किसी) कष्ट को मत पा, तू बेहोशी में मत जा, तू मौत की लपेट में मत पड़।

सूरजमल जी ने, रमादेवी जी के निधन के बाद, महसूस किया कि जैसे गिरिस्ती में उनका एक हाथ टूट सा गया है। लेकिन वे इस यात्रा से लौटकर जब आये तो उन्हें एक नई शक्ति अपने अन्दर उद्भूत होती हुई लगी। उन्हें महसूस हुआ कि नहीं, उनका यह बाँया हाथ तो अब उस क्षण से दुगनी शक्ति से ओतप्रोत हो रहा है, जब से उन्होंने समाज-कल्याण की चिंता में अपने को लवलीन कर लिया है। ऐसी ही मनः स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए ऋग्वेद (१०:६०:१२) के ऋषि ने उद्घोष किया था:

अयं हस्तो भगवानयं मे भगवतरः
अयं में विश्वभेषजोयं शिवाभिमर्शनः॥

—(देखो), यह मेरा हाथ शक्तिशाली है। (देखो), मेरा यह दूसरा हाथ और भी बढ़कर शक्तिशाली है। (देखो), यह मेरा (हाथ) सब रोगों का इलाज कर सकता है। (देखो), यह (मेरा दूसरा हाथ) सुख का संचार करनेवाला है।

अब सूरजमल जी अपने इस दूसरे (बांयें) हाथ से समाज के लिए एक नया कातना-बुनना शुरू करना चाहते थे। वे ऐसे तन्तुओं की रचना के लिए अपने को समर्पित करना चाहते थे, जिससे अभी तक के जीये जीवन का शृंगार हो जाये, जो कृतित्व अभी तक प्रमाद वंश या अज्ञानवश न किया हो, वह करने की शक्ति प्राप्त हो जाए। रमादेवी जी उनके जीवन की अन्तः शक्ति बन कर उन्हें सदैव चिंतनीय क्षणों में उत्तम परामर्श देती हुई, उनके जीवन की तन्तुवाय बनी हुई थीं। रमादेवी जी की माता जी ने सूरजमल जी के जीवन को इस तरह का पारस अर्पित किया था, जिसका उपयोग उन्होंने बहुत सूक्ष्म बुद्धि से किया तो वे जीवन में स्वर्ण की मात्रा संतोष भर के लिए भरने में सक्षम हो सके। अब वे रमादेवी जी के अभाव को स्वयं तन्तुवाय की स्थिति में बैठकर इस तरह पूरा कर देना चाहते थे कि उनके आगामी जीवन में दिवंगत देवी की आत्मा हर्ष-विह्वल बनी विमुग्ध रह जाये।

ऋग्वेद के ऋषि ने एक वाणी में आदेश दिया है:
तंतुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि, ज्योतिष्मतः।
पथो रक्ष धिया कृतान्॥
अनुल्वणं वयत, जोगुवामपो, मनुर्भव,....॥
हिन्दी के कवि ने इसी स्वर में इसे इस तरह गाया है:

सूत कातकर उसमें ज्योतिर्मय रंग की आभा
भर दो।
बुनाई बिना गाँठ की हो,
बुद्धि द्वारा आलोकित मार्ग को अपनाओ,
मननशील रहो,
यह काम काव्य-रचना के समान है..... ।

रमादेवी जी ने अपनी इहलीला समाप्त करने से पहले सूरजमल जी से क्या इच्छायें प्रकट कीं,यह हमारी सूचनाओं में संगृहीत नहीं है। लेकिन उनके विदा होते ही सूरजमल जी ने उनकी स्मृति को किस तरह के तंतुओं से बुनना शुरू किया,यही कहानी अब उनके शेष जीवन में लिखी जानी बाकी रह गयी है। उनके जीवन का पाँचवाँ अध्याय इसी दैवी आदेश से रहस्यमय बना हुआ प्रारंभ होता है।

३५ वर्ष की अवस्था पुनर्विवाह के लिए बहुत अधिक नहीं थी। प्रथम प्रिया भार्या के स्वर्गारोहण के बाद जो पुरुष बार-बार विवाह करता है, उसके लिए संस्कृत में एक सुन्दर शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐसे पुरुष को कल्याण-भार्य कहते हैं। इस शब्द में एक विद्रूप निहित है कि वह जैसे अपनी नई-नई भार्याओं का महाकल्याण करता है! पर सूरजमल जी कल्याण-भार्य के स्थान पर अब मात्र कल्याण-यज्ञ के विनीत साधक बनने के लिए कृत-संकल्प थे, ताकि वे समष्टि के निमित्त अपने को कल्याण-कृत बना लें।

माता का आतुर-भाव और उसका स्नेह-निर्माण सत्य रूप में उसका पुत्र ही हुआ करता है। आज की इस मनुष्य-सृष्टि में माता का नाम इतिहास में वंशावलि के साथ लिया जाना सनातन रूढ़ि के रूप में स्वीकृत नहीं रह गया है, लेकिन माता को इस व्यर्थ भौतिक यश की चिंता नहीं है। वह भावी निर्माण की पीठिका में अपने समग्र कृतित्व की एक अभिनव रचना अपने पुत्र के रूप में इस विश्व को समर्पित कर जाती है और फिर मौन भाव से इस धरा से विदा ले लेती है। रमा देवी जी ने केवल एक पुत्रके निर्माण में अपना पूर्ण समय दिया था, इसलिए विशेष बात यह रह गयी कि उन का संपूर्ण स्नेह-भाव उसी में सिंचित-नियोजित हो गया। मोहन-लाल अपनी विदुषी साध्वी माता का ऐसा ही इकलौता पुत्र था।

रमाबाई ने बालपन में नारायणी देवी के हाथों बहुत ही ज्यादा प्यार पाया था। उनके पिता रामचन्द्र जी अपनी इस पुत्री को कुछ इस तरह प्यार करते थे कि मानों साक्षात् लक्ष्मी के स्मित भाव ने उनके घर में पदार्पण किया हो और वह शनैः-शनैः एक मोद-मंगल का स्वरूप ग्रहण कर रहा हो। पर इस पुत्री ने अपने पिता का प्यार ज्यादा न पाया। नारायणी देवी अवश्य इस पुत्री की सेवा से उपकृत होती रहीं, बदले में उसे हमेशा ही सबल जीवन के उपदेश देती रहीं। नारायणी देवी के उपदेश निरे थोथे वचन न होते थे, ऐसे मार्मिक होते थे कि वे हृदय में घर कर लेते थे। ऐसे सुपुष्ट हाथों जिसका निर्माण हुआ था, उन रमा देवी जी ने अब मोहनलाल का निर्माण कुछ इस प्रीतिके साथ किया कि वह होनहार से अति मेधावी पुत्र बनने लगे। माता प्रति क्षण चौकस रहतीं कि किस तरह का अनायास लाड़ बच्चे पर कोई अनिष्टकर संस्कार न छोड़ दे। शीलवती माता के वह ऐसा शीलवान पुत्र हो रहा था कि उस की सहेलियाँ कभी-कभी कह दिया करती थीं कि मोहन ने मोहनभोग बना कर ही छोड़ोगी क्या? किसे मालूम था कि यह विनोद आगे चल कर यथार्थ रूप में सत्य ही निकलेगा। रमा देवी भी कभी-कभी इसका उत्तर विनोद में देने पर तुल जाती थीं कि पूरे परिवार में बैठी हुई सहेलियों की गोष्ठी में हंसी हंसे न रुका करती थी। वे इस विनोद का उत्तर देते हुए बोलीं, "थे थावस राखो, यो मोहनभोग मैं अकेली कोनी खा लूँ, थारो भी हिस्सो राखस्यूं!" कौन जानता था कि रमादेवी जी अपने इस विनोद भरे वचनों से एक भविष्यवाणी ही कर रही हैं। सचमुच आगे चलकर मोहनलाल पूरे समाज में मोहनभोग की सी सहृदयता से अग्रसर हुए और दीन-दरिद्रों और अभावग्रस्तों के प्रति एक सुस्वादुता का वर्षण नियमित रूप से करते रहे।

रमादेवी स्वभाव की बहुत अधिक गंभीर न थीं। भगवान ने शरीर उत्तम दिया था, उससे उत्तम स्वभाव दिया था। पति के सभी आयोजनों में, जब भी विचार-विमर्ष के लिए सूरजमल जी उन्हें पास बैठाते, अपने उत्तम चिंतन का प्रसाद ही सौंप दिया करतीं। वे समाज में दानदाता से अधिक नवनिर्माण के कार्यो से प्रसिद्धि पायें, यही उनकी मनोभिलाषा थी। अपने समाज के अभाव को पहली दृष्टि में ही पहचान लिया करती थीं। इसीलिए जब भी मोहन-लाल उनके पास एकांत क्षणों में बैठता, माता पुत्र से यही कहती कि अपने वंश की रीति खूब समझ कर चलो बेटा। अपने वंश का एक ही भेद है। तेरे नाना समाज में अपना बुद्धिबल लेकर नाम पा गये। तेरे दादा ने अपना जीवन होम दिया, पर आसाम में अपने व्यापार को अपने जीते जी बन्द न होने दिया। तुम्हें इस वंश की नौका खूब मजबूती के साथ चलानी है। अपना परिवार आज बहुत बड़ा है, यह सोच कर कभी आराम नहीं करना है। अपना काम अपने हाथ से ही सहेजना है।

रमादेवी जी जब तक रहीं, केवल मोहनलाल को ही अपनी आँखों का तारा न मानतीं। जो भी पुत्र-पुत्रियाँ भरे-पूरे परिवार में हो रहे थे, सभी को अपने ज्येष्ठ भाव का दुलार देतीं। अपनी सभी देवरानियों को,स्वयं माता के तुल्य,उन्हें आदरास्पद स्थिति में रखतीं, सभी योजनाओं में उनको मुख्य पद देतीं और सबके प्रति समत्व भाव से रहतीं। विनोद में कहा करती थीं, "देवरानियाँ तो जेठानी जीकी मुकुट-कुंडल की तरह सोहती हैं। सीता की देवरानियाँ मांडवी और ऊर्मिला थीं। पर मेरी देवरानियाँ तो गंगा-जमुना हैं, मैं तो बीच में बस इन्हीं दोनों का पुण्य भोग रही हूँ!" ऐसी

श्रीमती रमादेवी जालान

रतनगढ़ गोचर-भूमि

श्री सूरजमलजी जालान द्वारा स्थापित गोचर-भूमि में श्री चिरंजीलालजी वाजोरिया के साथ श्री सूरजमलजी माठोलिया निरीक्षण करते हुए।
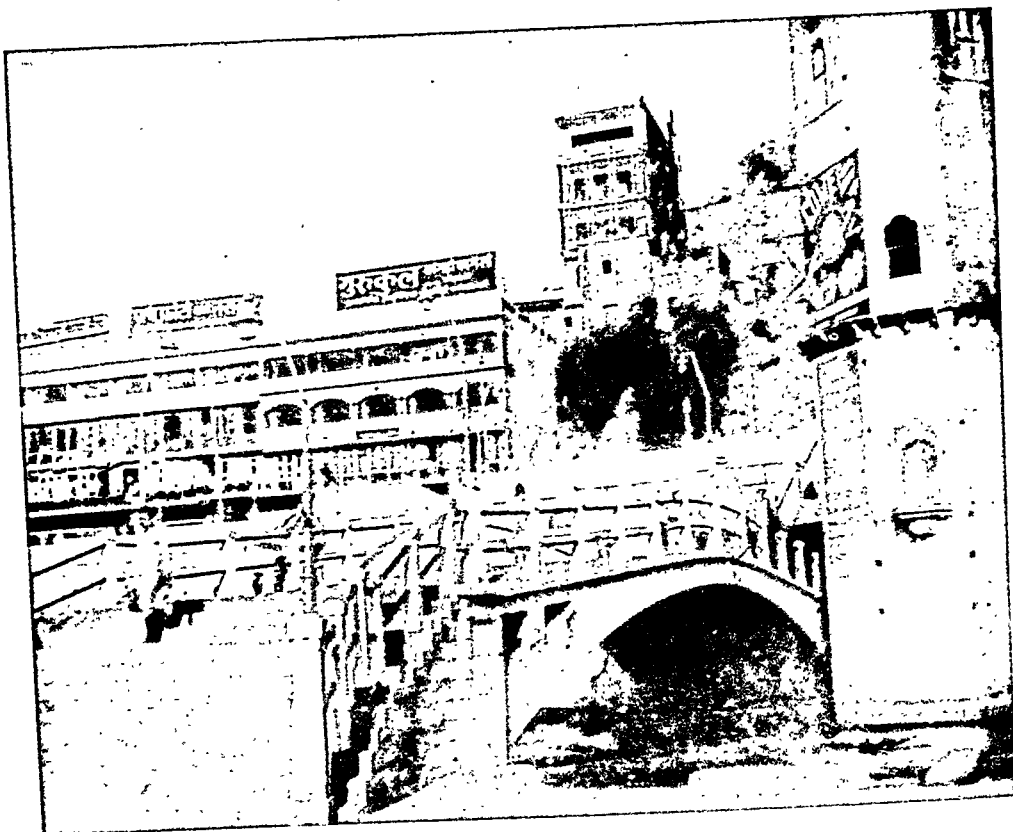
हरिद्वार का पुल

[इसे सूरजमलजी जालान ने लगभग सन् १९३५ में बनाकर लोक-हिताय समर्पित कर दिया था]

बातें सुन कर दूर-पड़ोस की स्त्रियाँ रमादेवी जी के प्रति श्रद्धा-विगलित हर्षाश्रु से सिक्त हो जातीं।

रमा देवी जी ने एक विशेष संस्कार मोहलाल को और दिया। वे उसे जब बालपन में गोद में ले कर बैठतीं, तो सहसा ही उन्हें प्रतीति होती कि यह पुत्र गुणों को जल्दी सीखता है, आलतू-फालतू बातों में रुचि नहीं लेता। इसकी दृष्टि कितनी सूक्ष्म है। अपनी चीजों को सब में बाँटकर खाता है। एक दिन तो जिद् कर बैठा कि पहले माँ खाये, तो मैं खाऊँगा। उसकी ऐसी अल्हड़ चपलता पर रमादेवी निहाल रहतीं। पति से कहतीं, "इस टाबर ने सम्हाल कर राखियो। के पतो, मैं रहूँ या चली जाऊँ, पर वंश की रीति तो यो ही निभावैगो।" सूरजमल जी तब विनोद करते, "वंश की रीति तो पुत्र को माँ से ही मिलती है। जैसी रीति देओगी, वैसी ही यह निभा देगा।" फिर और हंसते हुए कहते, "माता का स्वार्थ उसका पुत्र इतना हो जाता है कि वह अपना स्वार्थ भी भूल जाती है!"

रमादेवी जरा कृत्रिम क्रोध में, पर स्मित भाव से तत्काल ही उत्तर देतीं, "माता नाम तो स्वार्थ का नहीं, 'मैं आता हूं का'" है। माता का स्वार्थ ही क्या है? स्वार्थ तो पिता का भी नहीं है। स्वार्थ है ही क्या? ईंधन जलता है तो क्या स्वार्थ है? तवा तपता है तो क्या स्वार्थ है? चूल्हा जलता-दहकता है तो क्या स्वार्थ है? यह दुनिया तो जलता ईंधन है।" फिर मातृ-भाव में रमादेवी मुस्करा कर कहतीं, "हाँ, माता का एक स्वभाव अवश्य है स्वार्थ का। वह अपना दूध बस अपने पुत्र को ही पिलाती है। पर मेरा यह मोहन अपने सारे जीवन मेरे दूध की कीर्ति बढ़ाता रहेगा। इतना संतोष मेरा कम नहीं है!"

रमादेवी जी ने एक संस्कार मोहनलाल को और दिया। वे जो भी दान आदि देतीं, मोहनलाल के हाथ से दिलवातीं। जो भी पूजा-पर्व होता, उसमें मोहनलाल को अवश्य शामिल रखतीं। सब बच्चों को उपस्थित रहना आवश्यक रहता। इसी तरह वे अपने वंश की नयी मर्यादा स्थापित कर गयीं।

सत्कर्मकरणेनान्तः सन्तोषं लभते नरः।
वस्तुतस्तद्धनं मन्ये न धनं धनमुच्यते॥

—जिस काम के करने से मनुष्य की अन्तरात्मा को संतोष होता है, वास्तविक धन उसी को मानना चाहिए। लौकिक धन को धन नहीं कहा जा सकता।

मोहनलाल ऐसे ही धन अपनी माता के थे। वे अपने पीछे, इस पुत्र को बड़े गौरव के साथ छोड़ कर गयीं।

गऊ माता के संकट-निवारण में मौन आहुति

●

न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रशन्नाम्।

(रघुवंश, २ : ६३)

—मैं केवल दूध ही देनेवाली नहीं हूँ। प्रसन्न होने पर मुझे समस्त कामनाओं की पूर्ति करनेवाली भी समझो।

●

[२४]

भारत में वसुधैव कुटुम्बकं के युग की एक ही दिव्य स्मृति अभी तक क्षीण भाव को प्राप्त नहीं हुई है : वह है गाय। गाय विश्व की प्राचीनतम संस्कृति का पोषण करनेवाली शक्तियों में से एक रही है। गऊ ही भारतीय परिवार की ऐतिहासिक मर्यादाओं में स्वर्ण-रेखा के तुल्य दिग्दिगन्त में झिलमिल करती रही है। वैदिक संस्कृति जिन क्षणों में गेय बन रही थी, क्योंकि उसका आनंद ही मानव-सामाज में एक परिप्लुत गीतिकाव्य सदृश सिद्ध होने लगा था, उस समय गऊ समाज की सर्वोपरि सजीव सम्पदा थी। गऊ की रक्षा राज्य-कर्तव्य में समाहित की गयी थी। धर्म-संहिताओं में गऊ को पूज्य भाव सौंपा गया है। गृहस्थधर्म में एक गऊ का पालन लोक-परलोक में मनःशान्ति के लिए बहुत आवश्यक समझा गया। वह संगठित परिवार की अन्तः शक्ति मान्य हुई। गऊ का गान प्रातःस्मरणीय मंत्रों में अधिष्ठित हुआ। गृहिणी की सेवा में गऊ घर-गिरस्ती की आदरणीय माता के तुल्य मान्य हुई। नृपति और साधारण नागरिक समान भाव से गऊ के समक्ष नम्र भाव से बैठने में अपना अहो-भाग्य मानते थे। यही कारण है कि वह राजमुद्राओं पर अंकित की गयी। जब जातियों का स्थायी रूप से वर्गीकरण होने लगा तो समाज के तृतीय तत्व : वणि, को कृषि और उनके प्राणभूत अंग गऊ के संवर्द्धन का भार दिया गया।

इस तरह गऊ हिन्दू-राष्ट्र की अद्वितीय शक्ति बनी रही। राज्यक्रांतियाँ होती रहीं, राष्ट्र के रंगमंच पर विभिन्न राजवंश आते रहे, लेकिन गऊ के प्रति उनकी भक्ति में कोई ह्रास न आया। गऊ का संचय जितना ही अधिक जो करता था, वह उतना ही समादृत होता था, गऊ का जो जितना ही अधिक दान देता था, वह उतना ही महादानी लोकजगत में विख्यात होता था। अन्य पशुओं का दान उस के संतुलन में कभी भी इतना उल्लेखनीय न हो पाया। वे प्रवास और भार के वहन के मूल्य से अवश्य सम्मानित रहे, किन्तु गऊ राष्ट्रीय जीवन में नागरिक मात्र की संजीवनी शक्ति बनी रही। पूरे ३००० वर्षों तक गऊ का विशिष्ट स्थान राष्ट्र की आर्थिक भित्ति में अक्षुण भाव से नियमित बना रहा।

सूरजमल जी जालान का दैनिक जीवन हर दृष्टि से धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत था। वे देवदर्शन के बाद गऊ का दर्शन किया करते थे। कलकत्ता में स्थायी रूप से परिवार की स्थापना के बाद आपने गऊ का रखना अपना परम कर्तव्य मान लिया था। गऊ का स्पर्श कर वे अपने को धन्य मानते थे। कहते थे, "गऊ के दर्शन से आत्मा को कितनी शान्ति मिलती है। गऊ जब हर्षित होती है, तो मुझे एक दिव्य बल अन्दर ही अन्दर मिलने लगता है।"

भारत के पुनर्जागरण-काल में अनेक विचार-क्रांतियों ने देशवासियों को नवीन मनोबल देना शुरू कर दिया था, साँस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि से सारा देश गऊ के शोचनीय जीवन पर भी अब उदासीन नहीं रहना चाहता था। ब्रिटिश भारत में कसाईखानों की संख्या बढ़ने लगी थी और उस से धर्मप्रिय प्रजा बहुत दुखी रहती थी। देशी रियासतों में अवश्य गऊ अवध्य थी, किन्तु ब्रिटिश भारत में गऊ का जीवन अनेक भीषण संकटों से शोचनीय होता जा रहा था। और उसी अनुपात में दूध और घी का अभाव जनजीवन में सब को दुखी बनाने लगा था। गृहस्थों की परिधियों में गऊ रक्षणीय बने, ऐसी सुखकर परिस्थितियाँ संभव न हो पा रही थीं। गऊ का दूध गृहस्थमात्र के दैनिक भोजन में एक आवश्यक बात अवश्य थी, किन्तु उस की रसद के लिए ग्वालों के आश्रित ही सब रहते थे और वे अपने वाड़ों में गऊओं को जिस तरह दुखी बना कर रखते थे, वह सब के लिए प्रधान पीड़ा होती जा रही थी। जहाँ राजनीतिक जागरण के लिए सभायें होतीं, समाज-सुधार के लिए गोष्ठियाँ बुलाई जातीं, वहीं पर गऊओं की दशा में सुधार के लिए भी कुछ न कुछ विचार-विमर्ष चलता रहता। सूरजमल जी बराबर इन सब सूचनाओं में रुचि लेते, गऊओं के देशव्यापी उद्धार के लिए कुछ होना चाहिए, इस के लिए उन के मन में स्वस्थ परिकल्पनायें उठती रहतीं। कलकत्ता में पिंजरापोल जैसी संस्था के कार्यों में अपनी ओर से जो सहायता पहुँचा सकते, उनमें विनीत भाव से अपना मौन सहयोग देते रहते।

राजस्थान गऊ-प्रधान देश रहा है। भारत जैसे महादेश में, मरु-प्रदेश होने के बावजूद, राजस्थान की परम्पराएँ गऊ-आधारित रही हैं। गऊओं की रक्षा के लिए राजपूत नरेशों ने अपनी बलि दी है। राजस्थान से प्रवासी बने हुए मारवाड़ी भाइयों ने, अपने देश से बाहर जाकर, बंगाल आदि अंचलों में गऊ की रक्षा के प्रश्न को कभी ओझल न होने दिया। जब मारवाड़ियों ने सबसे पहले अपना सामाजिक संगठन बनाया, तो वह अखिल समाज की भावनाओं को दृढ़ करते हुए पिंजरापोल सोसायटी नाम से ही बना। उसी के दस वर्ष बाद उन्होंने अपने समाज की पार्लियामेंट 'मारवाड़ी ऐसोसिएशन' और 'मर्चेन्टस कमिटी' आदि का संगठन किया था।

किन्तु एक ओर देशवासी गऊ की प्राणरक्षा और उस के वंश-संवर्द्धन में चिंतातुर थे, दूसरी ओर अशिक्षित ग्वाले अपने निंदनीय स्वार्थों को परिपुष्ट करने के लिए गऊओं पर असह्य अत्याचार करने लगे थे। बंगाल में 'फूका' प्रणाली का जोरशोर बढ़ने लगा था। यह पद्धति थी अत्यधिक दूध-प्राप्त करने की। बछड़े को पहले थनों से चुसवा कर दूध-ग्रहण की सनातन पद्धति को तिलांजलि देते हुए, कृतघ्न ग्वाले गऊ के मूत्रमार्ग में सरकंडों की झाडू का इस तरह घर्षण करते थे कि अथाह पीड़ा को प्राप्त कर गऊ अपना सारा दूध ही नीचे न उलीच देती थी, उसके मूत्र आदि भी अपने स्थान से स्खलित हो जाया करते थे। उस अवस्था में जो बछड़े थे, भूखे और कंकाल बने रहते और कसाइयों को बेच दिये जाते। कुछ वर्षों बाद इस तरह वह गऊ भी अपनी अन्तःशक्ति में क्षय की निम्न अवस्था को पहुँच जाती और उसे भी कसाइयों के हवाले कर दिया जाता। इस अमानवीय कार्यवाही के विरुद्ध मारवाड़ी समाज ने बहुत बड़ा आन्दोलन उठाया, बंगाल सरकार को बाध्य किया कि वह इस 'फूका-पद्धति' के विरुद्ध नियम बनाये और इस को सर्वथा बन्द करने में दृढ़ता से काम ले।

सूरजमल जी की धारणा थी कि गऊ हमारे व्यक्तिगत जीवन में उसी तरह रहनी चाहिए, जिस तरह हमारे परिवार-जन हैं, तो उसका कल्याण हो सकता है। इसीलिए आप समय-समय पर मारवाड़ी ऐसोसिएशन के लोकप्रिय मंत्री श्रीरामदेव जी चोखानी से मंत्रणा किया करते थे। चोखानी जी ने सन् १९१३ से लेकर १९२० तक गऊओं के प्रश्नों को लेकर काफी काम किया था। चोखानी जी ने एक बार संस्मरण सुनाते हुए कहा था, "सूरजमल जी अपने समाज के ऐसे पुरुष थे, जिन के प्रति सहज आकर्षण बढ़ता था। भगवान ने उन्हें धन दिया था, लेकिन वे उस धन का मद अपने पर हावी न होने देते थे, उसी तरह साधारण और विनयी बन कर रहते थे, जैसा कि कर्म-क्षेत्र में पदार्पण करते समय हम लोगों ने उन को देखा था। एक दिन की बात है, और इस दिन की बात से पहले, सूरजमल जी से मेरा परिचय न हो पाया था। वे अच्छे

व्यापारी थे, लेकिन सभा-सोसाइटियों में भाग लेने में उनकी कोई रुचि न थी। किसी विवाह-विरादरी में उनसे जब भेंट हुई तो पहली ही वातचीत में उन्होंने यह भावना प्रकट की कि कलकत्ता में हम लोगों को कुछ इस तरह के उत्सव करने चाहिए, जिन से हमारे पूर्वजों की भावनाएँ फिर से जागने लग जायें। जब वात मुझे पसन्द आई और बड़ी देर तक मैं उनसे बातें करता रहा, तो कहने लगे कि एक दिन कलकत्ता में ऐसा रखा जाये कि उस दिन घर-घर के स्त्री-पुरुष गऊ का दर्शन करना अपना पहला कर्तव्य समझें और उसका महोत्सव भी मनायें। गोपाष्टमी-मेला तो होता ही है, लेकिन इस के अतिरिक्त हमें 'कर्तव्य-दिवस' निर्धारित करना होगा। श्राद्ध-पक्ष में गऊओं का गऊ-ग्रास हम देते हैं, यह ठीक है, लेकिन गोवर्द्धन-पूजा के दिन सामूहिक गोवर्द्धन-पूजा की वात यदि शुरू हो जाये तो वहुत उत्तम रहेगा। दुर्गा-पूजा तो हम बड़े पंडालों में मनाते हैं, लेकिन गोवर्द्धन-पूजा के दिन यदि हम एक वड़ा गोवर्द्धन वना कर और उसके नीचे विशालकाय कृष्ण की मूर्ति स्थापित कर गऊओं को उस दिन सामूहिक भाव से भोजन खिलायें, तो वह हमारे जीवन को पवित्र वनायेगा।

चोखानी जी ने आगे कहा कि मैं उनकी इस तरह की वातों को बड़े ध्यान से सुनता रहा। सार्वजनिक जीवन में मुझे बराबर ही सब से सम्पर्क रखना पड़ता था और बराबर ही अनेक उत्तम व्यक्तियों से मिलने का सुयोग मिलता था, लेकिन सचमुच उस दिन ऐसे व्यक्ति से साक्षात्कार हो रहा था, जो कलकत्ता में कम से कम परिचित थे। लेकिन उनके पास वैठ कर मैं उनसे इतना आकर्षित हुआ कि मन में उनकी वातें घर करती गयीं। वे सार्वजनिक स्तर पर भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के अच्छे विचारक मालूम हुए। फिर दुवारा भेंट करने का वचन देकर मैं वहाँ से चला आया। और उसके वाद दस-वीस वार उनसे जब-जब भेंट हुई तो मुझे यही प्रमाण मिला कि वे योजनाओं पर संतुलित वुद्धि से विचार करते हैं। उनकी विचार-पद्धति में व्यर्थका आडंवर-भाव नहीं है, स्वयं को प्रसिद्ध करने या प्रकाशित करने या स्व-कीर्ति के वल पर योजना को आगे बढ़ाने का प्रमाद नहीं है। उसी के वाद से उनके साथ अच्छी मैत्री सी हो गयी।

मुस्लिम-काल में गऊओं का वध एक राजनीतिक अस्त्र बन गया था। हिन्दूधर्म को पतनावस्था तक पहुँचाने का एक उपाय तात्कालिक आक्रमणकारियों को यह भी समीचीन लगता था कि जितनी ही अधिक गऊओं का वध किया जायेगा, उतनी ही अधिक दुरवस्था इस देश की होने लगेगी। वास्तव में उस स्तर का षड्-यंत्र अपना प्रभाव दिखाने लगा था। लेकिन ब्रिटिश भारत में गऊओं का वध, कुछ उससे आगे, दासता की शृंखला को और मजबूत करने के लिए हो रहा था। वे उनके लिए भोजन का ग्रास थीं, उससे आगे उन की अस्थियाँ और उनका चर्म विदेशी शासकों के लिए व्यापारिक प्रलोभन था। और इस प्रलोभन का अतिक्रमण करने के लिए यह जरूरी था कि सार्वजनिक स्तर पर इसके लिए कुछ प्रतिरोधी कदम उठाये जायें। बंगाल में इस दृष्टि से बीसवीं सदी के दूसरे युग में जो काम हुआ, वह काफी महत्वपूर्ण था।

'रामदेव चोखानी' ग्रंथ में पृष्ठ १०५ पर, इन में से एक काम की विस्तृत सूचना लिपिवद्ध की गयी है, "पशु-क्लेश-निवारिणी संस्था की सदस्यता—सरकारी संरक्षण में 'सोसायटी फॉर दि प्रिवेंशन आफ क्रियूऐलिटी टु ऐनीमल्स' नामक एक संस्था कार्य कर रही थी। इन दिनों पशुओं पर और विशेष रूप से गायों पर बड़ा अत्याचार हुआ करता था। ग्वाले लोग फूका का प्रयोग करते हुए गायों का दूध दुहा करते थे, जो न केवल अमानवीय ही था, बल्कि राक्षसी वृत्ति का द्योतक था। इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह था कि वछड़े और वछियाएँ अल्प समय में ही मर जाते थे और यह आशंका होने लगी थी कि यदि इसी रूप में फूका का प्रयोग करने की स्थायी परिपाटी नियमित हो जायेगी, तो अल्प समय में ही देश का सारा पशु-धन नष्ट हो जायेगा। दूसरे, जिन पशुओं को सवारी के लिए और वोझ लादने के काम में लाया जाता था, उन पर विना हिसाव वोझ लाद दिया जाता था। उनके शरीर पर जूए और हंटर-चावुकों के घावों से खून बहता रहता था, पर चिकित्सा करने का कोई नाम न लेता था। ऐसी अवस्था में कुछ मानवीय भावनाओं से उत्प्रेरित व्यक्तियों ने इस दिशा में एक वल-रेचक आन्दोलन खड़ा किया और प्रान्तीय सरकार से आग्रह किया कि वह कानून वना कर पशु-धन की रक्षा करे। आखिर २३ फरवरी, सन् १९१५, को वंगाल सरकार ने एक कांफ्रेंस वुलाई, जिस के सभापति माननीय जस्टिस वीचक्रेफ्ट थे। इस कांफ्रेन्स में एक सदस्य के रूप में रामदेव जी चोखानी की नियुक्ति करने से पहले वंगाल सरकार के चीफ सेक्रेटरी मि० कम्मिंग ने चोखानी जी से पत्र-व्यवहार किया। रामदेव जी ने मारवाड़ी ऐसोसिएशन के मंत्री की हैसियत से इस सम्मेलन में भाग लिया। सन् १९१५ के २४ अप्रैल से १७ जुलाई के बीच आठ बैठकें इस कांफ्रेंस की हुईं। सरकार ने इस कांफ्रेंस से आग्रह किया था कि वह यह सुझाव दे कि पशुओं पर किये जानेवाले अत्या-चारों पर आधारित जो वर्तमान कानून हैं, उनमें क्या सुधार किये जाएँ। फलतः पूरी जांच-पड़ताल के वाद इस कांफ्रेंस ने ७५ हजार शब्दों की एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें सरकार से आग्रह किया गया था कि वह इस रिपोर्ट की पृष्ठभूमि में पशुओं पर किये जानेवाले अत्याचारों में अविलंब सुधार लाने के लिए प्रचलित कानूनों में संशोधन करे। वंगाल सरकार ने तत्काल ही इन प्रचलित कानूनों में आवश्यक सुधार कर दिए।[1]

---

1 'श्री रामदेव चोखानी' : सम्पादक—राधाकृष्ण नेवटिया, [illegible] १९५[illegible], बैजनाथ बाजोरिया, [illegible], नन्दकिशोर [illegible], [illegible], श्री [illegible] [illegible]।

चोखानी जी ने[1] इन पंक्तियों के लेखक को इस सरकारी रिपोर्ट तैयार करने के क्षणों की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए सूरजमल जी की बात भी आगे रखी। आप ने कहा, कि "जब कांफ्रेंस का काम चलने लगा, तो मैं ने इसी ऐसोसिएशन के प्रमुख व्यक्तियों से ही परामर्श न किया, अन्य ऐसे व्यक्तियों से भी राय मिलाई, जिनके विचारों का मैं मूल्य लगाने लगा था। ऐसे व्यक्तियों में श्रीहरिराम जी गोयनका बहादुर, श्री रायबहादुर विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया, श्री केशोराम पोद्दार, श्री सूरजमल जी जालान प्रभृति व्यक्ति तो मारवाड़ी समाज के थे। अन्य व्यक्ति बंगाली समाज के थे। सूरजमल जी के मन में गऊओं के साथ होनेवाले अत्याचारों की जो पीड़ा थी, उस की तुलना आक के पौधे से लगाई जा सकती है, कि हम उसका पत्ता तोड़ते हैं और वह दुखी होकर खंडित स्थान से अपने दुख-रूपी दुग्ध का स्राव करने लगता है। सूरजमल जी का वश चलता तो वे इस सारी कांफ्रेंस का व्यय स्वयं वहन कर लेते, लेकिन उनका विश्वास सरकार में और उसके कानूनों में बहुत ज्यादा न था। फिर भी वे तन्मय भाव से कांफ्रेंस की बात सुनते और अपनी वजनदार राय देने में कोई संकोच न करते। यह ठीक है कि समाज की अन्य गतिविधियों के बारे में मेरी और उनकी राय में प्रायः मतभेद रहा करता था, लेकिन गऊओं के प्रश्न पर मैं उनसे विशेष आकर्षित रहने लगा था। जब कांफ्रेंस की कार्यवाही पूरी हुई और उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो सूरजमल जी को ज्यादा संतोष न हुआ। वे बुनियादी रूप से कुछ ठोस कदम उठाये जाने के पक्ष में थे।

"शीघ्र ही ऐसा अवसर भी गऊ-प्रेमियों के समक्ष आ गया कि जब हम उनसे ठोस सहायता लेने के लिए प्रस्तुत हुए। यों तो कलकत्ता में पशु-धन की रक्षा के लिए कलकत्ता पिंजरापोल की स्थापना हो चुकी थी, उस का कार्य बहुत-कुछ बड़े पैमाने पर भी बढ़ चला था, किन्तु वैज्ञानिक स्तर पर सब विशेष रीति से इस काम को आगे चलायें, इस के लिए जस्टिस वुडरफ और जस्टिस ग्रेविंग की अध्यक्षता में 'आल इंडिया काऊ ऐसोसिएशन कांफ्रेंस' की स्थापना की गई। जस्टिस वुडरफ भारत-हितैषी थे और उनकी बड़ी इच्छा थी कि भारत जैसे प्राचीन देश में, जहां गऊ केवल पशु ही नहीं है, उसके साथ मानव-मात्र के कल्याण का संबंध जुड़ा हुआ है, उस के बारे में वास्तविक रूप से सही दिशा में काम करने के लिए योजना बने। वे बराबर स्वप्न देखा करते थे कि सारे देश में यहां का गऊ-धन उतना ही स्वस्थ हो जाये, जितना आस्ट्रेलिया आदि देशों में हो चुका है। यह कांफ्रेंस सन् १९१७ में गठित हुई। मैं भी इस कांफ्रेंस का सदस्य निर्वाचित हुआ।

"जब इस कांफ्रेंस का सुचारु गठन कर लिया गया, तो सवाल यह आया कि इस काम को आगे बढ़ाने के लिए कुछ रुपया चाहिए। जितने भी गऊ-प्रेमी थे, उनसे बात चलाई गयी और बहुत से उदार हृदयी व्यक्तियों ने इस में अपना साहाय्य प्रस्तुत किया। इसी सिलसिले में मैं सूरजमल जी के पास गया। वे इस समाचार को सुन कर हर्षित हुए। उन्हों ने बहुत उत्साहित होकर जिज्ञासा की कि कितना देने से प्रारंभिक काम चलेगा। मैं ने यह बात उन्हीं पर छोड़ दी। उन्होंने दूसरे दिन स्वयं ही एक लिफाफा भिजवा दिया, उसमें उनकी ओर से आर्थिक सौजन्य जो दिया गया था, वह था। मैं ने वह लिफाफा जस्टिस वुडरफ के पास भिजवा दिया। यह तो इस समय याद नहीं है कि जस्टिस महोदय की और सूरजमल जी की भेंट हुई या नहीं, लेकिन इतना अवश्य स्मरण है कि जस्टिस वुडरफ ने उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की थी। तब मैं ने देखा कि सूरजमल जी कितनी सहृदयता के साथ गऊओं की वास्तविक उन्नति का स्वप्न देखा करते थे।"

सूरजमल जी ने केवल कलकत्ता में ही गऊओं के प्रश्न में रुचि न दिखलाई।[2] आप ने रतनगढ़ में भी पिंजरापोल की स्थापना हो, इसके लिए बराबर प्रयत्न जारी रखा। उस प्रयत्न में केवल आप इतने से ही संतुष्ट न रहे कि उस काम के लिए अपेक्षित आर्थिक सहायता दे दिया करें; स्वयं उपस्थित होकर, जब भी रतनगढ़ जाते, पिंजरापोल के कार्य का निरीक्षण करते, उसकी कार्यव्यवस्था में अपने सुझाव देते। कार्य-प्रारंभ करने पर जब पिंजरापोल के लिए स्थानाभाव का प्रश्न सामने आया, तो आप ने बहुत हर्षित भाव से पुराने स्थान के सामने एक नया भवन बनवा कर पिंजरापोल के लिए समर्पित कर दिया। समर्पण-भाव में ही आपका विश्वास रहा। जिस दिन आपने वह भवन दिया, उस दिन आपने यही कहा कि हम अपने लिए भवन बनवाते हैं, गऊ माता के लिए भवन बनवाना तो सबसे पहले हो जाना चाहिए था। अब देर से हुआ है, तो यह संतोष है कि इस में बहुत विलम्ब नहीं हुआ। कथासरित्सागर में कहा है —

करुणार्द्रा हि सर्वस्य सन्तोऽकारण बान्धवाः।

अर्थात्, करुणा से आर्द्र चित्तवाले सत्पुरुष सबके अकारण बन्धु होते हैं। ४० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते न पहुँचते सूरजमल जी समाज में किस प्रवृत्ति और किस सन्मार्ग के राही सज्जनों के मित्र नहीं बन गये, आज यह हिसाब लगाना सरल काम नहीं है। सार्वजनिक भाव के कार्यकर्ता अब उनके द्वार को अपने किसी स्नेही बन्धु का ही भावनीय कक्ष मानने लगे थे। कलकत्ता, रतनगढ़, काशी, देवघर (बिहार) आदि स्थानों में उन के प्रति ऐसी ही प्रियता प्रचारित हो चली थी। पंचतंत्र में कहा है: कः परः प्रियवादिनाम्? अर्थात् प्रियवादियों के लिए पराया कौन है! और फिर इसी ग्रंथ में आगे कहा है: उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। जो उदारचरित हैं, उनके लिए सारी पृथ्वी कुटुम्ब के समान है।

---

1 एक दिन चोखानी जी इन पंक्तियों के लेखक को नेशनल-लाइब्रेरी ले गये थे। लौटते हुए उन्होंने अपनी कार रोक ली और विक्टोरिया-मेमोरियल की चहार-दीवारी पर स्वयं चढ़ कर बैठे, हमें भी बैठाया। उसी दिन ये संस्मरण सुनाये थे।

2 देवघर में जब आप ने अपना भवन स्थापित किया तो उसके अन्तर्गत एक गऊ-शाला भी खड़ी की।

श्रीमती सोनीबाई सराफ की प्रशस्ति में

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूष पूर्णा स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः

(नीतिशतक ७९)

—मन, वचन और काय में सुकृत रूप अमृत से पूर्ण, तीनों लोकों को लगातार उपकारों से प्रसन्न करते हुए, दूसरों के छोटे से छोटे गुणों को पर्वतों जैसा बड़ा करके, अपने हृदय में प्रसन्न होनेवाले सत्पुरुष कितने हैं ?

[२५]

अक्षय सम्पत्ति का अधिकारी कौन रहा है ? अगाध सम्पत्ति के जो अधिपति रहे, वे इस लोक में कितने अक्षय रह सके ? अतुल सम्पत्ति का भंडार जिनकी रहस्यमयी भवनिकाओं में कुवेर को भी लज्जित करता रहा, वे अपनी उस रहस्यमयता के अंधकार से कब बाहर निकल सके, क्यों न वे उस सम्पत्ति की चमकदमक से तीनों लोकों में अपनी कीर्ति को चकाचौंध दे सके ? जिस सम्पत्ति का संचय करने में अखंड जागरण करना पड़ा, कालान्तर में वह सम्पत्ति तराजू के पलड़ों में क्षण भर में तुल कर क्यों खंड-खंड हो गयी ? जिस धन-भंडार को अन्दर समेटने में नृपतियों ने अथाह रक्त बहाया, वे मृत्तिका-पात्रों में भरे हुए ही भू-गर्भ में क्यों गड़े के गड़े रह गये ? ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जो हर युग में पूछे गये हैं। यह हमारे देश का सौभाग्य है कि ऐसे प्रश्न सदा अनिर्णीत नहीं रखे गये, उनका प्रशस्त उत्तर दिया गया है और सम्पत्ति का कल्याण इस तरह नियोजित किया गया है कि उस के समक्ष कुवेर भी अपने अर्थ विस्मृत करने में विवश रह गया है।

सन् १९१० के बाद से जन-समाज में सूरजमल जी को प्रायः 'सेठ' कहा जाने लगा था। सेठ बहुत प्राचीन पद है। बौद्ध-काल में सेट्ठि चलता था। 'श्रेष्ठि' भी इसी के समानान्तर शोभनीय शब्द था, जो समय की गति में 'सेठ' मात्र रह गया। वैश्यों को समाज में समादर जब प्रचुर मिला, तो वे श्रीमन्त भी कहलाए, राज्य और राष्ट्र की लघु-बृहत् सीमाओं में नमस्य भी हुए। प्रजा के बीच उन का तेज-प्रताप इसलिए समुज्ज्वल न हुआ, क्योंकि सम्पत्ति का आलोक उनके मुखमंडल को विशेष रूप से प्रकाशित करता था, वल्कि इसलिए कि वे उस सम्पत्ति को लोक-हिताय निरावरण करने का साहस करते थे। लक्ष्मी का सुहास बन्द तिजोरियों में धूमिल पड़ता है, मुक्त द्वारों से बाहर सिंचन-पोषण में वह पके धान की बालों-सा लहराने लगता है। सूरजमल जी लक्ष्मी के नहीं, लक्ष्मी के सुहास के उपासक हुए। वे धन की गरिमा के नहीं, उसके कल्याण-मूल्य के वशवर्ती होते जा रहे थे। नीतिशतक में ६६ वाँ पद इस प्रकार है।—

संसत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पल कोमलम् ।
आपत्सु च महाशैल शिला संघात कर्कशम् ।।

महान् पुरुषों का चित्त संपत्ति से लब्ध होने की अवस्था में कमल के समान कोमल होता है। आशय क्या है इस कमल के तुल्य कोमलता का। हमें इतना तो स्मरण रखना ही होगा कि कमल ही लक्ष्मी का स्थायी आसन है। भौतिक जगत में जितने भी आसन बनाये गये हैं, वे स्वर्ण, चांदी और काष्ट के बनाये गये हैं। लेकिन लक्ष्मी ने अपना आसन कमल को बनाया है। यह प्रवहमान जल में उपजता है, सम्पदा भी प्रवहमान कर्मबल से नवनीत के तुल्य जन्म ग्रहण करती है। कर्मबल अपनी ही कठोरता में कमल-पत्र के तुल्य मृदु न हुआ अपने हृदय में, तो उसे रूक्ष होते कितनी देर लगती है। रूक्षता सम्पत्ति को जड़ बनाती है। हृदय की कोमलता उसी कर्मबल के तुल्य कमल–पुष्प को पुष्पित करने का चमत्कार चहुँ दिशाओं में प्रकट कर दिया करती है। कमल पुष्प का एक अर्थ, इसीलिए, विहंसता हुआ कर्मबल भी है।

सूरजमल जी ने अपने कर्मबल की, अपने संगठित परिवार के कर्मबल की बाहुओं को कितना दीर्घ बना लिया था, इसके प्रमाण वर्ष-प्रतिवर्ष उदित होने लगे थे। वे इन दीर्घ बाहुओं से मान नवनिर्माण की शोभा का वर्षण करने में विश्वास करते थे। जहाँ भी कोई नवनिर्माण हो रहा हो, उस में अपना भी यत्किंचित् योग-दान देने में वे मानो अपने को ऋण-मुक्त हुआ मानते थे। ऋण उन्होंने कभी किसी से न लिया, लेकिन ऋण का भार जब पूरे समाज की वर्तमान संतति पर पड़ा हुआ है, तो वे उसमें भागीदार भला क्यों न हों ? ऋण को बुलबुलों में[1] एकत्र होते रहने से पूरा समाज कष्ट पाता है, ऋण को बूंद-बूंद निःशेष करते रहने से समाज का व्यापक कल्याण

१ जलबुद्बुद समाना विराजमाना संपत तडिल्लतेव सहसैवोदेति, नश्यति च।
—अर्थात् संपत्ति जल के बुलबुले के समान होती है। वह बिजली की भाँति एकाएक उदय होती है और नष्ट हो जाती है। (दशकुमारचरित)

हो जाता है। वे लोक-ऋण के बन्द कमल को पुष्पित हुआ देखना चाहते थे। लक्ष्मी का आसन कमल जब तक मुकुलित नहीं है, वह ऋण है, पुष्पित हो जाने पर वह लोक-समाज को प्राणवन्त बनानेवाला खिलखिलाता सूर्य है! इसी भाव को यों भी कहा गया है : विकसित हि पतंगस्योदये पुंडरीकं (उत्तररामचरित, ६:१२)—सूर्य के उदय होने पर कमल खिल जाता है।

सूरजमल जी और उनका परिवार जसीडीह में था। बहन सोनीबाई काफी दिनों से बीमार थीं। सोनीबाई अपने वंश में ऐसी गृहलक्ष्मी सिद्ध हुईं कि उन के प्रति नाते-रिश्तेदारों में अपूर्व आदरभाव व्याप्त होता गया था। वे हर दृष्टि से जालान-परिवार की विकसित होती हुई कीर्ति के समान ही अपने सराफ परिवार में शोभायमान होती गईं। गुणवती इतनी थीं कि पास-पड़ोस में भी उनके गुणों का अनुसरण करने के लिए पिता अपनी पुत्रियों को प्रेरणा दिया करते थे। स्वास्थ्य अच्छा पाया था। उत्तम पुत्रों की माता भी वे बनीं। सूरजमल जी उनको अपना स्नेह बराबर देते रहे। समय-समय पर उनसे मिलने जाते। जसीडीह में बीमारी बढ़ी तो सोनी बाई से आश्वासन के स्वर में बातें करते सहसा ही उन्हें एक दिव्य अनुभूति हुई और उसी समय उन्हों ने उस दैवी भाव के प्रति अपना आभार स्वीकार करते हुए, सोनीबाई से कहा, "बाई, तेरे नाम से मैं काशी में कुछ धर्मादा करूँगा?" सुन कर सोनी बाई को गर्व हुआ कि उसका भाई कितने विशाल हृदय का है।

सन् १९१८ में सोनी बाई का स्वर्गवास[1] फागुन बदी चौथ को हो गया। यद्यपि आयु अधिक न थी, रोग भी अधिक भोगा न था, लेकिन जैसे आयु पूरी हो ली थी। मोहनलाल की माता जी के देहावसान के बाद, बहन का मृत्यु-संवाद जब सूरजमल जी को मिला, तो अथाह शोक में डूब गये। कुछ देर तक उसी तरह बैठे रहे। मृत्यु का संवाद व्यक्ति को कुछ क्षणों के लिए संसार की असारता के प्रति ऐसा उद्दीप्त कर दिया करता है कि लगता है, यह जीवन जो है, उसके लिए संघर्ष क्यों किया जाए, क्यों नये से नया आयोजन किया जाए? लेकिन माया के विपरीत यह मृत्यु का मोहान्ध है। इस धारामय मृत्यु के मोहान्ध से तो जीवन अथाह अन्धकार में परिवर्तित हो जायेगा। यहाँ तो जीवन के प्रति सत्य रहनेवाला व्यक्ति ही अपूर्व शक्ति का अवतार बनता है। सूरजमल जी ने अपने को तटस्थ कर देखा, बहन का स्वर्गवास तो हो गया, लेकिन उसके वियोग को 'विस्मृति' में नहीं होने दूंगा। वे गईं, यह विधि का विधान है। वे अपने साथ अपनी स्मृति न ले कर जाएँ, यह विधान तो मैं आयोजित कर ही सकता हूँ। उन्हें उसी क्षण याद आ गया कि एक बार मैं ने बाई से वचन दिया था कि तेरे नाम से मैं काशी में कुछ धर्मादा करूँगा। वे उसी क्षण मानो व्यग्र हो गये कि उस वचन की पूर्ति किस तरह की जाए। 'तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः' (उत्तर रामचरित, २-१९)—जो जिसका प्रियजन है, वह उसका कोई अद्वितीय अमूल्य धन होता है। सूरजमल जी स्वयं अमूल्य धन न थे, लेकिन वे अपने वचन को अवश्य अमूल्य धन के रूप में परिवर्तित कर देने के लिए अब बेचैन हो गये।

कुछ समय गुजरा कि आपने काशी में अपने विचार को किस तरह कार्यान्वित किया जाये, इस के बारे में जिज्ञासा की। अन्त में आप ने निर्णय किया कि काशी में जो संस्कृत कालेज बन रहा है, उस में सोनी बाई के नाम से एक कमरे का निर्माण करवा दिया जाए। यह कार्य सन् १९२४ में जब पूरा हो गया, तो उस दिन बहुत देर तक सोनी बाई का स्मरण करते रहे। उसके साथ लक्ष्मणगढ़ में दो वर्ष तक, माता का देहान्त होने के उपरान्त, बालपन के वे दिन नाना-नानी के यहाँ किस तरह बिताये थे, एक-एक कर उनके समक्ष आकर खड़े होते गये। फिर उस का किस तरह विवाह अपने हाथों संयोजित किया था, उसी स्मृति में वे जैसे एक अनिर्वचनीय आनंद में डूब गये। सोनीबाई बालपन से ही सुशीला, सुलक्ष्मी और आनंद-मोद की मूर्ति थी। हर्षाश्रु सूरजमल जी के उमड़ आए.....

पाँच वर्ष बाद जब सूरजमल जी सोनीबाई[2] के सुपुत्र झाबरमल के नेत्रों की चिकित्सा कराने मोगा मंडी (पंजाब) गये, तो वहाँ पर प्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सक ने यह इच्छा प्रकट की कि आपका सुयश इस नगर में भी स्थायी रहना चाहिए। आप ने कहा कि सुयश तो नगर का है और आप का है कि जहाँ पर आप जैसे प्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सक विद्यमान हैं, मैं तो केवल आप की इच्छा की पूर्ति में अपना विनीत योग ही दे सकता हूँ। मोगा मंडी में एक कालेज बन रहा था। आप ने सहर्ष स्वीकार कर लिया कि कालेज-भवन में एक कमरा हमारी ओर से बनवा दिया जाये। उसके निमित्त जो व्यय था, आप ने तत्काल ही चुका दिया। वहाँ पर एक विद्वान् पंडित जी भी उपस्थित थे। सूरजमल जी की ऐसी उदार हृदयता से प्रभावित होकर उनके मुख से अनायास निकल गया : साहसे श्रीः प्रतिवसति। यह 'मृच्छकटिक' नाटक का उत्तम वाक्य है। श्री साहस के हृदय में रमण करती है। साहस संकल्प में प्रकट होता है। संकल्प-पूर्ति जहाँ सार्थक हो जाये, वहीं पर संपत्ति की मुस्कराहट बिखरती है। पंडित जी ने जब यह व्याख्या की, तो सूरजमल जी ने मुस्करा कर यही कहा "पंडितजी, आप यही आशीर्वाद दीजिए, मेरे पास जो भी सम्पदा है, वह इसी तरह लोक-समाज में अपनी श्री का उत्फुल्ल भाव वितरित करती रहे!"

[1] बीमारी से पहले कलकत्ता में प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० कैलाशचन्द्र घोस का इलाज हुआ। फिर आराम न होने पर सूरजमल जी के साथ जसीडीह रहीं। वहाँ कुछ दिन रह कर रतनगढ़ के लिए रवाना हुईं। पर काशी आते ही मन का प्रबल आग्रह लेकर आप बनारस उतर गईं। २४ घंटे बाद ही काशी में आपका स्वर्गवास हो गया।

[2] बड़े पुत्र झाबरमल जी का जन्म रतनगढ़ में संवत् १९६३, प्रथम चैत बदी १३ को हुआ। उसके बाद एक कन्या कृष्णा बाई और एक पुत्र हीरालाल और हुए।

हिन्दी पुस्तकालय की दुरूह साधना : एक दृष्टि में

●

पावका नः सरस्वती, वाजेभिर्वा जिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥ (ऋग्वेद, १, ३, १०)

—हे सरस्वती देवी, तू पवित्र करने वाली है। तू शब्दों का भंडार है। तेरा चिन्तन मात्र सब धनों का द्वार है। तू (हमारे) यज्ञ (आराधन) को स्वीकार कर।

शिवा नः शंतमा भव, सुमृडीका सरस्वति। मा ते युयोम संदृशः॥ (अथ० ७, ६८, ३)

—हे करुणामयी सरस्वती भगवती! हमें सुखी और कल्याणयुक्त कर दे। हम तेरे उत्तम दर्शनों से (कभी) वंचित न हों।

●

[२६]

पुस्तकालय, ग्रंथागार, पोथीखाना, कुतुब खाने,[१] किताब घर, लाइब्रेरी आदि अनेक शब्द हमारे देश में प्रचलित हुए हैं। संस्कृत साहित्य,[२] प्राकृत-साहित्य, बौद्ध-साहित्य, अपभ्रंश-साहित्य[३] और अरबी साहित्य[४] में अन्य पर्याय भी सुलभ होते हैं। पश्चिमी देशों के प्राचीन इतिहास में तात्कालिक भाषा में व्यवहृत हुए चित्र-विचित्र ध्वनि-सूचक[५] शब्दों की गरिमा[६] हाथ लगती है कि किस तरह पुस्तकालय के गर्भित अर्थ[७] अभिव्यक्त किये जाते रहे हैं।

वेदों में और पुराणों में ग्रंथ-लेखन और ग्रंथ-संग्रह की एक धाराप्रवाहिक प्रवृत्ति विद्यमान है। बौद्धकाल में इस प्रवृत्ति का संवर्धन हुआ। तक्षशिला विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में ही चाणक्य ने ज्ञान का अर्जन किया था। उस के बाद विक्रमशिला और नालन्दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय भी इतिहास में गर्व और गौरव के साथ स्मरणीय बने हैं। विदेशी यात्री इत्सींग ने नालन्दा पुस्तकालय का नाम 'धर्मगंज' दिया है और लिखा है कि पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या इतनी बड़ी थी कि उसे तीन खंडों में विभक्त किया गया था। क्रमशः तीनों के नाम थे : रत्नोदधि, रत्न-सागर और रत्न-रंजक। पुस्तकें दिवालों में ईंट या पत्थर की आलमारियों में सुरक्षित रहती थीं। पुस्तकालय का भवन नौ मंजिला था। और, प्रत्येक मंजिल में ३००-३०० कमरे थे! मुसलमानों के निरंतर आक्रमणों से हमारे ये सभी पुस्तक-निधि कोश विनष्ट हो गये। सन् १२०३ में बख्तियार खिलजी के आक्रमण में विक्रमशिला का पुस्तकालय नष्ट हो गया था। जब बाबर आया और उस ने पानीपत के मैदान में विजय प्राप्त की, तो काबुल से लेकर पानीपत तक उसे जो भी पुस्तकालय लूट में हाथ लगे, उन में से उत्तमोत्तम ग्रंथों को चुन-चुन कर वह काबुल भिजवाता रहा, शेष उस के आक्रमणों से नष्ट होते रहे[९]।

अकबर[१०] और अन्य मुगलकालीन बादशाहों ने अपने पुस्तकालय निर्मित किये, राजपूतों ने राजस्थान में पोथीखानों की रचना की। दक्षिण भारत में मंदिरों में पुस्तकालय समृद्ध बनाने की परम्परा बहुत आदरास्पद बनी। मराठा-काल में पुस्तकों के चयन को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था।

ज्ञान की अपनी महिमा[११] है, वह मानव मात्र की भूख है। पोथी[१२]-ज्ञान को इसीलिए हमारे देश में ६ वर्ष की अवस्था के उपरान्त दिया जाना आवश्यक माना गया है। मुगलकाल के बाद यद्यपि हमारे ग्रंथागारों में ह्रास आया था, लेकिन काशी, उज्जैन,

---

१ बादशाह हुमायूँ की मृत्यु दिल्ली में उसके पोथीखाने की सीढ़ियों पर पैर फिसल कर गिर जाने से हुई थी।

२ ग्रन्थागार, पुस्तकागार—ये दो शब्द भी मिलते हैं। पाणिनि के पहले से पटल, कांड, पत्र, सूत्र आदि शब्द प्रचलित थे। जब इन सब को एक साथ गाँथ कर रखा जाता था, उस मूल पुस्तक का नाम ग्रंथ होता था और जहाँ ग्रन्थों का संग्रह रहता था, वह ग्रंथ-कुटि कहलाती थी।

३ 'सरस्वती-भंडार' शब्द के सूत्र पुस्तकालय की ही सूचना देते हैं।

४ आधुनिक अरबी में दारुल-कुतुब शब्द बहुत चलता है। पुरानी अरबी में खज़ाऐन-कुतुब शब्द मिलता है। कुतुबखाना भी प्रयोग में आया है। मकतब-अ शब्द भी इसी का द्योतक रहा है।

५ लेटिन शब्द Libraria है जो Liber (पुस्तक) शब्द से बना है। किन्तु यूरोपीय भाषाओं में बिबलियोथेक ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण भेद से प्रसारित हुआ है। जर्मनी में Bibliothek, स्पेनिश में Bibliotheca, फ्रेंच में Bibliotheque है। यों बेल्जियम, फ्रांस, हालैंड, इटली, स्विटज़रलैंड, डेन्मार्क, स्वीडन, नारवे, स्पेन, जर्मनी में बिबलियोथेक शब्द का ही आंचलिक उच्चारण प्रयुक्त होता रहा है।

६ ग्रीक भाषा में Athenaeum शब्द है।

७ भारत में तेलगु भाषा का शब्द ग्रन्थालयम् है। तमिल में नूल्नियम् है। मलयालम में ग्रन्थशाला और ग्रन्थालयम् शब्द बोले जाते हैं। उर्दू में दारुल-मुताला शब्द भी चलता रहा है।

९ Life of Babur, By R. M. Caldecott, इसमें लिखा है कि पानीपत विजय से पूर्व बाबर ने गाज़ी खाँ के किले में जो पुस्तकालय मिला, उसकी उत्तमोत्तम किताबें हुमायूं, कामरान आदि को चुन कर भेजी। यह घटना सन १५२६ की [illegible] की है।

१० आईने-अकबरी में बादशाह अकबर के बहुत बड़े पुस्तकालय की चर्चा है।

११ महाभारत के शान्ति-पर्व, अ० ३०५ में ऋषि वशिष्ठ महाराज जनक को ग्रन्थों की महिमा वर्णित करते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति ग्रन्थ पढ़ कर उसका भावार्थ नहीं समझता, वह केवल ग्रन्थ-भार ही [illegible] है।

१२ पोथी नाम भारत में ताड़ पत्र, [illegible] पत्र, भोज पत्र, [illegible] पत्र आदि पर लिखी रचनाएं पाती थीं।

मथुरा-वृन्दावन, हरिद्वार आदि स्थानों में पोथीज्ञान सुरक्षित रखा गया था। काशी के पंडित जब राजस्थान तथा अन्य प्रान्तों में अपने प्रवुद्ध ज्ञान के बल पर संक्षिप्त पीठिकाएँ स्थापित करते थे, तो उसे 'छोटी काशी' कहते थे। आशय यही था कि काशी में तो पीठिका अनन्तकाल से है, यह पीठिका उसी की एक शाखा है। इन लघु पीठिकाओं में संस्कृत और अन्य संबंधित भाषाओं के ग्रंथ रखने का मोह विधिवत् रखा जाता था।

भारत में अंग्रेज आये और राजनीतिक सत्ता ग्रहण करने के उपरान्त उन्होंने यहाँ पर पुस्तकालय के सूत्र भी आरोपित किये। इससे पहले हमारे देश में जो पुस्तकालय हुए, वह किसी राज्य-विशेष अथवा सामंत-विशेष अथवा किसी धनाढ्य-विशेष[13] की सम्पत्ति हुआ करते थे। अंग्रेजों ने सर्वप्रथम बम्बई में एक पब्लिक लाइब्रेरी[14] स्थापित की, जिसमें सर्वसाधारण का प्रवेश मान्य किया गया। उसी के बाद कलकत्ता में सर्वप्रथम लाइब्रेरी १९ वीं सदी में जो बैठी, वह पब्लिक लाइब्रेरी ही थी। पर इससे पहले फोर्ट विलियम कालेज में एक विशेष लाइब्रेरी की स्थापना की जा चुकी थी, जिस का लाभ,अध्ययन और अध्यापन में, पूरे २५ वर्षों तक लिया जाता रहा[15]। इस लाइब्रेरी की स्थापना से पहले रायल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित हो चुकी थी और उस की अपनी एक विशिष्ट लाइब्रेरी थी।

सन् १८४० के बाद, कलकत्ता में एक प्रकार से लाइब्रेरियों का युग प्रारंभ होता है, सन् १९०० तक लगभग ५० पुस्तकालय सार्वजनिक स्तर पर खुल चुके थे। उन में से अनेक पुस्तकालय बंगाली पुस्तकों से मिश्रित थे, अन्यथा सब में अंग्रेजी पुस्तकों की प्रधानता ही रहती थी। सन् १८९१ में सरकारी संरक्षण में अनेक सरकारी सचिवालयों की निजी लाइब्रेरियों को संयुक्त किया गया और विद्वानों, वकीलों, सरकारी अधिकारियों व छात्र-छात्राओं के निमित्त उस सरकारी लाइब्रेरी की स्थापना इस उद्देश्य से की गयी कि भारत की राजधानी कलकत्ता है, इसलिए इस नगर की प्रतिष्ठा के अनुरूप यह वृहत् लाइब्रेरी नियोजित की जाए। लार्ड कर्जन के समय में सन् १९०३ में जो पहली पब्लिक लाइब्रेरी स्थापित की गयी थी, वह भी इसी में संयुक्त कर दी गयी। उस समय यह इतना विशाल ग्रंथागार बन गया कि इसे न केवल इम्पीरियल लाइब्रेरी कहने में भारत सरकार को गौरव महसूस होता था, बल्कि आगे चल कर इसे ही नेशनल लाइब्रेरी[16] नाम दिया गया, जो आज राष्ट्रीय स्तर पर हमारे देश का वर्तमान गौरव-स्थल है।

इतना सब हो रहा था, लेकिन इस महानगरी में कोई हिन्दी पुस्तकालय स्थापित हो, इस की संभावना प्रकट न हो रही थी[17]। आखिर सन् १९०१ में बड़ा बाजार में बड़ा बाजार लाइब्रेरी की स्थापना की गयी, जिसकी आर्थिक सहायता के लिए सर हरिराम जी गोयनका के एकमात्र पुत्र मुरलीधर जी, श्री रूड़मल जी गोयनका और सर बद्रीदास जी गोयनका ने उदार हृदय से अपना हाथ बढ़ाया था। बीसवीं सदी के प्रथम दो युगों तक कलकत्ता में यही एकमात्र हिन्दी पुस्तकाल बना रहा।

गुण-आगरी हिन्दी नागरी के प्रचार के लिए यह सन् १९०१ अनेक रूपों में उल्लेखनीय है। भारत में अनेक स्थानों पर इसी वर्ष से हिन्दी-पुस्तकालय, हिन्दी-विद्यालय, हिन्दी-समाचारपत्र और हिन्दी वाचनालय प्रारंभ हुए। कलकत्ता में विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय इसी वर्ष से प्रारंभ हुआ, पर इससे भी बड़ा सार्वदेशीय तथ्य यह है कि इसी वर्ष से भारत की सब से बड़ी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का मुद्रण प्रकाशन भी प्रयाग से शुरू हुआ।

१९ वीं सदी के अन्त तक मारवाड़ी समाज ने मंदिर, धर्मशाला, तालाब, जोहड़ा, कुआँ, सदाव्रत और गोशाला—केवल इन प्रवृत्तियों में दान देना ही प्रिय और आवश्यक माना था। संस्कृत विद्यालय के लिए गुरुजी को गाँव में बैठाना और कुछ ब्राह्मण बालकों को भोजनादि की व्यवस्था के लिए नियमित छात्रवृत्ति देना भी वे अभीष्ट समझते थे। किन्तु सन् १९०१ से हिन्दी विद्यालय के निमित्त और हिन्दी पुस्तकालयों की अभिवृद्धि के लिए रुपया देने में एक नई सुरुचि ने जन्म ग्रहण किया। ऊपर बड़ा बाजार लाइब्रेरी के संदर्भ में इसी लिए गोयनका परिवार की चर्चा की है। पिलानी के लक्ष्मीनारायण जी मुरोदिया और रतनगढ़ के चिम्मनलाल जी गनेड़ीवाला ऐसे ही कार्यक्षेत्र के लोकप्रिय कार्यकर्ता सिद्ध हुए।

यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बाबू श्यामसुन्दर दास, महामना मदनमोहन जी मालवीय, व्याख्यान-वाचस्पति दीनदयालु जी शर्मा आदि सुधि जनों का कृतित्व देवभाषा हिन्दी के समुत्थान के लिए अपना इतिहास रच चुका था, फिर भी देशव्यापी जन-जागृति इस दृष्टि से २० वीं सदी के प्रारंभिक काल से आई। सूरजमल जी इस जन-जागृति का सूक्ष्म अध्ययन करते थे और हिन्दी पुस्तकों के

---

१३ रोम नगर में, रोमन सभ्यता के युगों में Lucullus (109-56 B.C) नामक धनाढ्य का पुस्तकालय इतिहास में बहुत प्रसिद्ध रहा है, जिसका उपयोग वह विद्वानों को स्वेच्छ करने देता था।

१४ सीजर के बाद अगस्टस नामक रोमन सम्राट ने, इतिहास में ऐसे प्रमाण हाथ लगते हैं, सर्व प्रथम पब्लिक (सार्वजनिक) लाइब्रेरी स्थापित करने का श्रीगनेश किया था।

१५ यूरोप, इंग्लैंड और अमरीका में १८ वीं सदी में चंदे देने और चंदे के आधार पर जन मात्र द्वारा पुस्तकालयों के उपयोग करने का सफल अभियान प्रारंभ हो चुका था।

१६ भारत में नेशनल लाइब्रेरी २० वीं सदी के ५० वर्ष बीतने के बाद, स्वतंत्र होने के उपरान्त हुई, किन्तु इंग्लैंड और युरोप में नेशनल लाइब्रेरियों का सूत्रपात १७ वीं सदी में प्रारंभ हो चुका था। इंग्लैंड की महान ब्रिटिश म्यूज़ियम लाइब्रेरी सन् १७५३ में स्थापित हुई और इसका कार्यारम्भ सन् १७५९ में हुआ।

१७ इंग्लैंड में यद्यपि सन् १८५० में पब्लिक लाइब्रेरी एक्ट पास हो चुका था और उसका अनुसरण प्रायः सभी पश्चिमी देशों ने किया था, लेकिन भारत में अंग्रेजी सरकार उंगलियों पर गिनी जाने योग्य संख्या से अधिक सार्वजनिक पुस्तकालय स्थापित हों, इसके पक्ष में कतई न थी।

स्वतंत्रता-पूर्व देश में मनाई गई सम्राट जार्ज पंचम की रजत-जयंती सन् १९३५ में मनाई गई थी। उस उपलक्ष्य में २५००० रुपयों की लागत से मेडीकल कालेज अस्पताल में प्रस्तुत चैस्ट-डिपार्टमेंट का निर्माण करवाया गया था। सूरजमलजी के हाथों यह स्थापना उनका गणनीय स्मृति-चिह्न है।

सलकिया का प्रसिद्ध श्री हनुमान पुस्तकालय, जहाँ पर इस समय नीचे के तल्ले में हनुमान बालिका विद्यालय भी स्थित है।

प्रचार से देश का कल्याण कितना हो सकता है, उसका मूल्यांकन भलीभाँति करने लगे थे। बिना पुस्तक-प्रचार के हिन्दी का प्रचार असंभव समस्या थी और उसका कल्याण होनेवाला नहीं था। पुस्तकों की वृद्धि से ही हिन्दी-लेखकों के उत्साह की वृद्धि की जा सकती थी। न रतनगढ़ में, न बीकानेर में और न जयपुर-शेखावाटी में कहीं कोई हिन्दी का उत्तम पुस्तकालय देखने में आता था। केवल काशी में नागरी प्रचारिणी सभा का पुस्तकालय था और कलकत्ता में बड़ा बाजार लाइब्रेरी की चर्चा सुनाई पड़ती थी। अदालती भाषा उर्दू थी और सभ्य समाज में अथवा नौकरी प्राप्त करने की होड़ में अंग्रेजी की प्रतिष्ठा दिन-दूनी बढ़ रही थी। राजा-महाराजा और धनी लोग अंग्रेजी की निजी लाइब्रेरी बनाने में अधिक से अधिक उत्साह रखते थे। ऐसी स्थिति में हिन्दी का एक पुस्तकालय सलकिया में और एक पुस्तकालय रतनगढ़ में हो, यह उनका स्वप्न दिन-प्रतिदिन एक निश्चित रूपरेखा के आकार-प्रकार में सुस्पष्ट होने लगा। नये स्वाभिमानी भारत के ज्ञान-मंदिर, विद्यालय और पुस्तकालय हैं, पर हिन्दी के माध्यम से जो विद्यालय और पुस्तकालय जन्म ग्रहण कर रहे हैं, वे युवक भारत के ज्ञान-तीर्थ सिद्ध होंगे, यह मान्यता सूरजमल जी के हृदय में दृढ़ बनने लगी थी, वे इसी तर्क के कायल हो चले थे। हिन्दी और संस्कृत पुस्तकों का निःशुल्क व्यापक प्रचार हो, यही बात आपने आगे बढ़ा दी।

सलकिया में सर्वप्रथम हिन्दी पुस्तकालय

●

अग्ने त्वं सु जागृहि, वयं सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन्, प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥ (य० ४–१४)

—हे अग्निदेव। तुम उत्तम प्रकार से जाग्रत रहो (ताकि) हम अच्छी प्रकार से आनंदित हो सकें। तुम सदा ध्यान पूर्वक हमारी रक्षा करो। (हम सो रह थे, अब) फिर हमें जागृत कर दो।

●

[२७]

सब हिन्दी पुस्तकालय बनें, इसके पीछे एक राष्ट्रीय भावना थी, राष्ट्रीय दर्शन-शास्त्र था। पवित्र भित्तियों पर जिस तरह देवता के मंदिर बनते हैं, उसी तरह की पवित्र-स्वच्छ भावना-भित्तियों पर हिन्दी पुस्तकों के पूजनीय मंदिर बनें और उसमें भारत की नवसंतति अपनी स्वजाति, स्व-संस्कृति और स्वधर्म का मौलिक ज्ञान प्राप्त करे, यही पुस्तकालयों के आन्दोलन की पृष्ठभूमि में यथार्थ चाहना थी। सूरजमल जी ने इन सब बातों को सोच-समझ लिया और आप का निश्चय एक सुनिश्चित योजना में शीघ्र ही परिवर्तित हो गया। आप अपने धन का सदुपयोग जिस रूप में करना चाहते थे, वह अनुगृहीत होने या दानगृहीता को कृतकृत्य करने के लिए नहीं था। आपकी सरल और निश्छल भावना बड़ी द्रष्टव्य थी। राष्ट्र की मौन सेवा किन-किन तरीकों से होती है, और कौन-सी दिशामें काम कम हो रहा है, आप उसी अछूती और मौन दिशा में काम करने के लिए उत्साहित रहना चाहते थे। यह एक शैली थी काम करने की। दान का उद्देश्य उच्च पदों को अलंकृत करना या सरकारी निगाह में सुशोभनीय बनना—ये दोनों बातें सूरजमल जी की जीवन-नीति में न थीं। आप हिन्दी को राष्ट्र भाषा पद पर देखने की कामना करने-वालों में से एक थे, इस प्रखर भावना को प्रबुद्ध करने का यज्ञ सारे देश में जोड़ पकड़ रहा था, आप भी अपनी आहुति मौन भाव से देना चाहते थे।

सबसे पहले आपने सलकिया में सन् १९१९ में[1] हनुमान पुस्तकालय की स्थापना की। सलकिया आपका कार्य-क्षेत्र था और यहीं पर आपका जूट-प्रेस स्थापित था। अंग्रेजी मिलों के साहब अपने बंगलों पर और अपने आफिसों में सुन्दर-पठनीय पुस्तकों की लाइब्रेरी रखने में गौरव अनुभव करते थे, लेकिन सूरजमल जी ने यही कार्यक्रम निर्धारित किया कि सार्वजनिक स्तर पर पुस्तकालय बैठाया जाए और उस में सर्वहिताय पुस्तकों का संग्रह जनमात्र के निमित्त किया जाये।

इस पुस्तकालय की प्रथम वर्ष की वार्षिक रिपोर्ट अनेक दृष्टियों से पठनीय है। उसमें अपने युग का इतिहास भी संलग्न है, जो पुस्तकालयों के राष्ट्रीय इतिहास में अनिवार्य महत्व का है। हम यहां पर इस रिपोर्ट को अविकल रूप से उद्धृत करते हैं—

"स्तुति—

अतुलित बल धामं, स्वर्णशैलाभ देहं।
दनुजवन कृशानुं, ज्ञानिनामग्रगण्यम्॥

---

१ कलकत्ता डिस्ट्रिक्ट, हिन्दी टेलिग. में २७ सितम्बर १९१९ को प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार सारे देश में निजी, सरकारी और सार्वजनिक पुस्तकालयों की संख्या मात्र ६९६ थी। इन आंकड़ों के देखने का अनुमान है कि इस संख्या में से हिन्दी पुस्तकालय केवल एक चौथाई रहे होंगे।

सकलगुणनिधानं, वानराणामधीशं।
रघुपति वर दूतं, वातजातं नमामि ॥
—तुलसीदास

भूमिका

"जगज्जननि जानकी - जीवन के सदा शुभचिन्तक परम भक्त, हठीले श्री हनुमानजी की अतीव अनुकम्पा का ही यह अति उत्तम फल है कि आज ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ है, कि हम सहृदय देशवासियों के सम्मुख इस छोटे नव-शिशु-रूपी पुस्तकालय की छोटी-सी ही नियमावली और रिपोर्ट लेकर उपस्थित होने का साहस कर सके हैं। वास्तव में यह बड़ा ही शुभ-मुहूर्त, सुन्दर अवसर और सुखकर घड़ी थी, जब सलकिया के कतिपय उत्साही सज्जनों ने सम्मिलित होकर, इस शुभ कार्य में हाथ डाला था। परन्तु, किसी कार्य में और खास कर पुस्तकालय की स्थापना जैसे कार्य में हाथ डालना और उसे पूरा करना और पूरा-पूरा निभा देना, कोई सहज और सुखसाध्य कार्य नहीं है। पुस्तकालयों की स्थापना का कितना गूढ़ उद्देश्य है, किस प्रकार उनसे सर्व-साधारण को शिक्षा मिलती है, किस तरह यह देशोन्नति करने का एक सरल, सहज तथा सुखकर साधन है, किस प्रकार इनके द्वारा जन-समाज में शिक्षा, विद्या तथा ज्ञान-भंडार का प्रसार होता है, प्रभृति बातें कितनी ही बार कही, बताई और समझाई जाने पर भी इतना कहना ही पड़ता है कि जिस तरह किसी उद्यान में अनेकानेक सुन्दर, सुरूप फूल खिले रहने पर भी मधुर-मधुर भीनी-सुगन्धि देने वाले गुलाब के बिना उस उद्यान की शोभा नहीं होती, अथवा जिस तरह मछली के बिना जल परिष्कृत नहीं होता, ज्ञान के बिना कर्म की योजना पूरी नहीं होती अथवा पंचतत्त्व के किसी एक तत्व के अभाव से शरीर का निर्माण या जीवन नहीं हो सकता, अथवा जिस तरह सुशीतल सलिल सरिता के अभाव से इस पृथ्वी के अनेकानेक स्थान मरुस्थल के समान हो जाते हैं, उसी प्रकार विद्या के बिना शरीर ज्ञान-हीन और बुद्धि अविकसित रह जाती है। अनेकानेक उन्नत से उन्नततर देशों की ओर एकबार दृष्टि डालिये, स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि, उन्होंने इन पुस्तकालयों के द्वारा किस तरह घर-घर में विद्या की सरस सरिता बहा दी है। इसका कारण है और सब से प्रधान कारण तो यह है कि अनेकानेक विषयों की पुस्तकों का संग्रह किसी एक पुरुष द्वारा होना और उनका सुरक्षित भाव से रहना ही एक प्रकार से असम्भव है। दूसरे, इतना धन एक पुरुष या एक परिवार का, एक सर्वांगीण पुस्तकालय की स्थापना में लगा देना भी एक प्रकार से असम्भव ही है और खास कर **इस भारत के लिए** कि, जहां के मनुष्यों को दोनों शाम भरपेट भोजन भी नहीं मिलता, अपने कठोर परिश्रम की यह कमाई पुस्तकों में लगा कर उनका संग्रह करना तो बिल्कुल ही असम्भव है। जिनका शरीर उदर-ज्वाला से शुष्क हो रहा है, लज्जा-निवारण के लिए जिनके तन पर वस्त्र नहीं है, वे अपनी गाढ़ी कमाई पुस्तकों में लगायेंगे, इस बात पर विचार करना ही वृथा है। अतः लक्ष-लक्ष मनुष्य बिना अधिक व्यय किये, विद्या और ज्ञान अर्जन कर सकें—इसका सबसे उत्तम पथ, सरल उपाय और अमोघ साधन यह पुस्तकालय ही है। पुस्तकालय ही प्रमाणित करते हैं कि देश में कितना जीवन है। देशवासियों का ध्यान किस ओर है, देश में विद्या का प्रचार अथवा प्रसार है कि नहीं, और प्राचीन ऋषियों के कर्तव्य समझाने के लिए, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों और दानी महानुभावों के नाम अमर रखने के लिये, पुस्तकालय बड़े ही आवश्यक और अत्यन्त उपयोगी हैं और इन्हीं उपर्युक्त लाभों को ध्यान में रख कर सलकिया घुसड़ी रोड में एक पुस्तकालय श्री हनुमान पुस्तकालय के नाम से स्थापित करने का विचार किया गया। उस समय तक सलकिया में हिन्दी भाषा-भाषियों के लिये हिन्दी का कोई भी पुस्तकालय न था और न वर्त्तमान समय में ही कोई दूसरा है।

"यद्यपि सलकिया में हिन्दी भाषा-भाषियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है और जिस समय यह पुस्तकालय[1] खोला गया था, उस समय भी यथेष्ट थी, तथापि किसी का भी इस ओर ध्यान न था, कि सलकियावासी हिन्दी भाषियों के लिये यहाँ भी ऐसे पुस्तकालय की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे अवसर मिलने पर ही वे अपने ज्ञान को गंभीर बना सकें।

"सलकिया में पुस्तकालय का यह अभाव सर्व प्रथम श्रीमान् बाबू सूरजमलजी नागरमल जी के ध्यान में आया। इसमें कोई संशय नहीं कि इस पुस्तकाल की स्थापना का सब श्रेय आप ही दोनों सज्जनों पर है और पुस्तकालय वगैरह का सारा भार आप ही पर है। आपकी इच्छा है कि इस को आदर्श बनाने में कोई बात उठा न रखेंगे।

"ऊपर ही कह चुके हैं कि धनी ही दान करने की क्षमता रखते हैं। अतः आप सज्जनों का ध्यान जिस समय इस बात पर गया, उसी समय से एक पुस्तकालय खोलने का प्रबन्ध होने लगा और ईश्वर की कृपा से थोड़े ही दिवस के बाद इसके जन्म का अवसर आ पहुँचा।

"वि० संवत् १९७९ मिति भाद्र कृष्ण ८ मी का दिवस वास्तव में बड़े ही महत्व का मंगलमय और शुभ दिवस था, क्योंकि आज के दिन ही वीणा पुस्तक-धारिणी भगवती जगज्जननी, सौन्दर्य-शालिनी सरस्वती की अतुलनीय कृपा से यह पवित्र विचार कार्य रूप में परिणत करने का अवसर आ पहुँचा। हिन्दी जगत की भलाई, राष्ट्र की उन्नति की इच्छा और हिन्दी साहित्य का एक और भी मन्दिर बढ़ा देने की इच्छा से, सलकिया में वाणी देवी का आवाहन कर सलकिया में "श्री हनुमान पुस्तकालय" नाम का एक पुस्तकालय खोला गया।

१ प्रारंभ में यह पुस्तकालय सलकिया में हनुमान जूट प्रेस में खोला गया। श्री श्यामदेव जी देवड़ा ने इसके प्रारंभिक गठन में सक्रिय सहयोग दिया।

"आज जन्माष्टमी थी। आज के दिवस ही आनन्दकन्द श्रीकृष्ण ने 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्म संस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे।' का वचन प्रतिपालन करने के लिये देवकी के गर्भ से, बड़े ही बीहड़, विचित्र तथा भयानक कारागार में जन्म ग्रहण किया था। आज के ही दिवस उन्होंने संसार में एक युगान्तरकारी युग के आगमन का डंका बजा दिया था और उसी कारागार की कठोर यातना में ही जन्म ग्रहण कर अधोगत भारत-जननि के उद्धार का भार उठा लिया था। अतः आज का दिवस ही इस शुभ कार्य और हिन्दी-मातृ-मन्दिर (श्री हनुमान पुस्तकालय) की स्थापना के लिये उपयुक्त समझा गया और उसी अनुसार निम्न लिखित रीति से इस पुस्तकालय की स्थापना की गई। आशा और प्रार्थना है कि हिन्दी के उत्साही और प्रेमी सज्जन इस पुस्तकालय द्वारा अवश्य-अवश्य लाभ उठावेंगे।

विवरण

जन्मोत्सव व कार्यारम्भ

"आज मिति भाद्रपदकृष्ण अष्टमी मंगलवार सं० १९७८ वि० तारीख १६ अगस्त सन् १९२१ को प्रातःकाल आठ बजे "श्री हनुमान पुस्तकालय" सलकिया का जन्मोत्सव श्रीमान् बाबू तोलारामजी गोयनका की अध्यक्षता में मनाया गया। जिसमें अनेकानेक गण्यमान्य महानुभाव और प्रतिष्ठित सज्जन उपस्थित थे।

"आरम्भ में श्री वेदभगवान् तथा गणपति आदि का पूजन किया गया। इसके बाद माधव मिश्र पाठशाला[1] के छात्रों ने "वेद भगवान आप ही हमारे पूर्वजों के प्राण हैं" प्रभृति शब्दों में प्रार्थना की। प्रार्थना के पश्चात् पं० भोलानाथ जी शर्म्मा[2] ने पुस्तकालय का महत्व समझाते हुए बड़े ओजस्वी और सारगर्भित शब्दों में भाषण किया। आपने कहा कि संसार को जिसने शिक्षा-दीक्षा दी, जिसके पुस्तक-भंडार आज भी दूर-दूर देशों में पाये जाते हैं, जिनसे लाभ उठा कर दूसरे देशों ने अपना भविष्य बना लिया है, आज वही भारत आलसी, निरुद्यमी अविद्याप्रिय होकर सो रहा है। सज्जनो! याद रखो, इसके जगाने का एक ही उपाय है, वह यह कि भारत के कोने-कोने में पुस्तकालय आदि संस्थायें स्थापित की जायें। भारत के उत्थान के लिए एकमात्र पुस्तकालय ही साधन हो सकते हैं। आज यह शुभ-कार्य शिक्षा-प्रेमी, परमोत्साही जिस सज्जन द्वारा स्थापित किया गया है, उसे मैं सहर्ष धन्यवाद देता हूँ। वृहत्संग्रहों के साथ एक दिन यह पुस्तकालय दिव्य विशाल भवन में अपना कार्य करेगा।

"इसके बाद प्रसिद्ध धनी व्यवसायी श्रीमान् बाबू तोलाराम जी गोयनका ने अपने करकमलों से पुस्तकालय का उद्घाटन किया।

कार्यक्रम

"इसके बाद नियमित रूप से नित्यप्रति पुस्तकालय खुलने लगा और इसमें कोई सन्देह नहीं, कि बाबू सूरजमल जी नागरमल जी के उठाये हुए, इस कार्य को सलकिया निवासी अन्यान्य सज्जनों ने स्नेह, आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा और कुछ ही दिवस बाद पुस्तकालय में उपस्थिति अच्छी होने लगी और वहां के अधिवासियों ने इसका उद्देश्य सफल करने की भी यथासाध्य चेष्टा की।

"बाबू सूरजमल जी नागरमल जी के सौजन्य पूर्ण व्यवहार तथा उदारता पूर्ण साहित्य-सेवा ने लोगों का ध्यान इस पुस्तकालय की ओर आकर्षित करना आरंभ किया और यह लोग समझने लगे, कि वास्तव में यह कार्य बड़ा ही उपयोगी और आवश्यक था। इतना होने पर भी

"सलकिया निवासी हिन्दी भाषी जनता—

से जितनी आशा की जाती थी, वह आशा पूरी नहीं हुई। यह बड़े दुःख और परिताप का विषय है कि सलकिया वासियों ने इस ओर पूरा-पूरा ध्यान नहीं दिया। नहीं, तो जिन दो वर्षों की रिपोर्ट यहां हम प्रकाशित कर रहे हैं, उन दो वर्षों में, इस समय जितने सभासदों की संख्या है, इससे कहीं अधिक हो जानी चाहिए थी। इसका कारण ठीक-ठीक तो हम लोग नहीं बता सकते। परन्तु, इतना अवश्य कहना पड़ता है कि अध्ययन की ओर की उदासीनता का ही यह दुःख पूर्ण परिणाम है, कि इतना करने पर भी, पुस्तकालय का उद्देश्य पूरा-पूरा सिद्ध नहीं होता। अतः संक्षेप में हमारा सलकिया निवासियों से सादर और सविनय अनुरोध है कि आप लोगों को जो कुछ समय बचता हो, उसे इस उपकारी कार्य में लगा कर अपने मस्तिष्क को ज्ञान-गरिमा से गुरु-गंभीर बना लें, जिससे आप अपना, अपने परिवार, जन-समाज तथा अपने देश का तो उपकार करें ही, साथ ही इस पुस्तकालय का उद्देश्य पूरा कर हमें कृतकृत्य करें।

पुस्तकों का संगठन

"यदि आप कहें कि इस पुस्तकालय में है क्या? जिस पर आप हमलोगों को अपना समय वृथा ही नष्ट करने का अनुरोध करते हैं। तो सज्जनो, हम कह सकते हैं कि इस पुस्तकालय में वेद-वेदान्त, इतिहास, राष्ट्रीय, उपन्यास, कथा, कहानी, नाटक, काव्य, साहित्य-चर्चा, वैद्यक या आरोग्य, युद्ध-सम्बन्धी, शिक्षा-प्रद साम्प्रदायिक, पुराण, कोष, छन्द, अलंकार, हास्य-कौतुक, महात्मा, चित्र-सम्बन्धी, भ्रमण, दर्शन-शास्त्र, जीवन-चरित्र, बालोपयोगी, स्त्री-शिक्षा, नीति-शास्त्र सम्बन्धी प्रभृति अनेकानेक विषयों की यथा प्राप्य लगभग ३,००० (तीन हजार) पुस्तकें संग्रह कर रख ली गई हैं, तथा नित्यप्रति संग्रह की जाती हैं। हमारी इच्छा है कि इसमें शीघ्र ही और भी बहुत-सी पुस्तकों का पूर्ण संग्रह किया जावे। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित—

[1] श्री सूरजमल जी जालान, श्री तोलाराम जी गोयनका और श्री ठाकुरदास जी सुरेका की प्रेरणा से इसकी स्थापना हुई थी।

[2] श्री शर्मा जी ही इस पुस्तकालय के प्रथम पुस्तकाध्यक्ष थे। आपने बड़ी लगन से प्रारंभिक स्तर पर इस पुस्तकालय का उत्तम गठन मनोयोगपूर्वक किया।

समाचार-पत्र

भारतमित्र, स्वतंत्र, कलकत्ता समाचार, विश्वमित्र, प्रताप, इंगलिशमैन प्रभृति और

साप्ताहिक

अभ्युदय, राजस्थान केशरी, मारवाड़ी, यंग इंडिया, हिन्दू-पेटरोल, प्रताप, वर्म्मवीर,नवजीवन,देश आदि साप्ताहिक और

मासिक

सरस्वती, प्रभा, संसार, मर्यादा, विद्यार्थी, विज्ञान,वाल-सखा, चित्रमयजगत, मारवाड़ी, हितकारक, वैद्य कल्पतरु, उपन्यास-वहार, चिकित्सक, लक्ष्मी, वंगला, भारतवर्ष, सुवानिधि, वैदिक सर्वस्व, स्त्री-धर्म-शिक्षक, स्वदेश, शिशु प्रभृति मासिक पत्र वरावर आते हैं।

कुछ भी हो, पुस्तकालय को हर सावनों के द्वारा सर्वोपरि वनाने की पूरी चेष्टा की जा रही है।

"इतने पर यदि आपलोग ध्यान न दें,तो वड़े दुर्भाग्य का विषय है। आपलोगों को एक वात यह भी ध्यान में रखनी चाहिये कि आप लोगों पर किसी प्रकार का भार न हो, इसलिए सभासदों के लिये केवल वार्षिक चन्दा १ रुपया[1] ही लगाया गया है। जो वसूल करने के व्यय में ही लगभग समाप्त हो जाता है। यह वात केवल-इसलिए लिखी गई है कि आपलोग इस वात पर ध्यान दें कि यह पुस्तकालय आप लोगों के लिए कितना लाभदायक है।

"जिन्होंने पुस्तकालय स्थापन से प्रायः डेढ वर्ष तक तन मन से पुस्तकालय की सेवा कर इसे इतनी उन्नत दिशा को पहुंचाया है, श्रीमान् सेठ सूरजमल जी नागरमल जी को भी अनेकानेक वन्यवाद दिये विना नहीं रह सकते, जो इस पुस्तकालय के संस्थापक हैं, और जिनकी असीम कृपा का ही यह सुफल है।"[2]

इस रिपोर्ट से पता चलता है कि पुस्तकालय का स्थापित करना एक विकट प्रश्न था। यज्ञ की अग्नि की प्रतिष्ठा हो जाए, पर जजमान अनुपस्थित हो या उसके प्रति उदासीन हो, कुछ वैसी ही स्थिति इस पुस्तकालय[3] की प्रारंभिक अवस्था में रही थी। लेकिन सूरजमल जी इन सब विघ्न-वाधाओं से विचलित होनेवाले न थे। वे तो पहले ही सोच चुके थे कि जागृति एक दिनमें न आ जायेगी। उसके लिए निरंतर प्रहरी वन कर कार्य करना होगा। अतः आपने पुस्तकालय में[4] अच्छी से अच्छी और उपयोगी पुस्तकों का चयन करने में कोई शिथिलता न आने दी। परिणाम यह हुआ कि देखते न देखते इस पुस्तकालय की चर्चा न केवल सलकिया में, वल्कि कलकत्ता महानगरी में भी उत्तम और श्रेष्ठ पुस्तकालयों[5] में होने लगी। और जल्दी ही वह दिन भी आया, जब सलकिया की हिंदी भाषी जनता इस पुस्तकालय का पूर्ण लाभ ग्रहण करने लगी। आज इस पुस्तकालय की महत्ता सचमुच अभूतपूर्व है। हिन्दी इतिहास की दृष्टि से यहाँ पर जो संग्रह विद्यमान है, उसके लिए अन्य स्थानों पर वहुत से विद्वान् इन अलभ्य पुस्तकों के लिए लालायित रहते हैं। सलकिया का कितना उपकार इस पुस्तकालय से हुआ है,उसका विस्तृत विवरण देने के लिए वहुत स्थान चाहिए। यह कहना पर्याप्त होगा, सूरजमल जी के हाथों यह ऐसा सरस्वती-मंदिर स्थापित हुआ है, जहाँ पर विगत ४४ वर्षो से अवाध गति से ज्ञान-ज्योति जन-मन में अपने दिव्य प्रकाश को विकीर्ण करती आ रही है।

इस सलकिया में अनेक अंग्रेजों ने केवल इस भूमि पर कारखाने स्थापित किये और अपने कर्मचारियों को यंत्र-चालित मूक प्राण भर समझा। अन्य-अन्य धनाढ्य भी अपने कारखाने स्थापित करने आये और उन्होंने भी इस अंचलको केवल श्रम-ज्वाल की भट्टी के रूप में दहका कर रखा। लेकिन विगत २०० वर्षो में केवल सूरजमल जी ही ऐसे महाभाग इस भूमि पर जब अपने कृतित्व का प्रकाश फैलाने आए, तो उन्होंने अवश्य कारखाने स्थापित किये, लेकिन वे अपने मजदूरों में, यहाँ की सर्वसाधारण जनता में ज्ञान-यज्ञ की पवित्रता[6] प्रचारित करने के लिए सबसे अग्रणी रहे। निः-संकोच यह भी कहा जा सकता है कि वे ही अग्रणी रहे[7]। उनकी वरणीय स्मृति इस पुस्तकालय के रूप में ऐसी ही संस्मरणीय वनी हुई है।[8]

---

१ अभी भी इसका चन्दा १) रुपया ही है।

२ श्री हनुमान पुस्तकालय, सलकिया, की प्रथम व द्वितीय वार्षिक रिपोर्ट, संवत् १९७८, २६ अगस्त १९२१, पृष्ठ १—१२।

3 Those who know the Truth are not equal to those, who love it, nor those who love it to those who delight in it.—*Confucius*

४ ग्रन्थालय आत्मा की औषधि-मंजूषा हैं। —यूनानी कहावत।

५ महान ग्रन्थालय मानव-जाति की डायरी है। —डाजसन।

६ ज़फर आदमी उसको ना जानियेगा,
यो हो कैसा ही साहिवे फहमोज़का।
जिसे ऐश में यादे खुदा ना रहा,
जिसे तैश में खौफो-खुदा ना रहा॥—वहादुरशाह 'ज़फर', दिल्ली के अंतिम मुगल-सम्राट।

७ जिस समय इस पुस्तकालय की नींव डाली जा रही थी, वड़ावाजार कलकत्ता में कुमार सभा पुस्तकालय की स्थापना की तैयारी चल रही थी—कुछ कुमार एक सार्वजनिक पुस्तकालय खोलने का वाल-प्रयास कर रहे थे। इसके संस्थापक सदस्य थे श्री मदनलाल जी जाजोदिया, राधाकृष्ण जी नेवटिया नानूरामजी सराफ, रामगोपाल जी टीवड़ेवाला, लादूराम जी सराफ, चिंतामणि पाठक, महादेव जी झुंझनूवाला। ये प्रायः सभी विशुद्धानन्द विद्यालय के छात्र थे। पहले यह सूतापट्टी में स्थापित हुआ, फिर वलदेव जी के मंदिर में रहा। श्री जमनालाल जी वजाज ने इसके सदस्यों को चरखा चलाओ की प्रतिज्ञा दिलायी थी और पुस्तकालय के लिए भी रुपया दिया था।

८ फानूस वो कि जिसको हिफाजत हवा करे।
वो शमा क्या बुझेगी, जो रोशन खुदा करे॥

सलकिया में प्रथम कन्या पाठशाला

सर्वेषामेव दानानां विद्या दानं विशिष्यते ।
वार्यन्न गोमही वासस्तिल काञ्चन सर्पिषाम् ।। (मनुस्मृति ४।२३३)

—जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण तथा घृत जैसे पदार्थों के दानों से विद्या(-आयोजन) का दान कहीं उत्कृष्ट है !

[२८]

महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' (४-२२) का यह सूत्र 'अर्थो हि कन्या परकीय एव ।' —कन्या तो दूसरे की ही वस्तु होती है, २० वीं सदी के आरम्भ में सचमुच सत्य सिद्ध हो चला था । कट्टरपंथी वर्ग परम्परा-समर्थक समाज स्त्री-शिक्षा का कितना बड़ा विरोधी था, यह तो उस युग के समाचार-पत्र ही बता सकते हैं, जब कि सूरजमल जी विनीत भाव से समाजसेवा के नये अध्याय लिखने की जगह, रचने का श्रम कर रहे थे । कहा जाता था कि वह जहाँ पराये घर जायेगी जितना पढ़ना होगा, वहीं पढ़ लेगी । इस कथन के ठीक विपरीत सूरजमल जी नया आध्याय लिखने का श्रम कर रहे थे । इसी श्रम के बल पर वे मनीषी माने गये । यों भी वैश्य जाति ने अपने विगत कई सहस्र वर्षों के इतिहास में कई सहस्र मनीषी उत्पन्न किये हैं । स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में जिस समय उन्होंने अपना वरद् हस्त उठाया, उस समय तो यह धारणा प्रायः उच्च घरानों तक में परिव्याप्त थी कि घर में दो कलमें नहीं चल सकतीं, अर्थात् घर में लड़के को ही पढ़ाना चाहिए, कन्या को पढ़ाना उचित नहीं है । जिस घर में लड़का और लड़की दोनों ही कलम ले कर बैठ जायेंगे, उस वंश का भविष्य सुरक्षित नहीं है—यह हमने सौम्य भाव से उन कटुतम प्रतिक्रियाओं को सरल करते हुए बतलाया है, जो संख्या में संख्यातीत हैं । घर-घर में कन्या-शिक्षा के प्रति उतने ही तर्क थे, जितने घर भारत भर में इसके विरोधी थे !

पुत्री-वंश के लिए स्वयं एक उत्तरदायित्व है, वंश की रक्षा करने के स्थान पर वह स्वयं वंश-रक्षित है । अपने माता-पिता के घर में वह परन्यस्त सम्पत्ति के समान है । उन्हें उसके उचित विवाह की सदैव चिन्ता लगी रहती है । पुत्रकामना के स्थान पर पुत्री की कामना क्योंकि नहीं रहती, इसलिए दैववशात् वह हो जाए तो येनकेन प्रकारेण उसका विवाह एक बाधित दायित्व भर घर में समाया रहता है । बस, उसके प्रति अपने कर्त्तव्य की इतनी ही इतिश्री पर्याप्त समझी जाती थी ।

२० वीं सदी के द्वितीय चरण समाप्त होने तक देश भर में स्त्री-शिक्षा के बारे में प्रारंभिक आन्दोलन का प्रथम चरण पूर्ण हो चुका था । महाराष्ट्र में महर्षि कर्वे इस विषय के आदर्श पृष्ठ-पोषक ही न बन चुके थे, उन्होंने प्रचुर कार्य भी कर लिया था। सूरजमल जी का यह तर्क था कि हम वैश्य लक्ष्मी का पूजन करते हैं, उसका उपार्जन भी करते हैं, लेकिन दृश्य व्यवहार में कन्या में बसी हुई लक्ष्मी का समादर क्यों नहीं करते ? महाभारत (१३:१४:१४) में स्पष्ट लिखा है—'नित्यं निवसते लक्ष्मी कन्यकासु प्रतिष्ठिता ।' कन्या में लक्ष्मी निवास करती है । विजय, राज्याभिषेक, यात्रा-प्रारंभ और परदेश से आते समय, गृह-आगमन के समय कन्या का दर्शन शुभ माना गया है । अत्यन्त कल्याणकर समझा गया है । महाभारत को मानो थोड़ा लिख कर ही संतोष न हुआ, इसलिए वेदव्यास जी ने (१:१५७:३७) कन्या-प्रीति को दिव्य स्वरूप प्रदान करते हुए पुत्र की अपेक्षा पुत्री को ही प्रियतरा घोषित किया है, लिखा है :

मन्यते केचिद्धिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः
कन्यायां केचिद्परे मम तुल्यविभौ स्मृतौ ।।

—मनुष्य पुत्र की अपेक्षा पुत्री में अधिक स्नेह रखते हैं, अतः मनुष्य जाति में पुत्र-पुत्री का समान अधिकार मान्य है ।

मनुस्मृति ने स्पष्ट रूप से पुत्री को पुत्र के बराबर पद दिया है । महात्मा बुद्ध की व्यवस्था के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति, किन्तु पुत्रीवान पिता भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता था । बौद्ध साहित्य में शायद इसी स्थिति को परम वरणीय रूप देते हुए इसका पुत्रियों के भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं । उपनिषद्-काल में याज्ञवल्क्य की स्त्री कात्यायनी को 'स्त्री-प्रज्ञा' नाम दिया गया है । इस पद की अधिकारिणी कन्याएँ और गृहलक्ष्मियाँ गृहकार्य में कुशल और पारंगत ही न होती थीं, वे शील और गुणों के अतिरिक्त कुछ उत्कृष्ट विद्याओं में भी दक्ष होती थीं । शतपथब्राह्मण का स्पष्ट कहना है कि सामगान स्त्रियों का विशेष कार्य है और कहा है "पत्नीकर्मैव एते तत्र कुर्वन्ति यदुद्गातारः ।" ऋग्वेद काल में शिक्षित स्त्री-पुरुष की उपयुक्तता बताते हुए कहा है : आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धा नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।

यजुर्वेद (८:१) का कथन है: उपायाम्गृहीतो स्यादित्येव-यस्त्वा। विष्णुरगायेपते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वादवन्।

पाणिनी ने (३:३:२१ और ४:१:५६) में उपाध्याः तथा आचार्याः शब्दों का जिस तरह उद्घाटन किया है, उससे स्पष्ट पता चलता है कि उनके युग में महिला-शिक्षा का प्रचार था। पातंजलि के महाभाष्य से भी औदमेध्यानामक अध्यापिकाओं की चर्चा से भी प्रमाण मिलता है। प्रभूत शिक्षा का प्रचार ही न था, वे विविध विषयों में विशेषीकरण भी करती थीं। काशकृत्स्न-मीमांसा में पारंगत ब्राह्मणी को (महाभाष्य भाग २, पृष्ठ २०५-६ में काशकृत्स्ना तथा आपिशलि-व्याकरण में पारंगत ब्राह्मणी को आपशला कह कर पुकारा गया है। महाकाव्यों तक यही परम्परा अविच्छिन्न बनी रही थी। राम के प्रति सीता का कथन (रामा० २:२७:१०) है: अनुशिष्टास्मि मात्रा च पितात्रा च विविधा यम्।

रामायण में कौशल्या और तारा को मंत्रविद् कहा है (रामा० २:२०,७५ और किष्कि० १६:१२) और सीता के संध्या करने का उल्लेख (रामा० ५:१५:४८) है। लिखा है: संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी। नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थं वरवर्णिनी ।।अर्थात् जानकी स्वयं संध्योपासना में निश्चित रूप से निरत होतीं, वे श्रद्धान्विता हो श्रेष्ठ निष्ठा का निदर्शन करतीं।

महाभारत में द्रौपदी ने राजनीति की शिक्षा अपने भाइयों के संसर्ग से पाई थी और उसे पंडिता शब्द से सम्बोधित किया गया है। कामसूत्र पहली-दूसरी शताब्दी का लिखा हुआ मान्य हुआ है, इसमें कन्या की शिक्षा का विशद विवेचन तो नहीं है, पर इसमें सम्प्राप्त सूचना के आधार पर यह स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि कन्याओं को पुस्तक-वाचन, काव्य, पुराण, प्रहेलिका, नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि ६४ कलाओं में शिक्षा दी जाती थी (काम० १:१ १६)। बौद्धसाहित्य और जैनसाहित्य में भी स्त्री-शिक्षा के प्रचुर प्रमाण भरे हुए हैं।

प्रश्न है, कन्या-शिक्षा का ऐसा स्वर्णांकित शब्दों से लिखित अध्याय धूमिल क्यों हो गया? सरल उत्तर है कि कन्याओं का अल्पावस्था में जब से विवाह प्रारंभ हुआ। यह घटनाक्रम ईसा की २ री सदी से प्रारंभ हो चुका था। वहीं से हम शनैः-शनैः कन्या-शिक्षा में एक स्वाभाविक ह्रास पाते हैं। ठीक ही तो था कि जब विवाह ११ वर्ष की अवस्था में हो जाए, तो उच्चस्तरीय शिक्षा वह पाये कब? पतिगृह में तो बेचारी को पतिसेवा और पतिगृह के कर्मों से वैसे ही अवकाश कब मिलता था?

कन्या-शिक्षा के साथ ही उनकी विवाह-आयु में वृद्धि का प्रश्न समाविष्ट था। २० वीं सदी के कुछ पहले से इस आयु में वृद्धि के आन्दोलन सारे देश में चल रहे थे और उसमें बहुत कुछ परिवर्तन आया था। उसी परिवर्तन का लाभ उठाते हुए सूरजमल जी ने कन्या-शिक्षा के प्रश्न को यथासामर्थ्य हल करने का एक विनीत सूत्र-रूप कार्यक्रम स्थापित किया।

कलकत्ता में हिन्दीभाषी समाज की कन्याओं के लिए सावित्री पाठशाला सन् १९०६ में स्थापित की जा चुकी थी। उसका अपना भवन तो बहुत बाद में जाकर स्थापित हो सका। सूरजमल जी की योजना आत्मनिर्भरता से सम्पुष्ट थी। इतना सब था, यथावश्यक धन भी योजना के लिए था, लेकिन कन्याओं का अभाव था, ऐसे परिवारों का अभाव था कि जो अपनी कन्याएँ इस विद्यालय में भेजने का उत्साह प्रदर्शित कर सकें। रूढ़ियों ने हिन्दू जाति को अनेक संक्रामक दृष्टिकोणों से आक्रान्त कर दिया था। सूरजमल जी ने जब इस कन्या-पाठशाला को स्थापित किया, उस समय प्रारंभिक स्तर पर कक्षा में कन्याएँ कहाँ से आकर बैठें, इस समाधान की खोज में उनके सहयोगियों ने कोई कसर न रख छोड़ी और आखिर बहुत जल्दी ही वह दिन भी आ गया, जब कि इसमें नियमित रूप से कन्याएँ उपस्थित होने लगीं। इस उपस्थिति को बढ़ाने के लिए प्रति मास १) रु० वाली छात्रवृत्तियाँ कन्याओं को दी जाती थीं, ताकि वे पाठशाला में आती रहें। यह लोभ न था, असमर्थ परिवारों की कन्याओं के लिए शिक्षा के निमित्त सामग्री आदि के क्रय में उन्हें आत्मनिर्भर बनाना भर था। पाठशाला की प्रारंभिक रिपोर्ट ऐसे ही अनेक रोचक तथ्यों से परिपूर्ण है, इसीलिए इसे अविकल भाव से हम नीचे उद्धृत करते हैं, तभी हम इस महत् तथ्य को समझ पायेंगे कि आज भी यही विद्यालय सलकिया में कन्या-शिक्षा की दृष्टि से अग्रणी है—

आरम्भिक वक्तव्य

"आज कल भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। प्राचीन भारत में एक से एक विदुषी महिलायें थीं। उनके ज्ञान की शक्ति से उनकी सन्तान संसार में बल, विद्या, विक्रम और कीर्ति प्राप्त करती थी। यह भारतवर्ष विदुषी माताओं के प्रताप से ही संसार में अद्वितीय हुआ था। तेजस्विनी माता की सन्तानों में तेजस्विता भरी रहती थी। उनके पुण्य चरित्र यह प्रत्यक्ष बतलाते हैं कि प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी और स्त्रियों को कला-कौशल की शिक्षा अवश्य ही दी जाती थी। जब से भारतवर्ष में स्त्रियों को परदे के अन्दर रख कर केवल चूल्हा फूंकने का काम सौंप दिया गया और बाहरी संसार के आवश्यक ज्ञानों से उन्हें बिल्कुल कोरा रखा गया, तब से भारतवर्ष की दशा एक बारगी पलट गई। घर-घर में कलह पैदा हो गया। स्त्रियों के अधिकारों को स्वार्थी पुरुष हड़प गये। वे असहाय हो गईं। उन पर अत्याचार होने लगा। फल यह हुआ कि, उनसे पैदा होने वाली सन्तानें कायर और कमजोर होने लगीं। जब इस देश की स्त्रियां ब्रह्मचारिणी रह कर विद्याध्ययन करती थीं और विवाहिता होने पर पति-सेवा को अपना मुख्य धर्म मानती थीं तथा माता होने पर सन्तान की रक्षा एवं

शिक्षा-दीक्षा की ओर विशेष ध्यान रखती थीं तब इस देश के बालकों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल और संसार के लिये महान आदर्श उपस्थित करने वाला होता था।

अब तो कन्याएँ बाल्यावस्था में ही विलासिता के जाल में फँस कर शरीर और बुद्धि को भ्रष्ट करने के लिये ब्याह दी जाती हैं। न उन्हें कुछ संसार का ज्ञान, और न अपने जीवन को सुखमय बनाने के उपायों का ज्ञान और न अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान। सब तरह से वे कोरी रहती हैं। फल यह होता है कि वे घर में कर्कशा बन कर दरिद्रता का आवाहन करती हैं और सांसारिक कुवासनाओं में लिप्त हो कर प्रेम, करुणा और स्नेह से हीन हो जाती हैं। उनकी सन्तान अल्पायु,. निर्बल, निस्तेज तथा निकम्मी होकर आजन्म दुख झेलती हैं। अतएव, इस देश में स्त्री-शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत होता है। किन्तु उन्हें गृह-प्रबन्ध, सन्तान-पालन, पति-सेवा रोगी-शुश्रूषा, सदाचार, पाक-शिक्षा, सूचि-विद्या और ललित कला आदि की उपयोगिनी शिक्षा ही दी जानी चाहिए, जिसे पाकर वे भारतवर्ष की भावी सन्तानों को सुयोग्य तथा स्वावलम्बी बनाने के लिये वीर एवं आदर्श माता बनने में समर्थ हो सकें। यह विचार कर के श्रीमान् सेठ सूरजमल जी ने सलकिया में इस कन्या-पाठशाला की स्थापना की है। इसमें कन्याओं को, उन्हीं की आवश्यकता के अनुकूल, उपयोगी शिक्षा दी जाती है। कन्याओं के विचार और सदाचार पर धार्मिक शिक्षा द्वारा प्रभाव डालनेके लिये केवल पवित्र पुस्तकें ही नहीं पढ़ाई जातीं, बल्कि उपदेश द्वारा (सती स्त्रियों के जीवन-चरित्र आदि सुना कर) स्त्री-धर्म की शिक्षा भी दी जाती है। सब तरह से इस बात पर ध्यान दिया जाता है है कि इसमें आकर कन्याएँ अपने जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने की योग्यता प्राप्त करके ही निकलें। और संसार में आदर्श वधू व आदर्श पत्नी, आदर्श माता और आदर्श गृह-लक्ष्मी बन कर यश तथा आनन्द पावें।

स्थापना

श्री शुभ मिति भाद्रकृष्णाष्टमी (श्री जन्माष्टमी) संवत् १६७८ तारीख २६ अगस्त १६२१ को इस विद्यालय की स्थापना हुई थी। इसका उद्घाटन-महोत्सव श्रीमान् बाबू रामप्रसाद जी सुरेका के कर-कमलों द्वारा हुआ था। उस दिन प्रथम बार आरम्भ में ही, चन्द्रभूषण त्रिवेदी ने ललित मधुर मंगलाचरण किया था। श्रीमान् पं० दुर्गादत्त जी शर्म्मा और पण्डित रघुनाथ जी त्रिवेदी ने श्री सरस्वती जी और श्रीहनुमान जी का पूजन किया था। तदुपरान्त पंडित भोलानाथ जी शर्म्मा और बाबू मोतीलाल जी बर्मन ने बालिकाओं की शिक्षा पर प्रभावशाली व्याख्यान दिया। महोत्सव के सभापति श्रीमान् बाबू राम प्रसाद जी सुरेका की ओर से बाबू श्यामदेव जी देवड़ा ने वक्तव्य सुनाया और आगत सज्जनों का धन्यवादपूर्वक स्वागत किया गया। बालिकाओं में प्रसाद वितरण किया गया।

महोत्सव में सलकिया के प्रायः सभी प्रतिष्ठित और विद्याप्रेमी सज्जन मौजूद थे। बाबू रामप्रसाद जी सुरेका, बाबू रामचन्द्र जी सरावगी, बाबू नन्दलाल जी भुवालका, बाबू नागरमल जी बाजोरिया और बाबू रतनलाल जी गोयनका आदि। इन सज्जनों की उपस्थिति में विद्यालय का सारा मांगलिक कृत्य विधि पूर्वक सम्पन्न हुआ। उसी समय १३ कन्याओं ने पाठशाला में नाम लिखाया।

पाठ्य

विद्यालय में बालिकाओं को हिन्दी, हिसाब, गृहस्थ-धर्म, शिल्प, भूगोल, इतिहास और धर्मशास्त्र आदि की शिक्षा दी जाती है और सती स्त्रियों के जीवन-चरित्रों के उपदेश सिखाये जाते हैं। जिससे बालिकाओं का चरित्र अच्छा हो।

उपस्थिति

गत दो वर्षों में बालिकाओं की संख्या ५४ थी और प्रतिदिन की उपस्थिति औसत ३६ रही। इस समय ५६ कन्यायें हैं। उपस्थिति लगभग ५० है। गत वर्ष श्रीमान् बाबू सूरजमल जी ने बालिकाओं से कहा था कि जो बालिका विद्यालय से अनुपस्थित नहीं रहेगी, उसको छठे महीने में पारितोषिक दिया जायेगा। इस प्रतिज्ञा के अनुसार जनवरी महीने में श्री लक्ष्मीबाई को पारितोषिक (सोने का सेफ्टी पिन) दिया गया था। इस समय नियमित उपस्थिति के लिये श्री लक्ष्मी बाई और गुलाबदेई बाई पारितोषिक दिया जायेगा।

उत्सव

इस विद्यालय में ये उत्सव मनाये जाते हैं—१. वार्षिकोत्सव, २. बसन्तोत्सव, ३. गणेश चतुर्थी। इन तीन उत्सवों में बसन्तोत्सव तथा गणेश चतुर्थी उत्सव तो नियमानुसार होते हैं। प्रथम वार्षिकोत्सव साधारण रीति से मनाया गया था और यह द्वितीय वार्षिकोत्सव आज सज्जनों के समक्ष उपस्थित है।

विद्यालय में दो अध्यापिकायें हैं। प्रधानाध्यापिका श्रीमती शान्तादेवी जी और द्वितीयाध्यापिका श्रीमती मोहिनी देवीजी। दोनों ही अध्यापिकाओं ने विद्यालय की सेवा तन-मन से की है। जिसका पता आपलोगों को परीक्षा-फल सुनने से लग जायेगा। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में भी इसी तरह की विद्यालय की सेवा करती रहेंगी। इसके लिये मैं विद्यालय के संचालकों की तरफ से दोनों अध्यापिकाओं को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

छात्रवृत्ति

१. उन मारवाड़ी बालिकाओं को मिलेगी, जो विद्यालय में महीने में २० दिन बराबर हाजिर रहा करेंगी।
२. ऐसी बालिकाओं को १ रुपया मासिक छात्रवृत्ति दी जायेगी।
३. जिन बालिकाओं की हाजिरी पूरे दिनों की होगी, उन्हें प्रत्येक को हर छठे महीने पारितोषिक दिया जायेगा।
४. जिस बालिका का परीक्षाफल सभी कक्षा में सबसे अच्छा रहेगा, उसे इनाम पारितोषिक दिया जायेगा।

श्री हनुमान भंडार की लोकसेवी प्रवत्ति

विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयमम्। (यजु० १८ : ३३)

—हम बलवान होते हुए सब दिशाओं में अपनी विजय-पताका फहराते रहें।

योगक्षेमो नः कल्पताम्। (यजु० २२ : २२)

—हमारा (हमारे समाज का) सुख-कल्याण बढ़ता रहे।

[२९]

जब तक अभाव से अभिशाप का जन्म होता है, लेकिन अभाव से ही समष्टि का प्रतिदर्शन संभव हो जाया करता है। अभाव का शाब्दिक अर्थ आवश्यकता है और इसीलिए अंग्रेजी में कहावत है कि आवश्यकताओं की धन्यभागा कोख से आविष्कारों का जन्म हो जाया करता है। यह तो वैज्ञानिक परिभाषा है अन्यथा सामाजिक संदर्भ में इसी बात को यों कहना चाहिए कि अभावों से प्रेरणा लेकर ही समाज-कल्याण की योजनाओं को बल मिला करता है। ऐसे ही बल का जब संचय हो जाता है तो बहुत लोकोपयोगी प्रवृत्तियाँ प्रतिष्ठित हो जाया करती हैं। सूरजमल जी के जीवन में निरंतर अभावों की चुनौतियाँ जो आईं, उन्हों ने यही सत्परामर्श उन्हें दिया कि यह अभाव केवल तुम्हें ही नहीं है, समाज के घर-घर में है। देखना, केवल अपनी ही चिंता न करना। तुम अपना अभाव तो धन के बल पर दूर कर लोगे, लेकिन समाज क्या करेगा, इसलिए पहले समाज की चिंता करना, उसके बाद अपने घर की। सूरजमल जी खूब जानते थे कि यह रतनगढ़ आधुनिक सुविधाओं के अभावों का गढ़ है। राजस्थान के गांवों में, सामंती ह्रास के बाद से, जीवनोपयोगी सुविधाओं का ह्रास निरंतर बढ़ता रहा है। ऐसी स्थिति में रतनगढ़ का आधुनिकीकरण तो संभव तभी हो सकेगा और उसके अभिनव अर्थ भी तभी चरितार्थ हो सकेंगे कि इस नगर के वृहत्तर अभावों को सुनियोजित स्तर पर दूर किया जा सके। स्टेशन से शहर तक आवागमन के मार्ग के दोनों ओर हरे वृक्षों की पंक्ति उगाने का काम रतनगढ़ में चल ही रहा था कि अब आपने दूसरा अभियान पूरे उत्साह, सशक्त लगन और नियोजित कार्य-शक्ति को एक वांछनीय दिशा देते हुए प्रारंभ कर दिया। कलकत्ता में व्यापार उन्हें दिन दूना रात चौगुना सौभाग्य और ऐश्वर्य प्रदान कर रहा था,लेकिन रतनगढ़ में वह सौभाग्य और ऐश्वर्य किस तरह समष्टि-भाव से आरोपित किया जा सके,इसलिए वे बराबर अपने इष्ट का सुमिरण करते थे। अथर्व वेद (३:१६:८) में ऋषि ने कहा था कि हे ऐश्वर्यशाली प्रभो, हम अब भी (और, सब समयों में भी) भाग्यशाली हों। सूरजमल जी चाहते थे कि उनका पितृस्थान सब समयों में भाग्यशाली रहे, यहाँ की प्रजा भाग्यशाली बन कर भारत में अपना नाम गौरवपूर्ण बनाये और राजस्थान में यह नगर अपनी महत्ता को आलोकित करनेवाला सिद्ध हो।

जनश्रुति है कि जब सूरजमल जी नागरमल जी का विवाह संपन्न करने के लिए रतनगढ़ पधारे तो पूरे परिवार के साथ आप वहाँ गये थे। उधर से नारायणी देवी अपना परिवार ले गई थीं। क्योंकि नागरमल जी अपने वंश के अकेले होनहार दीप थे, इसलिए स्व० रामचन्द्र जी बाजोरिया की व्यापक प्रतिष्ठा के अनुरुप नागरमल जी का विवाह खूब धूमधाम से हो। इस धूमधाम में रतनगढ़ आनन्द से भर जाए। इस विवाह की मधुरता रतनगढ़ में मिष्टान्न-मय हो जाए। ऐसे ही शुभ विचारों और उत्तम संकल्पों के साथ सूरजमल जी ने विवाह की तैयारियाँ बड़े पैमाने पर शुरू कर दीं। स्वजनों और अतिथियों को निमंत्रण जब दिया जाने लगा, तो दोनों ही वंशों के रिश्तेदार बुलाये गये: जालान और बाजोरिया और अन्य रिश्तेदार। उनके आतिथ्य का समुचित रीति से प्रबन्ध हुआ। इतने बड़े समारोह के लिए बड़ी मात्रा में बर्तन आदि वस्तुओं की जरूरत थी। इस समय तक रतनगढ़ में एक परिवार से बर्तन आदि लेने की व्यवस्था की गई थी, किन्तु ठीक विवाह से पहले वे वस्तुएँ उपलब्ध न हुईं। निजी व्यवस्था जहाँ हो, वहाँ पर निजी इच्छा का प्राधान्य रहता है, इसमें आश्चर्य का विषय था भी नहीं। यों यह क्रोध का विषय था, लेकिन सूरजमल जी इस उत्तर को सुनकर केवल मुस्करा ही दिये और आपने दूसरे शहरों से बड़ी व्यवस्था के अनुरुप विवाह-उपादान और उपकरण मंगाने का प्रबंध कर लिया। जब तक विवाह का कार्य शुरु हुआ,सुचारु व्यवस्था के कार्यक्रम को शोभनीय बनाने की दृष्टि से उत्तम से उत्तम व्यवस्था की जा चुकी थी।

विवाह जब संपन्न हो गया, तो सूरजमल जी ने अब सब कामों से निवृत्त होकर और रिश्तेदारों को आदरास्पद विदाई देने के बाद, यह संकल्प लिया कि रतनगढ़ में एक ऐसा वस्तु-भंडार स्थापित किया जाए, जो सार्वजनिक संस्था बन जाये और उससे रतनगढ़-वासियों के कम से कम पांच-सात विवाह आदि करने में सुविधा
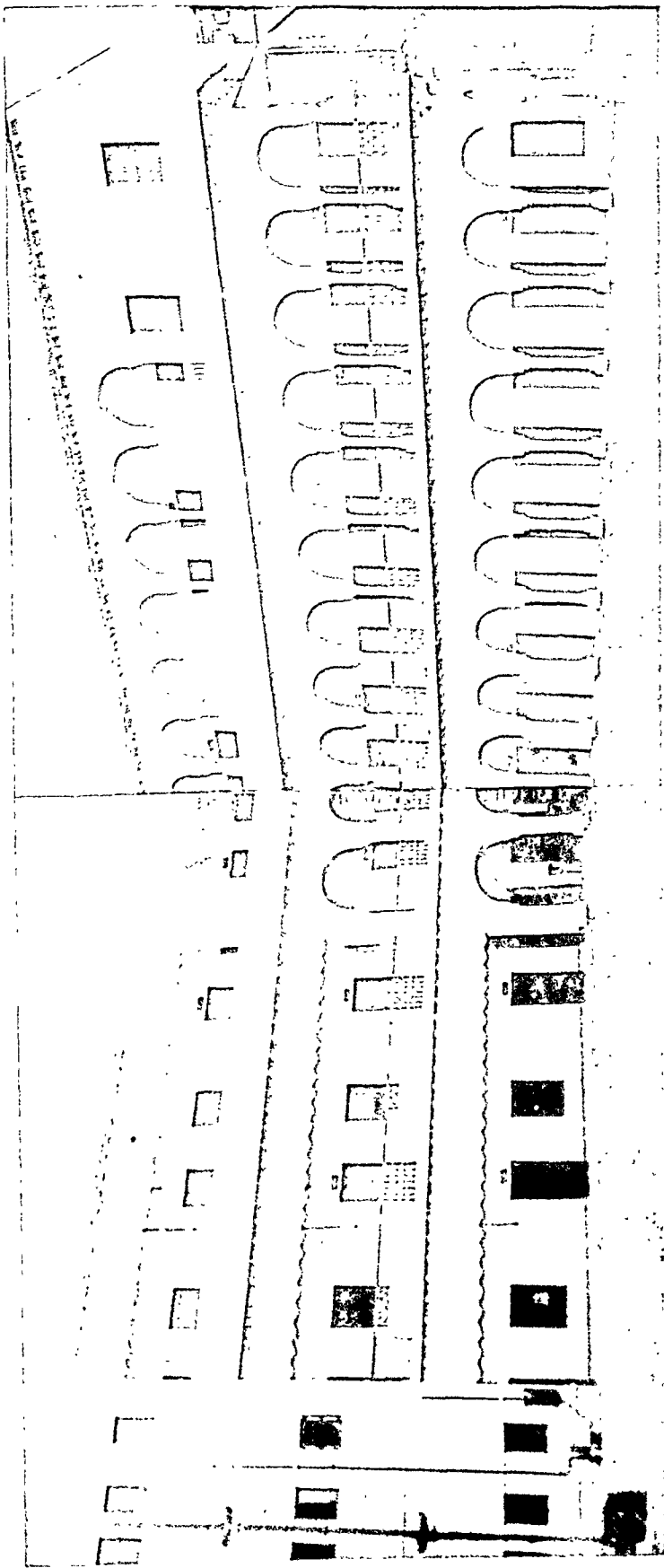
रतनगढ़-स्थित हनुमान बालिका विद्यालय
[नव निर्मित भवन का अन्दर से लिया गया पूर्ण चित्र]
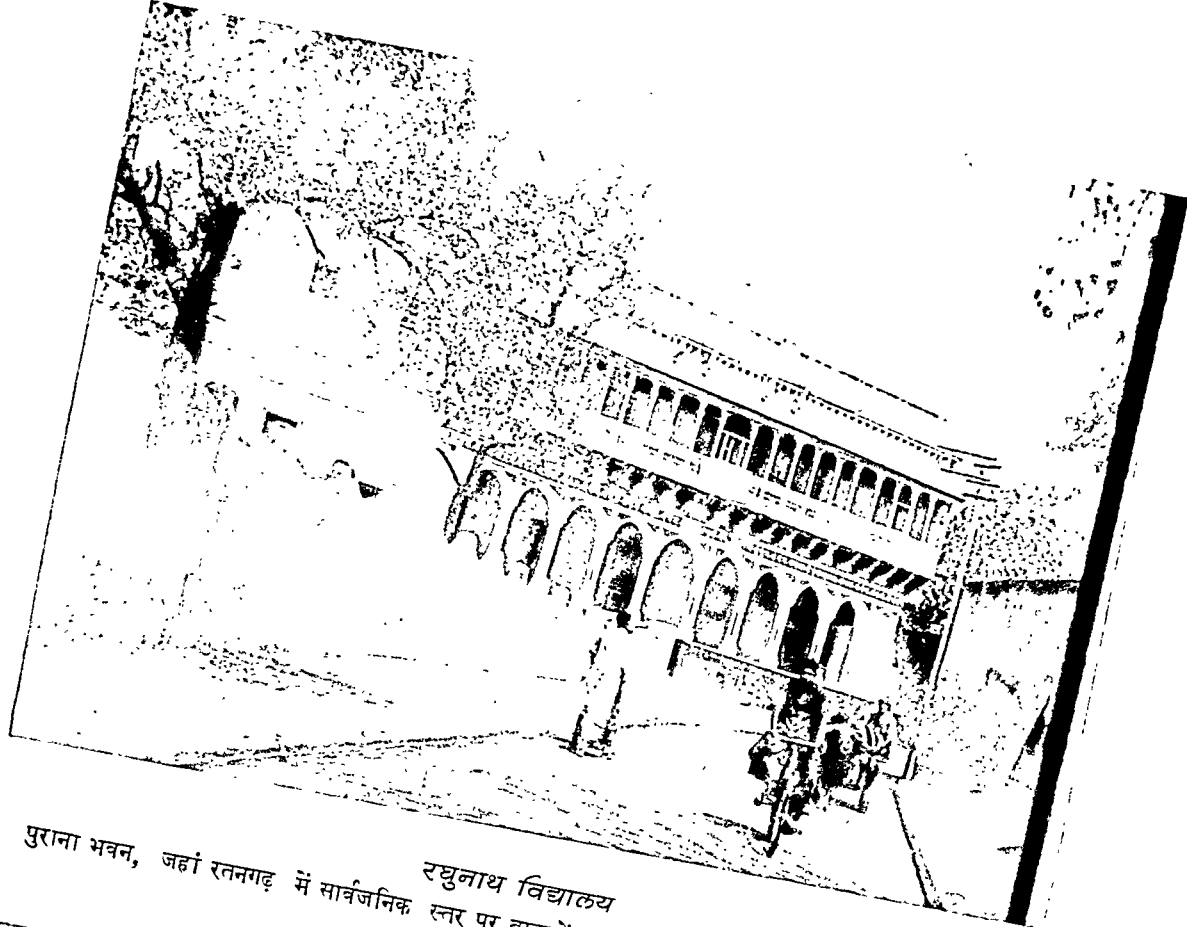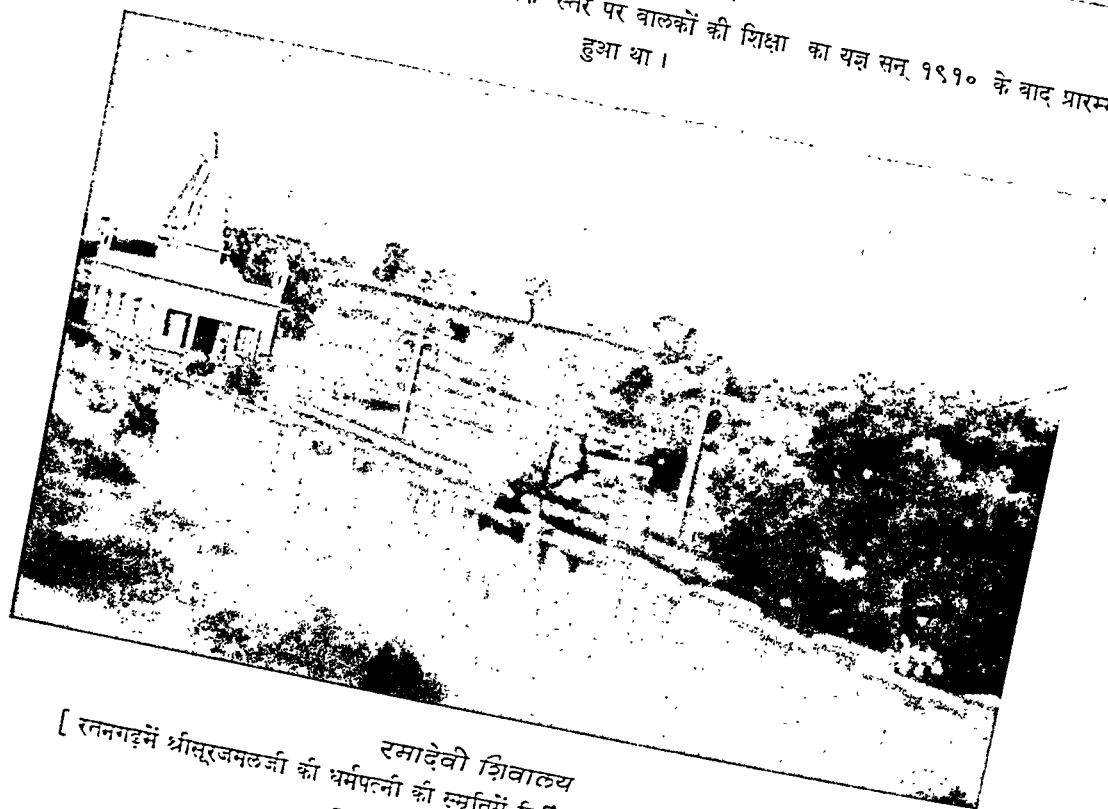
ग्रहण की जा सके। मुझे जो कष्ट हुआ है, वह रतनगढ़-मात्र का कष्ट न रह जाए। चरक-संहिता में कहा है—

आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुखदुखयोः।

—मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को ही सुख और दुख का कर्त्ता समझे!

आखिर इस नगर मात्र के कष्ट-निवारणार्थ हुए संकल्प की पूर्ति के लिए सन् १६१६ में ही सुविधाएँ हाथ लगीं। आपने जब श्री हनुमान पुस्तकालय नगर में स्थापित करवा दिया, तो उसी के साथ अपने १० वर्ष पहले के संकल्प को भी पूरा करने के लिए यथोचित व्यवस्था कर दी।

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी सदा।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्॥

—जैसे एक नागरिक नगर के कामों में अथवा एक रथी रथ की देखभाल में सावधान रहता है, इसी प्रकार बुद्धिमान को चाहिए कि वह अपने शरीर (समाज-शरीर) के कृत्यों में सावधान रहे। इसी मेधावी गुणके प्रत्यक्ष प्रमाण सूरजमल जी रतनगढ़ के सार्वजनिक जीवन में मौन भाव से दे रहे थे, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति तो दिगंत में परिव्याप्त हो ही रही थी।

वस्तु-भंडार की परम्परा केवल सामंती युगों की ही नहीं है, बहुत पुरानी है। अशोककाल से पहले से यह परम्परा चली आ रही है, जिससे पता चलता है कि नागरिकों को यथोचित आवश्यकता के समय यथोचित वस्तु-सामग्री प्रदान की जाती थी। पहले ये वस्तु-शालाएं राजकीय संरक्षण में नियोजित रहती थीं। मनुस्मृति (१:६०) स्पष्ट रूप से राजा के कर्मों में अभीष्ट प्रजा-नांरक्षणदानं कह कर ऐसी व्यवस्था का संकेत किया है कि जिससे दान भी हो जाए और प्रजा का रक्षण भी इसी में सन्निहित रहे। इसके लिए आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति की सुविधा सहज भाव से मिल जाए, इसकी प्रचुर व्यवस्था रहती थी।

दीखने को वस्तु-भंडार स्थापित करना एक छोटा सा कर्म है, उसमें कुछ विशेषता नहीं दिखाई देती। पर बात यह नहीं है। यह आदर्श-स्थापना परम्परावादी भारतवासियों की बहुत पुरानी रही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी ने धनाढ्य होकर अपने गांव और कस्बे में इस तरह का लोकहिताय प्रश्रय संग्रह-शालाओं को दिया है। उपनिषद् का एक वाक्य है:

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

अर्थात्—हे अग्निदेव, हमें सरल पथ से ले जाओ, बुरे रास्ते से नहीं। हमें केवल लक्ष्मी नहीं चाहिए, सुपथ चाहिए। यह सुपथ ग्राम और नगरों में क्योंकि सनातनकाल से प्रिय रहा है, इसीलिए इसी सुपथ को सूरजमल जी ने भी रतनगढ़ में पूज्य भाव से शामिल करा दिया। इस वस्तु-भंडार में और पुस्तकालय में केवल विवेक का भेद था, दृष्टि-भेद न था। पुस्तकालय से पुस्तक नवज्ञानार्जन के निमित्त ली जाती थी, अध्ययन के उपरान्त वापस करने के लिए; इस वस्तु-भंडार से वस्तुएँ तात्कालिक अभाव-पूर्ति के निमित्त प्रयोग में ली जाती थीं, कार्य-पूर्ति के उपरान्त वापस करने के लिए। दोनों कार्यों में प्रचुर धन व्यय किया गया। यह व्यय शंकराचार्य जी के इस वाक्य का स्मरण कराता है—

दानं संविभागः।

दान, अर्थात् समाज में अपने अर्जन का हम सम-विभाजन भी यदि करते हैं तो अत्युत्तम। शास्त्र-वचन है कि मनुष्य का दान नित्य-कर्तव्य है। भर्तृहरि का वचन इससे भी कर्ण-कटु है, लेकिन वह और भी कठोर आदेश के रूप में कहा गया है—

दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।

विनोबा जी ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि जितना खुद खा सकते हो, उतना खाओ, जितना मुझे दे सकते हो, दो। धन की तीसरी गति तो डाके वाली है। चौथी गति और नहीं है।

प्रश्न है कि सूरजमल जी ने अपने धन की यह प्रथम और सर्वोत्कृष्ट गति क्यों स्वीकार की? उनका बढ़ता हुआ व्यापार था, बढ़ता हुआ परिवार था, बढ़ता हुआ शिष्टाचार था, बढ़ता हुआ सामाजिक सदाचार था, बढ़ता हुआ पुत्र-पौत्रादि का सुख था, बढ़ता हुआ यश था और उसको और भी फलप्रद करने के लिए व्यय-साध्य शिष्टाचार था, बढ़ते हुए परिवार के निमित्त भवन-विलास आदि का संभावित आचार था, बढ़े हुए अर्जित लाभ के अनुपात में कलकत्ता के भौतिक सुखों का वर्धक सत्कार था और सम्पत्ति-दंभ के प्रदर्शन के निमित्त अन्य लौकिक विचार भी प्रबल हो सकता था। फिर सूरजमल जी ने इन सबसे विमुख होकर, उदासीन होकर और इन से विरक्त होकर यह मार्ग क्यों अपनाया, जहां वे व्यापक स्तर पर अपने नगर-निवासियों के प्रति मैत्रीभाव ही सुपुष्ट करना चाहते थे।

शास्त्र-वचन है—न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। —न कर्म से मोक्ष मिलता है, न प्रजा से, न धन से, बल्कि त्याग से मिलता है।

संभवतः राजस्थान में यह पहला भवन था, जो रतनगढ़ नगर में केवल वस्तु-भंडार के रूप में नगर के [illegible] सार्वजनिक सेवा के निमित्त स्थापित किया गया हो। इस भंडार की दूसरी विशेषता यह है कि यहां सब प्रकार के बर्तन आदि दिये जाते हैं, और इनकी संख्या [illegible] है कि एक साथ पचासों विवाहों की छोटी व बड़ी वस्तु मिल सकती है। अब रतनगढ़ की जनता को विवाह आदि सार्वजनिक समारोह और उत्सवों के अवसरों में ऐसी वस्तुओं के लिए कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता। [illegible] जी [illegible] रतनगढ़ में सार्वजनिक [illegible] आयोजन कर रहे हैं [illegible] एक और प्रमाण है।

बीकानेर राज्य का विशाल पुस्तकालय

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च, यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म-क्रियते, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

—जो जानने-पहचानने और धारण करने में मुख्य साधन है, जो उत्पन्न हुए-हुए प्राणि-वर्ग के अन्दर अमृत-ज्योति के रूप में विराज रहा है, जिसके बिना कोई भी कर्म करना असंभव हो जाता है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो । —(यजु ३४:३)

[३१]

२०वीं सदी के बाद से, जब से राजस्थान में जन-जागरण और जन-ज्ञान की कुंजियाँ नरेशों के हाथों में नियंत्रित रहने लग गयीं, उसके बाद से पोथीखाने महलों के अन्धकार में विलीन होते चले गये । यों कवि और साहित्यकार और पंडित राजस्थान में अपने ही सिद्ध पुरुषार्थ से बहुत हुए और हर युग में हुए, लेकिन जन-साधारण के लिए पोथीखानों का वह स्वर्ण-आलोकित अध्याय समाप्तप्राय हो गया, जो हिन्दू काल में १० वीं सदी से पहले प्रायः इतिहासों में उल्लिखित मिलता है । महलों में रक्षित पोथीखानों का लाभ विरले ही कृपाभाजनों को मिला करता था ।

सूरजमल जी ने जीवन में, जब से होश पाया, अधिक शिक्षा नहीं पायी थी । वे विद्या-अनुरागी रहना चाहते थे, उच्च हिन्दी का ज्ञान अर्जित करना चाहते थे । हिन्दी के समाचार-पत्रों का पूरा रसास्वादन करने में विश्वास करते थे, लेकिन व्यापार के संघर्ष में उनकी आयु बीतती गयी और वे इस स्वप्न की पूर्त्ति करने में असमर्थ ही बने रहे ।

सन् १९१७ के अन्त होते न होते, प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ । अब सूरजमल जी व्यापार की सुनिश्चिंतताओं से निश्चिन्त थे । व्यापार अब दैनिक चर्या के समान व्यवस्था से पूर्ण और दक्ष हाथों में नियंत्रित था । वे सन् १९१६ के भादवा मास में राजस्थान की जो यात्रा कर आये थे, उसके बाद से उनके मन में रतनगढ़ में पुनः नया कल्याण-आयोजन करने का विचार पक्का हो रहा था । ऐसे ही क्षणों में वे सब से परामर्श करते, सबके विचारों को पूरी तरह से तोलते, लेकिन उचित योजना के अभाव में कुछ निर्णय नहीं कर पा रहे थे । अन्त में एक दिन वे, जब कि गंगाजी की सीढ़ियों पर बैठे हुए कलकत्ता में गंगा-स्नान कर रहे थे कि उन्हें सहसा ही एक दिव्य अनुभूति हुई । उन्हें स्मरण आया कि बचपन का एक स्वप्न अधूरा है । बचपन में हिन्दी की पोथी पढ़ने का सुख न मिला, लेकिन अपना वह सुख जो स्वयं को न मिला, कमसे कम रतनगढ़ की सारी जनता को तो विरासत में सौंपा ही जा सकता है । बस, वे घर आये, तुरंत योजना तैयार की, अपने मित्रों से उस पर परामर्श किया और रतनगढ़ जाने का कार्यक्रम निर्धारित कर दिया ।

रतनगढ़ में सूरजमल नागरमल द्वारा संचालित सार्वजनिक सेवा-संस्थाओं की जो विवरण-पत्रिका है, उसमें इस पुस्तकालय का परिचय देते हुए लिखा है—

"ऐसा ही शुभ समय कभी हम देख सकेंगे ।
जब कभी हिन्दी साहित्य समुन्नत लेख सकेंगे ।।
आओ इसके लिए करें हम यत्न हृदय से ।
डरें न हरगिज कभी कोटि विघ्नों के भय से ।।

"इसी प्रबल महत्वाकांक्षा को लेकर श्री हनुमान पुस्तकालय की स्थापना संवत् १९७६ में की गयी । यह वह समय था, जब कि इस ओर हिन्दी भाषा के पढ़ने का प्रचार बहुत ही कम था और हिन्दी को हिन्दगी कहा जाता था । और लोगों में पढ़ने-पढ़ाने की प्रवृत्ति बहुत ही कम थी ।"

"जिस समय की यह बात है, उस समय हिन्दी को हिन्दगी ही नहीं कहा जाता था, हिन्दी पढ़ना केवल कन्याओं का विषय समझा जाता था । अंग्रेजी शिक्षितों की भाषा थी और अदालतों की भाषा उर्दू थी । बोलचाल के लिए बीकानेर राज्य में बीकानेरी चलती थी ।"

सूरजमल जी ने कलकत्ता में और रतनगढ़ में जितनी संस्थाओं की स्थापना की, वे सभी हनुमान जी के नाम से विभूषित हैं । इन हनुमान पुस्तकालय की भूमिका में पहले हमें एक दृष्टि राजस्थान के अन्य कतिपय पुस्तकालयों पर डालनी होगी । बीकानेर में सबसे पहला सार्वजनिक पुस्तकालय नागरी-भंडार सन् १९१६ में स्थापित हुआ था । शेखावाटी का प्रसिद्ध फतहपुर-स्थित सरस्वती पुस्तकालय सन् १९०८ के बाद का है । उदयपुर-अजमेर आदि में दैनिक

पत्रों को पढ़े जानेवाले वाचनालय अवश्य स्थापित हो चुके थे। जोधपुर में पुस्तकालयों पर कड़ा प्रतिबन्ध था। जयपुर में एक पब्लिक लाइब्रेरी थी, लेकिन उसमें अधिकांश संस्कृत की ही पुस्तकें थीं। अन्य बड़े नगरों में कोई पुस्तकालय स्थापित करे, उसे अपने राज्याधिकारियों का आतंक भयभीत करता था। ज्ञान पर अंकुश था, बाहरी सूचनाओं पर अंकुश था। ऐसे वातावरण में जब सूरजमल जी ने इस पुस्तकालय की स्थापना की, तो वह एक विद्रोह से कम न था। वे ऐसे ही निःशंक व्यक्ति थे। जब ज्ञानदान का यज्ञ प्रारंभ करना है, तो उस शुभ संकल्प की पूर्ति में भयभीत किससे होना है? यही कारण है कि जब इस पुस्तकालय के विशाल भवन को हम देखते हैं, तो सहसा ही यह भान प्राथमिक क्षणों में अपने आप हो जाता है कि इस पुस्तकालय की आत्मा में किसी विशाल हृदय की नाड़ी ही चल रही है।

हम ने सम्पूर्ण राजस्थान का भ्रमण किया है और प्रायः सभी बड़े पुस्तकालय देखे हैं। लेकिन उन सब में हनुमान पुस्तकालय का अपना जो शीर्ष स्थान है, वह विशेष रूपसे इसलिए भी है कि इसमें चयन उत्तम दुर्लभ ग्रंथों का ही नहीं हुआ है, बल्कि इसमें विषयों का चयन भी व्यापक और सर्वांगीण रखा गया है। बहुत से मित्रों ने सूरजमल जी से यह आग्रह बराबर रखा कि वे इस में अंग्रेजी की पुस्तकें भी मंगवायें, किन्तु सदा ही उन्होंने एक उत्तर दिया कि इस संस्था का जो पवित्र उद्देश्य है, वह हमे याद रखना है। हम हिन्दी की सेवा करना चाहते हैं, इस लिए उसका ही साहित्य इसमें आना चाहिए। रतनगढ़ में जो भाई रहते हैं और जो परिवार रहते हैं, वे केवल हिन्दी ही समझ सकते हैं,[1] इसलिए अंग्रेजी की पुस्तकें हमारी योजना में कहीं नहीं आतीं।

हिन्दी की सेवा करनेवालों में हम अंग्रेजी भारत के बहुत से प्रसिद्ध व्यक्तियों का नाम ले सकते हैं, लेकिन जब भी राजस्थान में ऐसे व्यक्तियों की कोई सूची तैयार होगी, तो उस में अवश्य सूरजमल जी का नाम संलग्न किया जायेगा। वे विनीत भाव से अपनी इस राष्ट्रभाषा के प्रति अपने कर्तव्य की पूर्ति आजीवन करते रहे।[2] उसी का यह फल है कि हनुमान पुस्तकालय आज राजस्थान के सबसे महत्वपूर्ण कुछ गिने-चुने पुस्तकालयों में से एक है।

इस पुस्तकालय का वार्षिक सदस्य-शुल्क १) रुपया मात्र है। छात्रों से और शिक्षण-संस्थाओं के कर्मचारियों से यह भी नहीं लिया जाता। यहां पर जैन-साहित्य और हस्तलिखित ग्रंथों का और १९०१ से पहले प्रकाशित हुई पुस्तकों का अनुपम संग्रह है।

यह पुस्तकालय एक बड़े भवन में सुरक्षित किया गया है।[3] नगर के बीचोंबीच यह स्थित है। जब से यह स्थापित हुआ है, रतनगढ़ की नई संतति इसके सहयोग से काफी लाभान्वित हुई है।

अथर्ववेद के ऋषि ने दो सूत्र बहुत उत्तम कहे हैं—

संश्रुतेन् गमेमहि। (१:१:४)

—हम विद्याभ्यास से जुड़े रहें।

दूसरा सूक्त और भी उत्तम है—

सरस्वति मा ते युयोम संदृशः। (७:६८:३)

—हे सरस्वती! हम तेरे उत्तम दर्शन से (कभी) वंचित न हों।

प्रायः लोक जगत की एक बात सुनने को मिलती है कि लक्ष्मी और सरस्वती का बैर रहता है। पता नहीं, क्यों यह बात किस तरह चल निकली। पुराणों की परम्पराओं में हमें यह सत्य किसी स्थान पर दर्शन नहीं देता। वैश्यों के विगत दो ढाई हजार वर्षों के इतिहास से यही महत् भावना ज्ञात लगती है कि समर्थ धनिकों ने सदैव उत्तम विद्यार्थियों को शिक्षा के लिए सब संभव साधन जुटाये, पंडित जनों को उत्तम पुरस्कार दिये और उत्तम पुस्तकों को खरीदकर अपने यहां समादृत किया। आज हम देखते जितनी भी पुरानी भागवतें और गीता-रामायणें तथा अन्य संस्कृत साहित्य हस्तलिखित देखते हैं, वह अधिकांश में किसी न किसी उत्तम लक्ष्मीपति की उदार वृत्तियों का फल है। रतनगढ़ में सूरजमल जी ने सबसे पहले ज्ञानदान और शिक्षा-ज्योति का रक्षण किया और इन स्तम्भों अपने वीर नगर में सरस्वती के साधना-मंदिर का प्रसन्न भाव से शिलान्यास भी कर दिया।[4] विद्यालय में कुछ वर्ष ही विद्याभ्यास चलता है, लेकिन पुस्तकालय ऐसा विद्यालय है जहां बिना गुरु के विद्याभ्यास आजीवन चलता रहता है। ऐसे ही पुस्तक-संग्रहालयों को देखकर अथर्ववेद के ऋषि ने प्रार्थना की होगी:—

मा श्रुतेन विराधिषि। (१:१:४)

—हम विद्याभ्यास से बिछुड़ें नहीं!

---

१ सन् १९२० में कलकत्ता में स्पेशल कांग्रेस के अवसर पर कोरिन्थियन थियेटर में श्री तिलकने अंग्रेजी में भाषण दिया। गांधी जी ने जनता से, भाषण समाप्त करने के बाद पूछा कि तुम में से कितने इस अंग्रेजी के भाषण को समझे? मुश्किल से दस दो हाथ उठे। तब गांधी जी ने हिन्दी में भाषण दिया। इसी समय से बाल गंगाधर जी तिलक ने हिन्दी में बोलने का अभ्यास प्रारंभ किया। कोरिन्थियन थियेटर की इस घटना के समय सूरजमल जी उपस्थित थे। उन पर हिन्दी की अटूट छाप उसी समय से पड़ी।

२ कलकत्ता की सर्वप्रथम पब्लिक लाइब्रेरी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय, कलकत्ता स्थित बड़ा बाजार लाइब्रेरी, फतहपुर-शेखावाटी का सरस्वती पुस्तकालय, बड़ौदा पुस्तकालय आदि सभी का इतिहास एक ही बात कहता है कि प्रारंभ में पुस्तकालय किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा पोषित स्थापित रहे और उनके निजी संरक्षण में रहे। कुछ समय बाद ही वे सार्वजनिक रूप पर विकसित हुए।

३ प्रारंभ में यह पुस्तकालय [illegible] हुआ था। [illegible] सन् १९२९ में [illegible] हो गया था।

४ सन् [illegible] पुस्तकें [illegible] [illegible] २००० पुस्तकें [illegible] [illegible] १२,००० पुस्तकें [illegible] [illegible]

आनन्द-उत्सव-वेला [चित्तौड़, १५ वीं सदी

रतनगढ़ में कन्या-शिक्षा का प्रथम अध्याय

●

मुझे अच्छी माताएँ दो, मैं तुम्हें अच्छा राष्ट्र दूँगा। —नैपोलियन बोनापार्ट।

[३०]

जून मास की गरमीमें राजस्थानकी वही दशा रहती है, जैसी कुंभीपाक-नरक की वर्णित हुई है। हम एक स्टेशन पर शाम की गाड़ी की प्रतीक्षा में खड़े हैं। दुपहर के बारह बज चुके हैं। अभी एक गाड़ी आई है, उस में से काफी यात्री उतरे हैं। अपने वेटिंगरूप के जाली के दरवाजे से मैं देख रहा हूँ, एक दस वर्ष की कन्या है, वह घूंघट में है। उसे उसकी सास ने गोदी में भर कर उतारा है। घूंघट सम्हल नहीं रहा है। यात्री उसे देख कर हंस रहे हैं। मैं दुख से भर गया हूँ। लेकिन मेरे एक सहयात्री, जो राजस्थान के समृद्ध वैश्य हैं, मेरे दुख को हल्का करने के लिए कह रहे हैं, "हमारे पूर्वजों ने भी इतनी ही आयु की पत्नी पाई थी। हमारी माताओं, दादियों और परदादियों ने इसी आयु में विवाह किया था। तब कुछ अपार क्षति न हुई, तो अब क्या महादुख आप को गमा गया है?"

इस प्रश्न से हठात् मैं स्तंभित हो जाता हूँ। लेकिन संभल जाता हूँ। एक दृष्टि में उन सहयात्री बन्धु को देखता हूँ और विनोद करते हुए हँस पड़ता हूँ, "महादुख मेरा नहीं है। राजस्थान के सभी महादुख ऐसी प्याज के तुल्य हैं, कि जिसके जितने ही छिलके उतारो, उसके अन्दर दूसरे महादुख का आवरण और छाया हुआ है!"

सूरजमल जी के युग में कन्या-शिक्षा का प्रश्न ऐसे बन्द गढ़ के तुल्य था, जो बरसों से क्या, सदियों से न खुला हो और जिसमें चमगादड़ों ने अपना रैनबसेरा बना रखा हो और जिनके निवास से वहाँ असह्य बदबू छाई हुई हो!

मुगलकाल के बाद से नहीं, लगभग आठ सौ साल से पहले, राजस्थान मुस्लिम-आक्रमणों का ऐसा चरागाह बन गया था, जहाँ कब सेना आ पहुँचे और कब लूटपाट और बर्बर अपहरण शुरू हो जाए, इसका ठिकाना न था। जो मुस्लिम परिवार, बलात् धर्म-परिवर्तन के बल पर, देश में और राजस्थान में चारों ओर नये सिरेसे आबाद हो रहे थे, वे अपने कुलशील नाते—रिश्तेदारों से मुँह छिपाने के लिए अपने परिवार की स्त्रियों को बन्द परदों में रखने लगे थे। जो आक्रान्ता यहाँ शासन का निरंकुश छत्र ताने हुए थे, स्वयं अपनी बेगमों को परदों में रखते थे। वे परदों के देश से आये थे। परदा उनके समाज का ऐतिहासिक अभिशाप बन चुका था, वे उसी संत्रस्त विभीषिका को लिये हुए भारत में आये, परदा यहाँ उनकी छाया बन कर रहा! राजस्थान ने राजनीतिक अपमानों को भोगते

हुए इसी परदे में मुँह छिपा कर जीना सीख लिया। और दुर्भाग्य यह हुआ कि परदा घर-घर की हिन्दू रीति-नीति बन गया। अंग्रेजी शासन के युग में यह रीति-नीति स्थायी मर्यादा की एक आँगी बन गई। ऐसी स्थिति में, जिन क्षणों में सारा देश नये सिरे से शिक्षा, फिर वह चाहे पश्चिमी ढंग की ही शिक्षा क्यों न थी—का नया प्रकाश अर्जित करने में जूझ पड़ा था, स्त्रियों को शिक्षित करने का अभियान परदे की अविजेय प्राचीर को ध्वस्त न कर सकने के कारण कठिन मार्ग से ही आगे गति पा रहा था।

राजस्थान में कन्या-शिक्षा का प्रारंभिक अध्याय किस तरह सूत्रबद्ध हो सका है, इसके लिए केवल एक प्रमाण मिलता है। समग्र राजस्थान में सन् १८७५ से पहले एक भी उच्च स्तरीय स्कूल या विद्यालय न था। केवल जयपुर में संतोषप्रद शिक्षा का कार्य स्व० महाराज राम सिंह जी के समय में प्रारंभ हुआ था, जिन्होंने वास्तविक रूप में अपना शिक्षा-विभाग स्थापित किया, और सन् १८४४ से ही महाराजा कालेज, चांदपोल विद्यालय, राजपूत विद्यालय, संस्कृत कालेज और प्रथम शिक्षा विद्यालय आदि संस्थाएँ सरकारी व्यय से स्थापित की थीं। मेयो कालेज अजमेर में इस समय तक स्थापित हो चुका था और इस में केवल नरेशों और उच्च अधिकारों से सम्पन्न सामन्तों के पुत्र ही शिक्षा प्राप्त करते थे। स्त्री-शिक्षा पूरे प्रान्त में केवल जयपुर में शुरू हुई थी। सन् १८८२-८३ की शासन-प्रणाली के कागजपत्रों को देखने से मालूम होता है कि महाराज रामसिंह बुद्धिमान थे और स्त्री-शिक्षा का प्रचार करने के प्रेमी थे। इस कारण उन्होंने अपनी राज्यसीमा में स्त्री-शिक्षा का प्रचार करने के लिए विशेष प्रयत्न किया था। और, इस विषय में सफल भी हुए थे। सन् १८८२-८३ तक राजधानी जयपुर में और इसके उपनगरों में १० और अन्यत्र तीन, सब मिलाकर १३ कन्या-पाठशालाएँ थीं। कन्याओं को हिन्दी-उर्दू भाषा की शिक्षा व पारिवारिक शिल्प-शिक्षा भी दी जाती थी। कन्याओं की संख्या ७६२, औसत उपस्थिति की संख्या ५४२ थी। उक्त समस्त विद्यालयों में, इस अवधि में, कुल मिलाकर ६१५० रुपया व्यय हुआ था। कहने का तात्पर्य है कि प्रति कन्या प्रति वर्ष मात्र ७५) रुपया व्यय हो रहा था। और दुखद स्थिति यह थी कि इस अवधि में जयपुर राज्य की जनसंख्या २८ लाख थी। पर सार्वजनिक शिक्षा की दृष्टि से कन्या-शिक्षा का यह विस्तार सचमुच एक चमत्कार माना जाए। इस असंभव-प्राप्ति का सबसे बड़ा चमत्कार यह था कि इस शासन-प्रणाली की रिपोर्ट में मुख्य रूप से प्रधान अध्यापिका की तो चर्चा की गयी है, लेकिन श्रीमती लिख कर उसके आगे नाम का स्थान रिक्त छोड़ दिया गया है, क्योंकि शिक्षित प्रधान अध्यापिका महोदया का नाम कहीं अशिक्षित जन-समाज में सब को कंठस्थ न हो जाये! उस कुलशीला का यही साहस बहुत था कि वह उस पद का भार युग की समस्त भर्त्सनाओं के बावजूद सम्हाल रही थी, तब अपने नाम को प्रचारित करने का भय यदि मन-मानस पर सवार रह गया था, तो उसमें आश्चर्य था ही कहाँ?

लेकिन इस अवधि में शेष भारत में बम्बई में अवश्य पारसी समाज ने आंशिक प्रगति कर ली थी। सन् १८८५ के आस-पास श्री जमशेत जी जेजीभाई ने अपनी अगाध सम्पत्ति से जो सार्वजनिक संस्थाएँ स्थापित की थीं, उनमें तीन कन्या-विद्यालय थे। श्रीबहरामजी एम. मालाबारी ने सन् १८८० के आस-पास 'इंडियन स्पेक्टेटर' पत्र खरीद लिया था, और इसके कालमों में बाल-विवाह के विरुद्ध इतना बड़ा अभियान छेड़ा कि उसने समस्त महाराष्ट्र में कन्याओं को बड़ी आयु तक शिक्षित करने और उसी के बाद उन्हें विवाहित करने के लिए एक जागृति प्रदान की। दादाभाई नौरोजी तो अपने प्रान्त में 'कन्या-विद्यालयों के पिता' कहे गये हैं, उन्हें कन्या-शिक्षा को घर-घर में प्रचारित करने का श्रेय जाता है। इसी अवधि में राव साहब महीपत राम रूपराम नीलकंठ ने कन्याओं की शिक्षा के लिए विशेष प्रयास किया। सन् १८५१ में लार्ड कैनिंग, जो भारत के तात्कालिक वायसराय थे, ने श्रीनीलकंठ जी द्वारा आयोजित कन्या-विद्यालय की शिक्षित छात्राओं के एक समारोह में सोत्साह भाग लिया था। और यह सभा बम्बई के टाउनहाल में हुई थी। मद्रास में भी इसी प्रकार इसी अवधि में राव साहब सभापति मुदालियर ने सन् १८७० में एक जनाना स्कूल शुरू कर दिया था। उसके शीघ्र ही बाद उन्होंने दूसरा कन्या-विद्यालय प्रारंभ किया। जिन क्षणों में दक्षिण भारत कन्या-शिक्षा की दृष्टि से आशातीत प्रगति कर रहा था, इस जागृति का बिगुल श्री शशिपद बनर्जी ने बंगाल में बजाना शुरू कर दिया था। १६ मार्च सन् १८६५ को उन्होंने अपनी सुशिक्षिता पत्नी के सहयोग से, जो उनके हाथों ही सुशिक्षिता हुई थीं, एक जनाना स्कूल प्रारंभ किया था।[1]

प्रारंभ में ये सब प्रयास एकांगी और व्यक्ति-परक साहस के परिणाम थे। उसी के बाद सार्वजनिक संस्थाओं का अभ्युदय

१. In 1830, Adam carried out the earliest survey of women's education in India, found only 4 literate women in the entire population of Bengal. But by 1851, there were 205 day-schools run by Christian missionaries in the country, educating 8919 girls.
In spite of these early efforts, however, female-education did not progress much, except the missionary's efforts and their field, beyond the primary stage and in 1882, there was only one school, the Bethune School of Calcutta, which had a College Department—with six girls on the rolls!
Then followed a period of Westernisation of the education system and the number of girl students in public school rose by 1901-2 to 444470—still less than one-ninth of the number of boys. At that time, there were 12 colleges, 467 Secondry Schools and 5628 primary Schools for girls.
—A Survey Report.

हुआ। इस द्वितीय अध्याय के प्रवर्तक हम श्री कर्वे को मान सकते हैं।[1] लेकिन राजस्थान में अभी तक व्यक्ति-परक प्रथम परिच्छेद भी न हुआ था। अवश्य जयपुर में कन्याओं की शिक्षा को लेकर चलाया गया क्रम पूर्ववत चल रहा था, लेकिन अन्यत्र सभी राज्यों में इस विषय का पूर्ण अंधकार छाया हुआ था। सूरजमल जी जालान अपने संकल्पों में एक ही साहसी थे। कलकत्ता में सलकिया-स्थित कन्या-विद्यालय उनके हाथों जो संचालित हुआ था, वह मंथर गति से प्रगति कर रहा था। किन्तु रतनगढ़ में इसी कोटि का अध्याय किस तरह प्रारंभ करें, कुछ समझ में न आ रहा था। जिस से बात करते थे, वह कहीं भी किसी रूप में सहायक होने को तैयार न था। सब एक ही उत्तर देते थे कि कौन नौकरी करनी है, जो अपनी लड़की को पढ़ाने का सरदर्द मोल लें। सब को भय था कि पढ़ने से कन्या हाथ से जाती रहेगी, अर्थात् उसका चरित्रबल अक्षुण्ण न रह पायेगा!

नारी-समस्याओं को लेकर सन् १९१९ के बाद से ही गाँधी जी ने कहना प्रारंभ कर दिया था कि हमारे देश में तीन जन बहुत पिछड़े हुए हैं—१ नारीजन[2], २ हरिजन, और ३ गिरिजन। गिरिजन से आशय आदिवासियों और पहाड़ी जातियों से था।

आखिर सूरजमल जी ने निश्चय किया कि रतनगढ़ में कन्या-पाठशाला खोलने में कोई विलम्ब न होना चाहिए। यदि आत्मीय जनों का समाज विरोध करता है, तो उसकी प्रारंभिक आपत्तियों को भी सहना होगा। लेकिन आपत्ति ही यदि बाद में शुभ कामना हो जाये, तो वह कम विजय की बात न होगी!

रतनगढ़ में सूरजमल जी कन्या-पाठशाला के खोलने में क्यों विलम्ब न होने देना चाहते थे, उसका एक रहस्य था। वह बात कुछ इस तरह है कि एक बार सूरजमल जी और रमाबाई कलकत्ता से दिल्ली आते हुए, रतनगढ़ की दिशा यात्रा कर रहे थे। उन्हीं के डिब्बे में एक मद्रासी महिला अकेली ही सफर कर रही थीं। वे शायद राजस्थान में किसी देशी नरेश की किसी कन्या की प्राइवेट अध्यापिका थीं। हर स्टेशन पर वे किस साहस के साथ उतरती थीं और किस निर्भय भाव से यात्रा कर रही थीं, यही देखते हुए रमाबाई के मन में आनंद छा रहा था। उनके मन में यह प्रेरणा आई कि यदि हमारे समाज की कन्याएँ भी इसी तरह शिक्षिता होकर कम से कम निर्भय-साहसी बन जायें तो बहुत ही अत्युत्तम हो जाये। उन्होंने यह विचार अपने पति से कहा। सूरजमल जी को यह सुनते ही सुखकर अनुभूति हुई। उन्हें लगा कि जो बात मेरे मन में है, वही अभिलाषा पत्नी के मन में आई है, इस से उत्तम बात क्या हो सकती है। पर उस समय उन्होंने एक विनोद कर ही दिया। बोले, "मुझे खोलने में कोई आंट नहीं है। केवल मुझे दस बालिकाएँ ला दो, कल ही पाठशाला बैठा दूंगा।" रमा बाई ने कहा कि देखो, रतनगढ़ पहुँच कर मैं सब से बात करूँगी। कम से कम अपने पास से कुछ पैसे देकर अगर ब्राह्मणों की कन्याओं को भी पढ़ाने का सिलसिला शुरू कर दिया जाये, तो अपने लोग भी अपनी छोरियों को भेजने में संकोच न करेंगे।

लेकिन रमाबाई ने स्वास्थ्य उत्तम न पाया, बीमारी अधिक भोगी, स्वास्थ्य-लाभार्थ अनेक यात्रायें कीं और अन्त में उनकी इहलीला भी सन् १९१६ में रतनगढ़ में समाप्त हो गयी। पर इससे क्या होता है। सूरजमल जी ने रमाबाई की इस अंतिम इच्छा को याद रखा, विस्मृत न होने दिया। किन्तु उचित अवसर की प्रतीक्षा में रहे। आखिर सन् १९२४ में निर्भयभाव से पूरे साहस के साथ, उन्होंने रतनगढ़ में श्री हनुमान बालिका विद्यालय प्रारंभ कर दिया।

संवत् १९४८ की, श्री सूरजमल नागरमल द्वारा संचालित संस्थाओं का कार्य-विवरण—पुस्तिका प्रस्तुत करते हुए इसके मंत्री श्रीसूरजमल जी माठोलिया लिखते हैं, "संवत् १९८१ वि० में श्री हनुमान बालिका विद्यालय की स्थापना की गयी। इस से पहले यहाँ बालिकाओं के लिए कोई शिक्षण-संस्था न थी। उस समय बालिकाओं को शिक्षा देना श्रेयस्कर नहीं समझा जाता था। ऐसी परिस्थिति में इस अज्ञान-तिमिर को दूर करने के लिए स्व० सेठ श्री सूरजमल जी जालान के हृदय में शुभ प्रेरणा हुई कि 'कन्याओं की शिक्षा के लिए एक संस्था खोलनी चाहिए। इस प्रेरणा से प्रेरित हो कर उन्होंने श्री हनुमान बालिका विद्यालय की यहाँ स्थापना कर दी। उस समय विद्यालय का कोई पृथक् स्थान नहीं था। अतः श्री हनुमान पुस्तकालय के ऊपर के कमरे में एक अध्यापिका नियुक्त की गयी। इसी स्थान पर १० वर्ष तक यह विद्यालय बना रहा।"

जिन क्षणों में यह विद्यालय स्थापित हुआ, उससे पहले लगभग एक-दो वर्ष ही पहले, रामगढ़-शेखावाटी में सेठ जमनालाल बजाज की

१. In the *Times of India*, dated March 14, 1908, an Englishman, Major Hunter Stean, wrote, "In a small house in Narayan Peth, Poona City, not far from Lakadi Pool is to be found the tiny beginning, at least on this side of India, of what will one day prove the social regeneration of the country." This was said about the institution founded by Karve, when it was only a year old. Today we see what great University has achieved under his able guidance, for continuously long 50 years.

इनका पूरा नाम कर्मयोगी डाक्टर धोंडो केशव कर्वे था। इन्होंने अपनी पहली पत्नी का स्वर्गवास होने के बाद, एक विधवा कुलशीला से विवाह कर, सारे समाज की विद्रोहाग्नि का सामना किया था और विधवा-आश्रम की स्थापना कर, स्त्री-शिक्षा का संकल्प लिया था। सन् १९१६ में श्री कर्वे द्वारा स्थापित भारतीय महिला विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संचालित शिक्षा-संस्थाओं में साढ़े चार हजार बहनें, बालिका और प्रौढ़, दोनों मिलाकर शिक्षा पाती थीं।

२. In 1901 the female-literacy was only 0.7 percent, in 1911 it became 1.1 percent, in 1921 it rose only upto 1.8 percent. By 1931 it hardly reached 2.4 percent.

कृपा और प्रेरणा से एक छोटा सा कन्या-विद्यालय स्थापित किया गया था। उसकी प्राण-स्वरूप प्रधान अध्यापिका श्रीमती पार्वती बाई थीं। जब हम ने उनसे भेंट कर उस युग की मनोस्थिति का अध्ययन किया, तो बड़े दुखद शब्दों में पार्वती जी ने बताया कि जिस समय मैं ने शिक्षा का काम हाथ में लिया, हमारे घरों की स्थिति बड़ी हास्यास्पद और लज्जा से भरी हुई थी। प्रायः राजस्थान के सभी मर्द विदेशों में व्यापार के लिए निकल जाते हैं और घरों पर सिर्फ स्त्रियाँ रह जाती हैं। उस समय हालत यह थी कि परदेश से पति गण जो पत्र अपनी पत्नियों के नाम भेजते थे, उन्हें पढ़वाने के लिए वे बाजार से किसी गैर आदमी को बुलवा कर पढ़वाने के लिए विवश रहती थीं। उस हालत में वे अपने पतियों को अपने मन की बात खुलासा कर लिखने में मन मसोस कर रह जाती थीं। केवल ऊपर की बातें ही लिखवा कर बस कर लेती थीं। ऐसी स्थिति में किसी भी परिवार की कोई गोपनीयता नहीं थी, घर के सारे भेद बाजारू लोगों के पास जाते रहते थे। घरों में भी मामूली हिसाब-किताब वे कर सकें, ऐसा वातावरण न था। वहाँ भी आर्थिक हानि किसी भी समय उनकी क्षति कर दिया करती थी। इसी शोचनीय स्थिति से दुखी होकर मैं ने रामगढ़ की कन्याओं को शिक्षित करने का भार लिया, ताकि वे अपने गोपनीय पत्र लिख सकें और अपना हिसाब-किताब भी सम्हाल कर रख सकें।

सूरजमल जी ने जो पाठशाला खोली, उसमें केवल यही लक्ष्य न रखा गया। यह विद्यालय युग की प्रगतिशील विचारधाराओं को लक्ष्य में रख कर इस भाव से संचालित किया गया था कि एक कन्या इस में शिक्षिता होकर क्रम से प्रारंभिक जीवन और घर-गिरिस्ती के दायित्वों को पूरे विवेक के साथ वहन कर सके।

जिस मास में यह विद्यालय स्थापित हुआ, सूरजमल जी रतनगढ़ में ही विराजमान थे। आप ने अपने घर पर एक मित्र-गोष्ठी का आह्वान किया था। उस अवसर पर आप ने सब को सम्बोधित करते हुए यही कहा, "हम सब अपनी माताओं की गोदियों में अपना जीवन बिताते हैं। हमारा जो बीता, सो बीता, लेकिन हमारी भावी संतति का जीवन तो कम से कम शिक्षिता माताओं की गोदियों में बीते। भविष्य तो सुरक्षित माता के हाथ में ही है।" और फिर आप अपनी सासू जी नारायणी बाई का उदाहरण दिया करते। कहते कि आज हमारे समाज में ऐसी कितनी दुस्साहसी स्त्रियाँ हैं, जो अकेले हाथों अपना भविष्य दृढ़भाव से बना सकें। फिर कहते कि नारायणी बाई यदि और भी शिक्षिता होतीं, तो हमें सब को अपने पैरों पर खड़े होने में जो १० वर्ष का समय लगा, वह और कम हो सकता था।

श्री नागरमल जी बाजोरिया सूरजमल जी के सभी सार्वजनिक कार्यों में एक सहयात्री के रूप में सहयोग देते थे। वे हर परामर्श में, जब सूरजमल जी उनसे विचार करते हुए राय मिलाया करते, अपनी बात सोच-विचार कर कहा करते थे। दस वर्ष बीतने भी न पाए थे कि एक दिन बाजोरिया जी ने सूरजमल जी से कहा कि सीमित स्थान में कन्याओं को अब पढ़ने में बहुत कष्ट होता है, इसलिए इस का नया भवन बनवा देना ही उचित होगा। सूरजमल जी स्वयं यही चाहते थे। आप ने इस विचार को स्तुत्य मान कर भवन बनाने की बात आगे चलाई। बाजोरिया जी ने इस बार अपनी ओर से भवन बनवा कर विद्यालय को देने का संकल्प कर लिया था, वही बात आगे रख दी। सूरजमल जी का हृदय गद्‌गद् हो गया। आपने साधुवाद दिया कि भविष्य में भी तुम्हारे अन्दर इसी तरह की लोक-कल्याण भावना प्रबल होती रहे। शीघ्र ही नागरमल जी ने भव्य भवन बना कर उसे हनुमान बालिका विद्यालय को समर्पित कर दिया। नये भवन में आसीन होकर, विद्यालय की छात्राओं में एक नया उत्साह आ गया। अब स्थिति यह हो गई कि एक सुरक्षित और विस्तृत प्रांगण को देखते हुए नये परिवारों की कन्याओं ने भी विद्यालय की ओर मुख करना शुरू कर दिया।

श्री सूरजमल जालान ने बीकानेर राज्य में विद्या-दान के प्रथम प्रदाता होने का गौरव पाया था। अब इसी राज्य के इतिहास में उनका नाम कन्या-शिक्षा के अभियान का श्रीगणेश करनेवालों में अमर भाव से लिख दिया गया। जो पौधा प्रारंभ में बहुत छोटा सा लगता था और डर रहता था कि कहीं काल के कराल आघातों अथवा बवंडरों में वह धराशायी न हो जाये, वही आगे चल कर बड़े विशाल पैमाने पर विकसित होता गया।

इस विद्यालय का स्वतंत्र निजी भवन १९३४ में बन कर तैयार हुआ था। सन् १९४० में पाठ्यक्रम चतुर्थ कक्षा तक रहा। सन् १९४५ में प्रयाग की प्रवेशिका और विद्या-विनोदिनी परीक्षाओं का केन्द्र भी यहाँ स्थापित हो गया। विगत १९ वर्षों में क्रमिक प्रगति करते हुए यह विद्यालय अब हाईस्कूल हो गया है। इस समय इसमें लगभग ५५० कन्याएँ शिक्षा पाती हैं। राजपूत, वैश्य, सिख, मुसलमान, ईसाई सभी वर्ग और जातियों की कन्याएँ यहाँ प्रीति-भाव से प्रवेश पाती हैं। जाट जाति के लड़के तो खूब पढ़ते हैं, किन्तु उनकी कन्याएँ अभी शिक्षा के प्रति काफी उदासीन हैं। वैश्यों में दहेज प्रथा से अधिक अब शिक्षित कन्या का प्रश्न महत्व ग्रहण कर रहा है, इसलिए वैश्यों की कन्याएँ ही अनुपात में सर्वाधिक आती हैं। सूरजमल जी ने जिस ज्योति का प्रकाश अपने सबल हाथों से प्रकाशित किया था, वह आज पूर्णतया प्रखर भाव से समग्र समाज को आनंदित कर रहा है। यही कारण है कि आज रतनगढ़ के घर-घर में शिक्षित कन्या का सुहास विद्यमान है!

उपदेश-भवन का अनुकरणीय आयोजन

कस्यापि कोऽप्यतिशयोऽस्ति स तेन लोके
ख्याति प्रयाति न हि सर्वविदस्तु सर्वे ।
किं केतकी फलति किं पनसः सुपुष्पः
किं नाग वल्लयपि च पुष्प फलैरुपेता ।।

—किसी की विशेषता, यह आवश्यक नहीं है कि लोकजगत में प्रचलित विशेषताओं के अनुरूप ही हो। विशेषताओं का कोई स्थिर मानदंड नहीं है। यह तो लोक-रुचि पर निर्भर करता है कि वह किन विशेषताओं को शिरोधार्य कर ले। यह ठीक है कि कोई भी सर्वज्ञ अथवा सर्वगुण-संपन्न नहीं होता। प्रश्न है कि क्या केवड़े जैसे सर्वोपरि गंधवान वृक्ष पर फल लगता है? क्या कटहल जैसे अत्यंत स्वादु फल के पेड़ पर फूल आते हैं? क्या पान की बेल पर फूल और फल दोनों उपजते हैं? फिर भी ये तीनों वस्तुएँ अपने-अपने क्षेत्र में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं।

●

[३२]

हनुमान जी जिनके इष्ट हों और जो अपने समस्त कृतित्व उन्हीं के नाम से कीर्तिवान बना रहे हों, उनके आयोजनों में उपदेश-भवन की व्यवस्था एक निश्चित कार्यक्रम की तालिका के अन्तर्गत अपना एक विशेष अर्थ रखती है। समस्त देश में जो गीता-भवन बनने लगे हैं, ये इधर सन् १९३० के बाद के निर्माण हैं। उपदेश-भवन यद्यपि मौलिक कल्पना न थी, प्राचीन भारत के नागरिक-जीवन की ही एक अवश्यंभावी सार्वजनिक स्थली थी, फिर भी रतनगढ़ में उसकी रचना जिस तरह की गयी, उस पर प्रकाश डालने में हमारा सहज उत्साह है।

रतनगढ़ एक गाँव, निरा गाँव न था और वहाँ पर गंवई गाँव की ग्रामीणता ही साँस न लिया करती थी। वहाँ पर निवास करनेवाले सभी वैश्य-परिवारों ने अपनी कुछ महत् परम्परा-आधारित रीति-नीतियों का प्रतिपादन किया था। अन्य गाँवों में प्रचलित रूढ़ियों से वहाँ का जीवन अत्यंत प्रतिगामी होने लगा था, उनका रतनगढ़ में समाहार कर दिया जाये, इसके लिए विशेष सतर्कता बरती गयी थी। सन् १८८० के आसपास प्रकाशित गजेटियरों ने भी यहाँ के जनजीवन की पहली विशेषता यही सिद्ध की है कि यहाँ पर सर्वाधिक मंदिर थे। रतनगढ़ यद्यपि मंदिरों का नाथद्वारा न था, लेकिन मंदिर-बहुल कस्बा होने के कारण धर्मप्रजा से सुविधान अवश्य बना हुआ था। धर्मशाला, कुएँ, मंदिर और विद्यालय जब स्थापित हो गये, तब एक सार्वजनिक उपदेश-भवन की स्थापना का विशेष अर्थ था।

सूरजमल जी का चिंतन सार्वजनिक हित में एक विशेष मौलिकता को लेकर चल रहा था। वे बहुत सूक्ष्म भाव से अपने आसपास कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली आदि नगरों में क्या नई योजनायें चल रही हैं, उन पर विशेष दृष्टि रखते थे और उनके महत्व से जनता का कितना हित होनेवाला है, उस पर स्वयं चिंतन करते थे और दूसरों से भी विचार-विमर्श करते थे। हिन्दू-आदर्श के उज्ज्वल भाव का तिरोधान बराबर ही गुलाम भारत में हो रहा है, लेकिन व्यक्तिगत रूप से हम जब इस योग्य हैं, इस दिशा में समर्थ हैं, तो आत्म-कल्याण के लिए और अपने नगर के सामूहिक कल्याण के लिए अवश्य प्रयत्नशील रहना चाहिए। सूरजमल जी का बराबर यही कथन रहता था कि यदि मैं केवल एक नगर रतनगढ़ को ही सर्व-दृष्टि से आधुनिक बना सकूँ, तो मेरा जीवन धन्य हो जाये। फिर उसी साँस में कहा करते थे कि 'आधुनिक' से मेरा आशय यह नहीं कि वह कलकत्ता की होड़ लेने लगे। कलकत्ता तो (और उस समय तक वे बम्बई भी हो आये थे) वैसी नगरी है, जो हमारी गुलामी की ही हमें याद दिलाती है। हमें तो नगरों की रचना का विस्तार इस तरह करना चाहिए कि वह हमें हमारे सनातन भारत की याद दिलाये, हमारे ऋषि-महर्षियों द्वारा संगठित समाज-रचना की बातों का स्मरण कराये और रामायण-महाभारतकाल में जिस तरह तात्कालिक नगरियों का जीवन हर तरह से सुखमय रहता था, कुछ वैसी ही परिकल्पना को हम चरितार्थ कर सकें। सूरजमल जी इसी बात की विशेष व्याख्या करते हुए आगे कहते कि हमारा हर नगर जब भी कोई विदेशी देखे तो वह पहली ही दृष्टि में महसूस करे कि कलकत्ता और बम्बई और दिल्ली और मद्रास ही वास्तविक नगर भारत के नहीं हैं, वे तो विदेशी सत्ता द्वारा पुनर्गठित किये गये हैं, भारत की वास्तविक आत्मा तो यहाँ के अपने नगरों और आदर्श ग्रामों में निवास करती है। हमें आदर्श नगरों की रचना करनी चाहिए, जहाँ पर हमारा वास्तविक भारत निवास करता हुआ प्रतीत हो सके!

सूरजमल जी जब 'हम' शब्द का प्रयोग करते थे, तो उस में 'मैं' का अहं न रहता था, उस में सार्वजनिक अन्तर्गठन की विशिष्ट

प्रवृत्ति का समन्वय प्रधान रूप से रहता था। वे चाहते थे कि हम केवल अपने निवास-समूह को ग्रामीण वातावरण में ही न रखें, हर ग्राम को एक आदर्श पुरी अथवा बड़ा नगर इस तरह से बना दें कि वहाँ आगत अतिथि एक विशेष प्रेरणा ग्रहण करने के बाद, स्वस्थ भाव से अपने स्थानों को वापस लौटें। वे आधुनिकता के हामी थे, लेकिन उसी सीमा तक कि वह हमारे अध्यात्म भाव का संक्रमण न कर दे। वे बराबर देख रहे थे कि भारत की राजनीति में भी जो भारतीय सामने आये, उनमें तिलक, मालवीय, गोखले और अब गांधी—ये सभी धर्म-प्राण निष्ठा को ही संभूत करते हुए आगे बढ़े। स्वामी दयानन्द ने भी इसी निष्ठा को, एक विशेष संप्रदाय का रंग देते हुए, प्रचारित करने में शहादत पाई थी। धर्म ही भारत की श्वास का अछूता रंग है। जहाँ श्वास में इस की गंध नहीं है, वहाँ ही तो भारत का नवयुवक पथभ्रष्ट आचरणों से संक्रामक होने लगता है। अंग्रेज ऐसे ही नवयुवकों के बल पर तो अपना शासन चला रहे हैं। हमें अपने इसी धर्म पर दृढ़ रहना चाहिए, इसके आत्म-गौरव को किसी तरह क्षुण्ण न होने देना चाहिए। धर्म की मर्यादा हमारे दैनंदिन जीवन में एक स्वर्णरेखा की तरह प्रतिदर्शित होनी चाहिए।

रतनगढ़ में विशेष रूप से जीवन की कोई सरसता न थी। प्राय: पुरुष वर्ग धनोपार्जन के निमित्त विदेशों में चले जाते थे, वहाँ बालक-वर्ग और महिला-वर्ग ही निवास करते थे। अब यद्यपि रघुनाथ विद्यालय स्थापित हो चुका था, लेकिन विद्यालय के उपरान्त उनके निमित्त ऐसा संस्कार-मंदिर न था, जहाँ पर वे सरस प्रवचन आदि सुनते हुए भावी जीवन की निगूढ़ व्यावहारिकता का उपदेश पा सकें। स्त्रियों का जीवन, प्राय: जब वे रतनगढ़ आते और देखते, पारस्परिक क्लेशों में और व्यर्थ की ईर्ष्या-मत्सर की बातों में बीत जाता था। चर्खा अवश्य सब कातती थीं, लेकिन वह तो श्रम था; चक्की सब पीसती थीं, वह भी श्रम था; कुएँ से सब पानी भरती थीं, वह भी श्रम था; लेकिन दिन भर में एक बार अमृत वचनों का पीयूष-पान यदि वे कर सकें, तो उनका सारा श्रम सरस भावनाओं से ओतप्रोत हो जाये, वे स्वस्थ भावनाओं से ज्ञानवान बनें, सरस भाव-ऊर्मियों से शीलवती बनें और अपनी संतान का उत्तम पोषण कर सकने में उत्साहित होने लगें।

सूरजमल जी स्वयं उपदेश कभी न करते थे, लेकिन उपदेश ग्रहण करने में उनको विशेष आनंद मिलता था। कहा करते थे कि उपदेश (और इस शब्द का उच्चारण इस तरह करते थे कि मानो वे किसी तरह का विनोद कर रहे हों और यह कहते हुए हल्के से मुस्करा दिया करते थे!) से हर व्यक्ति देश का एक लघु रूप बन जाता है। देश और उपदेश! हम उपदेश इस नाते भी लें कि जो अनुभूति दूसरों ने ग्रहण कर ली है, वह हमारे पास भी सहज भाव से आ जाये। धन का दान दिया जाता है, वचनामृत का दान तो उपदेश लेने से ही सिद्ध होता है। और, वचन-दान तो दिन भर, जितना भी ग्रहण हो सके, गंभीर भाव से लेना चाहिए।

इसलिए हम समझ सकते हैं कि सूरजमल जी केवल धर्म-उत्साहित होकर ही दान न कर रहे थे अथवा एक आकस्मिक प्रेरणा को चरितार्थ करने के लिए ही कुछ निर्माण न करवा रहे थे, वे एक विशेष शैली से पूरे नगर का निर्माण, अपनी यथाशक्ति, करवाने का मान-चित्र तैयार कर चुके थे। रतनगढ़ उनके स्वप्नों की तपोस्थली बन जाये, बस यही उनको अभीष्ट था।

इसलिए हनुमान पुस्तकालय और हनुमान बालिका विद्यालय स्थापित करने के बाद, आपने हनुमान उपदेश-भवन भी स्थापित करने का शुभ मुहूर्त निकलवा लिया। श्री हनुमान पुस्तकालय के नीचे के हाल में उन्हों ने इस उपदेश-योजना का स्थान अवस्थित कर दिया। यहाँ पर यह व्यवस्था की गयी कि श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, श्रीमन्महाभारत, देवीभागवत, हरिवंशपुराण, मार्कण्डेय पुराण इत्यादि धर्म-ग्रंथों के पारायण होते रहें और इनका पाठ इस सरल रूप में किया जाये कि वह सर्वसाधारण, विशेष रूप से स्त्रियों और बालकों को बोधगम्य हो सके, उन्हें नया प्रकाश दे सके और उनके सहज अर्थ से सब सरल रीति से परिचित हो जायें। समय-समय पर रतनगढ़ में आगन्तुक विद्वानों के भाषण भी इसी स्थान पर होते रहें। सूरजमल जी के हर्ष का ठिकाना न था, जब कि उन्हों ने देखा कि उन की इस योजना में सहयोग देने के लिए सैकड़ों व्यक्ति आने लगे हैं। स्त्रियों की संख्या जब बढ़ने लगी, तो उनके योजना-प्रारूप को मानो एक विशेष बल मिलने लगा।

इस उपदेश भवन का समय इस तरह का रखा गया, कि वह सब को स्वीकार हो सके। दिन में २ बजे से लेकर ४ बजे तक प्राय: सभी गृहस्थ जन अवकाश में रहते हैं। विश्राम का समय रहता है। इस विश्राम में श्रम की विश्रान्ति हाथ लगे, यही उनकी चाहना थी। सबने महसूस किया कि यह विश्रान्ति विशेष रूप से सरसता लिये ही हो जाती है। रात्रि में १ घंटा हरिकीर्तन और गीतापाठ हो जाये, यह व्यवस्था कर दी गई।

उपदेश-भवन में पं० हरिध्यान जी, पं० रामेश्वर जी जोशी, पं० जीतमल जी जोशी, पं० वामदेव जी मिश्र, पं० महादेव जी मिश्र, पं० उमादत्त जी माठोलिया, पं० फूलचन्द जी भातरा, पं० सेरजी पारीक, पं० मालीराम जी महर्षि, पं० तिलोकचन्द जी और पं० खेमचन्द जी आदि विद्वान कथावाचकों और पारायण-कर्ताओं का लाभ रतनगढ़वासियों को मिलता रहा है। रतनगढ़ में इस उपदेश-भवन ने नगर को एक नया प्राण-स्पंदन दिया है। पहले केवल मंदिरों की घंट-ध्वनि ही सब को स्पंदित किया करती थी और भक्तिभाव से लोग अपने-अपने मंदिरों में देव-दर्शन को जाया करते थे, अब सार्वजनिक रूप से वे देव-वाणी को संग-साथ बैठकर ग्रहण करने लगे।

आरोग्य-भवन की अभिनव परिकल्पना

अंगणवेदी वसुधा कुल्या, जलधिः स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ।।

—अपनी प्रतिज्ञा को पालन में दृढ़ वीर पुरुष के लिए पृथ्वी आंगन की वेदी के समान, समुद्र एक नाली के समान, पाताल समतल भूमि के समान, और सुमेरु पर्वत बांबी के समान हो जाता है। आशय यह है कि संकल्प-पूर्ति जिन क्षणों में होने लगती है, तब अत्यंत सरलता के समक्ष समग्र काठिन्य-भाव नत्मस्तक हो जाता है!

[३३]

पितामह भारत जब हर दृष्टि से स्वाधीन था, अपने ही शासन से विश्व में विख्यात था, तब यहाँ के नागरिक शतायु हुआ करते थे। पराक्रमी और बली रहते थे। उनका खान-पान मांस-मदिरा न होकर, अन्न-शाक और फल और दूध से ही महिमामंडित रहता था। लेकिन देश जब दास हो गया, अन्नाभाव और अकाल ने हमारी जीवनावधि को दीन बना दिया, घर-घर में रोगों का बसेरा रहने लगा। प्रौढ़ावस्था तक पहुँचते-पहुँचते कालकवलित होने की स्थिति दुष्कर बनने लगी।

कलकत्ता में जीवन बसर करते हुए प्रायः सभी राजस्थानी प्रवासी भाई वर्ष में एक-दो मास के लिए राजस्थान की दिशा अवश्य जाते थे और अपने पैतृक स्थानों पर पहुँचकर शांत भाव से अपने बिगड़े हुए स्वास्थ्य का सुधार करने में लग जाते थे। राजस्थान में शुद्ध घी मिलता था, शुद्ध दूध मिलता था और यहाँ की आबहवा शुष्क रहने से बंगाल की आर्द्रता-जनित रोगों का शमन स्वयमेव हो जाया करता था।

लेकिन क्रमशः बंगाल के पास ही ऐसे स्थान की खोज कर ली गयी, जहाँ पर कुछ दिन के लिए जा कर मानसिक शांति ही न मिले, चिंतनीय स्वास्थ्य को भी राहत मिले। ऐसा स्थान देवघर था और प्रायः कलकत्तावासी वहाँ छुट्टी के दिन जाना अथवा सप्ताह भर के लिए रहना पसंद करने लगे थे। सन् १९१३ में इसी अस्थायी प्रवास की बढ़ती हुई माँग को देखते हुए कलकत्ता के समाज ने सम्मिलित भाव से जसीडीह में (जो देवघर से केवल चार मील दूर है और इसी नाम के रेलवे स्टेशन के समीप है) एक मारवाड़ी आरोग्य-भवन की स्थापना कर दी थी। इस भवन में केवल वे परिवार अथवा व्यक्ति ही ठहर सकते थे, जो अपने स्वास्थ्य की शुद्धि के लिए यहाँ आये हुए हों।

सूरजमल जी प्रायः देवघर जाते थे। जिन क्षणों में मोहनलाल जी की माता जी बहुत रुग्ण हो गई थीं, तो उन्हें भी देवघर ले जाया गया था। किन्तु बाद में वैद्यों की राय से यही उचित समझा गया था कि उन्हें रतनगढ़ में ही रखा जाये। अल्पकालिक रोग से व्यथित रहने के बाद उनका दुखद निधन हो गया।

रमाबाई का जब निधन हो गया, तो उनकी माता नारायणी बाई ने बहुत शोक मनाया। लेकिन वे तो प्रबुद्ध महिला थीं। उन्हें स्मरण आया कि उनकी बड़ी कन्या लक्ष्मीबाई भी इसी तरह रुग्ण होकर गयीं। यदि वे किसी तरह एक उत्तम आरोग्य-भवन में रह पातीं, तो अवश्य उनका शरीर रक्षित हो सकता था। रमा बाई के लिए देवघर में विशेष रूप से आरोग्यप्रद वातावरण तैयार कर दिया गया था, जब वे रतनगढ़ में आईं तब भी उनके निमित्त सभी तरह की विशेष योजनायें नियोजित कर दी गई थीं, किन्तु विधि के विधान को कौन रोक सका है, यही मान कर उनके वियोग से सब ने संतोष कर लिया था। यद्यपि वह संतोष कभी-कभी अवश्य असह्य हो जाया करता था।

जिन दिनों रमाबाई अपनी अन्तिम अवस्था भोग रही थीं, उस समय यह प्रश्न आया था कि गांव से बाहर किसी अच्छे स्थान में उन्हें रखा जाए। लेकिन जब तक कि वह व्यवस्था हो, उनका शरीरान्त हो चुका था। स्वयं रमाबाई ने यह इच्छा प्रकट की थी कि क्यों न एक ऐसा भवन रतनगढ़-की सीमा पर चिनवा दिया जाए, जो सभी बीमार परिवारों के काम में आता रहे। उन्होंने यह इच्छा अपनी माता जी से प्रकट की थी। जब उनका निधन हो गया, तो नारायणी बाई के पास जब सूरजमल जी बैठे हुए थे तो उन्हों ने यह आग्रह किया कि लक्ष्मी गई, रमा गई, पर अपने तो बहुत सी लक्ष्मी और रमा सारे रतनगढ़ में हैं, दूर-पास के गांवों में है। उनकी रक्षा करनी चाहिए। एक ऐसा आरोग्य-भवन बनवा दो, जहाँ पर रोगी परिवार एकान्त सेवन कर लें और इस तरह उनका जीवन बीत सके कि वे अपने को नगर से दूर भी महसूस न कर सकें। सूरजमल जी ने यह आज्ञा शिरोधार्य कर ली। रमा देवी जी के अभाव की स्मृति का नया पुष्प यदि इस नवनिर्माण से पुनः विहंसता हुआ समाज को आनंदित कर सके, तो इस में धन्य होने की ही बात

है। वंशीधर जी और नागरमल जी ने भी इस तरह के निर्माण पर जोर दिया।

सन् १९२४ में इस आरोग्य-भवन का शिलान्यास कर दिया गया। शीघ्र ही यह बन कर तैयार हो गया। यहाँ पर इस तरह की सभी सुविधायें आयोजित कर दी गई, ताकि कोई भी सद्गृहस्थ आकर ठहरे तो उसे प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी तरह का अतिरिक्त कष्ट न उठाना पड़े अथवा अतिरिक्त भागादौड़ी के लिए दुखी न होना पड़े।

यह स्थान एकान्त, चारों तरफ से खुला हुआ तथा ऊँची जगह पर बना हुआ है। सामने विशाल हनुमान पार्क है। यह दो भागों में बंटा हुआ है। बिजली, पानी और साधारण सामान से हर वक्त सुव्यवस्थित रहता है। जो लोग यहाँ आकर लाभ उठाना चाहें, उन्हें एक मास पूर्व ही सूचना देनी पड़ती है कि जिससे उन्हें उचित अवधि में यहाँ रहने के लिए किसी प्रकार की असुविधा का सामना न करना पड़े अथवा उस अवधि में वे किसी अन्य की एकान्तिक शान्ति में विघ्न न बन सकें। यदि स्थान रुका हुआ है, तो इस विषय में विचार-विमर्ष के लिए भी समय रह सके। अवश्य ही यह ध्यान रखा जाता है कि छूतके रोगियों से यहाँ रहने के लिए क्षमा मांग ली जाती है। यह स्थान एकमात्र आरोग्य-सेवन और स्वास्थ्य-लाभ के लिए ही रखा गया है।

विदेशों में ऐसे आरोग्य-सदन हैल्थ-रिसॉर्ट कहलाते हैं। उनके निर्माण पर वहाँ के धनिवर्ग तथा स्थानीय नगर-शासन बहुत अधिक व्यय करते हैं। लेकिन दुख का विषय है कि हमारे देश में आरोग्य-भवनों की परिपाटी लगभग नष्ट हो चुकी है। इनके अभाव में प्रायः सभी परिवार दुखी रहते हैं। देवघर अथवा रांची तो बंगाल में एक वरदान बन गये हैं। दक्षिण भारत में पंचमढ़ी आदि स्थान भी हैं। पंजाब में डलहौजी है। लेकिन ऐसे गिनेचुने स्थानों से कितनों का लाभ हो सकता है। आरोग्य-भवन तो हर उस स्थान पर रहना चाहिए, जहाँ पर पहुँच कर मनुष्यमात्र को लाभ हो सके। सूरजमल जी को यह गर्व था कि रतनगढ़ राजस्थान में एक उत्तम आरोग्यप्रद स्थान है। यदि इस दृष्टि से, अर्थात् आरोग्य की तलाश में भटकनेवाले रोगियों की वह आतिथ्य-भाव से सेवा कर सके, तो इस में कितना पुण्य न है। वे हर संभव उपायों से रतनगढ़ को एक सर्वप्रसिद्ध स्थान हुआ देखा चाहते थे और उस नाते अपना सर्वस्व अर्पित करने के लिए तैयार रहते थे। जब रतनगढ़ में आरोग्य-भवन भी स्थापित कर दिया गया, तो आसपास की जनता ने यह कहना शुरू कर दिया कि अब रतनगढ़ सचमुच एक अतिथि-नगर हो गया है! ऐसा अतिथि-नगर, जहाँ पर उत्तम पर्यटन के अतिरिक्त स्वास्थ्य का आतिथ्य भी मिल सकता है! लाडू-पूरी-भुजिया-पूड़ी के देश में आरोग्य का आतिथ्य सचमुच एक अभिनव परिकल्पना थी, उसका अनिर्वचनीय आनंद सूरजमल जी उठाते हुए मानो दीर्घ आयु ग्रहण कर रहे थे।

व्यायामशाला

आरोग्य-भवन की स्थापना करने के बाद, रतनगढ़ नगर के आधुनिकीकरण की दृष्टि से, सूरजमल जी ने एक व्यायामशाला स्थापित की जाए, इस ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। रोग के बाद आरोग्य का ध्यान रखा जाये, यह तो ठीक है, लेकिन स्वस्थ शरीर रहे तो रोग की संभावनाएँ स्वयमेव दूर रहती हैं। वे रतनगढ़ के नवयुवकों को स्वस्थ और हृष्टपुष्ट देखना चाहते थे।

आखिर १० वर्ष बाद, सन् १९३४ में इसका प्रारंभ कर दिया गया। नागरमल जी बाजोरिया तो इस व्यायामशाला के प्रति बहुत अधिक उत्साहित रहे और उन्होंने, जब तक कि कोई दूसरा उत्तम स्थान सुलभ न हो जाये, अपना नोहरा ही इस काम के लिए प्रदान कर दिया। यह स्थान काफी विस्तृत और रमणीक है। इस जगह व्यायामशाला के लाभार्थ ट्यूबवेल भी था। बगीची के रूपमें भी जनता इस कुएँ का सदुपयोग प्रातः और सायंकाल किया करती थी।

व्यायामशाला एक प्रकार की पाठशाला है और इसी रूप में हमारे यहाँ इसका विधान प्राचीन भारत में रहा है। एक गुरु होता है और वही प्राचीन रीति-नीति से व्यायाम आदि की शिक्षा अपने छात्रों को देता है। यद्यपि इस समय तक भारत में पश्चिमी ढंग के व्यायाम भी प्रचलित और लोकप्रिय हो चले थे, लेनिक दंड-बैठक और कसरत सिखाने के लिए सूरजमल जी ने एक अध्यापक की नियुक्ति कर दी। उसका फल यह हुआ कि जब व्यायाम-शाला का, इसका नाम भी श्री हनुमान व्यायामशाला रखा गया था, प्रथम वार्षिक अधिवेशन मनाया गया, तो स्वयं सूरजमल जी उप-स्थित हुए और अपने हाथ से प्रदर्शनकर्त्ताओं को व्यायामोपयोगी वस्तुएँ पुरस्कार में भेंट दीं। लगभग १०० सदस्य इस अवसर पर उपस्थित थे; वे इससे स्वास्थ्य-गठन का लाभ उठा रहे थे। इसमें लाठी, बनेठी, चक्कर, कुश्ती, मुदगर, दंड-बैठक, जप,जिम्ना-स्टिक, सिंगल बार, डबल बार, चेष्ट-एक्सपेंड, तथा अन्य आधुनिक व्यायामों की व्यवस्था कर दी गयी थी, ताकि सभी रुचिके नवयुवक अपनी रुचि के अनुसार व्यायाम करने का अभ्यास करते रहें।

इस संस्था के पहले यहाँ कोई सार्वजनिक व्यायाम-अखाड़ा नहीं था। इसमें कुछ ही समय में अच्छे पहलवान भी तैयार होने लगे, जिन्होंने अपने अंचल में काफी नाम कमाया। तिमाही, छमाही और वार्षिक अधिवेशनों में कुश्ती के दांवपेंच जनता को दिखाये जाने लगे, ताकि इस प्राचीन विद्या को भारतीय जनता के सामने पुनः प्रचारित करने में सहायता मिले।

इसी व्यायामशाला में शिक्षित नवयुवकों ने अपनी वालीबाल की टीम भी गठित कर ली। इसका अभ्यास इतना प्रेरणास्पद रहा कि इस टीम ने शनैः-शनैः अन्य शहरों में जाकर अपनी धाक जमा ली। बीकानेर राज्य टूर्नामेंट, राजपूताना प्रान्तीय वालीबाल टूर्नामेंट आदि मैचों में इस टीम ने काफी यश कमाया।

अन्नपूर्णा, गोतमेश्वर (प्रतापगढ़ से १० मील दूर, लगभग १४ वीं सदी, मूर्ति खंडित नहीं है।]

भवदुखहारिणी अन्नदायिनी भगवती प्रसन्न रहें।

रक्तां विचित्रवसनां नवचन्द्रचूड़ा,
मन्नप्रदाननिरतां स्तनभारनम्राम्।
नृत्यन्तमिन्दुसकलाभरणं विलोक्य
हृष्टां भजे भगवतीं भवदुःखहन्त्रीम्॥

जो देवी रक्तवर्ण हैं, विचित्र वसन धारण किये हुए हैं। उनके ललाट में अर्द्धचन्द्र सुशोभित है, वे सदा अन्न वितरण किया करती हैं। उनका शरीर स्तनभार से झुक गया है। वह नृत्यपरायण एवं चन्द्रशेखर (चन्द्रखंड-भूषित) महादेव को देखकर प्रसन्न हुईं। उन्हीं भवदुखहारिणी भगवती का मैं भजन करता हूँ।

(हि० वि० को०, प्रथम भाग, पृष्ठ ५९७)

आप दुर्गा के मृदु रूप हैं। धन-धान्य से पूर्ण कर देनेवाली दानशीला देवी हैं। इनका भांडार अक्षय है। पुराणों में इनका माहात्म्य खूब वर्णित हुआ है। लगभग १५०० वर्ष पूर्व, शंकराचार्य से भी पहले, काशी में इनकी मूर्त्ति स्थापित की गयी थी। केवल काशी में ही नहीं, बंगाल और राजस्थान में तथा सम्पूर्ण भारत में इनकी पूजा मान्य है, किन्तु मूर्त्तियों का स्थान विरल स्थानों पर ही है। कथा यह है कि शिवजी को एक बार कहीं भी भिक्षा न मिली। बिना भिक्षा के घर में गृहिणी से वाक्युद्ध न हो जाए, इसलिए वे लौट कर न आये और अन्य दिशाओं में भ्रमण करते रहे। तब महामाया अन्नपूर्णा का रूप धारण कर काशी में जा विराजीं। खाली हाथ शिव जी जब वहाँ पहुँचे तो उन्हें प्रचुर भिक्षा मिल गयी, लेकिन उन्हें ही भिक्षा न मिली, अकातर भाव से वे सकल संसार को अन्न का दान दे रही थीं। अब शिवजी ने ध्यान से देखा: वे पद्मासन पर विराजमान हैं, बायें हाथ में अन्न-व्यंजन का थाल है, दाहिने में चमचा है। ऐसी अन्नदा का दर्शन कर शिवजी मंत्रमुग्ध हो गये।

केवल भारत में ही नहीं, विदेशों की अन्य प्राचीन धर्म-कथाओं में भी अन्न-देवी विद्यमान हैं। रोमकी अन्न देवी का नाम अन्न-परेणा है, विचित्र सा नाम-साम्य है। इससे बड़ा साम्य यह है कि हमारे यहाँ अन्नपूर्णा का पूजन चैत्र शुक्लाष्टमी को होता है, रोम में भी उनकी देवी का पूजन चैत्र में होता था।

राजस्थान में प्रस्तुत देवी का रूप बड़ा भव्य है। यहां एक दुर्लभ मूर्त्ति प्रस्तुत है और सिद्ध करती है कि राजस्थान में अन्नपूर्णा की पूजा भी विस्तार से दुर्गा-पूजा के रूप में और उसीके समानान्तर हुआ करती थी। 'पाबू-प्रकाश' में लिखा है—

आठ सिद्ध नवनिद्ध रही मौ पिता रसोड़ें, भौ कमलायत माय जिका अनपूरण जोड़ें॥

राजस्थान में इनका एक नाम श्री वरवड़ी देवी भी है।
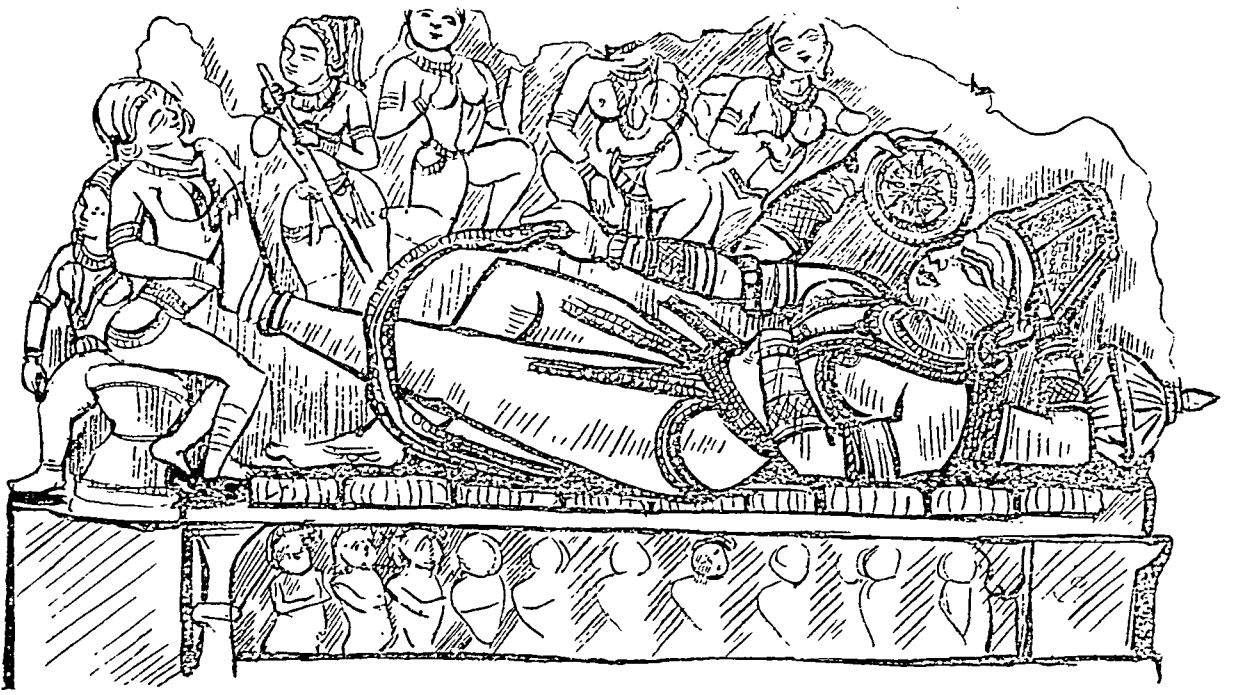
शेष - शैया - शायी विष्णु
सोमनाथ महादेव, डूंगरपुर,
११ वीं सदी, खंडित मूर्ति।

पंचम परिच्छेद

परिवार की समृद्धि और संतति की वृद्धि

नीलनीरजनिमे हिमगौरं शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः।
खेरराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गांगमिवाम्भः॥

—उदयाचल पर चढ़ते हुए इन्दु का उज्ज्वल किरण-समूह नीले आकाश में निर्मल सागर में प्रवेश करते हुए गंगाजल के समान फैलता शोभित हुआ!

—महाकवि भारवि।

[३४]

परिवार की तुलना उस मूल से दी गई है जो पर्वत पर जमी है, लेकिन जिस में सारे पर्वत की शक्ति की चुनौती स्वीकार करते हुए उसके वक्ष पर जम कर और तन कर खड़े होने की अविजेय दुर्दान्त कामना प्रबल हो चुकी है।

परिवार की तुलना नदी के बड़े तट पर खड़े हुए पुष्प-बोझिल वृक्षों से गिरे हुए सुगंधित पुष्पों से दी गई है, जो बहाव में बहते हुए भी दूर खड़े दर्शकों को शोभायमान लगते हैं और उन्हें सरस अनुभूतियों से भर देते हैं। समाज के बहाव में जिस परिवार की संतति पुष्प के समान शोभित हो जाये, तब उस परिवार की महत्ता में कौन-सी उल्लासपूर्ण अभिव्यञ्जना शेष रह जाती है? परिवार पीठिका नहीं है पिता के कृतित्व की, वह समाज की ऐसी रक्षित वाटिका है, जिसके फलने-फूलने से समाज का अस्तित्व भविष्य के उज्ज्वलतर प्रकाश की आशा को और भी विश्वास के साथ फलीभूत हुआ देख सकता है। परिवार उत्फुल्ल भाव है, समाज उस की वसंत ऋतु है और उसकी मलयानिल बयार है।

सूरजमल नागरमल फर्म कलकत्ता में एक आदर्श परिवार था। दो प्राण एक हृदय थे। वंशीधर जी, बैजनाथ जी और नागरमल जी ये तीनों लौकिक दृष्टि से तीन परिवार-जन थे, पर वास्तव में एक ही वटवृक्ष की तीन ऐसी जड़ें थीं, जिन्होंने पृथ्वी पर झुककर वट को वृहत्तर स्वरूप प्रदान कर दिया था। सूरजमल जी पितृस्थानीय थे, ये तीनों जन इसी पद के प्रतिभासित ज्योत्स्ना-मंडल बने हुए, अपने संयुक्त परिवार को नित्य नया और अभिनव अर्थ प्रदान करने की तपस्या कर रहे थे।

कलकत्ता में मारवाड़ी समाज ने अपने अनेक लोकख्यात परिवारों की ध्वजा फहराने का हर्ष-लाभ किया है। उत्तम परिवारों का जन्म बड़ी साधना के बाद होता है। उत्तम परिवारों से ही समाज की महत्ता में चार चांद लगते हैं। १७ वीं सदी के बाद से राजस्थान के प्रवासी वैश्यों ने कलकत्ता में केवल व्यापार ही नहीं किया, केवल धन-अर्जन ही नहीं किया, उत्तमोत्तम परिवारों का कृतित्व भी प्रस्तुत किया है। ठीक है कि सौ परिवारों के बाद एक परिवार इन्द्रधनुषी रंगों की झिलमिल आभा लेकर प्रस्तुत हुआ और कुछ वर्षों बाद दूसरी पीढ़ी में उसके ओजस्वी स्वर सुनने बन्द हो गये, लेकिन एक परिवार की कीर्ति तिरोहित होने के बाद दूसरे परिवार का सौभाग्य अपनी पूर्णिमा का प्रकाश फैलाने की पुण्य घड़ी लिये हुए उपस्थित होने में बहुत पिछड़ा हुआ नहीं रहा। विघ्न-बाधाओं और विडंबना-पूर्ण परिस्थितियों को उन्होंने किस तरह जित् किया, यह प्रश्न बहुत मुख्य नहीं है। सचाई का आनंद यही है कि शीर्ष परिवारों की बंदनवार कभी टूटी हुई या विशृंखलभाव से दीनता भरी नजर न आने पाई। बंगाल में मारवाड़ी समाज की स्थिति ऐसे ही मान ली जाये, जिस तरह कोई बड़ा युद्ध हो रहा हो और एक रक्षा-पंक्ति के गिरते ही, दूसरी रक्षा-पंक्ति के हुतात्मा वहाँ आकर आ खड़े हुए हों। इस अस्तित्व के सुरक्षात्मक संघर्ष में पूरे समाज की रक्षा ऊँचे परिवारों ने की है, यह कहना तो एक अतिरंजित विडंबना होगी, लेकिन यह कहना कम न्यायसंगत नहीं है कि पूरे समाज के अस्तित्व का गहन गंभीर अवलम्बन इन्हीं उत्तम परिवारों पर अनेक उपाय रहा है।

प्रायः सामाजिक समालोचक कहा करते है कि केवल शिरमौर परिवारों की ही चर्चा करने से पूरे समाज की वास्तविक मनःस्थिति का आद्योपान्त अवलोकन नहीं किया जा सकता; यह अनेक अंशों में ठीक है। लेकिन यह भी बहुत हद तक ठीक है कि समाज की सर्वतोमुखी समुन्नति का लेखाजोखा प्रस्तुत करने के क्षणों में एक मात्र सहारा इन्हीं उत्तम परिवारों के कृतित्व से ही सहेजा जा सकता है।

१८ वीं सदी के बाद से कलकत्ता में कितने उल्लेखनीय परिवार आये और उन्होंने इस महानगर में, जो कि सन् १९१२ तक भारत की राजधानी रहा, किस तरह अपनी-अपनी उद्दीपक शक्तियों का परिचय देते हुए समाज की सामूहिक शक्ति का संवर्द्धन किया है, उनकी संख्या गिनाना सरल काम नहीं है। वह आज तक किसी एक लेखक के बलबूते का काम संभव भी नहीं हो पाया है। मधु-छत्र अकेली एक मक्खी से नहीं बन सकता, सहस्रों ही मक्षिका-झुंड से वह अपूर्व क्रीड़ा-विलास बनने के बाद मधु का कोप बन पाता है, कुछ ऐसी ही गति समाज की भी रही है।

२० वीं सदी के प्रारंभ तक कुछ ऐसे परिवारों का अध्याय अपने अंतिम पृष्ठों में सिमट रहा था, जिनका सौभाग्य-सूर्य १९ वीं सदी के अंतिम वर्षों में बहुत प्रखर भाव से चमक चुका था। इनका स्थान कुछ नये परिवारों ने कितनी शीघ्रता से लिया, यह केवल इस उपमा से स्पष्ट किया जा सकता है कि जैसे तो किसी वेगवती नदी ने कुछ जर्जर-ध्वस्त तटों को प्रवाह में विलीन करते हुए, और दूसरे ऊँचे भूमिखण्डों से पराजय स्वीकार करते हुए, उन्हें ही अपना तट स्वीकार कर लिया हो !

बीसवीं सदी के दूसरे युग में सूरजमल नागरमल की चर्चा सामाजिक स्तर पर सुनाई पड़ने लगती है। नाम-योग्य परिवारों में उनकी गिनती होने लगती है। चंदा-चिट्ठा जब विचाराधीन होता, तो उनका नाम भी अग्रणी पंक्ति में स्मरणीय बनने लगता है। जिनका नाम दुंदुभि बना हुआ इस युगमें गुंजित है, उनके समक्ष सूरजमल जी मौन रहते हैं, लेकिन उनका निजी कृतित्व अब झाड़ियों में छिपे हुए निर्गन्ध पुष्प की तरह नहीं था, वह कटेली चम्पा के पुष्प की सी गंधवती मधुरता के साथ सबके सामने प्रिय होने लगता है। सबसे बड़ी बात यह थी कि परिवारों में जो संतति जन्म ले रही थी, वह काफी विस्तार के साथ इस वंश को इस तरह संश्लिप्ट करती है कि वंशकी भावशीलता एक-एक पुत्र के रूपमें एक-एक भ्रमर की सी गुंजन लिये गूंजने लगती है ......

सन् १९०५ में मोहनलाल[1] का जन्म होता है। सूरजमल जी इस पुत्ररत्न के होते ही उत्तम सौभाग्य के पिता बन जाते हैं। वंशीधर जी के ज्येष्ठ पुत्र बाबूलाल[2] सन् १९०७ में जन्म लेते हैं। १९१२ में शिवभगवान[3] का जन्म हुआ। सन् १९१४ में फूल बाई[4] हुई। इसके बाद केशरदेव जी[5] हुए। सन् १९१७ में देवकीनंदन[6] हुए। १९१९ में नंदकिशोर (संवत् १९७७) माघ वदी दशमी को हुए। १९२२ में किशोरी लाल (संवत् १९७९) आश्विन सुदी अष्टमी को हुए। सन् १९२४ (संवत् १९८१) में कौशल्या बाई आषाढ़ वदी चौथ को हुई। इस तरह वंशीधर जी के छः पुत्र और दो कन्याएँ हुईं।

बैजनाथ जी पांच सुपुत्रियों के बड़भागी पिता हुए। आपने बड़े भाई वंशीधर जी के पुत्र देवकीनंदन जी को दत्तक लिया।

नागरमल जी वाजोरिया भी संतान की दृष्टि से परागपूरित मकरंद हुए। सन् १९१४ में चिरंजीलाल का २२ अप्रैल को रतनगढ़ में जन्म हुआ। सन् १९१६ में भवानी बाई और सन् १९१८ में गंगा बाई हुई। सन् १९२३ में नंदलाल हुए। सन् १९२७ में श्यामलाल जी का जन्म हुआ। सन् १९२८ में भगवती प्रसाद हुए। सन् १९३३ में वनवारीलाल का जन्म हुआ। इस प्रकार नागरमल जी ५ पुत्रों और २ पुत्रियों के प्रणम्य पिता हुए।

---

१ संवत् १९६१, चैत्र वदी ४। २ संवत् १९६४, माघ सुदी तेरस, शनिवार। ३ संवत् १९६९ सावन वदी ३। ४ संवत् १९७१ सावन वदी अष्टमी। ५ संवत् १९७३, पौष वदी १५। ६ संवत् १९७५, आश्विन सुदी चौदस।

सूरजमल जी इस संततिवृद्धि को प्रिय भाव से देखते थे। हर प्रसव का वे स्वागत करते थे। पुत्र हुआ तो कहते कि अपने सूरजमुखी का फूल खिल गया है, कन्या जन्म ग्रहण करती तो कहते कि लक्ष्मी का दर्शन हुआ है। पहले तो इस निगूढ़ दार्शनिकता को लोग न समझ पाये, लेकिन जब बार-बार यही एक बात वे दुहराने लगे, तो उनसे पूछा गया कि हर बार आप यही बात दुहरा कर कहते हैं, इस का अर्थ क्या है? सूरजमल जी कहते कि वैश्य के घर में पुत्र जब हुआ, तो वह सूरजमुखी से कम नहीं होता। उसका सूर्यदेवता धन है, जहाँ भी धनका झरना बहता होगा, वह उधर ही जाकर अपनी जड़ें पकड़ेगा। उधर ही मुख कर पुष्पित होगा। खिलेगा। कन्या लक्ष्मी का अवतार बन कर जन्मती है। कन्या अपने सौभाग्य का धन अपने साथ लेकर आती है। हमारे घर में जो भी लक्ष्मी है, वह हमारे घर में तीनों बहुओं के सौभाग्य की लक्ष्मी है! तीनों बहुओं से उनका आशय वंशीधर जी, वैद्यनाथ जी और नागरमल जी की बहुओं से था। व्यवहार में चाहे वे समय-समय पर कड़े भी हो जाते थे, लेकिन संतप्त होना उनके स्वभाव में न था। वे अपने भरे-पूरे परिवार के गर्व से हर्षित रहा करते थे।

सूरजमल जी ने अपने परिवार के सभी पुत्रों को उत्तम शिक्षा देने का बहुत ध्यान रखा। मोहनलाल की शिक्षा वे बहुत सतर्कभाव से कराते रहे। कुछ समय उन्हें विशुद्धानन्द विद्यालय में भी भेजा। घर पर उत्तम अध्यापक उनके लिए नियुक्त किये गये। इसी प्रकार अन्य बच्चों की शिक्षा में किसी तरह की शिथिलता उन्हें प्रिय न थी।

भगवती प्रसाद जी खेतान ने इस विषय का एक बड़ा ही मार्मिक प्रसंग सुनाया। आपने अपने संस्मरणों की एक शृंखला प्रस्तुत करते हुए कहा, "जिन दिनों हम विशुद्धानन्द विद्यालय में पढ़ते थे, तो छुट्टियों में प्रायः हम मित्रों की टोली घूमने के लिए पुरी, देवघर, रांची आदि जाया करती थी। लेकिन अधिकतर हम देवघर जाना पसन्द करते थे। उस समय तक हम ने सूरजमल जी का नाम न सुना था। जब कि एक बार इसी तरह हम देवघर में ठहरे हुए थे, तो अपने ही समाज के एक सज्जन घूमते हुए वहाँ चले आये, जहाँ कि हम ठहरा करते थे। उन्होंने आकर हम सब की कुशल-क्षेम पूछी और जानना चाहा कि यहाँ रहते हुए हमें क्या असुविधा है। हमने जब अपनी दो-एक असुविधाएँ बताईं, तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, कि उन असुविधाओं को दूर किये जाने का उन्होंने अविलम्ब प्रबन्ध कर दिया। उसके बाद दो-तीन दिन बीतने पर उन्होंने हम सब छात्र-मित्रों को अपने निवास पर बुलाया। उस समय मालूम हुआ कि वे कलकत्ता के ही उत्तम वंशके गृहस्वामी हैं। अपने निवास पर बुलाकर उन्होंने हम सब बच्चों का हृदय खोलकर आतिथ्य किया और अपने बच्चों के साथ हम सब की मित्रता करा दी। हम उनके ऐसे सौजन्यपूर्ण व्यवहार से बहुत संतुष्ट हुए। यों तो देवघर में तथा अन्य पर्यटन-स्थानों में कलकत्ता के सैकड़ों परिवारों के लोग जाते हैं, लेकिन यह हमारे लिए नई बात थी कि इस तरह सब के घर-घर जाकर उनकी असुविधाओं की जानकारी वे करते फिरते थे और अपनी भरसक कोशिश के अनुसार उन असुविधाओं को दूर करने का कष्ट भी उठाते थे। उनका यह निस्स्वार्थ सेवाभाव सचमुच एक निराला आदर्श था, जो इससे पहले हमारे देखने में न आया था।

"हम जब उस यात्रा से देवघर से लौटे तो सूरजमल जी के प्रति हमारे मन में एक आदर-भाव व्याप्त हो चुका था। जब वे कलकत्ता आये, तो उन्हों ने यहाँ भी हमें बराबर स्मरण करना जारी रखा। अपने घर पर बुलाकर वे अपने सब बच्चों की शिक्षा की जाँच करवाते थे और उनका ज्ञान कहाँ तक समृद्ध हुआ है, इसकी परीक्षा भी लिवाते थे। देवकीनंदन जी इसी संदर्भ में मुझे प्रायः गुरुजी कह कर संबोधन करते हैं।"

सूरजमल जी, इस संस्मरण से पता चलता है, एक विचित्र शैली भी, अपने विनोद के निमित्त, और वास्तव में जीवन के प्रति उनका विनोद ब्रह्मानंद की अनुभूति करने के लिए ही हुआ करता था, अपने परिवार को शास्त्र-निर्दिष्ट रीति से प्रबुद्ध करने-कराने के वास्ते आविष्कृत कर ली थी। सूरजमल जी समाज में अधिक से अधिक सखा बनाने में अवश्य रुचि न लेते थे, लेकिन अपने परिवार के हित में परम्परा-पालन की सहज गति स्वीकार करते हुए, वे अधिकतम आत्मीय जनों का एक खिलखिलाता उद्यान लहलहाता हुआ देखना चाहते थे। वे केवल अपने बढ़ते हुए परिवार की मूल जड़ बने रहना नहीं चाहते थे, अपने परिवार को बहुत सी जलधाराओं में बँटा हुआ और अपनी ही तरंग-उमंग में क्रीड़ा-कौतुक की प्रियता के साथ पुनः एक ही बड़ी जलधारा में आकर मिल जाने की उत्सुकता की अल्हड़ता को इस तृप्ति के साथ देखते थे, मानो महानद के मूल स्रोत को अपने दिशा-निर्देशन पर अखंड विश्वास है। यह कितना विचित्र था कि सूरजमल जी ने सदैव अपने परिवार के बहुत बड़े होने की कल्पना की, वह सत्य निकलने की स्थिति में आ रहा था। बड़े से आशय अधिक सदस्यों से अथवा संतति से घृत-भांड की तरह भरा हुआ! लेकिन कल्पना ही नहीं की थी, यह भी कल्पना की थी अग्रिम, कि किस तरह वे उन सिंह-शावकों को अपने परिवार की श्री से सुसंस्कृत बनाने का श्रम करेंगे। यह दूसरी विनोद-कथा है कि सूरजमल जी वैश्यजाति के पुत्रों को सिंह-शावक कहने में रस लेते थे।

कहते हैं कि रायबहादुर विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया को रायबहादुर की पदवी मिली थी, और उस अवसर पर शायद सलकिया में एक बड़ा भोज भी हुआ था। उनके पास कुछ ऐसे लोग आये, जिन्होंने खीझे हुए मन से कहा कि लीजिए, अब तो

रायवहादुरों की खेती हुआ करेगी ! सूरजमल जी अगरचे कभी खिलखिलाया नहीं करते थे, यह व्यंगोक्ति सुनकर खिलखिला दिये और पूरा विनोद करते हुए बोले, "तो भाई, बुरा क्या हुआ, पदवी तो सिंह-पुत्र को ही मिली है। अरे, सिंह कभी अपने किसी सिंह-पुत्र की मूँछों पर वाल उगते हुए देखकर ईर्ष्या नहीं करता। वाणिए ही सिंह-शावक के समान हुआ करते थे, तभी विणज कर पाते थे। उन्हें सदा से राजकीय पदवियाँ मिलती आई हैं, इसमें ताज्जुव क्या हो गया। यह तो पूरे समाज का गर्व है। इसमें खीजने की वात क्या है। कोई राज आये, वह वाणिए को खुश रखेगा तो निहाल हो कर रहेगा। भइया, कोशिश अपने को यही करनी चाहिए कि अपने समाज का हर आदमी सिंह-शावक वने। कोई चिंता नहीं है कि अपने समाज में संयुक्त परिवार की परम्परा घट रही है। सिंह-शावक वन कर रायवहादुर कोई होता है, तो यह कम हर्ष का विषय नहीं है।"

लोगों ने जब यह सुना, तो वे आश्चर्यचकित रह गये। लेकिन सूरजमल जी को जो जानते थे, वे खूब जानते थे कि वे इसी तरह समाज की हर प्रगति की एक विनोदपूर्ण समीक्षा करने की अद्भुत शक्ति रखते थे।

एक दूसर अवसर पर उन्होंने कहा, "समाज-सुधार का वहुत शोर है और यह सुधार इसलिए है कि समाज में कुछ परिवार वहुत अधिक खर्च करते हैं। वे कम करें। जिस दृष्टि से यह माँग की जाती है, उसमें सचाई जरूर है और वह सुधार हो, इसमें दो राय नहीं हो सकतीं। लेकिन जो मूल आधार है, वह तो यह है कि खर्च वही करता है, जिसके पास खर्च की सामर्थ्य हुआ करती है। वहुत अधिक खर्च वही करेगा, जिसके पास वैसा खुला हुआ हाथ रहेगा। जो कर्ज लेकर, अपने को कर्ज में डुवोकर खर्च करता है, उसका सर्वनाश तो निश्चित ही है, उसे सर्वनाश से वचाने के लिए शोर मचाना जरूरी है और समाज में वैसा सर्वनाश सव पर हावी न हो जाये, यह और भी जरूरी है। लेकिन जहाँ धन जाकर सरोवर के नल की तरह से वन्द हो गया है, उसका वहते रहना भी जरूरी है।"

नाटक-सिनेमा की चाल वढ़ रही थी और समाज के नौ-जवान समझाने पर भी उधर जाना कम नहीं कर रहे थे, इस पर जब शिकायत के स्वर में चर्चा चली, तो सूरजमल जी ने अपने चिर-परिचित विनोद की शैली में कहा, "भई, क्या बुराई आई है कि अपने वच्चों की रक्षा करना भी मुश्किल हो गया है। तव सोचना यह चाहिए कि अपने वड़े ही इस बुराई से रक्षा कर लें, वच्चे अपनी रक्षा नहीं करते,तो वे उस बुराई को भोगेंगे। अपने तो वचे रहेंगे !"

जब लोग इस विनोद पर हंस लेते, तो कहते, "नाटक-सिनेमा का प्रभाव वहुत अच्छा नहीं पड़ रहा, इस में सत्य है अवश्य। पर अपने को कोशिश यही नहीं करनी कि नाटक-सिनेमा छूतकी वीमारी है, कोशिश यह करनी चाहिए कि इन स्थानों में विनोद और स्वस्थ वने, उसके लिए अपने को धन खर्च करना पड़े, तो करना चाहिए। उससे सारे देश का हित होगा।"

क्योंकि सूरजमल जी का यह विषय नहीं रहा, इसलिए वे स्वयं प्रवृत्त नहीं हुए, लेकिन इच्छा यह रही कि इसी तरह से इस विषय का वांछनीय सुधार आयोजित किया जा सकता है।

सूरजमल जी ने स्वयं आडंवर में विश्वास नहीं किया, वहुमूल्य वस्त्र पहनें अथवा वहुमूल्य आडंवर के वल पर उठना-वैठना उन्हें रुचिकर न था। वे अपने परिवार में और नागरमल जी के जीवन में भी यही सादगी देखना अपेक्षित रखते थे और उन्हें संतोष रहता था कि वे सत्पथ पर हैं। नागरमलजी के जीवन का जिस तरह और जिस शैली से गठन हो रहा था, उससे वे वहुत संतुष्ट थे। वे देखते थे कि नागरमल जी में सव से पहली विशेषता यह है कि वे अपने कर्तव्य के वहुत पक्के हैं, जो कर्तव्य ले लिया, या स्वयं निर्धारित कर लिया, उसमें कोई कसर नहीं आने देते। दूसरे, अपने मन में किसी तरह का आक्रोश वे नहीं रहने देते। हर वातको और हर गुत्थी को समझने की और सुलझाने की कोशिश करते हैं और विवेक से काम लेते हैं। इसीलिए एक वार नारायणी वाई से उन्होंने कहा, कहने का प्रसंग यह आया कि सहसा ही उस दिन नागरमल जी जरा उत्तेजित से हो गये, पर अपने को वहुत संभालकर अद्भुत रूपसे शान्त हो गये थे, इसी की चर्चा करते हुए प्रकाश डाला, "आज तो नागर इतना वड़प्पन दिखाया कि सेर भर खन वढ़ गया। अपने किसी अहलकार पर वे जोर से वोल पड़े। पर जल्दी ही संभल गये। और उसे अपने मृदु मिष्ट व्यवहार से इस तरह अपने वशीभूत कर लिया कि मैं देखता ही रह गया।"

नारायणी वाई ने कहा, "आखिर यह पुत्र जिनका है, वे गये, लेकिन उनके संस्कार तो हर दिन मैं देखती ही हूँ कि इस पर सवार हैं। वे भी इसी तरह वड़ों और छोटों सव को अपने वशमें रखते थे। नागरिया सपूत है, यह कोई वात नहीं है, वड़ी वात यह है कि वह अपने वंश की वागडोर वड़ी मजवूती से थामे हुए है। घरमें भी वह सव को प्यार से रखता है। उसका प्यार मुझे जीवित वनाये हुए है।"

यह सुनकर सूरजमल जी वहुत हर्षित हुए। वे नागरमल जी के प्रेरणास्पद मनोविकास की वात जानकर गद्गद् हो गये। वस यह वोले, "भगवान की दया है कि अपने पूरे घरमें प्रेम की डोर रेशम सी वन रही है। जव तक मैं हूँ, उसमें कोई वल नहीं पड़ने पावेगा। ये सारे के सारे ऊँची से ऊँची कीर्ति पायें, मैं तो यही भजन किया करता हूँ।"

श्री ठाकुरजी, नाथद्वारा

[भारतकी प्रसिद्ध वैष्णव-पीठ, उदयपुर, मूर्ति १२वीं सदी की कही जाती है।]

श्री बलदाऊजी, कोटा
[प्रतिमा लगभग १८वीं सदी]
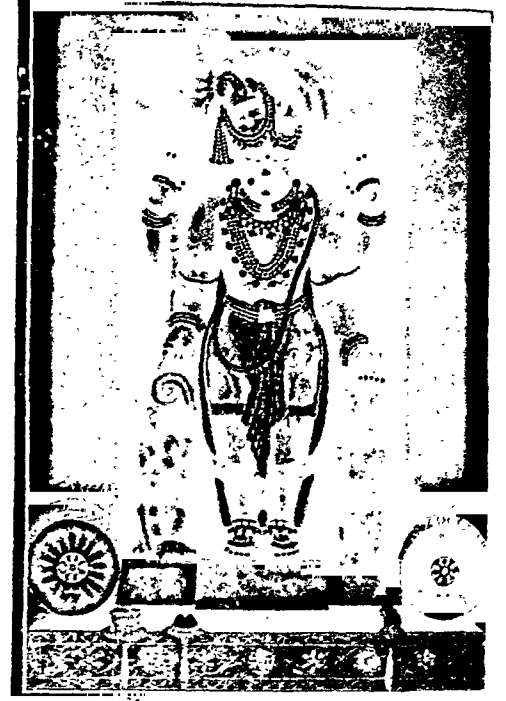
श्री द्वारकाधीशजी, कांकरोली
[उदयपुर से ४० मील दूर, राजसमंद नामक विशाल झील के किनारे, मूर्ति १८वीं सदी की प्रतीत होती है।]
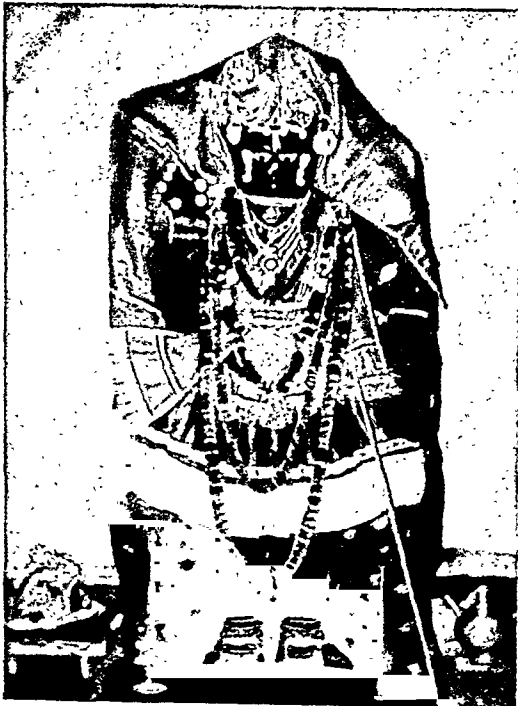
श्रीहरिहरनाथजी, उदयपुर
[प्रतिमा लगभग १४ वीं सदी]
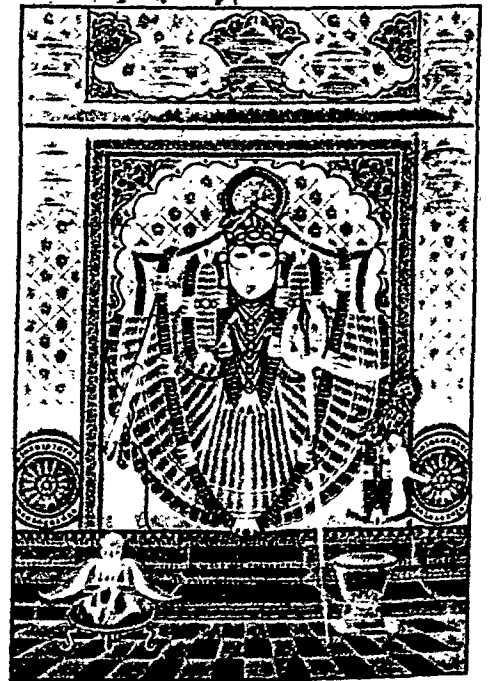
श्री चारभुजाजी
[कांकरोली से २० मील पश्चिम-उत्तर, भगवान विष्णु की प्रसिद्ध विग्रह मूर्ति, १७वीं सदी के बाद की है।]

नारायणी बाई ऐसी ही तपस्विनी थीं कि किसी भी उत्तम विचार को सुनकर हर्षाश्रु उमड़ा लिया करती थीं। आज भी उनके आनन्दाश्रु छलक पड़े।

नारायणी बाई के पोते चिरंजीलाल अपने भाइयों में सब से ज्येष्ठ थे। ज्येष्ठ भाई के लिए कहा गया है कि वह ऋतु का पहला फल है, जिसमें ऋतुका सर्वाधिक रस-परिपाक रहता है। चिरंजीलाल ने बालपन से नारायणी बाई का स्नेह-विलास पाया, नागरमलजी ने अपने इस प्रथम पुत्र को अपने अगाध वात्सल्य से विमोहित रखा। लेकिन सब से बड़ी बात यह थी कि सूरजमल जी अपने वंश के सब पुत्रों के समान उन्हें भी सांसारिकता का प्रचुर ज्ञान कराने का दायित्व निभा रहे थे। चिरंजीलाल की प्रारंभ से प्रवृत्ति रही है कि वे प्रारंभ-शूर रहे हैं, हर काम में उनकी जिज्ञासा बढ़ कर आगे आती है और वे तत्क्षण समझने की ओर उसमें चित्त लगाने की प्रबल कामना रखते हैं। सूरजमल जी इस प्रारंभिक शूरवीरता को भी एक गुण समझते थे, लेकिन कहा करते थे कि काम जरूर समझ लो, लेकिन काम से आच्छादित होने की बजाय, काम की व्यापकता पर स्वयं आच्छादित होने की चेष्टा रखो। बादल जब तक पूरी तरह आच्छादित नहीं होता, उसमें बरस पड़ने की शक्ति नहीं आती।

चिरंजीलाल जी ने अपने बालपन के संस्मरण सुनाते हुए कहा, "बड़े बाबू सूरजमल जी के बारे में जब स्मरण करते हैं, तो हमारा दिल आदर से इतना भर जाता है कि क्या कहें? ग्रीष्म में जैसे वर्षा का पहला बादल आकर अपना दैवी हाथ, सब पर घुमाते हुए, बरबस स्नेह से हमें भिगो जाता है, सूरजमल जी भी कुछ इसी तरह सदा मन को राहत देते थे, दिल को बढ़ावा देते थे और टूटी हुई आशा को बंधाया करते थे। उनके पास सदा कुछ न कुछ उत्तम मिलता था; प्रेरणा तो इतनी मिलती थी कि इच्छा रहती थी कि उनके पास कुछ और बैठा जाये।

"जब भी हम उनके पास जाते, वे नीति की बात सुनाया करते; नीति की कहानी सुना कर मनोरंजन तो करते ही, उसी के सहारे उपदेश भी दे दिया करते। हम सब बच्चों को उपदेश देते समय उनका दिल बहुत खुश रहता। वे उपदेश भी देते जाते और लगता कि जैसे वे हम सब में झाँक कर देख रहे हैं कि हम कितना ग्रहण कर रहे हैं, हम पर उसका क्या प्रभाव पड़ रहा है। वे जोर-जबरदस्ती की बात करने से परहेज रखते थे। उनका तरीका यही था कि ऐसे प्रेम से अभिभूत हो कर समझाया करते थे कि बात दिल को छूती थी और उस पर अमल करने की बात मन में गाँठ की तरह बंध जाया करती थी। कभी-कभी इसीलिए कह दिया करते थे कि एक तरीका यह भी है, जो तुम लोग करना चाहते हो,लेकिन इससे अच्छा तरीका यह है जो मैं ने तुम लोगों को बताया है।

"व्यापार की बात करते समय वे हमेशा पहली बात यह कहा करते थे और इस पर बहुत जोर दिया करते थे कि अपने व्यापार में जो आदमी अपने यहाँ मुनीम हो, नौकर हो, मैनेजर हो, उसे सच्चा बनाकर रखना या उसे झूठा आदमी बनने के लिए मजबूर करना—यह दोनों अपने हाथों में है। पहले तो हम एक आदमी पर इतना विश्वास कर लें कि सारा भार उसी पर छोड़ दें, और फिर कई साल बीत जायें, और पता चले कि वह तो अपने यहाँ चोरी करता है, गोलमाल करता है, तो दिल को दुख होता है। ऐसा नहीं करना चाहिए। अपना काम चाहे हम दूसरे से करायें, लेकिन उस पर निगाह रखनी चाहिए। उस पर चौकस रखने से वह अच्छी नीयत से काम करता रहेगा। अच्छी नीयत के आदमी व्यापार को फैलाते हैं, अच्छी दिशा में वह उत्तम लाभ को प्राप्त होता है। दूसरे, अपने काम में कान सच्चे रखने चाहिए। चाहे हमारे आदमी के बारे में दस आदमी कितना ही क्यों न कहें कि वह बेईमान है,लेकिन जब तक स्वयं प्रमाण न पा लें, उस पर विश्वास करते चलना चाहिए। अगर वह होशियार है और सत्य व्यवहार से चल रहा है, तो उसका संरक्षण करना चाहिए, वह समय आने पर निष्ठावान बनता जाता है और अपने काम का आदमी हो जाता है।

"यह सीख भी वे बराबर दिया करते थे कि ओवर-ट्रेडिंग करने से हाथ रोक कर रखना चाहिए। बहुत ज्यादा काम फैलाने से, कई काम एक साथ लेने से काम तो फैलने में देर न लगेगी, लेकिन हम उस सारे काम का आर्थिक-प्रबंध न कर पायेंगे, तो सर्वनाश होते कितनी देर लगेगी। वे हमेशा ओवर-ट्रेडिंग के विरोधी रहे। जितना काम करने की सामर्थ्य हो, उतना ही हाथ में रखें, उसे ही पहले व्यवस्थित रखे। फिर उस पर जब हाथ पूरी तरह हावी हो जाये और नया काम करने का अवकाश मिलने लगे, तो ही उस पर हाथ रखना शुरू करें।

"जब भी हम कहीं बाहर जाते और वे साथ रहते, तो हम सब बच्चों को अपने साथ रखते। हर एक के साथ पूरी दिलचस्पी से बात करते। अपने निजी व्यवहार से हम सब को यह सिखाया करते कि ठीक समय पर उठना चाहिए, ठीक समय पर सोना चाहिए, ठीक समय पर काम शुरू करके, ठीक समय पर उसे पूरा कर लेना चाहिए, बाकी रह जाये, दूसरे दिन काम के समय ही उसे हाथ में लेना चाहिए। खानपान में वे सादगी और सरलता के हिमायती थे। बहुत गरिष्ठ भोजन से परहेज रखते और हम सब बच्चों को भी यही समझाया करते कि शरीर स्वस्थ रहने से ही उत्तम व्यापार का लाभ मिल सकता है। दूध, दही, दाल, फुलका—यह उनका नियमित भोजन था, इसके सिवाय उन्हें कुछ अच्छा न लगता था। भोजन से पहले व्यायाम का हिसाब बहुत मृदुता से रखते थे। सब बच्चों से भी व्यायाम कराते थे। स्वयं भी हल्का व्यायाम करने में उन्हें उत्साह रहता था। और वे इसलिए

उसका अभ्यास करते थे कि हम बच्चों का स्वभाव भी वैसा बना रहे।

"मैं बचपन में बहुत दुबला रहा। पिताजी का स्वास्थ्य तो कम न था, माताजी भी ठीक स्वस्थ रहीं, फिर भी मैं दुबला था। सूरजमल जी ने इस पर कई बार चिंता व्यक्त की और वे मेरे स्वास्थ्य का पूरा संरक्षण करते रहे। बात यह भी थी कि घर पर क्या उचित आहार-तालिका रहनी चाहिए, इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। जिस तरह की रीति रतनगढ़ से चली आ रही थी, उसी का पालन हो रहा था। पर कलकत्ता के जीवन में भोजन जब तक सही तरीके का न होगा, स्वास्थ्य ठीक रह ही नहीं सकता। आखिर सूरजमल जी ने जोर देकर यह व्यवस्था की, मैं दूध ज्यादा पी लिया करूं। और फिर कौन सा फल हितकर रहेगा, यह अपने से बताया करते। व्यायाम की चौकसी रखते। जब मेरा स्वास्थ्य सुधरना शुरू हुआ, तो उसकी पहली खुशी उन्हें ही हुई।

"बड़े बाबू में कुछ बातें पुराने हिसाब की भी थीं। वे अधिक पढ़ाई के विरोधी तो नहीं थे,लेकिन जैसी युग की परिस्थितियाँ थीं, उनमें यह बहुत आवश्यक हो गया था कि बजाय बाहर के लोगों पर आश्रित रहा जाये, अपने घर के बच्चे ही उसे सम्हाल लें, तो बड़ा फायदा बना रह सकता है। इसी बात को वे यों भी कहा करते थे कि १८ बरस की आयु व्यापार में चले आने की ठीक है। इस आयु में आ जाने से दीक्षा ठीक मिल जाती है और ठीक आयु में व्यापार भी समझने का सिलसिला शुरू हो जाता है। बहुत बाद में व्यापार में जाने से, आयु के हिसाब से जो नई सूझबूझ की बात रहती है, वह नहीं आ पाती। पकी हुई उमर में काम शुरू करने से बस काम करते रहने की आदत रहती है, कुछ नई बात कर गुजरने की उमंग और दबंग शक्ति नहीं रहती। यही वजह थी कि हम सब को छोटी आयु में ही काम पर डाल दिया गया। यों पढ़ाई का सिलसिला जो चला, वह प्राइवेट चलता रहा। उसके लिए हम अच्छे अध्यापकों पर निर्भर करते रहे। लेकिन काम का सिलसिला उन्होंने अपने देखते-देखते इसलिए करवा दिया, ताकि वे उसका उचित निरीक्षण भी कर लें और कौन कितना प्रतिभावान है, इसका संतोष भी वे ले लें।

"प्रारम्भ में तारों को, जो विदेशों से आते थे, उन्हें डीकोड करने का काम दिया गया। सांकेतिक भाषा में जो व्यापारिक तार आते थे, उन्हें संदर्भ से देखकर स्वाभाविक भाषा में अनुवाद करना होता था। यह काम जब कर लेते, तब जूट-प्रेस चले जाते, वहाँ पर बहुत कुछ सीखना था। सीखने का एक अर्थ यह भी था कि व्यवस्था का निगूढ़ भावार्थ भी समझ लेना था। क्योंकि प्रेस घर से दूर रहता था, इसलिए दुपहर का भोजन वहीं पर होता था। दुपहर में वहाँ काम संभालने के बाद, फिर पाट के बाजारों में जाते। इसी तरह की प्रारंभिक दिनचर्या रही। पर हम देखते थे कि बड़े बाबू हमारी ही नहीं, सभी बच्चों की दिनचर्याओं पर पूरी नजर रखते और महीने में एक-दो बार उसकी समीक्षा करते हुए हमें सत्पथ और सद्ज्ञान की बात सुनाया करते।

"कभी-कभी उनके सत्पथ और सद्ज्ञान विषयक वाक्य बहुत तीखे होते थे। एक दो बार ऐसा भी हुआ कि वे दूसरों को प्रिय ही नहीं लगते थे, चुभ भी जाते थे। इसका एक उदाहरण दिया जाये, जो सिद्ध करता है कि उनकी अन्तर्दृष्टि कितनी गहरी थी और वे कितनी स्वच्छ दृष्टि से भविष्य का मूल्यांकन ही न कर सकते थे, उस भविष्य को मानो अपनी हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह भी देख सकते थे। उनके एक ऐसे मित्र थे, जिनसे वे बराबर सत्परामर्श लेते रहे। प्रारंभिक जीवन में बड़े बाबू उनसे अनेक प्रकार से लाभान्वित हुए थे। उनके परामर्श का लाभ लेते रहे। उनके ही वंश की यह बात है। पर पहले एक संबंधी की बात कह दी जाए।

"हमारे एक संबंधी हैं, उन्होंने सिनेमा-हाऊस खरीदा था। जब बहुत दिनों बाद बड़े बाबू का उनसे मिलना हुआ, तो उन्होंने सूरजमल जी से औपचारिक बातें करने के बाद कहा, कि अपने इस काम में बहुत बड़ा नुकसान हो गया। सूरजमल जी ने बिना किसी संकोच या दुख प्रकट करने के स्थान पर सहज भाव से यही कहा कि भगवान आपके साथी हैं कि आपको इस काम में नुकसान हो गया है। अब और बरबादी से आप बचे रहेंगे। यह सुनकर उन संबंधी ने अच्छा नहीं माना, मन में बुरा मान गये। लेकिन बड़े बाबू ने जो बात कही थी, वह उनके सवा लाख रुपये के नुकसान से अधिक सवा करोड़ के लाभ की कही थी।

"इसी के बाद की यह घटना है कि बड़े बाबू के उन मित्र महोदय ने सिनेमा का काम शुरू किया। पहली फिल्म 'चित्रबकावली' जब उन्होंने लेकर उसका प्रदर्शन शुरू किया, तो उसमें पूरे सवा लाख का फायदा हुआ। कुछ संयोग ऐसा हुआ कि इस लाभ के होते ही एक दिन उनका और बड़े बाबू का मेल-संयोग हो गया। उन्होंने स्वागत-भाव में सूरजमल जी को बैठा कर अपनी कुशल-क्षेम सुनाते हुए कहा कि अपने तो फिल्म का काम शुरू कर दिया है। पहली पोत में ही सवा लाख का फायदा हुआ है। और उस लाभ का हर्ष प्रकट करते हुए यह आशा व्यक्त की कि दुनियादारी के हिसाब में अब सूरजमल जी भी हर्ष प्रकट करें।

"सूरजमल जी बात सदा अपने वजन की कहते थे। उन्होंने शान्ति से यह बात सुन ली, फिर अपने उन ज्येष्ठ आयु मित्र की ओर देखा और बिना किसी औपचारिक हर्ष को अभिव्यक्त करते हुए आपने चौंकाते हुए कहा कि "भगवान थारे से मुँह मोड़ लियो,अब के होसी, आपाने कुछ पतो नहीं !" सुन कर सब को बहुत बुरा लगा, बुरा लगने की बात आनंद के क्षण में थी ही। लेकिन कुछ समय बाद इस बुरी बात का तथ्यातथ्य सामने आ गया। उन मित्र का वंश

इस फिल्म के लोभी काम में इस तरह बर्बाद हुआ कि सारी मर्यादा धूल में मिल गई और जो आर्थिक सम्पदा घर में जमी हुई थी, उसका हाल वही हुआ जो सुराखयुक्त बर्तन को पानी से भरने पर होता है। तो कुछ अवस्था बड़े बाबू के वचनों की ऐसी ही थी कि वह सत्य निकला करती थी। हम सोचते हैं कि ऐसा क्यों था? तब इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि उनका अपना तपस्वी का सा जीवन उनके हृदय को बहुत शुद्ध बना चुका था। बड़े-बूढ़े इसीलिए कहते हैं कि शुद्ध हृदय से बात निकलती है तो सत्य निकलती है।

"हम बड़े बाबू को प्राय: किसी न किसी लोकसमाज के हितके काम में व्यस्त देखते। उनके इर्दगिर्द जो लोग प्राय: रहते, वे उनसे एक प्रश्न अवश्य करते कि अपने और काम क्या करना? जब तक हम छोटे रहे, उनके ऐसे प्रश्नों का मर्म बहुत ज्यादा नहीं समझ पाये। लेकिन बड़े होते गये और उनके ऐसे प्रश्नों का गहरा अर्थ हमारे सामने स्पष्ट होता गया। वैश्य तो नये काम से मतलब नये व्यापार से लगाता है, रखता है। पर अपने उस जीवन में, जब बड़े बाबू जीवनमुक्त का सा जीवन बिता रहे थे, वे व्यापार के स्थान पर लोक-कल्याण का व्यापार करने में दत्तचित्त हो गये थे और व्यापार से एक तरह से उन्होंने अवकाश ले लिया था। वे केवल व्यापार का संरक्षण करते थे, शेष समय अपने चिंतन में रहते थे और अपने विचारों का परिष्कार करते रहते थे। वे अपने वंश और अपने परिवार से अधिक सारे समाज में क्या अभाव हैं, उनकी किस तरह व्यावहारिक रूप में पूर्ति की जाए, इस पर बराबर चिन्तन करते रहते थे। वे हमारे वंश में हमारे बड़े बाबू हैं, यह हम सब के लिए बड़ी बात थी।

"एक बार हमने उनसे प्रश्न कर लिया कि बड़े बाबू, आपके मन में यह सलकिया और रतनगढ़ के पुस्तकालय की स्थापना की बात कैसे आई। तब वे बोले कि बचपन में मुझे अधिक शिक्षा नहीं मिली थी। अवस्था कुछ ऐसी थी कि मैं चाह कर भी हनुमान-चालीसा तक नहीं ले सकता था। फिर मन में यह भी रहती थी कि और अच्छी पोथियों को लूँ और पढ़ूँ, लेकिन वह सारी आयु तो व्यापार जमाने में चली गयी। तभी यह कामना रहती थी कि थोड़े से पैसे हो जायेंगे, तब अपने भी पोथी पढ़ेंगे और ऐसी कोई व्यवस्था कर देंगे कि पोथी पढ़नेवाले वहाँ आयें और बिना दाम दिये पोथी पढ़ने का आनंद लेते रहें। इसीलिए पुस्तकालय स्थापित करने का स्वप्न पूरा किया है।

"फिर कुछ देर रुक कर कहने लगे कि स्वप्न देखना तो अच्छा है। एक व्यापारी को उत्तम जीवन बनाने के लिए अच्छे स्वप्न जरुर देखना चाहिए। लेकिन जीवन के वास्तविक स्वप्न तो वे ही हैं, जो हम अपने छोटे से व्यक्तिगत दायरे से हट कर समाज–हित के लिए देखें। वे स्वप्न ही सारे समाज में ज्यादा दिन तक चरितार्थ रहते हैं। अपने लिए जो किया, वह अपने साथ उठ जाता है। दूसरों के लिए जो किया वह सदा नाम के साथ याद रहता है। तब हम उनके ऐसे उपदेशों से बहुत आश्वस्त होते और उनके विचारों की महानता की छाप हम पर सहज भाव से पड़ती रहती। वे हम सबके निकट थे, पर हम महसूस करते थे कि वे निकट रहकर भी कुछ ऊँचे स्तर पर हैं। छोटे बाबू बंशीधर जी और बैजनाथ जी से हम सब अधिक आत्मीयता महसूस कर लेते थे, पर उनके निकट कुछ ऐसा सा तेज रहता था कि वह आत्मीयता कुछ ही क्षण रह पाती थी और वे एक ऊँचे आसन पर बैठे दिखाई पड़ते।

"हाँ, हम यह बात अवश्य देखते कि जब वे हमारे घर आते, तब यह महसूस करते कि वे हमारी दादीजी के सामने अवश्य उतने ऊँचे आसन पर बैठे दिखाई नहीं देते। दादीजी के सामने उनका रूप बहुत शान्त, सौम्य, शालीन रहता। दादी जी के साथ वे जब बात करते, तो उपदेश की बात न करते, दादी जी किसी बात को उपदेश में कहतीं, वे सरल भाव से उसे ग्रहण करते।

"लेकिन हमने यह भी देखा कि विचार-विभिन्नता होते हुए उन्होंने व्यक्तिगत द्वेष का भाव कभी प्रधान न होने दिया। जो लोग कलकत्ता में समाजसुधार में बहुत उग्र हो चले थे और किसी से समझौता करने में विश्वास न करते थे, और यह बात ही सत्य रही कि पूरे समाज ने उन लोगों से समझौता कभी किया भी नहीं, केवल कुछ प्रतिशत लोगों ने ही उनकी बातों पर ध्यान दिया, वे जब किसी सार्वजनिक कार्य के चंदे आदि संग्रह के निमित्त सूरजमल जी के पास आते, तो वे हर्षित होते, उनका स्वागत करते, उनके काम की बात को ध्यान से सुनते, उनके आयोजनों में यथाशक्ति जितना उनसे हो सकता, अपनी ओर से आर्थिक सौजन्य प्रदान करते और कभी किसी को खाली हाथ न जाने देते। फिर हम लोगों को भी समझाते कि विचार की टक्कर और बात है, समाज में जो भी काम चल रहा है, चाहे उस से अपना पूरा मेल न खाता हो, लेकिन वह यदि समाज के निमित्त किया जा रहा है, तो उसमें अपनी श्रद्धा-अनुसार सहयोग अवश्य देना चाहिए और अपने द्वारपर आए सार्वजनिक कार्यकर्त्ता का सम्मान अवश्य करना चाहिए—वह व्यक्ति इसलिए धन्य है कि समाज के लिए अपना समय दे रहा है।

"एक बात और बताकर अपनी बात समाप्त की जाए। बड़े बाबू का चिन्तन किस तरह का था, यह ऊपर थोड़े में बता दिया। वे किस रीति से समाज में अपना सहयोग देते थे, इसकी चर्चा भी ऊपर आ गयी। अपने परिवार के बच्चों का नैतिक संरक्षण ये किस तरह किया करते थे, यह भी प्रसंग ऊपर की बातों में आ गया है। लेकिन जो सबसे बड़ी विचित्र बात उनकी थी, वह आज भी विचारणीय बनी हुई है। हम अक्सर देखते हैं कि समाज के जितने भी बड़े आदमी हैं, वे किसी न किसी सभा, सोसायटी, संस्था, आयोजन, समारोह आदि के सभापति, स्वागताध्यक्ष, मंत्री या चेयरमैन अथवा प्रेसीडेंट आदि होते हैं। समाज में इस दिशा से

जो काम किया गया है, उसका अपना महत्व है। लेकिन सूरजमल जी ने जीवन भर किसी भी संस्था, सोसायटी, आयोजन-समारोहों में कोई पद स्वीकार नहीं किया, न करने के पक्ष में थे। संस्था खड़ी करते थे, उसे विश्वासी आदमियों के हाथों में देकर अपने तटस्थ हो जाते थे। अनेक अवसरों पर सरकारी कमिटियों में उनका नाम आगे आया, पर वे अपने पीछे हट गये। ठोस परामर्श देना उनके स्वभाव की पहली चीज थी, पर किसी भी काम में इस तरह आगे वैठें कि समाज की भीड़ उन पर भी अपनी दृष्टि डाले, यह उनके मिजाज की चीज न थी। कह सकते हैं कि वे मौन योगी की तरह अपने शेष जीवन में रहे। और विचार की वात यह है कि मौन योगी कब हुए, जब कि कठोर गरीवी और अथाह संघर्ष के वाद उन्होंने धनपतियों की अग्रणी पंक्ति में स्थान ग्रहण किया था, ठीक उसी के वाद वे धन-सम्पदा की विलासिता से उदासीन हो गये। यह सचमुच उनके जीवन की वड़ी वात थी। समाज में दूसरा उदाहरण राजा वलदेवदास जी विड़ला का भी आता है। जिस समय उनके पुत्रों ने प्रथम विश्वयुद्ध में वहुत धन कमा लिया, ठीक उसी के वाद वे भी काशी चले गए और फिर वहाँ से वाहर कभी न आए। सन् १९१८ में इस तरह राजा वलदेवदास जी विड़ला ने और वड़े वावू सूरजमल जी ने अपनी-अपनी दिशायें ग्रहण कीं। राजा साहव ने एक तरह से वानप्रस्थ की अवस्था को अंगीकार किया, सूरजमल जी गृहस्थ-योगी वने रहे—ऐसे गृहस्थ-योगी, जिन्हों ने ३२ वर्ष की अवस्था में प्रथम पत्नी के वाद द्वितीय विवाह न किया, लेकिन अपने वंधुओं व अपनी ससुराल के परिवारों के वीच रह कर जो समाज-हित का व्यापार फलप्रद वनाते रहे! मेरी निजी दृष्टि में सूरजमल जी के जीवन का यह अर्थ हम सवके लिए एक उत्तम आदर्श उपस्थित करता है।

"वात समाप्त करते हुए अपने हृदय की एक वात और कह दी जाए। वड़े वावू साधु आदमी थे। फलप्रद व्यापार के वे अवश्य भाग्यविधाता वने रहे सन् १९२८ तक, जव कि हवड़ा में जूट मिल वैठाने का वड़ा उद्योग प्रारंभ किया गया, लेकिन ठीक उसी के वाद, वे पूरी तरह से रिटायर कर गये। फिर भी उन की दैनिक चर्या में किसी तरह की शिथिलता न आई। उन जैसा नियमित जीवन हम सव को आज भी एक प्रेरणा देता है।"

श्यामदेव जी देवड़ा सन् १९२० के वाद के युग में कलकत्ता के लेखकों में एक नया स्वर लेकर आते हैं। सार्वजनिक जीवन में उनकी सेवायें रही हैं। सूरजमल नागरमल के यहाँ यद्यपि वे कार्य करते थे, लेकिन परामर्श और योजना-संगठन के समय उनका विश्वास किया जाता था, वे उन संस्थाओं का भार भी वहन करने लगे थे, जिनका अस्तित्व सूरजमल जी के हाथों लोकख्यात् होने लगा था। देवड़ा जी ने सूरजमल जी के कृतित्व को पास से ही न देखा, उनके जीवन-दर्शन को भी मार्मिकता के साथ ग्रहण किया था। देवड़ाजी ने अपने जीवनकाल में समाज के प्रायः सभी उल्लेखनीय व्यक्तियों का निकट से अध्ययन किया है और उन्हें समझा है। यही कारण है कि जव आप सूरजमल जी के संस्मरण सुनाने लगे, तो आपने उनके उस पक्ष को सवसे पहले सामने रखा, जिसका मार्मिक महत्व उनके जीवन-कृतित्व में सर्वोपरि रहा और उनके जीवन में आरोपित प्रभावों की दृष्टि से आज भी अर्थवान वना हुआ है। आपने कहा, "जव मैं कलकत्ता आया, उस समय तक सूरजमल जी ने अपने जीवन का स्वतंत्र चिंतन प्रारंभ कर दिया था। मैं जिस युग की वात करता हूँ, उसका स्मरण करने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि वह व्रिटिश युग था और उस युगके समाचार-पत्र या तो नये वैज्ञानिक आविष्कारों की वातों से भरे होते थे या उन में वायसराय महोदय के भाषणों की भरमार होती थी या तिलक, गोखले और मालवीय जी का नाम वहुत चला हुआ था। कलकत्ता में मारवाड़ी ऐसोसिएशन की अपनी एक कार्य-पद्धति थी। पंचायतों का युग समाप्त सा हो चला था। समाज-सुधारों का अर्थ वहुत अधिक स्पष्ट नहीं था, हाँ, उसका शोर उठने लगा था। उस युग में सूरजमल जी ने अपनी स्वतंत्र विचारधारा से विचार करने का एक सिलसिला शुरु किया था। अच्छे धनिकों का और दानदाताओं का और विद्यालय-अस्पताल, पुस्तकालय, सभा आदि सार्वजनिक संस्थाओं के संगठनकर्ताओं का कोई अभाव न था, लेकिन सूरजमल जी की कार्य-पद्धति उन से भिन्न थी। वे ऐसी स्थायी योजनाओं में अपनी पूर्ण शक्ति लगा देना चाहते थे, जो सर्वजनहिताय हों, लेकिन जिनके निर्माण में किसी तरह का चंदा न उगाहा जाए, वे स्वयं ही उनका भार वहन करें।

"सूरजमल जी ने सार्वजनिक जीवन में ज्यादा भाग नहीं लिया। मेरे कलकत्ता आने के समय तक वे अवश्य व्यापार में हाथ दिये रहे, लेकिन एक तरह से उन्हों ने प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के वाद अपने व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष-युद्ध भी समाप्त कर दिया और वे सार्वजनिक जीवन में अपनी रीति-नीति-शैली से कदम वढ़ाने लगे। शायद सन् १९१८ में पहली अग्रवाल महासभा का अधिवेशन वर्धा में सेठ जमनालाल जी वजाज के हाथों संयोजित हुआ था। वे उसमें जानेवाले भी थे, लेकिन किसी कारण से उसमें जाने में असमर्थ रहे। पर आपने अपने कुछ मित्रों को वहाँ भेजने में सहयोग दिया। जातीय महासभा का काम हो, यह आपका एक स्वप्न रहा। उसके वाद दूसरा अधिवेशन वम्वई में हुआ। इस वार आप सदलवल वहाँ गये। वहाँ आपने भाग लिया, सव व्यक्त विचारों पर विचार किया। वहाँ से जव आप लौटे तो इन्दौर आदि भ्रमण करते हुए वापस आए। तीसरा अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। जमनालाल जी पहले वम्वई और कलकत्ता जैसे शहरों में अग्रवाल महासभा की जागृति फैलाना चाहते थे। उसके वाद चौथा अधिवेशन धनवाद में

हुआ। इन दोनों स्थानों में भी सूरजमल जी का उत्साह बराबर रहा, जितने सुधार महासभा चाहती थी, उसके प्रति आपकी सहमति चलती रही। पर उसके बाद इस सहमति में एक मोड़ आ गया। जो आगामी अधिवेशन फतहपुर में हुआ,वहाँ पर विधवा-विवाह का प्रश्न आया। उस पर जिस तरह विचार किया गया, जिस तरह से उसका समाधान निकाला जाए, उसके सुझाव आए, उस पर बड़े बाबू ने अपने आप को असहमत पाया। वे विचारों में अनुदार न थे, लेकिन विचारों को रूढ़ बनाने के पक्ष में भी न थे। सुधार यदि जन्मते ही रूढ़ हो गया, जैसा कि उन्हें भय था, तो वह समाज में क्या नया प्रकाश फैलायेगा? और यही कारण है कि वे फतहपुर से अधिवेशन के बीच से चले आए और उसके बाद उन्होंने महासभा के किसी काम में रुचि न दिखाई। ऐसा कहा जा सकता है कि महासभा जैसे मंच उन जैसे व्यक्तियों के लिए नहीं बने थे, जो विचारों का खेल खेलते हों और उसका ऐसा व्यापार करते हों, जहाँ राजनीति की तोड़-मरोड़ शामिल हो रही हो। सूरजमल जी ने वास्तव में उन मंचों पर काम किया, जो उनके अपने स्वरचित रहे, अपने बनाये-खड़े किए रहे! वैसी ही मनःस्थिति में वे उत्साह के साथ काम किया करते थे।"

समाज सेवा के क्षेत्र में पदार्पण

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

—कैसा समय है? कौन-कौन मित्र हैं (और समाज-हितैषी हैं)? कैसा देश है (अर्थात् देश में कैसी हवा बह रही है)? क्या आमदनी है (अर्थात् क्या मेरी आमदनी इतनी है कि उसका एक भाग मैं समाज के अभावों की पूर्ति के लिए दे सकूँ)? क्या व्यय है (अर्थात् क्या मेरा व्यय केवल मेरे स्वार्थों को ही साध रहा है अथवा उससे समाज के व्यय का संतुलन भी हो रहा है)? मेरा क्या स्वरूप है (अर्थात् क्या मैं केवल घर-गिरिस्ती की संकीर्ण परिधि का बन्दी हूँ अथवा समाज की बृहत्तर सीमाओं का चिंतन भी करने लगा हूँ)? और मेरी शक्ति कितनी है? मनुष्य को समय-समय पर इन बातों पर विचार करना चाहिए। —समाज-सेवा की आधार-भित्ति यही आत्म-चिंतन है!

[३५]

झकझोरने के लिए सदा ही तुमुल द्वंद्व की आवश्यकता नहीं रहा करती। हाथी को छोटी-सी चींटी पछाड़ देती है। पदतल का एक सूक्ष्म-सा कांटा उद्भट योद्धा को जमीन पर बैठा देता है। रेशे के तुल्य एक भाव की मलयानिल-सी हिलोर मन-मानस को बुरी तरह विचलित कर दिया करती है। सन् १९१९ ने इसी तरह सारे भारत को हिला दिया था। एक पिस्तौल की दो-चार गोलियाँ, कुछ बन्दूकों की फायरिंग और ५००-६०० व्यक्ति आहत हुए और सारा देश मानो क्रोध की भट्टी में इस तरह से सुलग उठा, जैसे तो महाकाल का बाहुबल देश की धमनियों में बैठ कर सारे विदेशी शासन को जड़-मूल से उखाड़ फेंकेगा। जलियाँवाला बाग की घटना कुछ ऐसी ही हुई। यह घटना राजनैतिक थी, लेकिन इसने देश की सभी दिशाओं के बन्द मानस-द्वार इस तरह चूल-चूल से उखाड़ कर फेंक दिये कि सारा ब्रिटिश साम्राज्य भी एक बारगी ही दहशत से कांप कर रह गया। केवल विदेशी ही कांप कर आतंकित न हुए, जो रूढ़ि-सूत्र थामे हुए देश के विभिन्न समाजों का भाग्य-संचालन कर रहे थे, उनके हाथों से भी ये सूत्र स्खलित होकर जमीन पर गिर पड़े। जो यह कहते हैं कि सन् १९०१ से ही पहले नवजागरण के युग में लोकनेताओं ने देश के सब समाजों को सुधार-पंथी बना दिया था, वे जरा-सी भूल यह करते हैं कि जागरण के प्रथम परिच्छेद को वे वास्तविक समाज-सुधार की क्रांति से तालमेल बैठाने की असावधानी करते हैं। ये दो बातें अलग हैं, ये दो परिच्छेद अलग हैं। इन दोनों के दो युग काफी व्यवधान लिये हुए हैं।

सूरजमल जी के जीवन का मूल्यांकन जब हम इस कसौटी पर करते हैं, तो एक स्वाभाविक हर्ष होता है। नवजागरण के अभियान का प्रारम्भ सन् १९०१ से बड़ा बाजार में होने लगा था। लेकिन उसका सूत्र-संचालन जिन लोगों ने किया, वे समय की गति में स्वयं रूढ़ हो गये थे। सन् १९१९ से जिस समाज-सुधार का अस्फुट स्वर सुनाई देने लगा था, उसका वास्तविक परिच्छेद सन् १९३० से लिखा गया। इस अवधि में जो उल्लेखनीय संक्रमण-काल रहा, उसका सूत्र-संचालन सूरजमल जी जैसे चेता व्यक्तियों ने ही किया।

श्री भागीरथ जी कानोडिया ग्रौर श्री सीताराम जी सेकसरिया सुधारवादी युगों में सामाजिक कार्यकर्त्ताग्रों की पंक्ति में ग्रागे ग्राये। लेकिन सन् १९१७ से पहले ये केवल व्यापार में ग्रपने पैर जमाते रहे। ग्रवश्य सेक्सरिया जी ने 'ज्ञानवर्द्धिनी सभा' हरिसन रोड पर प्रारम्भ कर दी थी। कानोडिया जी ने वसन्तलाल जी मुरारका के साथ मिलकर ग्रपने ग्राम मुकुन्दगढ़ में (जो कि शेखावाटी में स्थित है) एक प्राथमिक विद्यालय व पुस्तकालय का संचालन प्रारम्भ कर दिया था। इस समय तक चेता व्यक्तियों के सहयोग से कलकत्ता के बड़ावाजार में मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी का काम विस्तार पाने लगा था। प्रारम्भ में इसका नाम 'मारवाड़ी सहायक समिति' रखा गया था, लेकिन यह नाम तीन वर्ष वाद ही सरकारी ग्राग्रह के कारण ग्रंग्रेजी रूप में परिवर्तित कर दिया गया था। उसका एक ग्रलग रोमांचक इतिहास है[1]। बड़ावाजार के मारवाड़ी समाज की जनकल्याण-प्रवृत्तियाँ इस मंच से भी मुखर हो रहीं थीं ग्रौर कलकत्ता से वाहर जिन राज्यों व प्रान्तों में वाढ़, ग्रकाल, महामारी ग्रादि के प्रकोप उपस्थित होते, वहीं पर इस संस्था के कार्यकर्त्ता सेवाकार्य से उपस्थित हो जाते। सन् १९१६ के पहले कुछ वाढ़-कार्य इसके कार्यकर्त्ता संपन्न कर चुके थे[2]। जव सन् १९१७ में पूर्वी वंगाल में वाढ़ ग्राई, तो सोसायटी ने उसमें सेवा के निमित्त जाने का विचार किया, लेकिन ग्रावश्यक ग्रार्थिक सहायता के द्वार सहसा ही नजर न ग्रा रहे थे। उस समय सूरजमल जी ने मौन भाव से मानवता की सहायतार्थ इस संस्था के कार्यकर्त्ताग्रों का किस तरह ग्राह्वान किया, यह बड़ी सुखद स्मृति है ग्रौर कानोड़ियाजी व सेक्सरिया जी ने उसका स्मरण करते हुए, इस ग्रवसर के जो संस्मरण दिये हैं, वे इस युग के कृतित्व को गंभीर भाव से उजागर कर देते हैं।

श्री कानोड़िया जी व सेकसरिया जी ने कहा, "श्री सूरजमल जी जालान के साथ हम लोगों का परिचय वहुत दीर्घकाल तक रहा। ग्रनेक वार उनके सम्पर्क में ग्राने का काम पड़ा ग्रौर उनकी ग्रनेक स्मृतियाँ हमारे मनमें हैं। उनमें ग्रनेक ऐसी विशेषतायें थीं, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। लेकिन सवको लिख सकना संभव नहीं है। फिर भी कुछ एक वातों का जिक्र करना विशेष ग्रावश्यक है।

"राजस्थान से ग्रनेक लोग वहुत ही साधारण स्थिति से भिन्न-भिन्न प्रान्तों में गये ग्रौर वहाँ जाकर परिश्रम, ईमानदारी, पारस्परिक सहयोग, सद्भावना तथा व्यवहार-कौशल से ख्याति प्राप्त की। श्री सूरजमल जी जालान का नाम ऐसे लोगों में ग्रग्रणी है। उनके स्वभाव में जो जन्मजात उदारता ग्रौर पर-दुख-कातरता के भाव थे, वे व्यापारिक सफलता के साथ-साथ ही विशेष रूप से प्रस्फुटित होते गये। इसके ग्रनेक उदाहरणों में से एक उदाहरण हम लोग यहाँ देना चाहते हैं।

"सन् १९१७ की वात है। पूर्वी वंगाल में भयंकर वाढ़ ग्राई थी, पीड़ितों की कष्ट-कथाएँ सुनकर उनका हृदय उद्विग्न ग्रौर द्रवित हो उठा। ग्रौर वे मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के कार्यकर्त्ताग्रों तथा सामाजिक सेवा में भाग लेने वाले ग्रन्य लोगों से मिले ग्रौर मिल कर कहा कि वाढ़-पीड़ितों को सव तरह से ज्यादा से ज्यादा सहायता पहुँचनी चाहिए। कार्यकर्त्ताग्रों ने कहा कि हम लोग स्वयं ग्रधिक-से-ग्रधिक सेवा करना चाहते हैं, परन्तु प्रश्न साधन का है। जितने वड़े रूप में ग्रौर जितने वड़े क्षेत्र में काम करेंगे, उतने ही ग्रधिक धन की ग्रावश्यकता पड़ेगी। श्री सूरजमल जी ने कार्यकर्त्ताग्रों को उत्साह दिलाते हुए कहा कि इसकी परवाह मत करो। काम शुरू करो। धन की ग्रोर से ग्राश्वासन देने के साथ-साथ उन्होंने ग्रपने फर्म में काम करनेवाले लोगों में से कई लोगों को सेवा के लिए वाढ़-पीड़ित स्थानों में भी भेजा—जिसमें से एक नवयुवक श्री गौरीशंकर जी मेड़तिया नाम के थे। उनका देहावसान पूर्वी वंगाल में ही सेवा करते-करते हो गया। जहाँ तक हमें याद है, वे सवसे पहले मारवाड़ी सज्जन थे, जो सेवा-क्षेत्र में काम करते-करते शहीद हुए[3]। वड़े उत्साही नवयुवक थे श्री गौरीशंकर जी। श्री सूरजमल जी ने उनके कुटुम्व को तो सम्हाला ही, साथ ही साथ जव भी इस तरह का कोई ग्रवसर ग्राता, तो वरावर ही गौरीशंकर जी मेड़तिया को याद किया करते थे।"

मेड़तिया जी की यह शहादत भारतीय पत्रकारिता में भी एक स्मरणीय ग्रनुच्छेद जोड़ गई। श्री सीताराम जी सेकसरिया तथा उनके मित्रों ने मेड़तिया जी की स्मृति में एक छोटा समाचार-पत्र प्रकाशित करना प्रारंभ किया, जिसका नाम 'मारवाड़ी युवक' रखा गया। यह पत्र लगभग एक वर्ष चला। ग्रौर इसमें युवकों को उद्वोधन देने के लिए उत्तम सामग्री संचित की जाती थी। इस पत्र पर सवसे ऊपर मेड़तिया जी का चित्र मुद्रित रहता, उनकी स्मृति में यह पत्र निकाला गया, यह तथ्य उल्लिखित रहता।

मेड़तिया जी की शहादत के परोक्ष में सूरजमल जी की श्री की स्मिति विद्यमान है। युवकों की शहादत के पीछे जिनका वरद् हस्त रहा है, उनकी स्मिति ही सामाजिक जागृति की प्रधान निधि रही है। सच कहा है—

ग्रहो किमपि चित्राणि चरित्राणि महात्मनाम्।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्तेत द्भारेण नमन्त्यपि॥

—महापुरुषों के चरित्र विचित्र ही होते हैं। वे लक्ष्मी को तृण के समान समझते हैं। पर लक्ष्मी के भार से नम भी जाते हैं,

१ 'भारत मित्र' ने २० अगस्त, सन् १९१६, के अपने अनु-संपादकीय में इस नाम-परिवर्तन की सूचना प्रेषित की थी।

२ सन् १९१६ की मध्य अवधि तक सोसाइटी ने वर्दवान की वाढ़, त्रिपुरा जिले की वाढ़, युक्तप्रदेश वाढ़ की वाढ़ और राजपूताने के दुर्भिक्ष-पीड़ितों में काफी काम कर लिया था।

३ पहले सज्जन सन् १९१३ की वर्दवान-वाढ़ में शहीद हुए थे।

विनीत मात्र रह जाते हैं। यही विनय युवकों की बलि-पंथी उमंगों को दिशा-प्रेरक आदेश देता रहा है।[1]

जालियांवाला बाग की दुर्घटना में गांधीजी ने इस तरह भाग लिया कि उससे सारे देश में एक अभूतपूर्व जागृति फैली। सरकार ने रौलेक्ट एक्ट पास कर दिया। गांधीजी ने आदेश दिया कि सारे देश में इस एक्ट के खिलाफ आवाज उठाई जाए। उसीके संदर्भ में कलकत्ता में भी एक बड़ी जबरदस्त सभा वीडन स्क्वायर में हुई। इसमें चित्तरंजन दास भी बोले। लगभग १ लाख आदमी इसमें उपस्थित हुए। दिन भर सब लोगों ने उपवास रखा। आम हड़ताल रही, ऐसी कि इससे पहले कलकत्ता में न हुई थी! इसमें देवी प्रसाद जी खेतान का भाषण भी हुआ था। उससे नाराज होकर बंगाल के गवर्नर रोनाल्डशे ने मारवाड़ी ऐसोसिएशन के सभी सदस्यों को बुलाकर कहा कि मैं २४ घंटे में सारे बंगाल से सभी मारवाड़ियों को निष्कासित कर दूंगा। इस धमकी के आतंक से दुखी मारवाड़ी ऐसोसिएशन ने क्या रुख लिया, यह प्रसंग यहाँ पर आवश्यक नहीं है। लेकिन देवीप्रसाद जी खेतान अवश्य सक्रिय राजनीति से यहीं से दूर चले गये। पर गांधीजी का नाम बड़ाबाजार में अनेक ऐसे युवकों को उनके स्थान पर स्थानापन्न कर गया, जो राष्ट्रकर्मी कहलाये जाने में एक विशेष आनन्द अनुभव करते थे। ८ सितम्बर, सन् १९२०, से लाजपतराय जी की अध्यक्षता में कांग्रेस का जलसा सम्पन्न हुआ। इसमें गांधीजी के आगमन से न केवल बंगाल में, बल्कि विशेष रूप से कलकत्ता में अधिक सरगरमी व्याप्त हो गयी थी। 'भारतमित्र' दैनिक के ६ फरवरी, शुक्रवार, सन् १९२० के अंक से पता चलता है कि ४ फरवरी को मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशन के सेवा-विभाग का एक अधिवेशन कलकत्ता में आनेवाले महात्मा गांधी आदि भारतीय नेताओं के स्वागत में स्वयंसेवक भेजने पर विचार करने के लिए हुआ। देवीप्रसाद जी खेतान इसके सभापति थे। उन्होंने स्वयंसेवक भेजने पर आपत्ति की। सेवा-विभाग के सहकारी मंत्री और बाबू तुलसीराम जी सरावगी के अनुमोदन पर स्वागत में स्वयंसेवक भेजना निश्चित हुआ। मारवाड़ी स्वयंसेवकों को आदेश था कि वे केसरिया पाग बांध कर आवें।

इस समाचार से पता चलता है कि व्यापक स्तर पर कितनी राष्ट्रीय चहल-पहल इस वर्ष कलकत्ता में फैली हुई थी। जब यह प्रश्न आया कि गांधी जी को कहाँ ठहराया जाये तो उस परामर्श के समय बाबू सूरजमल जी जालान सामने आये। आप इन दिनों तक १०३, हरिसन रोड पर निवास करते थे। आपके ठीक सामने १०० नं० हरिसन रोड का मकान इस दृष्टि से उपयुक्त था और ऐसा ही सुझाव आपने जमनालाल जी बजाज को दे दिया और उन्हें यह भी आश्वासन दिया कि जहाँ तक हम से होगा, हम उनकी सेवा करेंगे। जमनालाल जी बजाज ने यह बात विशेष रूप से इसलिए कही कि इस समय तक देश में लोग गांधी जी को आदर-भक्ति करने अवश्य लगे थे, लेकिन अधिकांश व्यक्ति उनके सम्पर्क में आने में भयभीत रहते थे कि कहीं सरकार का कोप उन पर भी हावी न हो जाये। कुछ महीने पहले ही बंगाल के गवर्नर ने मारवाड़ी जाति को धमकी देकर यह चेतावनी जैसे दी ही थी कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन से अपना कोई सम्पर्क न रखें। लेकिन सूरजमल जी ने यह दुर्बलता इस समय न दिखाई। आपने उनके आतिथ्य का सारा भार अपने ऊपर ले लिया।

दैनिक 'विश्वमित्र' के दिवाली विशेषांक, सन् १९६२, के पृष्ठ १२३ पर इस विषय का एक रोचक संस्मरण प्रकाशित हुआ है, जो इस अवसर पर उल्लेखनीय है। वह इस प्रकार है:

"दूसरी बार गांधीजी सन् १९२० में स्पेशल कांग्रेस के अवसर पर कलकत्ता आये। उन्हें ठहराने के लिए हरिसन रोड पर स्थित १०० नं० के मकान को उपयुक्त समझा गया। यह विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय का मकान था और विद्यालय का नया भवन बन जाने के बाद से इसे विद्यालय की सहायतार्थ किराये पर उठा दिया गया था। जमनालाल जी बजाज ने अपने प्रभाव से यहाँ पर कोने का कमरा गांधीजी के ठहरने के निमित्त हस्तगत किया। इस बाड़ी के ठीक सामने १०३ नं० की बाड़ी है, जिसमें सेठ सूरजमल जी जालान रहते थे। उन्होंने उनसे कहा कि हम यहाँ गांधीजी को ठहराते हैं, आप उनके आतिथ्य का ध्यान रखना सूरजमल जी ने इसे सहर्ष शिरोधार्य कर लिया।

"यद्यपि कमरे को गांधीजी के आने से पहले साफ कर दिया गया था, किन्तु वहाँ यथेष्ट सफाई न थी। गांधीजी जब आये तो उन्होंने उस कमरे को अपने हाथों से झाड़ू देकर साफ किया। उसके बाद वे कांग्रेस की मीटिंग में चले गये। पीछे से स्वयंसेवक एक बहुत बड़ी दरी लाये, श्यामदेव जी देवड़ा इन स्वयंसेवकों में ऊपर थे। उन्होंने बिना साफ किये ही दरी कमरे में बिछाई और वहाँ से लौट गये। सार्वजनिक जीवन का इतना अनुभव न था कि उसे साफ करना आवश्यक समझें। जब गांधीजी लौट कर आये और उन्होंने कमरे का हाल देखा तो वे दुख से नहीं भर गये, उन्होंने पूछा कि यह दरी किसने बिछाई है। पूरी बात समझ लेने पर, कि दरी सामने के मकान से आई है, उन्होंने स्वयं सेवकों को बड़े आत्मीय ढंग से समझाते हुए कहा कि इसे उठाओ और जब वह भारी होने की वजह से उनसे न उठी, तो गांधीजी ने अपने हाथों का सहारा देकर दरी उठवाई। उसे अपने हाथों से साफ किया और फिर अपने हाथों से ही उसे कमरे में बिछवाई। उसके बाद ही वे उस पर आराम से बैठे।"

१ सन् १९४१ में प्रकाशित सोसायटी के रजत-जयंती अंक में सूरजमल जी का चित्र प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि वे बाढ़-प्रकाश के समय कार्यकर्ताओं को बुलाकर धन आदि देकर सेवा-कार्य की प्रेरणा दिया करते थे।

सूरजमल जी ने सात्विक भोजन की व्यवस्था की थी और उसीके साथ बादाम आदि सूखे मेवे भी मँगवाये थे। उन्हें लेकर जब उनके सुपुत्र मोहनलाल जी गांधीजी की सेवा में उपस्थित हुए तो गांधीजी ने पूछा कि ये बादाम तो मँहगे हैं, मेरे लिये तो दरिद्र-नारायण के बादाम चीनियाबादाम लाओ !

सूरजमल जी ने यह सुना और उन्हें जीवन में पहली बार 'नारायण' शब्द का साक्षात्कार जिस तरह हुआ, वह उन्हें शेष जीवन भुलाये न भूला !!

सेवाकार्य की दृष्टि से अपने अपरिचित कष्ट-पीड़ितों के बीच में जाकर सक्रिय हो जाना, यह नवजागरण के परिपाक का सुफल था। इसी के बाद आत्म-ज्ञान के बल पर अपने समाज की रूढ़ियों का समाहार करना—यह समाज-सुधार का प्रथम परिच्छेद था। सेठ जमनालाल बजाज ने इसी परिच्छेद को सुस्पष्ट रूपरेखा देने का पुण्य अर्जित किया था। यद्यपि वे सन् १९१२ से सम्पूर्ण देश के मारवाड़ी समाज का एक संगठन करने के प्रयास में लगे हुए थे, लेकिन अन्त में संगठन की व्यावहारिक योजना लेकर आगे आये और वर्धा में ही इस योजना को प्रारंभिक स्तर पर आपने उद्घाटित किया। वर्धा इसी समय से भारत की स्वतंत्रता-युद्ध-कालीन राजधानी रहा। अतएव इस उद्घाटन का एक महत्व सारे देश में प्रचारित हो गया। इसके बाद जमनालाल जी ने मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का दूसरा विशाल अधिवेशन सन् १९२० में बम्बई में किया। इस विषय में श्री श्यामदेव देवड़ा के संस्मरण हम ऊपर पढ़ चुके हैं। यहाँ कुछ उनके अन्य पहलुओं को लेना श्रेयस्कर प्रतीत होता है।

सूरजमल जी ने जब इस तरह के आयोजन का ब्यौरा प्राप्त किया तो आपके मन में यह प्रियता जाग्रत हुई कि इस तरह के सार्वदेशीय जातीय संगठनों में अपना सहयोग देना वांछनीय है। अतएव वर्धा के प्रथम अधिवेशन में[1] यद्यपि आप स्वयं नहीं गये, लेकिन आपने अपने यहाँ काम करने वाले उत्साही नवयुवक श्यामदेव जी देवड़ा को वहाँ अन्य प्रतिनिधियों के साथ भेजा। जब दूसरा अधिवेशन हुआ, तो आपने निश्चय किया कि स्वयं बम्बई चलें। और इसी निर्णय के अनुसार आप कुछ मित्रों का दल लेकर पहली बार बम्बई की दिशा प्रवास पर निकले।

कानोड़िया जी और सेकसरिया जी ने इस अवसर के संस्मरणों को प्रेषित करते हुए उन तथ्यों को पहली बार हम सबके सामने रखा है, जो समाज-इतिहास में एक व्यापक प्रभाव छोड़ गये। वे व्यापक किस तरह हुए, यह प्रश्न दूसरा है और उनकी व्याख्या करने के लिए पर्याप्त विस्तार चाहिए। संक्षेप में स्वयं लेखक-द्वय ही इस व्याख्या का संकेत करने में सतर्क रहे हैं—

"दूसरी घटना हम देना चाहते हैं उनके समाज-सुधार की भावना की। बात सन् १९२० की है। जमनालाल जी के प्रयत्न से स्थापित अग्रवाल महासभा का दूसरा अधिवेशन बम्बई में हुआ था। सभापति थे रामलाल जी गनेड़ीवाला। गनेड़ीवाला परिवार कट्टर सनातन-धर्म और बहुत ही आचार-विचार वाला परिवार माना जाता था। लेकिन उनके सभापतित्व में होनेवाले अधिवेशन में भी मारवाड़ी समाज के पुराने विचार के दूसरे लोगों ने, जो कि अपने को सनातन-धर्मी कहते थे, सहयोग नहीं दिया। सहयोग न देने का एक अपना अलग इतिहास है, लेकिन उसे यहाँ देने की जरूरत नहीं। हमें जो कहना है वह यह कि अपने ही सम विचारवाले दूसरे लोगों के सहयोग न देने पर भी सूरजमल जी अपनी सुधार-भावना के कारण महासभा के इस अधिवेशन में शरीक हुए ही और बड़े उत्साह से भाग लिया। इतना ही नहीं, बल्कि अगली साल के अधिवेशन को कलकत्ता बुलाने का निमंत्रण भी दिया। उक्त अधिवेशन में ही अग्रवाल-कोष की स्थापना हुई थी, जिसमें उन्होंने बहुत उत्साहपूर्वक योग दिया था। उनके निमंत्रण पर जब कलकत्ता में अगला अधिवेशन हुआ, तब भी यहाँ के धनी वर्ग के लोगों ने विरोध किया, किन्तु श्री सूरजमल जी ने उस विरोध की ओर ध्यान न देकर बहुत उत्साह से भाग लिया।"

आज बहुत से वे सज्जन जीवित नहीं रह गये हैं, जिन्होंने बम्बई के इस जातीय अधिवेशन में भाग लिया था, लेकिन जो सुनी-सुनाई बातें प्रायः पुराने लोगों के मुख से सुनने को मिल जाती हैं, उनसे यह तो पता चल ही जाता है कि बम्बई में भी सूरजमल जी ने बराबर सभी बहसों में भाग लिया और वे प्रारंभ से ही जातीय मंच पर जो दो उग्र परस्पर-विरोधी छोर के शायद कभी न मिलने वाले तत्व थे, उनके बीच एक सौमनस्य स्थापित करने का जीतोड़ प्रयत्न करते रहे। रात के एक और दो बज जाते, लेकिन सूरजमल जी कभी भी अपने प्रयत्नों में शिथिल या हतोत्साह न हुए। उनके चिंतन की अपनी शैली थी। किन्तु उस शैली को उन्होंने कभी भी किसी पर लादने का प्रयत्न न किया। उल्टे वे सार्वदेशीय जातीय मंच पर एक मिली-जुली सौहार्द्र-भावना से ही समाज-हित के प्रश्नों का समाधान करने का स्वप्न चरितार्थ करना चाहते थे।

'भारतमित्र' दैनिक, के ८ अगस्त, सन् १९२०, अंक में प्रकाशित समाचार से पता चलता है कि मारवाड़ी अग्रवाल सभा की ओर से अखिल भारतीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का अधिवेशन धूम-धाम से हो, इसके लिए तैयारियाँ शुरू कर दी गई थीं। इस समाचार में सूचना दी गई थी कि यह अधिवेशन कलकत्ता में होनेवाला है। इस पर विचार करने के लिए एक सभा राय बद्रीदास जी

---

१ 'भारत मित्र' के २ अक्टूबर, सन १९१८, के अंक में श्री देवीप्रसाद जी खेतान ने सर्वसाधारण से इस अधिवेशन में शामिल होने की विज्ञप्ति प्रचारित की थी। लिखा था कि जितने ही अधिक संख्या में लोग सम्मिलित होंगे, उतना ही इस अधिवेशन का गौरव होगा और सभा के काम में सफलता समझी जायगी।

बहादुर के भवन में बुलाई गयी। हस्ताक्षरकर्त्ता जयनारायणजी पोद्दार, रंगलाल जी जाजोदिया,[1] सूरजमल जी जालान,हजारीमल जी लोहिया, वेणीप्रसाद जी डालमिया, और देवीप्रसाद जी खेतान हैं। क्योंकि सूरजमलजी जालान ने यह अधिवेशन कलकत्ता में बुलाया था, इसलिए आपने समाज के इस युग के सर्वोच्चपदीय व्यक्तियों में जयनारायण जी पोद्दार को अपने साथ ले लिया था और उस युग के सभी प्रिय कार्यकर्त्ताओं को भी इस जातीय यज्ञ में वे शामिल कर चुके थे।

६ मास बाद आखिर अधिवेशन की तिथियाँ पास आईं। मनोनीत सभापति श्री सेठ नौरंगराय जी खेतान ७ अप्रैल सन् १९२१ को पंजाब मेल से जयपुर से चल कर पधारे। आपके स्वागत करनेवालों में स्टेशन पर स्वागतकारिणी के सदस्य तथा बहुत से मारवाड़ी सज्जन उपस्थित थे, जिनमें सूरजमल जी जालान, सेठ जमनालाल बजाज, जयलाल जी भिवानीवाला, रामप्रताप जी चमड़िया,रामेश्वर जी बिड़ला,गुरुप्रताप पोद्दार,ओंकारमलजी सराफ, देवीबख्श जी सराफ, बालचन्द जी मोदी, फूलचन्द जी चौधरी, ज्वालाप्रसाद जी बागला, लक्ष्मीनारायण जी मुरोदिया, सीतारामजी खेमका, रंगलालजी जाजोदिया आदि अन्य यशस्वी सज्जन उपस्थित थे।

विषय-विस्तार का लोभ संवरण करते हुए यहाँ पर केवल इतना संकेत मात्र काफी होगा कि यह अधिवेशन बहुत सफल हुआ। जागृति बहुत हुई। काम बहुत हुआ। नई दिशाओं का उद्बोधन करने के लिए समाज के युवकों ने बहुत बड़ा भार अपने ऊपर ले लिया। लेकिन पृष्ठ-भूमि में सूरजमल जी जालान इस अधिवेशन को कलकत्ता में निमंत्रण देने के कारण, मौन भाव से इस सब-कुछ के प्रति विनीत बने हुए गद्‌गद् थे।

एक प्रश्न इस स्थल पर यह अवश्य होता है कि जातीय महासभाओं का और प्रान्तीय जाति-सभा के अधिवेशनों पर प्रारंभिक स्तर पर क्या खेती की गयी, किन विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया और क्यों ये मंच सिरफुटौव्वल के कारण बने और क्यों इन जातीय सभाओं का इतिहास सार्वदेशीय स्तर पर प्रिय न हो सका? जब कि सभी की कामना यह रही कि सार्वदेशीय स्तर पर मारवाड़ी समाज एक सम-दृष्टि से देखे और सम-मन: विचार-चिंतन करे, तब क्यों न इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकी, और क्यों इन जातीय सभाओं के बहिष्कार की नीति के सीधे परिणाम जाति-बहिष्कार के रूप में सामने आये?

हमारे सामने सौभाग्य से राजपूताना प्रान्तीय मारवाड़ी अग्रवाल सम्मेलन के प्रथमाधिवेशन, जयपुर, की पूर्ण प्रकाशित रिपोर्ट है। यह सन् १९२६ की है। इससे एक वर्ष पहले सन् १९२५ में श्री राजस्थान ब्राह्मण सम्मेलन का षष्ठाधिवेशन लक्ष्मणगढ़ (शेखावाटी) में हुआ, उसका पूरा प्रकाशित कार्य-विवरण है। इससे भी एक वर्ष पहले अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के षष्ठम महाधिवेशन, कानपुर, का कार्य-विवरण है, जिसके सभापति बम्बई के श्री आनंदीलाल जी पोद्दार थे। निःसंकोच स्वीकार करना चाहिए कि जिस तरह पहले नगर-विशेष की संस्थाएँ अपने सर्वोच्च धनिक को ही पंचायत के पंच मान्य कर लिया करती थीं, कुछ वैसी ही नीति इस जातीय महासभा के प्रारंभिक दौर में रही; नगर-नगर से चुन-चुनकर ऐसे धनिकों को लिया गया, जिनकी आर्थिक अवस्था बहुत श्रेष्ठ थी, लेकिन जो समाज पर अपना प्रभाव भी डालने में समर्थ थे। पर पहला विचार धन की प्रचुरता का था! अवश्य इन सभापतियों ने हर अधिवेशन में सेठ जमनालाल बजाज की देश-भक्ति का राग अलापा, राष्ट्रीय दौर को बल देते हुए अपने मंचों पर राष्ट्रीय नेताओं के चित्र भी टांगे, देश-भक्ति के गीत भी मंचों से गाये गये, लेकिन देश-भक्ति के साथ धर्म की चर्चा भी रही। क्यों रही? इसलिए कि मारवाड़ी समाज की जीवन-प्रणाली धर्म-आधारित है। किन्तु धन का दुरुपयोग जिस तरह से बड़े संभ्रान्त घरों में होता था, उस पर सदुपदेश अवश्य दिये गये, लेकिन ठोस कुछ न हुआ। और विधवा-विवाह में, जो कि समाज का सबसे ज्वलंत प्रश्न था, वहाँ पर धन की गरिमा ही सबसे बड़ी बाधक बन गयी। इस तरह के अनेक प्रश्न सामने आये। परदा भी आया। भाषण खूब हुए, लेकिन जातीय कार्य-कर्त्ताओं पर काम छोड़ कर, जातीय लोक-नेता सामने न आये। वे लोकनेता केवल राजनीति पर भरोसा रख कर ही, राष्ट्रीय मंच पर सक्रिय रहने में विश्वास करते रहे। यह विरोधाभास इन महासभाओं का जीवन खोखला करता गया, ठोस काम आगे न हुआ, जनता की अभिरुचि अधिक न पनप सकी।

हाँ, कुछ बातें अवश्य पनपीं और यह इसलिए संभव हुआ कि जातीय कार्यकर्त्ताओं ने बड़ा काम करने का उत्साह कर दिखाया। इस तरह का एक उदाहरण कलकत्ता का वह पहला विधवा विवाह है, जिसने सारे देश में एक मनोमंथन का बवाल पैदा कर दिया था। इस समय तक कलकत्ता में श्री भागीरथ जी कानोड़िया, श्री सीतारामजी सेकसरिया, श्री प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका और अन्य नवयुवकों का नाम समाज-सुधार के मंच पर इसलिए आने लगा था, क्योंकि एक निष्ठा थी और ये उन सुधारों में विश्वास करने लगे थे। ऐसे निर्णयात्मक वातावरण में इन नवयुवकों ने यह निश्चय किया कि एक विधवा-विवाह होना चाहिए। कहाँ हो, तो इसके लिए चौधरी छाजूरामजी ने अपना मकान इस शुभ कार्य के लिए अर्पित कर दिया। विवाह न हो, इसको अघटित करने

१ श्री रंगलाल जी जाजोदिया, जो सूरजमल जी जालान के परम स्नेह-भाजन थे, इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष मनोनीत हुए थे।

के लिए समाज के पुराने जातीय लोकनायकों ने इन नवयुवकों को बहुत डराया-धमकाया।

मारवाड़ी अग्रवाल पंचायत की बैठक हुई, इस बैठक में रूढ़ पंथी और प्रतिक्रियावादी वे सभी जन बैठे, जिन्होंने इस विवाह को न होने देने के पक्ष में अपना मत प्रबल किया। हजार हास्यास्पद और भौंडी बातों की एक कुरुचिपूर्ण बात यह थी कि जहाँ यह पंचायत वृद्धविवाह के लिए भी जाति-बहिष्कार का दंड कारगर समझ रही थी, वहीं पर इन्होंने अपनी बुद्धि का दिवाला निकालते हुए, विधवा-विवाह जैसे शुद्ध सात्विक भाव के आयोजन को भी दंडनीय घोषित करते हुए आयोजकों को अपराधी समझा और रामगोपालजी सराफ, ओंकारमल जी सराफ, फूलचन्दजी चौधरी, बसन्तलाल मुरारका, जगन्नाथजी गुप्ता, प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, पद्मराजजी जैन और नागरमलजी मोदी आदि को जाति-बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन किस जाति से, यह नहीं बताया गया। जाति पुरुषों की या माताओं-बहनों की—यह भी नहीं बताया गया!

आज तो इन घटनाओं पर कस कर हँसने का जी करता है, लेकिन उन दिनों ये गंभीर घटनायें थीं, दो टुकड़े समाज के थे। ऐसे क्षणों में सूरजमलजी आगे आये, उन्होंने समझौते की बात की। बहिष्कृत जनों से मिले और उनकी बातों को ध्यान से सुना।

इसी मार्मिक क्षण का संस्मरण प्रस्तुत करते हुए कानोड़ियाजी और सेकसरियाजी न कहा, "समाज-सुधार की भावना के साथ एक उदाहरण हम इस बात का भी देना चाहते हैं कि विरोधी विचारवालों के प्रति उनके मन में कितना आदर और कितनी सहिष्णुता थी। बात सन् १९२६ के अन्त की है। मारवाड़ी समाज में पहला विधवा-विवाह हुआ था। उस विवाह को लेकर नये और पुराने विचारवालों में बहुत संघर्ष हुआ था। सेटलमेंट की बात भी चली। उस सेटलमेंट की बात के सिलसिले में श्री सूरजमलजी हम लोगों से मिले थे। हम लोगों ने उन्हें अपना दृष्टिकोण समझाया। विरोधी विचार रखते हुए भी उन्होंने हमारे दृष्टिकोण की कद्र की तथा दूसरे दिन सारे लोगों के सामने यह कहा कि सिद्धांत-भेद भले ही हो, लेकिन वे लोग जो कुछ कहते या करते हैं, उसमें सच्चाई और ईमानदारी है, इसलिए उन्हें व्यक्तिगत रूप से दोष नहीं दिया जा सकता।"

यहाँ पर लगे हाथों एक रोचक तथ्य और दे दिया जाये। तथ्य इसी जाति-बहिष्कार का है। इस जाति-बहिष्कार के बाद ही माहेश्वरी समाज के बिड़ला-परिवार में एक विवाह हुआ। उसमें असंगत कुछ न था, केवल मानसिक रूढ़ि का फफूंदा हुआ विष इस विवाह को सहन करने को तैयार न था। सब जानते थे कि न तो यह वृद्धविवाह है, न विधवा-विवाह है, लेकिन माहेश्वरी पंचायत अपना अस्तित्व सार्थक करने पर तुली हुई थी, उसने बिड़ला परिवार को जाति-बहिष्कार कर दिया। उसके पीछे छुपी हुई रागद्वेष की बात यह भी थी कि घनश्यामदास जी बिड़ला उक्त अग्रवाल जातीय समाज-सुधारकों के पृष्ठपोषक थे, इसलिए मुख्य रूप से उन्हें ही दंडित करना था। पर माहेश्वरी समाज इस जाति-बहिष्कार में स्वयं ही हार कर बैठा रह गया और बिड़ला-परिवार इस अग्नि-परीक्षा में साफ बेलाग निकल आया। ऐसे अवसर पर हम जयनारायण जी पोद्दार को स्मरण करना न भूलें। उन्होंने घनश्यामदास जी से, जब वे पोद्दारजी से इस विषय में मिलने गये, यही कहा कि "तू वीर पुरुष है, डिग मत जाइयो!" सूरजमल जी भी इसी मूल मंत्र की बात नवयुवकों से कहा करते थे कि वीर पुरुष बनो, डिगने की मनोस्थिति से बचके रहो...

राजस्थान के अमर संत कवि सुन्दरदासजी ने कहा है:

जैसे कीरी महल में छिद्र ताकती जाइ!

—चाहे राजमहल हो या कंचनमहल, चींटी जब उसमें प्रविष्ट हो जाती है, तो वह यही देखती चलती है कि छिद्र किधर है, जिससे होकर वह बाहर निकले, इसी तरह की गति छिद्रान्वेषियों की है। वे जितने ही छिद्र-दोष देखेंगे, उतना ही उसमें प्रविष्ट होंगे। सूरजमलजी इन पंचायतों और समाज-सुधारवादियों के युग में कम-से-कम चींटी की गति से बच कर रहे, वे मनोयोगी की गति—प्रशस्त जीवन, के साधक बन कर रहे!

यह प्रसंग अभी पूर्ण नहीं हुआ है। कानोड़ियाजी और सेकसरियाजी की बात हमने सुन ली, अब हम प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका के महत्वपूर्ण संस्मरणों पर एक दृष्टि और डाल लें। उनसे प्रमाण मिलता है कि सूरजमलजी का समाज में महत्व कितना बढ़ गया था और उसी अनुपात में वे समाज के बीच किस तरह एक उत्तम सामाजिक प्रकाश के प्रदाता भी बन चुके थे। हिम्मतसिंहका जी ने कहा, "सूरजमलजी से मेरा प्रथम परिचय सन् १९२० के बाद ही हुआ। मेरा ऐसा ख्याल है कि इसी वर्ष मैं कलकत्ता लौट आया था। इस समय से सामाजिक आन्दोलन चलने शुरू हो गये थे और काफी उग्र भावों का दौर व्यापक होने लगा था। ऐसे प्रसंगों में उनसे भेंट हुई। और जब विधवा-विवाह के प्रश्न को लेकर सन् १९२६ के अन्त में हम जाति-बहिष्कृत हुए, उस समय वे वास्तविक रूप से कोई ऐसा समझौता करना चाहते थे, जिससे समाज में दो दल विभक्त न हो जायें।

"सूरजमल जी कलकत्ता की जातीय पंचायत के साथ अवश्य न रहे, लेकिन वे अग्रवाल महासभा के साथ अवश्य रहे। जब फतहपुर में अधिवेशन हुआ तो वहाँ पर एक प्रस्ताव राजा-महाराजाओं और जमींदारों के बारे में आया कि ये लोग सरकार को सहयोग देते हैं। यह प्रस्ताव पास जब हुआ, तो सूरजमल जी ने यह कहा कि यह प्रस्ताव जातीय मंच से न आना चाहिए। इस अधिवेशन में हम भी गये थे और भागीरथजी कानोड़िया भी गये

थे। इस अधिवेशन के प्रेसीडेंट बम्बई के श्रीश्योनारायणजी नेमाणी थे। लेकिन इस प्रस्ताव से असंतुष्ट होकर सूरजमल जी वहाँ से वापस आ गये। और उसके बाद उनका उत्साह इस संस्था के प्रति बहुत कुछ घट गया।

"लेकिन सूरजमल जी ने यह शालीनता सदैव बरती कि विचारों में मतभेद रखते हुए भी वे हमारा सदा स्वागत करते थे। प्रायः हम सार्वजनिक कार्यो से उनके यहाँ कभी-कभी सार्वजनिक चंदा लेने के लिए जाया करते थे। शिक्षा आदि के कामों में वे बराबर मदद देते थे। श्री रामजी आर्य के साथ हम एक बार उनके यहाँ चन्दा मांगने गये। इस समय तक बृजमोहनजी बिड़ला कलकत्ता में स्काऊटिंग के लोकनेता थे। बैडनपावेल का ब्वाइज स्काऊट्स ऐसोसिएशन बना था, लेकिन उसमें यूनियन जैक के प्रति नमस्कार करना आवश्यक था, इसलिए हम लोग उसमें शामिल नहीं हुए थे। सन् १९२६ में हम ने बाजपेयीजी के सहयोग से यहाँ भी हिन्दुस्तान ब्वाइज स्काऊट्स ऐसोसिएशन की एक शाखा खोल ली। मैं इसका डिस्ट्रिक्ट कमिश्नर नियुक्त हुआ था। इस संगठन के पहले बड़ा बाजार में युवक सभा[1] का काम शुरू हो चुका था। उस संगठन को पहले माहेश्वरी विद्यालय के प्रांगण में, बाद में बांसतल्ला में जगह मिली। फिर नेवरजी की जमीन तबलापट्टी में शुरू हुआ। बाद में महाजाति सदन के पीछे इसे ले आया गया। इसमें दीक्षा लेकर अनेक अवसरों पर लड़कों ने काफी काम किया और विध्वंसक तत्वों से समाज की काफी रक्षा की। सूरजमलजी ने इस सभा के लिए काफी आर्थिक सहयोग दिया था। जब हम अपनी स्काऊटों की संस्था के लिए उनके पास गये, तो पहले तो वे सहमत न हुए, लेकिन दूसरे दिन उन्होंने ५००) रु० का चैक भिजवा दिया।

"यहाँ पर एक विशेष बात याद आ रही है। वर्तमान राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् उन दिनों काशी विश्वविद्यालय के लिए चन्दा एकत्र करने निकले थे। वे कलकत्ता आये तो सबसे पहले घनश्यामदास जी बिड़ला से मिले। बिड़ला जी ने मुझे बुलाकर कहा कि इन्हें सूरजमलजी से भी मिला लाओ। मैं राधाकृष्णजी को लेकर सूरजमलजी जालान के पास ले गया। राधाकृष्णन्जी ने ४ मिनट तक अंग्रेजी में काशी के माहात्म्य पर कुछ कहा। तो आपने बीच में ही उन्हें रोक कर कहा कि ठीक है, ठीक है, हम २५ हजार देंगे। शिक्षा के यज्ञ में आपका ऐसा ही उदार हृदय था[2]। वस्तुतः वे अच्छे आदमी थे और उनसे मिलकर सांत्वना मिलती थी।"

सांत्वना! यह समाज की शान्ति का मूल मंत्र है। जिस समाज में सुधिजन और पूर्व पीढ़ी के जन सांत्वना के देवता बन कर रहते हैं, वह समाज धन्य है। सूरजमल जी इसी धन्य भावभूमि के वरद् पुत्र मान्य हो चुके थे, यह हमने उक्त संस्मरणों में देख लिया है।

श्री काली प्रसाद जी खेतान के संस्मरण भी यहाँ पर सामाजिक प्रियता का एक नया पहलू हमारे सामने रखते हैं, इसलिए लगे हाथों उन पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित रहेगा—"बीसवीं सदी के प्रारम्भ में कलकत्ते के मारवाड़ी ज्यादातर कपड़े, गल्ले और जूट के व्यापार में लगे हुए थे। बीसवीं सदी प्रारंभ होने के बाद दलाली के काम में बहुत वृद्धि हुई। विशेषतः शेयर बाजार में और जमीन की खरीद-बिक्री के काम में बहुत से नये दलाल सामने आये। इसका कारण यह था कि उस समय कम्पनियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था और बहुत से आदमी जिनके पास थोड़ी भी रकम रही, वे शेयर्स खरीदने लगे। कलकत्ता भी बहुत शीघ्रता के साथ बढ़ रहा था। और जमीन खरीद कर बहुत से मनुष्य मकान बनाने लगे। जब यह हालत थी, उस समय दो सज्जन बड़ा बाजार में दीखने लग गये, जिनके व्यक्तित्व से लोग उन्हें देखते ही प्रभावित हो जाते थे। एक का नाम था सूरजमल जी जालान और दूसरे का मंगनीराम जी बांगड़। बांगड़ जी शेयर और जमीन—दोनों का व्यापार करते थे। मेरे अनुमान से दोनों में ही अच्छी मित्रता रही और दोनों ही अपने काम से काम रखा करते थे। जो व्यक्ति बारंबार उनको देख पाते थे और उनके सम्पर्क में रहते थे, वे जानते थे कि वे दोनों ही सज्जन कम बोलने वाले, बड़े गंभीर, सौम्य और विचारवान थे। सूरजमल जी जालान देखने में बहुत सुन्दर थे। इसलिए जहाँ पर दीखते थे, वहाँ लोगों का ध्यान उनकी ओर स्वतः ही चला जाता था। मैं कलकत्ता में सन् १९०३ के प्रारंभ में ही स्कूल में भरती हो गया था। बड़ा बाजार का छोटा-सा जीवन था, उसमें विवाह-गमी इत्यादि अवसरों पर और सभा-समारोह, धार्मिक तथा अन्य प्रकार के उत्सवादि होते ही रहते थे। उनमें मेरा जाना होता था। और मुझे सूरजमल जी को इन सब बातों में कई बार देखने का काम पड़ा। यद्यपि वे शान्ति के साथ कुछ पीछे बैठना ही पसन्द करते थे, फिर भी मैं उनके आचार और व्यवहार से परिचित हो गया था। सन् १९१२ में समाज विलायत-यात्रा के प्रश्न को लेकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। उस समय उस आन्दोलन से कोई बिल्कुल बचे रहना चाहता तो भी संभव नहीं हो सकता था। अब मुझे स्मरण नहीं—मैं जब बैरिस्टर होकर सन् १९१४ के अगस्त मास में देश लौट आया और कलकत्ता में आकर समाज के साथ पुनः संपर्कित हुआ, उस समय सूरजमल जी जालान जूट के काम में बहुत कुछ कर चुके थे। विलायत-यात्रा के प्रश्न को लेकर वे किस पक्ष में थे, इसका मुझे मालूम नहीं, कारण समाज के सभी व्यक्ति, कोई इधर या कोई इधर (पक्ष-विपक्ष),

---

१ ५०००) रुपये युवक सभा का निजि मकान बनाने के लिए सब से पहले आपने दिया।

२ प्रभुदयाल जी हिम्मतसिंहका दुमका-निवासी हैं। एक बार सूरजमलजी दुमका गये। वहाँ पर एक शिक्षण-संस्था का निर्माण हो रहा था। वहाँ भी आपने स्वरूप आर्थिक राशि उस निर्माण-कार्य में प्रदान की।

में बँटे हुए थे। परन्तु उनकी ओर से आगे बढ़ कर विरोध होता मुझे कभी नहीं मिला। वे कम उम्र में ही विधुर हो गये थे और फिर उन्होंने दुबारा से विवाह नहीं किया। यह एक कारण हुआ, जिससे उनके बारे में समाज में बहुत जोर से चर्चा रही। और मैं उनके जीवन की इस विशेषता के कारण उनके व्यक्तित्व का एक प्रकार से अध्ययन करता रहा।

"सन् १९१४ का महायुद्ध जब छिड़ा, उस समय मैं यूरोप से लौट कर बम्बई था और रास्ते में अन्य स्थानों पर रुकता हुआ मैं कलकत्ता पहुँचा—४ अगस्त को युद्ध छिड़ने के प्रायः बीस दिन बाद। उस समय कलकत्ता के बड़ा बाजार में उस महायुद्ध को लेकर और मेरी विलायत-यात्रा को लेकर अत्यन्त ही अधिक चहल-पहल थी। व्यापार-क्षेत्र में अभूतपूर्व उत्तेजना-सी चल रही थी। उस समय कई व्यापारी आशातीत कमाई में रहे। उन सब के नाम का उल्लेख न करते हुए मैं केवल तीन सज्जनों का नाम इस प्रसंग में उपस्थित करता हूँ। एक बिड़ला, दूसरे मंगनीराम जी बांगड़ और तीसरे सूरजमल जी जालान। युद्ध खत्म होने के थोड़े ही दिन बाद बिड़ला-परिवार सब से पहले उद्योग (इंडस्ट्री) में गया और उस समय से आज तक उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहा। और, सन् १९६३ में भारतवर्ष में उनका पहला नम्बर रहा। बिल्कुल निर्विवाद है कि आज बिड़ला उद्योग में विश्व-विख्यात हो चुके हैं। मंगनीराम जी बांगड़ शेयर और जमीन के काम में बहुत बढ़ गये। और अनेक वर्षों बाद वे बड़े पैमाने पर उद्योग में प्रविष्ट हुए। इन दोनों के बीच का मार्ग सूरजमल जी जालान और उनके फर्म को रहा। अनेक प्रकार के माल का कारोबार भी हुआ और उद्योग (इंडस्ट्री) में भी अग्रगण्य हुए। इस त्रिमूर्ति की समाज में एक विशेष प्रतिष्ठा थी।

"उनके सम्पर्क में आने के मुझे अनगिनत अवसर मिले और मुझे उनकी ओर से बहुत ही स्नेह मिलता रहा। पर, एक बार जसीडीह-देवघर में मैं भी छुट्टी बिता रहा था और वे भी कुछ दिनों के लिए हवा बदलने वहाँ आये हुए थे। मुझे जहाँ तक याद है, वहाँ पर उनकी बहुत बड़ी कोठी थी। उन दिनों जसीडीह-देवघर में मारवाड़ी जाति में रिवाज था कि वहाँ एक दूसरे से बहुत मिलते रहते थे। कलकत्ता में फुर्सत हो या न हो, मिलना हो या न हो, पर जसीडीह-देवघर में तो फुर्सत की कमी न थी, आपस में मिलते रहना एक प्रकार की प्रथा बनी हुई थी। ऐसे कई इनेगिने परिवार थे, जो मेरी विलायत-यात्रा को लेकर कलकत्ता में मुझ से सम्पर्क स्थापित करने में संकोच अनुभव करते थे, पर वे भी जसीडीह-देवघर में मेरे यहाँ बराबर आते-जाते थे और मुझे अपने यहाँ बुलाते थे। सूरजमल जी का तो कहना ही क्या है, वे तो कलकत्ता में भी सुधारवादियों से दूर नहीं हटते थे। तो यह बात तो सहज में ही समझ में आ जायेगी कि जसीडीह-देवघर में वे दिल खोल कर सम्पर्क रखते थे। चाहे कोई रूढ़िवादी हो या सुधारवादी हो, मुझे जसीडीह-देवघर में सबके साथ दिल खोल कर बातचीत करने का मौका मिला। ऐसे कम ही सामाजिक प्रश्न होंगे, जिन पर परस्पर में बातचीत करने को उन्होंने टाला हो। कई बातों में सूरजमल जी के दृष्टिकोण ने मुझे बहुत प्रभावित किया। उस समय मैंने पाया कि वे उच्चशिक्षा के समर्थक हो गये थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि समाज का धार्मिक और नैतिक स्तर ऊँचा रखने के लिए ऐसी संस्थायें बनें जिनका प्रभाव समूचे समाज पर पड़े अर्थात् पुरानी रीति पालने वालों पर और नई अंग्रेजी शिक्षा पाई हुई पीढ़ी पर। मेरे साथ इन बातों की चर्चा वे विस्तार के साथ किया करते थे। कारण, उच्चशिक्षा के साथ मेरा सम्बन्ध था और उच्चशिक्षा पाने वालों के साथ सम्बन्ध था। और, साथ ही साथ मेरा पुराने विचारवालों के साथ भी सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गया था और मैं शिक्षालयों में अपने बूते के अनुसार पढ़ाया भी करता। इस मुलाकात के थोड़े दिनों बाद ही उनका देहान्त हो गया और उनके परिवार वाले आज कई शैक्षणिक संस्थायें स्थापित कर के चला रहे हैं, यह समूचे समाज को विदित है।

"समाज में पैसे वाले बहुत हुए और परलोक चले गये, परन्तु सूरजमल जी उन इने-गिने मनुष्यों में माने जाते हैं, जिन्हें सूक्ष्म रूप से अब तक जीवित माना जा सकता है और जिनकी कीर्ति अभी तक बनी हुई है और आगे तक बनी रहेगी।"

श्री कालीप्रसाद जी खेतान के उपरान्त हम श्री रामकुमार जी भुवालका (जो इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय एम. पी. हो गये हैं) ने भी सूरजमल जी के जीवन पर एक अभिनव दृष्टिकोण से प्रकाश डाला, जिससे परिचय होने पर हम महसूस कर सकते हैं कि अपने मौन जीवन में उनकी वरद् बाहें किस तरह समाज के युवकों का जीवन उत्तम संरक्षण पाये, इस के लिए सक्रिय रहती थीं। भुवालका जी ने बताया, "रतनगढ़ में सूरजमल जी की अपनी कोई दूकान न थी। वे प्रायः रतनगढ़ आने पर बलदेवदास जी बनोई की दूकान पर ही बैठते थे। नंदलाल जी भुवालका के पिता बिलासराय जी भुवालका भी अपनी दूकान से उठ कर यहीं अकसर सामाजिक गोष्ठी में दत्तचित्त रहने के लिए बैठा करते थे। सूरजमल जी इसी गोष्ठी के अन्तरंग सदस्य थे। और इसी नाते उनका स्नेह मेरे प्रति क्रमशः बढ़ने लगा था। कलकत्ता में मैं दौलतराम रावतमल की गद्दीमें काम करता था। यह घटना सन् १९१९ के आसपास की है। चाचाजी के पास वे बराबर ही आते और तब मुझ से सामाजिक कामों की चर्चा करते और आग्रह करते कि किसी सार्वजनिक हित की कोई बात हो तो ध्यान रखूँ; यह भी कहते कि मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी में किसी सेवा-कार्य के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था करवानी हो तो उनसे रुपये लेकर उस सेवाकार्य को पूरा करवा दो। इस तरह उनका हृदय ऐसी ही समष्टि-योजनाओं में लिप्त रहता था।

"उनकी गद्दी १६२,कास स्ट्रीट (चेतराम का कटला) में दो तल्ले पर थी और हमारी मोतीलाल रामकुमार की गद्दी एक तल्ले पर। मेरे श्वसुर घनसुखदास जी जालान सूरजमल जी के रिश्तेदार थे और इनके यहाँ काम देखते थे, इनके साथ ही रहते थे। सूरजमल जी हमारे पिताजी रंगलाल जी के मित्र थे। हमारे यहाँ कपड़े की चलानी का काम होता था। सूरजमल जी के आग्रह से मेरा रिश्ता घनसुखदास जी की कन्यासे किया जाना स्वीकार कर लिया गया। जब विवाह रतनगढ़ में हुआ तो कन्यादान स्वयं सूरजमल जी ने किया और सब कामों में वे ही अग्रणी रहे। कहना चाहिए कि इनकी मालकाई में सब काम हुआ। यह घटना १६१३ की है। इसी के बाद से वे मुझे 'कुंवर जी' शब्द से ही संबोधन करने लगे थे।

"१६३१ के आस पास की एक घटना और याद आती है। हम सब जसीडीह गये हुए थे। बंशीधर जी जालान भी वहाँ गये थे। उन दिनों वहाँ दुर्भिक्ष फैला हुआ था। हम से उन्होंने कहा कि आप अनाज बंटवाने की व्यवस्था कर दीजिए। हर परिस्थिति में, हर मौके पर उन्हें लगता था कि जो भाई तकलीफ में हैं, उनके लिए कुछ न कुछ होना चाहिए। वे बराबर सहायता देने के वास्ते हाजिर रहते थे। वे बराबर सहायता देते थे। १६-३७ में जब वे रतनगढ़ गये तो नंदलाल जी के साथ घूम-घूम कर उन्होंने सभी सार्वजनिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी थी। यह एक ज्वलन्त उदाहरण था कि किस तरह वे अपना अधिक से अधिक समय सर्वजन-हित में नियोजित करते थे।"

सर्व-जन-हित! सूरजमल जी इसी हित की आराधना के साधक थे।

श्री मोहनलाल जी जालान का विवाह और आत्म-ज्ञान

O

बाँधी जी बाँधी गल में घूगर माल कँवर तेजँजी रै।
कोई माथै पर बाँधी छै रै तेजै के सोहन झालरी,
घाल्यो जी घाल्यो पाट-पटम को झूल रै—
कोई गोड़ाँ तो पहराई रै पजणियां रिमझिम बाजणी।।

—गोभक्त तेजाजीका विवाह प्रकरण।

O

[३६]

चूलिका नेपथ्य में किसी घटनाके होने की सूचना रंग-मंच पर आने को कहते हैं। सूरजमलजी ने जब अपने एकमात्र पुत्र का विवाह रचाया तो अप्रकट भाव से उन्हें अपने जीवन का मानो नेपथ्य प्राप्त हो गया।

पारिवारिक क्षेत्र में उन की एक बहुत विलक्षण शैली थी; जब पुत्रादि के वैवाहिक संबंध करने का प्रश्न सामने आया, तब उन्होंने बहुत उदारता के साथ काम लिया। विचार-भेद आदि का प्रश्न उस समय उनके सामने प्रमुख न रहा। उस समय वे रिश्तों का सामंजस्य करने में बहुत उत्साह दिखाते थे। उस समय भी वैवाहिक संबंधों को लेकर लड़कों के मूल्य बढ़ने लगे थे, लेकिन सूरजमल जी ने अपने पुत्र या अन्य भ्राता-पुत्रों का जब रिश्ता स्वीकार किया, तो उस समय मोलतोल का दृष्टिकोण पूरी तरह से वर्जित किये रखा। उनके इस आदर्श के कारण जो समाज-सुधारक थे, वे भी एक अच्छी भावना लेकर उनके सामने आते थे।

जब भाइयों और बहनों का विवाह पूरा करने के उपरान्त सूरजमल जी ने, सांसारिक कर्तव्यों को पूर्ण करने की दृष्टि से, विवाहादि का दूसरा दौर प्रारंभ करते हुए सब से पहले अपने पुत्र मोहनलाल का विवाह-कार्य अपने हाथ में लिया, तो रिश्ते बहुत आये, लेकिन आपने जुहारमल जी खेमका और रामदेव जी चोखानी से ही इस विषय में अधिक बातें कीं और उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि चोखानी-वंशकी कन्या वे स्वीकार करें। रामदेव जी से तो बहुत पहले से उनका अच्छा भ्रातृभाव स्थापित हो चुका था। जुहारमल जी खेमका का अपना स्थान था और वे सामाजिक कार्यों में बहुत ओजस्वी व्यक्ति माने जाते थे। रामदेव जी ने जिस कन्या का प्रस्ताव सामने रखा था, वहाँ दहेज का हिसाब न था, सूरजमल जी ने उस दृष्टिकोण से कभी विचार भी न किया था, लेकिन रामदेव जी आदि के दलकी नीति का कोई विचार न करते हुए आपने इस विवाह-प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार केवल इसलिए किया कि परिवारों का पारस्परिक संगठन जब होने जा रहा है, तो उसमें जो विचार-भिन्नता है, वह और अपनत्व के प्रगाढ़ बंधन में बंध जायेगी!

मोहनलाल जी का विवाह सूरजमल जी के प्रौढ़ जीवन की प्रभावशीलता का वह प्रसंग प्रस्तुत करता है, जब कि उन के प्रति

समाज की अत्यधिक व्याप्त आदर-भावना सब के सामने अभिव्यक्त हुई थी। मोहनलाल जी का विवाह श्रीहरमुखराय जी चोखाणी के सुपुत्र श्री शिवप्रसाद जी चोखाणी की सौभाग्यवती सुकन्या से निश्चित हुआ था। यद्यपि कुछ समय पहले रिश्ता सराफ-परिवार की एक कन्या से निश्चित हो गया था, किन्तु विवाह से ही पहले उस कन्या का असामयिक देहान्त हो गया, फलतः यह रिश्ता पक्का किया गया। वधू का नाम पाना देवी था। रिश्ता तो दो वर्ष पहले निश्चित सा कर दिया गया, लेकिन सगाई कुछ ठहर कर हुई। विवाह वैशाख सुदी सप्तमी, संवत् १९७९, २२ अप्रैल सन् १९२२ को हुआ।

झावरमल जी सराफ सूरजमल जी के भानजे होते हैं। आपने अपने मामा के घर में बहुत स्नेह पाया है, आदर पाया है। आपका पुत्रवत् साहचर्य सूरजमल जी के साथ बहुत रहा है। इस विवाह का संस्मरण प्रस्तुत करते हुए आपने कहा, "जिस समय मोहनलाल का विवाह हुआ, उनकी आयु १८ वर्ष की थी। विवाह परिवार की समृद्धि की मनस्कान्त मणि बन कर सब के सामने अपनी दर्शनीयता लेकर आया करता है। क्योंकि सूरजमल नागरमल के संयुक्त परिवार और वंश का पहला संतति-विवाह था, इसलिए वर-पक्ष की ओर से यह तैयारी की गयी थी कि इस सामाजिक संस्कार-समारोह में उतनी प्रियता अवश्य रहे, जैसी कि लोकसमाज अपेक्षा रखता है। उसी के अनुरूप विवाह की धूमधाम नियोजित की गयी।

"सूरजमल जी ने इस विवाह के समय एक नया अध्याय प्रारंभ किया। इससे पहले तक जो भी बरात कलकत्ता नगर में चल कर, नगर में ही अपनी यात्रा पूरी करती थी, वह हर हालत में सूतापट्टी से होकर अवश्य गुजरती थी। क्यों कि बड़ाबाजार का यह प्रधान बाजार था, इसलिए बरात का वास्तविक प्रदर्शन इसी बाजार में किया जाए, यह सबका लक्ष्य रहता था। दूसरे, वर-पक्ष अथवा कन्या-पक्ष के जो भी व्यक्ति शामिल होना चाहते थे, वे यहाँ पर संयुक्त भाव से बरात में शामिल होकर कन्या-पक्ष के द्वार तक पहुँच कर अपना मार्ग बदल लिया करते थे। लेकिन सूरजमल जी ने यह निर्णय दिया कि नहीं, अपने को बरात का कोई व्यर्थ प्रदर्शन नहीं करना है। बरात नाते-रिश्तेदारों से, प्रिय संबंधियों से और प्रगाढ़ मित्रों तथा स्नेही बंधुओं से गठित होती है। वे कौन हैं, इसका प्रदर्शन मुझे अभीष्ट नहीं है और न ही मैं चाहता हूँ कि अपने इन सभी मित्रों को केवल व्यर्थ-प्रदर्शन के बहाने इतनी दूर पैदल चलने का कष्ट दूँ। मित्रों ने बहुत प्रकार से और अनेक तर्क देते हुए यह आग्रह जारी रखा कि बरात तो सूतापट्टी होकर ही जायेगी। पर सूरजमल जी अपनी आदेश-मूलक बात पर दृढ़ रहे। आखिर यही हुआ कि बरात वर-पक्ष के यहाँ से चल कर सीधी कन्या-पक्ष के द्वार पहुँची। इस नये परिवर्तन पर काफी टीका-टिप्पणी हुई।"

पर इससे क्या हुआ। हुआ यह कि आगे के लिए भी सूतापट्टी से बरात निकलने का अनिवार्य नियम दूर हो गया और सदा-सदा के लिए बरातियों को उस गली से चलने का कष्ट उठाने से फुर्सत मिल गयी। जिस बाजार का महत्व २५ वर्ष तक जिस रूप में खत्री, मारवाड़ी, गुजराती एवं बिहारी आदि सर्व-समाजों में लोकप्रिय था, वह शनैः-शनैः अन्य अंचलों की महत्ता बढ़ जाने के साथ धूमिल होने लगा था और दूसरे इस बाजार में दो मील या डेढ़ मील का चक्कर लगाकर जानेका प्रमाद व्यर्थ प्रतीत होने लगा था। प्रमाद सामाजिक आग्रहों से आवृत्त हो कर स्वयं को कष्ट नहीं देता है, दूसरों को वह दर्शनीय लगता है; लेकिन वही प्रमाद सीमातीत रूप से कष्टदायक होने पर समाज पर बोझा सा होने लगता है और तब सुधिजन उस प्रमाद को त्याज्य बनाने के लिए कमर कस लिया करते हैं। सूरजमल जी की चिंतनशैली केवल संग्रह को ही न देखती थी, वह त्याज्य के प्रति भी सदैव सतर्क रहा करती थी और उस त्याग से समाज को क्या सुख मिल सकता है, उस पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करने में वे अपने व्यक्तिगत सुखों को गौण मानने लगते थे! झावरमल जी ने आगे बताया—

"अपने युग का यह स्मरणीय विवाह हुआ। स्मरणीय इस दृष्टि से कि इस में मारवाड़ी समाज के सभी प्रतिनिधि परिवार सहर्ष सम्मिलित हुए। विवाह दो परिवार-विशेष से अधिक,व्यापक सामाजिक संस्कार है। समाज की दिव्य रश्मियों से आलोकित और प्रतिष्ठित ऐश्वर्य की वेदी पर आसीन होकर जब एक युवक-युवती का पाणिग्रहण संस्कार सारे समाज को हर्षित करता है, तो पहले कहा जाता था, "सोणे रो सूरज उग्यो है!" स्वर्ण का सूर्य उदित हुआ है। सूरजमल जी के एकमात्र पुत्र मोहनलाल का विवाह जिन क्षणों में हुआ, उस समय सचमुच कुछ ऐसा सा प्रिय वातावरण हुआ कि स्वर्ण के सूर्य के उदय होने का सा समाँ बंध गया।

"रतनगढ़ के स्वनामधन्य पुरुष जुहारमल जी खेमका और चिम्मनलाल जी गनेड़ीवाला इन दोनों ने कलकत्ता के सामाजिक मानस को जो मेधा प्रदान की थी, उसका अपना इतिहास है, उसका अपना महत्व है। हरिराम जी गोयनका, दौलतराम जी चोखानी, रंगलाल जी पोद्दार आदि दिग्गज पुरुषों में ये दोनों भी अपने युगके अग्रणी व्यक्ति थे। मारवाड़ी ऐसोसिएशन के मंच पर जो निर्णय होते थे, उनके पीछे इनकी कृतित्व-शक्ति का न्यामक हाथ रहता था। इनकी सूझबूझ से और इनके प्रचंड व्यक्तित्व से मारवाड़ी समाज ने कलकत्ता में क्या अर्जित किया है, उस पर बहुत कम लोगों ने अपना ध्यान दिया है। ये आदरास्पद स्थिति को प्राप्त थे, सारे समाज का आदर इनको प्राप्त था। सूरजमल जी भी क्योंकि रतनगढ़ के वरद् पुत्र थे, इसलिए इन दोनों चपकनी-पार्टी के स्थायी स्तंभों को अभीष्ट था कि इस शुभ विवाह में

सारा समाज उपस्थित हो। यह विवाह भी सूरजमल जी ने, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, जुहारमल जी के प्रबल आग्रहों को स्वीकार करते हुए संस्कारबद्ध किया था।"

जिस समय बरात कन्या-पक्ष के लिए रवाना हुई, उसमें श्री रामजी दास जी बाजोरिया, केशोराम जी पोद्दार, दुलीचन्द जी ककराणिया, मंगनीराम जी बांगड़, घनश्यामदास जी गोयेनका, रायबहादुर मंगतूराम जी तापड़िया, नंदलाल जी भुवालका, रामचन्द्र जी पोद्दार, रायबहादुर विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया, दुर्गाप्रसाद जी चमड़िया, ओंकारमल जी सराफ, रावतमल जी नोपानी, गजानंद जी जालान, सर ओंकारमल जटिया, चारुचन्द्र बोस अटर्नी, कवि हरेकृष्ण मेहताब, सूरजमल जी झूंझनूंवाला, रंगलाल जाजोदिया, मुरलीधर जी सांगानेरिया (चेतराम रामविलास), राधाकृष्ण जी सोंथलिया, लक्ष्मीनारायण जी कानोड़िया और खेतान परिवार व अन्य परिवारों के उल्लेखनीय व्यक्ति इसमें शामिल होने के लिए उपस्थित हुए। कुल मिलाकर सहस्र से ऊपर लोग जिस बरात में आ जुटे हों, उस आनंद-हर्षित मित्र-समूह को बरात कहना क्या ठीक रहेगा? हमारी दृष्टि में उस लम्बे जुलूस को तो विराट हर्ष-यात्रा कहना ही उचित प्रतीत होता है!

पुराणों में शिव-बरात का बढ़-चढ़कर वर्णन आया है, क्योंकि उसमें देवताओं के मध्य शिव-गणों की चित्र-विचित्र लीला का वर्णनातीत प्रदर्शन हुआ था। राजस्थान में फतहपुर से लेकर रामगढ़-शेखावाटी तक ऐसी एक बरात की चर्चा आती है, जिसका अग्रभाग जिस समय कन्या-पक्षीय गाँव रामगढ़ में प्रविष्ट हो रहा था, उस समय वर फतहपुर में बरात के अंतिम छोर पर अपनी सजीधजी घोड़ी पर सवार हो रहा था और उस समय भी उसे आगे बढ़ने का स्थान न था, क्योंकि बरात के शेष आदमी अभी भी आगे कदम रखने के लिए अपने अवसर की प्रतीक्षा में थे। भारत में इस तरह की अनेक चित्र-विचित्र बरातों का उल्लेख मिलता है। संस्कृत वांगमय में बरातों के जो उल्लेख लिपिबद्ध हुए हैं, वे राजसी बरातों की महिमा प्रकट करते हैं। पर सूरजमल जी के इस सुपुत्र की बरात का जो विशाल स्वरूप था, उसका महत्व न तो राजसी था, न ही उसकी धूमधाम में था, उसका अपना मूल्यांकन समाज की उस संघबद्ध शक्ति में एकीभूत बना हुआ था, जो कि ब्रिटिश युग की इस महानगरी में एक चुनौती बन चुका था, जहाँ पर ब्रिटिश सत्ता की सबसे बड़ी व्यापारिक राजधानी थी और जहाँ पर कभी मारवाड़ी समाज के पूर्वजों ने मुत्सद्दी, अहलकार, दीन बेनियन और मुनीम-गुमाश्ते के रूप में अपना जीवन प्रारंभ किया था और जहाँ पर ही आज उनकी वीर संतति ने अपने बुद्धिबल और अपने बाहुबल से धन अर्जित करते हुए, अपने आंचलिक केन्द्र बड़ाबाजार में लखपति परिवारों की एक बृहत् शृंखला स्थापित कर दी थी—इस बरात में उसी एकजूट शक्ति का समुल्लास गति कर रहा था! ऐसे क्षणों में यजुर्वेद का एक मंत्र स्मरण आता है—

> वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो,
> वाजी देवान् हविषो वर्धयाति।
> वाजो हि मा सर्ववीरं चकार,
> सर्वा आशा वाजपतिर्भ वेयम्॥

—हमारा बल हमें आगे-आगे बढ़ाता रहे। हमारा बल बीच में (जहाँ हम अवस्थित हों) हमारी रक्षा करे। हमारा बल देवपूजा में अधिक-अधिक लगा रहे। हमारा बल ही हमें सर्वथा स्वस्थ बनाये हुए है। हम जिस दिशा में भी निकलें, हमारा बल हमारा पूरा साथ दे।

मोहनलाल जी की बरात में समाज का प्रिय बल पैदल चल रहा था। समाज के बीच में कितना बल घनीभूत हो चुका था, वह प्रमाण ही समुज्ज्वल बना हुआ था। विवाह के समय देवारावन का जो विशेष आयोजन होता है, उसका साक्षी बनने के लिए समग्र समाज की प्रतिनिधि विभूतियां आ जुटी थीं। कहना चाहिए यह भी, कि इस बरात में पूरे मारवाड़ी समाज का उत्तम सामाजिक स्वास्थ्य अपना प्रदर्शन करने ही जैसे चला आया। समस्त पुंजीभूत बल—सदल-बल, यहाँ अपनी साक्षी देने के लिए उपस्थित हुआ।

वर का अर्थ श्रेष्ठ है। वर का अर्थ बींद है, जिसका भाव यह है कि एक स्वतंत्र मनोभाव का युवक अब समाज की लड़ी का बिंधा हुआ मोती हो गया है। वर को नथने के लिए (जिस तरह बाल कृष्ण ने शेषनाग की प्रतिच्छाया को नथा था) वधू नथ पहनने का संस्कार ग्रहण करती है। वर को हम दूल्हा भी कहते हैं। वह वरयात्रा के समय दुदस्ती (जो दोनों हाथों से तलवार चलाये) बनता है—एक हाथ से वह समाज की साक्ष्य भावना का तीक्ष्ण बल लेकर आगे बढ़ता है कि वह अब पाणिग्रहण का लक्ष्य-भेद करने के लिए चल पड़ा है, और दूसरे हाथ से वह अपने युवकोचित अस्तित्व की सामाजिक अभिव्यक्ति: तोरणद्वार, को जित् करने का दर्प अर्जित करने के लिए उतावला हो जाता है। सूरजमल जी के पुत्र मोहनलाल इस भूमिका को प्रिय भाव से अभिनीत करने के लिए झालरा से सज्जित घोड़ी पर सवार हुए थे। उस समय सूरजमल जी को क्षण भरके लिए वह क्षण भी स्मरण आया, जब कि वे स्वयं बींद बनकर इसी तरह घोड़ी पर सवार हुए थे। कि उन्हें विद्युत् के चपल वेग सी एक गुह्यानुभूति हुई: उसी यात्रा का प्रथम परिच्छेद आज समाप्त हुआ, मेरे वर्तमान का भविष्य आज अब अपने दूसरे परिच्छेद का लेखन करने के लिए आगे चल पड़ा है! वे कुछ क्षण के लिए सर्वोच्च शक्ति परम पिता परमात्मा के समक्ष विनीत भाव से प्रसन्न बने खड़े रहे। मनुष्य का जीवन तभी सार्थक है जब कि भविष्य के लिए उसकी विरासत अपने कदम आगे बढ़ा दे!

इस विवाह में उत्साहन और प्रहर्षण देखते ही वनता था। इस समय तक ईडन-गार्डन में फोर्ट विलियम का बैंड वजता था, वह साधारण रूप से सार्वजनिक कार्यों में नहीं आता था, लेकिन उसका भारी मूल्य चुका कर (जो उस युग के मूल्य को देखते हुए अवश्य, भारी था) उसे व्यक्तिगत कार्यों में नियुक्त किया जा सकता था। सूरजमल जी ने उसे मंगाने की स्वीकृति इतनी नहीं दी, जितनी कि लघु भ्राताओं और नागरमल जी आदि के आग्रह को स्वीकार करते हुए अपनी इच्छा दवा कर रखी। विवाह केवल उनके पुत्र का न था, वह भरे-पूरे परिवार का और उनके घनिष्ट मित्रों का विवाहोत्सव था। वे तो इस धूमधाम का मौन भाव से दर्शक वनने में ही अपना वचाव देख रहे थे, क्योंकि तरुणाई का वातावरण विवाह के क्षणों में अपनी प्रधानता ग्रहण कर लेता है। इसीलिए केवल इसी से संतोष न किया गया कि एक मिलिट्री-बैंड ही रहे, तीन बैंड और मंगाये गये और उनके पीछे शहनाई की धुन की स्वर-लहरी का आलाप रखा गया। विवाह तो हो ही रहा है, उसके साथ उद्घोषक संगीत जब है, तो परम्परा-अनुसार विवाह-सूचक शहनाई क्यों न रहे ? अवश्य रहे। मंगल-वाद्य की रीति वहुत पुरानी है, मंगल-ध्वनि हर्ष-उत्सव को चरम वनाती है। विवाह की भेरी और शंख-ध्वनि वैवाहिक धूमधाम को रमणवती कर दिया करती है।

सूरजमल जी ने अपनी ओर से यह सतर्कता वरती कि वरात के आगे हनुमान जी का प्रधान स्थान रहे। वे उनके सर्व-पूज्य इष्ट थे, उनके जीवन की भौतिक सिद्धि के दाता थे। झिल-मिल वांदरा लोक-शब्द है, किन्तु सूरजमल जी ने इस अवसर पर गोटे-ज़री से मंडित मूर्ति निर्मित करवाई हनुमानजी की और उनका अनुसरण करते हुए ही वरात आगे चली।

यह विशेष हर्ष की वात थी कि कन्या-पक्ष की ओर से जहाँ अन्य धन्यभाग व्यक्ति उपस्थित थे, वहाँ पर प्रधान रूपसे दौलतराम जी चोखानी और उन से भी जो अधिक प्रसिद्ध हुए, ऐसे उनके सुपुत्र रामदेव जी चोखानी और पूरा चोखानी-परिवार अगवानी के लिए तत्पर था। इस ग्रहण-क्रिया के परोक्ष में सूरजमल जी ने समस्त प्रगतिशील सुधार-वादियों की शुभाकांक्षा संचित कर ली थी !

मोहनलाल का विवाह हुआ, यह प्रजापति-धर्म की (सनातन) रीति थी। विवाह शास्त्रीय पद्धति से हुआ और उस अवसर पर समस्त ज्येष्ठ जनों ने वर-वधू को आशीर्वाद दिया, यह नव-संतति के प्रति अपने कर्तव्य का भागदेय दिया गया था। जब पुत्रवधू घर पर आई, तो सूरजमल जी की आत्मा ने उन्हें सचेत करते हुए कहा, "लो, अव माया के सूत्र इस पुत्र ने सम्हाल लिए। अपने को और समेटो। अव इस प्रवहमान माया के तट पर वैठना, तभी कल्याण है !"

किन्तु इस चेतावनी के वावजूद सूरजमल जी की आँखों में असीम आनंद की तरलता थी। आज मोहन की माता रहती, तो वह कितनी हर्षित और अपने को भाग्यवती मानती। वह आज सास के पद पर विराज कर अपने अहोभाग्य पर फूली न समाती। पर उस पद को रिक्त अव यह नववधू नहीं रहने देगी। सहसा ही उन्होंने विह्वल भाव से महसूस किया कि जैसे रमादेवी की छवि ऊपर आँगन में झिलमिल कर रही है और वे जैसे नववधू को अपना आशीर्वाद देती हुई, उन्हें कह रही हैं कि अव तो तुम ही मेरे स्थान पर हो, इस कुललक्ष्मी को प्यार से रखना···कि वह स्वर और वह छवि अदृश्य हो गये···सूरजमल जी मोहक शक्ति से बद्ध वस घर में फैली हुई धूमधाम में अपने को निर्मुक्त किये वैठे रहे···अव तो आज से वे वस मुक्त रहेंगे ही !

कि उनकी दृष्टि अपने चारों ओर के वातावरण पर गयी। भगवान का दिया हुआ यह विशाल भवन आज अपना है। कितने नाते-रिश्तेदार आज अपने हैं। जव माता जी का देहान्त हुआ था, उस दिन इस महानगर में दस परिचित भी न थे। रिश्तेदारी के हिसाव में वस मामा जी थे। लेकिन भगवान का दिया हुआ आज यह पूर्ण वैभव क्या है ? और सन्तानें होंगी अव इन पुत्रों की। फिर यह वंश खूब वढ़ेगा। लेकिन क्या यही इस दुनिया का अन्तिम सत्य है ? क्या परिवार, सम्पत्ति, रिश्तेदार और वन्धु-बांधव ही सव कुछ हैं, उससे अतिरिक्त भी कुछ धूमधाम इस धरती पर क्या कुछ और है ?

विवाह हो गया और आठ-दस रोज में उसकी धूमधाम भी शान्त हो गयी, लेकिन सूरजमल जी के मन में यह प्रश्न आसन जमाये वैठा रहा। एक दो विद्वान् पंडितों से भी चर्चा की, पर संतोषजनक उत्तर न मिला। आखिर, एक दिन सुवह ही सुवह, उन के हाथ में एक मासिक-पत्र हाथ लगा, जिसमें भगवान वुद्ध की कही हुई वाणी थी। उसे एकसाँस वे पढ़ गये—

"सकल विश्व के शान्तिदाता भगवान वुद्ध जव जेतवन में विहार कर रहे थे, तभी उनसे जिज्ञासु ने पूछा कि महाराज, आप कहते थे कि मनुष्य चार प्रकार के हैं, तो किस प्रकार के हैं, आज वही समझाइये।

"भगवान ने उत्तर दिया, 'एक तो तिमिर से तिमिर में जाने वाला। दूसरा तिमिर से ज्योति की ओर जानेवाला। तीसरा ज्योति से तिमिर की ओर जानेवाला और चौथा ज्योति से ज्योति में जानेवाला। राजन, यदि कोई मनुष्य चांडाल-निषाद आदि हीन कुल में जन्म ले और जन्मभर दुष्कर्म करने में विताये तो उसे मैं तिमिर से तिमिर में जानेवाला कहता हूँ। यदि कोई मनुष्य हीन कुल में जन्म ले, खाने-पीने की तकलीफ होनेपर भी मन-वचन-कर्म से सत्कर्म का आचरण करे तो मैं ऐसे मनुष्य को तिमिर से ज्योति में जानेवाला मानता हूँ। यदि कोई मनुष्य महाकुल में जन्म ले, खाने-पीने की कमी न हो, शरीर भी रूपवान और वलवान हो, किन्तु मन-वचन और काया से दुराचारी हो, मैं उसे ज्योति से

श्री मोहनलाल जालान के शुभ विवाह के अवसर पर :—सर्वश्री१. देवकीनन्दन जालान, २. चांद बाई, ३. केशरदेव जालान, ४. हीरालाल सराफ, ५ चिरंजीलाल बाजोरिया, ६. शिवभगवान जालान, ७. किसनलाल जसरासरिया, ८. दुर्गादत्त गाड़ोदिया, ९. भगवानी बाई, १०. मोतीलाल जालान, ११. बाबूलाल गाडोदिया, १२. विश्वनाथ सुरेका, १३.पृथ्वीराज थरड, १४. घनश्यामदास गाडोदिया, १५. बद्रीदास सुरेका, १६. दुर्गाप्रसाद सुरेका, १७. मदनलाल छावछरिया, १८. रामकुमार चौधरी, १९ बाबूलाल जालान, २० सागरमल छावछरिया, २१. भावरमल सराफ, २२. बजरंगलाल पोद्दार, २३. श्रीनिवास छावछरिया, २४ मनोहरलाल थरड २५. जगन्नाथ घरू जोशी, २६. महादेव गाडोदिया, २७. रामदेव देवड़ा, २८. वैजनाथ जालान, २९. रावतमल नोपानी, ३०. वंशीधर जालान, ३१. नन्दलाल भुवालका, ३२. सूरजमल जालान, ३३ हरखचन्द जालान, ३४. मोहनलाल जालान (वर), ३५ गजानन्द जालान, ३६. लक्ष्मीनारायण जालान, ३७. सूरजमल चौधरी, ३८. नागरमल बाजोरिया, ३९. सूरजमल लाहोटी, ४०. श्यामदेव देवड़ा, ४१. घीसाराम जोशी ४२. गणपतराय खाचरीवासका, ४३. रामेश्वर नोपानी, ४४. गनपतराय गाडोदिया, ४५. गंगाधर चौधरी, ४६ किशना ठाकुर ४७. श्यामलाल ठाकुर. ४८. मांगीलाल बांगड़, ४९ पूरनमल ठाकुर. ५०. मंगल महाराज, ५१. छगनलाल पुरोहित, ५२. विष्णु ठाकुर, ५३. किसनदत्त सोमानी, ५४. सोहन नाई, ५५. नारायणदास सुरेका, ५६. हीरालाल सारस्वत, ५८. मगनचन्द पुरोहित ५८. रतनलाल पुरोहित, ५९.. गोपाल महाराज, ६०. रामेश्वर ठाकुर ।

...भर में जानेवाला कहता हूँ। किन्तु जो मनुष्य अच्छे कुल में जन्म ...र सदैव आचरण को सदाचरण बनाने की साधना करता हो तो ...उसे ज्योति से ज्योति में जानेवाला मनुष्य मानता हूँ।"

सूरजमल जी ने जब यह पाठ पूरा पढ़ लिया, तो मानो उनके ज्ञानचक्षु खुल गये। कितने दिनों से वे अपने प्रश्न का समाधान चाह रहे थे, वह तो भगवान बुद्ध की वाणी से सुस्पष्ट हो गया है। उनके नेत्रों के आगे कुछ स्वर्णिम किरणें झिलमिलाने लगीं। लगा कि एक अलौकिक रश्मि-मंडल में भगवान बुद्ध खड़े करुणा से मुस्करा रहे हैं। सूरजमल जी ने श्रद्धासे उन्हें विनीत भाव में प्रणाम किया। पर जब सिर उठाया, तो वे न थे। लेकिन उनका अन्तःकरण तो अबूझ स्वरों से गूँजते हुए प्रकाश से भर गया था। कि उनकी दृष्टि एक ओर टंगे हुए एक कैलेंडर पर चली गयी। स्वामी रामकृष्ण परमहंस का चित्र है। वे किसी अलौकिक प्रकाश की ओर निहार रहे हैं। एक दृष्टि वे परमहंस का चित्र देखते रहे। इन्हों ने भी जीवमात्र के लिए करुणा का उपदेश दिया था। सहसा ही उनका हृदय अपने उत्तर से अभिभूत हो गया। वे अस्फुट बोले पड़े, "यह विशाल भवन, यह विशाल परिवार, यह बोलता हुआ वैभव और यह सारा फलप्रद व्यापार तो करुणा के लिए होना चाहिए, उसके समर्पित होना चाहिए। तभी इस धराधाम की धूमधाम है, बाकी तो थोथी व्यंजना है, कोरी विडंबना है। कोरी तिमिर-यात्रा है...

बहुत देर तक देवाराधन में लीन वे बैठे रहे कि उनके एक आत्मीय व्यापारी आकर बैठ गये। कुशलक्षेम के बाद, पुत्र-विवाह बहुत धूम से मनाया, इस पर हर्ष प्रकट करने लगे। सूरजमल जी ने एक विचित्र स्वर में उनसे कहा, "मोहनका विवाह हुआ, मुझे एक नई ज्योति मिली है। भगवान करे, वह ज्योति इस सारे वंश की रक्षा करती रहे!"

आगत महाशय इस बात को न समझ पाये। पूछने लगे कि आप क्या कहते हैं। अब तक सूरजमल जी भी प्रकृतिस्थ हो चुके थे। उन्होंने समझ लिया कि सामने बैठा व्यक्ति बस दुनियादार है, उन्होंने उससे दुनियादारी की बातें शुरू कर दीं।

जब वे चले गये, तब आपने शान्त भाव से अन्दर से गीता मंगवाई। एक दिन पहले एक प्रवचन में आप भी गये थे। आपने उसके दूसरे अध्याय का ७० वाँ श्लोक पढ़ना शुरू किया।

आपूर्यमाणचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

—जिस तरह अपनी मर्यादा में अचल बने रहनेवाले, सदा परिपूर्ण समुद्र में अनेक नदियों के जल प्रवेश करते रहते हैं, परन्तु समुद्र अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, उसी तरह जिसको धन, मान, स्त्री, पुत्र, विषय-भोगादि संसार के सारे पदार्थ स्वतः ही प्राप्त होते रहते हैं, परन्तु वे उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार के हर्ष-शोक, सुख-दुखादि विकार उत्पन्न नहीं करते, वही समत्व योगी, स्थितप्रज्ञ परिपूर्णता का अनुभव करता हुआ, परम शांति को प्राप्त होता है, न कि अपने से भिन्न सांसारिक पदार्थों की लालसा रखनेवाला।

आपने इस श्लोक को दो बार और पढ़ा। फिर इस का हिन्दी भावार्थ पढ़ा। फिर गीता बन्द कर दी। फिर आँखें बन्द कर इस श्लोक के निगूढ़ रहस्य में आप तवलीन हो गये।

चूरू की दिशा में एक नयी जागृति

पाशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिं च मनुजेश्वर। वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोकपिता महः॥
तस्याप्यध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च शस्यते। नित्यनैमित्तिका दीनामनुष्ठानं च कर्मणाम्॥ (वि० पु० ३-८-३०)

—हे नरनाथ, लोकपितामह ब्रह्मा जी ने वैश्यों को पशु-पालन, वाणिज्य और कृषि—इन उपायों को जीविका-रूप से प्रदान किया है। अध्ययन, यज्ञ, दान और नित्य नैमित्तिकादि कर्मों का अनुष्ठान—ये कर्म उसके लिए विहित बताये हैं।

[२७]

रू की भूमि में एक विशेष प्रजनन-शक्ति है। हर भूमि अपनी दृष्टि से और अपनी क्षमता के बल पर भिन्न-भिन्न प्रकार की नवीनताओं को जन्म दिया करती है, लेकिन बीकानेर राज्य में शामिल होने से पहले से चूरू एक स्वतंत्र जनपद था और वहाँ की समाज-व्यवस्था व अर्थ-व्यवस्था इतनी सशक्त थी कि यहीं पर बीकानेर राज्य के एक संकटप्राप्त राजकुमार की प्राणरक्षा हुई थी। लेकिन इसी राजकुमार ने यहाँ के जनपद के साथ विश्वास-

घात करते हुए और यहाँ के समस्त कर्मचारियों को जीवित जलाते हुए इस की अर्थ-व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके शासनसूत्र अपने हाथ में ही नहीं ले लिये, यहाँ का जनपदीय रूप भी मिट्टी में मिला दिया। उसी समय से चूरू की दैन्य अवस्था का इतिहास शुरू होता है।

विश्व के समस्त देशों में सामन्तशाही का एक ही तरह से विकास हुआ है : वह है कुचक्र, जनता की शक्तियों का दमन और कृषकों की शक्तियों का ह्रास। सामन्तवाद ने प्राय: सारी दुनिया में अपने वैश्यों को बहुत पीड़ित किया है और उन्हें सदा अपने घर से देशनिकाले की स्थिति में बनाये रखा है। जब तक विश्व में सामन्तवाद रहा,सभी देशों के वैश्य प्रवासी बन कर रहे हैं। इंग्लैंड के सामन्तवाद की निरंकुशता से ही पीड़ित होकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के सौदागर इस देश में वाणिज्य करने आये थे। चूरू में भी जब सामन्ती युग की स्थापना कर दी गयी तो यहाँ के वैश्यों का उत्पीड़न प्रारंभ हो गया और जीवन के अस्तित्व की रक्षा के लिए इन्होंने भी प्रवास प्रारंभ कर दिया। बंगाल और आसाम की दिशा में जोधपुर और बीकानेर की दिशा से सबसे पहले जो वैश्य बाहर गये, उनमें चूरूवालों का नाम ही अग्रणी रहता है। और यह भी विशेष बात है कि सबसे पहले चूरूवाले ही प्रवास-जित् बनते हुए बहुत सम्पत्तिशाली हुए।

किन्तु चूरू का दुर्भाग्य चलता रहा। बाद में इसे बीकानेर राज्य में मिला लिया गया। उसके बाद यह राज्य का एकान्त गढ़ मात्र रह गया। यहाँ की जनता का दुर्भाग्य और अभावों का प्रपीड़न चलता रहा। बीकानेर के शासकों का उससे कोई वास्ता न रहा, वे बस यहाँ से मालगुजारी लेने में विश्वास करते रहे। यह स्थिति पूरी १९ वीं सदी तक बनी रही। जो नगर छोड़ना चाहे, उसे जाने देने में किसी को ऐतराज न रहा। एक मोटे अनुमान के हिसाब से १७ वीं और १८ वीं सदी के मूल निवासी चूरू में निवास नहीं करते, वे बाहर जा चुके हैं। १९ वीं सदी में जो निवासी यहाँ पड़ोसी भू-भागों से आये, उनमें से केवल १० प्रतिशत व्यक्ति ही रहते हैं। अधिकांश में १९ वीं सदी के अन्तिम युग में ही निकटवर्ती अंचलों की पीड़ित जनता यहाँ आकर आबाद हुई। लेकिन जीवन-निर्वाह के लिए उन्हें भी परदेशों में जाकर रहने के लिए विवश होना पड़ा, उनके स्त्री-बच्चे यहाँ स्थायी बसेरा करते रहे। यहाँ की खेती लगभग नष्ट हो गयी। सारे शहर को टीबों ने घेर लिया। जो तालाब आदि शहर के बाहर जल की सुविधा के लिए बनाये गये थे, उन पर भी टीबों ने अपना आक्रमण बोल दिया। यह संभावना स्पष्ट हो गयी कि कुछ दिनों के बाद यह पता भी नहीं चलेगा कि वहाँ पर एक तालाब बनवाया गया था। कि चूरू पर प्लेग ने अपना दुहरा आक्रमण कर दिया। सन् १८९६ के बाद से कलकत्ता पूरे ६ वर्षों तक प्लेग का शिकार बना रहा था, लेकिन देशके अन्य अंचलों में इससे रक्षा होती रही थी। पर सन् १९१७ में चूरू पर प्लेग ने ऐसा सांघातिक आक्रमण किया कि सारा शहर खाली हो गया, कीड़े-मकोड़ों की तरह आदमी मर गये, मरनेवालों को कोई पानी पिलानेवाला न रहा। जो दीन थे और स्त्रियाँ थीं, उन्हों ने चोर-उचक्कों से अपनी रक्षा करने के लिए अपने दरवाजे बन्द रखे। वे ज्वर-पीड़ित रहे, लेकिन कुल-शील की दृष्टि से उन्होंने सहायता माँगने के लिए दरवाजे खोलने का साहस न किया, और बन्द कमरों में ही उनका दुखद प्राणान्त हो गया। चारों तरफ शव सड़ते रहे। पोस्टआफिस और कचहरी के जन भी प्राण बचा कर भाग खड़े हो गये। शहर में केवल असहाय अवस्था में मरनेवाले शेष रह गये। न तो कोई नगर-व्यवस्था रही, न बीकानेर राज्य ने इस असमय में अपने प्रजापालन का कर्तव्य निभाया। महीनों तक राज्य की ओर से कोई रिलीफ न भेजी गयी। सारा चूरू सड़े हुए मुर्दों का एक श्मशान बन गया। मंदिर और राजप्रासाद-तुल्य भवन निर्जन बने हुए श्मशान की मृत्यु-विभीषिका के मौन साक्षी बने हुए खड़े रह गये।

ऐसे क्षणों में कुछ नौजवान शहर से नहीं भागे। उनका नेतृत्व कर रहे थे एक विरक्त जन, जिन्होंने चूरू शहर के एक मठ की गद्दी यही दो वर्ष पहले स्वीकार की थी। उनके मनमें सम्पूर्ण नगर की दुरवस्था के प्रति एक घोर दुख भर गया था और उन्होंने संकल्प किया था कि अपने से जो सेवा होगी, वह प्राण पर खेल कर अवश्य करेंगे। बस,करेंगे क्या, वे करने में जुट गये। उन्होंने एक-एक घर में जाकर और बाहर से घरों के दरवाजे तुड़वा कर देखा, जिनके शरीर में थोड़े भी प्राण रह गये थे, उनकी सेवा-सुश्रूषा की, जो प्राणहीन थे, उनको श्मशान तक पहुँचाया। घर में जिनके शव सड़ रहे थे, उस घरकी दुर्गन्ध को शुद्ध करवाया। सुबह सात से रात तक वे अपने साथी कार्यकर्त्ताओं को साथ लिये बस यही कार्य करते रहे। पथ्य और औषध के कारण एक-दो नहीं, सैकड़ों आदमियों की जान बच गयी।

प्रश्न यह है कि इस युवक ने यह काम किस तरह किया? इस का नाम क्या था? आगे चल कर यह 'चूरू का गांधी' क्यों कहलाया? इस ग्रंथ में इस व्यक्ति की चर्चा सहसा ही क्यों आ गयी है? ऐसा क्या असाधारण गुण इसमें था कि यह व्यक्ति सूरजमल जी जालान के जीवन-प्रसंग में अनायास प्रगाढ़ रिश्ते की तरह स्मरण किया गया है?

इनका नाम स्वामी गोपाल दास था। इनका जन्म चूरू के एक गांव भैंरूसर में हुआ था। इनके माता-पिता बहुत गरीब थे, इसलिए माता-पिता की आज्ञा लेकर ये छोटी सी अवस्था से ही मंदिर में आकर शिष्य हो गए। यह मंदिर चूरू में था और इसमें निम्बार्क सम्प्रदाय की गद्दी थी। जब चूरू को राजपूतों ने विजित किया, उस समय ही वे अपने साथ यहाँ पर साधुओं को भी

लाये थे। सबसे पहले यहाँ स्वामी नारायणदास जी आये, और मंदिर में उन्हें आदरास्पद स्थान दिया। कहा जाता है कि यह बड़ा मंदिर राज्य की ओर से उन्हें बनवाकर दिया। प्रारंभ में राजपूत सामंत इस परम्परामें विश्वास करते थे कि जहाँ वे अपना नया राज्य स्थापित करते थे, वहाँ साधुओं को मठ में बैठाते थे और ब्राह्मणों को मंदिर में स्थान देते थे। उन्हें कृषि के लिए जमीन प्रदान करते थे। उनका विश्वास था कि साधुगण साधारण जनता की सेवा करेंगे। साधु ही चिकित्सक हुआ करते थे। ब्राह्मण में यह गुण रहा है कि वह जनता को अनायास ही अपने पूर्वजों के स्थान से उखड़ने नहीं देता। इस तरह इन दो शक्तितत्वों के सहारे प्रजा एक स्थान पर वीर भाव से स्थित रहती थी। इसके बाद एक छोटा मंदिर और बन गया और शिष्य-पटशिष्य की परम्परा के अनुसार इन दोनों मंदिरों की गद्दियाँ चलती रहीं। स्वामी गोपालदास छठी पीढ़ी में हुए। बड़े मंदिर की गद्दी पर स्वामी महन्त गणपतदास जी थे। यद्यपि गणपत दास जी का पालन-पोषण स्वामी गोपाल दास के हाथों हुआ था, लेकिन लोकख्याति और सेवा-कृतित्व के नाते छोटे मंदिर के गोपालदास जी ही ज्येष्ठ भाव से माने जाते थे और समाज में उनके प्रति व्यापक आदर था। जब चूरू में प्लेग फैली, तो उसका आतंक बढ़ भी न पाया था कि गोपालदास जी ने अजमेर, ब्यावर आदि से अपने कुछ वीर साथी बुलवा लिये। उन्होंने अपने साथियों में से ऐसे युवकों का चुनाव किया, जिनका हृदय बहुत बड़ा हो और शव आदि को देखकर जो विचलित न हो जायें। उनके नेतृत्व में जब पूरी सेवा-सेना तैयार हो गयी तो पूरी मुस्तैदी के साथ प्लेग के आतंक को कम करने के लिए इन युवकों का अभियान शुरू हो गया।

प्लेग ने एक तरह से सारे शहर की नागरिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। जो डाक बाहर से आई हुई थी, उसे अपने आदमियों के हाथों बँटवाना शुरू कर दिया। शहर की डाक को बाहर भिजवाने में अपने आदमी नियुक्त कर दिये।

इसी प्लेग के दौरान में एक ऐसी स्त्री भी रह गयी, जो अनाथावस्था में सोच नहीं पा रही थी कि वह क्या करे। ऐसे क्षणों में गोपालदास जी के दल ने उसकी भी रक्षा की। उसके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध ही न किया, उसकी रोग से रक्षा करने का समुचित प्रबंध किया। उसे किसी तरह कष्ट न होने दिया। प्लेग शान्त होने पर यह समाचार रतनगढ़ गया। यह स्त्री एक दूर के रिश्ते में सूरजमल जी की रिश्तेदार थी। रतनगढ़ से यह समाचार कलकत्ता गया। सूरजमल जी ने पहली बार स्वामी गोपालदास का नाम सुना। ऐसे सेवाभावी युवक से मिलने के लिए वे आतुर हो उठे। उन्होंने कल्पना की कि यदि ऐसे ही सार्वजनिक कार्यकर्ता रतनगढ़ में भी हो जाएँ, तो नगर की काया पलट जाए। कुछ समय बाद ही सूरजमल जी रतनगढ़ आये। वे चूरू की घटनाओं का ब्यौरा भूले न थे। एक पत्र देकर आपने स्वामी जी से आग्रह किया कि रतनगढ़ पधारें और दर्शन दें। आपसे कुछ महत्वपूर्ण कार्यों में परामर्श करना है। गोपालदास जी को जब पत्र मिला, तो बहुत प्रसन्न हुए। अपने साथ गणपतदास जी को भी लेते गये। सूरजमलजी ने दोनों का स्वागत-सत्कार किया। उनसे बातें करने के बाद सूरजमल जी ने महसूस किया कि ये दोनों विभूति तो सेवा-विह्वल भाव से जीवनयापन करती हैं। कई रोज तक उन्हें अपना अतिथि रखा। रतनगढ़ में और क्या कार्य सार्वजनिक भाव से किया जाए, इस विषय में उनके ठोस सुझाव लेते रहे। जब उनका लौटने का आग्रह हुआ तो आपने सहर्ष उन्हें इस आश्वासन के बाद विदा दी कि वे नियमित समय पर रतनगढ़ आते रहेंगे।

महन्त गणपतदास जी ने अपने भाव-विह्वल संस्मरण प्रस्तुत करते हुए कहा, "रतनगढ़ में जब ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना हुई, उस समय सेठ जी ने हम को फिर बुलाया। उस यात्रा में भी मैं स्वामी जी के साथ ही आया था। सेठ जी चाहते थे कि इस ऋषिकुल की स्थापना इस तरह हो कि इसमें भर्ती होने वाले और दीक्षा प्राप्त कर निकलने वाले छात्र लोक-समाज में अभूतपूर्व कार्य कर सकें। इसी दृष्टि को रख कर उन्हों ने कई दिनों तक इस संस्था के नियम आदि हमारे हाथों से बनवाने में समय दिया और हर नियम का वे बारीकी से विवेचन करते। इस संस्था के निर्माण में यों तो सारे रतनगढ़ के धनीमानी सज्जनों ने भाग लिया था, लेकिन सूरजमल जी ने सब से अधिक सहयोग दिया, समय दिया और रुपया भी काफी अधिक दिया। इस तरह इस संस्था का काम चल निकला। हर वर्ष उनकी यह इच्छा रहती थी कि नियमित रूप से वार्षिक अधिवेशन मनाया जाए। वह जब आयोजित होता, ये सब जरूरी काम छोड़ कर रतनगढ़ जाते और वहाँ पहुँचते ही स्वामी गोपालदास जी को भी बुलवा लेते। स्वामी जी की हर यात्रा में हम अवश्य साथ रहते। सुन्दर परिपाटी के साथ इस संस्था का कार्य चलता रहा। अच्छे स्नातक तैयार होने लगे। शिक्षा का प्रसार फैलने लगा। रघुनाथ विद्यालय की नींव अब तक दृढ़ हो ही चुकी थी और उसमें सूरजमल जी का योगदान स्तुत्य रहता ही था। अब ऋषिकुल के चल पड़ने से सनातन भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति का यह अध्याय रतनगढ़ में भी शुरू हो गया, जिसका अनुसरण गुरुकुल कांगड़ी, भिवानी और अन्य शहरों की ऐसी संस्थाओं में बहुत पहले से किया जाने लगा था।

"सूरजमल जी ने स्वामी गोपालदास जी से वर्ष-प्रति वर्ष संबन्ध प्रगाढ़ बनाना शुरू कर दिया। जब भी वे रतनगढ़ आते, स्वामी जी को पांच-सात रोज के लिए अवश्य बुलवा लेते। उनका सरलपन देखते ही बनता था। बाजार में चलते तो प्रत्येक दुकानदार से कुशलक्षेम पूछकर आगे बढ़ते। छोटे से छोटे दूकानदार से मिलते।

घरों में वड़े-वूढ़ों से मिलते। जिन्हें आर्थिक कष्ट होता, उनकी सहायता करते। असहाय स्त्रियों की देखभाल करते।

"इन्हीं दिनों की वात है, चूरू में टीवों का आतंक शहर पर हावी होता जा रहा था। शहर में पशुधन कैसे वढ़े, जब कि शहर से वाहर वीड़ न हो। और विना वीड़ के टीवों का स्थानान्तरण शहर की सीमाओं तक इस तरह वढ़ चला था कि डर लगता था, वहुत जल्दी शहर की सीमाओं के मकान कहीं उन से अतिक्रमित न हो जायें। न गऊओं को खड़े रहने की जगह थी, न ऊँटों के लिए चारे की व्यवस्था हो पाती थी। गोपालदास जी को यह सूझ आई कि जब तक वीड़ न लगाया जायेगा, यह संकट तो तीव्र ही होता जायेगा। इसलिए वे वीकानेर के तात्कालिक रेवेन्यू मिनिस्टर मिस्टर रिड़कीन से मिले। उन्हें नक्शा दिया कि इस तरह हम चूरू में वीड़ की स्थापना करना चाहते हैं, जिससे पशुओं को राहत मिले और शहर पर टीवों का आक्रमण न हो सके। सरकार को इस कार्य में क्या आकर्षण हो सकता था। चूरू से यों भी अधिक आय न थी। इसलिए सहमति अवश्य दी, पर वीकानेर राज्य इस में कुछ कर सकता है, इस ओर से केवल उदासीनता ही दिखाई।

"गोपालदास जी का प्रभाव चूरू शहर के अच्छे लोगों पर वहुत था। सव उनकी सेवा से आश्वस्त थे। उनके हृदय की सच्ची लगन के प्रति सव के मन में श्रद्धा का भाव था। नगर के हरिवख्श जी भावसिंहकाजी ने आगे वढ़ कर इस काम में आर्थिक सहयोग देने की पहल की। उन्हों ने वीड़ की १५०० वीघा जमीन छुड़वाने का रुपया दिया। चूरू के उत्तर-पश्चिम में रोई थी। उस में ही वीड़ लगाने का श्रीगणेश कर दिया गया। इधर जयनारायण जी पोद्दार, हरिराम जी गोयेनका और रामदेव जी चोखानी आदि ने कलकत्ता में घी-आन्दोलन के अन्तर्गत पंचायत करके अशुद्ध घी वेचनेवालों पर जो जुर्माना करने से रुपया जमा किया गया था, उसमें से भी कलकत्ता जाकर रुपया लाया गया। जमीन में खाद भरी गयी। निगरानी के लिए आदमी नियुक्त हुए। हम लोग दिन भर ऊँटों पर सवार हो कर देखभाल करते-फिरते। काम की व्यवस्था के लिए वीड़ में एक मढ़ी खड़ी करवाई गयी। साथ ही हनुमान जी का मन्दिर भी तैयार करवाया गया। देखते न देखते चूरू का यह वीड़ गऊओं का आश्रयस्थल वन गया, वनस्पति हरियाने लगी, टीवों की गति अवरुद्ध कर दी गयी और नये पेड़ वढ़ने लगे।

"सूरजमल जी ने इस सारी प्रगति को सुना। वे तो हर प्रगति को, उस प्रगति को जो कि रतनगढ़ के इर्दगिर्द अन्य नगरों में आयोजित हो रही थी, अपने नगर रतनगढ़ में भी स्थापित हुआ देखना चाहते थे। उनकी इच्छा हुई तो रतनगढ़ से लेकर स्टेशन तक पेड़ लगवा दिये गये, लेकिन शहर के पास में जो घना रेगिस्तान है, उसमें भी वीड़ लगवाया जाए, ताकि नगर में पशुधन को संरक्षण मिले और घने टीवों की समस्या से नागरिकों को राहत मिले, नगर के पास हरियाली होने से ग्रीष्म आदि ऋतुओं का प्रकोप अधिक यातनाकारी न वन पाये। लेकिन रतनगढ़ में इस कार्य को करवाने से पहले, वे इस अभियान को, जो कि राजस्थान के नगरों में यद्यपि नया काम न था, लेकिन जिस का पुनरुद्धार अवश्य हो रहा था, क्योंकि इससे पहले, जब तक सामंती शासन में प्रजापालन का प्रिय भाव नियमित रहा, वीड़ आदि के लिए गोचरभूमि शासकों की ओर से छोड़ने का विधान वना हुआ था, फिर भी कालान्तर में स्वार्थों के वशीभूत होकर उस गोचरभूमि पर भी राजपूतों ने अपना स्वत्व स्थापित कर लिया था और फल यह हुआ था कि पुनः रेगिस्तान में वनस्पति-रोपण का सिलसिला टूट सा गया था—चूरू में किये जा रहे कार्य का निरीक्षण कर लेना चाहते थे कि किस तरह उसका आयोजन चल रहा है, उस का अध्ययन कर लिया जाये, ऐसी उनके मन में एक तीव्र लालसा थी। आखिर रतनगढ़ वे पधारे और पहले से निश्चित कार्यक्रम के अनुसार उन्होंने गोपालदास जी से पत्र-व्यवहार करते हुए यह इच्छा प्रकट की कि वे चूरू आना चाहते हैं। इससे वड़ा हर्ष हम लोगों को क्या हो सकता था? कार्यक्रम तय हुआ और सूरजमल जी मोटर से अपने मित्रों के साथ चूरू आये। हम लोगों ने शहर से भी दो कोस आगे, ऊँटों पर जाकर उन का स्वागत किया, उनकी अगवानी की। वे शहर में न आकर सीधे वीड़ में ही गये। हम देख रहे थे कि वीड़ के कार्य को पूरी तरह से समझते हुए वे वहुत उत्साहित हो रहे थे। दिन भर वे वहीं रहे और सारी समस्या को और उसके आंकड़ों को समझने में एकाग्रचित्त वने रहे। सूरजमल जी की यह विशेषता थी कि वे आंकड़ों के धनी थे। लम्वा-चौड़ा हिसाव मुँह पर ही फला लिया करते थे। दिन भर वीड़ में हम लोग रहे और वहीं पर भोजन आदि की व्यवस्था की गयी। शाम को, देर होने पर हम लोग छोटे मंदिर में आये। वहीं पर उन्हों ने निवास किया। इस समय तक गोपालदास जी ने चूरू में गोशाला स्थापित कर दी थी, उसका आयोजन भी व्यवस्थित रूप से चल रहा था। सवसे वड़ी योजना तो उनकी सर्वहितकारिणी संस्था थी। वे उस संस्था के प्राण थे। प्लेग का कार्य भी एक प्रकार से इसी संस्था की पूर्व पीठिका के रूप में आयोजित किया गया था। जिन क्षणों में देशी रियासतों में सार्वजनिक सेवा का काम कहीं शुरू भी न हुआ था, स्वामी गोपालदास जी ने जन-जागृति फैलाने में और वह भी सेवा के माध्यम से जन-जागृति लाने में एक अद्‌भुत काम किया था। सूरजमल जी ने दूसरे दिन इन समस्त संस्थाओं का निरीक्षण किया, इनकी कार्य-पद्धति को अच्छी तरह समझा। इन पर आनेवाले व्यय का लेखाजोखा लिया। कौन से दानी महानुभाव इन संस्थाओं की प्राणरक्षा करते हैं, उनके नामों की सूची ली।

"चूरू तो सूरजमल जी वीड़ की योजना का अध्ययन करने के लिए आए थे। इसलिए, चलने से पूर्व आपने स्वामी जी से आग्रह

किया कि मेरी ग्रोर से भी यहाँ पर बीड़ छुड़वाया जाये। यह तो हम लोगों की मनोकामना थी ही। स्वामी जी ने कुछ ही दिनों में सूरजमल जी से रुपया लेकर १५००बीघा जमीन चूरू में ग्रौर रक्षित करवाई ग्रौर वहाँ पर भी वनस्पति रोपने का काम शुरू कर दिया गया। रतनगढ़ के सेठ सूरजमल का वरद् हस्त भी इस तरह हम चूरूवासियों को जो सहज भाव से मिल गया, तो सारे शहर में इस समाचार से हर्ष छा गया।[1]

"बीड़ छुड़वाने का यह व्यावहारिक कार्यक्रम वड़ी तेजी से ग्रासपास के नगरों में व्याप्त होने लगा। फतहपुर शेखावाटी में जयदयाल जी कसेरा ने भी स्वामी जी से कह कर एक वड़ा बीड़ छुड़वाया। जयनारायणजी पोद्दार ने रामगढ़ में बीड़ के छुड़वाने का ग्रभियान शुरू किया। चुरू में वागलों ने ७-८ हजार बीघा जमीन बीड़ के लिए छुड़वायी। भगवानदास जी वागला ने स्वयं ढाई हजार बीघा जमीन इस बीड़ को लेकर दी। वम्बई के खेमराज श्रीकृष्णदास जी ने ८ हजार बीघा जमीन दी। ग्रौर इस तरह चुरू का यह बीड़-यज्ञ लोकलोकान्तर में वहुत प्रसिद्ध हो गया। ग्रव यह हाल हो गया कि दस-दस मील के गाँवों से भी लोग ग्रपने मवेशियों को यहाँ चराने के लिए लाने लगे। पशु-धन का यह संरक्षण सवसे ज्यादा ग्रानन्द स्वामी गोपालदास जी को ही देता था।[2]

"सूरजमल जी ने ग्रव रतनगढ़ में बीड़ का यज्ञ शुरू किया। बीड़ गोचरभूमिका लघु रूपान्तर है। गोचरभूमि की महत्ता शास्त्रों में वढ़चढ़ कर गायी गयी हैं। ब्रिटिश शासन में ग्रौर राजस्थान में पोलीटिकल एजेंट के ग्राधीन देशी रियासतों में पशु-धन का ह्रास ग्रकाल ग्रौर वर्षाभाव के कारण होता जा रहा था। कम-से-कम बीड़ उगने से वर्षा का प्रकृत ग्राह्वान होता है ग्रौर पशुग्रों को ग्रकाल के दिनों में ग्रनायास मरने के लिए विवश नहीं होना पड़ता। इसके द्वारा लाखों पशु-पक्षियों का पालन व संरक्षण होता है। पशुग्रों के स्वच्छन्द विचरण एवं त्यागे हुए ग्रनुपयुक्त लूले-लंगड़े, वृद्ध पशुग्रों के पालने का एकमात्र स्थान यही है। सारे नगर के पशु एक स्थान पर दिन भर चरने के लिए मुक्त पाने लगें, यह सूरजमल जी का स्वप्न था। ग्रापने राज्याधिकारियों से मिल कर सन् १९२९ में बीड़ की व्यवस्था की ग्रौर इस तरह ग्रपने ग्रंचल में एक वहुत वड़ा बीड़ स्थापित करवा दिया। यह लगभग १००० बीघा एकड़ का बीड़ है। वनस्पति रोपने के लिए ग्रादमी नियुक्त किये गये। पेड़ों को ग्रनायास वन्य पशु न चर जावें, इसके लिए पहरेदार वैठाये गये। ग्रनाधिकारी व्यक्ति पेड़ों को काट कर बीड़ की श्री का ग्रपहरण प्रारंभ न कर दें, इसके लिए उचित नियंत्रण किया गया। स्थान-स्थान पर इसमें खाद डलवायी जाती रही, उपयोगी घास व वृक्ष लगें, इसके लिए ग्रच्छे-ग्रच्छे बीजों का छिड़कवाना जारी कर दिया गया।[3]

"बीड़ के बीच से होकर गाँववालों का नियमित मार्ग है। वे इस बीड़ में ग्राकर विश्राम कर सकें, इसके लिए कुछ समय वाद उचित स्थान में एक कमरा वनवा दिया गया, जहाँ पर वे ठहर सकें, भोजन-पानी कर सकें, मार्ग की थकावट दूर करने के लिए सो सकें। इसी कमरे के सामने एक कुग्राँ भी वनवा दिया गया, जहाँ पर बीड़ में चरने के लिए ग्रानेवाले पशु पानी पी सकें, वटोही तृषा वुझा सकें। किसी वृक्ष को सींचने के लिए यहाँ से पानी सहेजा जा सके। ग्रौर इस तरह बीड़ का एक सुचारु विधान गठित कर दिया गया। इसी दृढ़ लगन का यह फल है कि यह रेतीली भूमि गह्वर वन के समान ग्राज प्रतीत होती है। वैशाख ग्रौर ज्येष्ठ की भीषण गर्मी में लाखों पशु-पक्षी पेड़ों की छाया में सानंद विचरण करते हैं।"

राजस्थान में ग्रंग्रेजों की दुहरी गुलामी स्थापित हो जाने के वाद से यहाँ का शासकवर्ग, यहाँ के पशु-धन का जीवन पतनावस्थामें जो रौरव नरक भोग रहा था, उससे उद्धार कराने के लिए मानो ग्रसहाय था। लेकिन सूरजमल जी प्रभृति उद्भट धरती-पुत्रों ने इस दिशा में ग्रपने जो विनीत प्रयास किये, उनसे दो लाभ होने लगे। राजस्थान को गोचरभूमि ही प्राप्त न होने लगी, वनस्पति की हरीतिमा का सुख-लाभ भी मिलने लगा। राजस्थान में हरीतिमा जितनी वढ़ेगी, इसकी प्रखर ग्रीष्म उतनी ही शान्त होगी ग्रौर उतना ही यहाँ का रेगिस्तानी भाव नष्ट होगा। दुहरी गुलामी के दिनों में ऐसा कृतित्व जिनके हाथों से लेख-सूत्र पा रहा था, वे कितने स्वदेश-भक्त ग्रौर मातृ-भूमि के सच्चे सपूत थे, इस पर ग्रव नया ग्रौर प्रकाश डालना शेष रह गया है ?

---

१ वाल्मीकि-युग के अवतरण तक राजस्थान में गहन वन नष्ट हो चुके थे, क्योंकि जब राम को वनवास दिया गया, तो वे इधर नहीं आये, हरियाना के 'रामहद' होते हुए दक्षिण भारत की ओर चले गये।

२ राजस्थान के वर्तमान वनस्पति-जगत को देखने से मालूम होता है कि यह केवल खेजड़ी, वबूल (कीकर), नीम और पीपल का प्रदेश ही नहीं रहा है, यहां कदम्ब (सीकर के निकट कदम्ब-वास गाँव) और अशोक और केवड़ा और अन्य गन्ध-द्रव्य वनस्पति भी उपजती रही है। मेंहदी, जिसका गुणगान कालिदास ने प्रचुर रूप से किया है, और जो कालिदास से बहुत पहले से भारत में विद्यमान थी, राजस्थान में खूब उगती थी।

३ श्री के. एम. मुन्शी ने सन् १९५१ में, जो कि भारत में शुरू किये गए वन-महोत्सव के प्रतिपादक रहे हैं, देहरादून फौरेस्ट-कालेज के दीक्षांत भाषण में कहा था, "It was to arouse mass consciousness regarding the significance of trees and revive an adoration for these silent sentinels mounting guard on Mother Earth that I conceived the Vana-Mahotsava which aroused considerable enthusiasm through out the Country."

वन-महोत्सव अभियान से बहुत पहले स्वामी गोपाल दास जी और सूरजमल जी इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से अपनी अभिरुचि सिद्ध हो चुके थे।

विधाता की गति टारे नहीं टरै !

विधाता और विधातृ (विमाता।) [झालावाड़, शनिश्चर के मंदिर में सात ग्रहों के साथ रखी हुई मूर्ति, लगभग १३ वीं-१४ वीं सदी की मूर्ति, राजस्थान में यह मूर्ति अपनी शैली की अत्यंत दुर्लभ मूर्ति है।

महाभारत (१३ : १४६ : ६४) में स्पष्ट रूप से जिस देवादिदेव को 'अविज्ञाता सहस्रांश्रुर्विधाता व्यक्त लक्षणं' कह कर पूजित किया है, उस विधाता को अग्निपुराण के गणभेदनामाध्याय में इस प्रकार महामहिम बताया गया है —

द्वौ धाता च विधाता च पौराणौ जगतां पती। द्वौ शास्तारौ त्रिलोकेऽस्मिन् धर्म्माधर्मौ प्रकीर्त्तितौ ।।

—अर्थात् प्राचीन काल से संसार के दो ईश्वर हैं। एक धाता हैं, दूसरे विधाता हैं। दोनों ही इस संसार के शासक हैं। दोनों ही धर्म एवं अधर्म का नियंत्रण अपने हाथों से करते हैं।

शास्त्रों ने विधाता नाम ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा कामदेव का कहा है, किन्तु लोक-जगत में यह मान्यता रही है कि धर्म-लेख का लेखन विधाता नाम के देवता करते हैं। अदिति के एक पुत्र विधाता भी हुए हैं। उनके ही एक भाई धाता भी कहे गये हैं।

ये विधाता समस्त सृष्टि के कर्मों का नियमन करने वाले हैं, इसलिए प्राचीन मूर्ति-शास्त्र में विधाता और विधातृ की प्रतिमाओं का अंकन भी श्रद्धा भाव से हुआ है। जहाँ अन्य देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा हुआ करती थी, विधाता की मूर्तियां भी गढ़ी जाती थीं। यहाँ पर जो मूर्तियाँ प्रस्तुत हैं, उनमें एक विचित्रता है। गृहस्थ-धर्म के अनुरूप इन्होंने वस्त्र पहन कर वस्त्र की ही पगड़ी धारी है, जो कि मध्ययुग में प्रायः दीवान पहना करते थे। विधातृ देवि उनके बाएँ आसीन हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्णखंड, अध्याय ७) में विधाता के सम्बन्ध में कंस का, जिनका विनाश उनके ही भानजे के हाथों की गयी भविष्यवाणी के अनुसार हुआ, कथन बहुत ही सुस्पष्ट और प्राचीन मान्यताओं का पृष्ठपोषक है। कंस ने कहा—

तृणेन पर्व्वतं हन्तु शक्ति धाता च दवतः। कीटेन सिंहशार्दूलं मशकेन गजं तथा ।।
शिशुना च महावीरं महान्तं क्षुद्रजन्तुभिः। मूषिकेण च मार्ज्जारं मण्डूकेन भुजङ्गमम् ।।
एवं जन्येन जनकं भक्ष्येणैवे च भक्षकम्। वह्निना च जलं नष्टं वह्निं शुष्क तृणेन च ।।
पीताः सप्त समुद्राश्च द्विणेनेकेन जह्नुना। धातुर्मतिर्विचित्रा च दुर्ज्ञेया भुवनत्रये ।।

—अर्थात्, वह विधाता अघटित घटना को घटित करने वाला ऐसा देवता है, जो एक तिनके से पर्वत को नष्ट करनेवाला है, एक कीट से सिंह को मरवाता है। मच्छर से हाथी को, बच्चे के हाथों महावीर को, क्षुद्र जन्तुओं से महान जंतुओं को, चूहे से बिलाव को और मेंढक से सर्प को नष्ट करवा देता है। विधाता की गति इसीलिए बड़ी विचित्र है। उसे कौन जान सकता है। कोई नहीं जान सकता। ऐसा सुनने में आया है कि जह्नु नामक ऋषि ने सातों समुद्रों का पान कर लिया था। यह विधाता की ही गति के कारण संभव हुआ था। यह भुवन उन्हीं के प्रदत्त कर्म-लेख का परिणाम है।

षष्ठ परिच्छेद

पाट-व्यवसाय के गहन व्यूहचक्र में

○

यं देवासोऽवथ वाजसातौ, यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्रसानसिम्, अरिष्यन्तम् आरुहेमा स्वस्तये ॥

(ऋग्वेद १० : ६३ : १४)

—हे देवताओ, हे मरुतो, जिस शक्तिकारक, शूर-संग्राहक, हित-साधक और धन-दायक रथ को तुम संभाल कर चलाते हो, प्रातः होते ही चल पड़नेवाले, सीधे इन्द्र-द्वार तक पहुंचाने वाले और टूट-फूट से बचा हुआ रहने वाले उसी रथ पर हम भी चढ़ना चाहें और परम सुख का लाभ किया चाहें ।

○

[३८]

१९१० के वाद से हमने सूरजमल जी के व्यापारिक कृतित्व का अध्याय एक प्रकार से गौण वना दिया था । सन् १९१७ तक हैम्प में उनके हाथों क्या प्रगति हुई, इसकी सूक्ष्म झांकी अवश्य दी थी । यह सच है कि सन् १९१७ के वाद से वे अपना अधिकांश समय, व्यापार से अधिक जनहित के कार्यों में देने लगे थे । किन्तु उन्होंने अपना व्यापार-धर्म एकदम उदासीन वना दिया हो, कुछ ऐसी वात न थी । जन-हित का रोपण केवल धन-सिंचन से ही संभव हो सकता है और उसका नियमन करने के लिए यह परम आवश्यकता वनी रहती थी कि व्यापार में जो लाभ प्राप्त हो रहा हो, उसका भी अर्जन निश्चित गति से होता रहे । व्यापार जब बढ़ने लगता है, तो शाखा-प्रशाखाओं के रूप में सहायकों और विश्वासी सहयोगियों की एक पंक्ति भी कार्य के विस्तार में शोभनीय बनने लगती है । यों भी उनका वंश बढ़ रहा था, वाजोरिया परिवार में भी संतति जन्मने लगी थी । फिर भी सूरजमलजी व्यापार का सूत्र-संचालन मुख्य रूप से स्वयं ही करते थे ।

इस समय तक कलकत्ता में १. हुगली जूट प्रेस, २. चितपुर हाईड्रौलिक प्रेस, ३. काशीपुर हाईड्रौलिक जूट प्रेस, ४. विक्टोरिया जूट प्रेस, ५. सन जूट प्रेस, ६. गेंगेज जूट प्रेस, ७. कलकत्ता प्रेस, ८. गोलावाड़ी जूट प्रेस, ९. इसफहानी जूट प्रेस, ९. सूरज जूट प्रेस, १०. गजधर जूट प्रेस और ११. ओशन जूट प्रेस थे ।

सन् १९०७ तक आप जूट-वेलर और जूट-शिप्पर वन चुके थे । लेकिन यह संतोषजनक क्रम-विकास आपके इस दिशा-अभियान का न था । सन् १९११ में आपने अपने मामा सुरेकाओं के यहाँ से इंडिया जूट-प्रेस खरीद कर पहले नीमतल्ला घाट स्ट्रीट में, जहां वह पहले से स्थित था, वहीं पर अपना काम शुरु कर दिया । पर वाद में आपने सन् १९१३ में एक दूसरा जूट प्रेस और खरीद लिया, जो कि ३८, ओल्ड घुसुड़ी रोड, हावड़ा में स्थित था । इस प्रेस के साथ जो अतिरिक्त भूमि और भवन आदि गुदाम थे, वे सव भी आपने क्रय कर लिये ।

प्रथम विश्वयुद्ध में क्योंकि अर्थ-सम्पत्ति में एक तीव्र अभिवृद्धि होती जा रही थी, इसलिए उत्साहित होकर आपने सन् १९१९ में भजरामा जूट प्रेस भी खरीद लिया । यह प्रेस शामनगर में स्थित था । वहां से सारी मशीनरी को खुलवाकर उपरोक्त घुसुड़ी रोड में स्थानांतरित करवा दिया गया और वहीं पर उसका नये सिरे से स्थापन हुआ । इसका नाम श्री हनुमान जूट प्रेस रखा गया, जो समय पाकर अपने परिमाण में और वृद्धि पा गया । शामनगर में जिस गुदाम में यह प्रेस स्थापित था, उसकी व्यवस्था में जीर्णोद्धार करवाते हुए उसे ऐसा रूप दिया गया कि आपने इस गुदाम को चैरिटेबल ट्रस्ट प्रापर्टी में परिवर्तित कर दिया और इसके

जो किराया आने लगा, उसे आपने जनहिताय कार्यों में नियोजित करना शुरू कर दिया।

लेकिन अभी तक जूट-कार्य का अंतिम लक्ष्य हाथ न लगा था। इस समय तक जो भी जूट-मिलें थीं, वे किसी यूरोपियन के हाथों खड़ी की गयी थीं। ऐसा लगता था कि इस समय तक जूट-मिल मानो यूरोपियनों का ही एकाधिकार हो। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अवश्य बिड़लाओं ने और सेठ हुकुमचन्द ने अपनी-अपनी जूट-मिलें बैठाने का श्रीगणेश करते हुए इस क्षेत्र में पहला भारतीय अध्यवसाय प्रारंभ कर दिया था। इससे यह संभावना सामने आई थी कि अन्य भारतीय भी इस उद्योग को अपने हाथों में भली प्रकार नियंत्रित कर सकते हैं। सूरजमल जी ने भी इसी समय से इस दिशा में सोचना प्रारंभ कर दिया। आपके छोटे भाई बंशीधरजी तो इस विषय में सचमुच उग्र हो चले थे और उनका ख्याल था कि जूट मिल बैठाने से ही हमको संतोष हो सकता है। सूरजमलजी इस आग्रह को प्रिय मानते थे। इसलिए आपने इस दिशा में उचित कार्यवाही की जाए, ऐसी योजना का प्रारूप बना कर बंशीधरजी को दे दिया।

आपने कुछ ही दिनों बाद ओल्ड घुसुड़ी रोड पर ७६ नम्बर में जो ४० बीघा भूमि थी, उसे ६६ वर्ष के लिए लीज ले ली। अब आपने यहाँ पर जूट-मिल बैठाने का कार्यक्रम भी विधिवत् प्रारम्भ कर दिया, लेकिन कुछ परिस्थिति इस तरह बाधक रही कि यह कार्य अनिश्चित काल के लिए स्थगित पड़ा रहा। इस अवधि में आप इसका भूमि-शुल्क नियमित रूप से देते रहे।

कुछ समय बाद आपने जब पुनः जूट मिल स्थापित करने की चेष्टा प्रारम्भ की, तो यह ध्यान आया कि कहीं दूसरे स्थान पर, जहाँ जूट-मिल की समस्त सुविधाओं की शर्तें पूरी हो सकें, इस तरह की भूमि की तलाश हो जाये तो बेहतर होगा। लेकिन जब लोगों को मालूम हुआ कि किसी जूट-मिल की स्थापना के लिए भूमि की तलाश हो रही है, तो सभी भूमि-स्वामियों ने खूब दाम बढ़ा दिये। सूरजमल जी को जब वास्तविक रहस्य का पता चला तो आपने यही कहा कि भूमि तो अपने पास ही है और हम उसका किराया भी चुका रहे हैं। इसलिए मिल की स्थापना क्यों न वहीं की जाये, जिसे लिया भी इसलिये गया था कि वहाँ पर जूट-मिल बैठानी है। इस तरह उस भूमि का सार्थक मूल्य हमें प्राप्त हो जायेगा। यह उदाहरण, सूरजमल जी किस तरह किसी जटिल विषय पर निर्णय लिया करते थे, एक उत्तम प्रमाण प्रस्तुत करता है। निर्णय लेते समय भविष्य में गहरे झांकने की उनकी शक्ति बड़ी थी। समय को वे पहचानते थे। प्रगति के विस्तार की जोड़-बाकी करने में उन्हें बहुत अधिक विलम्ब नहीं लगता था। इसीलिए उसी जमीन पर मिल बैठाने का अंतिम निर्णय आपने लिया, जिसे केवल जूट-मिल की दृष्टि से ही लीज पर लिया गया था।

मिल की स्थापना की बात की जाये, इससे पहले संक्षेप में भारत में जूट-मिलों का निर्माण अपने किन ऐतिहासिक मूल्यों को लेकर फलप्रद रहा है, इस पर एक सिंहावलोकन प्रस्तुत कर दिया जाये।

भारत में सन् १८५४ तक जूट के थैले आदि जिस स्तर पर देशी रूप में तैयार हो रहे थे,[1] उसे संगठित रूप देकर कोई विकास की योजना न बनी थी।[2] सन् १८५५ में सिरामपुर के निकट रिसड़ा में पहली चटकल खुली थी। इसका सीधा प्रभाव यह हुआ कि चार वर्ष बाद ही, पाट के कपड़े बुनने के लिए पहली मिल बारानगर में खुली। इसके बाद, पाँच वर्षों में ही, सन् १८६४ में, गौरीपुर जूट फैक्टरी बन कर तैयार हो गयी। बंगाल से जूट का कच्चा माल विलायत की डंडी मिल में जाये और वहाँ से जब वह वांछनीय रूप में तैयार होकर आये, उसके बनिस्बत विदेशी लोगों ने यहाँ पर ही मिल खोलना श्रेयस्कर समझा। सन् १९०८ तक, भारत में २० हाइड्रौलिक प्रेस चल रहे थे। जो बहुत बड़े प्रेस थे, वे ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों द्वारा संचालित होते थे।

सन् १८५८ के आसपास बारानगर में जो जूट मिल खुली, उसका नाम था दि बोर्नियो कम्पनी लिमिटेड, बारानगर। इससे पहले, इतिहास-विज्ञों का ऐसा मत है, सन् १८५५ में भारत की सबसे पहली जूट मिल सिरामपुर के निकट रिसड़ा में जियो ऑवलैंड नाम से खुली थी। सन् १८७२ में बारानगर की मिल का नाम बदल कर हो गया दि बारानगर जूट फैक्टरी कम्पनी लिमिटेड। सन् १८६२ में गौरीपुर मिल खुली। सन् १८६६ में इंडिया एण्ड सिराजगंज मिल्स का संचालन प्रारम्भ हुआ। सन् १८७३ के बाद बज-बज, फोर्टग्लोस्टर, चापदनी, शिवपुर आदि मिलें खुल गईं। किन्तु सन् १८७५ के बाद जब और मिलें भी खुल गईं तो माल के अभाव में एक ऐसा व्यापारिक ह्रास आया और मिलों को कच्चा माल मिलने में इतना कष्टाभाव हुआ कि बहुत-सी मिलें बन्द हो गईं। सन् १९०६ तक यह स्थिति पुनः पूर्वावस्था में आ गई और ३९ मिलें स्वस्थ भाव से काम करने लगीं।

---

१. "In the first quarter of last century the spinning and weaving of jute by hand was extensively practised by the natives of India for cordage, and cloth for bedding, screens, garments of the poorer classes and many other domestic purposes. This hand industry was then as it is still, though on a smaller scale, almost wholly confined to Bengal."—D. R. Wallace, 'The Romance of Jute'.

२. "The great trade and principal employment of jute is for the manufacture cf gunny chuts or chuttees, i.e, lengths suitable for making bags. This industry forms the grund domestic manufacture in all the populous eastern districts of Lower Bengal. It pervades all classes and penetrates into every household."—ibid, p. 8.

जालान-स्मृति-भवन, कलकत्ता, में
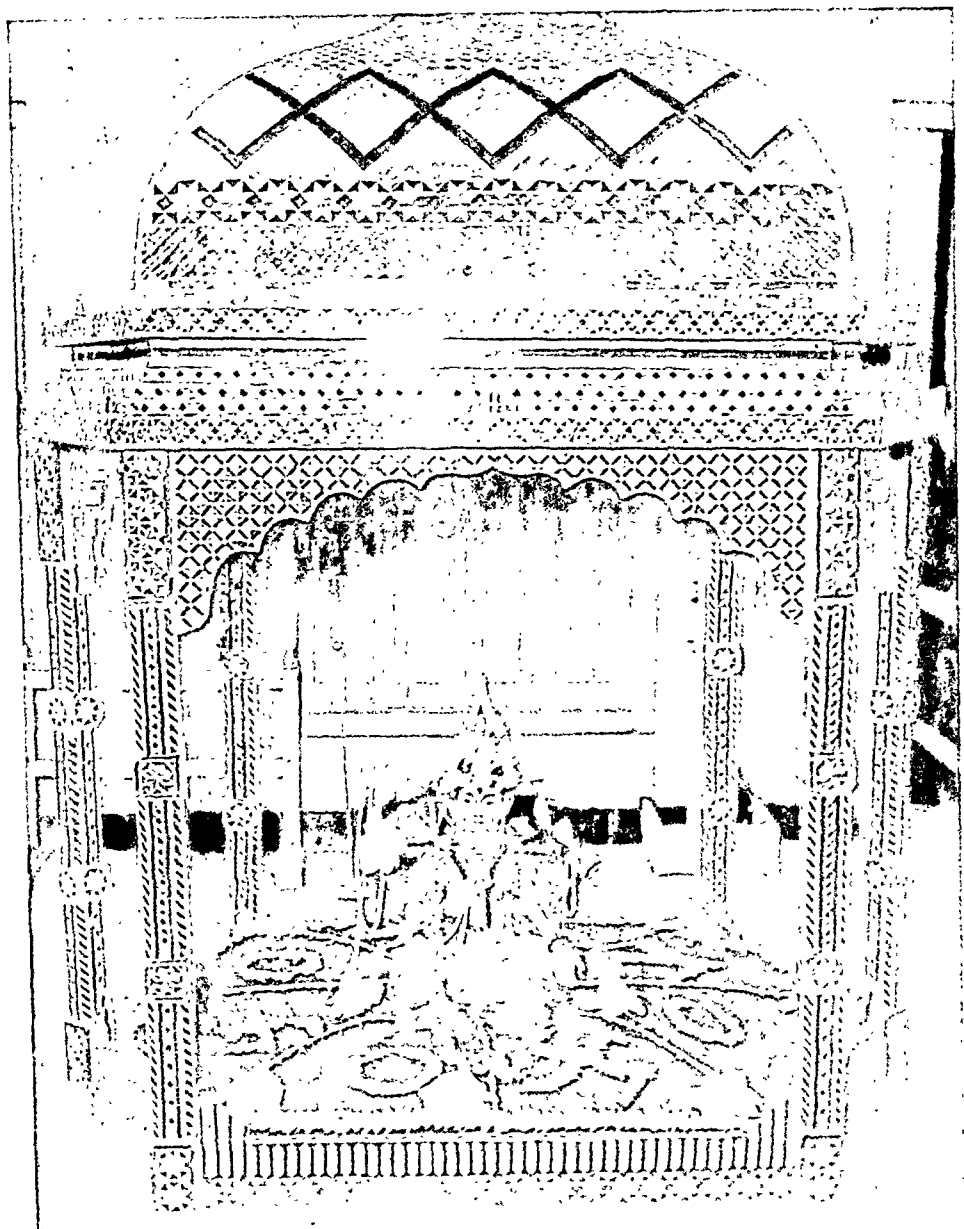
शिवरात्रि की अपूर्व झाँकी

जालान-स्मृति-मंदिर में शिवरात्रि के दिन शिवजी का विग्रह धूमधाम से प्रति वर्ष पुष्प-मंडप में सज्जित किया जाता है. उस अवसर पर लिया गया एक उल्लेखनीय चित्र।

श्री सदन, हावड़ा में, (सन् १९४४)

(खड़े हुए) सर्वश्री श्यामलाल वाजोरिया, देवकीनन्दन जालान, वैजनाथ जालान
(कुर्सी पर वैठे हुए) महाराज शार्दूल सिंह, वीकानेर, झावरमल सराफ, मोहनलाल जालान, शिवभगवान जालान, किशोरीलाल जालान तथा परिवार के अन्य वच्चे !

पत्थर-पुरी, पुरी

श्री सूरजमलजी ने पुरी जैसे समुद्रतटीय देवस्थान में प्रस्तुत कोठी जन-लाभार्थ सार्वजनिक आरोग्य-भवन की दृष्टि से तैयार की थी। इस में पुस्तकालय और औषधालय भी खोले गये थे। पर उन के देहावसान के वाद इसे सरकार ने अपने संरक्षण में ले लिया था।

एक नई जूट मिल के अधिपति

"मारवाड़ी जाति ने विकट परिस्थितियों में जूट के व्यापार में प्रवेश किया। प्रारंभ में इसे अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।......आज तो यह हाल है कि बंगाल के जूट के व्यवसायिक क्षेत्रों में हर स्थान पर इस जाति के व्यक्ति अपनी प्रधानता स्थापित किये हुए हैं।......जीवन के क्षेत्र में बिना उचित साधनों के केवल अपने साहस, अध्यवसाय और कार्यशीलता के बल पर जो लोग संसार के अन्दर महान सफलता प्राप्त करते हैं, उनमें सेठ सूरजमल जी जालान भी एक हैं। आपकी कार्य-कुशलता के साथ-साथ आपकी भाग्य-लक्ष्मी भी आप पर प्रसन्न हो रही थी। जिसके परिणामस्वरूप सं० १९८५ में आपने हनुमान जूट मिल के नाम से एक प्रायवेट जूट मिल की स्थापना की।"

—अग्रवाल जाति का इतिहास, पूर्वकाल, पृ० ८१

[३९]

सन् १९१६ से जो काम स्थगित हो रहा था, वह अनायास सन् १९२६ में एक नये उत्प्रेरक आग्रह को लेकर आँखों के आगे आकर ठहर गया। अलीपुर प्रेसीडेंसी जेल में[1] बहुत पहले से जूट की बुनाई का काम चलता था। सन् १९०९ में यहाँ पर ४८ लूम काम करते थे। सन् १९२६ में लगभग ५० लूम बिक्री के लिए दे दिये जायें, जेल-अधिकारियों ने निर्णय किया। अब जूट-मिल स्थापित हो, इसका शुभ सूत्रपात संभव हो गया। और सूरजमल जी तथा उनका संयुक्त परिवार औद्योगीकरण के क्षेत्र में एक स्थान बना लें, इस नये अध्याय का उद्घाटन इसी क्षण से, इन्हीं लूमों को लेकर, हो गया।

बिना किसी विलम्ब को और सहन करते हुए फर्म की ओर से एक ब्रिटिश फर्म के पास २१३ लूमों का अतिरिक्त आर्डर सुरक्षित करवा दिया गया। यह भी निश्चय कर लिया गया कि मिल का नाम श्री हनुमान जूट मिल ही रखेंगे।

जूट-मिलों का इतिहास एक बात है, जूट-मिलों का विकास दूसरी बात है। और जूट-मिलों के क्षेत्र में भारतीयों का पदार्पण एक तीसरी बात है। इतिहास हम ऊपर देख चुके, अब हम दूसरे तथ्य पर एक नजर और डाल लें।

शुरु में इस की चर्चा आई है कि जब पश्चिमी देशों को रूसी हैम्प की रसद मिलनी बन्द हो गई, तो भारत आदि में उसका स्थानान्तरण करनेवाले एक ऐसे रेशेदार वनस्पति की खोज शुरु हो गयी, जिसके रेशों को डंडी में पहले से स्थापित फ्लैक्स और हैम्प की मशीनों पर बुनाई के लिए प्रयुक्त किया जा सके। ईस्ट इण्डिया की नौकाओं में एक नवजवान अधिकारी ने नौकरी छोड़ कर पहले लंका में व्यापार प्रारंभ किया, क्योंकि वैश्य जाति के पुत्र व्यापार में ही अपने साम्राज्य-स्वप्नों की अभीप्सित पूर्ति देखते हैं। फिर वह कलकत्ता में आ गया और यहाँ पर वह कागज-उद्योगों में अपने हाथ आजमाने लगा। स्थानीय घासों के आधार पर बंगाल में अंग्रेज कागज-उद्योग स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। इस नौजवान का नाम जार्ज आकलैंड था। इसके दिमाग में सहसा ही सूझ आई कि जो रिहा घास है, क्या उससे फ्लैक्स और हैम्प की पूर्ति नहीं की जा सकती? यह युवक कलकत्ता में सन् १८५३ में आया था। इसने तुरंत बाली और सिरामपुर के बीच की भूमि रिहा घास उपजाने के लिए ले ली, इस समय तक ईस्ट इण्डिया रेलवे की लाइनें इस भूमि के बगल में बिछाई जाने लगी थीं और रेलमार्ग शुरु होने वाला था। १८५४ में आकलैंड इंग्लैंड गया और वहाँ पर जोह्न कार से भेंट की, जिसने जूट की मशीनों के निर्माण में काफी प्रगति कर ली थी। आकलैंड द्वारा लाये गये नमूने देख कर वह संतुष्ट न हुआ। पर उसने बढ़ावा देते हुए यह सुझाव दिया कि ज्यादा अच्छा हो कि तुम मशीनें भारत ले जाओ और वहाँ पर इस घास से कताई-बुनाई के प्रयोग चालू रखे जा सकते हैं। यह परामर्श आकलैंड को पसन्द आ गया। मशीनरी का आर्डर दे दिया और इस तरह बंगाल में जूट-मिलों का सूत्रपात शुरु हो गया। सन् १८५५ में पहली जूट-मिल में प्रतिदिन ८ टन के हिसाब से कताई होने लगी। पर रिहा घास से नहीं, जूट से इस उद्योग का उद्भव इस स्तर तक बढ़ा कि सन् १९०९ में यह कताई २५०० टन तक प्रतिदिन के हिसाब से होने लगी[2]।

जूट-मिलों का विस्तार उनकी लूम-क्षमता पर आधारित रहा है। आकलैंड ने जो सर्वप्रथम मिल स्थापित की थी, उसमें हस्तचालित लूम ही बैठाये गये थे। किन्तु १८५७ से लेकर १८६७ तक, १० वर्षों की अवधि में आकलैंड अपनी आर्थिक दुरवस्था व आर्थिक प्रबंध में अनभ्यस्त रहने के कारण इस मिल से ऐसा निराश हुआ कि वह वापस इंग्लैंड लौट गया। किन्तु उसके द्वारा शुरु किये गये काम को जार्ज हैण्डरसन ने बोर्नियो जूट कम्पनी की एजेंसी लेकर उसके काम को बहुत उन्नति प्रदान करने में सफलता पाई और इसी कम्पनी ने सर्वप्रथम पावर लूम बैठाये।

---

१ यह फैक्टरी प्रारंभ में अफीम की पेटियों पर चढ़ने वाले और चावों के रुपयों को भरने के निमित्त बोरों की बुनाई करने के वास्ते सन् १८८० में बैठाई गई थी।

२ The Romance of Jute, 1930, p. 11.

१० वर्ष में इनका मूलधन द्विगुणित हो गया, अतः अब इन्होंने अपनी मिल को लिमिटेड कर दिया और वारानगर जूट-मैन्यूफेक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड नाम से प्रारंभ किया। अब इसमें ५१२ लूम काम करने लगे थे। १८७० तक कलकत्ता के इर्दगिर्द ५ जूट मिलें बैठ चुकी थीं और उनमें ६५० लूम सक्रिय थे। बुने गये बोरों का वजन एक समान रहे, इसकी किसी को न चिंता थी, न ही यह चिंता थी कि दो-तीन श्रेणियों के बोरों में धागे का नम्बर यथा-क्रम रहे। इस समय तक यहाँ का बुना हुआ ट्विल जूट विदेशों को जाने नहीं लगा था, पर उसकी खपत देश में प्रचुर मात्रा में होने लगी थी। एक रुपये में लम्बाई एक इंच की—यह सीधा हिसाब था और एक बोरे का वजन २ पौंड हुआ करता था। अब विदेशों को भेजने का प्रश्न सामने आया, क्योंकि वस्त्र का उत्पादन अधिक करने की क्षमता प्राप्त हो चुकी थी और मिलों में बोरे अधिक मात्रा में बनें, यह संभावना उग्र होने लगी थी। आखिर बोर्नियो कम्पनी ने ही सर्वप्रथम सन् १८६८ में ढाई पौंड की ट्विल को ढाई पौंड वाली ३ बुशेल बोरों की ४०० गाँठें ब्रिटेन के लिए रवाना कीं। वहाँ पहुँच कर इस सामान की विचित्र दुरवस्था थी। निर्धारित ढाई पौंड के स्थान पर वजन २ से ३ पौंड निकला और जब उन पर दाम फलाया गया तो वह ७ से लेकर १० रुपये प्रति इंच निकला। दुर्गति यह हुई कि खरीद करनेवालों ने प्रति गाँठ एक पौंड का हर्जाना दावे के रूप में वसूल किया। इसी समय से जूट-कटिंगों की गाँठ बनाकर अमरीका भेजने में एक बेस्किन नाम के आर्मीनियन ने काफी पैसा कमाना शुरू किया। अन्यथा उससे पहले जूट-कटिंगों को गंगाजी में बहा दिया जाता था[1]।

इसके उपरान्त इन मिलों का जो विकास, जो समुन्नति, जो आर्थिक उद्भव और इनसे जो साम्राज्य-तुल्य वैभव-अर्जन हुआ है, वह लूम-क्षमता में वृद्धि के अनुरूप होता गया है। १८७३ तक इन मिलों के लूमों की संख्या १२५० तक बढ़ गई थी। इस समय तक स्थिति यह थी कि कोयला और चाय में इतना मुनाफा न था, जितना जूट में और यदि कोई जूट-विषय की लिमिटेड कंपनी स्थापित करने के लिए तैयार हो तो सुबह से लेकर दुपहर तक उसके सभी शेयर बिकने में कोई संदेह न था—जूट के मुनाफे की ऐसी बड़ी लोकप्रियता थी। यही कारण है कि इसी समय से नई जूट कम्पनियों का आविर्भाव शुरू हो गया। नई पाँच कम्पनियाँ और आठ नई मिलें अस्तित्व में आ गईं। लूमों की संख्या भी इसी अनुपात में बढ़ी और ३५०० तक पहुँच गयी। इस तरह जूट भारत में सबसे पहला, दृढ़ और मजबूत उद्योग का उपकरण सिद्ध हो चला था। केवल एक-दो मिलों ने ही कुछ घाटा प्रबंध-अनभिज्ञता के कारण सहा, वरना सभी कम्पनियों ने खूब लाभ कमाया। और इसी से उत्साहित होकर बम्बई के एक उद्यमशील सज्जन चन्दररामजी ने रुस्तमजी मिल शुरू की और सूराह मिल मारवाड़ियों की एक फर्म ने प्रारंभ की[2]। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि बिड़ला व हुकुमचन्द इस क्षेत्र में प्रथम मारवाड़ी न थे। मिलों में बिजली की रोशनी का सफल प्रयोग सन् १८८१ में हावड़ा मिल ने ही किया था। लेकिन यह बात आगे चलकर शिथिल हो गई। सन् १८६५ से कृत्रिम प्रकाश के लिए बिजली बहुत लोकप्रिय होती गयी।

सन् १६०६ के प्राप्त आँकड़ों के अनुसार लूमों की संख्या इस वर्ष में सैकिंग और हैसियन दोनों को मिलाकर ३० हजार ६३५ हो गयी थी। यह संख्या यह प्रमाणित करने के लिए काफी थी कि क्यों इस उद्योग में बड़ी पूंजीवाले व्यक्ति गहरी रुचि लेने के लिए विकल रहा करते थे। सन् १६०६ तक १४ करोड़ ८८ लाख रुपयों के शेयर जूट-मिलों में नियुक्त हो चुके थे।

जूट की प्रसिद्धि का कारण यह था कि इसका वेष्टन (पैकिंग क्लॉथ) बहुत कड़ा, मजबूत और यातायात में सरलता से न फटने-वाला सिद्ध हुआ था। भारी वजन के सामान को इसके थैले आसानी से सम्हाल सकते थे। ऊपर हमने देखा कि अफीम व चांदी के रुपयों को भरने के लिए जूट के थैले बनाये जाने लगे थे। लेकिन चीनी, दालें, शोरा, नील, नमक, अन्य रसायन, गेहूँ-चना-बाजरा, गुड़ आदि खाद्य-सामग्री भी इन्हीं बोरों में भरी जाने लगी थी। शनैः-शनैः जूट के थैले और जूट के वस्त्र इतने अधिक भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न उद्योगों में प्रयुक्त होने लगे कि इसकी मांग दिन-दूनी बढ़ती ही गयी और दक्षिण अमरीका आदि देशों में आटा भी इन्हीं थैलों में जाने लगा था। आस्ट्रेलिया मिश्र आदि देशों के लिए विशिष्ट बोरे बनाये जाने लगे थे और उनका नाम व्हीट-पाकेट्स, आस्ट्रेलियन ब्रान बैग्ज और इजिप्शियन काटन पैक्स जैसी चीजें कलकत्ता में बड़े पैमाने पर बनने लगी थीं। दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी तटों की दिशा में नाइट्रेट बैग्ज का बहुत बड़ा निर्यात होने लगा था।

जूट वास्तव में किसी प्रेम-कथा के तुल्य ऐसा विषय है, जिसका विस्तार कम नहीं है और जिसकी कहानी खूब विस्तार से अनेक रूपों में लिखी जा चुकी है, लेकिन ऐसा लगता है कि वह जैसे आज-तक अलिखित ही पड़ी हुई है!

सूरजमल नागरमल ने बहुत जोर-शोर से जूट-मिल बैठाने का कार्य शुरू कर दिया। गुदाम आदि बनाये जाने लगे। मिल का भवन बनाने में मिस्त्री जुट गये।

१ जूट-कटिंगों को बोइलर में जलाने या गंगाजी में फैंक देने का क्रम प्रथम विश्वयुद्ध तक चलता रहा। श्री बंशीधरजी जालान ने प्रथम विश्वयुद्ध में जूट-कटिंगों की गाँठ बंधवाने की चौकसी बरती। पहले ४) रुपये की एक गाँठ मुश्किल से बिका करती थी। युद्ध की अवधि में इस का दाम १००) रुपये तक बढ़ा। सूरजमल नागरमल ने इस अग्रिम व्यवस्था से बहुत लाभ उठाया।

२ The Romance of Jute, p. 32.

आखिर १८ जनवरी सन् १९२७ को, एक वर्ष बाद ही, जूट-मिल की नींव स्थापित कर दी गयी और इसी दिन इसका शिलान्यास हुआ। वर्षान्त तक भवन बन कर पूरा हो गया, मशीन आदि यथास्थान बैठा दी गयीं। २३ जनवरी सन् १९२८ को इसका शुभ उद्घाटन कर दिया गया। प्रारंभ में २६३ लूम ही बैठाये गये, लेकिन शनैः-शनैः इनकी संख्या बढ़ा कर ६८१ तक बढ़ा दी गयी, जिससे पता चलता है कि हनुमान जूट मिल्स की कार्य-क्षमता कितनी वृद्धि पा गयी थी।

प्रारंभिक वर्षों में हैसियन और सैकिंग का उत्पादन ही इस मिल में किया जाता था। किन्तु सूरजमल जी के स्वप्न कुछ और ही थे। जिन वस्तुओं पर भारत दूसरे विदेशों पर निर्भर करता है, उस दिशा में भी हम आत्मनिर्भर हो जायें, तो उससे उत्तम क्या बात होगी और इस तरह औद्योगीकरण में हम एक नया अध्याय भी प्रस्तुत कर सकते हैं। आखिर आपने पूरे अध्यवसाय के बाद जूट-वैविंग का काम भी भारत में किया जाये, इसके उपाय कारगर कर दिये और यह कार्य उत्साहप्रद वातावरण में संभव हो गया। सारे देश में इस कार्य की जब सूचना प्रसारित हुई तो संबंधित क्षेत्रों में एक हर्ष व्याप्त हो गया। इस समय तक इसका उत्पादन केवल बेल्जियम आदि देशों में ही एकाधिकार के रूप में हुआ करता था। पर अब भारत का नाम इस अध्यवसाय के कारण विश्व में इस वस्तु के लिए प्रसिद्ध होने लगा और ब्रिटेन, अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि देश इस वस्तु का निर्यात भारत से ही करने लगे। सूरजमल जी जालान की यह दृढ़ आत्मा के कठिन निश्चय का सुपरिणाम था! अब इस सफलता से उत्साहित होकर सूरजमल नागरमल फर्म ने जूट के क्षेत्र में एक नये अभियान का सूत्रपात किया और इस विषय में आप को ही यह श्रेय जाता है कि इस अध्याय का श्रीगणेश सर्वप्रथम किया। जूट केवल बोरों के काम ही नहीं आता, यह ऊपर बता चुके हैं। जूट उद्योगों का अनिवार्य वेष्टन बन चुका था, यह चर्चा भी ऊपर आ गयी। लेकिन गृह-सजावट में जूट के गलीचे भी मध्यवर्गीय परिवारों को संतोष और प्रसन्नता दे सकते हैं,यह जूट के क्षेत्र में सचमुच एक प्रिय प्रगति थी। जूट के गलीचे इसीके बाद भारत में बहुत अधिक लोकप्रिय होने लगे। लिनोलियम का युग आया, लेकिन जूट के गलीचों का अपना महत्व पूर्ववत् बना रहा। इन गलीचों में रुचिप्रद कलात्मक डिजाइनों का प्रचार और सौम्य रंगों का विलास किस तरह अभिरुचि-पूर्ण हो सकता है,इस पर अधिक ध्यान दिया गया। बाद में तो देश में अनेक प्रतिष्ठान इस कार्य को करने लगे, लेकिन सूरजमल जी जालान ही इस अध्याय के प्रथम लेखक अथवा अभिनियंता हुए, यही तथ्य यहाँ पर हमें हर्षित करने के लिए पर्याप्त है!

जूट-कार्पेट्स का अपना एक रोचक इतिहास है। इससे पहले ये वस्तुएँ जर्मनी, चैकोस्लोवेकिया आदि देशों से आती थीं। इनमें भी रंगों का विशिष्ट मिश्रण और उनकी कलात्मक संगति के साथ फूलदार बेलबूटे अथवा जैकार्ड पैटर्न तथा अन्य ज्यामैट्रिकल डिजाइन विदेशी कारपेटिंग की एक विशेषता हुआ करती थी। सूरजमल नागरमल ने जब कार्पेट प्रारंभ किये, तो इन सभी पहलुओं पर आपने विशेष जोर दिया और वह समय बहुत जल्दी आ गया, जब कि इस फर्म द्वारा बनाये गये कारपेट विदेशी कारपेटों की तुलना में अधिक सस्ते और अधिक भारतीय शैली से ओतप्रोत अभिरुचि के बनने लगे।

हनुमान जूट मिल भारतीय औद्योगीकरण की प्रगति में एक महत्वपूर्ण चरण प्रस्तुत करती है और इस दृष्टि से सूरजमल जी जालान ने, अपनी गद्दी स्थापित करने के ठीक २८ वर्ष बाद ही, यह सृजन और अर्जन प्रस्तुत किया, इसका मूल्यांकन भावी वर्षों में और भी अधिक सशक्त शब्दों में किया जायेगा, इसमें हमें संदेह नहीं है।

पहला अध्याय सूरजमल जी के जीवन का वह बालपन है जब कि वे पिता के संरक्षण में रहे। दूसरा अध्याय वह है, जब उन्होंने अपनी ननिहाल में, माता के निधन के बाद, दो वर्ष तक घर की चौखट से बाहर जीवन बिताया और विवाह के उपरान्त अपने मामा जी के पास कलकत्ता में कैश आदि का कार्य ग्रहण किया। इस द्वितीय अध्याय के समाप्त होते न होते पिता और श्वसुर दोनों का स्वर्गवास हो चुका है। २०-२१ वर्ष की आयु में उनके अकेले कंधों पर दो परिवार आश्रित हो जाते हैं। सूरजमल जी ने बड़े साहस के साथ अपना तीसरा चरण सन् १९११ में पूर्ण किया, जब कि पिता के स्थान पर आसीन रह कर उन्होंने अपने बहन-भाईयों का विवाह आदि ही पूर्ण नहीं किया, अपने व्यापार को उज्ज्वल भविष्य के मार्ग पर अग्रसर कराने वाले धृत-लक्ष्य बन गये और व्यापार-वाणिज्य की लक्ष्मी के विशेष पात्र बनने का सुख पाने लगे। क्योंकि दृढ़ चित्तवाले धृतात्मा थे, नई दिशाओं के मार्गों का अवलम्बन ग्रहण करने में उन्हें बहुत अधिक विलम्ब नहीं लग रहा था। जूट के काम में हाथ डालने के पाँच वर्ष बाद उन्होंने विधिवत् गद्दी की स्थापना की, और दो वर्ष बाद किराये पर बेलिंग का काम प्रारंभ कर दिया। यह शुरू भी न हुआ था कि जूट व्यवसाय के अन्तिम स्तर का निर्दिष्ट लक्ष्य भी उन्होंने पूरा किया और शिप्पिंग का काम भी हाथमें ले बैठे। और बीस वर्षों बाद जूट-मिल के अधिपति भी हो गये। तीन युगों की यह प्रगति सूरजमल जी को युग-पुरुष के पद का समादर अवश्य दे सकी; २०वीं सदी के इस युग में जिन उल्लेखनीय व्यक्तियों ने व्यापार के क्षेत्र में अपने कदम बढ़ाये थे, उनकी श्रेणी में और उनकी पंक्ति में सूरजमल जी का नाम चर्चा का विषय बनने लगा था। यह एक बात थी। उठती हुई तरुणाई के साथ,उनका भाग्य-सूर्य भी क्षितिज पर ऊपर उठ रहा था, समाज की खुली आँखें इसे देखकर हर्षमना हो उठी थीं। इस समय तक मारवाड़ी समाज

ध्वजवान हो चुका था। उसकी अपनी नई परम्परायें मान्य हो रही थीं, उसके अपने व्यापारिक संगठन गठित हो चुके थे, उसकी अपनी स्थायी सम्पत्ति का केन्द्रीकरण बड़ाबाजार में होने लगा था, उसके अपने शीर्ष व्यवसायी विदेशी व्यापार में स्वत्वाधिकारी हो रहे थे, पर इन सब से बड़ी बात यह थी कि मारवाड़ी समाज का विनय दिन प्रति दिन पुष्ट हो रहा था, साम्पत्तिक दंभ के केंचुल अभी उदित नहीं हुए थे। सूरजमल जी अपने जीवन के तृतीय चरण में जिस स्तर पर विनयी बने हुए, अपने व्यक्तित्व का नया अध्याय लिखने का संकल्प दृढ़ कर रहे थे, उस पर विचार करने के लिए हमें पहले इस वेद-वाणी पर विचार करना होगा।

आप्नुहि श्रयांसम् अतिसमं क्राम।

(अथर्ववेद २, ११, ४)

—अर्थात्, आओ, जिनके बराबर खड़े हो, तुम उन से आगे बढ़ो। आओ, जो तुम से आगे बढ़े हुए हैं, उन तक पहुँचने की (साधना) करो।

सूरजमल जी परम ऐश्वर्यशाली प्रभु की साधना में सबसे आगे अग्रसर होने के लिए और भी सचेष्ट मन से लग गये। उन्हें जो ऐश्वर्य मिलने लगा था, वह प्रभु का था, प्रभु के निमित्त था, प्रभु के दिये परिवार के निमित्त था, प्रभु के रचे समाज के निमित्त था।

शूगर-मिलों का बंगाल में सूत्रपात

"The incongruity is explained by certain special conditions of cane-cultivation in the agricultural economy of Bengal. In this province, the cultivator has not only a choice between several crops in quite a number of districts but it is difficult to some extent to induce him to take up sugar-cane in preference to other crops, to which he is accustomed, unless the margin in favour of sugar-cane is wide enough.

—*Bengal Industrial Survey Committee, 1942.*

[४०]

स समय बंगाल में अंग्रेजी व्यापारियों ने[१] अपना व्यापार प्रारम्भ किया, उस समय बाहर जानेवाली वस्तुओं में एक प्रधान वस्तु शक्कर थी। सर जार्ज वाट्ट ने अपनी 'डिक्शनरी ऑफ इकानामिक प्रोडक्ट्स ऑफ इंडिया' में विस्तार से, अनेकानेक लेखकों की आलोचनाओं का उत्तर देते हुए प्रमाणित किया है कि भारत ही गन्ने की खेती का मूल स्थान है। विभिन्न समयों में जो यूरोपियन पर्यटक और यात्री यहाँ आये, उन्होंने अपने-अपने तरीके से और अपनी वर्णनात्मक शैली में यह बताया है कि चीनी-उद्योग के किस-किस पहलू से भारतीय परिचित हैं, उनको एक स्थान पर रख कर यदि अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि चीनी के प्राय: सभी उपयोगों से भारतीय बहुत पहले से अवगत ही नहीं हो चुके थे, उन्होंने इस के सभी प्रयोगों पर स्वानुभूत परीक्षण कर देख लिये थे। ईसा के ३०० वर्ष पूर्व जिस कौटिल्य का अर्थशास्त्र सूत्रबद्ध हुआ माना जाता है, उसमें लिखा हुआ प्रमाण मिलता है कि भारतीयों को बहुत प्राचीन काल से गुड़ से सुरा अथवा मद्य बनाने का ज्ञान हो चुका था। इससे पता चलता है कि कनारी द्वीपों में भारत से गन्ने की खेती ले जाई गयी और वहीं से सेंट गोमिन्गो में इसका प्रचार-प्रसार बढ़ा। अन्य देशों में इसकी खेती का प्रचलन इसी तरह भारत से ही शुरू हुआ।

बंगाल में ऐतिहासिक सूत्रों से यह तथ्य हाथ लगता है कि १८वीं सदी के प्रारंभ तक शक्कर-गुड़ उद्योग बहुत मजबूती से यहाँ पर जमा हुआ था। यहाँ से इन वस्तुओं का निर्यात बाहरी देशों को बराबर हुआ करता था। यूरोपीय देशों तक ये वस्तुएँ पहुँचने लगी थीं। डच जहाजों में सन् १६३६ से, यह पता लग गया है, मछलीपट्टं बन्दरगाह से बंगाल की शक्कर का लदान किया करते थे और वहाँ से वे यूरोपीय देशों में इसको पहुँचाने का व्यापार करने लगे थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जब यहाँ के व्यापार में अपने पैर जमाने शुरू किये तो वह भारतीय शक्कर और उत्तम कोटि की मिश्री का निर्यात करने में अधिक रुचि लेने लगी। प्रारंभ में कम्पनी का कार्य-क्षेत्र केवल बंगाल रहा और इसने बम्बई व मद्रास के चीनी-निर्यात पर अनेकानेक प्रबंध लगा दिये, क्योंकि वह चाहती थी कि केवल बंगाल में ही शक्कर व रेशम का ऐसा

१ चीनी-उद्योग का यह इतिहास-प्रसंग 'रिपोर्ट आफ दि सुगर ऐन्क्वायरी सब-कमिटी ओन सुगर इंडस्ट्री इन बंगाल', वोल्यूम प्रथम (मेन रिपोर्ट), प्रेषित २२ मई १९४२, से साभार लिया गया है।

अंचल व्यवस्थित है और रहे, जहाँ से इन वस्तुओं का लाभप्रद व्यापार संभव बना रहे।

१८वीं सदी के मध्यकाल में एक ऐसी घटना हुई कि अंग्रेजों को बंगाल के शक्कर-उद्योग पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देना पड़ा। १७वीं सदी के मध्य में डचों ने वैस्ट इंडीज़ में गन्ने की खेती और शक्कर -निर्माण का उद्योग प्रचारित कर दिया था। सन् १८७६ से पहले अंग्रेज अपनी सारी शक्कर वेस्ट इंडीज से ही प्राप्त किया करते थे, उन्होंने अपने इन द्वीपस्थित उपनिवेशों में काफी अच्छे पैमाने पर गन्ने की खेती प्रारंभ करवा दी थी। लेकिन १८वीं सदी के अन्त होते न होते,सेंट गोमिंगो में फ्रेंच बस्तियों में गृह-युद्ध छिड़ गया और उनका शक्कर-उद्योग एक प्रकार से ठप्प पड़ गया। ऐसी आशंकाओं से चिंतित होकर, भविष्य की सुरक्षा का ख्याल करते हुए, अंग्रेजों ने अपना सारा ध्यान बंगाल के शक्कर-उद्योग पर केन्द्रित करना प्रारम्भ कर दिया। भारत में उनको अब राजनीतिक प्रभुता भी हाथ लग गयी थी, इसलिए वे भारतीय शक्कर-उद्योग को ही प्रश्रय देने लगे और इस तरह की व्यवस्था कर दी कि केवल बंगाल से ही शक्कर का निर्यात अधिक से अधिक होने लगे। इसका परिणाम यह निकला कि ब्रिटेन के शक्कर-बाजार में बंगाल की शक्कर ने अप्रत्याशित रूप से भारी उथल-पुथल मचा दी और उसका सामना करने के लिए वहाँ की सरकार ने बंगाल की शक्कर पर वैस्ट इंडीज की शक्कर के अनुपात में अधिक आयात-ड्यूटी लगा दी—बंगाल की शक्कर पर एक हंडरवेट पर लगभग ८ शिलिंग ड्यूटी ज्यादा देनी पड़ती थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस ड्यूटी-वृद्धि के खिलाफ काफी आवाज उठाई, लेकिन सन् १८३६ तक यही स्थिति बनी रही। कम्पनी के कागजातों से पता चलता है कि इसके बावजूद विदेशी बाजारों में कम्पनी वैस्ट इंडीज की शक्कर के व्यापार से टक्कर लेती रही, क्योंकि भारत में इन द्वीपों के संतुलन में शक्कर का उत्पादन कम दरों पर हो जाया करता था। स्थिति यहाँ तक हो चली थी कि ब्रिटेन में गयी हुई वैस्ट इंडीज की शक्कर घूमकर भारत आती थी और यहाँ पर उसकी बिक्री हुआ करती थी, लेकिन कम्पनी विदेशी व्यापारियों को अपनी ओर से आर्थिक सहायता इस बात के लिए दिया करती थी कि वे बंगाल की शक्कर को खरीदें और विदेशों में ले जाकर इसे बेचने में मदद दें। बंगाल की शक्कर अमरीका तक इस प्रकार पहुँचाई जाने लगी, वैस्ट इंडीज भी यह पहुँचने लगी और वहीं से वैस्ट इंडीज की शक्कर के रूप में पुनः दूसरे देशों को निर्यात की जाए, इस तरह की व्यवस्था होने लगी; इसका नाम औपनिवेशिक शक्कर (Colonial Sugar) इसी आधार पर पड़ा था। सर वाट्ट ने इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस प्रकार इंग्लैंड की सरकार ने १८वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ऐसी नीति का अनुसरण किया कि भारत में बंगाल शक्कर का सबसे बड़ा निर्यात करनेवाला देश बनने से रह गया।

सन् १८३६ में ब्रिटेन में यह अन्यायपूर्ण आयात-ड्यूटी समाप्त कर दी गयी। अब बंगाल में यह प्रयास होने लगा कि यहाँ वैस्ट इंडीज रीति-नीति से गन्ने की खेती की जाए। इतना ही नहीं, उन द्वीपों के कृषि-विशेषज्ञ यहाँ बुलाये गये और उनके हाथों से बंगाल में गन्नों की उन किस्मों को उगाने का परीक्षण भी प्रारंभ कर दिया गया, जिनकी माँग विदेशी बाजारों में बहुत थी, लेकिन जिनका उत्पादन भारत में बिलकुल नहीं था—जैसे, ओटाहीट, बौरबोह, बटावियन, चाइना, सिंगापुर आदि। किन्तु इन सब की खेती के सभी परीक्षण असफल सिद्ध हुए, बंगाल की आबहवा और अन्य कारण इसमें बाधक बन गये। यहाँ पर काडजूल, पुरी, कुल्लेराह, पुनसारी आदि किस्में ही बहुतायत से पनपती थीं। गन्ने की खेती से संबंधित बहुत से अनुसंधान-लेखकों ने यह भी सुझाव दिया था कि ढाका से चटगाँव तक जो गंगा की तराई है, वहाँ पर गन्ने की खेती का रोपण कर दिया जाए। इसी समय से, ऐसे ही चिंतन-मनन का विकास होने के बाद, गन्ने की खेती का प्रसार कलकत्ता से पूर्वी और उत्तरी बंगाल में बढ़ने लगा और वहाँ से बिहार व बनारस की दिशा में उसका प्रसार होता गया।

लेकिन, जिस युग में अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं की परिधि में भारत आ चुका था, उस समय यह स्वाभाविक था कि अन्य देशों में विकसित होनेवाली प्रभावोत्पादक घटनाओं का असर बंगाल के शक्कर-उद्योग पर भी पड़ता। सन् १८८५ में ग्रेट ब्रिटेन में शक्कर को साफ करनेवाली रिफाइनरीज बैठाने का सिलसिला शुरू कर दिया गया था। उसके लिए कच्ची शक्कर की माँग बढ़ने लगी। पर जल्दी ही भारत में और विशेष रूप से बंगाल में यूरोपीय धन से ऐसी रिफाइनरियाँ बैठने लगीं। गुड़ की जो रिफाइनरी काशीपुर में बैठाई गयी, उसमें भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्कर निर्मित होती थी। किन्तु फ्रांस में जब इसी समय चुकन्दर से चीनी बनने का उद्योग देखते-देखते विकसित होने लगा और इसकी चीनी की माँग विदेशों में बढ़ने लगी, उसी अनुपात में अन्य शीतोष्ण प्रधान देश, जैसे मारीशस व जावा आदि में भी गन्ने की शक्कर बड़े पैमाने पर बनने लगी तो बंगाल की इन रिफाइनरियों पर बुरा असर पड़ा और वे बन्द होने के लिए विवश रह गयीं।

सन् १६०३ से उत्तर भारत में आधुनिक चीनी-उद्योग का प्रारंभ माना जा सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इस उद्योग पर सरकार ने विशेष ध्यान देना प्रारंभ किया। सन् १६२० में जो कमिटी जाँच के लिए सरकार ने बैठायी थी, उसने यह निर्णय दिया कि भारतीय व्यापार में चीनी को विशेष स्थान मिलना चाहिए। इसी लक्ष्य को निर्धारित करते हुए सन् १६२६ में इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रीकलचरल रिसर्च स्थापित की गयी। सन् १६३०-३१ में एक टैरिफ बोर्ड नियुक्त हुआ, जिसने सिफारिश की कि इस उद्योग का सुचारु संरक्षण किया जाना चाहिए।

यहाँ से, सन् १९३२ के अप्रेल मास से, देश में चीनी-उद्योग का सही विकास प्रारंभ हुआ। भारत सरकार ने आश्वासन दिया कि कम-से-कम १४ वर्षों तक इस उद्योग का उचित संरक्षण किया जायेगा। इसी समय से भारत विश्व में चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक देश बनने लगा।

पर बंगाल के साथ सरकारी क्षेत्रों ने पूरा न्याय करने का मंसूबा नहीं बांधा। सन् १९२९ में जो जांच कमिटी बैठायी गयी, उसने यही लिखा कि उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश के संतुलन में यहाँ पर गन्ने की खेती की संभावना कम है और इस लिए यहाँ पर चीनी मिलों की स्थापना का प्रश्न नहीं उठता। इंडियन टैरिफ बोर्ड ने तथा शूगर टैकनोलोजिस्ट ने भी अपनी रिपोर्ट में यही कहा। नतीजा यह हुआ कि उद्योग-पतियों ने बंगाल में चीनी की मिलोंकी स्थापना के प्रश्न पर एक गहरी उदासीनता बरतना शुरू किया। जूट उद्योग ही यहाँ पर प्रधान था, इसलिए भी यहाँ पर गन्ने की खेती का प्रश्न प्रमुख नहीं बन सकता, यह धारणा भी उद्योगपतियों में फैलती रही।

ऐसी पृष्ठभूमि में बंगाल में सूरजमल जी ने चीनी-उद्योग स्थापित करने का साहसपूर्ण निर्णय किया। न तो सरकार इसके पक्ष में थी, न विशेषज्ञ पक्ष में थे। पर सूरजमल जी का अपना मंतव्य इस विषय में दृढ़ था कि बंगाल में चीनी-उद्योग यदि स्थापित हो जाये तो वह न केवल लाभकर ही होगा, अपितु एक नये अध्याय की सृष्टि भी कर देगा।

श्री वेणीप्रसाद जी डालमिया क्योंकि इस उद्योग-स्थापना में शुरू से ही सहयोगी रहे हैं, इसलिए उनसे जब हमने संस्मरण सुनाने का नम्र आग्रह किया, तो आपने सहर्ष बताया, "सन् १९३२ में, जहाँ तक मुझे स्मरण है, इस विषय में विचार-विमर्श करने के लिए एकत्र हुए थे। उस समय शिवभगवानजी की तबियत खराब थी। वे काशी गये हुए थे और वहाँ पर उनकी चिकित्सा उस समय के सबसे बड़े आयुर्वेद-चिकित्सक श्रीत्र्यंबक शास्त्री के हाथों से चल रही थी। वे शिवपुर के बगीचे में ठहरे हुए थे और मैं बम्बई से उन्हें ही देखने के लिए काशी की तरफ आ रहा था। बनारस में उन्हें देखने के बाद, यह तय हुआ था कि देवघर में मिलेंगे और वहीं पर बातें होंगी। काशी से पहले मैं कानपुर भी ठहरा था। उस समय तक हमारे एक दूर के रिश्ते के भाई चीनी-उद्योग में हाथ दे चुके थे। जब उन्हें पता चला कि सूरजमल नागरमल बंगाल में या आसपास शूगर मिल स्थापित करना चाहते हैं, तो मेरे से मिलने पर वे बोले कि अपने ही यह मिल दानापुर में बैठा लें। हमने उनसे यही कहा कि आपके पास जो जमीन है, वह आप दे दें तो ठीक है, मिल तो हम अपनी ही बैठायेंगे। उन्होंने इस पर कहा कि तू अकेले यह मिल बनाये तो यह जमीन दी जा सकती है। पर ऐसा प्रस्ताव मुझे मान्य न था। हम यह निश्चय कर चुके थे कि सूरजमल नागरमल जो मिल बैठायेगा, उसमें ही अपना प्रधान सहयोग दिया जायेगा। अतः यहाँ से चल कर मैं देवघर पहुँच गया, जहाँ सूरजमल जी रहते थे। वंशीधर जी ने बनारस के आसपास काफी जमीनें स्वयं जाकर देख ली थीं। पर रह-रहकर सूरजमलजी का और वंशीधरजी का यही ख्याल था कि बंगाल में अभी तक शूगर इंडस्ट्री नहीं है, इसलिए अपने को बंगाल में ही यह मिल बैठानी चाहिए। दूसरे, लाभ यह था कि उनका अपना जूट-उद्योग कलकत्ता में स्थापित ही हो चुका था। बिहार-यूपी में अनेक चीनी मिलें इस समय तक बैठ चुकी थीं, बंगाल में एक भी नहीं थी। कुछ विचार-विमर्ष के बाद बात यह रही कि डलहौजी ब्रिज के पास राजशाही जिले में यह काम शुरू किया जाए। ऐसे ही समय मिस्टर डब्लू. जी. अलकर्क साहब थे, वे चीनी-उद्योग से परिचित थे और अच्छे जानकार थे, उन्हों ने दृढ़ स्वर में परामर्श दिया कि अवश्य बंगाल में शूगर इंडस्ट्री शुरू करो। इस परामर्श के मिलने पर वंशीधर जी और नागरमल जी मिदनापुर की तरफ गये और वहाँ पर जमीन आदि देखने लगे। हार्डिज ब्रिज के नीचे भेड़ामारा के पास जमीन अच्छी थी और गन्ने की खेती भी वहाँ रोपी जा सकती थी। पर रेलवे अधिकारियों ने और अन्य जानकारों ने यह सूचना दी कि यह भूमि तो प्रायः गंगा की बाढ़ से ग्रस्त होती रहती है, इसलिए इस काम के लिए अनुपयुक्त है। अतः उस जमीन का ध्यान छोड़ दिया गया। तब सहसा ही केदारनाथ जी रुंगटा से एक दिन सम्पर्क हुआ। वे हमारे संबंधी थे और शूगर के जानकार थे। उन्होंने बातों ही बातों में कहा कि वे बंगाल में बहुत घूमे हैं। उनके कहने से हम प्लासी में ऐंडरसन राइट की ओपन पान फैक्टरी देखने गये। वहाँ पर गन्ने की अच्छी खेती हो रही थी। इस प्रवास में केदारनाथ जी भी साथ गये। इतना ही नहीं, अमृतबाजार पत्रिका के श्री निर्मलकुमार घोष भी, जो पत्र के संपादक थे, साथ थे। इसके बाद हम सभी ढाका, प्रद्योत नगर, राजशाही आदि में भी घूमे और जमीनें देखते रहे। इसके बाद हमने सरकारी आँकड़ों का अध्ययन शुरू किया। उनके देखने से पता चला कि राजशाही में ही गन्ने की खेती अच्छी हो सकती है, यह सोच कर यहाँ पर ही मिल बैठाने का विचार हुआ। यह प्रवास हम सबने स्टेशन-वैगन में कलकत्ता से किया था। लाल गोला तक मोटर में गये थे; उसके बाद स्टीमर में बैठ कर राजशाही गये थे। वहाँ पर श्री शरतकुमार राय से मिले, जिनकी वहाँ पर जमींदारी थी। यह जमींदारी दीघा-पतिया व दयारामपुर में थी। कि इसी समय हमारे बड़े भाई का देहान्त हो गया, अतः मैं तो बीच में ही चला आया और पीछे से वंशीधर जी व नागरमल जी ही इस काम की देखभाल करने के लिए रह गये। क्योंकि संकल्प हो चुका था, इसलिए काम आगे बढ़ा, मिल बैठा दी गयी। इसका नाम नार्थ बेंगाल शूगर मिल रखा गया। सन् १९३३ में इसका काम शुरू कर दिया गया।

सूरजमल जी के हाथों इसका शिलान्यास सन् १९३२ में फरवरी मास में हुआ था। २५ वर्षों बाद सूरजमल नागरमल ने एक दम भिन्न उद्योग की दिशा में हाथ दिया था। कहा जा सकता है कि बंगाल में इस तरह सूरजमल जी ने चीनी-उद्योग में मारवाड़ी समाज की ओर से पहल की और वे इस क्षेत्र में शिरोमणि मान्य भी हुए। इस मिल को गोपालपुर स्थान में लगाया गया है, इसलिए इसे गोपालपुर मिल के नाम से भी बहुत लोग जानते हैं।

"यहाँ पर यह कहना जरूरी लगता है कि इस मिल के बैठाने में कितनी कठिनाइयाँ आई, उनका कोई हिसाब न था। लेकिन सब को धैर्यपूर्वक सहा गया। आखिर जब मिल शुरू हो गयी, तो सबसे ज्यादा संतुष्ट सूरजमल जी ही थे। बंशीधर जी ने मशीनरी ठीक करने में कम परिश्रम नहीं किया।

"इसी समय दूसरी मिल सिताबगंज में प्रारंभ की गयी, इसका श्रेय रंगलाल जी जाजोदिया को दिया जाना चाहिए। जब एक शूगर मिल स्थापित हो गयी, सूरजमल नागरमल ने दूसरी मिल बैठाने का भी उत्साह दिखाया। रंगलाल जी जाजोदिया ने अपने हिसाब-किताब से यह खोज की थी कि कॉटेज इंडस्ट्री की दृष्टि से ५ टन के हिसाब में एक शूगर मिल सिताबगंज में बैठाई जाए तो चल सकती है। यहाँ पर यह अवश्य उल्लेखनीय है कि इन दोनों मिलों के मकानों को खड़ा करने में न तो किसी इंजीनियर की नियुक्ति की गयी और न ही मशीन आदि के बैठाने में किन्हीं विशेषज्ञों को ही बुलाया गया। जब उत्पादन-कार्य प्रारंभ हुआ, उस समय अवश्य जानकारों को इस काम पर लगाया गया। यह दूसरी मिल भी सन् १९३३ में ही बैठा दी गयी।

"इन मिलों के लिए गन्ने की रसद नियमित रूप से प्राप्त होती रहे, इस तजवीज को व्यावहारिक बनाने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि मिलों के संग-साथ ही गन्ने की खेती करवाई जाए।[१] इस निमित्त सन् १९३६ में दो फार्म भी बैठा दिये गये। यह योजना धीरे-धीरे ही विकास को प्राप्त हुई। इन दोनों फार्मों में लगभग ६ लाख मन ऊख उपजने लगी,[२] बाहर से बाकी ४ लाख मन मँगायी जाती रही। सिताबगंज में १००० टन का प्लांट है और गोपालपुर में १५०० टन का है।"[३]

इस स्थल पर भारत-सरकार द्वारा बरती गई नीति पर भी दृष्टि डाल लें तो पता चलेगा कि व्यक्तिगत प्रमाणों से अलग, सरकारी नीति कितनी शिथिल और अदूरदर्शिता की द्योतक थी। भारत सरकार ने सन् १९४२ में चीनी-उद्योग पर एक जांच-समिति बैठाई थी, जब कि सूरजमल नागरमल अपने निजी पुण्य-प्रताप से १० वर्ष तक सफलता-पूर्वक चीनी-मिल का संचालन कर चुके थे। भारत सरकार ने जब जांच-समिति बैठाई, उस समय तक सूरजमल जी अपनी इह-लीला समाप्त कर चुके थे, अन्यथा वे ही इस समिति के महत्वपूर्ण सदस्य होते। किन्तु यह दुःख की बात है कि कहीं-भी-इस समिति में सूरजमल जी जालान द्वारा सुसंपादित चीनी-उद्योग का सूत्रपात करने के लिए श्रद्धांजलि व्यक्त नहीं की गई। सूरजमल नागरमल द्वारा स्थापित चीनी मिलों के कुछ वर्षों बाद ही बंगाल की अन्य चीनी मिलें खुल पाई थीं। सन् १९४२ तक पांच मिलें नदिया, मुर्शिदाबाद, ढाका और मेमन सिंह अंचल में खुल चुकी थीं। इसका कारण यह था कि जूट व चाय आद अन्य उद्योगों के संतुलन में ईख की खेती का प्रयास और अनुभव तथा उसकी खेती का क्रम प्रशंसनीय रूप से विकसित होने लगा था। जब और कारखाने भी चीनी-उत्पादन की दृष्टि से बने, तब कृषकों के सामने विस्तृत पैमाने पर ईख की खेती का आकर्षण भी, उसी संतुलन में, बढ़ने लगा था। पर इसके बावजूद एक समस्या यह अवश्य थी कि कुल ईख का ९० प्रतिशत अंश गुड़ आदि के निर्माण में खप जाता था और चीनी-मिलों के लिए केवल १० प्रतिशत ईख ही बच पाती थी। समिति की रिपोर्ट से पता चलता है कि सूरजमल नागरमल के उद्योग-स्थापन के उपरान्त बोगरा, दिनाजपुर, ढाका, जलपाईगुड़ी, मालदा, मुर्शिदाबाद, मेमनसिंह, नदिया, पबना, राजशाही, रंगपुर और २४ परगने में ईख की उत्तम खेती होने लगी थी।

इंडस्ट्री के क्षेत्र में इस तरह अग्रणी बन जाने के बाद सूरजमल नागरमल ने कुछ अन्य उद्योगों को और भी अपने हाथ में कर लेने का दृढ़ निश्चय निभाया। सन् १९३५-३६ में एक भारी मंदी सभी व्यापारिक क्षेत्रों में व्याप्त होने लगी। उस समय नस्करपाड़ा जूट मिल्स और डब्लू० एच० हार्टन नामक दो कंपनियां इन्होंने खरीद लीं। यह दूसरी कंपनी उस ऐतिहासिक स्थान पर स्थित थी, जहाँ पर सन् १६७६ में पुर्तगालियों ने अपना प्रसिद्ध रोप वाक स्थापित किया था। उनके खड़े किये हुए उस युग के अनेक भवन अब भी विद्यमान हैं।

---

१. "The ideal climatic conditions for sugarcane-cultivation are determined by rain-fall, temperature, humidity, sunshine, winds and the like. It is generally maintained that countries which enjoy a long humid season during the period of growth with an average mean temperature of 78° F and fairly a dry cold season with an average mean temperature of 59° F provide the best natural conditions for cane-cultivations." ibid, p. 7.

२. "The sugarcane thrives to the highest perfection in a warm moist climate with moderate intervals of hot dry weather, tempered by refereshing sea-breezes.

"Frost is unknown in Bengal, and winds do not create any serious problem in sugarcane-cultivation as they do in Madras. While in Bengal the sugarcane crop does not require ordinarily any irrigation, rainfall being adequate in the United Provinces & South Bihar the crop is grown generally on irrigation. Unlike the United Provinces, Bengal has no problem of frost." *ibid, p. 9.*

३ "Such limited cultivation of the crop would seem to be rather inconsistent with the excellent natural conditions of this province for growing sugarcane particularly in view of the fact that Bengal had been importing large quantities of gur from other provinces, even before the grant of protection to *the sugar-industry." ibid, p. 10.*

देवकी एवं वसुदेव
[देवकी की गोदी में शिशु कृष्ण, जयपुर-म्यूजियम, मूर्तियाँ लगभग १४ वीं सदी।

जैसलमेर-प्रदेश (आजकल जोधपुर-अंचल) में ओशिया-स्थित हरि-हर मंदिर में वीं सदी से भागवत्कथा का शिल्प-अंकन जिस रूप में प्राप्त होता है, उससे स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि कृष्ण के साथ ही देवकी, वसुदेव एवं नंद बाबा (जिनके भित्ति-चित्र दुघारी, बूँदी, में बहुत अत्युत्तम हैं) उद्धव आदि की मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित की गई होंगी। देवकी और वसुदेव की ये मूर्तियाँ विशुद्ध राजस्थानी शैली की हैं।

महान पुरुष वसुदेव और देवकी का पुण्य हमें प्राप्त हो !

नारद जी के प्रश्न करने पर श्रीनारायण ने कहा-

कश्यपो वसुदेवश्च देवमाता च देवकी ।
पूर्वपुण्य फलेनैव संप्राय श्रीहरिसुतम्
देवमीढ़ान्मारिषायां वसुदेवो महानभूत ।
आनकञ्च महाहृष्टाः श्रीहरेर्ज्जनञ्चतम्
सन्तः पुरातनास्तेन वदन्त्यानकदुन्दुभिम्

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्डे, अध्याय७

महर्षि कश्यप ही वसुदेव हुए थे और देवमाता अदिति देवकी के रूप में अवतीर्ण हुई थीं। पूर्वजन्म के पुण्य फल स्वरूप से ही उन्होंने श्रीहरि को पुत्र रूप से प्राप्त किया था। देवमीढ़ द्वारा मारिषा के गर्भ से महान पुरुष वसुदेव का जन्म हुआ था। उनके जन्मकाल में अत्यन्त हर्ष से भरे हुए देवसमुदाय ने आनक और दुन्दुभि नामक बाजे बजाये थे, इसलिए श्रीहरि के जनक वसुदेव को प्राचीन संत-महात्मा 'आनक-दुन्दुभि' कहते हैं।

देवकी रोहिणी चेमे वसुदेवस्य धीमतः।
रोहिणी सुरभिर्देवी अदितिर्देवकीह्यभूत ।।

यदुकुल में आहुक के पुत्र श्रीमान देवक हुए थे, जो ज्ञान के समुद्र कहे जाते हैं। उन्हीं की पुत्री देवकी थीं। यदुकुल के आचार्य गर्ग ने वसुदेव के साथ देवकी का विधिवत् यथोचित विवाह-संबन्ध कराया था। देवक ने विवाह के लिए बहुत सामान एकत्र किये थे। उन्होंने उत्तम लग्न में अपनी पुत्री देवकी को वसुदेव के हाथ में समर्पण कर दिया। नारद ! देवक ने दहेज में सहस्रों घोड़े, सहस्रों स्वर्णपात्र, वस्त्राभूषणों से विभूषित सैकड़ों सुन्दरी दासियाँ, नाना प्रकार के द्रव्य, भांति-भांति के रत्न, उत्तम मणि, हीरे तथा रत्नमय पात्र एवं उपकरण दिये थे। देवक की कन्या श्रेष्ठ रत्नमय आभूषणों से विभूषित, सैकड़ों चन्द्रमाओं के समान कान्तिमती, त्रिभुवन-मोहिनी, धन्य, मान्य तथा श्रेष्ठ युवती थीं। रूप और गुण की निधि थीं। उसके मुख पर मन्द मुस्कान की छटा छायी रहती थी। वसुदेव जी बड़े भारी पंडित, नीतिज्ञ तथा नीतिशास्त्र के ज्ञान में निपुण थे।
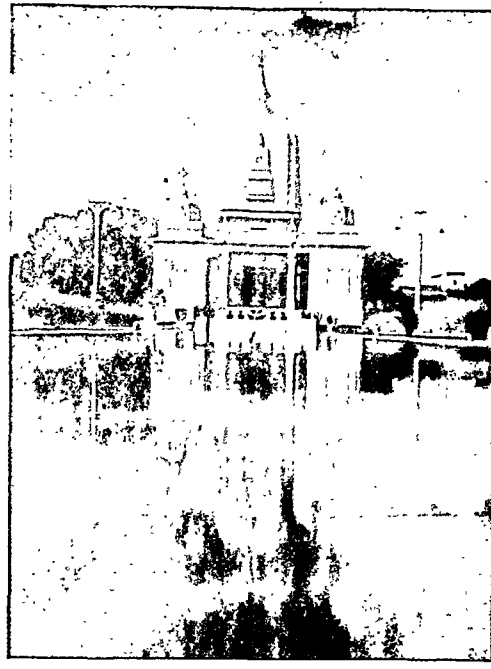
श्री रामेश्वरम् शिवालय, रतनगढ़
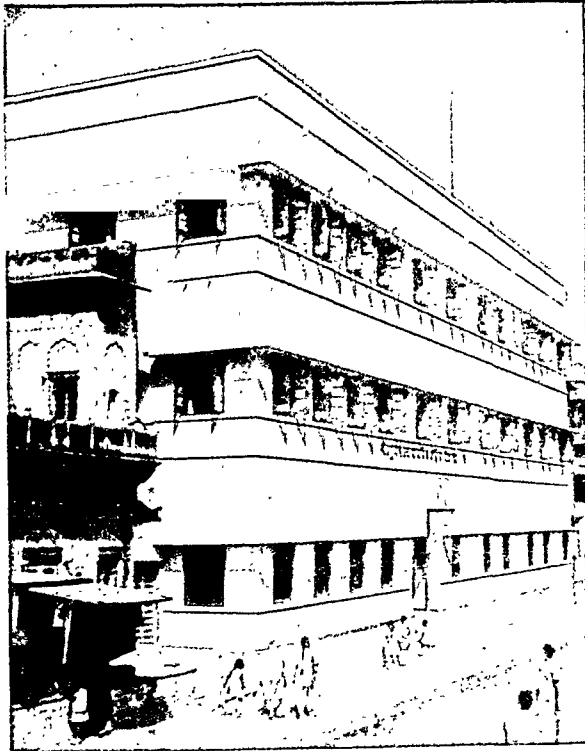
श्री हनुमान बालिका विद्यालय, रतनगढ़
सन १९२८
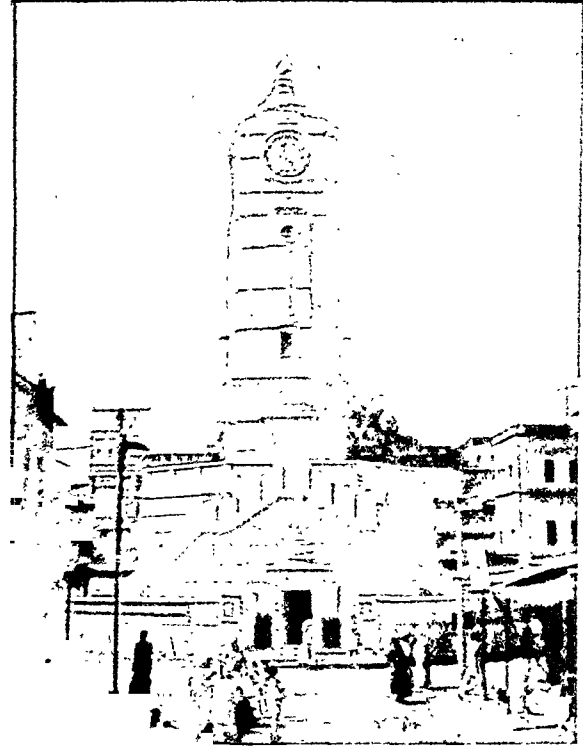
श्री हरदेवदास जालान घटिका-स्तूप, रतनगढ़
स्थापित २१ फरवरी १९३१
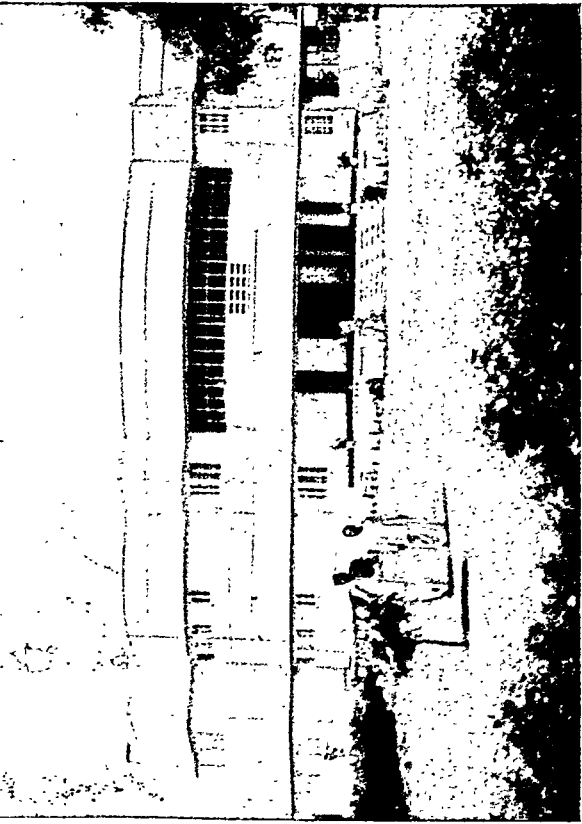
श्री सूर्य-सदन, हनुमान-पार्क में स्थित, रतनगढ़
स्थापित सन् १९५६
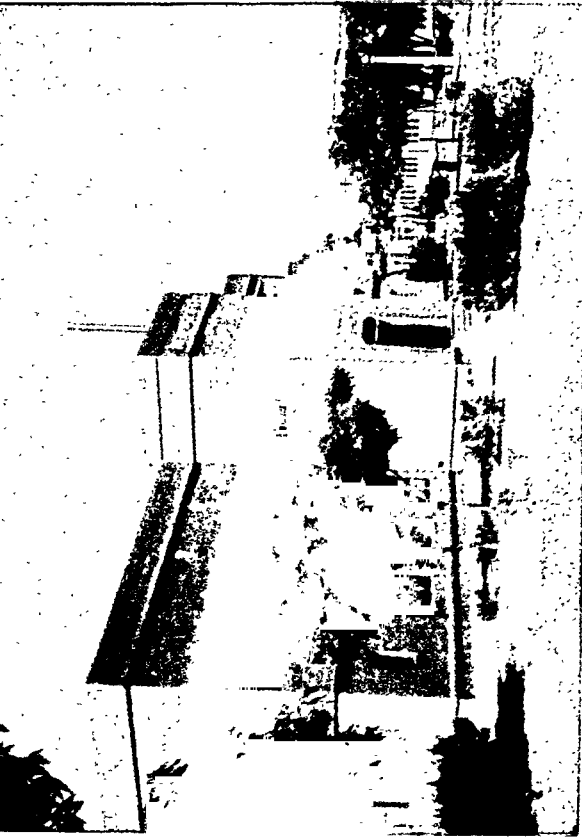
श्री सेठ सूरजमल जालान अस्पताल, रतनगढ़
स्थापित १ नवम्बर, सन् १९४०
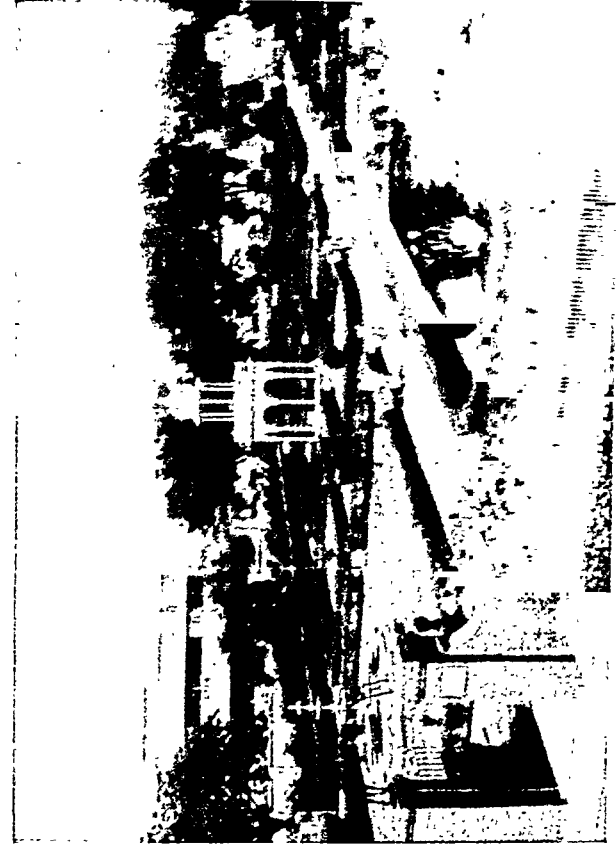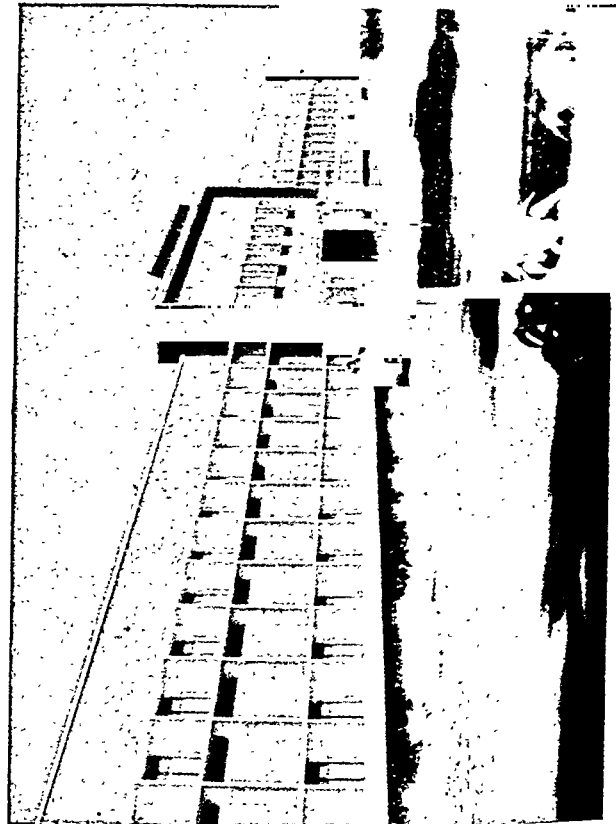
चामुंडा
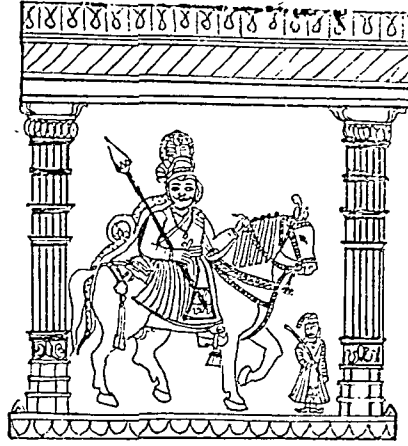
गुगा चौहान

कंकाली

[मंडोर, जोधपुर में अंकित विशाल मूर्तियां

सप्तम परिच्छेद

देवघर के संथाल अंचल में ग्राम-पाठशालाओं का राष्ट्रीय कार्यक्रम

हम सब के पास एक कल्पवृक्ष है, उसका नाम है 'अब'। पलक मारते ही यह कल्पवृक्ष अन्तर्धान हो जाता है। इसलिए हमारे तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि इस 'अब' नामक कल्पवृक्ष को दोनों बाँहों में पकड़ कर रखो और उसके सारे अमूल्य फलों का आस्वादन करो।

—तालसताय।

[४१]

चकमक पत्थर के युग उस समय से समाप्त हो गये, जब से देश में दियासलाई की पेटी चली। चकमक पत्थर को रगड़ने से आग निकलती थी और उस अग्नि-स्फुलिंग को फूँकों से दहका कर पुआल में आग सुलगा ली जाती थी। राष्ट्रीय रंगमंच पर, ब्रिटिश संगीनों के व्यापक दायरे में, निहत्थे और आर्द्र ईंधन के तुल्य भारतीयों को किस तरह मौन चकमक पत्थर से देश-भक्ति की आग सुलगाकर मशालधारी बना दें, इस तरकीब को सोच निकालने में गांधीजी ने अभूतपूर्व सफलता पाई थी। सन् १९१९ से जो राष्ट्रीय आन्दोलन चला, वह कई दौर जब अनुभूत कर चुका तो नमक-सत्याग्रह के दौर तक सन् १९३० में पहुँच गया और ब्रिटिश संगीनें लाचारी सी महसूस करती हुई देखती रहीं कि सारे देश का गाँव-गाँव, इस आग में अपनी मशाल दहका कर एक अबूझ पहेली-सा योद्धा बन गया है! नमक-सत्याग्रह ने पहली बार, सारे देश के गाँवों को गहरी नींद से उठाकर राष्ट्रीय प्रभाती गानेवाला स्वदेश-भक्त बना दिया था।

सूरजमल जी ने सन् १९३२ तक इस जयघोष को देखा और उनके मनमें विकलता सी समा गयी। यद्यपि इस समय तक वे पुस्तकालय और कन्या-पाठशालाओं को स्थापित करने का विनीत आयोजन पूर्ण कर चुके थे और रतनगढ़ में कुछ और भी सार्वजनिक कार्य प्रारंभ कर चुके थे, लेकिन अपने नगर में किया हुआ सारा कार्य उन्हें एक निजी स्वार्थ-सा लग रहा था। हृदय कहता था कि राष्ट्रीय कार्यक्रम की सीमाओं का स्पर्श ये सारे आयोजन नहीं करते। अवश्य उनमें आधारभूत तत्व महत् है,

लेकिन महत्तम मूल्य का कार्यक्रम अभी होना आपके हाथ से बाकी है !

अपने इधर के जीवन में सूरजमल जी ने अपने वार्षिक कार्य-काल का अधिकांश भाग देवघर में बिताना शुरू कर दिया था। जब भी अवकाश मिलता, आप देवघर जाते; वहाँ पर आपने अपने लिए एक विशाल भवन बनवा लिया था। लेकिन उस विशाल भवन में बैठकर आप एकान्तवास न करते; जब भी मन होता, निकटवर्ती अंचलों में ग्रामीणों की दशा का अध्ययन करने चले जाते। इन ग्रामों में संथाल लोग अधिकतर रहते हैं। सूरजमल जी देखते कि इन ग्रामों में ईसाई मिशनरियों का कैसा जाल बिछा हुआ है। सेवा के बहाने ये लोग इन अबोध ग्रामीणों का धर्म-परिवर्तन करते हैं। न कोई यह अन्याय देखनेवाला है, न सुननेवाला है। हम कम-से-कम इन ग्रामीणों को आत्मज्ञान रहे, इतनी ही शिक्षा देने का प्रबंध कर सकें, तो ये अपनी ही जाति के बने रह सकते हैं। इसी चिंतन में आपकी दृष्टि उन ग्राम-पाठशालाओं पर गई, जो देवघर के कुछ उत्साही कार्यकर्त्ताओं द्वारा समाज के दान और आर्थिक सहयोग से चल रही थीं।

जब सन् १९३२ में पुनः सत्याग्रह चला तो यहाँ के सभी कार्य-कर्त्ता जेलों में डाल दिये गये। संथाल परगने में जो कार्यकर्त्ता ईसाई मिशनरियों के मुकाबले में ग्रामीणों के बीच में आश्रम-पाठशालायें चलाने का दुस्साहस कर रहे थे, वे सरकार की आँखों में खटक रहे थे, उन्हें भी इस अभियान में जेल में डाल दिया गया था। उनकी अनुपस्थिति में ये पाठशालायें बन्द पड़ी थीं। सूरजमल जी इनकी ऐसी असहायावस्था देखकर बहुत दुखी थे। अवश्य इन पाठशालाओं की कार्य-पद्धति स्तुत्य थी और जनता में इनके प्रति एक आदरभाव था। इनमें से तीन-चार मिडिल स्कूल भी थे। इन सब का संचालन देवघर से होता था, जहाँ पर संस्कृत महाविद्यालयथा, गोवर्द्धन साहित्य महाविद्यालय था और इन सबके प्राण-सूत्र की तरह हिन्दी विद्यापीठ की स्थिति थी, जिसके सहयोग से अष्टांग आयुर्वेद विद्यालय भी चल रहा था। कुल मिलाकर इस तरह २० के लगभग संस्थायें थीं। इनके व्यय को पूरा करने के लिए श्री गुरुप्रताप जी पोद्दार, मदनलाल जी कायां, सर्वसुखदास सरणीराम व देवघर के रामेश्वरलाल जी सराफ प्रभृति उदारमना सज्जन नियमित रूप से आर्थिक सहायता देते रहते थे। सूरजमल जी ने उन सब कार्यकर्त्ताओं को एकत्र किया, जो जेल जाने से रह गये थे। उनसे इन शिक्षण-संस्थाओं का इतिहास जाना, क्या अभाव इन संस्थाओं को पीड़ित किये रहते हैं, उन का परिचय लिया और किस तरह इनका स्वास्थ्य और उत्तम हो सकता है और इनकी संचालन-विधि और भी दक्ष बन सकती है, इस पर विचार-विमर्श किया। तब आपने संस्थाओं का संयुक्त विधान हाथ में लिया और उसे बारीकी से देख गये। इधर भारत सरकार की नीति के अनुसार जब ये कार्यकर्त्ता सन् १९३२ के नवम्बर मास में जेल से छोड़े गये, तो देवघर में इनका स्वागत करने के लिए एक विशाल सार्वजनिक जुलूस बीच बाजार से निकाला गया। केन्द्रीय बाजार में सूरजमल जी ने भी जाकर इन कार्यकर्त्ताओं को पुष्पमाला पहना कर मानो राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने हृदय का अर्घ्य चढ़ाया। देवघर के सागरमल जी छावछरिया थे, उन्होंने सूलरजंमल जी से सब कार्यकर्त्ताओं का परिचय कराया। वहीं पर उन्होंने सबसे अपनी इच्छा प्रकट की कि समय मिलते ही आप एक दिन हमारे यहाँ पधारें, कुछ काम की बातें की जायें। दो-तीन दिन बाद ही पं० शिवराम जी झा, जो इन शिक्षण-संस्थाओं के साकार स्वप्नवत् थे, रामेश्वर लालजी सराफ तथा सागरमलजी छावछरियाको लेकर सूरजमलजी की कोठी पर उपस्थित हुए। सेठजी ने विनय भाव से सबका स्वागत किया, कहीं पता न चलता था कि कलकत्ता के किसी करोड़-पति से कोई मिल रहा है। आपने बिना किसी औपचारिक बातों के, इन शिक्षण-संस्थाओं के बारे में बातें प्रारंभ कर दीं। सब को आश्चर्य हो रहा था कि इन्हें इन संस्थाओं के बारेमें पूरा परिचय है, इनका विधान भी ये जानते हैं। फिर भी झा जी ने संक्षेप में इन संस्थाओं का मूल उद्देश्य बताया कि संथाल परगने में राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं का प्रवेश निषिद्ध है, इसलिए हम ग्राम-सेवाश्रम चला-चलाकर वहाँ पर येनकेन प्रकारेण सेवाकार्य कर रहे हैं। हम सब का एक उद्देश्य यह भी है कि संथालों को अधिक से अधिक ईसाई बनाने पर एक अंकुश लगे। ब्रिटिश सरकार इन संथालों को हम सबके विरुद्ध भड़काती रहती है। उसका कारगर उपाय भी खोज निकालने के लिए ही इन सेवाश्रमों की शुरुआत की गयी है। सूरजमल जी ने अपने पास जो इन संस्थाओं की नियमावली थी, उसे निकाल कर अब अपने सामने रख ली और कहा कि यदि इस तरह इस का संशोधन हो जाये तो आप की ये सभी संस्थाएँ ठोस काम करने में समर्थ हो सकती हैं। सब ने उनका यह प्रस्ताव मान लिया। अब आपने कहा कि आज से आप आर्थिक चिंता से मुक्त हो जाइए। लेकिन एक शर्त यह होगी कि आप को अपनी एक नीतिका त्याग करना होगा। यह शर्त सूरजमल जी के जीवन-दर्शन की क्रांतिकारी परम्परा थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि इन संस्थाओं में देवघर व कलकत्ता के कुछ मारवाड़ी व गुजराती सज्जन आर्थिक सहायता देते थे, लेकिन इन सज्जनों की यह शर्त थी कि जो संस्था चलेगी, वह उनके नाम से चलेगी। अपने युगकी यह घोषित नीति, इस दान-परम्परा को प्रचलित करने के लिए किस दिशा से आई, यह व्याख्या यहाँ सांगोपांग नहीं है, लेकिन सार्वजनिक कार्यकर्त्ता इस नीति के कारण कुछ असह्य सी विवशता व पराधीनता महसूस किया करते थे। सूरजमल जी ने इस नीति का उन्मूलन करने का निश्चय कर लिया। आप ने झाजी से कहा कि आज से आप आर्थिक चिंता से मुक्त हो जाइए, लेकिन आप किसी भी प्रसंग में यह न बता सकेंगे कि इन

शिक्षण-संस्थाओं के लिए कहाँ से धन आता है। भिक्षा आप मुझ से न लेंगे, न मेरे नाम से कोई शिक्षा-संस्था चलेगी। प्रारंभ में आप १५ शिक्षण-संस्थाओं का गठन करें और १०० संस्थाओं तक इनकी वृद्धि कर सकते हैं। इस के लिए आपको हिन्दी विद्यापीठ प्रधान केन्द्र रखना होगा और शेष संस्थाएँ उसी के तत्वावधान में कार्य करेंगी। यह सब सुन कर झा जी तथा उनके साथी कार्य-कर्त्ताओं को लगा कि जैसे अब देवघर और उसके ग्रामीण अंचलों में शिक्षा-यज्ञ का स्वर्ण-युग आ गया है!

सूरजमल जी ने दूसरे दिन सब कार्यकर्त्ताओं को लेकर निकट-वर्ती ग्रामीण अंचलों का दौरा किया। संथालों के गाँवों में अनेक घरों में जाकर उनकी पारिवारिक, आर्थिक व सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया। महसूस किया कि इनके लिए स्वच्छ जल के कुएँ नहीं हैं। दरिद्रता है। अतः आपने इन शिक्षण-संस्थाओं के लिए उचित केन्द्र निश्चित किये। इन लोगों के लिए ऐसे बाँध बंधवाये, जहाँ वर्षा-जल संचित किया जा सके। कुएँ खुदवाए। जब भी गाँवों में जाते तो कम्बल आदि वस्त्र साथ ले जाते और ग्रामीणों में उनका वितरण करवाते। देवघर में आपने हनुमान-सेवा-ट्रस्ट स्थापित करवाया, जिसके माध्यम से यह सेवाकार्य नियमित रखा जा सके। शिक्षण-संस्थाओं की संख्या देखते-देखते ३५ तक बढ़ा दी गयी। देवघर सब-डिवीजन के सभी ग्रामों को इस योजना के अन्तर्गत ले लिया गया। देवघर के पूरब-उत्तर में अधिकतर केन्द्र खोले गये, जहाँ संथाल अधिक हैं। देवघर में अपने निवास-स्थान पर नस्ल-सुधार के लिए एक गौशाला भी स्थापित करवा दी।

अब आपने देवघर के इस कार्यक्रम में पूरा समय देना प्रारंभ किया। अनेक कमिटियों का संगठन किया, जिनके द्वारा ग्रामीणों में स्त्री-शिक्षा और कुटीर-उद्योग को पुनरुज्जीवित करने की प्रेरणा व सहायता मिलती रहे।

सूरजमल जी का यह कृतित्व स्मरणीय है, आदर्श है, अनुकरणीय है और महत्व-गर्भित परम्पराओं का उद्घोषक है। श्रीशिवराम जी झा क्योंकि इस सम्पूर्ण योजना के अधिकारी व्यक्ति रहे, इसलिए उनके संस्मरण यहाँ पर हम प्रस्तुत करते हैं, जो इस कार्य-संचालन की सुस्पष्ट कीर्ति को प्रकट करते हैं। इन से पता चलता है कि रतनगढ़, काशी, कलकत्ता, हरिद्वार आदि स्थानों के बाद देवघर में उन्होंने किस तरह गांधीजी के ग्राम-उद्बोधक राष्ट्रीय कार्यक्रम में अपनी विनीत सेवाएँ नियोजित कीं। यह सब कार्य मौन भाव से हुआ। आज पहली बार इस व्यापक कार्य को संक्षिप्त रूप से यहाँ लिपिबद्ध किया जा रहा है—

पं०शिवराम जी लिखते हैं, "सेठ जी ने कलकत्ते से देवघर आने के बाद सन् १९३३ में प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से ग्रामांचलों में हनुमान ग्राम-सेवाश्रम खोलने का कार्यारंभ हाथ में लिया। उस समय पन्द्रह कार्यकर्त्ताओं को पन्द्रह दिनों का प्रशिक्षण दिया जा रहा था। उन्होंने स्वयं पहुँच कर प्रशिक्षण की पद्धति एवं उसके द्वारा प्रशिक्षणार्थियों पर पड़े प्रभाव को देखा। सारी चीजों को देख लेने के बाद उन्होंने राय दी कि कार्यकर्त्ताओं को पूरे साल भर या नहीं तो कम से कम छः महीने तक विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। निश्चित रूप से उनकी यह राय अमूल्य थी।

"उस समय जो कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण ले रहे थे, वे प्रशिक्षण ले लेने के बाद निश्चित कार्यक्षेत्रों में चले गये। उनके द्वारा ग्राम-सेवाओं का कार्यारम्भ तो कर दिया गया, किन्तु बाद में सेठ जी की राय के अनुसार हमलोगों ने कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण की अवधि कम से कम छः महीने और अधिक से अधिक एक वर्ष की कर दी। उक्त अवधि में कार्यकर्त्ताओं को शिक्षण-कला, बायोकेमिक दवाओं के उपयोग एवं प्रारंभिक चिकित्सा-पद्धति का प्रशिक्षण मुख्य रूप से दिया जाता था। साथ ही मवेशियों के पालन, चिकित्सा एवं अच्छे नस्ल के मवेशियों के प्रसार-कार्य का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। तरह-तरह के मवेशी एवं अच्छे नस्ल के मुर्गे आदि खरीद कर आश्रमों में भेजे गए।

"यहाँ यह स्मरणीय है कि राष्ट्रीय आंदोलनों के समय अंग्रेज पलटनों का जब उक्त अंचलों में आंदोलन को दबाने के हेतु आगमन हुआ, तब वे लोग आश्रमों के सभी मुर्गे, सूअर आदि को मार कर खा गए।

"सेवाश्रमों के आरंभ के साथ ही साथ व्यवस्थित ढंग से कार्य-संचालन के लिए ग्राम-सेवाश्रम-समिति का गठन किया गया—जिसके अध्यक्ष सेठ जी के प्रस्ताव से स्वर्गीय रामेश्वर लाल सर्राफ जी बनाए गए। उनके प्रस्ताव से ही मैं उसका व्यवस्थापक मंत्री बनाया गया। श्री रामबाबू आजीवन इसके अध्यक्ष बने रहे।

"समिति-गठन के बाद सेठ जी मुझे और राम बाबू को साथ लेकर ग्राम-सेवाश्रमों को देखने के लिए निकले। मुझे स्मरण है, वे अपने साथ बहुत से कम्बल, धोती, साड़ी, मिठाई और अन्य चीजें ले गये थे।

"उन्होंने उस अभियान में सिर्फ ग्रामाश्रमों को ही नहीं देखा। प्रत्युत् आस-पास के ग्रामों को, ग्रामीणों के रहन-सहन और उनकी सारी परिस्थितियों को भी देखा। ग्रामीणों की दयनीय परिस्थितियों को देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा और तत्काल दीन-हीन मर्द-औरत और लड़कों के बीच धोती, साड़ी, कम्बल और मिठाइयों का वितरण किया। कुछ को आर्थिक सहायता भी दी। एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने इन संस्थाओं के निर्माण एवं उद्देश्य पर प्रभावोत्पादक प्रकाश डाला।

"आपके भाषण से प्रभावित होकर ग्रामीणों ने आश्रमों के अध्यक्षों को भोजन देने तथा शारीरिक श्रम से स्कूल-भवनों के निर्माण

करन का वचन दिया। इसी क्रम से विभिन्न ग्रामों में सेवाश्रम खुलते गये। और उनके कार्य सेठ जी के देवघर में निवास-काल तक विधिवत् चलते रहे। उक्त अवधि में सेठ जी जब तब सेवाश्रमों को घूम-घूमकर देखते रहे और गरीबों को अपनी दान-शीलता से उपकृत करते रहे।

"अपने निरीक्षण-काल में सेठ जी ने ग्रामीणों को गरीबी के कारण रतौंधी, खुजली, आदि विभिन्न प्रकार की बीमारियों से पीड़ित देखा, जिसके लिए उनके बीच मुफ्त पेटेंट और वायोकोमिक दवाइयों के वितरण की व्यवस्था कर दी। ग्रामीणों में शुद्ध पेय-जल का अभाव दूर करने के लिए सेठ जी ने लगभग एकावन कुवें ग्रामीणों के श्रम से खुदवाकर अपने रुपये से बंधवा दिए थे। उनका यह निश्चित मत था कि जब तक ग्रामीण लोग कुवाँ खोदने या आश्रम के भवन-निर्माण में अपना शारीरिक श्रम नहीं देंगे, तब तक उनमें उनके प्रति मोह नहीं होगा और न वे उन्हें अपना समझेंगे। इसलिए उनका सहयोग आवश्यक है।

"खेती की बिगड़ी हुई दशा को सुधारने के लिए सेठ जी ने अपनी ओर से ग्रामीणों को अच्छे बीज और अच्छे नस्ल के सांड़ दिये थे।

"इस तरह से पचास ग्रामों को केन्द्र बनाकर उनके आस-पास के सभी ग्रामों में प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ रेशम के कीड़े पालना, ढेरा तथा चर्खा चलाना, सुधरे बीज और अच्छे नस्ल के मवेशियों के पालन का प्रचार करना आदि पर जोर दिया जाता रहा। लगभग २००० लड़के इन आश्रमों में ७४ कार्यकर्त्ताओं के द्वारा नियमित रूप से शिक्षा पाने लगे। चलते-फिरते पुस्तकालयों के द्वारा साक्षरों एवं शिक्षित ग्रामीणों के बीच ग्रामोपयोगी पुस्तकों के आदान-प्रदान की भी व्यवस्था की गयी।

"सन् १९३४ के भूकम्प में जब मुंगेर शहर ध्वस्त हो गया और उसका समाचार देवघर आया, तब सेठ जी विचलित हो गये। वे स्वयं श्री रामेश्वर लाल सर्राफ की दूकान पर आये और बोले कि राम बाबू! सारा मुंगेर शहर ध्वस्त हो गया। इसके लिए आप लोग क्या करने जा रहे हैं? इसके उत्तर में राम बाबू ने क्या कहा पता नहीं, पर वे सेठ जी को लेकर मेरे पास आ गये। आते ही सेठ जी ने मुझ से वही प्रश्न किया, जो राम बाबू से किया था। मैंने उनसे निवेदन किया कि विद्यापीठ के अध्यापकों और छात्रों को लेकर आज एक बैठक की गई थी, उसमें यह तय किया गया है कि मुंगेर चलकर हमलोग सेवा का कार्य करें। ग्राम-सेवाश्रमों में भी सूचना भेज दी गई है कि सभी कार्यकर्त्ता पाँच दिनों के लिए आश्रमों को बंद कर यहाँ आ जायँ। संभव है, कल से ग्रामों के कार्यकर्त्ता भी जुट जाएँ। सेवा-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए किन-किन चीजों की जरूरत होगी इसकी एक सूची तुरंत बनायी गयी। तदनुसार २५ बेंत की टोकरियाँ, १२ कुदाली, ५ गैंता तथा स्वयंसेवकों के लिए कम्बल और १५ दिनों तक खाने का प्रबंध सेठ जी ने अपनी ओर से कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा कि आप लोग जाएँ और वहाँ की सारी स्थिति को देख लेने के बाद पत्र द्वारा मुझे सूचित करें।

"ग्रामसेवाश्रमों के कार्यकर्त्ता तथा विद्यापीठ के अध्यापक और छात्र दूसरे ही दिन भेज दिए गये। मैं दो दिनों के बाद गया। देखा, सारा मुंगेर शहर भूकम्प के प्रकोप से मलबेका ढेर बन गया है। बिहार तथा देश के अन्यान्य प्रान्तों से लोग सेवा के लिए पहुँचे हुए हैं तथा पहुँच रहे हैं। हमारे कार्यकर्त्ताओं ने भी कैम्प बनाकर कार्यारम्भ कर दिया था। मैं घूम-घूम कर सभी कैम्पों में लोगों से मिला। स्व० देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी भी पहुँचे हुए थे। सबसे मिलजुल कर अन्यान्य व्यवस्था के लिए मैं देवघर चला आया। राम बाबू को लेकर मैं सेठ जी के पास पहुँचा और मुंगेर की सारी स्थिति से अवगत कराया। उन्होंने प्रारंभिक चिकित्सा (फर्स्ट एड) के सारे साधन, कम्बल, कपड़े और १०००) रुपये देकर कहा कि सेवाश्रमों के कार्य एक माह के लिए बंद कर दीजिए। उनके सभी कार्यकर्त्ता मुंगेर में ही सेवाकार्य करते रहें। उन सारी सामग्रियों को लेकर राम बाबू के साथ पुनः मुंगेर गया तथा अपने सभी कार्यकर्त्ताओं से मिलकर सारे सामान सुपुर्द कर आवश्यक निर्देश दिया एवं सेठ जी का आदेश सुना दिया। कार्यकर्त्तागण पूर्ण उत्साह के साथ सेवा-कार्य में लग गये और हमलोग देवघर वापस चले आये।

"सेठ जी जब-जब देवघर आते, सोत्साह ग्राम-सेवाश्रमों का निरीक्षण करते। ग्रामीणों से मिलते एवं उनके अभाव-अभियोगों को सुनकर हर तरह से उनकी सहायता करते। एक बार बलजोरा हनुमान सेवाश्रम तथा उसके आस-पास के कई ग्रामों में हैजे की बीमारी बड़े जोरों से फैल गई, उसके लिए सेठ जी की राय से मैंने अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं से मिलकर सेवा करने का प्रबंध किया। सेठ जी स्वयं उन ग्रामों में गये। उन्होंने घूम-घूम कर लोगों को बतलाया कि कैसे रहना चाहिए तथा कार्यकर्त्ताओं को बतलाया कि कैसे सेवा करनी चाहिए। साथ ही कार्यकर्त्ताओं को पूरे धैर्य के साथ काम करने का उत्साह एवं उपदेश दिया।

"इसमें संदेह नहीं कि यहाँ के लोगों की गरीबी ने सेठ जी के हृदय को काफी प्रभावित किया था। वे प्रायः यहाँ के लोगों की स्थिति सुधारने की चिंता किया करते थे। उनका विचार था कि बिना किसी उद्योग के यहाँ के लोगों की गरीबी दूर नहीं की जा सकती है। कुछ लोग चर्खे चलाया करते थे। कते हुए सूत के उपयोग के लिए जरमुंडी में सेठ जी ने एक खादी उद्योग-केन्द्र की स्थापना कर दी थी। ग्राम-सेवाश्रमों में भी जो सूत तैयार किए जाते थे, वे सभी उक्त खादी उद्योग-केन्द्र में भेज दिए जाते थे,

जहाँ उनसे कपड़े वनाये जाते थे। इससे सूत कातनेवालों की चिंता दूर हो गई थी।

"इस सिलसिले में उन्होंने एक बार वावू श्यामदेव जी देवड़ा को भार दिया कि विदेशों से विचार-विमर्श कर इस अंचल में किसी प्रकार के उद्योग-धंधे की व्यवस्था कर दें, क्योंकि यहाँ के लोग वड़े गरीव हैं। विना उद्योग-धंधे के इनकी गरीवी दूर करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।

"ग्रामांचलों में भ्रमण करने के क्रम में सेठजी ने देखा कि मोरव्वा (कोंगा) के पेड़ जगह-जगह काफी संख्या में लगे हैं। कुछ लोगों ने ने अपनी जमीन में चाहारदीवारी देने के वदले इसी का घेराव दे दिया है। उन्होंने मुझ से कहा कि पंडित जी, मोरव्वा का रेसा निकाल कर इससे विनाई-काम वड़े पैमाने पर चलाया जा सकता है।

"इसके लिए उन्होंने देवघर के एक कुशल लुहार को वुलाकर ऐसा यंत्र वनाने का आदेश दिया,जिससे कोंगे या मुरव्वे के पत्ते को दो तीन दिनों तक पानी में गलाने के वाद उसके सारे गुच्छे को सिसोह कर वाहर निकाल दे और फिर उक्त रेसे को पानी में धोकर विनाई के काम में लाया जाय। उनका कहना था कि मद्रास अंचल में इससे विनाई की अच्छी व्यवस्था चलती है। यहाँ हमलोग भी यदि इसे चालू कर दें तो लोगों को काफी राहत मिल सकती है, किन्तु पानी की कमी के कारण यह प्रयोग भी सफल होना संभव नहीं मालूम पड़ा। पानी की व्यवस्था के लिए कुछ करना चाहिए, ऐसा उनके मन में वरावर विचार उठता रहा। उनका विचार था कि त्रिकूट पहाड़ में यदि एक वहुत वड़ा वांध वनवा दिया जाय तो उससे देवघर को पीने का पानी दिया जा सकेगा, इस उद्योग के लिए पानी पूरा हो जायगा तथा देहात में खेती के लिए भी किसानों को पानी मिल जायगा।

"देवघर में शिवगंगा के आस-पास जो गंदगी रहती थी उसे देखकर वे वड़े दुःखी होते थे। उनकी राय थी कि शिवगंगा के पश्चिम तरफ की गंदगी को दूर करने के लिए या तो वहाँ एक धर्मशाला वनवा दी जाय या हनुमान वाग तथा व्यायामशाला वनवा दी जाय, जिससे यह गंदगी दूर हो जाय।

"एक वार जव वे पुरी जगन्नाथ जी स्थित अपनी पत्थर कोठी में थे, तव वहाँ राम वावू गये हुए थे। सेठ जी ने तार देकर मुझे भी वहाँ वुलाया। वहाँ एक वैठक की गयी, जिसमें मुख्य विचारणीय विषय थे—ग्रामाश्रमों के कार्यकर्त्ताओं को एक वर्ष तक प्रशिक्षण दिया जाय। शिवगंगा के पश्चिम किनारे की गंदगी को दूर करने के लिए जमीन हासिल की जाय तथा त्रिकुटी में वड़ा वांध वनाने के लिए तत्कालीन मंत्री सर गणेशदत्त सिंह जी से मिलकर उनका ध्यान आकृष्ट किया जाय। पुरी की वैठक में सेठ जी के कनिष्ठ भ्राता श्री वंशीधर जी जालान भी उपस्थित थे। उनका मत था कि वड़ी स्केल में इंजीनियरिंग कालेज आदि खोलने की दिशा में हमलोगों का प्रयास होना चाहिए, क्यों कि छोटे-छोटे ऐसे कामों से कुछ लोगों को तो फायदा होता है, किन्तु इनसे देश का कोई खास फायदा होनेवाला नहीं है। उन्होंने श्री विड़ला जी के कामों की ओर हमलोगों का ध्यान आकृष्ट किया।

"कुछ दिनों के वाद पुनः जव सेठ जी देवघर आए तव उन्होंने हमलोगों के सामने देश जाने का विचार रखा। साथ ही उन्होंने कहा कि देश से लौटने के वाद सभी कार्य किये जायेंगे, जिन्हें करने का निश्चय पुरी की वैठक में कर लिया गया था[१]।"

१ "किन्तु यह संथाल परगना जिले का, विशेषतः देवघर वनमंडल की जनता का दुर्भाग्य था कि वे अपने देश में ही वीमार पड़ गये और वीमारी की अवस्था में ही कलकत्ता लाये गये। समाचार पाकर हम दौड़े-दौड़े कलकत्ता गये, किन्तु मेरे पहुंचने के पूर्व ही उनकी वोली वंद हो चुकी थी और कुछ समय के वाद ही हम सवके वीच से सदा के लिए वे विलग हो गये।"—शिवराम झा

बाडोली मंदिर (कोटा) में ब्रह्मा, शिव और विष्णु
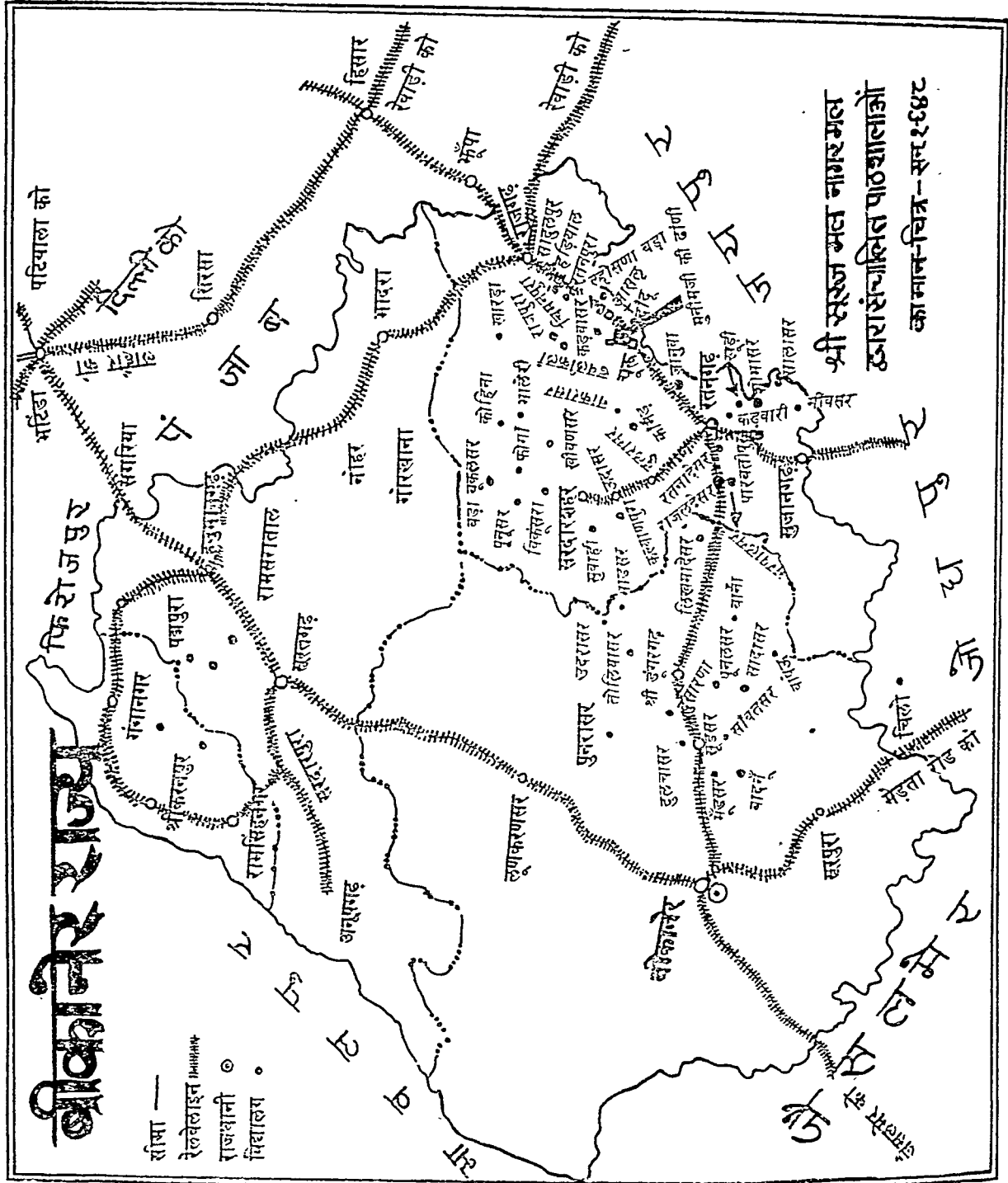
बीकानेर राज्य
सीमा
रेलवेलाइन
राजधानी
विद्यालय
फिरोजपुर
भटिंडा
पटियाला को
लाहौर को
दिल्ली को
संगरिया
सिरसा
पंजाब
गंगानगर
श्रीकरनपुर
पदमपुरा
हनुमानगढ़
रामसिंहनगर
रामसराताल
सूरतगढ़
सरदारपुरा
अनूपगढ़
नोहर
भादरा
गोरखाना
हिसार
रेवाड़ी को
झूँपा
राजगढ़
लूणकरणसर
बड़ा चूकलसर
कोहिना
खारड़ा
पूनूसर
फोगां
भालेरी
विकूंसरा
सरदारशहर
सीवणसर
राजपुरा
सादुलपुर
हड़ियाल
कड़वासर
रतनपुरा
पुनरासर
उदरासर
तोलियासर
सुवाही
उदासर
कल्याणपुरा
श्री डूंगरगढ़
दुलचासर
लिखमादेसर
जानुवा
मुनीमजी की ढाणी
बीकानेर
रतनगढ़
मूंडसर
सूडसर
पूनलसर
बार्णा
पारवतीपुरा
सूडी
भोमासर
बादनूं
सांवतसर
सादासर
सुजानगढ़
सालासर
चांपाउ
सरपुरा
चिलो
मेड़ता रोड को
जैसलमेर को
जैसलमेर
जोधपुर
जयपुर
भावलपुर
श्री सूरज मल नागरमल
द्वारा संचालित पाठशालाओं
का मान-चित्र — सन् १९४८

रतनगढ़ के ग्रामीण अंचलों में ग्राम-शिक्षा का अभिनव अभियान

मनुष्य जाति, सम्पत्ति और यश पदवियाँ सब से अधिक चाहती है। किन्तु न्याय के विपरीत इनका उपभोग कभी भी नहीं करना चाहिए। गरीबी, दरिद्रता और अधःपतन इन तीनों से मनुष्य जाति बहुत भयभीत रहती है। लेकिन जब न्याय की मांग है कि ये न रहें, हमें इनके प्रति विमुख नहीं रहना चाहिए।

—कनफुशियस, चीन के महान दार्शनिक।

[४२]

छींका हम छत से इसलिए लटकाते हैं, क्योंकि भोजन हमारा वहाँ बिल्ली-चूहों से सुरक्षित रहे। दैनन्दिन जीवन में हम अपने-अपने ही अन्तःजगत के भयप्रद भावों को भी इसीलिए एक काल्पनिक छींके में लटका कर रखते हैं कि कहीं उनको हमारी भावुकता का कठोर न्याय नजर न लगा दे। इस दोष से आधुनिक भौतिकता का रोगी नागरिक शायद ही कोई बचा हो। यदि हम उच्च कुल के हैं, तो जानबूझ कर अपने से निचली स्तर के मध्यमवर्ग अथवा निम्न वर्ग की कष्टगाथा को सुनना या उस पर चिंतन करना पसन्द न करेंगे। इसी तरह यदि हम एक ऊँचे पद पर हैं, तो सदा ही उन्मुख रहेंगे और भी उससे ऊँचे पद पर; निम्न पदों पर जीवन का ग्रास पानेवालों के प्रति हमारी चेष्टाएँ न रहेंगी। नागरिक धर्म के यह विपरीत है, सामाजिक शान्ति के यह विपरीत है और सामूहिक श्री-वृद्धि के लिए यह एक चुनौती है।

सूरजमल जी प्रायः इसी बात को अपनी शैली में दूसरे शब्दों में कहा करते थे। आपका विनोद किस तरह गहराई में उतर कर जीवन-देवता के दर्शन किया करता था, उसके एक-दो उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। ज्ञान और अज्ञान का कितना असंतुलन हमारे समाज में है, इस पर चुटकी लेते हुए, वे कहा करते थे कि यह तो ठीक है कि हाथ की या पैर की पाँचों अंगुलियाँ बराबर नहीं हो सकती और पाँच सगे भाइयों की विरासत भी बराबर की नहीं हो सकती, लेकिन ईश्वर के समक्ष क्या हम बराबर के अधिकारी नहीं हैं? जिस तरह हम अपने से अधिक भाग्यशाली की बराबरी करना चाहते हैं, क्या हमसे छोटों को यह अधिकार नहीं है कि वे हमारे भाग्य की बीमारी की दवा करें? पहली बात से हम हर्षित हों और दूसरी बात से हम चुनौती महसूस करें—यह अपने बुद्धि-भेद का ऐसा कड़वा फल है, जो मधुर जल से सिंचित नहीं हुआ!

सूरजमल जी ने तो अब शेष जीवन में जीवन की चारों दिशाओं को मधुर जल से सींचने का एक दीर्घ कार्यक्रम बना लिया था। सन् १९३२ के बाद से वे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ग्रामीण अंचलों में शिक्षा का प्रकाश फैलाने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। देवघर के संथाल-अंचलों में उनकी प्रचुर शक्तियाँ नियोजित होती हैं, लेकिन रतनगढ़ उन के मन-मानस में मानो अधिक न्याय पाता है, मानो रतनगढ़ ही उनका ममत्व सबसे अधिक पाये, इसके लिए मचलता रहता है, उनसे रूठता रहता है और वे उसकी बात भी ज्यादा ही सुनते हैं। नियमित समय पर वे देवघर ही रहते थे, लेकिन नियमित समय पर रतनगढ़ अवश्य पहुँचते और वहाँ पर क्या नया हो, इसके लिए जन-जन से पूछते रहते। फुटकर रूप में आर्थिक सौजन्य का वितरण करना अब उनके स्वभाव में था, किन्तु योजनाबद्ध कार्यक्रम प्रगति करे, यही उन्हें अभीष्ट था।

देवघर के कार्यक्रम से संतोष-लाभ जब उन्हें होने लगा, तो आपने प्राप्त अनुभवों के बल पर रतनगढ़ में भी शिक्षाका विस्तार करने के लिए नई योजनाओं का सूत्रपात कर दिया। सब से पहले आपने सन् १९३४ में श्री हनुमान रात्रि-पाठशाला स्थापित की, जो एक प्रकार से गाँधी जी के आदेशों से सूत्रबद्ध प्रौढ़-शिक्षा का एक प्रकारान्तर थी। घरू अध्यापक रखने में असमर्थ छात्रगण भी इसमें लाभ उठा सकते थे। प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए अंग्रेजी, हिन्दी, वाणिज्य और संस्कृत की पढ़ाई का प्रबंध किया गया। दिन में अध्ययन के लिए जिन के पास समय नहीं था, उनके लिए यह संस्था एक वरदान सिद्ध हुई।

इसके बाद श्री हनुमान ग्राम्य-पाठशाला समूह की स्थापना की गई। देहातों में कलम, दवात, कागज तथा पढ़े-लिखे मनुष्यों का मिलना मुश्किल था। बीकानेर के लिए तो यह प्रसिद्ध था ही कि बस, यहाँ के महाराज साहब पढ़ तो लिए, प्रजा के पढ़ने की जरूरत अब रह ही नहीं गई! फिर भी राजस्थान में बीकानेर ग्रामीण-शिक्षा की दृष्टि से तो सब से पिछड़ा हुआ था।[1] यह राजस्थान की शिक्षा-रिपोर्ट का सूक्ष्म अध्ययन करने से स्पष्ट हो

१ "शिक्षा में राजस्थान अन्य स्थानों से बहुत पिछड़ा हुआ है, इसे सब लोग भली-भाँति जानते हैं। ऐसे राजस्थान में बीकानेर रियासत का हाल तो और भी शोचनीय है...न वहाँ जागृति है और न पर्याप्त सुधार ही। रियासत की आय वार्षिक २,२२,६६,६००) रुपये है, पर १२९२९३८ जन-संख्या में वह प्रति मनुष्य शिक्षा पर केवल साढ़े दस आने वार्षिक ही व्यय करती है।"—मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, कलकत्ता, 'राजस्थान में ३ वर्षीय शिक्षा योजना,' सन् १९४६।

जाता है।[1] ऐसे घनघोर अंधकार में सूरजमल जी ने मानो सरकार की इस उदासीनता को समाप्त करने के लिए अपने परिश्रम से एक नया उद्योग प्रारंभ कर दिया। उद्योग से अधिक अभियान बन गया, जब चारों ओर इन ग्राम-पाठशालाओं का एक समूह बड़े दायरे में छा गया, जैसा कि हम संलग्न मानचित्र से (पृष्ठ १९६) पर देख सकते हैं।

२८ नवम्बर सन् १९३४ से ७ पाठशालाओं से इस योजना का श्रीगणेश किया गया। छात्रों को स्लेट, बरता, पाठ्य-पुस्तकें, बैठने के लिए पांतिया (जूट की चटाई) और कलम-दवात आदि दिये जाते थे। अध्यापक की व्यवस्था केन्द्रीय कार्यालय से की जाती थी। आरंभ में लद्धासर, गौरीसर, जालेऊ, पावूसर, नुवाँ, घुमाना और लोहा में इन्हें खोला गया। धीरे-धीरे इनकी संख्या १२० तक बढ़ी, लेकिन जिन ग्रामों में पाठशाला के लिए छात्र न मिले, कालान्तर में वहाँ से पाठशाला उठाने की विवशता भी सामने आई, लेकिन उसी अनुपात में नये ग्रामों में पाठशाला खुले—इसके लिए उत्साहपूर्ण निमंत्रण भी प्राप्त होते रहे। यह तो ज्ञान-दान और बुद्धि-वर्द्धन के प्रसार का महोत्सव था। राम नाम की लूट हुआ करती है, सूरजमल जी ने इन ग्रामों में प्रारंभिक अक्षर-ज्ञान की लूट करवा दी!

आड़सर, उदरासर, कड़वारो, कड़वासर, कल्याणपुरा, कोहिमा, खारड़ा, खींवणसर, जानुवा, तोलियासर, दुलरासर दुसारणा, नाकरासर, पारवतीसर, पूनरासर, पूनलसर, पूनसर, फोगाँ, बड़ाबूकलसर, सुवाही, वाना, वादनूँ, वापेऊ, दुलचासर, सालासर, भरपालसर, भालेरी, भीमसर, मूँडसर, रतनादेसर, राजपुर, ल्होसणा बड़ा, लिखमादेसर, शोभासर, सादासर, सांवतसर, सूडसर, विकूँसरा, कोटवादताल, कांगड़, खूड़ी, मुनीमजी की ढाणी, डबली कलाँ, रतनपुरा, चिमनपुरा, दांदू आदि ग्रामों में जब इस योजना का विस्तार सफलतापूर्वक हो गया, और सूरजमल जी इन ग्रामों में प्रवास करते हुए ग्रामीण बालकों को अक्षर-ज्ञान करते हुए और लोकजीवन की प्रारंभिक विद्या का पीयूष पीते हुए देखते तो मुस्करा कर कहते, "देखें, अब वाणिये इन को कैसे बुद्धू बनावेंगे!" लगता कि यह कथन जैसे वे अपने से कह रहे हैं। मानो अपने वणिक-तत्व को सम्बोधित करते हुए कहते कि यही प्रायश्चित है अपने संपूर्ण जाति-संप्रदाय के अनाचारों का। हम ने इन ग्रामीणों को सदैव अज्ञानी मानकर असत्य व्यवहार किया है, अब समय आया है कि इन बन्धुओं को अपने विश्वास में हम लें और जीवन का सत्य व्यापार करें। इसीलिए वे खुल कर ग्रामीणों से कहते कि भाइयो, होशियार रह कर पढ़ो। वाणिये के हाथ अब ठगे जाओ, वह समय नहीं रहा। न खुद ठगाई में आओ, न औरों को ठगो। विद्या लो और अपने पूरे गाँव के फायदे की बात सोचो। ग्रामीण उनके इस सरल सत्य कथन पर मुग्ध हो जाते। कहते कि सूरजमल जी सत्य वाणिया है, असत्य हम ही रहे, इसी लिए हम कठिन मेहनत की फसल को औने-पौने दामों में देकर आते हैं और धनवान बाज़ार का वाणिया बनता है। सूरजमल जी तब कहते कि बाजार में व्यापार सही मुनाफे का होने से गाँव खुशहाल बन जाता है। मैं आप सब के गाँवों को खुशहाल और सुखी देखना चाहता हूँ। यह तभी हो सकता है कि तुम विद्या सीखो और ठगाई में न आओ। इस उद्बोधन-वचन को ग्रामीणों ने मूल मंत्र की तरह ग्रहण कर लिया। यह राजनीतिक नारा न बन पाया, लेकिन बीकानेर राज्य में यह क्रांति-मंत्र अवश्य बना, जिसने बीज बन कर जागृति की विशाल खेती आगे चल कर की। पर इस जागृति के संदर्भ में सूरजमल जी का वह सौम्य वणिक रूप ही प्रधान रूप से मुस्कराता हुआ नजर आता है, राजनीतिक कार्यकर्ताओं का झुंड इस मूर्ति की दिव्य मुस्कराहट में गौण बनने लगता है।

इसी योजना के अन्तर्गत संगरिया केन्द्र में त्रैवार्षिक योजना प्रारंभ की गयी। यह विद्याकेन्द्र स्वामी केशवानन्द जी द्वारा स्थापित है। आपने ही सूरजमल जी से आग्रह किया था कि हमारे विद्याकेन्द्र के तत्वावधान में कुछ ग्रामपाठशालाएँ स्थापित करने की उदारता कीजिए। इस आग्रह के पीछे कलकत्ता की मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी का प्रबल आग्रह भी शामिल था। सूरजमल जी ने इस आग्रह को स्वीकार कर लिया। सन् १९४५,४६ और ४७ में स्थापित इन पाठशालाओं का कुल व्यय-भार सूरजमल जी ने स्वयं वहन किया।[2]

आप कितने व्यावहारिक पक्ष के संगठनकर्ता थे,यह इस व्यवस्था से पता चलता है कि जब ग्राम-पाठशालाओं की योजना का सूत्रपात कर दिया गया, तो आपको ग्रामों में जाकर उचित सहिष्णुता और उदार मनोवृत्ति के साथ अध्यापन करनेवाले युवकों का अभाव मिला। छात्र पढ़ने न आवें, ग्रामों में जाकर पढ़ानेवाले मिलें न, तो योजना कैसे चले। इसके लिए आपने रतनगढ़ में एक शिक्षण-केन्द्र खोला, जिसमें ऐसे प्रार्थी युवकों को ही प्रशिक्षित किया गया, जो कि ग्रामों में जाकर अध्यापन-कार्य के लिए तत्पर हो सकते थे। शिक्षण-अवधि में भोजन, जल, बिजली आदि व्यवस्थायें निःशुल्क की गई। ग्रामीणों में भोजन-ज्ञान और शारीरिक ज्ञान भी दिया जाये, ताकि वे स्वास्थ्य और वैद्यरहित चिकित्सा में प्रवीण बनें, ऐसा अध्ययन भी इन अध्यापकों को मौडल आदि द्वारा कराया गया। एक तरह से वे ग्रामीण वातावरण में पूरी तरह विनीत भाव से खप जायें, इस तरह के संस्कार उनमें लब्ध बनाये गये।

१ बीकानेर में शहरों की कुल संख्या १९ थी, पर गाँव २८८२ थे। जब कि शहरों पर एक रुपया छः आने वार्षिक शिक्षा-व्यय था, गाँव की औसत केवल साढ़े ८ आने मात्र थी।

२ अपनी योजना को सफलीभूत बनाने के लिए स्वामी जी कलकत्ता पधारे और तारीख १२ जनवरी १९४६ को श्री सूरजमल जालान स्मृति-भवन में स्थानीय प्रतिष्ठित एवं शिक्षा-प्रेमी सज्जनों की उपस्थिति में एक सभा हुई।"—वही।

सूरजमल जालान
प्रस्तर-प्रतिमा
[जालान-स्मृति भवन, कलकत्ता, में १३ नवम्बर सन् १९५९ को बड़ी धूम-धाम के साथ इस प्रतिमा का उद्घाटन-कार्य पूरा हुआ था]
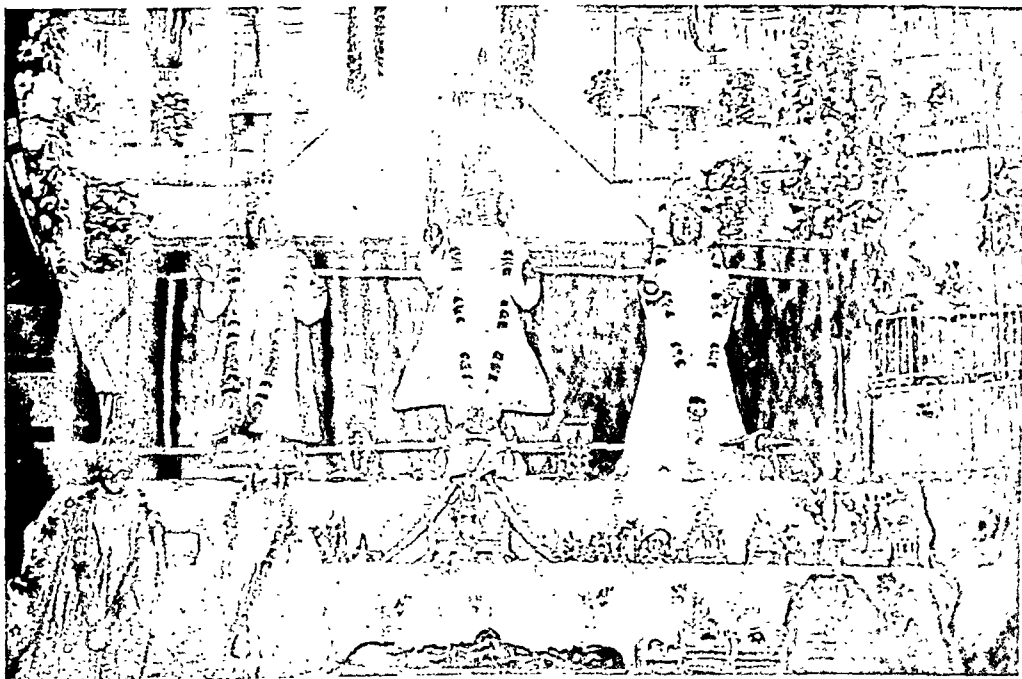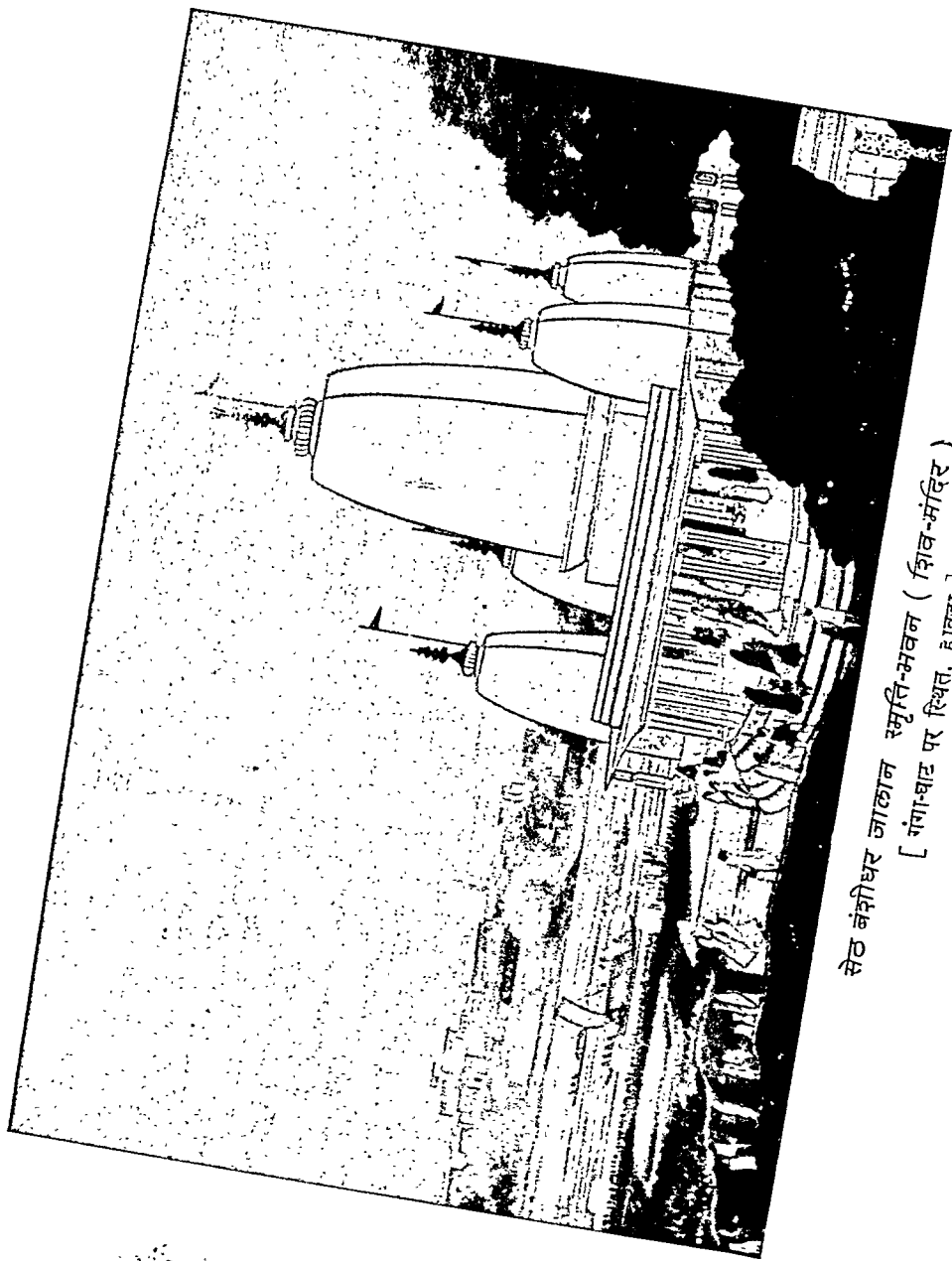
सेठ बंशीधर जालान स्मृति-भवन (शिव-मंदिर)
[गंगा-घाट पर स्थित, हावड़ा]

...हवास, मैत्री, कर्तव्यनिष्ठा, मानसिक विकास, नागरिकता आदि ...न ग्रामीणोंमें किस तरह प्रतिष्ठित कराये जा सकते हैं इसके लिए भी इन अध्यापकों को प्रशिक्षित करने की विशेष सावधानी बरती गयी।

जिस समय तक गांधी जी ने ग्रामीणों में वर्धा-योजना का पूरा प्रारूप भी प्रचारित करने का अवकाश न पाया था, उस समय तक सूरजमल जी अपनी इस योजना को व्यावहारिक रूप दे चुके थे। गांधी जी का संदेश अवश्य सम्पूर्ण राष्ट्र में एक अकल्पनीय जागृति का मंत्र फूंक गया, देश जब तक स्वाधीन बने, तो उसके लिए प्राथमिक स्तर की तैयारी का संदेश दे गया। सूरजमल जी दुहरी गुलामी से पीड़ित राजस्थान के विद्या-अंधकार युग में, जब विद्या नाम से शासक चिढ़ते थे, अपने एक विद्या-यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त कर गये। चीनके दार्शनिक कनफ्यूशियस ने कहा कि चिंता न करो कि काम कितना छोटा है, चिंता यह करो कि वह कितना सत्य है! सूरजमल जी इस सूक्ति के ही स्वप्नद्रष्टा बने हुए, जन-मानस के जीर्णोद्धार-कार्य का व्रत पूरा करने में दत्तचित्त हो गये थे।

आयुर्वेदिक-शिक्षा का सुगठित अभियान

एलोपैथी की अपेक्षा आयुर्वेद द्वारा अधिक जनता की सेवा होती है, क्योंकि यह पद्धति पूर्णतः भारतीय है, इसकी ख्याति में भारत की ख्याति है।

—श्री मोहनलाल सुखाड़िया, मुख्यमंत्री, राजस्थान

[४३]

भारतीय आयुर्वेद का ज्ञान ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व से सूत्रबद्ध होने लगा था और तपोवनों में ऋषियों के पास मृत्युंजयी मंत्रों की सिद्धि होने लगी थी। आयु का देह ही कालान्तर में आयुर्वेद नाम से प्रख्यात् होने लगा। वैदिक काल में शतायु व्यक्तियों का सामाजिक सम्मान बहुत उच्चस्तरीय मान्य हो चुका था। इसी आयुर्वेद को आधार बनाकर भारतीय चिकित्सक १४ वीं सदी तक सारे भारतीय समाज की चिकित्सा वंशानुगत परम्परा से करते आये थे। वैद्य इसी लिए जाति तो न बन सकी, लेकिन वंश-परम्परा के अनुसार जहाँ इसकी विद्या किसी परिवार में तीन-चार पीढ़ी तक स्थायी रूप से रह गयी, तो वह वैद्य ही कहलाया।

पश्चिमी चिकित्सा-प्रणाली का प्रपितामह जिसे कहा गया है, वह ईसा से केवल ३०० वर्ष पहले ही हुआ है!

मुगलकाल में राजनीतिक सत्ता के परिवर्तन के साथ पश्चिमी देशों से, विशेषकर, मध्यपूर्व के देशों से शासकीय रीति-नीतिका पोषण प्राप्त करते हुए यूनानी चिकित्सा-प्रणाली का प्रचार बढ़ने लगा, लेकिन यह केवल राजकीय सीमाओं तक ही मान्यता प्राप्त कर सकी, देश के करोड़ों व्यक्ति अपने प्राचीन आयुर्वेद में ही विश्वास करते रहे।

जब अंग्रेज आये और यहां पर उनका शासन भी स्थापित हो गया, तो केवल एक काम ही उन्होंने इस देश में किया : सर्वप्रकार शोषण, आर्थिक अपहरण और आर्थिक दारिद्र्य की रज्जुओं से भारतीय मात्र का बंधनीकरण! इस नीतिका पालन करते हुए उन्होंने इस देश में अपनी पश्चिमी दवाओं का प्रचार शुरू कर दिया, सरकारी अस्पतालों में आवश्यक रूप से पश्चिमी दवाओं का ही व्यवहार किया जा सकता था। इतना ही नहीं किया, उन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन करते हुए यहां की जड़ी-बूटियों का निर्यात भी शुरू किया, और उनसे दवायें बनाकर वे इस देश में महंगे भाव पर बेचने लगे। बेचारे वैद्य आर्थिक अभावों से ग्रस्त रहते हुए अपने विज्ञान का मर्म तक विस्मृत करने लगे।

जब राष्ट्र की चेतना प्रबुद्ध होने लगी, देशवासियों ने अपने हितका विचार करना प्रारंभ किया, तो निरंतर ह्रास को प्राप्त होते हुए भारतीय जनता के स्वास्थ्य को देखते हुए सभी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि केवल आयुर्वेद ही इस देश की जनता को उत्तम स्वास्थ्य देने की क्षमता रखता है। डाक्टर और उसकी दवा भारतीय जनता के लिए कितनी महँगी है, इस पर गांधी जी ने भी चिंता प्रकट की थी। पर उपाय क्या था कि इन डाक्टरी मृग-मरीचिका से सारे देश की रक्षा की जाए? राष्ट्रीय नीति की दृष्टि से इस पर बहुत से लोकनेताओं ने अपने विचार प्रकट किये और सभी एक ही निर्णय पर पहुँचे कि भारत में आयुर्वेद का पठन-पाठन विस्तृत पैमाने पर बढ़ाना चाहिए और वैद्यों को भी अपने इस प्राचीन विज्ञान को विज्ञान-स्तर पर विकसित करना चाहिए।

श्री सागरमल जी भुवालका और उनके अनुज श्री नंदलाल जी भुवालका ने एक बार सूरजमल जी से विचार-विमर्श करते हुए यह

आग्रह किया कि रतनगढ़ में आपने अन्य संस्थाओं और विद्यालयों का योगग तो कर दिया है, लेकिन अभी एक अभाव ऐसा बना हुआ है, जिस पर केवल आप ही हाथ लगा सकते हैं। यहाँ यदि आयुर्वेद का एक विद्यालय और स्थापित हो जाए, तो उत्तरी राजस्थान और पश्चिमी राजस्थान के सैकड़ों ऐसे छात्रों को नया जीवन मिल जाए, जो इस विद्या को ग्रहण करने के बाद राजस्थान की जनता की समुचित सेवा कर सकते हैं। सूरजमल जी की कार्यतालिका में यह कार्य बहुत पहले से नोट था। लेकिन अवकाश के अभाव में वे इसे उचित समय के लिए स्थगित करते हुए आ रहे थे। यद्यपि रतनगढ़ में आरोग्यभवन की स्थापना वे कर चुके थे, लेकिन उसका लाभ दस-बीस परिवारों को ही मिल सकता था। आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना यदि हो जाए, तो उसके स्नातक सारे राजस्थान में सहस्र-सहस्र रोगी जनता का कल्याण कर सकते हैं। आपने भुवालका बंधुओं का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और सुनिश्चित योजना बना कर द्वितीय भाद्रपद शुक्ला दशमी संवत् १९९३, दिनांक २३ दिसम्बर सन् १९३६ को न केवल श्रीहनुमान आयुर्वेद विद्यालय की ही स्थापना की, अपितु श्रीहनुमान आयुर्वद औषधालय की शाखा भी इसी के साथ संलग्न कर दी। यह लक्ष्य निर्धारित हुआ कि इसमें शास्त्रीय स्तर पर, उच्च शिक्षा के साथ-साथ प्रत्यक्ष ज्ञान एवं आधुनिक शारीरिक विज्ञान के पूरे साधन हों, जिससे यहाँ से तैयार किये गये योग्य स्नातक देश-सेवा के साथ-साथ आयुर्वेद-विज्ञान को उन्नत करने में पूरे सहायक हो सकें।

संस्था खुलते ही चारों दिशाओं से इसमें छात्र भरती होने लगे। रसेन्द्र-चिंतामणि के व्याख्याता वैद्य-शिरोमणि पं० मणिराम जी शर्मा भिषगाचार्य की अध्यक्षता में इस संस्था ने दिन प्रतिदिन उन्नति करने का परिचय देना शुरू कर दिया। इसके पास हुए स्नातक उत्तमोत्तम संस्थाओं में योग्य पदों पर आसीन होने लगे और आयुर्वेद का व्यापक प्रचार करने में उत्तम साधन बन भी गये। इसमें विद्यालय का एक स्वतंत्र पुस्तकालय भी रखा गया, जिसमें आयुर्वेदीय पुस्तकों-पत्रों का संग्रह किया गया।

नव्य शरीर-ज्ञान की शिक्षा देने के लिए प्रति दिन एक डाक्टर पधारें, यह व्यवस्था प्रारंभ से रखी गयी। नर-कंकाल, मोडल्स, चित्र आदि साधनों के अतिरिक्त, इंजेक्शन, रक्तभारमापक यंत्र, एनीमा, कैथेटर, मलमूत्र-परीक्षण आदि का भी प्रबंध किया गया। शास्त्रीय ज्ञान के साथ प्रेक्टिल ज्ञान के लिए विद्यालय की एक रसायनशाला बनी, जहाँ पर उत्तम विशुद्ध औषधियों का निर्माण होने लगा। ये औषधियाँ ही हनुमान औषधालय में प्रयुक्त की जाती हैं और वहाँ पर स्वानुभूत होती रहती हैं। लगभग चालीस हजार से भी अधिक रोगी प्रति वर्ष हनुमान औषधालय से लाभ उठाते हैं। विद्यालय से २० छात्रों को छात्रवृत्ति दी जाती है। साथ हीसाथ इस विद्यालय का छात्रावास भी स्थापित किया गया।

सुयोग्य वैद्य बनाने के लिए महाविद्यालय के अतिरिक्त प्रायोगिक शिक्षण के निमित्त रसायनशाला की आवश्यकता रहती है। सूरजमल जी का सदैव लक्ष्य यही रहा कि योजना चाहे विलम्ब से प्रारंभ की जाए, लेकिन प्रारंभ होने के उपरान्त उसमें हर तरह से आत्म-निर्भरता रहनी चाहिए। औषधालय के साथ इस रसायनशाला का महत्व केवल इतना ही नहीं है कि यह विशुद्ध औषधियोंका निर्माण करती है, इसका महत्व यह भी है कि यहाँ विद्यार्थीगण व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस हनुमान आयुर्वेदिक रसायनशाला की स्थापना के बाद जनता की ओर से यह माँग रखी गयी कि इसमें एक बिक्री-विभाग रखा जाए। सभी वैद्यगण विशुद्ध औषधियों के खरीदने में विश्वास रखते हैं। इस रूप में इस रसायनशाला का यह उद्देश्य सार्थक हो रहा है कि जनता में आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति के प्रति विश्वास उत्पन्न किया जाये। इस रसायनशाला के स्नातक वैद्य इस बात से प्रभावित एवं श्रद्धान्वित हैं कि यहाँ जिस औषधि में जिस मूल्यवान धातु, भस्मादिक के सम्मिश्रण की आवश्यकता होती है, वह उसमें यथावत् परिमाण में डाली जाती है। यही कारण है कि यहाँ के सैकड़ों स्नातक वैद्य यहीं की औषधियाँ अपनाकर यश-लाभ कर रहे हैं। यह एक विशेष बात है कि औषधालयों को एवं जनता को लागतमात्र में औषधियाँ देने के बाद इसमें आर्थिक लाभ न के बराबर रहता है। ऐसी अवस्था होते हुए भी, जब मलेरिया, हैजा आदि संक्रामक रोगों का संचार होने लगता है तो निःशुल्क दवायें भी जनता में वितरित करने का उत्साह बराबर रहा है।

हर्ष-पर्वत (सीकर) पर हर्षनाथ के मरन-मन्दिर का नृत्य-मुद्रा फलक, १०वीं सदी।

श्री हनुमान शिल्प विद्यालय भी प्रारंभ

[४४]

न्धी जी ने देश की बुनियादी शिक्षा-पद्धति का स्वर इस तरह नई दिशा की ओर उन्मुख किया था कि अच्छे-अच्छे शिक्षा-शास्त्री भी प्रारंभ में आश्चर्यचकित रह गये थे। शिक्षा के क्षेत्र में वर्धा-योजना एक प्रकार से, लार्ड मैकाले द्वारा शुरू की गई क्लर्क-निर्मात्री स्कूल-कालेजी शिक्षा के खिलाफ विद्रोह करते हुए, ऐसी स्वदेशी शिक्षा-पद्धति का पुनर्गठन था कि जिसे ग्रहण करते हुए छात्र आत्मावलम्बी और आत्मनिर्भर बन जायें। यह राष्ट्रीय नीति का ही परोक्ष में एक स्वस्थ अभिनवी-करण था।

सूरजमल जी गांधी जी से प्रभावित हुए। उनके कार्यक्रमों को वे सत्यांश में निष्ठा के साथ ही मानते थे। गांधीजी जो कार्यक्रम बनाते, उसमें सारे देश का हित विद्यमान रहता। सूरजमल जी जिस समय सूक्ष्मरूप से किसी व्यावहारिक योजना पर विचार करते, वे अपने रतनगढ़ और उसके निकटवर्ती गाँवोंके कल्याण का विचार रखते। उनके मनमें किसी जाति-विशेष का ख्याल कभी नहीं रहा। वे तो ग्रामीण समुदाय का हित चाहते थे, अपनी मातृभूमि के निवासियों को हर दृष्टिसे समृद्ध हुआ देखना चाहते थे। वे हर संप्रदाय और हर वर्ग की सांस्कृतिक समुन्नति में विश्वास करते थे।

सन् १९३७ में वे अपने कुछ मित्रों के साथ विचार कर रहे थे कि वर्धा-योजना को यदि हम संक्षिप्त परिधि में कार्यान्वित करना चाहें तो वह एक प्रकार से हमारी प्राचीन करघा-उद्योग परम्पराका ही प्रतिदर्शन देती है। इस पर एक मित्र ने कहा, "लेकिन आप मेहरबानी कर रतनगढ़ को वर्धा न बना दें। वर्धा जो भी काम करता है, उसके पीछे बुनियादी शिक्षा ही नहीं होती, बुनियादी राजनीति भी रहती है।"

सूरजमल जी को यह व्यंगोक्ति रस दे गयी। वे मुस्करा दिये और बोले, "रतनगढ़ बस उत्तम नागरिकों का गढ़ बन जाए, यही कामना है।"

आपने इसी कामना को हमेशा व्यावहारिक बनाया और आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित करने के बाद शिल्प-विद्यालय की योजना को हाथ में लिया। सन् १९३७ से इसका सूत्रपात किया गया। इस विद्यालय का भवन अच्छी जगह पर सुन्दर रूप से बनाया गया। जल, बिजली, आवश्यक यंत्र और करघे आदि उपकरणों से इसे सज्जित किया गया।

सूरजमल जी ने ग्रामीण जीवन का खूब अध्ययन कर लिया था। देवघर आदि संथाली ग्रामों का तथा रतनगढ़ के निकट-वर्ती ग्रामों का स्वयं घूमकर उन्होंने निकट से अध्ययन किया था। इसलिए वे जानते थे कि उन्हें शिल्प की शिक्षा देने के लिए किस प्राथमिक कदम को उठाना सबसे पहले जरूरी है। ग्रामीण इतने गरीब हैं कि किसी शिल्प को सीखने के लिए प्रारंभिक व्यय भी वहन नहीं कर सकते। अतः आपने उचित छात्रवृत्तियां निर्धारित कीं, ताकि स्वावलम्बी बनते हुए वे सर्वांगीण शिल्प-शिक्षा लेने के लिए उत्सा-हित हो सकें। इसी तरह बेकार अनपढ़ युवकों की समस्या हल की जा सकती है—जो छात्र इसमें प्रविष्ट होते थे, उन्हें प्रारंभ से मे ही छात्रवृत्ति देना प्रारंभ कर दिया जाता था। बाहर से आनेवाले छात्रों के लिए आपने छात्रावास भी बना दिया। पानी तथा बर्त्तनों की व्यवस्था की गयी। कर्घा, कालीन, सिलाई, रंगाई, दरी-पांतिया और नीवार विभाग इस तरह सुचारु कार्य-प्रणाली का वर्गीकरण किया गया। साथ ही कागज बनाने का उद्योग भी एक अलग कक्षा में नियमित किया गया।

कहना न होगा कि इन समस्त उद्योगों के लिए आपने पूरी तरह से जांच-पड़ताल कर पाठ्यक्रम बनाया था। आपका यह विचार ही सबसे पहले था कि जो भी उद्योग सिखाया जाए, उसमें जो आधुनिक प्रगति अन्य स्थानों के विद्यालयों में सम्पन्न हो चुकी है, वह भी यहाँ ग्रहण कर ली जाए।

सूरजमल जी ने जिस प्रकार बीकानेर राज्य की ग्रामीण जनता को शिक्षा-सम्पन्न बनाया, उससे भी अधिक उन्हें शिल्प-पटु बनाने पर जोर देना प्रारंभ किया। प्रारंभ में यह धारणा उनके कार्य में बहुत बाधक हुई कि रंगाई और कालीन आदि का बुनना तो केवल चमार तथा अन्य अछूत जातियों का कर्म ही है। यह रूढ़ और जर्जर विचारों का परिणाम था। कालीन बुनना कैदियों का काम समझा जाता था, क्योंकि जेलों में यही काम कैदियों से लिया जाता था। इससे भी बड़ी बाधा उस समय उत्पन्न हुई, जब इस शिल्प-विद्यालय का गठन होते ही तात्कालिक राज्य-पुलिस के कर्मचारी यह कहने लग गये कि रतनगढ़ में कांग्रेस आ गयी है! वे शिल्प-विद्यालय के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगे और भांति-भांति से इस टोह में लगे रहे कि कांग्रेस का कौन-सा गुप्तचर विभाग यहां कायम हुआ है। लेकिन सूरजमल जी इन सब बातों से विचलित न हुए। वे स्वयं सातरोद (हिसार)

गये और वहाँ के शिल्प-विद्यालय की बढ़ी-चढ़ी कार्य-पद्धति का निरीक्षण कर लौट आये। वहीं से आपने एक शिक्षक को बुलाकर अपने यहाँ इस काम के लिए नियुक्त किया। जब लोगों के सामने शिल्पशाला की बनी हुई उत्तमोत्तम वस्तुएँ आईं, तो उनकी अभिरुचि बढ़ी। अब अधिक संख्या में छात्र इस संस्था में प्रविष्ट होने लगे। यह भावना सर्वप्रमुख बनने लगी कि कोई भी उद्योग किसी भी वर्ग के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है। कोई भी उद्योग किसी संप्रदाय-विशेष का एकाधिकार नहीं हो सकता।

प्रारम्भ से ही यहाँ की बनी हुई वस्तुएँ अच्छी और मजबूत होने के नाते लोगों ने लाभ उठाया। ऊनी चीजें अन्यत्र अलभ्य थीं, किन्तु यहाँ मनचाही उत्तमोत्तम लोई, ऊनी आसन, गलीचे, गलीचे के आसन तथा ऊनी रंगाई से जनता को बराबर लाभ पहुँचने लगा। इन्हीं दिनों द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हुआ और जनता में कपड़े के लिए त्राहि-त्राहि मच गयी। तब दूर-दूर से ग्रामीण जनता यहाँ करघा-वस्त्र खरीदने के लिए आने लगी थी।

शनैः-शनैः ग्रामीण-उद्योगों का युग आया। चारों तरफ ग्रामीण-उद्योग खुलें, यह आवाज प्रबल बनने लगी। उस समय राजस्थान में यहाँ के स्नातक ही नियुक्त होने लगे और उन्होंने बहुत शीघ्र अध्यापक नियुक्त होकर चारों ओर भारतीय शिल्प की शिक्षा देने का गुरुतर दायित्व अपने कंधों पर संभाल लिया।

सूरजमल जी किस तरह दूरंदेशी नीति से काम ले रहे थे, यह एक सही सफलता थी।

गंभीर चिंतन-मनन और सत्साहस के अपूर्व क्षण

सारा सूरा बहू मिलै, घायल मिलै न कोई।
घायल ही घायल मिलै, तब राम भक्ति दृढ़ होई॥ —कबीर।

[४५]

पचास वर्ष की आयु में व्यक्ति जीवन के प्रति अपनी निष्ठा का पूर्ण परिपाक भी नहीं कर पाता। जिजीविषा उसकी उग्र होने लगती है, लेकिन वह गंभीर चिंतन-मनन के प्रति इस समय तक उतना गंभीर नहीं हो पाता। जीवन-प्रवाह में समाज की परिस्थितियाँ जिस दिशा उसे बहाती रहती हैं, वह बहता रहता है। अपने किये वह बहाव का परिवर्तन कर पाये, ऐसी निगूढ़ द्युति उसे मिले तो कहाँ से मिले, जब कि वह प्रज्ञा-चक्षु होने के लिए कोई प्रयास तक नहीं करता। सूरजमलजी सन् १९३१ में ५० वर्ष के हो चुकते हैं। रतनगढ़ में लोककल्याण का काफी काम पूरा कर लेते हैं। व्यापार में उनका अग्रणी स्थान है। पुत्र-पौत्रादि से घर भरा हुआ है। समाज में सभी ज्येष्ठ आयु सज्जनों से उनका प्रीति भाव है। दान-परम्परा में वे उदार हैं। सात्विक भाव के उत्तम मनुज माने जाते हैं। किन्तु सूरजमलजी की दृष्टि तो अब एक ही दिशा में केन्द्रित है। वे जीवन में अधिक-से-अधिक परिश्रम कर रहे हैं। उत्तम स्वास्थ्य के नाते उनका मानस सत्व भाव से लब्ध है। वे अपने वंश में अब केवल ध्यान-मूर्ति हैं। संगति का लाभ चाहते हैं, भाग्य-रूप योजनाओं में दत्तचित्त हैं। उपयोग अब वे अपना और अपने परिवार का नहीं, अपनी संपत्तिका देखते हैं और देखते हैं कि वह उपयोग समाज में कितना उपयोगी मान्य होता है। वे शारीरिक संगति से अधिक समाज के साथ केवल मानसिक संगति करने में विश्वास करते हैं। अपने संयम की परीक्षा हर स्थान पर देने में लालायित रहते हैं। जो भी उनके पास आता है, वह याचना नहीं करता, लेकिन वे अपने ही याचक बनकर सामने बैठते हैं कि उनके हाथ में कोई सत्परामर्श दे या उत्तम लोकहिताय योजना दे! ऐसा याचक जिस समाज में हो जाये, उसकी परम गति से फिर भला दूसरे समाज क्यों न होड़ करें?

सूरजमल जी कलकत्ता में कम रहते हैं, यात्रा में अधिक रहने लगते हैं। वे एक बार लक्ष्मणगढ़ गये। वह उनका ननसार स्थान था। वहाँ पर सन् १८०५ में निर्मित रघुनाथ जी का बड़ा मन्दिर है। किन्तु कालक्रम में वह जीर्ण होने लगा। तब उसके जीर्णोद्धार की बात उठी। सबकी दृष्टि उस समय सूरजमल जी जालान पर गयी। यह बात सन् १९२७ के आसपास की है। आपने इस जीर्णोद्धार का प्रस्ताव अपने सामने आते ही एकमुश्त ६०००) रु० देकर यह आज्ञा दी कि यह जीर्णोद्धार शुरू करवा दीजिये। आपका ऐसा शुभ हाथ लगा कि यह कार्य सन् १९३२ तक पूरा हो गया[1]।

---

१ मंदिर के जीर्णोद्धार की रिपोर्ट, लेखक पं. सम्पत्कुमार मिश्र, वसंत-पंचमी संवत् १९८८। इसमें लिखा है, "लक्ष्मण-गढ़ निवासी न होते हुए भी देश-समाज प्रेमी शिक्षा-प्रेमी सूरजमल्ल जी जालान ने इस धार्मिक काम में सब से पहले जो उदारता दिखाई, वह प्रशंसनीय है और लक्ष्मणगढ़-निवासी हृदय से आपके चिरकृतज्ञ रहेंगे, क्योंकि आपकी उदारता से ही इस जीर्णोद्धार के कार्य का श्रीगणेश हुआ था।"

वे किस तरह के विचित्र याचक थे, इसका एक मार्मिक संस्मरण बहरामल जी भड़ैच ने सुनाया। भड़ैच जी सेठजी की सेवा में लगभग १२ वर्ष तक रहे हैं। आपने बताया, "एक बार ओंकारमल जी सराफ आदि के साथ वे श्यामनगर में एक जमीन देखने गये थे। उनके संग दलाल आदि भी थे। जमीन की जांच-पड़ताल के लिए सेठ जी घूम-फिर कर उस जमीन को देख रहे थे। उसी समय दो बुढ़ियाएँ उसी रास्ते से दुःखी स्वर में रोती हुई, पानी भरने के लिए जाती हुई दिखाई दीं। सेठजी की दृष्टि उन पर पड़ी और उन्हें रोते हुए देखकर कारण पूछा कि माँ, आपनारा केनो कानछेन। इतना सुनकर भी वे दोनों कुछ न बोलीं। तब सेठजी ने उनसे दुबारा पूछा कि माँ, केनो कानछेन? बोलुन। तब एक बुढ़िया ने कहा कि बाबा, आपनारा जोग्बुन ऐईखाने आसछेन, आमादेर कोन रक्षा नाई। आमरा बाल-बच्चा निए कतो पुरुष ऐई खाने बास कोरछी। ऐखुन आमादेर कोनु रक्षा नाई।

"सेठजी ने यह सुना ही था कि उन्होंने उत्तर देने में बिलकुल विलंब न किया। तुरन्त कहा कि माँ, आपनारा कांनवेन ना आज थेके आर कोन दिन आमादेर ऐखाने देखवेन ना। ऐई जमीन आमरा कोन भाव किनवो ना!

"यद्यपि वह जमीन बहुत सस्ती थी, लेकिन सेठजी ने उस जमीन को तत्काल खरीदने का विचार स्थगित कर दिया। और वहाँ से हल्के दिल लौट आये।

"उन्होंने प्रभु से याचना की कि मेरे होते, इनका निवास यहाँ से न छिने! वे ऐसे ही थे। उनको लेकर किसी को दुख पहुँचे, भला यह उन्हें कैसे सहन हो सकता था।

"इसी प्रकार का एक दूसरा प्रसंग और याद आता है। सेठजी वर्ष में एक बार रतनगढ़ बराबर जाया करते थे। उनकी रतनगढ़-यात्रा का उद्देश्य यही रहा करता था कि रतनगढ़ में स्थापित संस्थाओं द्वारा जनता की उचित सेवा हो रही है या नहीं। वे जो भी दोष देखते, बिना देरी किये उसमें सुधार करते। सेवा में वृद्धि किस तरह और हो सकती है, यह सबसे जिज्ञासा करते रहते। सेठजी के साथ दो बार मैं भी उनकी सेवा में रहा था।

"एक बार लक्ष्मणगढ़ में श्री लच्छीराम जी चूड़ीवाला की अध्यक्षता में एक बहुत बड़ा सम्मेलन हुआ था। उसमें उन्हें भी निमंत्रित किया गया था। इस यात्रा में पहले आप फतहपुर गये और वहाँ पर अनेक संस्थाओं को दान देकर मानो जैसे स्वयं ही उपकृत हुए। फिर लक्ष्मणगढ़ पधारे। यहाँ भी सार्वजनिक संस्थाओं का निरीक्षण किया और यथा-शक्ति सबमें कुछ-न-कुछ दान दिया। सम्मेलन में भाग लेते हुए कुछ नागरिकों ने आपसे प्रस्ताव किया कि यदि हाकिमों के कुएँ का जाव छुड़वाने की आप कृपा कर दें तो यहाँ गरीब जातों को पानी का सुख हो जाए। दूसरे, शाक-सब्जी का लाभ भी जनता को मिलने लगेगा। आपने याचना के स्वर में जैसे कुछ ग्रहण कर रहे हों, यह जिज्ञासा की कि यहाँ पर अभी तक साग-सब्जी का और दीन-दरिद्र जातियों का जल-प्रबन्ध क्या किस रूप में है। सब बातें सुन कर आपने कुएँ के पास १५००) रु० देकर वह जाव छुड़वा दिया। उसी दिन से उस अंचल में बसनेवाले परिवारों को जल-कष्ट दूर हो गया और नगरनिवासियों को उत्तम शाक-सब्जी का सुख हो गया।

"इसी यात्रा में आपको सीकर के रावराजा ने निमंत्रित किया था। विनीत भाव से आप सीकर पधारे। यहाँ पर भेंट के समय राव माधो सिंह जी ने कहा कि सीकर के निकट हर्ष-पर्वत पर एक प्राचीन मंदिर के खंडहर मिले हैं। वे सब उत्तम देवी-देवताओं की प्राचीन मूर्त्तियों से भरे पड़े हैं। उनकी रक्षा करना चाहिए। इस दिशा में आपका सहयोग भी मिले तो उन मूर्त्तियों को लेकर सीकर में एक मूर्त्ति-संग्रहालय स्थापित कर दिया जाये। आपको यह प्रस्ताव बहुत सुखकर लगा। आपने सीकर में लाई गयी उन मूर्त्तियों को देखा। विदा समय आपने रावराजा साहब की सेवा में इस कार्य के निमित्त १५००) रु० भेंट किये। यह बात कुछ इस तरह फली कि बाद में और भी रुपया अन्य सज्जनों ने इस काम के लिए दिया और हर्ष-पर्वत की उत्तम मूर्त्तियों का एक संग्रहालय सीकर में इतिहास-अनुसंधान के विद्यार्थियों व विद्वानों के लाभार्थ बन कर तैयार हो गया। इससे यह प्रमाण हम सबको निरंतर मिलता रहा कि सेठजी का दान किसी बंधे हुए नियम से नहीं दिया जाता, वे तो हर उस काम में सहायता पहुँचाना चाहते थे, जिसे युग की दृष्टि से उस समय उत्तम समझा जाता था।"

श्री श्यामदेव जी देवड़ा ने अपने संस्मरण सुनाते हुए बताया, 'ब्राह्मणों के लिए सदा से ही वैश्य जाति में उदारता पाई गयी है। सभी उत्तम वैश्यों ने अपनी शक्ति के अनुसार कुछ ऐसे कार्य किये हैं, जिनसे ब्राह्मणों का उपकार हो। सूरजमल जी ने भी इस दृष्टि से रतनगढ़ में एक आयोजन किया था। आपने कुछ मकान बनवा कर ब्राह्मणों को धर्मार्थ निवास के लिए प्रदान कर दिये थे। इन्हें 'गुवाड़ी' कहा जाता है। देखते-देखते यहाँ पर एक आबादी भी बस गयी। जब दूसरी बार यात्रा में आप रतनगढ़ गये और इस बढ़ती हुई आबादी को देखा तो आपको हर्ष हुआ। लेकिन आपने महसूस किया कि इस स्थान पर जब तक कुआँ न होगा, इस दिशा में रहनेवालों को जल का कष्ट बना रहेगा। यह ध्यान में रखते हुए आपने अपने विचार को एक बड़ा रूप देने का संकल्प किया। आपने तय किया कि एक सुन्दर कूप इस तरह बना दिया जाये, कि उसका लाभ न केवल इस नयी आबादी को मिले, बल्कि नगर के अन्य अंचलों में भी प्रचुर जल पहुँचाया जा सके। योजना बनने की देर थी कि काम शुरू कर दिया गया

ग्रौर ग्रापने इसका नाम 'श्री हनुमान कूप' रखा। इसी कूप का लाभ उठाते हुए कुछ समय वाद ग्रापने यहाँ पर 'श्री हनुमान पार्क' स्थापित करने की योजना वनायी।

"कहा नहीं जा सकता कि वे ग्रपने जीवनकाल में कितनी योजनाग्रों का सूत्रपात कर देना चाहते थे। शरीर ग्रवश्य उनका स्वस्थ था ग्रौर वे ग्रधिक से ग्रधिक समय ग्रपनी योजनाग्रों में दिया करते थे, लेकिन नई योजनाग्रों के प्रति उनका मन सवसे हर्षित रहा करता था। जब वे एक यात्रा में हरिद्वार गये, तो वहाँ पर ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिक ग्रधिवेशन में भी शरीक हुए। उनका दर्शन करने के लिए ग्रामीणों की वहुत वड़ी भीड़ लग गयी। जल्दी ही सूरजमल जी ने ग्रामीणों के मन पर छाई हुई भ्रान्ति को दूर करने का निश्चय कर लिया। ग्रापको पता चला कि ये मुझे सूरजमल जी झूंझनूंवाला समझ रहे हैं, जिन्होंने लक्ष्मणझूला वनवा कर सारे भारत में बहुत यश कमाया था। ग्रापने ग्रपने भाषण में झूंझनूंवाला जी के प्रति ग्रपनी श्रद्धांजलि देते हुए कहा कि मैं तो एक विनीत सेवक हूँ ग्राप सवका! ग्रामीणों ने जव यह सुना तो ग्रापके विनय से वे वहुत ही गद्‌गद् हुए।

"पं० भोलानाथ जी शर्मा को लेकर सेठजी वरावर गंगा के घाटों पर टहलने जाया करते थे। एक दिन ग्रापके मनमें सहसा ही नया विचार ग्राया। ग्रापने देखा कि सीढ़ियों के इस पार तो एक पुल वनवा दिया गया है, यदि उस किनारे की सीढ़ियों पर भी एक पुल वनवा दिया जाए, तो एक वड़े ग्रभाव की पूर्ति हो जाए। ग्रापने हरिद्वार म्युनिसिपैलिटी से पत्र-व्यवहार किया। ग्राज्ञा मिलने पर ग्रापने वहाँ पर एक पुल वनवा दिया। ग्रव जव कुंभ ग्रादि मेलों के समय वहाँ भीड़ होती, तो यात्रियों को वहुत ग्राराम मिलने लगा। ग्रन्य तीर्थ-यात्री ग्रपनी शैली से हरिद्वार में पुण्य ग्रहण करते हैं। सेठजी ने इसी प्रकार एक निर्माण करवा कर हरिद्वार का मानो वास्तविक तीर्थ-स्नान[1] किया।

"ग्राप में दूसरा गुण वहुत वढ़चढ़ कर था। ग्रपनी फर्म की प्रतिष्ठा का ग्राप वहुत ख्याल रखते थे। सन् १९१७ के ग्रासपास की घटना है। एक वार हनुमान जूट-प्रेस में ग्राग लग गयी। दुपहर में १ वजे ग्राग लगी ग्रौर रात के ग्राठ वजे तक ग्राग दहकती रही। किसी तरह ग्राग पर कावू नहीं ग्रा रहा था; नुकसान ज्यादा होने की वात सामने ग्रा रही थी। पर ग्रापने नुकसान की ग्रोर ध्यान न देकर सवसे पहला काम यह किया कि मुझे पास वुला कर कहा कि जल्दी से गद्दी जाग्रो ग्रौर पाट का भुगतान रोज तो रात के ९ वजे करते हो, लेकिन ग्राज सात वजे करना शुरू कर दो! कोई व्यापारी तारीख से पहले ही पुरजा ले कर ग्रा जाये, तो उसका पुरजा भी ग्राज ही चुका दिया जाये!! मैंने वैसा ही किया। भुगतान जव दिया जाने लगा तो जिन लोगों के मन में जरा-सा भी शुवहा ग्राया था, वह भी दूर हो गया ग्रौर सूरजमल नागरमल के प्रति लोगों की वैसी ही दृढ़ ग्रास्था वनी रही।

"रुपया देने की इस वात का एक संस्मरण ग्रौर दें। वीकानेर महाराज को एक वार वहुत ग्रधिक रुपयों की जरूरत पड़ी। उन्होंने ग्रपने दीवान को भेजकर वीकानेर राज्य के निवासी सेठों से काफी ग्रधिक रुपयों का वचन लिखवा लिया। यह काम वे जोर-जवरदस्ती, डरा-धमका कर करने लगे थे। फिर उन्होंने हमारे सेठजी को वुलवाया। मैं भी साथ में गया। वड़ी लम्वी वातचीत के वाद वोले कि ग्रापका कितना रुपया लिख लिया जाए। सेठजी ने सरलता से कहा कि दस हजार लिख लीजिए। यह सुनकर महाराज मांधाता वड़े नाराज हुए ग्रौर ग्रपना डराने-धमकाने वाला हथियार हाथ में लेके वोले कि सेठजी, ग्राप वीकानेर राज्य में रहते हैं। वहीं ग्रापको रहना है। तव राज्य से विरोध करना क्या उचित है?

"सूरजमल जी तो मानो इस क्षण के लिए तैयार होकर गये थे। सवसे किस तरह डरा-धमका कर रुपया लिया गया है, यह सुन चुके थे। ग्रापने धीरे से इतना ही कहा कि ग्राजकल के जो वाल-वच्चे हैं, वे देश विलकुल नहीं जाना चाहते। मेरी इच्छा जन्म-भूमि समझ कर कभी-कभी रतनगढ़ जाने की होती है, पर ग्रगर ग्राप नहीं चाहते तो खैर, मैं भी ग्रव उधर मुँह नहीं करूँगा।

"यह जवाव सुनते ही मांधाता जी विलकुल ठंडे हो गये। थे वड़े चतुर। फौरन रंग वदला ग्रौर वोले कि मेरे कहने का मतलव यह नहीं था। ग्रगर ग्राप लोग ही राज्य की मदद नहीं करेंगे तो कौन करेगा। सेठजी ने कहा कि मदद की वात तो मैं ने पहले कवूल कर ही ली थी। ग्रौर इतना कह कर वहाँ से ग्राज्ञा ले, उठकर चले ग्राये।

"केवल सूरजमल जी ने ही इस ग्रवसर पर साहस दिखाया; वे साहस की मूर्त्ति थे। मांधाता जी सिंह सूरजमल जी के ग्रच्छे मित्र रहे, इसके वाद से वे उनका ग्रौर भी सम्मान करने लगे। कहते थे कि यह भी एक गुण है कि सूरजमल जी स्पष्ट वक्ता हैं।

"यद्यपि सेठजी ने रतनगढ़ में श्री हनुमान व्यायामशाला का निर्माण वहुत वाद में करवाया, लेकिन कलकत्ता में जव वड़ावाजार युवक सभा का निजी भवन वनाने की वात खड़ी हुई ग्रौर कार्य-कर्त्तागण ग्रापकी सेवा में पहुँचे, तो सारी योजना सुनकर ग्राप वहुत प्रसन्न हुए। जिस काम में युवकों का सामूहिक लाभ होने-वाला है, तो वह उनका ही ग्रभीप्सित स्वप्न था। ग्रापने सवसे पहले ५०००) रुपये देकर कार्यकर्त्ताग्रों का उत्साह-वर्द्धन किया।

---

१ सन १९३२ में हरिद्वार में अर्द्ध-कुंभ संपन्न हुआ था। उस समय सूरजमलजी नागरमलजी के साथ वहाँ कुंभ-स्नान लिए गये थे। यहाँ आप १५ दिन ठहरे थे। इस पुल में लगभग १०,०००) रु० व्यय हुए थे यह पुल ब्रह्मकुंड के उत्तर में जलधारा को पार करने की दृष्टि से वनाया गया था।

ईश्वर की ऐसी इच्छा हुई कि इस कामने आगे चलकर बहुत उन्नति की ओर इस भवन का विस्तार भी निरंतर होता रहा है।

"इतना सब कुछ था, लेकिन बस एक बात ही नहीं थी। समाज में जैसी रीति प्रचलित हो गई है कि चन्दा देने के बहाने दानदाता संस्था की शोभनीय कुर्सी पर विराजमान होने में अतीव संतोष का अनुभव करते हैं, वह बात उनमें नहीं थी। जब भी कार्यकर्त्तागण उनसे सभापति आदि बनने के लिए कहते तो वे मुस्करा कर यही कहते कि सभा का 'पति' आप उसको बनाइए, जिसमें उसकी सी योग्यता हो। मुझ से और दूसरी सेवा ले सकते हो!

"आपने पुरी की यात्रायें भी अनेक बार की थीं। वहाँ रहते हुए समुद्र-तट पर एक बड़ी विशाल कोठी आपने इस इरादे से ली थी कि इसे आरोग्य-भवन बना देंगे, ताकि सर्वसाधारण समुद्रतटीय आबहवा का लाभ उठाते हुए अपने बिगड़े स्वास्थ्य को सुधारने के लिए सहज सुविधा के साथ यहाँ ठहर सकें। आपकी यह योजना शुरू हो चुकी थी और लोगों ने उसमें इसी उद्देश्य से आना शुरू कर दिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होते ही वह कोठी सरकार ने अपने संरक्षण में ले ली और इस प्रकार आपकी यह विशद योजना खटाई में पड़ गयी। यह आरोग्य-भवन पुरी में लगभग सन् १९३२ में स्थापित किया गया था।"

राजनीतिक क्षेत्र में सौम्य-मृदु व्यक्तित्व

[४६]

सूरजमल जी के इन संस्मरणों को देखकर यह अनुभूति होने लगती है कि उन्होंने अपने जीवन-चक्र को उस तरह घुमाना शुरू कर दिया था, जिस तरह वायुचालित प्रवेग के बलपर कुओं से पानी खींचनेवाला चक्र घूमा करता है; जिधर हवा बहती है, उधर ही वह शक्ति ग्रहण करने लगता है। वे केवल दान देने में ही विश्वास न करते थे, वे ऐसी संस्थाओं के निर्माण में दान देते थे, जिनका स्थायी उपयोग और सदुद्देश्य स्थापित हो रहा हो। पर वे एक और भी दान देने का आयोजन कर रहे थे और यह दान था राजनीतिक क्षेत्र में। इस समय तक राजनीतिक क्षेत्रों में देश के प्रायः सभी प्रसिद्ध उद्योग-पतियों ने और धनिकों ने गांधीजी की कांग्रेस के पक्ष में आर्थिक सौजन्य प्रदान करना शुरू कर दिया था। पर सूरजमल जी ने इस पंक्ति में अपना उचित कृतित्व प्रस्तुत करते हुए देशी राज्यों की राजनीति में भी सौम्य भाव से हाथ डालना शुरू कर दिया। बीकानेर में राजनीतिक दृष्टि से एक अंधकार छाया हुआ था। सन् १९२१ से ही समाचारपत्रों में इस आशय के समाचार छपने लगे थे। यहाँ पर हम दो समाचार नमूने के देकर, पहले उनका सही रूप अवलोकन कर लें :

बीकानेर में अन्धेर

"हाल में सुप्रसिद्ध असहयोगी नेता तथा अ० भा० मा० अ० महासभा के जन्मदाता श्रीमान् सेठ जमनालाल बजाज, श्रीयुक्त कुंवर चांदकरण शारदा और पं० गौरीशंकरजी भार्गव को शेखावाटी प्रान्त से बलपूर्वक बहिष्कृत कर बीकानेर नरेश की स्वेच्छाचारिणी सरकार ने जो अनुचित कार्य किया है, उससे केवल राजपूताना ही नहीं; वरन् समस्त भारतवर्ष के अधिवासी चकित, स्तम्भित और विचलित हुए हैं।

"राजपूतानावासियों को चाहिये कि वे जगह-जगह सभायें कर सम्मिलित स्वर से बीकानेर नरेश की इस निन्दनीय स्वेच्छा-चारिता का घोर प्रतिवाद करें और इसके प्रतिकार में शान्ति पूर्ण आन्दोलन द्वारा बीकानेर ही नहीं, वरन् तमाम राजस्थान में सुदर्शन-चक्र रूपी चर्खा चला, कर्घो पर बुने हुए पवित्र खद्दर का प्रचार करने में लग जायें, जिसमें बीकानेर नृपति के भी समझ में आ जाय कि प्रजा-शक्ति अपने दृढ़ निश्चय द्वारा किस तरह स्वेच्छाचारिता, दमनकारिता और एकछत्रता को भस्मीभूत कर सकती है[१]।"

दूसरा संपादकीय 'मारवाड़ी-सुधार' का है। वह इससे भी अधिक दिशा-बोधक है—

बीकानेर राज्य में ऐसा घोर अन्याय

"पाठकों को समाचार-पत्रों से मालूम हुआ होगा कि देशभक्त सेठ जमनालाल जी बजाज, कुंवर चांदकरण शारदा और पं० गौरीशंकर भार्गव राजपूताने में सेवा-समितियों का संगठन, स्वदेशी-वस्त्र प्रचार, मद्य-पान-निषेध और चर्खा प्रचार करने के लिये भ्रमण कर रहे थे। बिसाऊ, फतेहपुर, सीकर, रामगढ़, लक्ष्मणगढ़, रतनगढ़ और सुजानगढ़ आदि प्रधान-प्रधान स्थानों में इन महाशयों ने पहुँच कर अपने कार्यक्रम के अनुसार काम किये हैं और स्वतंत्रता

१ संपादकीय, सचित्र मारवाड़ी अग्रवाल, दीवाली विशेषांक, संवत् १९७८, सन् १९२१ पृष्ठ संख्या ३८ और ३९ से। सम्पादक श्री राधाकृष्ण नेवटिया।

तथा जागृति का सच्चा सन्देश सुनाने में सफलता भी प्राप्त की है। किन्तु, अत्यन्त दुःख का विषय है कि देशी रियासतें अंग्रेजों को यह कहकर हँसने का मौका दे रही हैं कि 'देशी राज्य से अंग्रेजी राज्य कहीं अच्छा है'। देशी राज्य में जहाँ अमन का चमन होना चाहिये, वहाँ दमन का दौर-दौरा है! रतनगढ़ स्टेशन पर पंडित जी, शारदाजी और सेठजी का जैसा अनौचित्य पूर्ण अपमान किया गया है, वह अपमान भारतवर्ष की सीमा के अन्दर कदापि सहने योग्य नहीं है। साम्राज्य-परिषद् में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित होने वाले बीकानेर नरेश की अमलदारी में भला इतना निन्दनीय अत्याचार? मारवाड़ियो! तुम्हारी जाति को अपने जन्म से धन्य बनानेवाले सेठ जमनालाल जी बजाज पर जहाँ रोष के साथ पशु-बल प्रयोग किया गया, जहाँ उनके साथियों को धक्के देकर असमर्थ कर दिया गया, जहाँ उनको रेल पर यात्रा करने की आज्ञा तक नहीं दी गई, जहाँ गाड़ी में (सुजानगढ़ स्टेशन पर) उनके पास अन्न-जल भी नहीं पहुँचने दिया गया और जहाँ उनकी सेवा एवं स्वागत के लिये लालायित जनता का उत्साह मर्दित कर दिया गया, वहाँ क्या तुम्हारा कुछ भी स्तत्वाधिकार नहीं है? क्या तुम अपने ही घर में अपमानित होकर चुप रह जाना चाहते हो? तुम्हारी अतुलनीय सम्पत्ति किस दिन के लिये है? आज तुममें जातीय गौरव का भाव क्यों नहीं जाग उठता? यदि तुममें योग्यता है, तुममें कुछ शक्ति है, यदि तुममें जात्याभिमान है तो इसी आन पर मिट जाने में तुम्हारी बड़ाई है। बाहर का अपमान दिल में कांटे की तरह चुभता है, मगर अपने घर में जो अपमान होता है, वह हृदय में भयंकर ज्वाला पैदा कर देता है। क्या तुम उसी ज्वाला में जलना चाहते हो? यदि नहीं तो अपने 'धर्मावतार अन्नदाता' को अपनी शक्ति का परिचय करा दो और इस बात का ज्ञान भी कि "असहयोग की अनन्त शक्ति आंधी ने जब ब्रिटिश साम्राज्य के समान विराट वृक्ष को जड़ से हिला दिया है, तब बीकानेर किस लेखे में है।" इतना समझ लो कि जनता की छाती पर सवार होकर कोई स्वेच्छाचारिणी शक्ति अब मुस्करा नहीं सकती।

"शायद श्रीमान् बीकानेर नरेश को जवाबी(?) तार दिया गया है और उनसे सन्तोषजनक उत्तर पाने की आशा भी जा की रही है। किन्तु, मुझे तो उनसे भी न्याय की आशा बहुत कम है। वे सुधार-स्कीम के समर्थक हैं, इसलिए उनसे न्याय की आशा की जा सकती है, यह धारणा भी निर्मूल साबित होगी। जिस राजा की प्रजावत्सलता अपने अधिकारियों पर आतंकपूर्ण प्रभाव नहीं जमा सकती, वह वास्तव में 'राजा' शब्द को व्यर्थ कलंकित करता है। भारत के पुराने प्रजारंजक राजे-महाराजे लोक-रंजन का आदर्श स्थापित कर गये हैं। मेरा विश्वास है कि श्रीमान् बीकानेर नरेश उस आदर्श के प्रतिपालक होंगे। किन्तु जब तक अपने अभ्यस्त अधिकारियों के अत्याचार की निंदा करते हुए उनको अपने संगत-निर्णय का फल न चखावेंगे, तब तक मारवाड़ियों को उन्हें 'अन्न दाता' समझने का कुछ सुख नहीं मिलेगा। लोकप्रिय होनेका इससे अच्छा अवसर उनको मिल नहीं सकता।"[1]

बीकानेर की इस राजनीति से स्वामी गोपालदासजी और स्वामी गणपतिदास जी ने चूरू में काफी लोहा लिया है। यहाँ पर हम उन संस्मरणों को अब ले लें, जो इस बीकानेरी राजनीति से संबंधित हैं और जिनके संदर्भ में सूरजमल जी का व्यक्तित्व अद्भुत रूप से सौम्य और मृदु प्रकट होता है। गणपतिदास जी ने हमें सुनाया, "बीकानेर राज्य में रुस्तमजी, अंग्रेजी साहब रुड़किन और कुछ सरदार स्वामी गोपालदास जी का पक्ष लेते थे। बात यह थी कि वे उनके सेवाभावी व्यक्तित्व से प्रभावित थे, एक निष्ठा और श्रद्धा भी उनके प्रति रखते थे। मंत्रिमंडल में भी उनके विरुद्ध कोई शिकायत गुप्तचर विभाग की तरफ से जाती थी, तो उसे बदल दिया करते थे। किन्तु यह सारा दृश्य मांधाता जी के दीवान बनते ही बदल गया। उन्होंने अब चूरू का तहसीलदार और नाजिम भी बदल दिया। यह सही है कि हमने चूरू में कांग्रेस के सदस्य बनना शुरू कर दिया था। जब हरिभाऊ जी उपाध्याय चूरू आये तो उनका आगमन कानून-विरुद्ध था, लेकिन वे आये और स्वामी जी के अतिथि बनकर मंदिर में ही ठहरे। उधर जमनालाल जी बजाज रामगढ़ गये हुए थे। मैं उन्हें चूरू में आने के लिए निमंत्रण देने स्वामी जीकी आज्ञा से रामगढ़ चला गया। ऊँट पर चलते हुए वहाँ पहुँचा था। दूसरे दिन गुप्तचर विभाग की सूचना पाकर बीकानेर से चूरू राज्य-पुलिस आ गयी। इस तरह अवस्था खराब होती गयी। पुलिस सुपरिंटेंडेंट हिम्मतसिंह जी स्वामी जी के भक्त थे और उनकी लाचारी यह थी कि अन्य अधिकारी स्वाभाव के खराब थे। उनके ही दुराग्रह थे कि चूरू में जमनालाल जी बजाज न आने पावें। हमसे कहा गया कि बजाज जी का स्वागत मत करो। हम भला कैसे इसे स्वीकार कर लेते। इसी बात पर खटक गयी। जमनालाल जी जरूर सुबह दूसरे दिन आ गए। हमने उनका स्वागत किया। हाँ, सभा न होने पाई पर बाजार में भीड़ का हंगामा होता रहा। हमने उन्हें भोजन कराकर रेलमें सवार करा दिया। उनके आगमन से जो जागृति अपेक्षित थी, वह हुई और यही हम सबको प्रिय था। इसके बाद सर्वहितकारिणी सभा के मकान का उद्घाटन हो, इसके उपलक्ष में एक विशाल आयोजन किया जाना तय हुआ। रामगढ़, फतहपुर, लक्ष्मणगढ़, अलसीसर, मलसीसर, चिड़ावा, तथा अन्य शहरों के राष्ट्रकर्मियों को भी इस अवसर पर बुलाया गया और विषय रखा कि इस बीकानेर राज्य में किस तरह राजनीतिक सुधार संभव हो सकते हैं। इसी अवसर पर अर्जुनलाल जी सेठी, चांदकरण जी

---

१ 'मारवाड़ी सुधार', कार्तिक १९७८ वि० वर्ष : १, अंक : ८, पृष्ट : १७७—१९८।
—सम्पादकीय से।

शारदा, स्वामी नृसिंह जी देव को भी निमंत्रित किया गया। चार दिन तक अधिवेशन होता रहा। बड़ी चहलपहल रही। भाषणों के अंतर्गत कुछ अनर्गल बातें भी हुई, जैसा कि उस युग में प्राय: हुआ करता था। कहा गया :

राजा हो या रानी, नहीं चलेगी मनमानी।

पर भविष्य ने सिद्ध कर दिया कि इस तरह की भविष्य-वाणियाँ अनर्गल नहीं रहीं, सत्य ही सिद्ध हुई। दूसरे दिन निमंत्रित व्यक्ति तो चले गये और हम लोग राज्य का प्रकोप सहने के लिए बचे रह गये। बस, तीसरे दिन ही बीकानेर से मंत्रिमंडल के सात सदस्य आ पहुँचे सदल बल। एक सनसनी सी शहर में व्याप्त हो गयी। पर हम तो इस सबके लिए पहले से तैयार थे। स्वामी जी का व्यक्तित्व ऐसे ही क्षणों में देखते बनता था। वे साहस की सजीव प्रतिमूर्ति थे। केबिनेट के लोगों ने हमारा बयान लिया। पहले मेरा बयान लिया गया, फिर रात भर स्वामी जी के साथ बहस-मुबाहसा चलता रहा। मंदिर में तिलक और लाजपतराय के फोटो टंगे हुए थे, उस पर काफी एतराज किया गया।

"अभी यह गरमागरमी चल ही रही थी कि सन् १९२७ में कुंभ समय स्वामी जी हरिद्वार चले गये और हम लोगों ने पीछे से निर्णय कर लिया कि झंडा-दिवस के दिन कांग्रेस का झंडा लगाएँ। सरकंडा ले आये, दो तीन रंगों के कपड़े फाड़ कर तिरंगा झंडा बना लिया, कीकर के कांटों से उसे सरकंडे पर जड़ दिया और झंडा फहराया गया। घनश्यामदास जी पोद्दार ने यह प्रस्ताव रखा था। इसी कुंभ में सूरजमल जी भी गये थे और वहाँ पर जो सेवा-कैम्प लगा था, उसमें सूरजमल जी ने काफी सहयोग दिया था। झंडा लगाकर हमलोग भी कुंभ के लिए रवाना हो गए। पीछे से बड़ा हंगामा हुआ। बीकानेर की पुलिस आ गयी। स्वयं बीकानेर महाराजा भी आये और क्रोध में बोले कि मैं देख लूंगा, कौन गांधी जी के चेले हैं। सब सुनकर स्वामी जी ने वापसी में हमें तो दिल्ली छोड़ दिया और वे स्वयं अकेले ही चूरू गये। वहाँ देखा कि बड़ा मंदिर जब्त हो चुका था, पुलिस ने उसे अपने अधिकार में कर लिया था। एक महीना जब्त रहा, पर मनु भाई ने आकर उसे खुलवा दिया। यह मामला कुछ इस तरह शान्त हुआ ही था कि बीकानेर राज्य ने बीकानेर नहर के निर्माण के सिलसिले में जकात लगा दी। स्वामी जीने इसका विरोध किया। चांदनमल बहड़, सेवग, मास्टर लिछमीनारायण, खूबराम सराफ[1] आदि को सजाएँ हुई। स्वामी जी भी इसी सिलसिले में बीकानेर की जेल में बन्द कर दिये गये।"

सूरजमल जी को जब पता चला कि स्वामी जी गिरफ्तार हो गये हैं, तो वे बहुत विचलित हो गये। प्रश्न था कि कौन वहाँ जाकर उनसे बीकानेर जेल में मिले। राज्य के निवासी तो वैसे ही बीकानेर राज्य की दमन-नीति की शक्ति से आतंकित थे। किन्तु सूरजमल जी ने इस आतंक को अपने दिमाग से उतार दिया और निश्चय किया कि बीकानेर चलेंगे। जिसने सुना, वह इस समाचार से स्तंभित हो गया। लेकिन निर्भय भाव से सूरजमल जी कलकत्ता से बीकानेर के लिए चल दिये।

इस अवसर पर श्री सत्यनारायण जी सराफ भी जेल में स्वामी जी के सहयात्री थे। उन्होंने इस अवसर के मार्मिक प्रसंग अपनी लेखनी से इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

"I had practised for barely 3 *months in the year* 1931 in the Law Courts of Ratangarh, when my sorjourn there was interrupted by my arrest on the night of 13th January, 1932. All along this period of my residence at Ratangarh, Seth Surajmal Jalan did not find opportunity to visit his home-town. So during this time no occasion came to me to have a face to face talk or even to look at him. But as an ancient Greek philosopher has said "To know a man look around him" and Ratangarh was just the place and my brief stay at Ratangarh did give me ample time to have a look around him.

"And while looking around, what did I find ? I found that he was a great philanthrophist who had drunk deep the milk of human kindness, hundreds of poor families were living in the houses and havelis donated by him to them and thousands of penury stricken helpless and aged persons were supplied by him with quilts and blankets to protect them from the winter chill. Foodgrains and other alms were also distributed regularly among the needy.

"He ran water-works that supplied free water to the townsmen and a palacial building erected by him housed the public-library and reading-room, the entire expenses of which were met by him. He was also financing schools for the children of his town and had built a few temples.

"His charities began from home and in the fullness of time became widespread ; he generously helped Swami Gopaldas of Churu, a hero of Bikaner Sedition and Conspiracy case, to reclaim land from

---

१ खूबरामजी मास्टर के थे और एक आंख उनकी खराब थी। उन्हें बुलाकर महाराज गंगा सिंह जी, बीकानेर नरेश ने कहा था, "काणा, तू के समझे है। मैं यो राज तलवार के जोर से लियो है।"

सरदार पटेल ने इस तलवार का जोर ऐसा निकाला कि न केवल बीकानेर बल्कि सारे राजस्थान की रियासतों की दुहरी गुलामी समाप्त हो गयी।

dreary sandy dunes and got vast acres converted into pasture lands for the cows.

"When he first left his hometown Ratangarh like a *Pilgrim Father*, he did so in utter poverty. I do not claim to know the processes he started to make him the first and the last Marwari billionaire, but as fortune started smiling more and more upon him his kinship with the poor and havenots became more and more apparent, the entire town of Ratangarh was furnishing the evidence of this character and of his love for the wretched, storm-tossed, poverty-afflicted and destitute persons.

"In 1934 he came to visit Swami Gopal Das a co-convict with us in Bikaner Jail and though the rest of us had no acquaintances with him, he persisted to see all of us and then we were a batch of five political prisoners in the Jail and when we in our cells were told that Seth Surajmalji had come and was waiting to see us all, we all felt astonished. We were the first political prisoners and in the case against us Maharajah Bikaner was personally taking great interest and the impression had been going strong in the state that whosoever would dare be friendly to us, would merit the odeium of the Great Autocrat as Maharajah Sri Sir Ganga Singhji was then known to be. So strong had this impression gained ground throughout the length and breadth of the State that none dared to seek an interview with us and the very announcement that Seth Surajmalji had come to see us in disregard of the wishes of the ruler of the State made me to form an opinion that he must be a brave man. Soon we all five of us were in his presence and that was the first and the last time that I looked at him. He lacked all air of riches, looked sublimely simple and soft like a butter-ball. I felt about him in the words of an American poet :

"The colour of the ground was in him,
the red earth
The smack and tang of elemental things".

He talked with us with the warmth of a kindred soul as if he had known us since long—nothing formal with him. He indicated as if all human beings were part of him and while he was talking to us, he saw jail-food being served to the convicts. The quality of the food upset him and when in answer to a query of his, he was told that this was the food and it had known no variations in the case of these prisoners, a short of pity took hold of him and he at once proposed to the Jail Superintendent to allow him to provide a meal to the convicts and his this request was accepted after consultation with the Jail Minister upon phone, he became happy and the next day evening saw the six hundred convicts of the Bikaner Jail being given a sumptous dinner. It pleased him that thereby he broke at any rate one dreadful monotony. Such was he."

सूरजमल जी के कुछ बोलते पत्र

[४७]

त-विक्षत राजनीति के संदर्भ हमारे देश में रक्त से सने हुए हैं। अत्याचार-पीड़न से लिप्त रहे हैं और, और निरंकुश शोषण से बोझिल रहे हैं। किन्तु इसी अनुपात में शोषित-पीड़ितों को हार्दिक सम्वेदना और मानसिक राहत और सहानुभूति पूर्ण आश्वासन देनेवालों की पंक्ति भी कभी रिक्त नहीं हुई है। ब्रिटिश भारत की राजनीति में सहस्र-सहस्र वैश्यों ने स्वातंत्र्य-आंदोलन की पिछली पंक्ति में खड़े होकर संघर्ष से जूझते हुए राष्ट्रकर्मियों की अनेक रुपाय रक्षा की है। देशी रियासतों में भी ऐसे वैश्यों की कमी नहीं रही है। सूरजमलजी जालान देशीय रजवाड़ों की राजनीति से और उनके दांभिक आचार-विचारों से कभी संतुष्ट नहीं रहे, पर उस का उन्मूलन उनका कार्य नहीं था : हाँ, वे उस कार्य की युगीन महत्ता को अवश्य समझते थे, इसीलिए बीकानेर में निर्भय भाव से उपस्थित हुए थे।

सूरजमल जी के विचारों से सुस्पष्ट परिचय प्राप्त करने का एक उपाय उनके वे पत्र हैं—जो वे नियमित रूप से प्रतिदिन स्वयं लिखते थे और दूसरों से लिखवाते थे। हमारी एक मोटी धारणा के अनुसार उन्होंने जीवन में १००० से ऊपर ऐसे पत्र अवश्य लिखे-लिखवाये, जिनमें उनका जीवन-दर्शन परिलक्षित होता है। यहाँ पर हम कुछ गिने-चुने पत्र इसी सुदुद्देश्य से प्रस्तुत कर रहे हैं।

पौष सुदी १५, सं० १९९१

पं०सूरजमल जी सेती सूरजमल का रामराम वंचना वर्तमान सेती और चिठी थारी आयी समाचार लिखा सो निगह करा और रात्रि पाठशाला तथा ग्रामीण पाठशाला की रिपोर्ट छपवा लेयो छप्योडी रिपोर्ट होने सेती रिपोर्ट लिखने वाले ने तथा देखने वाले ने सुभीतो रहवे सो छपाय लेयो और पिंजरापोल तथा रघुनाथ विद्यालय तथा सहायक समिति की नियमावली फिर से होय गयी होवै तो जल्दी भेज देयो सो अठै कमेटी मांय पास कराने की चेष्टा करी जावै सोई जानियो और ग्रामीण पाठशाला भोजसर तथा रतनासर खोली मांडी सोइ ठीक छ और कठै कठै खोली सोइ मांडियो और लाछडसर की पाठशाला की ठीक होय गयी होवेगी मांडियो और रोसावा की पाठशाला की लिखी सो हमारे तो कम जंची है बाबू शिवचन्द्रराय जी सेती बात होय गयी थी सो उनासूं फिरूँ सलाह कर लेयो और सालासर की पाठशाला के बारे में मांड्या सो ठीक छ उठै किस माफिक कांई कांई पढ़ाई की दरकार छ सो एक बार सालासर जायकर सगली निगै करनी चाहिए जिकै ऊपर विचारो जावे सो जानियो सलेट रांची से आगई होवेगी नहीं तो रतनगढ़ मायं ले लेयो पीछे केरांची से आवेगी जिकी काम आजावेगी पंडित सूरजमल जी पाना दूजे की निगै करियो ।

चिठी हमारे हेली की आयी छ जिके मायं मांडचो छो रात्रि पाठशाला मायं सरदी के कारण सेती लड़का कमती होया मांडा छ सो कांई बात छ मांडियो तथा पढ़ाई को बन्दोबस्त सगलो ठीक साथ होय गयो होवेगो तथा पढ़ाई बालिका विद्यालय मायीं एक जगह होवै छ की दोनों जगह होवै छ जिकी मांडियो और बालिका विद्यालय में रात्रि पाठशाला जाने से हिन्डा इत्यादि क बारे में मांडचो सो ठीक छ हमारे भी इस माफिक ही जंचै छ दीवाल एक पेशाव घर के सामने होयोड़ी छ जिकी नै फुट१।२ ऊँची कराय कर लम्बी पोद्दारा के नोरे तांइ ले जानी चाहिए एक रस्तो बीच में फुट ३ को लगाय देनो चाहिये काठ के काम की हमारे जंची नहीं सोइ दीवाल होइ जावैगी और बिजली को सामान दिल्ली सेती आय गयो होसी हाथ को हाथ फिट करा लेयो और रात्रि पाठशाला की ग्रामीण पाठशाला की रिपोर्ट हफते की हफते भिजवाया करो भूलोगा नहीं और हेली की चिठी माय मांडचो छै ये पाबूसर गया था सो पाबूसरकी कांई रकम बात छ और कठैकठै गया था जिकी मांडियो चिठी सारा समाचार की बराबर पाछी दिया करियो हमारी चिठी देरी से पहुँचे तो कोई विचार करियो मत ना ।

माह बदी १४ सं० १९९१

आपकी रजिस्टरी चिठी २७।१।३५ की दियोडी आयी ग्रामीण पाठशाला तथा रात्रि पाठशाला की रिपोर्ट बनाय कर भेजने की लिखी सो जल्दी भेज देयो सो छपाय कर भेज देवांगा और पिंजरापोल की नियमावली भेजी सो पूंच गयी छ रघुनाथ विद्यालय तथा सहायक समिति की भी सागरमल जी तथा ओंकारमल जी स्यूं सलाह करकर जल्दी भेज देयो सोइ अठे कमेटी करा कर पास कराने की चेष्टा करी जावे और ग्रामीण पाठशाला लाछडसर रसावां खोली लिखी सो ठीक छ और सालासर जाय कर निगह करने की लिखी सो ठीक छ जरूर जायकर निगै कर लेनी चाहिये जरूरत होवे तो वठे जरूर खोलने की चेष्टा करनी चाहिए वणिका तथा हिन्दी तो छ ही बाकी संस्कृत की जरूरत होवै तो उसकी भी इन्तजाम करने की चेष्टा करी जावे सो सारी निगै कर लेयो और रात्रि पाठशाला के बाबत लिख्यो सो निगै कर्यो इब सीत होय गयी होसी तथा रोसनीको बन्दोबस्त भी चोखी तरं होय गयो होसी जिससे लड़का जरूर वढचा होवैगा नहीं तो चेष्टा करबो करियो चेष्टा करने सेती जरूर उद्योग जरूर सफल होवैगो और पुस्तकालय के ऊपर के होल में कोई नहीं आने की वजह से रामसुख जी गुरू बन्द होय गया मांडचा सो ठीक छ हमारी समझ मायं तो इसकी भी चेष्टा पूरी तौर सूं करी जावै पहला तो कई एक आदमियां की सिफारिश आयी थी सो फेरूँ चेष्टा करनी चाहिये **उपकार को काम छ चेष्टा करने से जरूर सफल होवैगा** और रात्रि पाठशाला तथा ग्रामीण पाठशाला की रिपोर्ट भेजी सो निगै करी हुडेरे में इब बहुत कम लड़का है सो गांव वाला लड़का बढ़ावेगा नहीं तो गांव वालांने कहि देनो चाइजे कि लड़का नहीं वढेगा तो पाठशाला उठ जावैगी हमारी राय में तो ग्रामीण पाठशाला में कठेई कये मूजब तथा फेरूँ भी लड़का नहीं वढ़ै तो १।२ जगह पाठशाला उठाय कर दूसरी जगह खोला देनी चाहिजे जिके सूं लोग के भय रेवै नहीं तो कोई जगह पाठशाला में लड़का नहीं होवेगा बाबू शिवचन्द्रराय जी से सलाह करकर जरूर चेष्टा करनी चाइजे और **हमारी चिठी देरी सेती पूंचै तो ख्याल नहीं करनो चाहिये आपकी चिठी बराबर हफ्ते एक मांय जरूर आनी चाइजे जिके सूं सारी बात हमारी निगै में रवे** सो हफ्ते की हफ्ते जरूर चिठी दे दिया करो और रतनासर में लड़का बहुत है सो गांव वालांने कयो सो लड़का बढ़ावैगा तथा निगै करियो लड़का वढचा नहीं काई कारण छ और ग्रामीण पाठशाला की मासिक रिपोर्ट जरूर भेजनी चाहिए और बालिका विद्यालय के बिजली खरचे की चिठी देइ होवैगी नहीं तो जरूर देनी चाइजे ढील करनी चाहिए नहीं और ठाकर भूरसिंह जी की बारात की खातिरी बहुत चोखी होइ मांडी सो बहुत चोखी बात छ चिठी देयो समाचार सारा मांडियो।

वैशाख सुदी १० सं० १९९२.

चिठी आपकी आयी समाचार मांडचा सोइ निगै करा ग्रामीण पाठशाला की तथा रात्रि पाठशाला के लिये मांडचा सोई ठीक छ स्टेटसमैन छापो दिल्ली सेती भिजायो छ जिको आपकै कने पूंचतो ही होवैगो मांडियो रुपया बारह महीने का हमा अठै दे दिया छ सोई जानियो हुडेरो, नूवों, लाछडसर की पाठशाला की रिपोर्ट भेजी निगै करी पुस्तकालय को सोई काम बहुत अच्छी तरह करोगा चिठी पाछी देना । और हनुमान बालिका विद्यालय की नियमावली तुमा

नै भेजी है सो इसको देखकर कोई गलती हो तो ठीक कर देना इसमें २ बात जो नीचे लिखी है उसकी भी निगै कर लेना नियमावली ११ नम्बर में लिखा है ६ महीना और वार्षिक परीक्षा में पास होनेवाली बालिका को उच्चश्रेणी में चढ़ा दिया जायगा सो छ महीना होना चाहिए या १ वरस सो निगै कर कर लिखना और नियम **नम्बर ४० में सूरजारोटा का बरत है जिको शुद्ध नाम के होवैंगो सो निगै कर लिख्यो। तथा और कोई मात्रा की भूल हो सो निगै कर कर ठीक कर** हमानै फिरती भेज देना चिठी पाछी देना।

माघ वदी ११ सं० .१९९२

चिठी अनरजिस्टर्ड पारसल आपकी आई रिपोर्ट वगैरह भेजी सोई पुंच गयी छ रात्रि पाठशाला को काम ठीक चलतो मांड्यो आज कल जाड़े के कारण हाजिरी कुछ कमती मांडी सोई ठीक छ कोई अंटकी नहीं काम सुचारु रूप से होइवो करेगो तो हाजिरी फिरूं वढ़ जावैगी तथा काम की निगै मायं राखियो पेसेवार लोग कितना आवै छ जिका रिपोर्ट मायं न्यारा वाछना जिका सब न्यारा दर्ज रहना चाहिये सोइ निगै मायं रहिवो करे कछु पहला सेती बढ़ा होवैगा कितना आवै छ मांडियो मैट्रिक परीक्षा-रा ४ छात्र फार्म भरा सोइ ठीक छ पढ़ाई की चेष्टा राखियो हिन्दी पढ़ाई भी ठीक होती मांडी सोइ ठीक छ ग्रामिनी पाठशाला को काम ठीक ठीक हो तो मांड्यो लड़का कछु वढ़ता मांड्या सोइ ठीक है आपनै लिख्यो कि ४।५ जगह छोड़ कर ४० लड़का की संख्या होनी मुश्किल लिखी सोई ठीक है वाकी इव ३० लड़का सेती कमती होना चाहिये नहीं सोइ जहां ३० लड़का से कमती होवै वहाँ तगादो कर देनो चाहिये जिकै उपर भी नहीं वढ़ै तो १।२ स्कूल की हाजिरी भी वहुत कमती है तथा पढ़ाई भी संतोपजनक नहीं है वदल देनी चाहिए आप लिख्यो कि पाठशाला ३।४ जगह दूसरी दूसरी जगह है सो भी आवै नहीं पाठशाला एक कौड़े मांय खोली मांडी सोई ठीक है दूसरी-दूसरी जगह जियां ठीक समझो खोल देनी चाहिये वछरारो तथा दूलरासर की लिखापढ़ी होई मांडी सोइ ठीक छ जाना छां वठे भी पाठशाला खोल देयी होवेगी नहीं तो निगै राख कर खोलाय देयो वाकी अध्यापक अच्छो देखकर भेजनो चाहिये उपदेश भवन की कथा ठीक होती मांडी सोइ ठीक है ठीक ही होनी चाहिये कोई रकम की गलती नजर आवै तो लिखनो चाहिये धर्म की पाठ्य पुस्तकों के लिये जीतमल जीं से वात होयी मांडी सो ठीक है हमारे समझ में २ सेती ४ तांइ कथा होती है इसके बीच में वजे १२ सेती २ तांइ यो काम होतो रवै के अडांस है मांडोगा वाकी भाई सागरमलजी तथा शिवचन्दरायजी की इस में के सलाह है सो लिखोगा **हमारी समझ मायं तो या कारवाई भी अच्छी है आस्ते आस्ते लोगां की रुचि होय जावैगी।** पुस्तकालय के ऊपर के स्थान में स्त्रियों के उपदेश का तथा गीता सहस्रनाम धरम का ग्रन्थ पढ़ने के लिए एक उपदेशक की जरूरत के लिए आप लिखा कि यहाँ की स्त्रियां इसमें कुछ भाग ले मुश्किल सी मालुम होती हैं सो ठीक है **हमारे समझ मायं जो भी कराओ शुरू कराय दियो जावैगो तो आस्ते आस्ते लोगां की रुचि होती जावैगी** सोइ जरूर कोई अच्छी उमर को उपदेशक तथा अध्यापक वगैरह होवै तो जरूर निगै राखोगा वजे १२ सेती २ दोपहर मायं योही करा सकै तो करावो फजर मायं तो गिरस्थियां के रसोई पानी में काम रहतो है यो कराओ तो दोपहर में वजे १२ सेती २ वजे तक होइ सकता है सोइ जानना वालिका विद्यालय को काम ठीक होतो मांड्यो तथा हिन्डे की कार्रवाई ठीक कर दयी सोइ वहुत ठीक है एक अध्यापक तथा अध्यापिका की जरूरत लिखी सोइ ठीक है निगै राख कर जरूर ठीक करना गलती मांय नहीं रहनी चाहिये कारण लड़कियाँ १०० अन्दाज उपस्थिति होय गयी होसी कम से कम १ अध्यापक तो जरूर ही चाहिए सोइ निगै राख कर ठीक करोगा व्यायामशाला के लिए लिख्यो सोइ ठीक है आधुनिक व्यायाम में लोगां की रुचि लिखी सो तो आपको लिखनो ठीक है **वाकी हमारी समझ मायं तो आधुनिक व्यायाम मायं कुछ तन्त नहीं है हमारे घर का वालक भी आधुनिक व्यायाम करता कइ वरस हो गया उसमें अभी तक कुछ भी फल नहीं होयो इव थोड़ी बहुत पुराने ढंग की व्यायाम करने लाग्या है तो कुछ फायदो मालुम होतो है** वाकी टेनिस वगैरह तो कोई व्यायाम नहीं है यह तो सौखिया खेल है अलवत्ता वोलीवाल को खेल सरीर को फुरती देने वाला है तथा सरवसाधारण के काम का है टेनिस तो वहुत खरचीली होने की वजह से वड़ा आदमियां के लड़के ही खेल सकते हैं सरवसाधारण के लिए नहीं है सोइ जानना वाकी इस वखत दोनों ढंग पुराना तथा नया ढंग दोनों ही काम में लेना पड़ेगा जिस तराँ पुराना ढंग की उठ बैठ वगैरह नये ढंग की वोलीवाल वगैरह लेनी होवैगी सोइ एक अध्यापक की जरूर निगै-कर आपनै कुएँ के ऊपर वहुत जगह है सोइ पहले-पहले वठै ही शुरू करने की जंचै है सोइ कोई मास्टर निगै हो तो ठीक करोगा नहीं तो और चेष्टा करोगा श्री रघुनाथ विद्यालय के लड़के प्राय: सव ही खेलता लिखा सोइ ठीक है होनो ही चाहिये श्री रघुनाथ विद्यालय के हाई स्कूल के बारे में वीकानेर अजमेर आगरे स्यूं इन्सपेक्टर वगैरह आया सोइ ठीक है हाई स्कूल की मंजूरी आई गई होवेगी के खवर आयी मांडोगा। हुडेरे की ग्राम पाठशाला देखी सो ठीक है उनानै कोइ सम्मति लिख गया होवै तो उसकी नकल भेज देयो वीकानेर के असिस्टेंट डाइरेक्टर ने अच्छे ओवका, ग्राम के लिए लिखने के लिए लिखा सो ठीक है जरूर चेष्टा कर कर लिखा पढ़ी करनी चाहिये ग्राम्यपाठशाला रात्रि पाठशाला तथा हनुमान वालिका विद्यालय के विल की किताव तथा रिपोर्ट वगैरह की किताव छप गयी है शायद रतनगढ़ भेज भी दीनी होसी आप हेली में निगै कर लेना नहीं तो हमाँ फिरूं जल्दी भेजने को तगादा कर देवांगां सोइ जानना ग्राम्य पाठशाला के लिए पांतिया मंगाया सोइ भेजने की

कह देयी है जल्दी पूंन जावगा ज्ञानजी मंगल्यारो गींगजी सारस्वत के कुएँ तरफ के बारे में लिखा सोइ ठीक है हगां फागुन सुदी में आवांगा तब उसको विचार करांगा। **चिठी बड़ी होय गयी जिसके लिये लिखा सोइ ठीक है कोई हरज नहीं समाचार सब लिखना चाहिये हमको पढ़ने में कोई तकलीफ नहीं जितना समाचार वेसी होवैगा उतनो ही आनन्द आता है सोइ जानना।**

चैत वदी १४ सं० १९९२

चिठी आपकी कलकत्ता होयकर आयी समाचार मांड्या सोइ निगै किया पुस्तकालय का सूचीपत्र होता मांड्या सोइ ठीक छ निगै राख कर चेष्टा राखियो ढील मायं रेयो नहीं रात्रि पाठशाला के बारे में मांड्या सोइ निगै करी कोई बात नहीं बाकी आगीनै की ताईं थोड़ी निगैदारी राखियो बीच-बीच मायं जायकर संभाल करबोकरियो सो ठीक हो जावैगी व्याह सावे को काम तो निवड़ गयो छ जानाछां लड़का को हिसाब कछु बढ़यो होवैगो बाकी पेसावर लोगां की ही चेष्टा ज्यादा होना चाहिए **कारण रात्रि पाठशाला को असली उद्देश्य तो पेसावरी को ही छ सोइ ध्यान मायं राखियो तथा टाइम परिवर्तन करने की जंचे तो कर देनी चाहिये कारण इब तो दिन बड़ा होइ जावैंगा** सोइ जंचै जिस तरह रात के अनुसार टाइम करि देयो बाकी निगैदारी पूरी राखियो और ग्राम्य पाठशाला की बाबत मांड्या सोइ ठीक छ रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि कई एक ग्रामा मायं इस वक्त भी छात्र संख्या बहुत कम है जैसे पावूसर रतनासर जालेउ धुमान जनदेउ इत्यादि मायं सोइ हमारो कहनो इसो छ कि जिस जगह अब छात्र संख्या २० के भीतर ही हाजिरी रवै छ तथा वठे बरसात मायं तो नहीं के बराबर ही रवैगा जिकै सेती जठै जठै २० के भीतर इस वक्त हाजिरी छ उठै की पाठशाला बन्द कर-कर दूसरी जगह की मांग होवै तो दूसरी ही जगह कर देनी चाहिये नहीं तो ५-७ कमती होवैगी तो भी कोई बात नहीं बाकी खरचो लागे जठे काम तो पूरो होनो चाहिये नहीं तो फालतू खरचो लगाने सेती कोई फायदो नहीं हुडेरे में गुरू भेज दियो होवैगो उदेसर की पाठशाला को सामान आय गयो होवैगो नहीं हो तगादे से मंगाय लेवोगा और उपदेश भवन को काम ठीक होतो मांड्यो सोई ठीक है जाना छां व्याह सावे को काम तो नक्की होय गयो है इब श्रोता ज्यादा होय गया होसी बाकी ठीक तो रहेगा होली के मौके ऊपर अखण्ड कीर्तन होयो सो ठीक है पबलिक की इस विषय में के राय है मांडोगा बालिका विद्यालय की अध्यापिका के बारे में लिख्यो सोइ ठीक है हमारो तो इब भी योही ध्यान है कि कोई पुरुष अध्यापक ठीक होय जावै तो उसको ठीक करनो चाहिये हमाने हमारे सलकिया पाठशाला मायं तथा वैजनाथजी की पाठशाला मायं तो पुरुष अध्यापक कर दियो है कारण अध्यापिका की बराबर ही झंझट रहती है इसलिए हमारे समझ मायं तो चेष्टा कर कर पुरुष अध्यापक ही भरती करनो चाहिए। व्यायामशाला के लिए लिखा सो ठीक है वोलीवाल शुरू किया सो ठीक किस तरै चलता है लोगां की रुचि है बाकी इस वखत मौसम वोलीवोल की है नहीं वोलीवोल जाड़ों में चलती है गरमी में चलनो मुश्किल है बाकी कोई हरजो नहीं कैसा चलता है मांडोगा मैट्रिक का छात्र परीक्षा देने हिसार गया लिखा सो ठीक है कितना छात्र गया जिसका फल निकले तो लिखना सालासर पाठशाला की रिपोर्ट वगैरह भेजी सोइ निगै किया। बीच-बीच सालासार के रास्ते में जिस तरै गोभासर महणसर बड़ा-बड़ा गांव है वहां पर स्कूल नहीं होवै तो चेष्टा करनी चाहिये स्कूल होवै तो कोई दरकार नहीं ग्रामिनी स्कूल का इन्सपेक्शन करने की पूरी चेष्टा राखोगा। हमारो सरीर कुछ नरम रहतो है बाकी कुछ ठीक है जल्दी ठीक होने सैं रतनगढ़ आने को विचार है बाकी अन्नजल होवैगो सो काम आवैगो। मासिक रिपोर्ट आने से चिठी एक देनी इस तरै महीने १ मायं चिठी २ होने सेती बहुत ठीक रवै सोई चिठी २ देने की कोशिश करोगा।

वैसाख सुदी ५ सं० १९९३

पुस्तकालय की मासिक रिपोर्ट तथा वार्षिक रिपोर्ट भेजी सोइ निगै करी। वार्षिक रिपोर्ट मायं पुस्तकालय में हिन्दी तथा संस्कृत की पुस्तक ११७०० अंग्रेजी इत्यादि की १६७ पुस्तक लिखी ईसके अलावा पत्रिका फाइल १००० अन्दाज मांड्या सोइ ठीक है मासिक पत्र ११७०० मायं सामिल है अथवा उसके अलावा है मांडियो! हमारी समझ मायं तो पुस्तक ११७०० सेती अलावा दिखैं छ सोई फिरं निगै करके मांडियो सोइ निगै रवै! मेम्बरां के विषय मायं मांड्या सो हमारी समझ मायं तो मेम्बर तो कमती ही होता जावेगा कारण पुस्तकां को मोकली जगह मिलै छ जना मेम्बर को इसी कोइ जरूरत भी छ नहीं **सोइ मेम्बरांन फीस बिलकुल उठाय देयी जावै तो इसमें आपकी के राय छ** मांडियो। पुस्तकां की सूचीपत्र छपाने की बहुत जरूरत छ तो इसकी पूरी तौर से ध्यान मायं राखनी चाहिए। पुस्तकालय में समाचार पत्र राखने की आलमारी होती मांडी सोइ ठीक छ जाना छां तैयार होय गयी होवैगी। पुस्तकालय मायं दिखनादी तरफ परींडे के ऊपर दुछत्ती छ जिकी मायं भी कोई टांडीयो वगैरह दियाने की बात होई छी जिकी दियाय लेयो कारण उसमायं भी जिनस पत्तर रखने मायं सुभिस्तो रवैगो सोई जानियो। आजकल पत्र तथा साप्ताहिक पत्र वगैरह कठै राख्या जावै छै मांडणां आगे हमारी पुरानी हेली मायं राखता वठे ही राखो छो कि दूसरी जगह मांडियो। बालिका विद्यालय की मासिक रिपोर्ट भेजी सोई ठीक है उसकी परीक्षा होने की बात थी जिकी होय गयी होवैगी किसोक रिजल्ट निकल्यो सोइ मांडियो। ग्रामीण पाठशाला की रिपोर्ट भेजी सोइ निगै करी। श्री सालासर की पाठशाला को काम ठीक होतो मांड्यो सो बहुत ठीक है बाकी एक सज्जन श्री सालासरजी जायकर आयो जिको कवै छो कि सालासरजी

मायं संस्कृत की पढ़ाई की ज्यादा जरूरत है अंग्रेजी की इसी ज्यादा जरूरत है नहीं तथा आपकी पाठशाला मायं संस्कृत की पढ़ाई को पूरो बंदोबस्त छ नहीं सोई उनको कहनो एक रकम तो ठीक ही है कारण सालासरजी मायं संस्कृत की पढ़ाई ज्यादा होनी चाहिये सोइ निगै करियो किस तरा करनी चाहिए। आप लिख्यो कि पुस्तकालय में बाहर का सज्जन जो आवै है उनको आपने सरब काम की नियमावली देयी जावै है तथा उनने समझाई भी जावै है इस माफिक काम होता है सो ठीक है हमारी समझ मायं नियमावली देवे जिन मायं तो कोई अटकी नहीं **नियमावली सेती आगलो पूछै जिकी बात तो बताने मायं कोई हरजो नहीं बाकी आगले कै बिना पूछे आपनी तरफ सूं बढ़ाय चढ़ाय कर बात कहने से सोहनी लागे नहीं सोइ निगै कर लेना।** हमारो सरीर इब पहले से तो ठीक है थोड़ो पग मायं दरद है सो दवाई को साधन कर रया हां जल्दी ठीक होय जावैगा सोइ जानना हमारो भी देश आने को बहुत ध्यान है बाकी इब तो सावन ताई आनो दीखै है सोइ जानियो चीठी पाछी दीयो।

देवघर, आषाढ़ वदी ३ सं० १९९३

चिठी तथा रिपोर्ट आपकी आयी छी बीच मायं दिन १५ हमां कलकत्ते चले गया छा तथा कलकत्ते जायकर हमारो सरीर ठीक रयो नहीं जिके स्यूं जवाब देना सक्या नहीं इब हमां कल दिन पाछा अठै आइ गया छां सोइ जानियो ! आमिनी रिपोर्ट भेजी जिकी निगै करी बाकी बहुत-सी रिपोर्ट आयी नहीं जना पूरो ब्यौरो पड़े नहीं सोइ महीने की महीने रिपोर्ट चुकती आनी चाहिए सोइ निगै रवे ! बालिका विद्यालय की प्रधान अध्यापिका आयी मांड्यी तथा अणची अध्यापिका को लड़को बरस १८-१९ को चलतो रह्यो मांड्यो सोइ चीठी बांच कर बहुत चिन्ता हुयी कछु लिख्यो जावै नहीं बाकी ईश्वर की मरजी हो सो काम आवै इब अणची आन लागी की नहीं मांडियो **हमारी समझ मायं तो ठाली रहने सेती चिन्ता ज्यादा रवैगी इस सेती तो टाबरां नै पढ़ाने से ही चिन्ता कमती होवैगी सोइ उसने समझाय कर काम पर लगाय देनी चाहिये।**

देवघर कातिक वदी ५ सं० १९९३

चिठी आपकी कलकत्ता आयी छी बाकी हमां अठै आय गया जना जवाब देने मायं देरी होयी सो जानियो ! श्री रघुनाथ विद्यालय की तरफ सूं एजूकेशन को आयोजन होयो मांड्यो जी का समाचार सारा मांड्या सो निगै करा ! बीकानेर में फाइनल को के रिजल्ट होयो सो मांड्णां रतनगढ़ सूं कितना छात्र गया छा तथा कांई पुरस्कार मिल्यो सो सब लिखोगा ! रिपोर्ट वगैरह भेजी सो निगै करी पुस्तकालय की रिपोर्ट भेजी सोई निग करी खरचो इस महीने में कछु ज्यादा लाग्यो है बाकी जानां हां फिरूं इतनो नहीं लागेगो। भोजासर में लड़का बहुत कमती है तथा हाजिरी १५ की लिखी हुई है उपस्थिति ८ की है यह बात और भी आती नहीं है सो इसको ठीक करनी चाहिए राजसर की पाठशाला नयी स्थापित होई है इसलिए उसके विषय में अभी कुछ लिखनो ठीक नहीं २-४ महीना में सब देख लीयो जावेगो ? बाकी यह ग्राम बहुत दूर है इसलिए इसकी संभाल होनी बहुत मुश्किल है लेकिन थोड़ा दिन देखने से सब मालुम हो जावेगा। **बछरारे की पाठशाला में लड़कियां पढ़ती लिखी सो ठीक है, आपणो इसमें कोई हरजो नहीं है जिसे उन लोगां को विश्वास है उसी माफिक करनो चाहिए।** जालेऊ की पाठशाला की उपस्थिति बराबर ही कमती देखी जावे है इसको चिठी बांचते के साथ उठा देनी चाहिए जिस पाठशाला में बराबर उपस्थिति नहीं होती हो बार बार उनको चेतावनी दी जाती है उस पर भी ७-८ लड़का से बेसी उपस्थिति नहीं होती है इसलिए उसको राखने सूं कोई भी फायदो नहीं है सो इसको चिठी पहुँचते के साथ उठाय देनी चाहिए। और और पाठशाला की ही एक रकम ठीक है बाकी और नयी पाठशाला जहां पर अच्छी बस्ती है जहाँ पर ही करनी चाहिए हमने आगे भी लिख्या था। और इस माफिक बड़ा बड़ो गावां के लिए चेष्टा करने के लिए लिखी ही सोइ नीगह करनी चाहिए भाणिदो भी एक अच्छो बड़ो गांव है उठे भी दरकार होनै तो ठीक करनी चाहिए। और पाबूसर पाठशाला की पढ़ाई अच्छी लिखी सो ठीक है जहां तक १५ लड़का है वहां तक उठाने की जरूरी नहीं है। हमारो विचार आसोज सुदी में रतनगढ़ आने को थो बाकी हमारे चि० नागरमल की मांजी साहब यहाँ पर आया है इसलिए हमको भी उसके साथ आणुं हुयो है इसलिए महीने बीस दिन ठेहर कर ही आणो होवैगो सोइ जानियो। व्यायामशाला को काम किस तरह चल रह्यो है सो निगै कर लिखोगा चिठी सारा समाचार की देणा।

देवघर मंगसर सुदी १३ सं० १९९३

पंडित सुरजमल जी सुं सुरजमल का प्रणाम बंचना घणेमान से !

हमां आज दिन बहुत राजी खुशी पहुँच गया छां रस्ते में कोई तकलीफ हुयी छ नहीं। हमारो सरीर दिल्ली मायं कुछ भारी होय गयो छो जिको इब बहुत ठीक छ कोई रकम की शिकायत छ नहीं आप कोई चिन्ता करियो मत ना ! आप बहुत राजी खुशी पुंच गया होस्यी पहुँच की चिठी आया निगै होसी ! हमां कल दिन दितवार ने रवाना होयकर कलकत्ते जावांगा सोइ चिठी कलकत्ते न देयो। नवम्बर महीने की रिपोर्ट हमानै भिजाय दियो।

चिठी सारा समाचारां की कलकत्ते ने देयो आपने रस्ते मायं कोई तकलीफ हुयी होवैगी नहीं मांडियो ! चिठी एक आप स्वामी गोपालदासजी ने ऋषिकेश, स्वर्गाश्रम के ठिकाने सूं दे देयो जिके मांयं उनका दर्शन करने को मौको नहीं हुयो जिकी सारी परिस्थिति मांडियो गलती हुवे नहीं।

कलकत्ता पौह वदी ८ सं० १९९३

चिठी रजिस्टरी आपकी आज दिन आयी समाचार मांड्या सोई निगै करया। हमां देवघर स्यों अठै वहुत राजी खुशी पहुँच गया छा इव हमारो सरीर वहुत ठीक छ! आप रतनगढ़ पहुँचा मांड्या रतनगढ़ के तांई को हिसाव मांड्यो वींके मांय पू० मनसुखरायजी नै दिया मांड्यो सोई ठीक छ कोई अटकी नहीं! स्वामीजी लखनउ सुं प्रदर्शनी देखकर चला गया है। चिठी उनकी पहुँच की नाहीं आई है वाकी आगे सुं नीगह होवेगी! वनीता विद्यालय में ४ स्त्रियां पढ़ने नित आती मांडी तथा और भी वढ़ने कै उम्मीद मांडी सो ठीक है रामचन्द्री वाई को भी कहते रहणा तथा अध्यापिका को भी तगादा करते रहणा चेप्टा कर कर वढ़ायोगा सोई जरूर चेप्टा रखणा। वनिता विद्यालय के टाइम के विषय में लिखा सो ठीक है वाकी टाइम तो ठीक ११ से ४ तक ही रहनी चाहिए वाकी जिस पर उचित समझो करो। पुस्तक वगैरह चाहिए सो ठीक कर देनी चाहिए और आवश्यक मिनमां की जरूरत हो सावन कर देनो चाहिए।

कलकत्ता चैत सुदी १ सं० १९९४

हमां परसों दिन अठै वहुत राजी खुसी पुंच गया छां रस्ते मायं ठेहरया नहीं कारण हमारो सरीर कछु नरम रयो जिकैसूं रस्ते मायं ठहरनो उचित समझो नहीं सोई आय गया छां और आप हिसार सेती वहुत राजी खुसी पहुँच गया होस्यो हिंसार मायं सरकारी स्कूल को रजिस्टर वगैरह सगलो निगै कर लियो होस्यो चिठी लेर की आया निगह पड़सी।

शिल्पशाला को काम किस तरै चले छ हमारे लेर सेती कोई जिनिस तैयार हुयी होसी व्यौरो मांडियो और शिल्पशाला के तांइ अठै भाई श्यामदेवजी वगैरह सेती सलाह हुयी जना उन लोगों को तो ध्यान एस्यो रयो कि शिल्पशाला मायं छात्र भरती होवै जिका ने काम करे जिके की जितनी मेहनत होवै जिको हिसाव सेती देनो चाहिए सोइ उन लोगों को मन काम करने मायं पूरो रवै वाकी हमारी इसी जंचे कि उनको काम की मजूरी होवे जितनी तो मजूरी देयी जाय वाकी रुपया ३ मायं कमती होवे जिकै तो आपने कने से दिये जावे ३ सेती वेसी होवै जिका उनका रया। इस तरह की जंचै छ आपके कांई जंचे छ मांडियो। और व्यायामशाला को काम ठीक साथ चलतो होवैगो उनके ताईं उजन को कांटो तथा नाप मेजर रामकुमारजी भुवालको भेजायो छ जिको विलटी आने सेती भेज देवांगा देरी होवैगी नहीं वोली वोल के ताई जाली. सेट श्यामलाल भरतियो वनायी छ जिकी ठीक होयी होवैगी मांडियो वोलीवोल को जाल श्यामलाल भरतियो वनायो छ जिको ठीक होय गयो तथा दाम ठीक पड़ा होवै तो रतनगढ़ मायं तैयार करानो चाहिए तथा जाल एक गनेड़ीवाला की छतरी मायं देने को छ देयी देनो चाहिए वाकी २-४ आपकै ताई तैयार कराय कर रखाय देना चाहिए। शिल्पशाला मायं सतरंजी के ताईं लुधियाने सेती कागी तथा जिनसा मंगायी छी जिकी आय गयी होवैगी आय गयी होवै तो सतरंजी सफेद १-२ वनाय कर निगै करियो ठीक होय तो कन्या पाठशाला के ताई सतरंजी वनाय लेयो। वनायोड़ी जिनस मायं गलीचा का आसना का ऊन का दाम २ रु० सेर का लाग्या जिकै मायं कसर पड़े छ कारण रंगायोड़ी ऊन का भाव २ रु० ८ आ० सेर का लागा छ जिका निगै कर लेयो अठै जिनसा हमां लेयी जिकी निगै करी छ उस मायं लोई तथा पट्टी ठीक चलने सकै छ वाकी १-२ मायं फिरूं पक्की निगै कर कर माडांगा और ग्रामीण पाठशालाओं को काम ठीक चलतो होसी निगै करियो।

देवघर चैत सुदी १५ सं० १९९४

चिठी आपने आगे दिनी छै चिठी आपकी कल दिन आयी समाचार मांड्या सोई निगै करा रिपोर्ट वगैरह भेज्या सो निगै करा! हमारो सरीर हिसार सेती मोटर में आने सेती दिल्ली मायं कछु नरम रयो इव यहां आने पर कछु ठीक छ वाकी हाल कमजोरी छ मेरो विचार अठै दिन १५ रह कर विवाह ऊपर कलकत्ता जाने को छ सोई जानियो। हिसार की सरकारी स्कूल के वारे में लिख्यो सो ठीक है **सरकारी स्कूल तो खरचीली होवे ही छ उससे तो आपांनै कोई मतलव छ नहीं आपानै तो कोई काम की वात होवे जिको निगै करने को छ** सोई आपं रजिस्टर वगैरह की नकल लेई है उसकी सगली ठीक होय गयी होवैगी नहीं तो निगह करके कर लेना चाहिए रजिस्टर वगैरह वनाने मायं खरचो की ज्ञान गिनती करनी चाहिए नहीं सोई जो जो कागज छपाने का होवै उसकी नकल वनाये कर भेज देयो सोई छपाय देवांगा। शिल्पशाला मायं हमारे आने के वाद एक आसन एक लोई एक पट्टो वना सो ठीक है हमारो लिखनो इसो छ कि आपने वेसी जिनसा वनाने की तो इसी दरकार छ नहीं सीखने लड़का वाला ने काम सिखानो छ सोई सिखाने की कोशिश करनी चाहिए **जिनसा वने जिकी लड़का के हाथ सूं वनवाने की चेप्टा करनी चाहिए जिकै मांय लड़का ने सीखनो को मौको मिले सोई निगैदारी राखियो वनी हुयी इस जिनसा ने कठै राखने की करी जिकी भी मांडियो तथा विके जिकी जिनसा वेंचनी भी चाहिए कारण सगली जिनसा जमा करने सेती तो फायदो छ नहीं** सोइ आपके नीगह रेण तांई मांडी छै आपके जंचे तो इव तांई कई ज्यादा जिनसा वहां है पुस्तकालय मायं ही रखी जावे तो कोई अटकी नहीं फिरूं काम वढ़ जावैगो जना दूसरे शो रूम वनाय लियो जावैगो। व्यायामशाला के काम के विषय में लिख्यो सो ठीक है हमारे तो या पहला ही ख्याल छो कि आपां नियम शुरू करने सेती तथा प्रवेश फीस १ रु० लगाने सेती आने वाला आनो चावैगा नहीं जिकै सिवाय हमारो तो इसो भी ख्याल छ कि **प्रवेश फीस १ रु० की जगह ४ आना करने की**

वात छौं वाकी आप १ रु० राख्यो हा सो हमारे समझ मायं १ रु० प्रवेश फीस देने वालो कोई नहीं है इसलिए फीस राखी भी जावे तो ४ आना से वेसी नहीं चाहिए जिसके अलावा नियम चालू करने के लिए कितना आदमियां की फीस माफ करने के लिए वात हुयी थी सो कठे तक आप लोग करो हो सो चीठी आया निगै होवैगी। रतनगढ़ स्यूं आथुन की तरफ वड़ा-वड़ा गांव है उस जगह चेष्टा कर-कर पाठशाला करनी चाहिये कारण वड़े गांवां मायं लड़का वेसी होने सके है सोई जानना ! विनीता विद्यालय के वारे मायं मांड्या सोई ठीक है। वालिका विद्यालय तथा रात्रि पाठशाला की कार्यवाही सुचारु रूप से चलती लिखी सो ठीक है वाकी देखभाल वरावर करता रहोगा गलती होवै नहीं आजकल देखभाल किए वगैर पूरो काम होनो मुश्किल है सो वरावर देखभाल करता रहोगा ज्यादा के लिखें। श्री हनुमंत जयन्ती मनायी होवैगी किसी कै हुयी लिखोगा। व्यायामशाला में ट्यूव वेल को काम कैसा चलता है कोई वरखा तो नहीं हुयी है लिखोगा व्यायामशाला शिल्पशाला में चेजारे खाती को काम चुकती होय गयो होवैगो नहीं तो जल्दी कर-कर कराय देवोगा वहुत दिन होय गया है सो एक वार नक्की कराय कर चुकती कर देवोगा।

श्री हनुमान जयन्ती मायं २५०-३०० स्त्री पुरुष जमा होया सो वहुत ठीक है क्या-क्या और किस-किस को उपदेश होयो सो लिख्यो नहीं सो मोटा-मोटी मांडनो चाहिए। हमको एक कारड भेज्यो सोइ हमारे पासतो नहीं आयो वाकी कलकत्ते पूंच गयो होवैगो शायद आपने उस पर फर्म को नाम कियो होवैगो इसलिए हमारे पास नहीं आयो। हमारो नाम होतो तो आ जातो सोइ भविष्यत में जिस कागदको हमारे पास भेजनो होवै उस ऊपर हमारो नाम ही कर देनो चाहिये।

रामेश्वर जी गनेड़ीवाले के मंदिर का प्रतिष्ठा वहुत आनन्द-पूर्वक होय गयो होवैगो क्या-क्या कारवाई हुयी लिखोगा। पंडित माधोप्रसादजी आया श्री ऋषिकुल को उत्सव होतो लिख्यो सो ठीक है। वहुत आनन्द के साथ होय गयो होवैगो। क्या-क्या कार्रवाई हुई तथा वाहर का कितना कै सज्जन आया सो लिखोगा। चन्दो वगैरह भी कुछ होयो हुवै तो मांडणा। जुवली को चन्दो वगैरह के लिए मानधाता सिंहजी वगैरह आया सो ठीक है होय गयो होवैगो चला गया होवैगा मांडोगा। चिठी पाछी देणा समाचार सब लिखोगा। ग्रामीण पाठशालाओं की भी ख्याल राखोगा।

व्यायामशाला की वावत मांड्या सोई ठीक छ हमारी समझ मायं तो प्रवेश फीस १ रु० की जगह ४ आना होना चाहिए १ रु० लियो है उसको १२ आना फिरती देइ देनी चाहिए जिससे उनके मन में कोई रकम को दुख नहीं होवै आपने तो फीस का ४-८ आना लेने से ऐसी कोई लाभ नुकसान की तो कोई वात छ नहीं। मेम्वरां के नियम चालू करने की वात छ सोई हमारी समझ मायं तो तोलारामजी स्युं सलाह कर कर प्रवेश फीस ४ आना ही रहनी चाहिए वार्षिक फीस १ रु० करने सको छो वाकी उसके भी ४ आना रखै तो कोई अटकी नहीं जिस तरह जनता लाभ ज्यादा उठा सके उस तरह चेष्टा करनी चाहिए।

पुरी जेठ वदी २ सं० १९९४

चिठी आपकी देवघर होयकर काल दिन अठै आयी हमां दिन ७ होया अठै पुरी आया छ। महीनो एक अठै रहने को ध्यान छ पीछे अनजल दाना पानी की वात न्यारी छ। हिसार सूं लाला हरदेव सहायजी की चीठी आयी मांडी सो सारी निगह करचा। भादवें तक हमां आवांगा जब आपसूं सलाह कर उचित समझांगा जिसी होय जावैगो।

शिल्पशाला के ट्यूववेल के ताईं लिख्यो सो ठीक है चेष्टा हो रही है। शिल्पशाला मायं १० छात्र आता लिख्यो सो ठीक है निवार का काम शुरु करायो जिको १०-१२ गंज तैयार हुयी मांडी जिकी ।।।≈) ।।।≋) सेर पड़ने की उम्मेद मांडी सोई हमारी समझ मायं योही काम चलने लायक छ सोई निवार की जरूर चेष्टा करियो तथा दरकार समझो तो इसकी २-१ लूम और वढ़ाय देयो। गलीचे लूम वड़ी एक और वनाने की वावत लिखी सो ठीक है जरूरत हो तो कराय लेनी चाहिए तथा सतरंजी को काम जरूर वननो चाहिए कारन रोज चलने वाली जिनस छ सतरंजी को काम सिख्योड़ा विद्यार्थियों ने काम वहुत मिलने सकै छ सोई सतरंजी अठै जरूर वनाय कर काम सिखायो निवार वनाने को लूम कलकत्ते में है सो वहुत भारी है तथा उसका मास्टर वगैरह भी काम मायं नहीं आ सका है जिकेसूं फेरूं देखी जावैगी हर एक आदमी के काम के लायक नहीं है आपनो ध्येय इस्यो होनो चाहिए कि जो आदमी काम सीख कर निकले जिको थोड़ो खरचे मायं निज को काम करने सके सोई जानियो, इसको ध्यान राखनो जरूरी है। आप मांड्यो कि गलीचा की वड़ी लूम एक वनने से ३-४ छात्र उस पर काम सीखने सकै है सो ठीक है जरूर वनाय लेयो।

व्यायामशाला की प्रवेश फीस १ रु० की जगह ४ आना करचो सो ठीक है। ४ आना करने से मेम्वर वढ़ा होगा इव सव कितना मेम्वर होय गया है सो मांडनो चाहिए। कलकत्ते सूं व्यायामशाला ताईं एक रस्सी तथा एक लोटा तथा एक चकरी आया सो ठीक है रामकुमारजी भुवालके ने इस खेलकी वहुत तारीफ करी सो हो सके तो चलाने की चेष्टा करियो वाकी हमारी समझ मायं तो वोली वाल को खेल इस सेती उत्तम है सोई वोलीवाल के खेल की जगह जगह चेष्टा होनी चाहिए। व्यायामशाला के सारे सामान की लिस्ट एक आपके पास जरूर रहनी चाहिए तथा और भी हमारे संस्थाओं की लिस्ट आपके पास जरूर होनी चाहिए सोई चेष्टा राखकर ठीक करायो।

सालासर की पाठशाला के ताईं जमीन की बाबत मांड्यो सो ठीक है पुजारियां से बात हुयी सो ठीक है। पाठशाला नहीं रवैंगी तो मन्दिर को अधिकार होवैंगो सो तो ठीक छ ही आपने वहां पर कोई विचार नहीं है बाकी लिखा पढ़ी पक्की करा लेनी चाहिए तथा चेजे के काम मायं उनको कोई हस्तक्षेप नहीं होनो चाहिए हस्तक्षेप देखो तो उनसूं पक्की लिखा पढ़ी करा लेनी चाहिए।

कुएँ की खेल के लिए मांड्यो सो ठीक है काम तो करानो ही है सुभीतो समझो जना कराय देनी चाहिए अथवा पाठशाला की जमीन मिले तो देखो तथा उसको करानो होवै जना उस मौके ऊपर या भी होय जावे सोई विचार लेना जिस तरह जंचे कराय देना। विनीता विद्यालय में रामसरूप मास्टर की स्त्री काम करती लिखी सो ठीक है उसके आने के बाद किस्योक काम होवै है मांडोगा तथा बीच-बीच मायं पूछ ताछ करतो रहनो चाहिए हमारी दादीजी रामलालजी सिंहानिया की बहू तथा झंवरा के आपसे ही जान-पहिचान है उन सब सूं भी पूछ-ताछ करता रहनी चाहिए किसो काम होवै टाइम ठीक रहतो है कि नहीं इत्यादि। सब बातों का ध्यान राख कर निगह करतो रहनो चाहिए कोई वेवाजिब बात देखो तो हमको मांड देना सो हमां आपके नियम मायं करेक्सन करके उसको खुलासा कर देवांगा तथा मांड देवांगा।

आयुर्वेदिक विद्यालय के तांई उणने ठीक करने को कह देयो विद्यार्थियां के नाम मांई जात लिखकर आणी चाहिये। उनकी कोई उपाधि छै सो मंडणी चाहिये। छात्रवृत्ति का छात्र वृत्ति मांय उनको ग्राम का नाम तथा उपाधि मंडनी चाहिये छात्र लोग परीक्षा मांय जावे जीका परीक्षा को फल आनेसे मांडियो कांई रिजल्ट होयो। दवाई का दाम तथा और खरचो आयुर्वेदिक विभाग मांय कोई लाग्या जीका बिल आया नहीं जिका भी हर महीने मांय आणा चाहिये। श्री हनुमान स्टोर को हिसाब भी महीने के महीने आणो चाहिये। तथा उसको नाम हनुमान स्टोर की जगह श्री हनुमान संग्रहालय रख्यो जावे तो किसीक जंचे है मांडियो तथा इसको हिसाब पुरी तौर से महीनेके महीने ठीक होय जाणुं चाहिये इसमें गलती होवे नहीं निगह मांय राखियो उपदेश भवन मांय आजकाल के कथा वंच रई है सो मांडियो तथा उपस्थिति कितनीक होवे है सोई मांडियो। या कथा समाप्त होणेसुं आगीने श्री वाल्मीकि रामायण वंचाणो की चेष्टा करियो उपदेश भवन के विद्यालय मांय कांई हो रयो छै कितना लड़का पढ़े छै उसकी भी रजिस्टर घलायो थो सोई रिपोर्ट महीनेकी महीने आणी चाहे तथा इस काम की आगीने उन्नती होणे की आशा छै कि नहीं मांडियो तथा उन्नति होणे की आशा देखो तो इसको नाम श्रीहनुमान धर्म उपदेश शिक्षालय अथवा श्री हनुमान धार्मिक ज्ञान शिक्षालय इत्यादि रख कर इसकी चेष्टा करनी चाहिये। भाई श्यामदेव को ध्यान इस्यो छै कि बालिका विद्यालयकी शाखा एक पाठशाला के नाम सुं दिखणादे दरवाजा कने हुणी चाहे शाखा एक अगुणे दरवाजा कने, साधारण पुरुष अध्यापक रेणुं चाहिये जीको छोटी-छोटी लड़कियां ने दूर जाणुं पड़े नहीं छटी क्लास रेणी चाहिये ऊंची पढ़ानी हुवे जिकी विद्यालय मांय आय जावे। इस विषय मांय आपकी के राय है सो मांडनी चाहिये। उनको ध्यान तो ईस्यो है १५ रु० सेती २० रु० मांय पुरुष अध्यापक चोखो मिल जावेगा यह पाठशाला की शाखा रवे जिकी मांय छोटी लड़कियां छठी पढ़ाई की पढ़वो करे ऊँची पढ़नी हुवे जिके विद्यालय मांय आय जावे सोही कांई जंचे सो ही मांडियो और बालिका विद्यालय तथा ग्रामीण पाठशाला वगैरह मांय गीता प्रेस गोरखपुर की जिस तरह बालिका विद्यालय मांय स्त्री धर्म प्रश्नोत्तरी इत्यादि किताबां छै जीकी पढ़ानी चाहिये सोई दाम मायं भी सस्ती तथा उससे भी स्त्रियां को धर्म को भी प्रेम रवे सो आपके जंचे तो ईसकी चेष्टा करियो तथा गीता प्रेस की पुस्तकां बहुत चोखी तथा धर्म के भाव की हुवे छै सो इनकी चलाणे की चेष्टा करणी चाहे जीके सुं टाबरां को ध्यान दूसरी तरफ जावे नहीं तथा दूसरी-दूसरी पाठशाला मांय भी इसकी चलने लायक पुस्तकां हुवे जिकी चलाने की चेष्टा करणी चाहे जिस तरह संस्कृत मांय लघु सिद्धांत कौमुदी गीता प्रेस सेती छव आना मांय निकली छै जिकी कमीशनी बाद देकर साढ़े चार आना पड़े छै जिकी चलाणे की चेष्टा करनी चाहे लिखने को मतलब ईस्यो छै कि दाम भी सस्ता तथा धर्म को विषय भी चोखो छै सो ही जाणियो होणे सके जठे ताईं चेष्टा करियो। शिल्पशाला मांय बाहर का छात्र कई सीखता हुवे तो उणने केणुं चाहे कि दिन मांय शिल्पशाला को काम तो सीखे पीछे रात्रि पाठशाला में कुछ पढ़ने को भी अभ्यास करणुं चाहे जीके सुं आगीनै तुमांने जीनस पतर बेंचने तथा खरीदने मांय हिसाब किताब करणो मांय सुभीतो रवे इसकी भी चेष्टा राखणी चाहे। मनुष्य को चेष्टा करने को कर्तव्य छै सोई चेष्टा तो राखियो कोई ध्यान बैठ जावे तो ठीक हु ज्यावे। हमारो लिखणुं ईस्यो छै को **पबलिक के काम मांय जितनी भी सेवा करनी में आवे करणे की कोशिश राखियो जिके मांय आपको तथा हमारो दोनुंआं को लाभ छै** भाई श्यामदेव को ध्यान ईस्यो भी छै कि रतनगढ़ मांय कोई पबलिक सेवा समिति छै नहीं जीके मेलो-ब्याह तथा और कोई संगठन को काम आवे कोई तो ठीक छै कोई इस मांय भाग लेणुं चावे तो श्री हनुमान सेवा समिति के नाम से चेष्टा करियो उस मांय २०-३० रु० महीना की जरूरत पड़ेगी तो चेष्टा होय जावेगी।

पुरी जेठ वदी ६ सं० १९९४

चिठी एक देवघर होयकर पेहली आपकी आयी थी उसको जवाब हमां दियो ही थो जीकी पहुँची होवेगी। चिट्ठी १ आपकी परसुं दिन आई समाचार मांड्या सो निगह कर्‍या आपकी बहण को शरीर बरत गयो मांड्यो सोई चिट्ठी बांच कर चिंता होई व्यायो व्यायो टाबर चलतो रयो बाकी संस्कार हुवे सो काम आवे

मनुष्य की करेड़ी कुछ हुवै नहीं चिट्ठी आपकी श्री रामलीला के वारे मांई भाई श्यामदेव कने कलकत्ते आई जीकी चिट्ठी तथा भाई श्यामदेव आपने देई जीकी चिट्ठी दोन्यूं आज दिन हमारे कने आई आपकी चिट्ठी हमां निगह करी आप मांडी जीकी वात सगली ठीक छै यो काम राज का कर्मचारियां सेती मिल कर ही करणुं चाहिये तथा सगला वस्ती का प्रधान प्रधान आदमी छै जीका की भी सहानुभूति होये विना पूरी कार्यवाही होवे नहीं वाकी हमारी समझ मांय राज का कर्मचारियां की सहानुभूति होवेगी जणां तो सगला की हुय ज्यावैगी नहीं जणां कोई की हुवेगी नहीं सोई सगली वात सोच विचार कर करनी चाहिये कोई जल्दीवाजी कर करणी चाहिये नहीं काम तो चोखो ही छै वाकी जल्दीवाजी करने सेती कोई खरावी पहुँच जावे तो कोई ठीक नहीं सोही वहुत ही सोच विचार कर तथा दो चार ठायां आदमियां की सलाह लेय कर होती रेवै नहीं तो ईसी कोई वात छै नहीं फेरूं मौको आया देखी जावेगी वाकी ईसी भांति आप जुवली को मौको मांड्यो जिको तो ठीक ही छै सोई सगली वात की सलाह सूत करियो खरचे वरचे की तो कोई वात नहीं प्राइवेट में ५००-४०० रु० आपणा कने सेती भी लाग जावे तो लगाने सकां छां **वाकी यो काम जिस तरह आप मांडियो जिस तरह नहीं होयकर वस्ती की तरफ सेती होवे जीको ठीक छै** सोई सगली वात की भाई सागरमलजी सेती तथा और कोई ठाया आदमी सेती सलाह कर लेयो सगलां के जंचेतो-हाथ देयो नहीं तो आलवाल मांड दीयो जल्दी करियो मतीना।

पुरी, ता०-५-३७

चिट्ठी आपकी आई नहीं सो देना और पं० सूरजमलजी से श्यामदेव देवड़ा का जैसीतारामजी का वंचना और पुज वड़े वावूजी यहां पुरी आए हैं थोड़े दिन रहेंगे मैं भी यहां आया हूँ १-२ दिन और रह कर कलकत्ता चला जाऊँगा और आपने जो प्रूफ देखकर भेजे थे वह तो प्रेस वाले को दे दिया गया है हमने जो प्रूफ भेजे हैं उनको और देख कर शीघ्र ही वापिस भेज दीजिए और जो कागज पत्रों के मूल्य के वारे में आपने लिखा सो कलकत्ते जाकर भीजवा देऊँगा। और वनारस से अच्युत ग्रंथमाला सा० गौरीशंकर जी गोयनका की तरफ से निकलती है आप उसके स्थायी ग्राहक वन जायें तथा जो पुस्तकें उसकी पहिले की निकली हैं वे भी मंगवा लें तथा निकलने-वाली तो ग्राहक वनने पर आती ही रहेगी उसका पता अच्युत ग्रन्थमाला, ललिता घाट, वनारस है। और संस्थाओं का काम सव काम ठीक सेती चलता होगा, लिखना। यहां पर पुज वड़े वावूजी के साथ वातचीत होते-होते यह निश्चय हुआ कि **हिन्दुओं के संगठन के लिये यह जरूरी है कि उनके त्यौहार वड़े इज्जत और आदर के साथ मनाए जायें ताकि उनमें आपस में प्रेम भाव पैदा हो** इसको कार्य रूप में प्रचलित करने के लिए वह निश्चय हुआ कि सव जगह आश्विन मास में रामलीला याने पूरी रामायण १ महीने तक होती है वैसी ही अपने रतनगढ़ में भी की जाये। और वह गांववाले ही सव नवयुवक वगैरह मिल कर करें और यह अव की पहले वर्ष इतने उत्साह से की जाय कि इसकी जड़ जम जाय और यह प्रत्येक वर्ष ठीक समय पर होती रहे इस वर्ष जो कुछ खर्च लगेगा वह सव अपने यहां से दिया जायेगा इसके लिये आप ऐसा करें कि जो अपने यहां व्यायाम-मास्टर है वह रामलीला पार्टी में रहा हुआ है उसको सव वातें मालूम हैं इसलिये उनसे आपको वड़ी सहायता मिलेगी आप वहाँ के स्थानीय उत्साही नव युवकों की एक मीटिंग वुलायें और उसमें यह प्रस्ताव रख कर एक रामलीला कमेटी कायम करें उसमें सव तरह के आदमी लिये जायें जव इस कमेटी का संगठन हो जाय तव इसके अंदर पात्र सव-कमेटी, प्रवन्ध सव-कमेटी ऐसे ही जो जो दरकार हों सव-कमेटियां कायम करें और कार्य आरम्भ कर दें अव दो महीना और है सो नया काम है प्रवन्ध करते-करते लग जायेंगे हमारी इच्छा यह है कि वनारस वगैरह की तरह यह रामलीला वाजार में रात के समय वड़े उत्साह से की जाय तो हिन्दुओं का वड़ा उपकार होगा। आपको इसके सम्वन्ध में जो कुछ जानना हो मेरे साथ पत्र व्यवहार करें और इसे सफल वनाने की पूरी कोशिश करें।

कलकत्ता, १ जून १९३७

श्री पं० सूरजमलजी शर्मा महाराज !

आपका पत्र मिला समाचार जाना। मैं पुरी से यहाँ आ गया हूँ अव कल तक एक वार वम्वे जाने का विचार है ८-१० रोज के लिये ही।

आपने रामलीला के लिये जो कुछ लिखा है उसे मैंने ध्यान से पढ़ा है मेरी समझ से आप लोग कुछ डरे हुये से हैं और ऐसा होना अनुचित भी नहीं है क्योंकि राज्य वीकानेर का है। मगर जहाँ तक मैं समझता हूँ इस कार्य में भयभीत होने की विल्कुल ही जरूरत नहीं है क्योंकि यह तो सोलह आने धार्मिक और सार्वजनिक कार्य है और मुझे तो यह भी विश्वास है कि अगर राज्य-कर्मचारियों से इसके लिये कहा जायगा तो वे अवश्य सहायता करने को तैयार होंगे और स्थान के लिये तो वाजार है ही उसमें क्या रुकावट हो सकती है। आपने जो सामानादि के लिये लिखा है सो तो प्रथम वार खरीदना ही पड़ेगा अगर एक वर्ष ही करके छोड़ दी जाय तो मांग मूंग कर भी काम निकाला जा सकता है मगर अपने को तो वरावर के लिये प्रवन्ध करना है इसलिये खरीदना ही पड़ेगा इसमें जो कुछ व्यय होगा वह तो सव अपना लगेगा ही मगर आपकी यह राय भी उत्तम है कि लोग-दिखाऊ एक वार वाजार में चंदा कर लिया जाय जिससे सव कोई इसे अपना ही काम समझें चाहे वह १ रु० वा १ आना ही लिखें मगर लिखवाया जाये सवसे। अव मेरा लिखना यह है कि समय ज्यादा नहीं है आपको एक रामलीला कमेटी कायम करनी चाहिये और उसमें स्थानीय जितने अच्छे

नामी आदमी हैं सब को लेना चाहिये तथा साथ ही नवयुवकों की १-२ मीटिंगें बुला कर पात्र वगैरह ठीक कर लेना चाहिये और यहां तक कि रिहरसल करना भी शुरू कर देना चाहिये आपको जो कुछ खरचे की आवश्यकता हो हवेली से ले लेना चाहिये वे आपके नाम ही लिख कर देंगे। क्योंकि वहां रामलीला का खाता डालना ठीक नहीं। आप एक हिसाब की किताब अलग बना लें जिसमें कोटेवार लिखते जायें। इसके लिये आपको १-२ आदमी वेतन देकर रखना पड़े वो भी रख लेना चाहिये। परदे वगैरह तैयारी हम समझते हैं दिल्ली में मिल जायेंगे पोशाक टोपी वाल वगैरह भी लेने होंगे। इनमें देरी नहीं करनी चाहिये मगर सब से पहिले जरूरत है राज्य की इजाजत की कहीं ऐसा न हो कि इधर सब तैयारी की जाय और राज्य ने मना कर दिया तो सब धरा धराया रह गया इसलिये अगर आप लोग वहीं पर इजाजत ले सकें तब तो अच्छा है ही नहीं तो हमें लिखना हम यहां से कोशिश कर देंगे।

आपने लिखा जुबिली के अवसर पर अगर यह संस्था खोली जाय तो राजभक्ति की आड़ में अपना काम हो जायगा सो यह विचार बहुत ही सुन्दर है ऐसा अवश्य ही किया जाना चाहिये। अपने पहिले एक नाटक खेलने के बाद इसे खेलने को लिखा सो यह विचार भी सुन्दर है इससे आपको यह एक सुभीता और होगा कि कई पात्र एक साथ ही मिल जायेंगे जिनके दिल में हमेशा ऐसे कार्य करने का उत्साह भरा रहता है। आपने लिखा बाजार की जगह कुछ कष्ट-साध्य है सो ठीक है मगर बाजार की जगह के सिवाय दूसरी जगह ऐसे कार्यों के लिये उपयुक्त हो ही नहीं सकती यह तो चाहे जैसे हो बाजार की जगह ही ठीक करनी होगी इसमें कौन से दरवाजे आपकी करने की राय है सो लिखिये। इसमें साथ ही यह भी विचारना होगा कि औरतों के बैठने के लिये दुकानों पर उपयुक्त छतें भी हों। मैं आपके पत्र को बड़े बाबूजी के पास भेज रहा हूँ साथ ही उनसे अन्य लोगों को सिफारिश करने की प्रार्थना भी कर रहा हूँ और खरचे के लिये हवेली हुक्म देने की। मगर अपना नाम तो जैसा आपने लिखा है प्राइवेट ही रखिये चन्दा पैसा और लोग लिखते हैं अपना भी मामूली लिखा जायेगा। आपने अब तक इसके लिये और क्या किया है लिखना तथा इसको आगे बढ़ाना। आपकी बहन के स्वर्गवास का समाचार पढ़ कर दुख हुआ ईश्वर उसकी आत्मा को शांति प्रदान करें।

—भवदीय श्यामदेव।

पुरी जेठवदी १ सं० १९९४

उपदेश भवन मांइ स्कन्ध पुराण बंचता मांड्या सो ठीक है आपके जंचे तथा जीतमलजी के जंच जावे तो इसके सागे सागे वाल्मीकि रामायण को भी एक सर्ग चलबो करे तो श्रोता को भी मन लाग्यो रवे तथा रामायण सेती गृहस्थीयां ने नित्य को उपदेश भी होवतो रेवे सोही सलाह करके जंचे जिस तरह कर लेयो। नहीं तो फेरूँ होसी जिस तरह देखो जावेगा। बाकी हमारे समक्ष मायँ तो एक सर्ग रोजीना की होयबो करे तो सगली रकम ही ठीक छै सोई चेष्टा करीयो।

रामलीला के बारे मांय मांड्या सोई ठीक है। चिट्ठी आपने दिन ५।६ पेली देई छी जीके मांय समाचर सारा मांड्या ही छा सोई निगै कराई होगी जिस तरह ठीक समझो उस तरह करीयो। जगहाँ बड़े मंदिर के लेरने मांडी सोई बहुत ही ठीक है इस काम के लायक ही है तथा श्री भगवान को मंदिर भी है सोई जगहाँ तो या ही बहुत ठीक है सोई जानीयो। नाम के तांई मांड्यो कि इसको नाम रामायण नाट्य परिषद रेणुं चाई बाकी राजा की यादगार में करयो चावो तो श्री दरबार जुबिली नाट्य परिषद भी करने सको छो बाकी सगलां के जंचे जिस तरां करीयो हमां तो हमारे ध्यान मांई आई जिकी है मांडी जिके सेती राज्य भक्ति मांई काम हुवे बोल कर मांडी छे आपणुं मतलब तो प्रचार करणुं छै सोई इस नाम मांय हमारी समझ मांय बूढ़ा बडेरा सभी शामिल होने सके छे सो सलाह कर लेयो जिके में रामलीलानाटक होयबो करे इत्यादि सलाह कर लेयो।

शिल्पशाला मांई गरम के कारण सुं दो टाइम करी सो ठीक है रात्रिपाठशाला सुं चार छात्र मैट्रिक परीक्षा मांय गया जीका फेल होया मांड्या सो ठीक ही है इस तरह रात्रिपाठशाला मांय साल की पढ़ाई सुं मैट्रिक पास होय जाये तो फेरूं इतनुं बड़ो खरचो लगाने सुं काँई फायदा सोई हमारे तो पहले भी नहीं जंची बाकी आप लोग क्योंकि शायद होणे सके छे बाकी कोई बात नहीं ईव वे लड़का कठे पढ़े छे मांडीयो।

पुरी जेठ सुदी २९,१९९४.

चिट्ठी आपने कल दिन सारा समाचारां की दीनी ही छी सोई पुंची ही हुसी। और समाचार १ बंचीयो हमारो ध्यान इस्यो छै कि वनिता विद्यालय तथा बालिका विद्यालय मांई १।१ आलमारी स्त्री-धर्म की पुस्तकां की रेवणी चाहिये जिके की निगह अध्यापिका के जिम्मे रहनी चाहिये उण पुस्तक मांई सुँ कोई पुस्तक लड़की तथा स्त्री आपके घरां पढणे की तांई लेय ज्यायी चावे तो मातबर होवे जिकी ने तो देणी चाये जके सुं स्त्रियां मांय भी शिक्षा प्रेम बढे सो आपके काँई जचे छे ईस मांय और तो कोई बात छै नहीं १००-१५० रु० की किताब एक जगह रवेगी जकी तो आय जावेगी बाकी अध्यापिका ने संभाल रखणी पड़ेगी जकी ईसी कोई बात नहीं सोई आपके जंच जावे तो आलमारी नग २-३ बरेली सेती फरनीचर लाणे जावे जके सेती ही मंगाय लेणा चाहिए आलमारी की साइज लंबी चौड़ी तो चाहे जितनी हो बाकी भीतर को खण गहरो ९" इंची तथा ऊँचाई ९।१० इंची सेती बेसी होणी चाहिये नहीं कारण घणी क रीक किताबां तो साइज ७"×५" की ही हुवे छै बाकी थोड़ी बहुत किताबां बड़ी हुवे छै जकी आड़ी रखी जाणे सके, सोई आपके निगह

रवणे तांई मांडी छै आपके जंचे तो बंदोवस्त कर देयो। और गीता प्रेस की सगली पुस्तकां की सेट १०० ही मिलणे की बात कर रीया छां मांई सेट ५० तो बंगाल मांई सेट २० उड़िया देश मांई पवलिक लाईब्रेरी ने देवांगा जके सुं हिन्दी के प्रचार मांइ सहायता हुवेगा बाकी सेट ३० बचेगा जीकी दूसरी दूसरी पब्लिक पुस्तकालय में जठे अभाव छै जकां ने देवांगा सोई जानियो आपने कोई सेट दरकार हुवे तो मांड देयो सोई भेजाय देवांगा।

पुरी, आषाढ़ वदी ६ सं० १९९४

चिट्ठी आपकी ता० २४, ६ की लिखी आई समाचार मांड्या सो निगह करया। आपकी ता० ११,६ तथा १६, ६, ३७ की रजिस्टर्ड पार्सल पहुँच गया जीकी जवाब की चिट्ठी दीया छै जकी पहुँच गया हुसी। भाई श्यामदेव की चिट्ठी आई जकी मांड़ी कि काम राजभक्ति काबिल हीं ठीक होवैगा सो ठीक है जरूरी राज नियम की ध्यान मांय राख कर सारो काम करणुं चाहिये उस मांइ इव तांई काईं काम हुयो सोई मांडीयो। बालिका विद्यालय मांइ सिरसावाली अध्यापिका तांई मांड़ी सो ठीक है चेष्टा कर कर ठीक कर लेयो। शाखा बालिका विद्यालय तांई पुरुष अध्यापक तांई मांड़ी सो ठीक है बाकी जिस मांय ठीक रेवै सोई करणु चाहिये। श्री हनुमान संजीवनी के लेबल पोंच्या मांड़ी सो ठीक छै मांय एक शीशी का दाम २ आ० मांड़ी सुं ठीक छै यह तो पवलिक के तांई राखा छै बाकी आपको भेजा छै जीका कोई बीकरी तांई भेजा छै नहीं काम मांइ आवे जिस तरह बरत लेयो कोई विकरी की बात छै नहीं सोई जानीयो और अग्रवाल जाति को इतिहास की पुस्तक १ आप वी. पी. सुं मंगाई तथा १ कलकत्ते सुं आई मांड़ी सो ठीक है फीरती देणे तांई मांड़ी लिखी सो ठीक छै फिरती तो हुणी मुश्किल छै बाकी कलकत्ते सुं भेजी जकी किताब अभी रेवणे देयो हमां दूसरी जगह भेजाय देवांगा फिरती होई जावे जणांसै ठीक ई छै। अब के मीडल आयुर्वेदिक विद्यालय को दिया लिखा सो ठीक है बहुत अच्छो काम कियो।

सालासार की पाठशाला मांइ गीता प्रेस की १ सेट पुस्तकां के तांई मांडी सो ठीक छै भेजाय देवांगा बाकी वहाँ पर राखणे को के इंतजाम होवेगो सोई मांड़ियो तथा ठीक करियो तथा गीताप्रेस की पुस्तक १ सेट हमां स्टेशन की धरमशाला मांई राखणे चावां हां कारण वठे सरदारशहर वगेरह का बहुत जातरी एक ट्रेन ठेरणो पड़े छै सोई उणां के काम मांय आणे सके छै बाकी स्टेशन की धर्मशाला मांइ इसके राखणे की तथा जावतो रेवणे की कोई साधन की तजवीज होवे तो निगह कर कर मांड़ीयो नहीं तो कोई बात नहीं आपने निगह रहणे तांई मांड़ी छै सो जानीयो। अठे भी आपणे तरफ से १ श्री हनुमान आरोग्य भवन बणायी छै जके मांई मारवाड़ी भाई पुरी की आबहवा को स्वास्थ्य लाभ करने वाला आणे सके छै मकान १ बहुत चोखो ३० हजार मांइ सीधो मोल लीयो छै तथा इस पर २५-३० हजार और मरम्मत तथा बढ़ाणे मांय लाग गया सोई जाणियो उस मांइ भी १ छोटी सी पुस्तकालय भी खोली छै सोई जानीयो। ईस मांय कासण बरतन तथा पलंग तथा तख्ता चौकी वगैरह भी सगली जीसां रवे छै जके सुं भवन मांइ आणीया अणीया ने तो लाभ छै ही तथा और भी कोई हवाखोरी के तांई कोठी भाड़े लेयकर आवे छै जकां ने भी दीया जावे छै सोई आपने निगह रेवणे ताई मांड़ी छै **दवाईखानुं भी १ अठे करणो को बीचार छै जकी चेष्टा कर रीया छां** सोई जानीयो हमारो विचार रथयात्रा तांई अठे रह कर कलकत्ते जाणे को छे कलकत्ते दीन १५-२० रेह कर वैद्यनाथ जी जावांगा सोई जानीयो।

आषाढ़ वदी ६ सं० १९९४ आपणे शिल्पशाला मांई तथा आयुर्वेद विभाग को छात्रां ने छात्रवृत्ति दीया जावे छै जीकां ने व्यावहारिक ज्ञान सीखने के तांई रात ने रात्रि पाठशाला मांइ पढ़ाने के तांइ चेष्टा करने के तांई मांड़ी छी जके विषय मांइ आपके कांई जंचे सो मांड़ियो। **हमारी समझ मांइ इणां लोगां ने भी व्यवहारिक ज्ञान की तो जरूरत छै जके सिवाय रात मांइ इणां के कोई काम भी छै नहीं ठाला रेहणे सेती तो कुछ भी ज्ञान प्राप्ति करेगा जीको आगी ने काम ही आवेगा** सो आपकी राय हुये सो मांड़ियो तथा ईणां के तांई १ न्यारो अध्यापक की भी जरूरत हुवे तो राखणे सको छो सो आपको ध्यान हुवे सो मांड़ियो। हमारी समझ मांई तो आंज कल का संस्कृत का विद्यार्थियां ने भी दीन मांई आपके उद्देश्य की पढ़ाई कर कर रात ने वणिका तथा अंग्रेजी हिन्दी ज्ञान प्राप्ति करणी चाहिये जके मांइ सगला काम ठीक होय जावे सोई इस विषय की चेष्टा करियो।

कलकत्ता आषाढ़ वदी ८ संवत् १९९४

रात्रि पाठशाला में आयुर्वेद विद्यालय के छात्रां के तांई मांड़ी कि कुछ देरी को कारण है सो ठीक है देरी तो जरूर है बाकीं उणको भी व्यावहारिक ज्ञान के लिए बहुत ही अच्छो उपाय है तथा **उणांने कुछ अंगरेजी को ज्ञान की भी जरूरत है कारण आयुर्वेद विद्यालय मांइ माडल वगैरह को निरीक्षण करणे मांइ भी उणांने बहुत सुभीतो रवे सोई फेरूं चेष्टा करीयो जके ऊपर भी उणां को ध्यान नहीं हुवे तो उणां के ही नसीब की बात छै आपणे तो कोई हर्ज छै नहीं। आप तो उणांकी भलाई के तांई करो छो सोई निगह करियो।** हमारी समझ मांइ तो संस्कृत पाठशाला का प्रायः छात्र व्यावहारिक ज्ञान जिस माफक वाणिका तथा हिन्दी अंग्रेजी का ज्ञान सेती वंचित रेय जावे है उणां लोगों ने समझाने सेती मांई आय जावे तो उणां के बहुत ही लाभ होणे सके छै सो फालतू आदमी दीखे छै सो फालतू आदमी कोई काम करणे सकेगो नहीं सोई उणां की कोई चेष्टा करणे की दरकार छै नहीं।.........ग्राम पाठशाला की रिपोर्ट भेजी सो ठीक है बछरारे तथा पाबूसर तो उठाय दीया है बाकी दुलरासर तथा और भी १-२ जगहां भी तो छात्र कमती ही है बाकी सगली जगहां निरीक्षण भी नहीं होण सके है सोई कम से कम महीने १ मांइ १ दफे

तो निरीक्षण करने की चेप्टा करणी चाहिये सोई निगह राखकर चेप्टा करियो मासिक वेतन के तांई मांड़ी सो ठीक है पेहली मांड़ ही दीयो है कोई खास आदमी अच्छी पढ़ाणे वालो हुवे तो उस की वृद्धि करने सको हो बाकी इस मांई पूरी तौर सु निगह कर कर ही होणो चाहिये सो जाणीयो। उपदेश भवन मांड़ कथा ठीक होती मांड़ी सो ठीक है निगहदारी पूरी तौर सु राखेगा।

पुरी, आषाढ़ बदी १३ सं० १९९४.

चिठी आपकी ता० ३०, ६, ३० की दीयोड़ी आई समाचार निगह करीया। हमारो कलकत्ते जाने को विचार छो सोई नहीं हुयो इब शनिवार ता० १० जुलाई को रथयात्रा कर कर ता० ११ जुलाई ने रवाना होय कर कलकत्ते जावांगा सोई जानीयो। चिट्ठी आपकी आने से निगह हुसी सतरंजी की लूम खाती की विद लगा कर मांड़ी सोई जाना छां ठीक होय गई सोई नहीं तो सतरंजी की लूम भी निगह कर कर तैयार करवाय देयो तथा निवार को भी काम पूरी तौर सु सीखाने की चेप्टा करियो आसन हाथ का हाथ विकता मांडया सो ठीक है जकी जिनस वीके जकी तो वेचता जायो बाकी जींनस चौकस रखायो। वह जिनसां सीयाले मांड विकेगी बाकी माल रखने मांई चौकस निगहदारी राखीयो। **व्यायामशाला को ट्यूब वेल तांई मांड्यो सो ठीक है पानी को सुभीतो तो सगलां ने ही हुणो चाये बाकी संस्या ने हुणा उसको भी ध्यान राखनुं चाये।** हाथ धोणुं तथा कुरला दांतन करने तांई तो सामने सराफां की बगीची में सारो बंदोवस्त हुये जावे अठे धोने की कोई जरूरत छै नहीं बाकी केय देवे तो भी भीतर धोणो चाये नहीं १ पानी भरने के सिवाय हाथ धोणुं तथा नहाणुं वगैरह चाये नहीं। आदमी १ आपके कने न्यारो को न्यारो रवें छै जके ने समझाय देणो चाये। तथा टाइम के माफक काम होणुं चाये। सोई नीगह कर कर ठीक कर देयो जके से संस्थाओं ने भी नुकसान पहुँचे नहीं तथा पानी को सुभीतो बाहर वालां ने देण सको दीयो जाणु चाहे। बिजली को काम तो हाथ सु होवैगो पंप वगैरह को ठीक होणे सेती जावेगो बाकी पाणी की जितने गरमी छे जितने ही ज्यादा टाण छै पाछे कमती हुए जावेगा बाकी बिजली को पंप भेजणे को हमां तकादो मांड़ दीयो छै सोई जानीयो। रात्रि पाठशाला को काम ठीक होतो मांड्यो सो ठीक छै बाकी हमां शिल्पशाला का तथा संस्कृत का विद्यार्थियों ने व्यावहारिक शिक्षा के तांई रात्रि पाठशाला मांय अनिवार्य करने की तांई आप सेती सलाह मंगाई छी जके बारे मांई आपको कोई जवाब आयो नहीं सोई मांड़ीयो। हमारी राय में तो कम सुं कम आपणे छात्रवृत्ति पांच है जका विद्यार्थियां ने तो व्यावहारिक शिक्षा जरूर दीलानी चाहे सो आपके कांई जंचे सो सलाह कर कर मांड़ीयो।

हनुमान संजीविनी के बारे में मांड्यो सोई ठीक छै जिस तरह उचित समझो उस तरह देख कर कम व्यवहार करनी चाहिये। जिस माफक आदमी हुवे उस तरह करनी चाहिये। **उपदेश भवन मांई एक अध्याय श्री बालमीकि रामायण की शुरू करी मांड़ी सोई ठीक छै जानां छां इस मांई कोई आपत्ति हुवेगी नहीं।** आयुर्वेदिक विद्यालय में जैपुर की परीक्षा में छात्र पास होया जका मांड्यो सोई ठीक है। विद्यापीठ को भी रिजल्ट आय गयो होगो मांड़ीयो। स्त्री पुस्तकालय के तांई पुस्तकां की एक सूची भेजी सोई पहुँच गई छै हमां कलकत्ता जावांगा जरा सलाह कर कर ठीक करांगा। आलमारी को साइज हमां मांड्यो जको ठीक छै कारण हमां **अठे भी एक छोटो सो पुस्तकालय करो है जीके तांई कराई छै जके मांई पुस्तक बहुत ही नावड़ी छै सोई जाणीयो।**

कलकत्ता, सावण बदी ७ संवत् १९९४

सतरंजी को अड्डो १ चौड़ो फुट ६×६।। सतरंजी के तांई आयो मांड़ो सो ठीक है जाना छां उस पर काम शुरू कर दीयो होवेगा नहीं तो जरूर बैठाय कर सतरंजी २-५ जरूर बणायो हमारी समझ मांई तो सतरंजी को साइज ८-१२ फुट को होणो चाहिए कारण यह साइज स्टैंडर्ड साइज छै छोटे साइज की सतरंजी करवे ऊपर बणाने वाला मांड भी हेरफेर करी जाकर बणाने की मांड़ी सो ठीक है उसकी भी १-२ सतरंजी बणाय कर निगह करीयो। नीवार को एक छोटो सो अड्डो हिसार सुं दूसरो लीयो मांड्यो सो ठीक है निवार तथा सतरंजी वगैरह को काम बणाय कर देखीयो किस रकम मजुरी मांय पोसाणे सके छे नीगे करीयो। गलीचा के अड्डे के तांई काठ हिसार मां खरीद करा दीयो मांड्यो जीको २-४ दिनां मांई आणे की मांड़ी सो जानां छां पहुँच गयो हुसी उस पर भी १ गलीचो बणाय कर देखीयो कांई दाम पड़े छे सो निगह होय जावेगा। हिसार सुं रेजा वगैरह की निगह कर कर आया मांड़ी सो ठीक है जानां छां इससुं कुछ फायदो होया होवेगा मांड़ीयो। सतरंजी को अड्डो बैठाणे वगैरह तांई खाती को काम करायो सो बहुत ठीक है। आप मांड़ी कि अब तो जगहां की थोड़ी जरूरत है उसके तांई तजवीज करणी होवैगी सो ठीक है हमारी समझ मांई तो इवार १ दफे काम चलाणे के तांई ज्यादा दरकार होवे तो शिल्पशाला के लेण मांई उत्तरादी दिवाल के सारे जठे भाटा पड़या छ जको एक जगह इकट्ठा कराय कर दिवाल के सारे लंबो पुलां को छपरो १ कराय लेणो चाये जकी जगहां बार १ मोकली होय जावेगी सो ही जरूरत हुवे तो निगह कर कर कराय लेयो। ईवार इसी दरकार नहीं होवे जणांसै हमां आवांगा जणां सलाह होय जावेगा आदि दरकार समझो जणांसै उत्तरादी के सारे सारे जितणां लाम्बो दरकार होवे जितणां लाम्बी पूलां को कराय लेयो। व्यायामशाला को काम ठीक होतो मांड्यो नियमावली पोंची मांड़ी सो ठीक है। रतनगढ़ मांड विरखा मोकली हुया मांड़ी सो बहुत आनन्द की बात है। भाणेद सुं घास की लाद १ आई मांड़ी तथा भाई सागरमलजी फेरूँ ३-४ लाद घास मंगाणे की मांड़ी सो ठीक है। चेप्टा कर कर जरूर

मंगायो आप मांड़ी कि १ लाद ऊपर रु० १२ आ० पड़े है सो ठीक है इस माफक मौके मांई ४-८ आ० वेसी कमती लाग्या ही करे छै कारण हल जोतने की टाइम छै तथा यह काम भी इस मौके ही करणे को छै सोई ४-८ आ० कमती वेसी को ज्ञान करीयो मतीना जरूर चेष्टा कर कर ३-४ लाद घास की और मंगायो गलती मांड रेवै नहीं सो ज्यादा कांई मांडां वनिता विद्यालय को काम ठीक ठीक होता मांडचो सो ठीक है वीच-वीच में निगरानी जरूर राखणा गलती होवे नहीं टाइम वदल दीया होवेगा। नहीं तो निगह राख कर वदलाय देयो। उणां ने कम से कम १ घंटा रात्रि पाठशाला मांइ पढ़णुं होवेगा नहीं तो हमारी तरफ सेती छात्रावास उठाय दीयो जावेगा इस माफक फालतु आदमियां के तांई खरचो लगावणे मांय भी कोई फायदो छै? सोई वार१ आप पहिले उणां ने समझाय दीयो नहीं जणां हमां छात्रावास उठाणे को हुकम मांड़ देवांगा फालतु आदमीयां ने पढ़ाणे सुं कोई फायदा छै नहीं। स्वामी चेतनानन्द का विद्यार्थी ८-६ आता मांडचो सु ठीक छै उणांने पढ़ाने को कांई साधन छै मांड़ीयो। आयुर्वेद का छात्र देरी को कारण वतायो जिको भी फालतू सी वात छै सारी रात दूसरी जगहां फिरता फिरे जिका मांय तो उणांने देरी लागे नहीं पढ़ने को सवाल आवे जणां देरी होय जावे सोई उणांने भी आप समझाय देयो समझाने सेती ठीक होय जावेगा कारण आपणे तो इस मांई कोई फायदो छै नहीं उणां लोगों के भलाई की चेष्टा करांछां जिके ऊपर भी वे लोग नहीं माने तो उणकी वद-किस्मत के सिवाय कांई समझो जावे सोई चेष्टा करके ठीक करियो तथा वाहर का छात्रां ने भी समझाने सेती उण लोगों के फायदेकी वात है सोई जरूर ही चेष्टा करियो गलती हुवे नहीं।

कलकत्ता ता० ४, ८, ३७

चिट्‌ठी आपकी ता० १, ८, ३७ की दी हुई आई समाचार लिखा सो निगह करीया। वालिका विद्यालय में सिरसावाली अध्यापिका आई लिखी काम करणुं शुरू करी मांड़ी सोई वहुत ठीक है जानां छां काम वहुत चोखी तरह करती हुवेगी तथा पढ़ाने की योग्यता चोखी हुवेगी मांड़ीयो। तथा इसको के नाम छै तथा सुहागण छै अथवा विधवा मांड़ियो। तथा सुहागण होवे तो इनको पति कोई काम करे छै तथा वालक कांई छै सगला समाचार मांड़ीयो। वालिका विद्यालय में वालिका खेलणे तांई तिसलणी १ छोटी हेली सेती भेजाई छै जिकी लाग गई होवेगी तथा वड़ी तिसलणीकी मरम्मत हो गई होवेगी मांड़ीयो। शिल्पशाला मांई गलीचा की लूम वड़ी हिसार से आई मांडी उसके दाम की वीजक की नकल भेज्या सोई दाम ठीकई छै। लूम १० फुट चौड़ी मांडी जिके ऊपर ८॥ फुट तांई को काम होणे की मांडी सो ठीक है तथा जमीन के ऊपर हक वणायो सो वहुत ठीक है जमीन के भीतर के काम मांय कई रकम को रकम को असुभीतो छै सो ठीक छै। आप मांड्यो कि यो मड़ो करायो जातो तो वहुत रुपया लागता सो ठीक ही है आपणे देश का खाती कोई भी काम कर कर पार पाड़े नहीं वाकी उपाय नहीं इस लूम ऊपर पलंग के नाप का गलीचा वणाने की मांडी सोई वहुत ठीक है जाणां छां वण गया होगा। किस तरह का वण्या मांडीयो ऊन का भाव तेजी होय गया मांड्या सोई वहुत ही तेजी होय गया वाकी काम के तांई जिकी तो लेणी ही पड़ेगी वाकी जहां तक हो इस वक्त सुते को काम ही वेसी कराने की चेष्टा मांडी सो ठीक छै। कसारीयां के तांई मांडी सो ठीक है अठे तो इस माफक जानवरां के तांई फनेल की ही गोली तथा फीनेल ही छीड़कणे को काम करे छै वाकी और भी नीगै करांगा कोई वात नीगै मांय आवेगी तो मांड़ांगा सोई जानीयो। सीवण घास के तांई मांडी सो ठीक है भाणीदे सुं उंट और आणे सके तो मंगाय कर के श्मशान केडंडे मांइ लगाणा चाहिये कारण वीड़ मांय तो घास वड़ो होवेगा नहीं कारण गौ चर जावेगी श्मशान के डंडे मांइ १ तरफ लगाणे सुं वड़ो होयकर इसका वीज होणे सके छै सोई जरूरत समझो तो ऊंट १ मंगाय करके श्मशान के डंडे में लगवाय देयो। वनिता विद्यालय को काम ठीक चालतो मांड्यो १२-१३ वनिता आती मांड़ी सो ठीक है टाइम वगैरह ठीक करी मांड़ी सो ठीक है आप जाय कर निगह करणे की मांड़ी सो ठीक है जाना छां आय गया हुसी सारी निगह करी होसी।

सालासर तथा तोलियासर के तांई एक-एक छोटी साधारण काठ की आलमारी कराय देयो सोई गीता प्रेस की पुस्तकां भेजांगा जकी भेजाय देयो। स्त्रियां के उपयोग की पुस्तकां की लिस्टी १ आप भेजी जकी हमां निगह करी छै मोटा मोटी ठीक ही है वाकी उस मांय भी फेरूं निगह करके ठालीयो। कोई रकम की दुश्चरित्र किताव हुवे तो मंगानी चाहिये नहीं। आप वठे ठीक कर लेयो। आप लिखो तो हमां अठे सुं ठीक कर देवां वाकी हमारी समझ मांय आप वठे ही संग्रह कर कर इणको हिसाव न्यारो कर देयो। गीता प्रेस सुं गीता प्रेस की पुस्तकां की ५ सेट आपने भेजाई छै जकी चिट्‌ठी जावे तो राख लेयो दाम हमां अठे जमा कराय देवांगा। इस पुस्तकां की सेट मांइ सालासर तोलियासर स्त्रियां के तांई दे देयो वाकी सेट २ रेण देयो और उचित समझांगा जठे १ भेजाय देवांगा। तथा १ आपके कोई ध्यान मांइ आवे तो मांड़ीयो सोई मांड़ देवांगा। दिखणादे वजार मांय आसारामजी सिंघानीये के कुएँ के सामने हेली १लेई छै जिके में के काम हुणे सके छै निगह कर कर मांड़ीयो सोई उसकी तजवीज करी जावे जरूर ध्यान वैठाय कर मांड़ीयो।

कलकत्ता, भादवा वदी १० सं० १९९४

ग्राम पाठशाला में दवाई भेजी मांड़ी सो ठीक है मलेरिया के लिये तैयार करी हुई गोली आज दिन पं० जुहारमलजी ढुंढाड़ो रतनगढ़ जावे छै जीके सागे भेजी छै सोई पुंचने सेती भेजाय देयो। इणकी विधि आगे लीखोड़ी ही छै। व्याऊ पग मांइ फाटे छै जिके तांई दवाई पंडित जुहारमलजी वहुत चोखी वताई छै कि राल

ने पीस कर तिलों के तेल में मीलाय कर पाणी मांय फिटने सुं चुंटिया घृत के माफक होय जावेगी। जकी व्याऊ फाटेड़ी ने वहुत ही ठीक छै सोई आप उणां ने पूछ कर ठीक कर लेयो तथा काम मांय आवे तो तैयार कराय कर भेज देयो। रामलीला मंडली गई साल वाली फेरूं आई तथा रामलीला अगुणे वाजार की तरफ शुरू करी सोई ठीक है आपणुं उद्देश्य तो दूसरो थो वाकी कोई वात नहीं। वावू हणमान प्रसादजी आया लिखा सो ठीक है वहुत आनन्द की वात है। आप भी कोई वगत उनां सुं मिलियो तथा कोई मोको लागे तो आपणे काम के वारे में जिकर करीयो उण लोगां की के राय है लिखियो। शिल्पशाला मांय दिल्ली से रंग मंगायी सो ठीक है दरकार माफक खरच करीयो व्यायामशाला में ट्यूब वेल की टुंटिया के तांई लिख्यो सो ठीक है टुंटी ३ वाहर में लगा देणी चाहिये। (१) ब्राह्मण महाजन के लिये, (२) साधारण आदमियां जिस तरह डाकोत सुनार खाती माली वगैरह के लिए, (३) अछूत जाति के लिए इस तरह टुंटी ३ दरवाजे के वाहर ने लगाय देणो चाये तथा टुंटी १ भीतर आपणे निज के काम के लिए रेणी चाये वाकी भीतर की टुंटी दरवाजे के नजदीक रेणी चाये नहीं कुछ दूर रेणी चाये कारण भीतर की टुंटी सुं वाहर को कोई आदमी सुं कनेक्शन शुरू से ही रेणुं चाहे नहीं वाहर में टुंटी लागे जिके सेती आपणुं व्यायामशाला में आदमी रेवै जिके ने आछी तरह समझाय देणुं चाहे कि वाहर ने टुंटी लाग्यां पीछे वाहर को कोई भी आदमी पाणी के तांई भीतर आणे सके नहीं तथा टुंटी लगावे जकी नीची लगाणी चाहिये जिकी मांय टुंटियां के नीचे बैठकर नहाणुं तथा कपड़ा धोने को काम करणे पावे नहीं सोई हमां चिट्ठी पूज मनसुखरायजी ने भी देय देई छै सोई आप रामेसर ने सागे ले जाय कर ठीक कर लेयो। कुआँ चौड़ो करणे की वात मांड़ी सो ठीक है या वात पीछे मौको हुणे से ठीक होवेगो। श्री दरवार साहेव की जुविली की मांडी सोई ठीक है पकी वात सुणो जकी मांडीयो। मुनीसपालिटी सुं मानपत्र की नकल भेजी सो पहुँच गई छै। गनेड़ियों के मंदिर के वारे की मांड़ी सो ठीक है वहुत ही आनंद की वात है।

वैद्यनाथधाम देवघर आसोज वदी ३, सं० १९९४

चिट्ठी आपकी आज दिन ता० १९-९ की दीयेड़ी कलकत्ते होय कर आई समाचार मांड्या सो निगह करचा। **संस्थाओं तथा हेली मांय रोशनी आछी तरह सुं करी गई तथा भंडार मांई २ मण की लापसी करा कर गरीवांनें खुवाई गई सोई वहुत चोखो काम करचो।** वाकी लापसी भंडार हेली की मांड़ न करी सो ठीक है लेकिन हेली मांय भी करणे सकां छां वाकी कोई अटकी नहीं वहुत चोखो काम होय गयो। वड़े मंदिर मांय श्री दरवार साहेव की दीर्घायु के तांई भगवान से प्रार्थना करी गई सोई उचित ही हुया। संस्थाओं की तरफ सुं तथा हेली सुं वीकानेर तार दिया जीकी नकल भेजी सो ठीक है जाणां हां रतनगढ़ सुं और भी सेठ

श्रीरामजी।

Head Office:— SOORAJMULL NAGARMULL. 61, Harrison Road, CALCUTTA.

SOORAJMULL NAGARMULL. Bompastown, DEOGHAR, S. P.

॥ सिद्धी श्री ____ शुभस्थानके श्रीपत्री ____ जोग लिखी श्री वैद्यनाथधाम देवघरसे सूरजमल नागरमल केन श्री जै सीतारामजी की वंचना अठे उठे श्रीजी सहाय छै उपरंच चिट्ठी आपकी आई

श्री सूरजमल जी जालान की हस्त-लिपि

साहुकार लोग तार दीया होवेगा कुण कुण दीया नीगे मांड़ आयी हुवेगी मांड़ियो। वालिका विद्यालय में उत्सव मनायो सो ठीक है वहुत आछो काम कियो आप लिखा कि टाइम कमती होणे के

सबब सुं आप सेती मंजूरी नहीं ले सका सो ठीक है कोई अटकी नहीं जिस वक्त जिसीं उचित समझो जीयां करणो ही चाहिये। तीनुं बजारां में आपणी तरफ सुं फरी तथा झिंड़ी सजाई गई सो ठीक है अगुणे बाजार में सहायक समिति की तरफ सुं सजाई हुई सो ठीक है बहुत ही खुशी की बात है और भी सेठ साहुकारां की तरफ से अपणी अपणी दुकान तथा हेल्यां पर रोशनी होई होवेगी कुण कुण करी मांडीयो। दुसरे दुसरे कार्यवाही हुई सुणी हुवे तो मांडीयो। आगीने अक्टूबर मांई कांई कार्रवाई होणे की बात है जिकी भी सुणी होवे तो मांडीयो। आगे अक्टूबर मांई जलसे पर रतनगढ़ सुं कुण-कुण जावेगा सोई निगह कर कर जरूर मांड़ीयो चीठी पाछी देयो। हमां दीन १५ अठे रेय कर कलकत्ते जायकर दसरावे के आस पास रतनगढ़ होयकर बीकानेर जाणे को विचार है सोई जाणीयो। बाकी बीकानेर मांइ बाहर का आदमी मोकलाई आवेगा जके सबब सेती जगह के तांई कुछ तकलीफ होने सके छै बाकी जगह के तांई ईसरदासजी चोपड़ा ने चिट्ठी दीया छै सोई जाणां छां बंदोबस्त होय जावेगा बाकी उणां की चिट्ठी आणे सेती हमां आपने मांडांगा सोई आप बार १ बीकानेर जायकर सगली निगह कर आयो कि जगहां ठीक छै कि नहीं तथा दीन ५-७ रेवणो पड़ेगा जके तांई और कांई कांई बंदोबस्त करणुं पड़ेगा मोटर गाड़ी चाहियेगा जकी तो मोटर १ हमां दिल्ली सेती बीकानेर भेजाय देवांगा तथा मोटर १ और चाहियेगा जके तांई दुसरो बंदोबस्त करांगा बाकी बिछायत वगैरह की जिनसां तथा बरतण वगैरह चाहिये जका रतनगढ़ सुं चला जावेगा ईस तरै की बात जंचे छै कारण बीकानेर मांय तो इस वक्त जिनसां पूरी तौर सुं सगलां के हीं रुक जावेगा सोई चीठी बीकानेर की आणे सेती चिट्ठी आपने देवांगा सोई जाणीयो। बीकानेर मांइ सहर के बाहर और कोई भलेरी जगहां आपकी निगह मांइ हुवे तो निगह करीयो तथा और कांई कांई कार्यवाही करणी हुवे तो मांडीयो। और समाचार १ बांचीज्यो बोली बोल के खेले के तांई सुते की जाली तथा बोल वगैरह २-४ सेट को इंतजाम बराबर राखियो। तथा श्री हनुमान बोलीबोल. संघ के नाम से बोलीबाल का खेला नग २ अगुणे दरवाजे आथुणे नाके जरूर चेष्टा कर कर ठीक करीयो इण के तांई खरचो लागेगो जीको आपणे जुमे रवेगो।

कलकत्ता, आसोज वदी १५ सं० १९९४

चिट्ठी तथा रिपोर्ट आपकी आई बदले की देण सक्या नहीं कारण हमारो शरीर अठे आया पीछे दीन ३-४ नरम रयो जके सुं। हमारो शरीर तो हाल तांई भी पूरी तौर सुं ठीक हुयो नहीं बाकी बीकानेर की जुबिली का दिन नजदीक आय गया जके सुं हमां अठे सुं ता० २३ शनिवार ने अथवा ता० २५ सोमवार नुं रवाना होयकर आपके कने रतनगढ़ सोमवार अथवा बुधवार ने पौंचांगा रतनगढ़ सुं बुधवार नें ही रात की गाड़ी सुं रवाना होय कर ता० २८ अक्टूबर बीसपतवार ने बीकानेर पोंचांगा कारण बीकानेर को राधाकिशनजी बागला को तार आयो छै कि ता० २९ ने जरूर पोंचणा चाहिये सोई अठे सुं सा० राधाकिशनजी बागला तथा हजारीमलजी दुधवेवाला भी जावेगा जीको सगलाई सागे ही ता० २८ ने बीकानेर पोंचांगा सोई जाणीयो। सा० राधाकिशनजी होर तथा आपणे एक जगहां ही ठेरणे की बात छै सोई एक जगहां ही निकास होय जावे जणां तो बहुत ही ठीक रेवेगी एक जगहां निकास नहीं होतो दीखे जणां सै आपणे तो ईसरदासजी को ही बगीचे की ठीक कर लेयो। मोटर गाड़ी १ दोय दिन मांह हमां अठे सुं भेज देवांगा जीकी ता० २६-२७ तांई बीकानेर पोंच जावेगी तथा रामकुंवार बीरामण रतनगढ़ वालो ड्राईवर आपणे रेवे छै जीके ने भेज देवांगा सोई आप कने पोंच जावेगा। आदमी हमारे सागे आवेगा जीका तो हमारे सागे आय जावेगा। चिट्ठी पाछी देयो।

To Pandit
Soorajmullji Mutoli
P.O. Ratangarh
(Rajputana)

From :—
SOORAJMULL NAGARMULL,
61. HARRISON ROAD,
CALCUTTA.

श्री सूरजमल जी की अंग्रेजी हस्तलिपि

राजस्थान का ही नहीं, भारत का प्राचीनतम तीर्थ-क्षेत्र पुष्कर, ब्रह्मा की पूजा का एकमात्र देवाराधन केन्द्र और सावित्री व गायत्री की पूजा का अछूता स्मृति-मंदिर जिस पुण्य सलिला झील के किनारे है, उस पुष्कर-सागर का भव्य दृश्य। चित्र लगभग आज से ५० वर्ष पूर्व का है।

—चित्र श्री बलदेव प्रसाद अग्रवाल के सौजन्य से
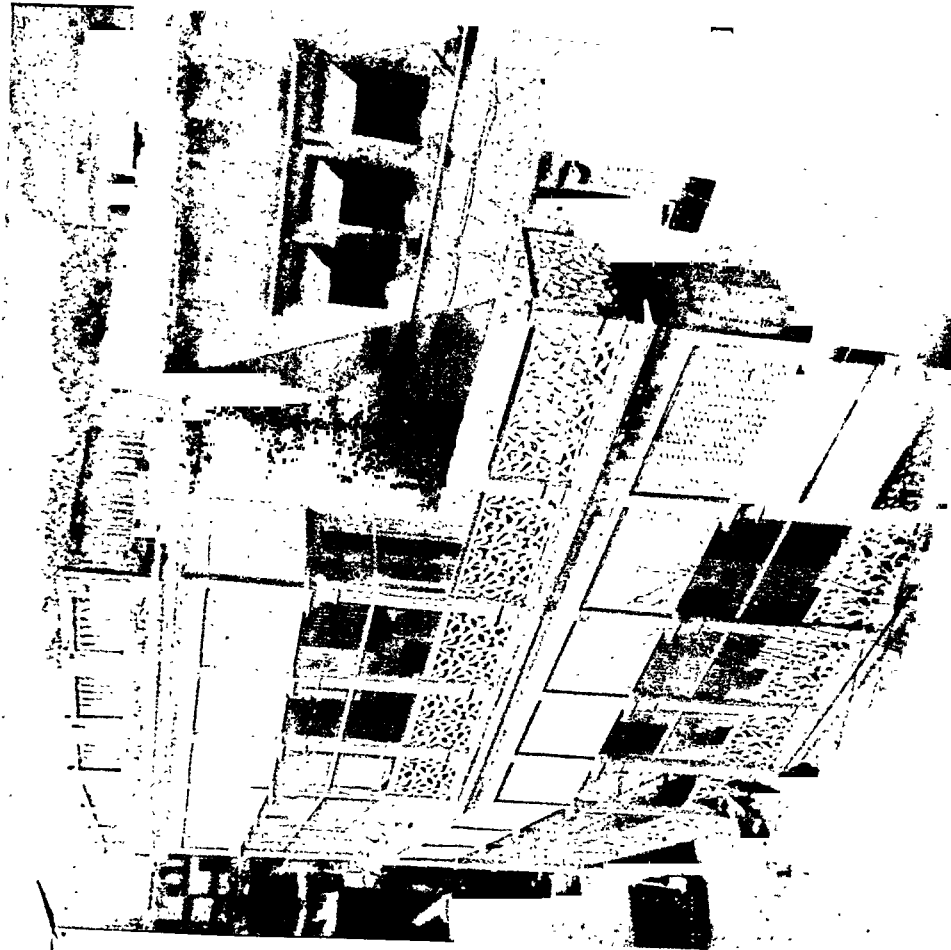
काशी में मणिकर्णिका घाट पर विश्राम-भवन
यह निवास कक्ष सूरजमल नागरमल द्वारा सन् १९३३ में उन यात्रियों के लिए तैयार करवाया गया, जो अपनी चिकित्सा के लिए काशी आते हैं।
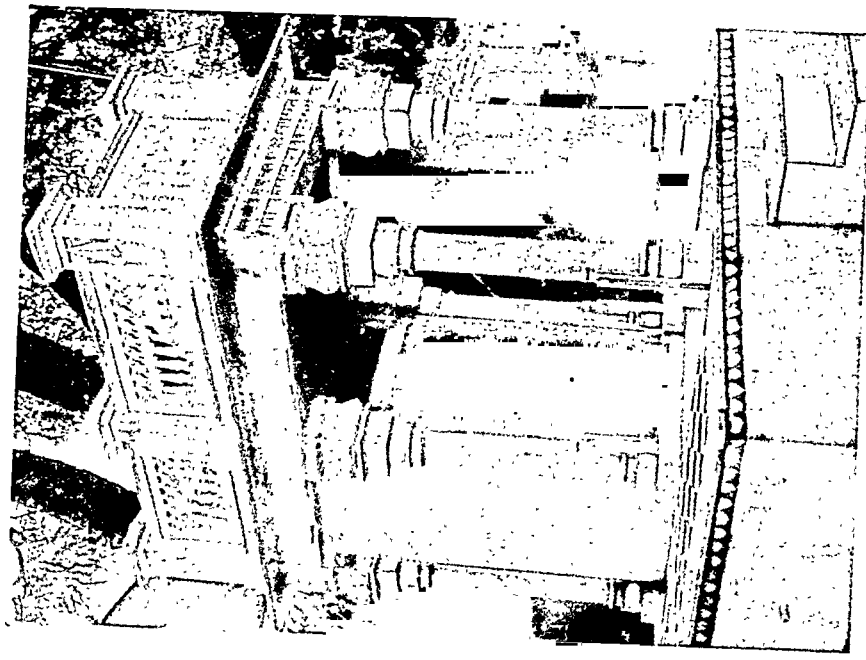
करणी-मंदिर, रतनगढ़
[नगर की बसावट के समय से ही यह विद्यमान है।]

राष्ट्र-वंद्य गांधीजो जब विजली-कोठी में ठहरे

[४८]

महत् ग्रंथ में बहुत अधिक देने का लोभ प्रायः कष्ट दिया करता है, क्योंकि अत्यधिक महत्व के तथ्य अपना अधिकार लेखक के हृदय पर उसी तरह हावी कर लेते हैं, जिस तरह प्रेम-विह्वल हृदय की भावुकता पर समग्र समर्पण कर देने की कातरता बाढ़-तरंगों की तरह से उच्छ्वसित होती रहती है। लेखक न याचक है, न दाता है, वह तो संग्राहक है—उच्चतम मूल्यों का संग्राहक। जो है, उससे कहीं अधिक मूल्यवान मूल्य का तथ्य मिले, तो उसका संग्रह भला उसके हाथ से क्यों छूट जाए ; भ्रमर अपने गुंजन में किसी पुष्प को भले ही छोड़ दे, मधुमक्खी किसी पराग-भरित पुष्प को नहीं अछूता छोड़ सकती। अपनी-अपनी विवशता है। इस अध्याय को सहसा ही ग्रंथ के अन्त में जोड़ने की विवशता भी कुछ ऐसी ही आप समझिए।

हमारे परम आदरणीय मित्र श्री शिवसागरजी अवस्थी ने अनायास, इस ग्रंथ की समाप्ति के क्षणों में एक संस्मरण सुना दिया। बात सन् १९३४ की, संबंधित गांधीजी से, संदर्भ देवघर का, घटना बिजली-कोठी, देवघर की—वह प्रथम कोठी, जहाँ पर सबसे पहले बिजली का प्रकाश आलोकित हुआ और जिसमें सूरजमल जी ने अपने जीवन का अन्तिम समय अधिक बिताने की आसक्ति रखी। पहले घटना साधारण लगी। विचार किया, वजनदार लगी। ग्रंथ का काम कुछ रुक-सा गया, तथ्य बटोरने में सारी शक्ति लगा दी।

सन् १९१५ के बाद से ही सूरजमल जी ने सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को हर संभव प्रकार से अपनी सबल बाँह बढ़ाना शुरू कर दिया था। बीकानेर की चूरू-स्त्रवित राजनीति में उनका आन्तरिक बल बराबर रहा। कलकत्ता में दो-चार अवसरों पर इस तरह आपका सहयोग मिला कि वह रहस्यमय ही रहा, लेकिन उससे जो राहत मिली, वह अश्रुत रही। उदाहरण के तौर पर ढाका में सांप्रदायिक दंगा हुआ। आपने उस युग के लोकप्रिय राष्ट्र-कर्मी पद्मराजजी जैन को अपने पास बुलाया, उनसे परामर्श करते हुए आग्रह किया कि आप को अविलंब ढाका कुछ कार्यकर्ताओं को साथ में लेकर जाना चाहिए। मेरे पास इस समय २० हजार रुपये हैं। इन्हें लेते जाइए। वहाँ अपने जो पीड़ित भाई हैं, उनको पूरी राहत मिले, यह व्यवस्था कर आइए। पद्मराज जी जैन को मानो इसी क्षण की अपेक्षा थी, वे अविलंब ही ढाका के लिए प्रस्थान कर गये। उस दंगे में कितने भाईयों-बहनों की प्राण-रक्षा इस उपाय से हुई होगी, यह हिसाब भला हमारे किस राष्ट्र-ग्रंथ में सुरक्षित है ?

सन् १९३० तक देवघर में बिजली-कोठी बन कर तैयार हो गयी थी। उसका नाम लोक-जगत ने स्वयं ही 'बिजली कोठी' रख दिया था, क्योंकि उसीमें सबसे पहले विद्युत-आलोक प्रकट हुआ। सन् १९३० में सारा देश नमक-सत्याग्रह के भावावेश से उत्तप्त था। पकड़-धकड़ का दौर-दौरा था। सन् १९३१ भी इसी सरगरमी में बीता। सन् १९३२ भी इसी राजनीतिक अंधड़ का आवेश सहन करते हुए गया। सन् १९३३ में भी गिरफ्तारियों का दौर चलता रहा, राजेन्द्र बाबू पटना में पकड़े गये। गांधीजी यरवदा[1] की जेल में बन्द थे। सुभाष भवाली सैनीटोरियम से लखनऊ के बलरामपुर अस्पताल में पहुँचे क्षय-रोगी थे, लेकिन पुलिस की हिरासत में थे। उन्हें २६ फरवरी को स्वास्थ्य-लाभार्थ वीयना जाने की छूट सरकार ने दे दी थी। पर गांधीजी की मुक्ति के लिए वह प्रस्तुत न थी, हाँ लंदन में और भारत में सारे राजनीतिक दल इस बात पर बल दे रहे थे कि उन्हें बिना देरी किये छोड़ दिया जाए। उधर सरकार सन् १९३५ के एक्ट की तैयारी में वाहिट पेपर तैयार कर चुकी थी, इधर देश में यह जबरदस्त माँग की जा रही थी कि वाहिटपेपर पर जो मुख्य व्यक्ति विचार कर सकने योग्य है, वह तो वास्तव में गांधी है, पहले उसे जेल से मुक्त किया जाए, तभी वाहिटपेपर पर विचार संभव हो सकेगा !

इस पृष्ठभूमि में हमें लंदन में हुई राऊँडटेबल कांफ्रेंस का स्मरण करना होगा। लार्ड कर्जन ने मुस्लिम लीग का कटु स्वप्न देखा था, सन् १९३० में अंबेदकर का भूत भारतीय राजनीति में लंदन के प्रभुओं द्वारा खड़ा किया गया था, अंबेदकर कहते थे कि अछूतों का वास्तविक प्रतिनिधि मैं ही हूँ। गांधीजी ने तत्काल ब्रिटिश षड्यंत्र को पकड़ लिया और समझ लिया कि हिन्दुओं में से हरिजनों को अहिन्दू कह कर अलग करने का यह प्रयास रोकना होगा; उन्होंने घोषणा की कि अंबेदकर केवल ५ प्रतिशत हरिजनों के प्रतिनिधि हैं, शेष ९५ प्रतिशत हरिजनों का प्रतिनिधि तो मैं हूँ ! अंग्रेजी सरकार को ललकारते हुए गांधीजी ने यह और कहा कि अम्बेदकर तो अंग्रेजों द्वारा चुना हुआ प्रतिनिधि है, हरिजनों द्वारा चुना गया नहीं है। उनका असली प्रतिनिधि तो मैं हूँ, मैं कहता हूँ कि उनका संयुक्त निर्वाचन होना चाहिए। और इस तरह पहली गोलमेज परिषद् समाप्त हुई। बम्बई में लौटने पर गांधीजी ने कहा कि मैं विलायत से खाली हाथ ही लौटा हूँ ! उसके बाद

१ गांधीजी का चर्खा इसी जेल के नाम पर सारे देश में 'यरवदा-चक्र' भी कहलाया।

वे यरवदा जेल में धर दिये गए, क्योंकि उन्होंने भारत-मंत्री की इच्छाओं में रोड़ा अटकाया था !! जब भारत-मंत्री मैकडानल्ड का पंच-फैसला आया तो पूर्व घोषणा के अनुसार गांधीजी ने आमरण अनशन की घोषणा यरवदा जेल में की। सारा भारत चिंतित हुई। पूना में अम्बेदकर से तय हुआ कि संयुक्त फैसला ही होगा। उसके मूल्य के ऐवज में कुछ अधिक सीटें हरिजनों को दी जायें, यह गांधीजी के पक्ष की ओर से स्वीकार कर लिया गया। 'पूना पैक्ट' हस्ताक्षरित हो जाने पर अम्बेदकर ने गांधीजी के सम्मुख ही कड़े शब्दों में कहा, "आज सवर्ण हिन्दू हरिजनों के साथ ऐसा निंदनीय व्यवहार करते हैं, फिर भी आप हिन्दुओं के साथ रहने को हमें क्यों कहते हैं ? वे लोग हमारी जाति के लोगों को सार्वजनिक स्थानों में जाने तक नहीं देते। भगवान के मन्दिर में उनके दर्शन तक करने की छूट नहीं देते। गांधीजी ने प्रतिज्ञा करते हुए कहा कि एक वर्ष तक मैं हरिजनों के उद्धार का ही कार्य करूँगा। उस समय सन् १९३० के आसपास 'दलितोद्धार' शब्द ही बहुप्रचलित था। सन् ३२ से आर्यसमाज आदि अन्य संस्थाएँ भी दलितोद्धार का दिवस १९, २०, २१ दिसम्बर को मानने लगी थीं। श्री राजगोपालाचारी इस विषय में सबसे अधिक सक्रिय थे। इस दिशा में पहला काम यह किया गया कि मन्दिरों में हरिजनों के जाने में अवरोधक बने हुए ब्रिटिश भारत के अदालती कानून बाधक थे, उनको दूर करने के लिए एक बिल मद्रास कौंसिल में और दूसरा बिल श्री रंगा आइयर द्वारा केन्द्रीय सरकार की असेम्बली में रखा गया। इन दोनों बिलों ने देश में दलितोद्धार का कार्य जागृति के साथ आगे बढ़ाया। दूसरा काम यह किया गया कि यरवदा जेल से ही गांधीजी ने हरिजनोद्धार का काम शुरू कर दिया। गांधीजी द्वारा सम्पादित जो अखबार अहमदाबाद के साबरमती आश्रम से 'यंग इण्डिया' नाम से निकलता था, उसे बन्द कर दिया गया और 'हरिजन-सेवक' हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, गुजराती के साथ-साथ अन्य भाषाओं में निकाला जाना प्रारंभ हुआ। सारे देश में दलितोद्धार का अंधड़ चल पड़ा। तब सनातनी चौकन्ने हुए। उन्होंने अपना मोर्चा इसलिए मजबूत करना शुरू किया कि हरिजनों को मन्दिरों में प्रविष्ट न होने दिया जाए। गांधीजी कहते थे कि मैं जोर-जबरदस्ती हरिजनों को लेकर मन्दिर में नहीं जाऊँगा। उनका हृदय-परिवर्तन होगा, तभी जाऊँगा। यह पृष्ठ-भूमि है, गांधीजी के देवघर आने की सन् १९३४ में।

यरवदा जेल से छूटे तो गांधीजी ने अपनी प्रतिज्ञानुसार भारत-भ्रमण का कार्यक्रम बनाया और निश्चय किया कि इस भ्रमण में केवल हरिजनोद्धार का काम होगा। वे इसी सिलसिले में पटना तक पहुँचे। देवघर में नथमलजी सिंहानिया ने जेल से निकल कर संथाल परगने में हरिजनोद्धार का काम शुरू कर दिया था। उन्होंने अपने साथियों को लेकर पटना तक यह बात पहुँचाई कि गांधीजी को देवघर आना चाहिए। सूरजमल जी को जब यह पता चला तो आप ने सब कार्यकर्त्ताओं को बुलाकर यही आग्रह किया कि गांधीजी को किसी तरह का कष्ट न होने पावे, इसलिए उत्तम यह रहेगा कि उन्हें मेरी कोठी पर ठहराइए। संथाल जिले के प्रायः सभी राजनीतिक व राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता सूरजमल जी के मंतव्यों से परिचित थे। उन्हें यह प्रस्ताव सहायक ही न लगा, देवघर में सनातनियों द्वारा गांधीजी के विरुद्ध तैयार किये जा रहे तूफान को देखते हुए हितकर भी लगा। एक और कारण था तीसरा। बिजली कोठी में बिजली भी थी और यह उचित समझा गया कि इसी कोठी के पास में खाली जो मैदान है, वहाँ पर इस बिजली का लाभ उठाते हुए जनसभा के निमित्त माइक्रोफोन आदि का भी सुलाभ उठाया जा सकेगा। बात पक्की हो गई। अब सूरजमल जी ने तैयारी शुरू कर दी कि कोठी में गांधीजी जब पधारें, तो उन्हें हर दृष्टि से आराम मिले, उनके साथ आनेवाले साथियों को सुविधा मिले। भोजन आदि की भरपूर व्यवस्था के लिए भी यह बात पक्की की गयी कि देवघर के मारवाड़ी समाज की कुलशील महिलायें भोजन-व्यवस्था का भार अपने ऊपर लें। ये सभी तैयारियाँ चल ही रही थीं कि एक आवश्यक काम से सूरजमल जी को रतनगढ़ के लिए प्रस्थान करना पड़ा। यह विधि का विधान था, कि जब गांधीजी देवघर में आयें, उस समय वे यहाँ से दूर चले जाएँ। पर जाने से पूर्व आपने गांधीजी के स्वागतार्थ और उनके निवासार्थ जो भी तैयारियाँ बिजली-कोठी पर आयोजित की गयी थीं, उनका बारीक दृष्टि से निरीक्षण किया और जहाँ-जहाँ उन्हें कमी लगी, उनका संशोधन करवाया। इसके बाद सबसे यह तकाजा करते हुए कि गांधीजी के आतिथ्य में कहीं भी कोई कमी न आने पावे, वे देवघर से विदा हुए। उनके मनमें तो यही चाहना थी कि देवघर में जब गांधीजी आवें, उस समय उनका देवघर में रहना निहायत जरूरी है—अपने हाथों वे उनका आतिथ्य करते।

गांधीजी देवघर जब पहुँचे, उस समय उनके साथ क्या वास्तविक घटना घटी, वह दी जाए, इससे पूर्व यह बताना जरूरी है कि गांधीजी इस अवसर पर जो देवघर आए, वह उनकी यहाँ पर दूसरी यात्रा थी। और इस यात्रा के प्रसंग में सूरजमल जी का संदर्भ किस तरह द्वितीय बार अनिवार्य रूप से प्रकट होता है, वह तथ्य भी महत्वपूर्ण है।

श्री शिवसागर जी अवस्थी ने बताया, "सूरजमल जी के साथ मुझे भी बराबर रहने का और समागम करने का काफी मौका मिला था। जिन क्षणों में मारवाड़ी समाज के साधारणजन राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं से दूर रहते थे, और थोड़ा-थोड़ा परहेज भी करते थे, उस समय सूरजमल जी के मन में ऐसा एक निर्भय भाव था जो देखते ही बनता था। उनकी महती कामना यही रहती थी कि जो राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता हैं, संघर्षों से जूझ रहे हैं, अपनी आर्थिक अवस्था को दीन बनाते हुए राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान निकालने में

ही अपने को होम किये जा रहे हैं और जो अपने परिवार के संरक्षण को भी गौण मानने लगे हैं—ऐसे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं का संरक्षण और उनका मान-सम्मान और उनका आतिथ्य वे जितना भी अधिक से अधिक कर सकें, वे करते रहें। वे बराबर देखते थे, समाज का एक बहुत बड़ा भाग राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को अपने पास बैठाने और उनसे सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करने में भी हिचकता है। स्वतंत्रता का युद्ध जब तक दूसरी पंक्ति पर दृढ़ न बनाया जायेगा तो अगली पंक्ति का साहस कैसे स्थिर रह सकेगा, इसलिए वे बराबर ही छोटे और बड़े सभी राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं का यथाशक्ति मान-सम्मान किया करते थे और जितनी भी आवश्यकता पड़ती थी, उनकी आर्थिक सहायता देने में उत्साहित रहते थे। श्री देशबन्धु चित्तरंजनदास जब भी स्वास्थ्य की दृष्टि से देवघर जाते तो रिपिया में ठहरा करते थे। किन्तु हमें मालुम था और देखते थे कि वे नियमित रूप से सूरजमलजी से मिलने आते और घण्टों देवघर-स्थित उनकी कोठी में राजनीतिक वार्त्ता करते हुए बैठे रहते थे। देशबन्धु को कितने अवसरों पर कितनी आर्थिक राशि उन्होंने यथाशक्ति भेंट की, इसका हिसाब तो शायद स्वयं सूरजमल जी ने भी न रक्खा होगा। देवघर एक प्रकार से बिहार का अंग है और इस प्रान्त के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में बिहार-रत्न डा० राजेन्द्र बाबू का अन्यतम स्थान था। जब भी राजेन्द्र बाबू देवघर आते तो उनका मान-सम्मान करने के लिए उन्हें सूरजमल जी अपनी कोठी पर निमंत्रित करते। उन्हें अपने पास बैठाते और और उनकी योजनाओं में जो भी संभव होता, सहायता प्रदान करते।"

सन् १९३० के बाद गांधीजी ने हरिजनोद्धार का अभियान प्रारम्भ किया था और इस दृष्टि से समग्र भारत का दौरा करने के लिए वे वर्धा से रवाना हुए थे। यहाँ पर यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि गांधीजी ने जब साबरमती आश्रम की स्थापना की तो देशबन्धु दास का उनसे प्रबलतम आग्रह यही था कि यदि वे कोई राजनीतिक आश्रम स्थापित करना चाहते हैं तो उन्हें देवघर में अपना आश्रम बैठाना चाहिए। इस दृष्टि से गांधीजी को वे अपने साथ देवघर लाये थे। यहाँ की प्राकृतिक रम्यस्थली को देख कर गांधीजी ने यह अवश्य स्वीकार किया था कि आश्रम की दृष्टि से यह अवश्य मनोरम स्थली है, किन्तु संथाल परगने की पिछड़ी हुई स्थिति को देखकर वे आश्वस्त न हो पाये कि यहाँ पर देश का सर्वप्रधान राजनीतिक आश्रम स्थापित किया जा सकता है। गांधीजी का कहना यही था कि मैं अपना आश्रम वहाँ पर स्थापित करूँगा, जहाँ का वातावरण राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत और उत्साहवर्द्धक होगा। ऐसी बातों को देखते हुए उन्होंने गुजरात में ही अपना आश्रम स्थापित किया था।

हरिजनोद्धार का दौरा करते हुए गांधीजी देवघर भी पधारे। यहाँ पर भारत का सर्वप्रमुख ज्योतिर्लिंग वैद्यनाथ स्थापित है और यहाँ के मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश पर कड़ा प्रतिबन्ध था। जब कट्टर-पंथी धर्मानुरागियों को यह पता चला कि गांधीजी देवघर पधार रहे हैं तो बनारस के एक बड़े शक्तिशाली पोंगापंथी दल ने गांधीजी के पहुँचने से पहले ही देवघर में अपना अड्डा जमाया और भीषण उपद्रव करने की योजना उन्होंने गठित कर ली।

श्री नथमल जी सिंहानिया ने विस्तार से गांधीजी के इस देवघर-प्रवास पर लिखा है। उससे पता चलता है कि इस अवसर पर कितना नाटकीय वातावरण सनातनियों ने उपस्थित कर दिया था और किस तरह भयंकर षड़यंत्र रच दिया गया था कि उत्तेजित भीड़ द्वारा गांधीजी के दल को आहत करवा दिया जाए। गांधीजी जब तक देवघर पहुँचे, उस समय तक कई हजार दर्शनार्थी आसपास के अंचलों से आ चुके थे। गाड़ी जसीडीह आनेवाली थी। वहाँ भी भीड़ का बुरा हाल था, इसी भीड़ में उपद्रवकारी उपस्थित थे। उसी अनुपात में गांधीजी की रक्षा के लिए बलवान स्वयं-सेवक तैनात किये गये थे। जसीडीह स्टेशन से गांधीजी को लेकर बिजली-कोठी तक पहुँचाने के लिए एक मोटर भी नियुक्त कर दी गयी थी। रात के ढाई बजे गाड़ी आनी थी। स्टेशन से बाहर पेट्रोमैक्स का प्रबंध, अन्दर लालटेनें प्लेटफार्म पर। उत्तेजित उपद्रवी डंडा लिये हुए, उससे अधिक श्रद्धाभाव से विनीत दर्शनार्थी एवं स्वयंसेवक। गांधीजी की गाड़ी आई, स्वागत एवं कलुषित भाषा से लिप्त विरोधी नारों से आकाश गूंज गया। उनकी रक्षा के लिए बनाया गया कार्डन टूट गया, भीड़ में गांधीजी उलझ गये, फिर भी उन्हें मोटर में बैठाया गया। भीड़ में अनेक आदमी चिथ गये, गिर गये। विरोधियों ने अब मोटर पर डंडे बरसाने शुरू कर दिये। और, यह भी हुआ कि एक बड़ा पत्थर मोटर पर पीछे से आकर शीशे पर लगा। शीशा टूट गया, पत्थर अवश्य अन्दर न आ सका, अन्यथा गांधीजी आहत हुए होते। ड्राइवर चतुर था, मोटर लेकर जैसे-तैसे भागा, आकर उसने बिजली-कोठी पर दम लिया। गांधीजी के साथ मीरा बहन, ठक्कर बापा आदि। वहाँ पहुँच कर गांधीजी ने यथास्थान आसन लगाकर पत्रों का उत्तर लिखवाना शुरू किया, सुबह की प्रार्थना भी हुई। उसके बाद बहनों की सभा में, जो कि कोठी के बगल में आयोजित की गयी थी, भाषण देने गये। मार्ग में विरोधियों का जुलूस काले झंडे लेकर मुस्तैद......

जब कलकत्ता में गांधीजी पर हुए आक्रमण की चर्चा समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई, सारा देश विचलित हो गया। सनातनी क्या कर सकते हैं, यह जानकर उग्र हुए बिना न रहा गया। बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल ने अपने 'विश्वमित्र' में अग्रलेख लिखते हुए बताया कि हमें इस अपमान का बदला लेने के लिए देवघर में ही दलितोद्धार का केन्द्र खोल देना चाहिए। पर राजेन्द्र बाबू ने इस सुझाव पर यही कहा कि हम ऐसा नहीं करेंगे। हम तो हृदय-परिवर्तन में विश्वास करते हैं।

श्री शिवसागरजी अवस्थी ने अन्त में कहा कि मेरी निश्चित मान्यता है कि देवघर में गांधीजी का कार्यक्रम वहुत सफल रहा। वे हम सब कार्यकर्ताओं की संगठित कार्य-प्रणाली से वहुत प्रभावित हुए। जब हमने गांधीजी से कहा कि जिस कोठी पर आप ठहरे हुए हैं, उसके मालिक सूरजमलजी का नैतिक बल हमारी सभी योजनाओं को मजबूत बनाये रखता है, तो यह सुनकर वे वहुत प्रसन्न हुए। गांधीजी की विदा के समय सारा देवघर श्रद्धा से भरा हुआ था। उनके चले जाने के बाद विजली-कोठी सदा के लिए गांधीजी की स्मृतियों से हमारे लिए परिचित हो गई।

गांधीजी की यह घटना २६ अप्रैल सन् १९३४ को घटित हुई थी।

कुछ दिनों बाद जब सूरजमलजी वापस देवघर आए, उस समय पुनः अनेक राष्ट्रकर्मी उनके विजली-कोठी निवास पर आकर मिले। सबने गांधीजी के साथ क्या वीती, विस्तार से बताया; सूरजमल जी ने मुस्करा कर यही कहा कि विरोध जितना गहरा हुआ है, सुधार की धार भी उतनी ही तेज वहेगी। वे ऐसे ही संस्कारवान सनातनी थे!

देश की उल्लेखनीय यात्राएँ और अन्य कार्य

[४६]

पुण्य अवस्था में प्रथम चरण धरते ही जिस महाभाग की आयु शेष हो चुकी हो, उसके प्रायः सभी कार्य-कलापों में एक अर्थ ढूंढ़ निकालना अप्रासंगिक नहीं है। उसके जीवन-दर्शन का आन्तरिक गठन किन सुस्पष्ट दृष्टि-क्षितिजों के अन्तर्मिलन से संभव हुआ है, उसका सहज रहस्य हाथ लग जाता है।

सन् १९१८ में वे काश्मीर की यात्रा पर गये थे। देश-दर्शन में उनकी गहरी आसक्ति थी, अन्यत्र स्थानों की संस्थाओं की कार्य-प्रणाली का वे प्रायः अध्ययन करने में उत्साहित रहते थे। इसी प्रसंग में, धर्म-निष्ठा की तृप्ति के निमित्त वे चिलिलग, दार्जिलिंग, मसूरी भी होकर आये थे।

सन् १९३० में वे स्वामी गोपालदास जी आदि के साथ दक्षिण भारत की यात्रा पर निकले। पुरी होते हुए वे वंगलोर, ऊटाकामंड, रामेश्वर आदि प्रसिद्ध स्थानों पर गये। मार्ग में मद्रास की हिन्दी-सभा का आपने विस्तार से निरीक्षण किया। अन्य स्थानों की सभाएँ भी लगे हाथों देखीं। एक दूसरी यात्रा में आपने मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या, चित्रकूट आदि स्थानों की यात्रा दो मास पर्यन्त की थी।

देवघर की यात्रा आप अपने स्वास्थ्य-लाभार्थ किया करते। विजली-कोठी का निर्माण इसी स्थायी सुविधा की दृष्टि से करवाया था। उन दिनों देवघर में यातायात का कोई प्रबन्ध नहीं था। यात्रीगण पैदल ही स्टेशन से अथवा गाँवों से आते जाते। अनेक वार आपने विवश भाव से जसीडीह आदि स्टेशनों से देवघर तक पैदल यात्रा स्वयं भी की। पर आपको यह स्थिति सह्य न थी। आपने एक सरल उपाय किया। अपने व्यय से आपने अपने एक दरवान को रिक्शा लेकर दिया। उस एक रिक्शे से लोगों को कुछ राहत मिलने लगी। उस रिकशे का सुख और उसका लाभ वहाँ के अन्य श्रमिकों ने देखा—देखते-देखते देवघर में सैकड़ों रिक्शे होते चले गये। इसी तरह अपने इर्दगिर्द कष्टकर अभावों की पूर्ति की यथासाध्य चेष्टा करने में आप अपने वहुमूल्य अवकाश को व्यय किया करते थे।

सन् १९३६ की बात है। आपके मुनीम श्री वहरामल जी की धर्म-पत्नी रुग्ण थीं और जसीडीह आरोग्य-भवन में उन्हें रखा गया था। उन दिनों सेठ जी देवघर में ठहरे हुए थे। वहरामल जी बराबर ही उनसे मिलने जाते और सायं होते न होते वापस आरोग्य-भवन लौट आते। एक दिन सूरजमल जी जसीडीह पधारे और घूमते हुए आरोग्य-भवन पहुँचे। पहले तो आपने वहरामल जी की धर्म-पत्नी की जो चिकित्सा चल रही थी, उसका व्यौरा लिया और पथ्यादि के संबंध में अपने सुझाव दिये। यह भी आश्वासन दिया कि व्यय आदि के लिए कष्ट पाने का सवाल नहीं है, हमसे सब कहते रहिए। इसके बाद भवन के मैनेजर से आपने भवन की व्यवस्था के बारे में जिज्ञासा की और कोठियों का निरीक्षण किया। वहाँ पर रिक्त स्थान को देखकर आप ने प्रश्न किया कि यहाँ पर साग-सब्जी, पपीते आदि की चास होती है या नहीं। मैनेजर ने कहा कि सेठजी, मामूली तौर से होती है। आपने जोर देकर कहा कि इस जमीन में इस जगह भवन के लाभार्थ साग-सब्जी, पपीते और अन्य फलों की चास करनी चाहिए, ताकि भवन के अतिथियों को ताजा फल और शाक मिलता रहे। यह राय उपयोगी थी। बाद में इस राय पर अमल किया गया।
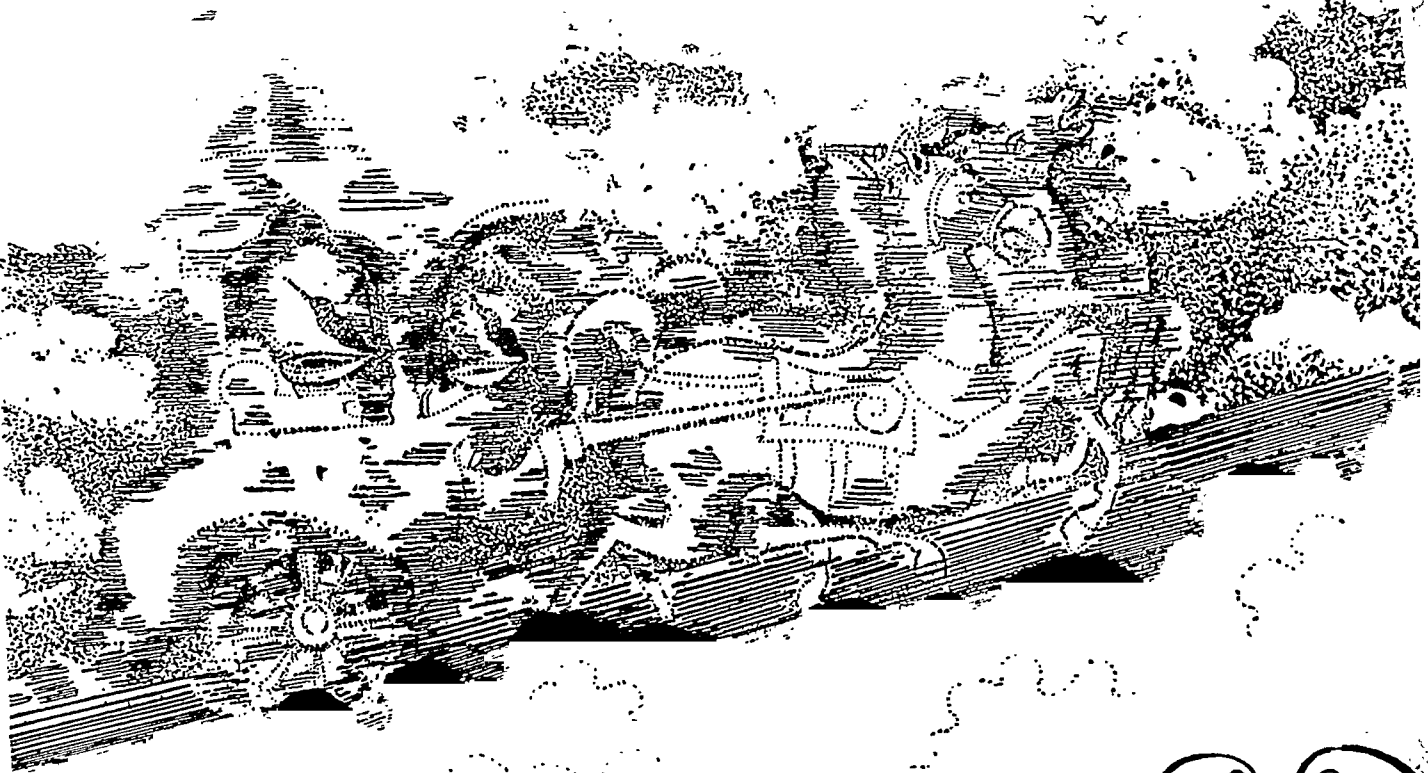
ज्योतिःपर्व की अंतिम महा-यात्रा

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

यह जीवात्मा न तो किसी काल में जन्मता है, न मरता है न ऐसा ही है कि पहले कभी था, और फिर कभी नहीं [illegible] था। यह आत्मा सदा जन्मरहित, सदैव विद्यमान, एक समान रहनेवा[illegible] है और शरीर के मृत्यु प्राप्त होने पर मारा नहीं जाता है।

जो मनुष्य इस जीवात्मा को नाश रहित, सदा विद्यमान रहनेवाला, जन्मरहित व निर्विकार [illegible], वह किस प्रकार मृत्यु के अर्थ का अनर्थ कर सकता है।

जिस प्रकार मनुष्य पुराने जीर्ण वस्त्रों को उतार कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने अनुपयुक्त शरीर को छोड़ कर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है।

यह जीवात्मा न शस्त्रों से काटा जा सकता है, न अग्नि ही इसको जला सकता है, न जल ही इसको गला सकता है और न वायु ही इसको सुखा सकता है।

राजस्थान के प्राचीन देवालयों में यम की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। यम के प्रति दैनंदिन पूजा-भाव का समादर मरु-प्रदेश में बहुत व्यापक था। वैष्णव, शैव और शाक्त तीनों धर्मों में यम की पूजा मिलती है। यम-द्वितीया आपके ही महत् रूप की तिथि है। यम द्वितीया—कार्तिक मास की शुक्ला द्वितीया के दिन यम ने अपनी बहन यमुना के यहां भोजन किया था!
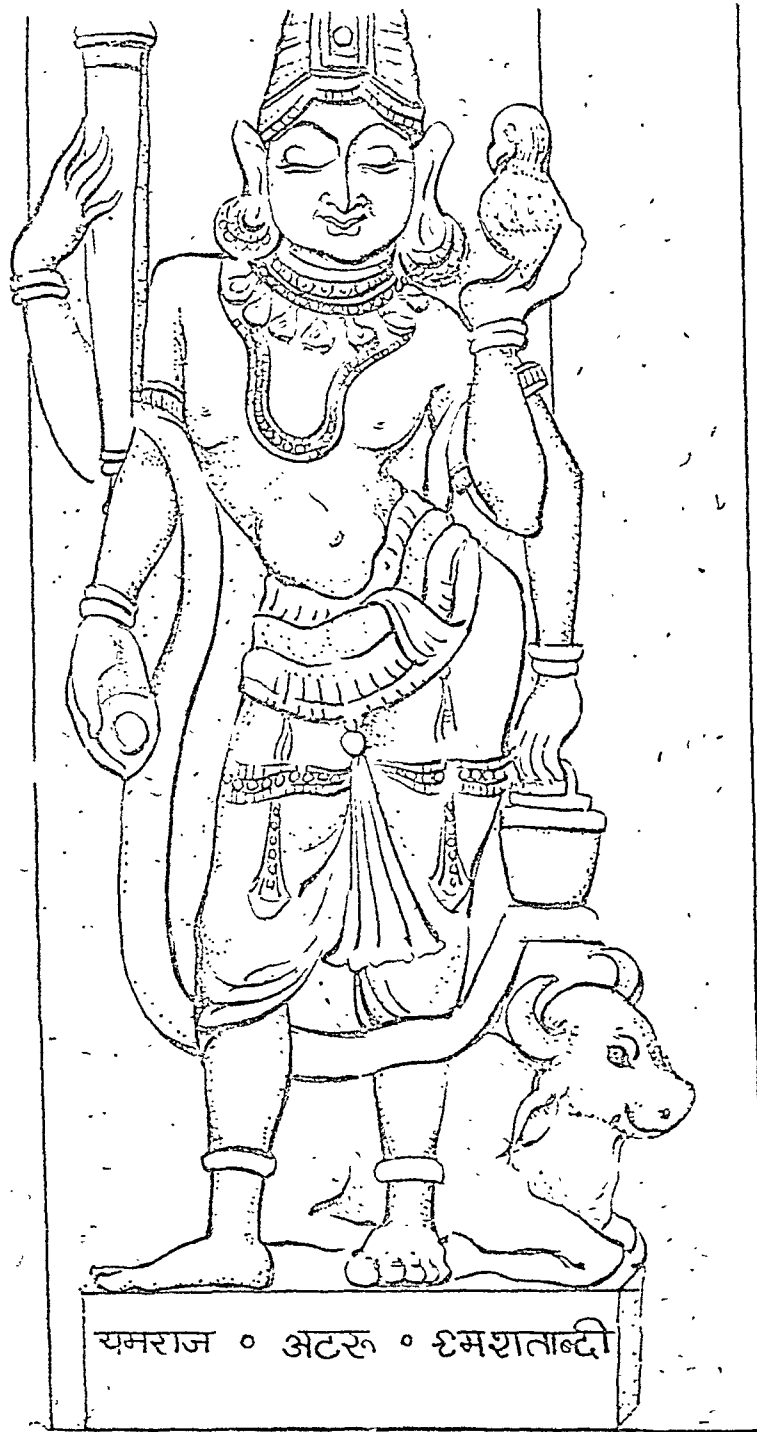
हे श्राद्धदेव, आपकी जय-लाभ से ही इस विश्व का कल्याण है।

स्मृति में आपके १४ नाम प्रकट हुए हैं-यम धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्त, काल, सर्वभूतक्षय, औडुम्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त।

आप पापी और पुण्यात्मा के पाप-पुण्य का विचार कर, पापी को नरक और पुण्यात्मा को स्वर्ग में भेजते हैं। आपका नाम धर्मराज इसीलिए है कि आप देवत्व को सुशोभित करते हुए, पाप-पुण्य का अंशांश विचार करते हैं। यह प्रसिद्ध है कि आप पाप और पुण्यात्मा को भिन्न-भिन्न रूपों में दर्शन देते हैं। यम जब पुण्यात्मा को कृपापूर्वक दर्शन देते हैं तो चतुर्बाहु, श्यामवर्ण, शंख-चक्र-गदा-पद्म और गरुड़-वाहन आदि भागवती चिन्ह धारण करते हैं—

तानागतांस्ततो दृष्ट्वा नरान् धर्मपरायणान्।
भास्करिः प्रीनि मासाद्य स्वयं नारायणो भवेत्॥
चतुर्बाहुः श्यामवर्ण प्रफुल्लकमले क्षणः।
शंख चक्र गदा पद्म धारी गरुड़ वाहनः।
स्वर्ण यज्ञोपवीती च स्मेर चारुतराननः
किरीटी कुण्डली चैव वनमाला विभूषितः॥
(पद्मपुराण क्रियायोगसार २२ अ०)

पुराणों में स्पष्ट है कि देवताओं के श्मश्रु नहीं होती, किन्तु यम की श्मश्रु का वर्णन आया है।

इस भुवन-लोक में जो मनुष्य सर्वदा पुण्यकर्म तथा देव-द्विज में भक्ति और तपश्चर्यादि का अनुष्ठान करते हैं, उन्हें यम का भय नहीं रहता. यम उन्हें दण्ड नहीं दे सकते। ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति-खण्ड में वर्णित सावित्री-कृत यमाष्टक का प्रतिदिन प्रातःकाल भक्तिपूर्वक पाठ करने से यम का भय दूर होता है।

यम दक्षिण दिशा के दिक्पाल माने गये हैं। ये ही मृत्यु के देवता हैं। यमराज, पितृपति, समवर्ती, परेतराट्, कृतान्त, यमुनाभ्राता, शमन, यमराट्, दण्डधर, श्राद्धदेव, जीवितेश, महिषध्वज, दण्डधार, कीनाश, महिषवाहन, शीर्णपाद, भामशासन, कंक, हरि, कर्मकर आदि अनेक नाम प्राप्त आपके होते हैं।

श्रीमद्भागवत, देवीभागवत, ब्रह्मपुराण, नारदीय पुराण (उत्तर भाग, ५-६ अ०), अग्निपुराण और स्कन्दपुराण में यम, यमलोक और यमदूतादि का सविस्तार वर्णन है।

श्री नागरमल जी बाजोरिया का दुखद वियोग

आगादुदागादयं जीवानां व्रातमप्यगात ।
अभूद पुत्राणां पिता, नृणां च भगवत्तमः ।।—अथर्व वेद १,६,२

—(जो इस मंत्रपाठ का नायक है) वह (मौत तक को चुनौती देकर और उसके अनन्त विस्मृति-गह्वर से ऊपर उठ कर) आ जाता है, ऊँचा उठता हुआ चला आता है, जीते हुए लोगों (के विशाल ज्योतिपुंज के तपःतेज के आभा-लोक) के अन्दर फिर शामिल हो जाता है। वह (समाज के विशाल-संख्यक योग्य आदर्श) पुत्रों का (सार्वजनिक) पिता बनता है और मनुष्य-समाज के (संजीवन-क्षेत्र) में वह परम प्रतिष्ठा को पाता है।

[५०]

जान-जोखिम से जब जीवन का अवसान निकट आता है, तब प्रश्न भी समुपस्थित होता है कि, जीवन की व्याख्या भला क्या है? क्या वह कर्मों की खेती भर है? क्या वह महीने के ३० दिनों को यथाविधि व्यतीत करने की कार्यतालिका भर है? क्या परिवार और समाज के बीच दिवस और रात्रि के कर्म और श्रम करते चलते की अनंत यात्रा भर है? पांडवों ने इस अनंत यात्रा को हिमालयारोहण में चरितार्थ किया था? क्या वे चलते गये, चलते गये, फिर अन्त होकर जहां गिर गये, वहीं उनका अन्त आ गया। लेकिन जीवन की व्याख्या इसलिए एक नहीं हो सकती, क्योंकि व्यक्तियों के जीवन का विधान एक नहीं है। सूर्य का संधान एक है, चन्द्रमा की चन्द्रिका का आधान एक है, लेकिन व्यक्ति का विधान तो प्रति ऋतु प्रति नवीन पुष्प की तरह विकसित होता है और वहीं मनुजों की सर्वश्रेष्ठ विरासत बन कर पीछे फहराते हुए ध्वज की तरह रह जाता है...लोक-समाज कहता है कि अमुक व्यक्ति का जीवन शेष हुआ, लेकिन शेष कहाँ हुआ? वह अपने पीछे एक फहराता हुआ ध्वज छोड़ कर जाता है। उस ध्वजा को और उस ध्वजा-सूचक पथ को सही अर्थों में पहचान लेना ही जीवन है। ये पथ भिन्न हैं, इसीलिए जीवन के अन्तिम विधान, जो कि जीवन का अन्त मूर्त करते हैं, अनेक हैं। इसी अनेकता के दिव्य ज्योतिर्पथ में व्यक्ति जब अपनी अंतिम ज्योति का विलय कर देता है, तो जीवन का अन्त समीप आ जाता है, आ कर बीत जाता है!

राजस्थान में सहस्र-सहस्र व्यक्ति ऐसे मिल जाएँगे, उनका भविष्य-कथन मिल जायेगा, उनकी दिव्य सूचनाएँ मिल जायेंगी कि अमुक तिथि को वे इस जी के जंजाल से मुक्ति पायेंगे। राजस्थान ऐसे ही महाभागों का देश रहा है। सूरजमल जी यद्यपि कलकत्ता के प्रवासी समाज के बीच स्थायी रूप से बड़ा बाजार में निवास कर रहे थे, लेकिन वे अभी तक उस पीढ़ी के व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने जीते-जी राजस्थान की अपनी मातृभूमि से नाभि-नाल का संबंध बनाये रखा। वे अपना प्राण रतनगढ़ में संयोजित रखते थे, उनका प्राण वहीं पर कंपन करता था, देह उनकी कलकत्ता में रहती थी। क्योंकि वे सत्य प्रतिनिधि आत्मा राजस्थान की ही थे, इसलिए जब भी अवकाश मिलता, रतनगढ़ चले आते। किन्तु सन् १९३७ में जब उन्होंने रतनगढ़ की दिशा प्रस्थान किया, तो जैसे वे भविष्यवाणी कर चले थे कि अब जीवन अधिक नहीं है। जीने का पथ बहुत परिमाण में चलना शेष नहीं रह गया है। जीवन के जो कार्य थे, वे लगभग प्रारंभिक सूत्र थाम चुके हैं। जीवन की वन्य स्थिति तो बंग में परिवार-जनों के बीच पुष्पित हो रही है, केशर-क्यारी की तरह से महक रही है। शरीर अब श्रान्त है। इसे चिर विश्रान्ति मिलने में अब विलम्ब नहीं है।

अभी हमने सूरजमल जी के पत्र पढ़े। कुछ पत्रों में बार-बार लिखा है कि उनका शरीर नरम है, अस्वस्थ है, गिरा-पड़ा तो नहीं है, लेकिन शरीर को साध्य नहीं रहने दे रहा है। पंच-भौतिक तत्वों से बनी हुई काया को सूरजमल जी ऐसी दैवी वस्तु मानते थे कि जो दिन में सूर्य की तपिश से अवश्य नई आयु पाती है, लेकिन रात्रि में सूर्य का दिया हुआ वरदान उससे कहीं अधिक क्षय को प्राप्त हो जाता है। उन्होंने अपने जीवन में अनेक परिवार-सदस्यों का और बहुत से नाते-रिश्तेदारों का अवसान देखा था। जब भी वे किसी विशेष अवसर पर किसी की मातमी में जाते तो गंभीरता उनके चेहरे पर कभी न आती, प्रायः सौम्य रहते और अपने किसी आत्मीय मित्र से कहा करते थे कि बड़े-बूढ़े इसलिए जल्दी चल बस रहे हैं, क्योंकि हमारी नई औलाद भी इस पृथ्वी पर जल्दी-जल्दी आ रही है। अपना हित तो हम लोग काफी देख चुके, अब नई पीढ़ी का हित देखने में ही अपना कल्याण है। इस धरती पर जब देवता ही अपना स्थायी निवास नहीं बना सके, तो

अपने लोभ ही क्यों करें, लोभ तो अपना और भी अहित करेगा। उनके मित्रगण उनकी ऐसी भावनाओं को सुनते और एक विशेष श्रद्धा से भर जाते। प्रचुर धन के बीच में जीवन विताते हुए जीवन-मुक्त होने की मानसिक अवस्था विरले ही पाया करते हैं। सूरजमल जी के पास बैठ कर और ऐसी अनुभूतियों से अवगत होकर उनके मित्रों को और नाते-रिश्तेदारों को लगता कि जैसे हमने किसी विशेष पुण्य की वाणी सुनी है।

पुण्य मनुज का वह कृतित्व है, जिसकी बुभुक्षा से यह धरती हमेशा विकल और पीड़ित रहती है। पुण्य कभी भी एक व्यक्ति के संजोये संजोया नहीं जाता। पुण्य वृहत् समाज के हाथों की संपूज्य अंजलि में कण-कण बटोरा जाता है और उसी के आलोक से पूरा समाज पुण्यवान् बना करता है: वेदों में 'हिरण्यगर्भम्' जो शब्द आया है, वह वास्तव में पुण्य का वास्तविक अर्थ है। विना हिरण्यगर्भ के न यह धरती आलोकवान बन सकी थी और न मनुष्य जाति जीवन की वास्तविक प्रिय जिजीविषा प्राप्त कर सकी थी। पुण्यवान मनुष्य ही पृथ्वी से आनन्द के साथ विदा लेने में विश्वास करता है। पुण्य का अर्थ ज्योति की अक्षय धारा है, जिसे एक महाभाग अदृश्य धूम में परिवर्तित होने से पहले अपनी नई पीढ़ी को दे जाया करता है!

सूरजमल जी वैसे ही पुण्य का कण-कण अपने समाज के सर्वसाधारण के लिए एकत्र करने में अपना रातदिन एक कर रहे थे।

उनकी दादी जी श्रीमती गोरा देवी जी का शरीर सन् १९३० तक सुरक्षित था। वे अनेक रूपों में तपस्विनी थीं, मिष्ठ-भाषिणी थीं, साध्वी थीं। अपने परिवार के फलते - फूलते वैभव को देख कर ईश्वर-भजन में इसलिए निमग्न रहती थीं कि जो तप उनके पति ने किया, उसका प्रसाद उनके पुत्र-पौत्रों ने पाया। स्वयं वे उत्तम भाग्य लेकर आई थीं, इसलिए दीर्घायु का वरदान भोग रही थीं। सन् १९२९ तक उन्होंने लगभग ८४ वर्ष की आयु प्राप्त कर ली थी। अब उन्हें ऐसा लगता था कि जीवन के जो श्वास थे, उनकी संख्या अधिक नहीं रह गई है। पति तो मुझे छोटी अवस्था में ही छोड़ कर चले गये थे और बहुत-सा अधूरा काम मुझे दे गये थे। अब तो मैंने वे सारे काम पूरे कर लिए हैं। अब तो मुझे यहाँ की माया के बन्धनों से मुक्त हो लेना चाहिए। गोरा देवी जी अब प्रभु से यही निवेदन करतीं कि मेरे प्रस्थान में ज्यादा विलम्ब न करो. . . .एक दिन उन्होंने सुबह-सुबह ही सूरजमल जी को और वंशीधर जी को अपने पास बुलाकर अपने पास बैठाया। आज उनकी वाणी कुछ शिथिल थी। हाथ की माला उंगलियाँ यंत्रवत् जप रही थीं। दोनों बहुएँ भी उनकी सेवा में वहीं पर उपस्थित थीं। उन्होंने एक दृष्टि सब को बड़े ममत्व से देखा और फिर आज्ञा दी कि बेटा, कल काशीवास करना चाहती हूँ, मुझे काशी ले चलो; अब मेरी तैयारी हो गई है।

सूरजमल जी ने यह सुनते ही दादी जी के पैरों की चरण-रज ली और अपने माथे से लगाई और फिर सूक्ष्म-सा उत्तर दिया कि ऐसा ही होगा।

कुछ देर बाद उन्होंने माता से जिज्ञासा की कि आपकी कोई अन्तिम इच्छा रह गई है तो बतलाइए। वह आपके सामने ही पूरी कर दी जाए। वे बोलीं कि बस, अब तो काशीवास करना ही रह गया है और सारा सुख तो मैंने भोग लिया है।

दूसरे दिन वंशीधर जी और दादी जी को साथ लेकर सूरजमल जी काशी के लिए रवाना हो गये। फर्स्ट क्लास में उन्होंने आरामप्रद व्यवस्था की थी कि वृद्धा दादी को यात्रा में किसी तरह का शारीरिक कष्ट न होने पाये। सारे रास्ते वे तन्मय भाव से उन से बातें करते जाते थे। अपने पुत्र-पौत्रादि की बड़ाई करते वे नहीं थक रहे थे। किन्तु गोरा देवी की तो सबसे ज्यादा रुचि ऐसे ही विषयों पर थी कि कहाँ पर कितने पुण्य का काम हो रहा है। वे प्राय: अपने पति का यह वाक्य दोहराया करती थीं कि भगवान ने हमें एक हाथ दुनियाँ का काम करने के लिए दिया है और दूसरा हाथ पुण्य के लिए दिया है। जब तक आदमी दुनिया का काम करे, वह बाएँ हाथ से इस लोक का धर्म निभाये और बाएँ हाथ से पुण्य करता रहे, लेकिन बेटे-पोतों के योग्य हो जाने के बाद पुण्य का काम बाएँ हाथ से शुरू हो जाना चाहिए और जीवन के बचे-खुचे कार्य बाएँ हाथ से करता रहे। सूरजमल जी ने लोक-कल्याण के बहुत से मंत्र अपनी इन्हीं पूज्या दादी जी से प्राप्त किये थे। तब काशी की दिशा में जाते हुए गोरा देवी जी को बस एक विषय बाकी रह गया था कि कहाँ कितना पुण्य और धर्म का काम हो रहा है। सूरजमल जी सारी बारीकियों को समझाते हुए और यह बताते हुए कि ये धर्म-कर्म पचासों सालों तक निभते रहेंगे, उन्हें आश्वस्त करते जाते थे कि भगवान ने चाहा तो हमारे वंश में शुरू किया गया धर्मादा कभी रुकने न पायेगा।

गाड़ी में बैठे हुए और तेज गति से पहियों पर चलते हुए सूरजमलजी को अनायास यह अनुभूति हुई कि हमारा सब का निजी जीवन भी इसी तीव्र गति से चल रहा है। बहुत ही धीमी गति से दुनियाँ में हम या तो अपने व्यापार का नफा-नुकसान जोड़ा करते हैं या बहुत ही धीमी गति से अपने बेटे-पोतों को छोटे से बड़ा होते देखते हैं, लेकिन जीवन की जो गति है, वह तो बहुत ही तीव्र है। इतनी तीव्र गति के अनुपात में मनुष्य अपने कृतित्व को आखिर कैसे तीव्र बनाये, वह क्या उपाय है?

उनके अन्तर्मन को बहुत देर तक न सूझा कि वह क्या उपाय है। वे आँखें बन्द कर इसी प्रश्न का समाधान ढूंढने में और अपनी आत्मा का अन्तर-क्रन्दन सुनते हुए आँखें बन्द कर, शिथिल बने हुए लेट गए—काशी पहुँच कर यथास्थान दादी जी को ठहराने के लिए व्यवस्था कर

दी गई। दो-तीन दिन तक उन्होंने नियम से गंगा-स्नान भी किया। उनकी इच्छानुसार उनके हाथ से धर्म-पुण्य का कार्य भी उत्साह के साथ पूरा करवाया गया। वंशीधर जी ने और सूरजमल जी ने, दोनों भाईयों ने वृद्धा दादी को एक क्षण के लिए भी दृष्टि से ओझल न होने दिया। साथ में वंशीधर जी की धर्मपत्नी भी थीं। वैजनाथ जी भी पत्नी सहित पहुँच चुके थे। नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्रायः सूरजमल जी गंगाघाट पर हल्के कदमों चहल-कदमी किया करते। उनके दिमाग में गाड़ी में उठा हुआ प्रश्न इस तरह से उमड़-घुमड़ रहा था, जैसे गहरी वर्षा के पूर्व ववन्डर बना तूफान वर्षा-बोझिल वादलों को जबर्दस्ती हाँके ला रहा हो।

गंगाघाट पर घूमते हुए वे देखते कि गंगा नदी का यह जल भी तीव्र गति के साथ आगे की दिशा में बढ़ रहा है। आखिर एक दिन उनकी आत्मा ने उन्हें सावधान करते हुए कहा कि ठीक तरह से समझो, प्रवाह की तीव्र गति या गाड़ी की तीव्र गति मुख्य नहीं है। ये सारी तीव्र गतियाँ तो अपनी दिशा की ओर आगे बढ़ते हुए एक निश्चित अवधि के अन्दर पहुँचने के लिए हैं। गाड़ी रुकते-थमते और यात्रियों को लेते हुए आगे बढ़ती है, नदी का जल ऊँची भूमि पर धीमे हो जाता है और ढलाव पर तेजी से बहने लगता है। मुख्य वात तो अपनी दिशा आगे बढ़ने की है।

अब सूरजमल जी ने प्रश्न किया कि आगे की दिशा क्या है? यह वात तो ठीक है,जो तीव्र गति है,वह आगे की दिशा के लिए है।

अभी २० दिन भी न गुजरे होंगे कि दादी जी की अवस्था में ऐसे लक्षण दिखाई देने लगे कि जैसे वे आजकल की ही मेहमान हैं। कोई विशेष रोग न था, किन्तु जीवनशक्ति का अन्तिम क्षय तो हो ही रहा था और सहसा ही एक रात को उनकी अवस्था में गिरावट आ गई। बड़ी शान्ति के साथ गोरा देवी ने सावन सुदी पंचमी संवत् १९८६ को अपने प्राण विसर्जित किये।

८५ वर्ष की आयु का भोग कम नहीं होता। गोरा देवी ने इस वंश में पैर रखने के वाद से ही न केवल ११ वर्ष के सूरजमल जी का पालन-पोषण किया था, अपितु वंशीधर जी और वैजनाथ जी सभी वच्चों को अपनी गोद में भी खिलाया था। अपने हाथों से उन्होंने सव के विवाह रचाये थे। स्वभाव की वे मृदु थीं। पुत्र-वधुओं को अतिशय प्यार करती थीं। प्यार भी साधारण नहीं, ऐसा कि मानो पुष्प का पराग वहुओं में हो और रस का सिंचन उनमें ही अक्षय भाव से रखा हुआ हो। ऐसी महाभाग दादी जी की इहलीला समाप्त होने के क्षणों में सूरजमल जी न तो विचलित हुए, न उनकी आँखें आर्द्र हुईं। वे तो जीवन की गति की तीव्रता और उस गति के आगे रखी हुई दिशा पर अपनी दृष्टि केन्द्रित किये हुए सतर्क थे। ८५ वर्ष की आयु में दादी जी गईं तो अर्थ यही था कि फल पूरा पक चुका था और डाल से टूटने का समय आ गया था—दूसरे दिन जब शव को मणिकर्णिका घाट पर ले गये तो वहाँ देखा कि श्मशान-घाट पर कोई अच्छा विश्राम-गृह नहीं है। जो भी शव-यात्री आते हैं, वे विना किसी आसरे के या विना किसी आश्रय के घाट पर बैठे रहते हैं। न धूप का वचाव है और न वर्षा से रक्षा है। न ऐसी व्यवस्था है कि जब तक शव की चिता शान्त न हो, साथ में आये हुए लोग तसल्ली से आराम पा सकें। सूरजमल जी को भी शव लिए हुए कुछ प्रतीक्षा करनी पड़ी—क्योंकि जितने भी स्थान थे, वहाँ पर कोई न कोई चिता दहक रही थी। सूरजमल जी ने ही अपने हाथों से दाह-कर्मादि सारे क्रिया-कर्म किये। जब वे घाट से चलने लगे तो उनकी आत्मा ने मानो उन्हें सचेत किया और कहा कि सुनो, यहाँ काशी केवल इसलिए नहीं आये हो कि वृद्धा दादी को काशी-माहात्म्य दिला दें और उनके शरीर को गंगा जी की पावन धारा में समर्पित कर दें। इस श्मसान-घाट पर वर्ष में कई लाख आदमी कई हजार शवों को लेकर पहुँचते हैं। शहर के लोग भी होते हैं और दूर गाँवों के ग्रामीण भी होते हैं। पुरुष भी आते हैं और स्त्रियाँ भी आती हैं। गंभीरता से देखो और कोई उपाय करो। वृद्धा माता ने तो काशीवास किया, किन्तु तुमने क्या किया? तुम्हारे जीवन की गति इधर हुई तो ठीक दिशा को पहिचानो—यहाँ घाट पर विश्रामस्थल होना चाहिए, वह ऐसा कमरा हो कि जहाँ आगत यात्री कुछ देर सुस्ता सके और एक ऐसा विश्राम-भवन भी हो कि जिसमें रात-विरात आये हुए यात्री सुख-चैन के साथ ओढ़-विछा सकें।

सूरजमल जी ने मन ही मन प्रभु को प्रणाम किया कि उन्होंने मुझे यह ज्योति प्रदान की है, मैं तो प्रभु-आज्ञा का निमित्त मात्र हूँ। अव तो वृद्धा दादी गईं। अव मेरी वारी में देर ही क्या हो सकती है, इसलिए जव तक हूँ, तव तक प्रभु-आज्ञाओं की पूर्ति में जो समय वीत जाय, वह कम ही रहेगा।

श्राद्धादि कर्मों से निवृत्त होकर सूरजमल जी काशी से यह संकल्प लेकर लौटे कि मणिकर्णिका घाट पर वे एक विश्राम-भवन वनवायेंगे, नियमित समय पर इस कार्य की पूर्ति करवा दी गई[1]।

एक वर्ष पूरा वीत भी न पाया था कि सूरजमल जी के परिवार में पुनः एक और प्रिय परिवार-सदस्य ने चिर विदा ले ली। इस वार परिवार की ज्येष्ठ वहू, वंशीधर जी की धर्मपत्नी ने अवसान पाया। देखते - देखते यह घटना इस तरह घटी कि सभी असह्य दुख से भर गये। रोग कुछ विशेष न था। वंशीधर जी और कुछ अन्य परिवार-जन कलकत्ता से वाहर चले गये थे। और कुसंयोग यह हुआ, पीछे से उनकी धर्मपत्नी की तवियत खराव

---

[1] यह विश्राम-स्थान सूरजमल नागरमल द्वारा मृतक के संग आने वाले द्विजातीय स्त्री-पुरुषों के विश्राम के लिए संवत् १९९० में वनकर तैयार हुआ। इसी के साथ गंगा-लाभ भवन काशीवास के हित आनेवाले रोगियों के लिए वनवाया गया।

हुई और चल बसीं। सब इस शोक से बहुत दुखी हुए। ऐसा लगता था कि घर का एक बड़ा हाथ उठ गया है। इस दुखद घटना ने जीवन के प्रति सूरजमल जी की रही-सही आसक्ति को भी भग्न कर दिया...

सन् १९३१ गया और ३२ भी गया और सन् ३३ में अकल्पनीय रूप से कुछ ऐसा घटित हुआ कि सूरजमल जी इस बार टूटी डाल हुए बिना न रहे। अनेक मित्रों का या दूर के नाते-रिश्तेदारों का मृत होने का समाचार सूरजमल जी को मिलता था, तो वे गंभीर भाव से प्रभु का स्मरण करने लगते थे। किन्तु इस बार घटना इतनी मनोमंथनकारी घटी कि सूरजमलजी भी अपने गंभीर भाव पर कोई नियंत्रण न रख पाये। उदास भाव से कई दिन सुस्त और शिथिल बैठे रहे।

मृत्यु जब अपने प्रियजनों की होती है, तो प्रायः स्वजनों में एक गहरा विषाद छा जाता है, उदाहरण तो ऐसे भी हैं कि जब अत्यन्त मनीषी व्यक्ति भी अपना अपनापा भूल जाता है। रघुकुल में राजा अज की देवांगना पत्नी का जब देहान्त हुआ तो उन्होंने कितना विलाप नहीं किया। अनेक ऋषियों के जीवन में भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ। इस स्थल पर लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक का स्मरण आता है, शायद उनके ज्येष्ठ पुत्र का अकस्मात् निधन हो गया था। जिन क्षणों में यह समाचार उनके पास पहुँचा, वे अपने 'केशरी' पत्र का संपादन कर रहे थे। तिलक महाराज जीवन में जहाँ शासन के प्रति कठोर रहे, वे अपने प्रति भी कठोर रहे। उन्होंने एक क्षण के लिए सुना कि अब संसार में उनका ज्येष्ठ पुत्र नहीं है और कुछ इस तरह हो गये कि मानो उन्होंने कुछ सुना ही नहीं। उस समय वे संपादकीय लिख रहे थे और उस दिन 'केशरी' पत्र का प्रकाशन अनिवार्य रूप से हो जाना था, इसलिए अन्तिम समाचार भी प्रेषित करने थे। पूरे २ घंटे तक वे अपने कामों में जीवन-मुक्त ऋषि की तरह से दत्तचित्त बने रहे। जब काम खत्म हुआ और वे घर चलने के लिए तत्पर हुए तो उनकी आँखों में आँसू आ गये—पिता का हृदय फफक कर रो उठा!....

सूरजमल जी के जीवन में भी कुछ ऐसा घटित हुआ कि मानों उनका अपना ज्येष्ठ पुत्र चला गया। यद्यपि दुनियादारी के सामने मोहनलाल जी उनके इकलौते पुत्र थे, पर नहीं—नागरमल जी को ही वे अपने परिवार में सबसे ज्येष्ठ पुत्र मानते थे। उसे गोदियों खिलाया था और अपने हाथों उसका व्याह रचाया था। लोकाचार के समक्ष वे उन्हें अपने बराबर का समवयस्क साथी मानने में भी संकोच न करते थे। पर, उनमें ममत्व तो पुत्रवत् ही था। ऐसे धर्म-पुत्र ने जब १९३३ में अपनी इहलीला समाप्त की, उस समय वे केवल ३३ वर्ष के नवयुवक थे। सूरजमल जी का हिया फटा जाता था, पर जो होनी थी, वह तो हो ही गई थी...

नागरमल जी का स्थान सूरजमल जी के जीवन में क्या रहा, इसके लिए उचित शब्द दिये बिना इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन है। रिश्तेदारी की दृष्टि से वे उनके साले थे, व्यापार की दृष्टि से वे उनके साझीदार थे, नारायणी देवी के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति के नाते नागरमल जी उनकी दृष्टि में बाजोरिया-परिवार के एकमात्र उत्तराधिकारी ही नहीं, रमादेवी जी की आशाओं के प्रतीक थे और इस नाते सूरजमल जी के प्राणोपम पुत्र से भी अधिक थे। और लोकसमाज की दृष्टि से वे उनके बराबर के प्रिय साथी थे। विशिष्ट-समाज अथवा बिरादरी में वे जब उपस्थित होते तो नागरमलजी को साथ लेकर उपस्थित होते और हर काम में उन्हें आगे रखते। फिर वहाँ कोई नवागन्तुक रहता और परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत होती तो नागरमल जी का परिचय इतने महत्वपूर्ण शब्दों में देते कि सामनेवाले पर यह प्रभाव पड़ता कि 'सूरजमल नागरमल' नामक प्रतिष्ठान के स्वत्वाधिकारियों में से जो नागरमल हैं, वे ये ही हैं। परिवार के प्रति उनका जो स्नेह था, उसका आधा अंश उन्होंने अपने सारे परिवार और समस्त पुत्रवधुओं और पुत्रों व भतीजों के लिए सुरक्षित रखा था, लेकिन दूसरा आधा अंश नागरमल जी के लिए और उनके परिवार के लिए रख छोड़ा था। रामचन्द्र जी बाजोरिया यदि आज जीवित रहते तो वे जिस तरह अपनी महत्ता का आनंद लेते, कुछ उसी महत्ता का ब्रह्म-आनंद वे लिया करते थे। यही कारण था कि राम-लक्ष्मण, कृष्ण-बलराम, अर्जुन-भीम, नर-नारायण, धाता-विधाता, लव-कुश आदि ऐतिहासिक भ्रातृ-द्वय के तुल्य ही वे नागरमल जी को अपना सहोदर भी प्रायः मान लिया करते थे। उनके प्रति उनका रसोद्रेक कुछ ऐसा ही रहता था, उनके प्रति स्नेह की गरिमा कुछ इसी स्तर की रहा करती थी। व्यापार दिन प्रति दिन फूल रहा था और जब कि समाज में उदाहरण कम नहीं थे, जहाँ कि दो साझेदार व्यापार के फलने-फूलने पर पारस्परिक विग्रह के ज्वाल-कीट बने हुए, समाज में भी क्लेश फैलाने का उदाहरण बन रहे थे, वहीं पर सूरजमल जी विस्तार से फलते-फूलते व्यापार में अपने साझीदार नागरमल जी को अपना प्राणांश ही माने जा रहे थे, और उनकी भावनाओं को प्राणोपम पोषण मिले, इसके लिए समस्त प्रकार के उत्सर्ग सहने को तैयार रहते थे। उनके परिवार में सभी जन नागरमल जी के प्रति अधिकतम आदरभाव रखते और उनकी इच्छाओं को बहुत प्रधानता देते, अधिक समीचीन यही रहता कि उन्हें आगे कर चलते। व्यवस्था में वे ही प्रधान रहते, परामर्श में उनकी राय का वजन रहता, योजना-गठन में उनके शब्दों को महत्व दिया जाता और प्रवास आदि के समय उन का संग-साथ रहना श्रेयस्कर समझा जाता। यही कारण था कि कलकत्ता के समाज में कुछ बूढे जन जब नागरमल जी को देखते तो आशीर्वाद के शब्दों में कहते कि भाया, तू तो सूरजमल नागरमल की राबड़ी को मीठो नमक है! राबड़ी का मीठा नमक। राबड़ी में उतना ही नमक प्रिय लगता है

जालान-परिवार के बीच
सरदार वल्लभभाई पटेल

खड़े हुए - (बाईं ओर से) श्री मोहनलाल जालान, श्री बैजनाथ जालान, श्री शिवभगवान जालान, श्री चिरंजीलाल बाजोरिया, श्री केशरदेव जालान, सरदार पटेल, श्री किशो[illegible] लाल जालान, श्री देवीप्रसाद जालान, श्री बाबूलाल जालान, श्री देवकीनन्दन
श्रीमती शिवभगवान जालान, श्रीमती बैजनाथ जालान, और सुश्री विमला बाई।

अमर चरितनायक की महायात्रा

[आगे कंधा दिए हुए श्री वैजनाथजी जालान एवं मोहनलालजी जालान]

जालान स्मृति-भवन में सूरजमलजी जालान की प्रस्तर-प्रतिमा का उद्घाटन

गी वदरीदासजी गोयेनका [सभापति] श्री पूरणमलजी जयपुरिया, मेहताजी श्री गिरिधारीलालजी, श्री गजाधरजी यपुरिया, श्री मोहनलाल जालान, श्री वल्लभदास अग्रवाल, श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल और रामकृष्णजी सरावगी ।

कि वह जिह्वा पर कुछ मीठी (क्योंकि बाजरा राजस्थान में बहुत मीठा होता है) ही सुहाती-सी रहे और उसका नमकीनपन आनंददायक बना रहे। सूरजमल जी ने एक बार जब इस उपमा को सुना तो आनंदविभोर हो गए। उनके मुख से सानंद निकल ही तो गया, "बात तो कही आपने, पर जरा चूक हो गयी। रावड़ी को मीठो नमक तो सूरजमल को वंश है, नागरमल तो रावड़ी को सुहातो ताप है।" सुनकर सभी उपस्थित सज्जन सूरजमल जी के इस दिव्य उद्‌गार के प्रति गद्‌गद हुए बिना न रहे। रावड़ी के स्वाद का पहला आनंद उसका सुहाता गरम तापमान है। वह न तो ज्यादा गरम सुहाती है, न ही ठंडी। उसमें एक प्रकृत तापमान रहना ही चाहिए। यहाँ तक कि गरमी में भी जब उसे छाछ के साथ शीतल रूप में ग्रहण किया जाता है, तो दही की शीतलता के साथ उसका अपना एक रहस्यमय तापमान (जो कि उसके खमीर का होता है) विचित्र सा भुरभुरा स्वाद दिया करता है। तो नागरमल जी सूरजमल जी के विनोद के अर्थों में रावड़ी के सुहाते-से गरम तापमान थे!

नागरमल जी के ज्येष्ठ पुत्र चिरंजीलाल थे। वे अब १४-१५ वर्ष के प्रिय बालक हो चले थे सन् १९३३ तक। इसी वर्ष नागरमल जी अपनी माता नारायणी देवी को नैपाल-यात्रा पर ले गये। उद्देश्य यह था कि उनकी इच्छा-पूर्ति कराते हुए उन्हें पशुपतिनाथ जी का धाम करा दिया जाए। वे ऐसे ही उत्कृष्ट मातृभक्त थे। पशुपतिनाथ की यात्रा बहुत कष्टकर थी और शरीर-साध्य थी। उसके सामने दीर्घ व्ययका महत्व उतना नहीं रह जाता था। इसी यात्रा-प्रसंग के संस्मरण सुनाते हुए चिरंजीलाल जी ने बताया, "पिता जी दादी जी को लेकर जब नेपाल गये, तब हम कलकत्ता ही रह गये, क्योंकि उस कष्टकर यात्रा में हमारा साथ रहना ठीक नहीं समझा गया। पिताजी सदा यही ध्यान रखते थे कि दादीजी की छोटी से छोटी इच्छा की कैसे पूर्ति की जाए। इसलिए उनकी बड़ी इच्छापूर्ति में तो किसी तरह का अंतर रहने दे ही नहीं सकते थे। वे इस समय तक चारों धाम कर चुकी थीं। हम बराबर देखते कि वे जब भी समय मिलता, दादी जी के पास बैठ कर दिन भर का समाचार सुनाया करते। व्यापार में क्या ऊँच-नीच हो रहा है, सारी खबर दिया करते। सारा सामाचार सुन कर वे सूरजमल जी के बारे में पूछतीं और जब उनके समाचार भी बता दिये जाते तो घरबार की बातचीत शुरू हो जाती। दादी जी के हाथ में एक मूंगे की माला सदा ही रहती थी। वे हरिस्मरण करती रहतीं और अपना चित्त घरबार और वंश के व्यापार में दिये रहतीं। प्रायः समाज में पारिवारिक स्त्रियाँ व्यापार के भेद बहुत ज्यादा नहीं समझतीं, लेकिन दादी जी में ऐसा नहीं था। वे यद्यपि हमारी दादी जी थीं, लेकिन यदि उस तथ्य से दृष्टि हटा दी जाय तो उन पर गर्व करने का जी चाहता है कि वे किस तरह व्यापार के मोटे उतार-चढ़ाव को समझ सकती थीं और उस पर अपनी अच्छी राय भी दे सकती थीं। यही कारण है कि जब फूफा जी भेंट करने आते तो दादी जी बराबर अपनी राय देतीं और हम जानते हैं कि उस पर अमल करने में वे प्रसन्नता अनुभव करते। क्या कहें, वह कैसा दृश्य था कि आज उसे देखने के लिए कभी-कभी जी ललक पड़ता है। हमारे वंश में वह दृश्य ऐसा था कि मानो दो अभूतपूर्व आत्माएँ आपस में संलाप कर रही हों। समाज के सूत्र यों तो माता-पिता और पुत्र में होकर अपना सीधा प्रवेश किया करते हैं, लेकिन बड़े बाबू जब हमारे यहाँ उपस्थित रहते तो जैसे दादी जी के मातृत्व का प्रधान सूत्र फूफा जी की आत्मा को संस्पर्श करता हुआ ही उत्फुल्ल होता था। जब दादी जी अपने सामने फूफा जी और पिता जी को एक साथ बैठा हुआ देखतीं तो बड़ी प्रसन्न रहतीं। मानों उन्हें वही दृश्य सबसे ज्यादा प्रिय था।

फूफा जी को बगीचे का शौक था। हमने सुना था और फिर देखा भी कि न केवल विलायत में, बल्कि सभी देशों में उच्च घरानों में लोग अपने अवकाश के क्षणों में बगीचे का काम अपने हाथों से करते हैं। माली केवल सहायक के रूप में वहाँ विद्यमान रहता है। पिता जी ने भी यह शौक बड़े बाबू से लिया था। पहले फूफा जी को यह शौक रहा और उनका यह शौक बराबर उनके जीवन में साथ रहा। पिता जी ने जब व्यापार के अत्यधिक परिश्रम से निश्चित होना शुरू किया, तब तक वे बगीचे के शौक को हाथ में ले चुके थे। उन्होंने हनुमान जूट प्रेस पर अपने हाथों बहुत बड़ा बगीचा स्थापित किया था, उसका मुख्य अंश तो ऊपर छत पर शुरू किया गया था। देवघर में भी फूफा जी और पिताजी इस शौक का बराबर निभाव करते रहे। वहाँ कोठी पर जो बगीचा लगा, वह अधिकतर पिता जी के हाथों बढ़ा-फूला।

"पिता जी ने सन् १९२१ में वर्तमान 'बाजोरिया हाउस' कार्नवालिस स्ट्रीट में ले लिया था और यहाँ की छत पर उन्होंने अपने हाथों काफी बड़ा बगीचा जमा लिया था। उसी के बाद नीचे भी उसकी शाखा सी रोपने लगे थे। मकान की शोभा इस बगीचे से बहुत बढ़ गयी थी।

"पिताजी को दूसरा शौक खेलकूद का रहा। ज्यादा रुचि टैनिस की रही। उनके साथियों में बैजनाथ बाबू आदि रहे। टैनिस वे नियमित रूप से खेलते। इस स्पोर्ट के अतिरिक्त उनमें दूसरी बात छुट्टी के दिन काम न करने की थी। जिस दिन किसी उत्सव आदि की छुट्टी रहती, उसी दिन वे सुबह से ही बच्चों को अपने साथ ले लेते, और किसी उत्तम उद्यान की ओर निकल जाते। बैजनाथ बाबू आदि यदि उस दिन आफिस का काम देखते, तो अवश्य टोकते कि यह काम आज का नहीं है, आज अवकाश का दिन है, मनोविनोद का दिन है और मानसिक विश्राम का दिन है। स्वयं भी उस दिन क्रीड़ा - कौतुक में विह्वल रहते और हम सब बच्चों को

भी अनेक उपायों से खिलाते, मधुर क्रीड़ाओं में विभोर रखते। शाम तक उनका यह कार्यक्रम अवाधित रूप से चलता रहता। उसी समय से हमने भी यह गुण सीख लिया कि छुट्टी के दिन अवश्य ही मानसिक विश्राम लेना चाहिए, यह विश्राम पूर्ण विश्राम के रूप में भी हो सकता है, रुचिवर्द्धक क्रीड़ा-कौतुक या विनोद अथवा किसी मनपसन्द खेलमें चित्त लगाने से भी हो सकता है। इस प्रकार जो ताजगी आती है, वह उत्तम से उत्तम दवा से कहीं श्रेष्ठ होती है।

"पिता जी को पढ़ने का शौक वरावर रहा। शौक से अधिक यह उनकी अध्यवसाय-प्रियता रही। अपने घर में वे वहुत चुनी हुई पुस्तकों की एक छोटी लाइब्रेरी रखा करते थे। हर विषय की किताबें उसमें होती थीं। उन दिनों सरस्वती-प्रेस ने महाभारत कई खंडों में छापी थी। मारवाड़ी समाज के प्रारंभिक उच्च शिक्षा-प्राप्त युवकों में नारायणदास जी वाजोरिया थे। वे आज कल कनखल में एकान्तवास कर रहे हैं। उनके संग-सहवास से पिताजी ने वरावर कुछ न कुछ नया पढ़ने का सिलसिला कायम रखा। जव भी फुरसत मिलती और वाजार जाते तो एक या दो पुस्तकें खरीद कर लाते। पढ़ते, वरावर के साथियों को पढ़ने को देते और हम वच्चों के लिए वालकोपयोगी पुस्तकें पढ़ने की व्यवस्था करते रहते। पिताजी ने विरासत में हमें यह जो वात दी, वह आज वड़े लाभ और वड़े उपयोग की सिद्ध हो रही है। जीवन में नवीन अध्ययन से अच्छा प्रकाश मिलता है, चिंतनीय समस्याओं में सहायता मिलती है और मनोवल दृढ़ होता है।

"फूफा जी ने सन् १९१६ के वाद पुस्तकालय सलकिया और रतनगढ़ में स्थापित किये थे, उन कामों में पिता जी की रुचि वहुत वढ़-चढ़ कर रही थी, ऐसा वरावर सुनते रहे हैं। लेकिन यह भी सुनते रहे हैं कि इन सार्वजनिक ज्ञानदान की संस्थाओं के उत्तम संचालन में क्या सुधार अपेक्षित हैं, उस पक्ष का पिता जी वरावर ध्यान रखते थे और समय-समय पर इन संस्थाओं में उपस्थित होकर अपने उपयोगी सुझाव दिया करते थे।

"पिताजी का संरक्षण हमारे सिर पर वहुत अधिक नहीं रहा। अवश्य उन्होंने वहुत उत्तम स्वास्थ्य पाया, वड़ी दादी जी से मालूम होता रहा कि वे जीवन में कभी वीमार नहीं पड़े। लेकिन दादाजी की तरह उन्होंने भी आयु कम ही पाई थी। दादा जी प्रौढ़ावस्था में प्रविष्ट होने से पहले ही इस दुनिया से चले गये, यह विधि का क्रूर विधान था। पिताजी भी उसी दिशा का अनुकरण करेंगे, यह किसे मालूम था, किन्तु परिस्थितियाँ और घटनायें कुछ उसी तरह घुमड़ती चली गयीं।

"दादी जी का सारा समय भगवद्भजन में वीतता था। उनकी अभिलाषा थी कि वे पशुपतिनाथ की यात्रा करें। पिताजी के लिए इससे वड़ा और क्या काम हो सकता था कि वे अपनी माता को तीर्थयात्रा करा कर ले आएँ। सूरजमल जी ने जव यह कार्य-क्रम सुना, तो मानो उनके मन को यह वहुत सुहाया, वड़े उत्साह के साथ उन्होंने सारी तैयारियाँ करवाई और उन्हें विदा किया। माता नाम धरती का भी है, लक्ष्मी और दुर्गा का भी है। पिता जी कितने मातृ-भक्त थे यह तो अपने शब्दों में कहना, अपने को संकोच में डालना है, लेकिन वे मातृदेव अवश्य थे अर्थात् माता को पूजने और आदर करनेवाले थे। मातृ-श्रीमें मानो उनके प्राण रमते थे। वे वड़े उत्साह के साथ माता को नेपाल ले गये,वहाँ से पशुपतिनाथ ले गये। इस यात्रा में जो भी कष्ट आये, उन्होंने सहर्ष वरण किये, सहे, लेकिन माता को कोई दुख न होने दिया।

"पशुपतिनाथ धाम से जव दादी जी को लेकर पिताजी लौटे, उस समय तक हरिद्वार में अर्धकुंभ प्रारंभ हो चुका था। यात्रा प्रारंभ होने से पूर्व ही यह वात लगभग तय हो चुकी थी कि पिताजी, माता जी (जो इस यात्रा में उनके साथ नेपाल गई थीं) और दादी जी को लेकर,हरिद्वार चले जायेंगे और वहाँ पर कुंभ-स्नान का माहात्म्य ग्रहण करेंगे। अर्ध-कुंभ के अवसर पर फूफा जी ने भी हरिद्वार जाने का कार्यक्रम पहले से ही वना रखा था और तदनुसार वे वहाँ पहुँच चुके थे। हरिद्वार में इस तरह सव का समागम हो गया, किन्तु फूफाजी ने महसूस किया कि नेपाल की यात्रा में पिता जी काफी क्लान्त हो गये हैं और उन्हें विश्राम की जरूरत है। इसलिए चिकित्सकों को दिखाया गया और उन्हें औषधि-सेवन शुरू करा दिया गया। उसी समय यह वात आई कि हरिद्वार से ज्यादा अच्छा यह है कि शिमला में पिताजी को रखा जाय। फूफाजी ने पिता जी को यही आज्ञा दी कि तुम वहू को लेकर शिमला चले जाओ और स्वयं दादीजी को लेकर वे कलकत्ता चले आये। यहाँ आकर उन्होंने देखा कि भाई जी मोहनलाल जी भी स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ कृश चल रहे हैं। उन्हें मोतीझरा हो चुका था और रोगोत्तर दुर्वलता पूरी तरह से नहीं गई थी। इसलिए फूफाजी ने उन्हें भी शिमला चले जाने की आज्ञा दी। उस समय तक शिमला से इस तरह का कोई पत्र नहीं आया था कि पिता जी की हालत में कोई गिरावट आ रही है। जव भाई मोहनलाल जी वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि किसी वैद्य का इलाज चल रहा है, पर अवस्था सन्तोषजनक नहीं है। इस वात से परेशान होकर उन्होंने ट्रंक-टेलीफोन किया और चिन्ताजनक समाचार सुनाया कि पिताजी को तो मोतीझरा हो गया है। यह सुनते ही फूफाजी भारी चिन्ता में भर गये। हमने देखा कि वे स्थिरमूर्ति कुछ क्षणों तक वैठे के वैठे रह गये। किन्तु उन्होंने तो जीवन में कभी भी निष्क्रियता स्वीकार न की थी। एक विचित्र सक्रियता - सी उनमें भर गई और विना विलम्व किये एक सुयोग्य चिकित्सक को लेकर शिमला के लिए रवना हो गये। जाने के समय उन्होंने हम सव को वहुत दिलासा दिया और दादी जी से भी मिल कर उन्होंने यही कहा कि घवराने की कोई वात नहीं है।

उनके शिमला जाने के बाद जब दूसरा समाचार आया तो ओंकारमल जी सराफ एक दूसरे डाक्टर को लेकर शिमला गये।"

लेकिन शिमला पहुँच कर जब सूरजमल जी ने नागरमल जी को अपनी आँखों से देखा तो वे कांप गये। वह गोलमोल चेहरा और चेहरा भी ऐसा कि मानो गोदी का शिशु आज भी अपने प्रथम क्षण के मनःहर स्वरूप को विलीन न कर पाया है,एकदम मुरझा गया है। पर, सूरजमल जी ने अपने को सम्हाला कि इस स्थान परमेरे को दुर्बल होने से काम नहीं चलेगा। घटना जो भी बीतेगी, अच्छी या बुरी—वह इसलिए बीतेगी कि विधिका विधान चाहे वह न हो, लेकिन आक्रान्त रोग के कठिन निर्देश की बात तो हो ही सकती है। चिकित्सा और भी अच्छी तरह से प्रारम्भ की गई, लेकिन फल न हुआ और एक दिन नागरमल जी अपनी रोग-शैय्या पर लेटे-लेटे इस तरह का प्रकारान्तर उपस्थित कर गये कि उपस्थित परिवारजन बिलख-बिलख कर रो उठे। सूरजमल जी की आँखें भी बिना गीली हुए न रहीं। यह स्वर्गवास २२ जून सन् १६३३ को (आषाढ़ बदी अमावस, संवत् १६६०) को दिन में सवा दो बजे हुआ।

नश्वर शरीर को जब शिमला में ही पंचतत्वार्पण कर वे लौटे तो गाड़ी में, जिस समय कि वह शिमला की पहाड़ियों से चक्करदार घुमेर खा कर नीचे उतर रही थी, एक विलक्षण-सी अनुभूति हुई। वे अपलक पहाड़ियों के उस पार ऊँची चोटियों पर एक अनोखी झलक को देखते रह गये। लगा कि कोई हाथ उन्हें अपनी ओर बुला रहा है। अवश्य वह हाथ किसी परिवारजन का न था, किसी अदृश्य पुरुष का न था, तो फिर क्या था? कुछ देर तक तो सूरजमल जी उधर ही देखते रहे, और फिर आराम से तकिया लेकर वे लेट गये। आँख बन्द करते ही दूर क्षितिज का वह हाथ उनकी आँखों के पास आ गया। उन्होंने बन्द आँखों के खुले प्रकाश में स्पष्ट देखा कि वह हाथ तो उनका ही अपना दायाँ हाथ है और उस पर अपनी भाग्य-रेखायें खचित हैं, उस हाथ ने उन्हीं की वाणी में उनसे कहा कि मेरी जितनी रेखाएँ हैं, वे अपना पूरा लेखा लिख चुकीं, मुझे और रेखाएँ दीजिये। और इतना कह कर वह हाथ अदृश्य हो गया। एक असह्य-सी अनुभूति थी यह। वे निश्चित होकर लेटे न रह सके और उठ कर बैठ गए। उन्होंने खुली आँखों अपने दायें हाथ की हथेली को देखा और उन पर खचित रेखाओं को देखा, फिर सहसा ही अस्फुट बोल पड़े, "मेरे अधिकार में यह कहाँ है कि मैं अपनी हथेली पर नई भाग्य-रेखाएँ खींच सकूँ?"

उनके हृदय ने कहा कि अवश्य ही तुम्हें नागरमल जी के इस अकाल निधन से और उससे उद्भूत हुए अनिष्ट से न तो आघात खाना है और न आतंकित होना है और न जीवन से उदासीन होना है। अभी तुम्हें बहुत काम करना है, अभी तुम्हें बहुत काम करना है······

सूरजमल जी ने मन ही मन प्रभु को प्रणाम करते हुए कहा कि आप मुझे शक्ति दीजिये, काम करने में अभी नहीं हारा हूँ, अभी हारने के लिए मेरे पास समय भी कहाँ है?—हाँ, शक्ति तो आपकी दी हुई काफी है मुझे। बस, नया पथ दीजिए, नया मार्ग दीजिए, नई दिशा दीजिए······

कलकत्ता पहुँच कर स्टेशन से उतरते ही वे सब से पहले नारायणी बाई के पास गये। अब तो उन का जीवन-धन बस उनका एकमात्र पुत्र नागरमल ही था और विधि ने वह भी उनसे छीन लिया। जो छोटी माता थीं, वह भी मानो अनाथ-सी थीं। दोनों ही अबलायें बनी हुई इस संताप को और इस महाशोक को सम्हाले नहीं सम्हाल रही थीं! उनके रुदन-विलाप को सुन कर सभी विचलित हो जाते थे। बच्चों का हाल भी बुरा था, किन्तु सूरजमल जी ने सबको शान्त किया, सब को सान्त्वना दी और सबके बीच में बैठ कर वे यही बोले, "जब तक मैं हूँ, नागरमल कहीं नहीं गया है। वह तो शिमला में ही है, ऐसा तुम लोगों को समझना होगा। जब तक वह था, मेरी ही जिम्मेदारियाँ तो प्रधान थीं, अब मेरी जिम्मेदारियों को वह दुगना बना गया है, तो उसमें अन्तर नहीं आयेगा। बस, इतना समझ लो कि नागरमल कहीं नहीं गया है, उसके सारे काम बराबर चलते रहेंगे, आगे बढ़ते रहेंगे।"

नागरमलजी का श्राद्ध-कार्य जब संपूर्ण हो लिया तो आपने नारायणी बाई से कहा कि स्वर्गवास से कुछ देर पहले ही नागरमल यह बात कर रहा था कि जापान की तरह कलकत्ता में भी एक इंडस्ट्रियल स्कूल होना चाहिए। पर इसके बाद ही उसका शरीर शान्त हो गया। एक प्रकार से यह उसकी अन्तिम इच्छा थी। मैं चाहता हूँ कि उसकी इस अन्तिम इच्छा की पूर्ति कर दी जाए। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि दो लाख रुपयों का एक ट्रस्ट रामचन्द्र नागरमल बाजोरिया के नाम से बनवा दिया जाए और उन्हीं रुपयों से यह शिल्प-विद्यालय प्रारंभ कर दिया जाए।

नारायणी बाई ने आँखों में आँसू भरकर इस योजना को स्वीकार कर लिया। इसमें दो बातें एक साथ उत्तम थीं। एक तो अभी तक नागरमल के पिताजी के नाम से कोई समाज-कल्याण का काम गठित नहीं हुआ था। अब पुत्र भी नहीं रहा तो अच्छा है, पिता-पुत्र के संयुक्त नाम से यह संस्था शुरु हो जाए और इसकी उपादेयता से समाज का हित होने लगे।

सूरजमलजी ने इस शिल्प-विद्यालय के संगठन में बहुत अधिक रुचि ली और हरिसन रोड पर इसका प्रारंभ किया गया। कुछ वर्षों तक देवघर में इसका संचालन हुआ, क्योंकि कलकत्ता में युद्ध-जनित कठिनाइयाँ आ गयी थीं। बाद में इसे हावड़ा में स्थानान्तरित कर दिया गया।

स्वामी गोपाल दास जी के साथ अंतिम मिल-भेंट

[५१]

यज्ञ-संभार के रूप में जब हवन की सामग्री आदि बटोरी जाती है, तो यज्ञ-पुरुष को बहुत बड़ा संतोष होता है। पर जीवन-संभार की सामग्री जुटाना व्यक्ति के हाथ में नहीं है। माता-पिता, भ्राता-बन्धु, नाते-रिश्तेदार, पत्नी-भगिनियाँ, मामा, चाचा, ताऊ और मित्रों का बहुत बड़ा दायरा—ये सभी जीवन-संभार हैं। इन्हीं से सफल जीवन का यज्ञ पूर्ण होता है। पर साधारण यज्ञ तो एक दिन का या एक मास का, लेकिन जीवन-यज्ञ तो सारे जीवन-पर्यन्त चलता है। चीन देश के किसी दार्शनिक ने कहा है कि जीवन प्रथम श्वास से अन्तिम श्वास तक चलता है। इसी बात को पौराणिक ऋषि ने इस रूप में कहा कि जीवन का यज्ञ शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक चलता है। अथर्ववेद में महत् शब्दों में इसी बात को इस तरह कहा गया है :

उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते, देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशुन् कीर्ति यजमानं च वर्धय ।।

(ऋ० १९:६३:१)

—हे वेदपाठ के देवता। उठो, देवताओं को यज्ञ का संदेश सुनाओ। आयु बढ़ाओ, प्राण बढ़ाओ। प्रजा बढ़ाओ। पशु बढ़ाओ। कीर्ति बढ़ाओ। यज्ञकारी को (हर प्रकार से) बढ़ाओ।

भारत में सनातन काल से जीवन को यज्ञ ही माना गया है। यह यज्ञ अन्य यज्ञों से ऊपर रहा है। जिस जीवन से हम सामाजिक सौहार्द्र स्थापित करते हैं, जिस जीवन के बल पर हम लोक का कल्याण संपादित करते हैं, जिस जीवन से हम इस धराधाम को मनुष्ययोग्य निवास बनाने का श्रम करते हैं और जिस जीवन से हम इस पृथ्वी पर अपनी आगामी संततिका सुख-संरक्षण करने का अथक आयोजन करते हैं—उस जीवन में यज्ञ की सफलता यही है कि बड़े-बूढ़े जब तक जीवित रहें, उनके सामने कोई असमय की मृत्यु को प्राप्त न हो। ऋग्वेद में इस विषय का अत्यन्त आलोकप्रद मंत्र है :—

यथा हान्यनुपूर्वं भवन्ति, यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु
यथा न पूर्वमपरो जहात्ये (ति, ए) वा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ।।

(ऋ० १०:१८:५)

—जैसे एक दिन दूसरे दिन के और जैसे एक ऋतु दूसरे ऋतु के पीछे चलते हैं, ठीक ऐसे ही हम सब का जीवनक्रम चले। हे सब को धारण करनेवाले देव, अपनी कृपा से सब को ऐसा ही जीवन प्रदान करो। कभी कोई छोटी आयुवाला बड़ी आयुवालों के सामने परलोक को न सिधारे।

जीवन की इस आशीष की परम्परा चिरकाल से हमारे समाज की पहली विरासत रही है। सब इसी आशीष की प्रतिष्ठा चाहते हैं कि युवक बड़ी आयु पावें और वृद्धों का ही अनुगमन करें। लेकिन जब सूरजमल जी ने नागरमल जी की इस अकाल मृत्यु का दुख वहन करना शुरु कर दिया, तो सहसा ही उन्हें किसी भी दिशा से जीवन का नया उन्मेष न मिला, एक गहन अभाव की प्रतीति उन्हें हर क्षण होने लगी। नागरमल जी को किस स्नेह के साथ गोदियों में खिलाया था, किस स्नेह से अभिभूत उनका विवाह रचाया था, किस ममत्व के साथ उन्हें व्यापार में प्रतिष्ठित कराने का सतर्क-भाव से साधन किया था, वह सब विधाता ने असमय में ही क्यों आँखों के आगे से उठा लिया? अपने हाथों खड़े किये गये और सिंचित-पोषित पेड़ को जब आंधी उखाड़ कर नीचे फेंक देती है या निर्मित मकान को अग्निकांड धराशायी कर देता है तो जो पीड़ा उस समय होती है, सूरजमल जी को भी पीड़ा इस समय के वियोग से हुई। पंडितों से उन्होंने बहुत ज्ञान लिया, लेकिन सांत्वना न मिली। स्वयं को विरक्त करने का प्रयास किया, लेकिन कुछ चैन न मिला; प्रभु-आराधना में मन रमाया, लेकिन उससे भी तसल्ली न हुई।

पर सुरजमल जी जीवनमुक्त थे। वे इस तरह की आसक्ति के अपहरण से पराजित होने वाले न थे। नागरमलजी के श्राद्धोपलक्ष में हुए कार्यों से निवृत्त होकर वे देवघर चले गये। वर्षा ऋतु थी और वे किसी संथाल-ग्राम में अपनी किसी शिक्षा-संस्था का निरीक्षण करने गये थे। मार्ग में एक पर्वत के निकट जब पहुँचे कि वर्षा प्रारंभ हो गयी। देखते न देखते जलद नीचे उतर आये और पहाड़ी पर रुक कर इस तरह बरसने लगे कि बस, यहीं रिक्त उन्हें होना है और आगे बढ़ने का उत्साह अब नहीं रह गया है. . .सहसा ही बड़ी जोर से बिजली कड़की, बिजली का विद्युत्-वेग चपल बना हुआ पहाड़की तलहटियों तक उतरता चला गया. . .भूमि थरथर कांपी और पहाड़का एक कंगूरा गर्जन करता हुआ नीचे धरती पर आ रहा. . .पलक झपकते यह सब कार्य-व्यापार प्रकृति का घटित हो गया. . .बिजली का प्रकाश कितना दिव्य कि बड़ी देर तक सूरजमल जी की आँखें चुंधियाती रहीं। उस दिव्य घन-गर्जन में सहसा ही एक स्पष्ट ध्वनि सी उन्हें सुनाई पड़ी। मानो कोई परिचित आवाज कह रही हो, "मैं आ गया हूँ, मैं आ गया हूँ, तुम्हें अभी रहना है, तुम्हें अभी रहना है, रहना है और करना है!"

आवाज सुन कर सूरजमल जी आँख बन्द किये खड़े के खड़े रह गये। यह आवाज अवश्य परिचित है। क्या नागरमल जी की आवाज है? तो किस की आवाज है?

वहाँ से लौट कर उसी शाम सूरजमल जी ने उन वृक्षों पर स्नेह से हाथ फेरा, जिनकी जड़ों को नागरमल जी सिराया करते थे और जो उनके हाथों लगे थे। फिर कोठी के बरामदे में आकर स्थिर भाव से बैठे। उनकी आत्मा में कोई आवाज घुमड़ रही थी... वे सुनने लगे, उनका हृदय कह रहा है कि पहाड़ का इतना बड़ा कंगूरा नीचे गिर पड़ा, लेकिन पहाड़ फिर भी स्थिर भाव से खड़ा है! वे खड़े हो गये। स्वस्थ भाव से उन्होंने अपने को झकझोरा और बोले, "जब तक मैं हूँ, नागरमल गये नहीं हैं। वे अपना अंश मुझ में छोड़ गये हैं। मैं हूँ ही, तब उनका अभाव किसी को नहीं होने दूंगा।"

उस रात्रि सूरजमल जी को महीने-डेढ़ महीने की अशान्त-विचित्ति के बाद गहरी निद्रा आई!

कुछ दिनों बाद रतनगढ़ के प्रवास में स्वामी गोपाल दास जी से साक्षात्कार हुआ। आपने देवघर की बात का स्मरण रखा और उनसे उस दिन की सारी घटना का विस्तार से विवरण प्रस्तुत कर दिया। स्वामी जी ने सारी कथा को सुन कर कहा, "आप तो जानते ही हैं कि यह जीवन पहाड़ के तुल्य कुछ गंभीर अर्थ रखता है। हमारे शास्त्रों में विश्रृंग अर्थात् बिना चोटी के पहाड़ को महत्वशाली नहीं माना है। उसका कारण यही है कि चोटी होने से ही पहाड़ की शोभा है। हिन्दू चोटी रखता है, उसके पीछे भी हिमालय की सर्वोच्च चोटी की भावना है। जीवन में चोटी क्या है? चोटी हमारी संतति और हमारे अनुज हैं। लेकिन चोटी खंडित होकर गिर पड़े तो उससे पहाड़ का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ करता। परिवारों में से एक एक कर जीवन के सदस्य और प्रिय साथी मृत्यु छीनती रहती है। उसका काम यही है। कृष्ण और राम नहीं रहे, ऋषि-महर्षि नहीं रहे, विक्रमादित्य और अशोक नहीं रहे और आज के ये निरंकुश देशी शासक भी नहीं रहेंगे, लेकिन जब तक हम और आप हैं, तो जो प्रिय जन उठ गये, उनकी स्मृति कम से कम अवश्य है। नागरमल जी गये, इसका समाचार जब मुझे मिला, तभी मुझे यह खटका हुआ था कि कहीं आप जीवन से बहुत निराश न हो जायें, क्योंकि मैं जानता था कि आप का उनमें बहुत स्नेह था, इतना स्नेह आपने अपने एकमात्र पुत्र मोहनलाल को भी नहीं दिया। पर आपने ज्ञान से काम लिया। कहते तो हैं सभी कि ज्ञान शुष्क और नीरस होता है, लेकिन वास्तविक बात यही है कि ज्ञान से ही जीवन सरस और प्राणवान बनता है।"

सूरजमल जी ने यह सब प्रवचन ध्यान से सुना, फिर अपने संशय रखे और उनका उत्तर भी सुना। सब कह कर स्वामी जी ने कहा कि जिसे हम दुःख कहते हैं, वह ठीक तरह से समझ लें। आपको पहले भी एक दो बार कहा था कि दुःख नहीं करना चाहिए, क्योंकि दुख करने से हम अपने शरीर को अस्तव्यस्त कर देते हैं, अपने मानस की शांति भंग कर देते हैं, उससे बड़ी बात यह होती है जो कि नहीं चाहिए कि हम अपने अधिकारों से आगे की बात सोचने लगते हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर कहा करते थे कि दुःख क्या है, वह कुछ अधिक नहीं है, जब हम अपनी शक्तियों से अधिक की आशा करने लगते हैं, वही दुख है। अधिक की आशा करना और अपने अधिकारों से आगे की बात सोचना ये दोनों एक ही बातें हैं। मनुष्य का यह अधिकार कहाँ है कि वह अपने प्रियों को अनन्त काल के लिए स्वयं की गोद में या अगल-बगल बैठाए रख सके? वह स्वयं कहाँ इतना अधिकारी हो गया है कि वह अनंतकाल के लिए जीवित बना रहे? इसलिए जब वियोग होता है, तो शान्ति से और ज्ञान-चक्षुओं से यह देख लेना चाहिए कि यह जो हुआ है, हमारे अधिकार के आगे की बात हुई है।

सूरजमल जी ने प्रश्न किया कि अच्छा यह समझाइए, मृत्यु क्या है?[1] कुछ इसे शरीर का भौतिक क्षरण मानते हैं, कुछ इसे दुनिया का विधान मानते हैं, कुछ इसे प्रकृतितत्वों का मन्वन्तर मानते हैं। ज्ञानियों ने बहुत कहा, तपस्वियों ने बहुत कहा, जो साधु अपने पास आते रहते हैं, उन्होंने भी बहुत कहा। आपका बहुत सा समय तो राजनीति में बीत गया, लेकिन आपने भी तो बहुत अध्ययन किया है।

गोपालदास जी ने कहा कि बड़े बाबू, आप का समय अभी ऐसा नहीं है कि आप इस प्रश्न को करें और उसका विवेचन सुनें। गृहस्थ तो आप अवश्य नहीं है, लेकिन गृहस्थ योगी से आप कम नहीं हैं। ईश्वर ने आपको जो कर्तव्य दे रखा है, उसे आप ठीक तरह से निभा रहे हैं। आपको अपने कर्म में लिप्त रहना चाहिए : उसी तरह जिस तरह रेशम का कीड़ा अपने पत्ते पर धागा बुनने में और रेशम की कुंडली लपेटने में चिपका रहता है। मृत्यु क्या है यह प्रश्न आपने किया तो यहाँ पर यह कहना अच्छा लगता है कि मृत्यु उत्तम वही है, जब हमें पता न चले कि मृत्यु कब आई और कब हमारा वरण कर ले गयी।[2] एक वरण विवाह के क्षणों में होता है, दूसरा वरण मृत्यु के हाथों से होता है। यह कह कर स्वामी जी शुद्ध हृदय से इस तरह हंस दिये कि सूरजमल जी भी हंसने के लिए उद्यत हो गए। उनका हृदय मानो किसी दुर्लभ वर्षा-जल ने धो कर शुद्ध और स्वच्छ और उज्ज्वल कर दिया था...

---

१ मौत क्या इक लफ्ज बेमानी।
जिसको मारा, हयात ने मारा॥
—जिगर
हयात अर्थात जिंदगी।

२ किस-किस की फुरकत का तू ग़म करता है ऐ ज़ौक।
होने वाले हैं सब तुझ से अनक़रीब जुदा।

महंत गणपतिदास जी ने अपने भावप्रेरक संस्मरणों में बताया कि सन् १९३३ के बाद से तो सूरजमल जी का और स्वामी गोपालदास जी का सम्पर्क प्रगाढ़ होता गया। आपने अपने संस्मरणों की कड़ी बीकानेर जेल से पकड़ते हुए कहा, "बीकानेर की जेल का प्रसंग लेकर ही हम अपनी बात दुबारा शुरू करते हैं। जब वे बीकानेर में पहुँचे और स्वामी जी से मिले तो इस यात्रा में पं० सूरजमल जी माठोलिया भी साथ थे। तो पता चला कि स्वामी जी भोजन करते हैं, लेकिन अनियमित करते हैं। सेठजी ने कहा कि आज थारी रसोई हमारी तरफ से। स्वामी जी ने कहा कि यूँ तो नहीं हो सके, यहाँ तो सारे भाई हैं, उनको छोड़ कर मैं भोजन क्या कर सकता हूँ। गोपालदास जी ऐसे ही प्रजा-रक्षक थे, वे प्रजा के अनुरंजन में और उनके भाव-अनुबन्धों में इस तरह गहरी जड़ें जमा कर रहते थे कि जनता उनके आकर्षण-बिन्दु से दूर जा ही नहीं पाती थी। वे राजस्थान की महती आकांक्षाओं के प्रखर प्रतीक थे। भला सारे कैदी तो सूखे टुकड़े खायें और अकेले स्वामी जी रसोई जीमें, यह तो असंभव सा काम था। इसलिए सेठ जी से अपनी बात कहने में उन्होंने कोई संकोच नहीं किया। लेकिन सेठ जी ही थे कि उन्होंने उनके मर्म की बात तत्काल पकड़ ली और उसे पूर्णरूप से तृप्त करते हुए उसी क्षण अपनी ओर से स्वामी जी को आश्वस्त करते से बोले कि ठीक है, रसोई आप की भी और सारी जेल की भी !

"जेलर से कहा गया और वे सेठ जी की इस उदारहृदयता पर मुग्ध हो गये। शायद भारत की जेलों के इतिहास में आज तक ऐसा नहीं हुआ कि जेल के कैदियों की दावत करने के लिए कोई दीवाना सेठ आया हो। लेकिन हम ने समझाया कि ये सेठ जी दीवाने नहीं हैं। ये तो स्वामी जी के परम प्रिय भाजन हैं। ये स्वामी जी को भोजन कराना चाहते हैं। और स्वामी जी एक असंभव सी शर्त लगा कर इस रसोई से बचना चाहते हैं। पर ये सेठ जी इन्हें बचने नहीं देंगे। उस शर्तको ही पूरी कर रहे हैं। जेलरने यह स्पष्ट धारणा समझ कर प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और जेलर की देखरेख में, उनके प्रबन्ध से ही सारी जेल की रसोई बनी। सेठजी दिन भर जेल की आफिस में रहे। अन्दर भी उन्होंने जेल का निरीक्षण किया, राजनीतिक कैदियों से भी वे मिले। लेकिन सबके साथ उन्होंने मानवीय चिंतनधारा के स्तर पर ही बातचीत की और किसी तरह के राजनीतिक प्रश्न आदि का प्रसंग उपस्थित नहीं होने दिया। उनकी बातों से सब कैदी मोद पाते थे और हँसते थे और महसूस करते थे कि मानो किसी वृहत् मनुष्य-समाज का कोई उत्तम पिता अपने बच्चों से यहाँ मिलने आया है।

"गोपालदास जी महन्त को जब जेल हो गयी तो सेठ जी ने मुझे कलकत्ता बुला लिया और हर तरह से मैं प्रसन्न रहूँ, इसकी देखभाल करते रहे। एक दिन मैं सुस्त था। कहने लगे कि इसमें दुखी होने की क्या बात है। आप का मंदिर सरकार ने कर लिया अपने कब्जे में, तो दूसरा मंदिर कर लो। चंदा आदि का विचार हो, तो वह कर लो। पर मंदिर में ४ या ५ हजार लगेगा, वह तो मैं ही दे दूँगा। सुन कर इतना बड़ा ढाढ़स बंधा कि मैं तुरंत ही स्वस्थ हो गया।

"दरबार (बीकानेर महाराज) ने साल भर बाद स्वामी जी को जेल से छोड़ दिया। छोड़ने से पहले शायद वे बीकानेर से जा रहे थे, मनुभाई ने स्वामी जी को सूचना भिजवाई कि दरबार आपसे मिलना चाहते हैं। स्वामी जी ने कहा कि मैं ऐसो असभ्य थोड़े ही हूँ कि न मिलूँ, जरूर मिलूँगा और वे दरबार से मिलने गये और उनसे दंडोत-प्रणाम भी की। कुछ बातें भी हुईं। दरबार भी समझ गये थे कि गोपालदास जी उनके राज्य के एक मणिरत्न हैं। बम्बई जाकर उन्होंने आदेश भिजवा दिया कि स्वामी जी को कारावास से मुक्ति दे दी जाए। जेल से छूट कर वे चूरू गये और वहाँ पर जनता ने उन्हें दुबारा अपने बीच पाकर बहुत हर्ष मनाया। सेठजी को जैसे ही समाचार मिला, उन्होंने तत्काल उन्हें कलकत्ता बुला लिया। कलकत्ता महानगरी में स्वामीजी का बहुत धूमधाम से स्वागत हुआ। होता रहा। कौन सी ऐसी सार्वनिक संस्था न थी, जिसकी सुरुचि-पूर्ण सम्वेदना राजस्थान की राजनीति से और जनता से न रही हो और जिसने बीकानेर राज्य के इस लोकनायक का स्वागत करने में उदासीनता दिखाई हो, सभी तो आगे बढ़-बढ़ कर उनके स्वागत का पुन्य ले रहे थे। रात को वे बस सेठ जी के साथ रह कर अपना समय बिताते। उन्हें अपने पास दुबारा पा कर सेठ जी को जैसे नया प्राण मिल गया। यद्यपि उनका शरीर कुछ शिथिल सा हो रहा था और लगता था कि जैसे अन्दर से उन्हें कुछ कृशता आ रही है, लेकिन महन्त गोपालदास जी को अपने पास दुबारा देख कर वे इतने हर्षित हुए कि उनका उत्साह देखते ही बनता था। मानो उन्हें किसी तरह के नये जीवन का नया संचार मिला है।

"महन्त जी कुछ दिन कलकत्ता रह कर ऋषिकेश चले गये और वहाँ से कुछ दिन तीर्थ-रमण करने के बाद वे फूलचट्टी चले गये और वहीं पर रहने लगे। मैं भी वहीं उनके पास रहने के लिए चला गया था। वहाँ उनकी जो सेवा होती थी, अपने हाथों से करने का सुख लेता था। कारण यह था कि चूरू का मंदिर तो सरकार के कब्जे में था। सरकार समझती थी कि मंदिर कब्जे में रहेगा तो महन्त गोपालदास जी का निवास फिर चूरू से हट जायेगा और उनके न रहने से इस मंदिर में राजनीतिक षड्यंत्रों का केन्द्र होने से छुट्टी मिल जायेगी। वही हुआ। स्थान ही जब निवास का अपहृत हो जाए, तो व्यक्ति परदेश ही रहेगा। एक प्रकार से बीकानेर राज्य ने इस तरह सीधे तौर पर उन्हें बीकानेर-निकाला[1] दे दिया था, कहा भी नहीं, घोषणा भी नहीं की और काम भी वही हुआ, जो सरकार चाहती थी, दरबार साहब चाहते थे !"

---

१ बनाकर फकीरों का हम भेष गालिब।
तमाशाए अहले - करम देखते हैं॥

सन् १९३७ की माघ सुदी नवमी को बंशीधर जी की कन्या कौशल्या बाई का संबंध चूरू के बागला वंश में हुआ। यह बैठा विवाह हुआ। सूरजमल जी सपरिवार चूरू पहुँचे। बहुत से मित्र भी कलकत्ता से साथ लेते गये। सैकड़ों व्यक्तियों को रतनगढ़ से निमंत्रित किया गया। बागला वंश भी राजस्थान के मारवाड़ी समाज का नामी वंश रहा है, उनकी ओर से भी विवाह की विशाल तैयारियाँ की गईं। १५ दिन सब चूरू में रहे। स्वागत-सत्कार में जो भी आयोजन हुए, वे शोभनीय स्तर के हुए। विवाह की धूमधाम में उनका रस इसलिए रहता कि उससे समाज के सभी वर्गों को आनन्द-मंगल का लाभांश प्राप्त होता है। जब कार्य समाप्त हुआ तो आप चूरू भी गये और वहाँ से सीधे पुरी पहुँचे। श्रम के कारण आपका शरीर शिथिल था। किन्तु यह शिथिलता पुरी में पूरी तरह से नीरोग भी न हो पायी थी कि आपको बीकानेर की यात्रा का भार स्वीकार करना पड़ा।

सन् १९३३ में आपने रतनगढ़ पिंजरापोल के कार्य का विकास करते हुए वहाँ पर सूरजमल नागरमल की ओर से गोशाला के चारों ओर की दीवाल मजबूत व पक्की करवा कर दी। मुख्य द्वार भी प्रतिष्ठा के अनुसार पौली-युक्त चिनवाया। सन् १९३५ में गोशाला की नई इमारत में दो मूफे तैयार करवाये।

सन् १९३५ में जार्ज पंचम की रजत-जयन्ती का कार्यक्रम सारे देश में ब्रिटिश प्रजा ने उत्साह-सहित मनाया। वास्तव में सारे आयोजन ब्रिटिश सरकार द्वारा विशेष आग्रह के साथ पूरे किये गये। अन्यथा देश में स्वाधीनता-संग्राम छिड़ा हुआ था और सात समुद्र पार के सम्राट् की रजत-जयन्ती के उत्सव में देशवासियों की क्षीण रुचि भी हो ही कैसे सकती थी। बंगाल सरकार ने इस अवसर पर सूरजमल जी से आग्रह किया कि उत्तम प्रजा के रूप में आपको कुछ आगे बढ़ कर लोकोपयोगी कार्य इस उपलक्ष्य में करना चाहिए। सूरजमल जी का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट था। आपने सरकार के इस सुझाव को तो विनय के साथ अस्वीकार कर दिया कि इस विशेष अवसर पर उन्हें कोई सरकारी उपाधि दी जाए। हाँ, आपने जन-कल्याण के काम को हाथ में लेने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। और मेडीकल कालेज में आपने एक चैस्ट-डिपार्टमेंट के निमित्त विशाल कक्ष बनवाने का भार अपने ऊपर ग्रहण कर लिया। यह कार्य आपने शीघ्र ही पूरा भी करवा दिया। जिस दिन इसका उद्घाटन हुआ, उस दिन कलकत्ता के सभी बंगला, हिन्दी और अंग्रेजी पत्रों ने इस भवन के चित्र प्रकाशित किये और इस समाचार को प्रधानता दी। अपने जीवनकाल में आपके हाथों चिकित्सा की दृष्टि से कलकत्ता की जनता के लाभार्थ यह दूसरा बड़ा आयोजन था।

पहले आयोजन की कुछ चर्चा पिछले पृष्ठों में आ चुकी है कि जब एमहर्स्ट स्ट्रीट में मारवाड़ी अस्पताल की स्थापना हुई तो आपने ५१ हजार रुपया आयुर्वेदिक विभाग के भवन-निर्माण में दिया था—यह उस समय उल्लेखनीय दान था। किन्तु ये रुपये कैसी अकल्पनीय घड़ियों में दिये गये, उसका उल्लेख यहाँ पर समीचीन लगता है। कहते हैं कि अस्पताल की योजना के प्रमुख कर्णधार जुहारमल जी खेमका, लक्ष्मीनारायण जी मुरोदिया आदि ने जब आयुर्वेदिक विभाग के भवन की योजना का सूत्रपात किया तो सहसा ही वे यह निर्णय न कर पाये कि चन्दे का सूत्रपात कहाँ से करें। बिड़लाओं की नीति के वे घोर विरोधी रहे थे, इसलिए सर्वप्रथम वहाँ जाने का प्रश्न अथवा उत्साह न था। अत: आप सभी सज्जन सूरजमल जी के यहाँ पहुँचे। जालान जी ने आप सब का स्वागत करते हुए यथा स्थान बैठाया और आगमन का कारण पूछा। जब उन्हें योजना की जानकारी करा दी गई तो सूरजमल जी ने सूक्ष्म बुद्धि से यह भाँप लिया कि ये चिट्ठे की पहली पोत कलम लिखाने आये हैं और उसका अर्थ यह है कि पहली रकम सबसे बड़ी होनी चाहिए। यह कितनी बड़ी कलम हो, यह निर्णय सूरजमल जी क्यों करें? यह तो समाज की प्रिय फलवती भावना पर निर्भर करता है कि वह उन्हें किस कोटि का दान-दाता मान्य करती है। इसलिए आपने मुस्करा कर यही कहा कि आप जितना उचित समझें, अपने हाथ से ही लिख लें। जुहारमल जी ने बहुत सोच-समझ कर ११०००) की कलम माँड़ दी। सूरजमल जी ने उसे देखा और मुस्करा कर उस भार को शिरोधार्य कर लिया। सब कार्यकर्त्ता गण संतुष्ट होकर उठे और विदा लेकर बाहर आये। पर बाहर आते ही मुरोदिया जी ने कहा कि अपने तो ठगे गये। अगर अपने कुछ ज्यादा लिखते तो सूरजमल जी वही मान लेते! सब को लगा कि बात ठीक है। कुछ सोच-विचार कर सब पुनः वापस लौटे। सूरजमल जी ने समझ लिया कि लोभ के वशीभूत सब वापस आये हैं। फिर भी सहर्ष जिज्ञासा की कि कहिये और क्या आज्ञा है। सब ने कहा कि बाबू, हम तो उतावली में ठगे गये। रकम कुछ कम लिखी गई। सूरजमल जी ने हँस कर कहा कि नहीं, के ऑट है। और बड़ी रकम मनचाही लिख लो। सबने बहुत जोर लगा कर २१०००) लिखा। सूरजमल जी ने सहृदय भाव से यह भी शिरोधार्य कर लिया। जब सब बाहर आ गये तो इस बार जुहारमल जी ने कहा कि भई, अपने तो दूसरी बार भी ठगे गये। वापस चलो। उन्हें दुबारा वापस देखकर सूरजमल जी खुल कर हँस पड़े और बोले कि कहिये, और क्या आज्ञा है। जुहारमल जी ने कहा कि बाबू, अपने तो दूसरी बार भी ठगे गये। सूरजमल जी ने उसी निश्छल आत्मीयता से कहा कि के ऑट है, जिसमें ठगाई का भाव न रहे, उतनी रकम लिख लो। सबने राय आपस में मिला कर ५१०००)

रकम इस बार लिखी। सूरजमल जी कृतज्ञ हुए कि समाज आज मुझे इतना भार उठाने में समर्थ मानने लगा है। आपने वह भी स्वीकार कर लिया!

सूरजमल जी ने अपने जीवन के शेषांश में एक सुकृत और किया। आपने अपने हाथ से नागरमल जी बाजोरिया का विवाह रचाया था। कर्त्तव्य-पूर्ति के रूप में आपने समय रहते नागरमल जी के ज्येष्ठ पुत्र के विवाह में भी उत्फुल्ल भाव से हाथ बँटाया। सबसे पहले चिरंजीलाल का विवाह सन् १९२६, मंगसिर सुदी में हुआ। नागरमल जी भी जीवित थे, पर परिवार में ज्येष्ठ तो सूरजमल जी ही थे। विवाह का सारा प्रबन्ध बाजोरिया-हाऊस से २१२ नं० कार्नवालिस स्ट्रीट में हुआ। सूरजमल जी ने धूमधाम में अतिशय रुचि लेते हुए सब प्रकार की तैयारियाँ करवाई। बारात ११ नं० रूपचन्दराय स्ट्रीट में सूरजमल बृजलाल झूँझनूँवाला के मकान पर गई। कुंजलाल जी की सुपुत्री चाँदा देवी के साथ यह पाणिग्रहण संस्कार शुभ लग्न में संपन्न हुआ।

बीकानेर की जुबिली के निमित्त अंतिम प्रवास

[५०]

बीकानेर महाराज श्री गंगासिंह जी ने जहाँ अपने शासन में अनेक आयोजन किए, वहाँ उनकी योजना-बहुल-बुद्धि का एक नया कार्यक्रम सन् १९३७ में सामने आया। बीकानेर राज्य की ओर से निश्चय किया गया कि उनके शासनकाल की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जाय और इसमें सहयोग देने के लिए बीकानेर राज्य के समस्त प्रमुख निवासियों अथवा यशस्वी प्रवासियों को निमंत्रण-पत्र भेजा गया। सूरजमल जी जालान इस समय तक बीकानेर राज्य के अग्रणी नागरिक बने हुए नगर रतनगढ़ के जन-प्रिय थे। 'सूरजमल नागरमल' नामक फर्म भारत के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में अपना आदरास्पद स्थान रखती थी। बीकानेर राज्य की ओर से सूरजमल जी को भी आदर सहित निमंत्रित किया गया और यह सूचना प्रेषित की गई कि वे राज्य-अतिथि के रूप में समारोह के अवसर पर पधारें। क्योंकि भारतीय नरेशों के प्रति इस समय तक उनके प्रजावर्ग की येनकेन राज्य-भक्ति का दौरा चल रहा था, इसलिए सूरजमल जी ने नगर के सामूहिक हित की दृष्टि से यह उचित समझा कि वे इस समारोह में शामिल होंगे। सन् १९३८ तक वे ५७ वर्ष की आयु के हो चले थे और प्रौढ़ावस्था की अन्तिम सीढ़ी को अपने पीछे छोड़ते हुए वृद्धावस्था की वरेण्य मंजिल पर पहुँचने की तैयारी कर रहे थे। जीवन-पर्यन्त उन्होंने किसी भी सरकारी या अर्ध सरकारी या सार्वजनिक स्तर पर किसी प्रकार का लौकिक मान अथवा सम्मान ग्रहण नहीं किया था, तब आज किसी नरेश के साधारण राजसी समारोह में उपस्थित होने का लोभ उन्हें हो ही क्या सकता था? यदि कोई लाभ था, तो वह रतनगढ़ के समग्र प्रजा के कल्याण के लिए ही हो सकता था। व्यावहारिक दृष्टि से सूरजमल जी सदा ही दूरन्देशी रहे, इसलिए आपने यह परिकल्पना तैयार की कि इस अवसर पर बीकानेर राज्य के सर्वप्रधान राजसी समारोह में अनुपस्थित रहने से अनुचित एक प्रभाव यह पड़ेगा कि राज्य भर के समृद्धि-प्राप्त होने वाले नगरों की श्रेणी में रतनगढ़ की चर्चा विवादास्पद हो जायेगी—इस रूप में कि वहाँ के निमंत्रित सेठ नहीं आये! इस समय तक रियासतों का हाल यह था कि नगर-विकास का अथवा नगर में चलनेवाली शिक्षा-संस्थाओं का अथवा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का उज्ज्वल भविष्य अथवा उनके भाग्य का बनना, बिगड़ना राज्य-अधिकारियों की दया पर निर्भर था। सूरजमल जी तो तन-मन से और हृदय से राष्ट्रीय मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। वे रतनगढ़ में अपना कोई स्थिर हित बाकी भी न रख चुके थे, फिर भी अपनी पितृभूमि के इस ग्राम को एक आधुनिक नगर बनाने के लिए उन्होंने एक दीप-तुल्य साधना की थी। आज यदि उसी विकास-क्रम की कोई शोभनीय वृद्धि केवल-मात्र मेरी बीकानेर-यात्रा से सम्पन्न हो सकती है, तो अवश्य ही मुझे इस अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए—यही सोच कर आपने बीकानेर-यात्रा का कार्यक्रम तैयार किया। किन्तु, उस समय आपके हृदय में प्रधान रूप से एक और ही मनोमंथन चल रहा था, उसका परिचय आपके प्रतिभावान् सुपुत्र श्री मोहनलाल जी ने हमें दिया—जो इन क्षणों में ३३ वर्ष के योग्य उत्तराधिकारी तरुण थे और पिताजी के क्लिष्ट दायित्वों को बड़ी योग्यता के साथ वहन कर रहे थे।

श्री मोहनलाल जी जालान ने बताया, "यद्यपि पिता जी हम सभी भाईयों को बहुत प्यार करते थे, लेकिन माता जी के देहावसान के बाद से जैसे उनके अन्दर कुछ माता का अंश अधिक तरल हो उठा था और वे उसी भाव से मुझे कुछ अधिक चाहने लगे थे। जब भी समय मिलता, ज्ञान की बात सुनाते, व्यवहार की बात बताते और जब भी समय मिलता, अपने साथ रख कर पितृत्व का वर्पण किया करते थे। हम सब भाईयों में स्नेहभाव बना रहे, इसके लिए सचेष्ट रहते थे। अंकुश लगाना उन्होंने नहीं सीखा था, सरल भावना का रोपण किया करते, समझाते,समझाते इस मधुरता के साथ कि वह
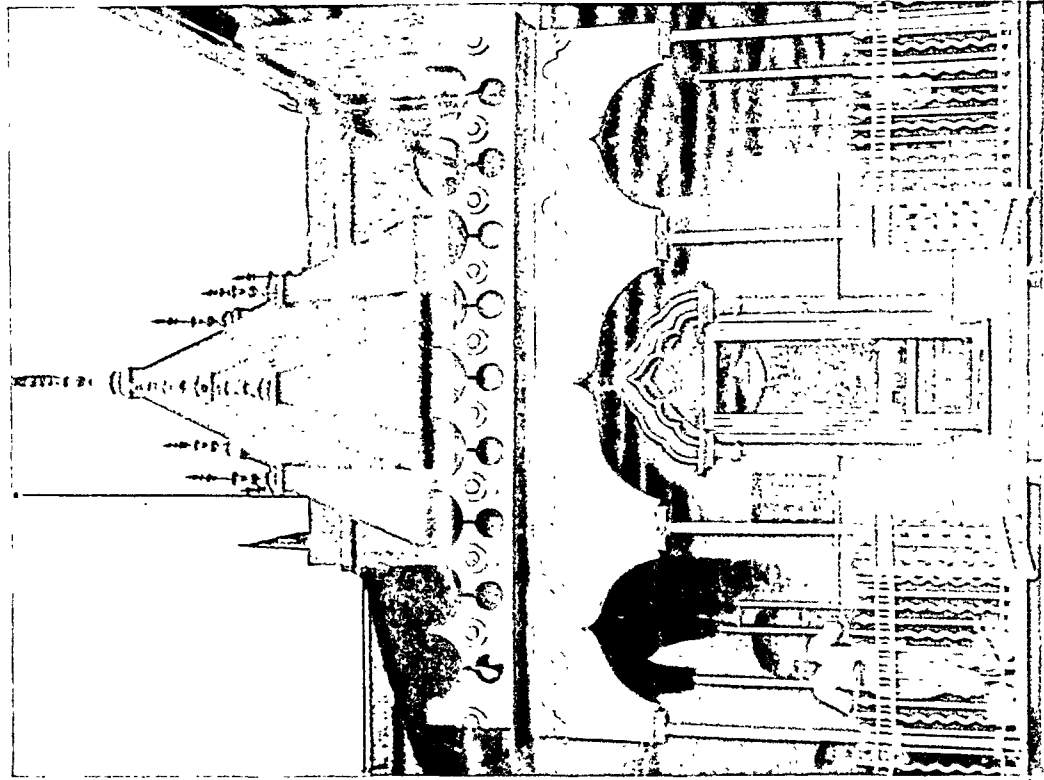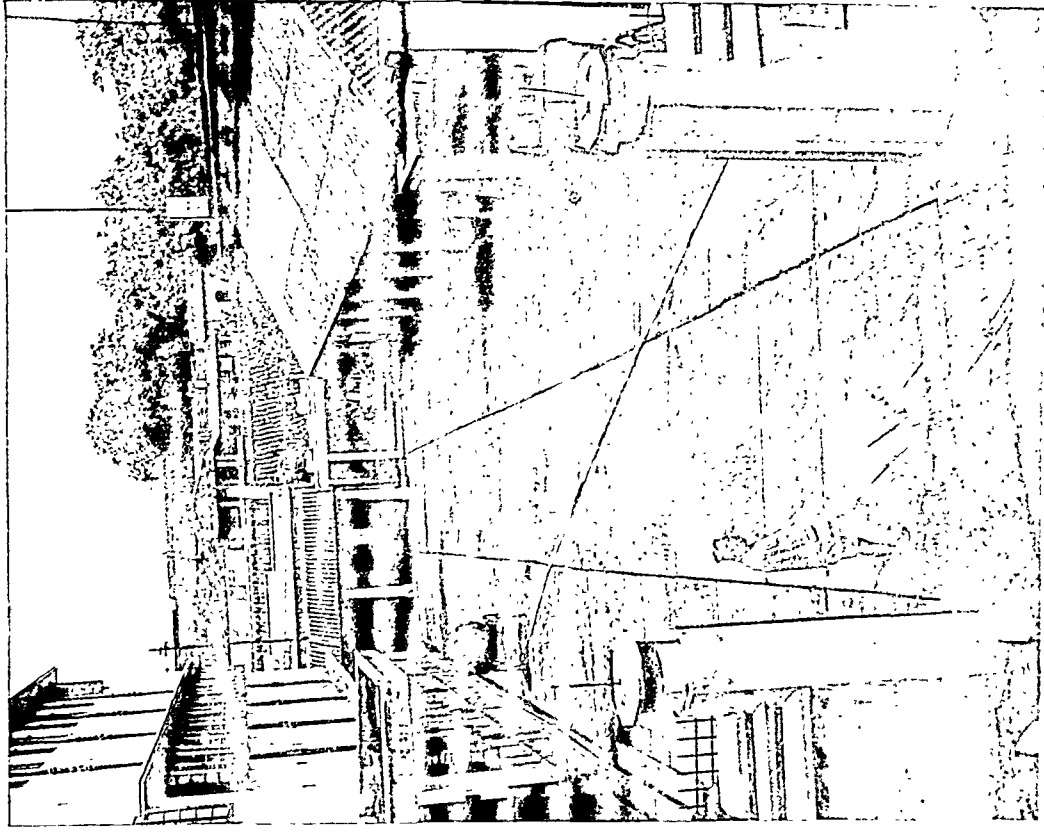
हनुमान अस्पताल, नया ब्लाक, हावड़ा

[श्री मोहनलाल जालान द्वारा स्थापित, सन् १९५८ ; हनुमान जूट मिल्स, हावड़ा, के समक्ष]

हनुमान हिन्दी हाई स्कूल, हावड़ा

[श्री मोहनलाल जालान ने इस भवन के विकास में बराबर उत्साह प्रदर्शित किया है]

दिल में घर करता था। लेकिन मैं यह जरूर देखता था कि जब से उनका शरीर कुछ गिरने लगा था, तो वे परिवार की परिधि से बाहर रहने लगे थे। अक्सर, सन् १९२८ के बाद से, जब हनुमान जूट मिल की स्थापना हो ली थी और वे प्रायः एक तरह से सक्रिय जीवन से रिटायर कर चुके थे, हम यह महसूस करने लगे थे कि सुबह मैदान से घूमने के बाद, वे घर पर कम रहते, किसी न किसी प्रयोजन से समवयस्क मित्रों के यहाँ अथवा किसी न किसी सार्वजनिक हित में लिप्त रहने की दृष्टि से बाहर चले जाते थे। जब रात्रि में वे शयन करते तो किसी साधु-संन्यासी की सत्संग-सौम्यता के वातावरण में ही अपनी मनःशान्ति रखते। सदाचार और उत्तम विचारों का परिवेश ही मानो उन्होंने धारण करने का नियम सा बना लिया था। गंभीर अधिक नहीं रहते, जिस से भी बात करते, आत्मीयता के साथ बात करते। हम को यह भी भ्रम रहा करता था कि सामने बैठा हुआ व्यक्ति क्या सचमुच बड़े बाबू के इतने घनिष्ट विश्वास में है। लेकिन बाद में तो यह समझते देर न लगी कि गहन विश्वास दिये बिना वे किसी से बात करते ही न थे। यह सब था, लेकिन उनका शरीर शिथिल हो रहा है, यह थोड़ा हमने समझना शुरू कर दिया था। पर दिखावे में उन्होंने शिथिलता से हार न मानी। उनके दैनिक जीवनक्रम में किसी तरह का कोई विघ्न नहीं आ रहा था। सब काम नियम से, समय से और पाबंदी से वे करते जा रहे थे।

"सन् १९२८ के बाद से उन्होंने अपना जीवन ज्यादातर देवघर में बिताना शुरू कर दिया था। फिर भी उनको चैन न था, काम जैसे सब से ज्यादा उनके पास ही था। जब देखा, किसी न किसी योजना की छानबीन ही करते मिलते थे। अक्सर उनसे कहा जाता था कि कुछ विश्राम अधिक करें, लेकिन उनसे जहाँ तक बनता, वे विश्राम से विरक्त रहना चाहते थे। हम से कुछ कहते नहीं बनता था।

"सन् १९२८ से लेकर सन् १९३७ तक, इन नौ वर्षों में उन्होंने अनेक हितकारी योजनाएँ देवघर व रतनगढ़ में नियमित कर दी थीं और प्रतिदिन लम्बे-लम्बे पत्र चारों ओर लिखवाते रहते थे। इसी सिलसिले में उन का विचार पुरी चलने का हुआ। वहाँ पर भी समुद्रतट पर पत्थरपुरी स्थापित करवा दी थी और उनकी इच्छा थी कि यह अपने ढंग की एक ही सार्वजनिक कोठी बन जाये। जो भी वे निश्चय कर लेते, फिर उसमें किसी तरह का व्यावहारिक दोष नहीं रहने देते थे, सब से परामर्श करते, बारीक से बारीक जांच कर देखते रहते कि इस योजना की व्यावहारिकता में कहीं झोल न रह जाये। लेकिन जब पुरी गये तो उनका शरीर साथ नहीं दे रहा था। साथ का मतलब यह है कि कुछ अस्वस्थ से थे, शरीर पर उनके कुछ फुन्सियाँ हो रही थीं और वे उनसे पीड़ित थे। दृश्य व्यवहार में वे किसी को ऐहसास नहीं होने देते थे कि वे बीमार हैं। हंस-खुश कर सबसे मिलते, सब का दुखदर्द पूछते, लेकिन अपना दुखदर्द वे किसी से बताते भी हों, यह हमने कभी नहीं देखा।

"पर शरीर-दुख से अधिक उनका अन्दरूनी एक बड़ा दुख था। उनके अनेक प्रिय साथी एक-एक कर अपनी इहलीला समाप्त करते जा रहे थे और इस कारण को लेकर वे कभी-कभी एकान्त में शान्त भाव से बैठे हुए खिन्न हो जाया करते थे। माताजी का देहान्त हो जाने के बादसे, जैसा कि हमने उनके सगों से सुना है' वे दुनिया से साधारण भाव में विरक्त से हो गये थे और दीन-दुखियों व अभावग्रस्तों की हितसाधना में ही अपना अधिक समय देने लगे थे, लेकिन किसी भी दिन उन्होंने जीवन से उदासीनता दिखाई हो, यह हमने नहीं देखा। मेरे विवाह से पहले हमारी भुआ जी सोनीबाई जी का असमय में शरीर शान्त हो गया, इस घटना से भी उनके मन में एक दरार सी आई। कई दिन तक खिन्न रहे, पर फिर प्रकृतिस्थ हो गये और जब उन्होंने उनके नाम से काशी में संस्कृत कालेज में एक कमरा बनवा लिया, तो मानो उन्हें एक बड़ी निश्चिन्तता सी हुई। हमारे विवाह के बाद हमारी बड़ी दादी जी का शरीर गया। उनका सारा कार्य उन्होंने अपने हाथों से ही किया। मिलने-जुलनेवालों से उन्होंने इस अवसर पर प्रायः वेदान्त की बातें ही अधिक कीं और इसी समय से वे वेदान्त में बहुत अधिक आसक्त से हो गये। स्वयं भी पढ़ते थे, पंडितों से पढ़वाते थे। जब स्वामी गोपालदास जी मिल जाते, तब तो मानो उन्हें इस विषय का अधिकारी विद्वान ही साथ मिल जाता था। हम कह सकते हैं कि स्वामी जी को देश भरमें लोगों ने एक राजनीतिक कार्यकर्ता के ही रूप में देखा, पर वे हर दृष्टि से जीवनमुक्त व्यक्ति थे। उनका प्रभाव ही बड़े बाबू पर अधिक पड़ा, जिससे कि वे जीवनमुक्त बनने लगे थे। इसका एक उदाहरण यहाँ पर देना उचित लगता है।

"वे एक बार देवघर में बैठे हुए थे कि अचानक एक व्यक्ति, जो कि मारवाड़ी ही था, आसाम से आया और उसने अपना सूक्ष्म सा परिचय दिया। बड़े बाबू ने सादर उन्हें अपने पास बैठाया और उनकी कुशलक्षेम पूछी। उसने बताया कि आपके पिताजी ने हमसे कुछ रुपये लिए थे। अब यदि संभव हो तो मैं भरपाई करने आया हूँ। सुनकर उन्होंने आगत व्यक्ति का चेहरा ध्यान से देखा। वे हरएक का चेहरा पहचानने में बहुत पारंगत थे। उनका मनोभावों का अध्ययन बहुत गहरा था। वे समझ गये कि यह व्यक्ति केवल मेरी दानशीलता का लाभ लेने आया है और सत्य भाषण नहीं कर रहा। यों भी उसके पास कोई लिखा-पढ़ी नहीं थी। पर अभावग्रस्त का सम्मान करना धर्म है, यह नीति आपने हाथ में ली। उस का आतिथ्य किया, दो-चार दिन अपने यहां अतिथिरूप में [illegible] रखा और फिर जितना रुपया उसने बताया था, उनके साथ सूद आदि दे कर उसे हर्ष के साथ विदा किया। विदा होने के समय वह व्यक्ति भी इतना तो समझ गया कि मेरी सत्यासत्य की बात [illegible]

सेठ जी से छिपी नहीं रह गयी है और वह इसीलिए चलते समय बहुत संकोच में भी रहा। जब वह चला गया, तो लोगों ने कहा कि आपने इस असत्य व्यक्ति के साथ जो व्यवहार किया है, वह नीति-परायण नहीं है। बड़े बाबू ने बहुत उदार हृदय से तब यही कहा कि बहुत दूर से चल कर वह अपने द्वारे आया था। पिता जी का नाम लेकर वह आया था। तीर्थों में जो पंडे अपने पूर्वजों का नाम लेते हैं, हम उन्हें दान आदि देकर कृतार्थ करते हैं। समझ लो कि यहाँ घर बैठे ही हमने कुछ सत्कार का माहात्म्य ले लिया है!

"उनकी उदारता की कोई सीमा न थी, जीवन-मुक्त रहते हुए वे अपने मानस पर किसी तरह की दुनियादारी का बोझ नहीं रख सकते थे। उनका चिंतन का तरीका बहुत ही असाधारण था। यह उसका एक उदाहरण हुआ। हमारे वे पिता थे, लेकिन पिता-रूप से अधिक वे हमारे पथप्रदर्शक थे!

"उन की जीवनमुक्त मनोदशा का एक उदाहरण और भी दे दिया जाए। यद्यपि मैं इकलौता पुत्र था, लेकिन वृहत् परिवार के वे ही मानो ज्येष्ठ पिता थे। बंशी बाबू और बैजनाथ बाबू उनको भी पितृस्थानीय मानते थे। लेकिन उन्होंने कभी भी मुझे यह नहीं बताया कि क्या व्यापार है, क्या सम्पत्ति है और क्या अंश हमारे अधिकार का है। सदा यही कहते कि मेरे सिर पर इतने लोग हैं, मुझे चिंता क्या है? फिर कभी-कभी यह भी कहते कि चिंता अपने पुरुषार्थ को रखनी चाहिए। खूब स्वस्थ रहना सीखो और खूब श्रम करना सीखो। व्यापार श्रम से फलता है, उसकी लक्ष्मी श्रमसे प्रसन्न होती है और इतना कहने के बाद असली बात पर आ जाते और कहते कि देखो, इस घर में तुम पुत्र ही नहीं हो, इस बड़े परिवार के एक सदस्य हो और समाज के भी सदस्य हो। व्यापार से धन सभी कमाते हैं, पर व्यापार से संजीवनी-बूटी भी हाथ लगती है। और हम को कभी-कभी विस्तार से संजीवनी-बूटी की कहानी सुनाते, उसका अर्थ सुनाते। सुनाते-सुनाते वे भाव-विभोर हो जाते और कहते कि संजीवनी-बूटी का खेता होने लगे तो इस देश का बहुत बड़ा कल्याण हो जाये.....

"लेकिन जब घर में कोई बीमार हो जाता, तो वे वेदना से भर जाते। विकल भी हो जाते। अधिक से अधिक चिकित्सा रोगी की हो, यह ध्यान रखते। हमारी सुकन्या सावित्री कुछ अस्वस्थ थी, तो अविलम्ब उन्होंने हमें और सावित्री को देवघर भिजवा दिया। स्वयं भी गये। उसी के पहले कुछ दिन के लिए वे पुरी गये थे। तब स्वयं बीमार थे। शरीर तो कष्ट का आगार है, वे कष्ट-पीड़ित थे, पर पीड़ा को वे बालकों की तरह से न सहते, वीर पुरुष की तरह से उसका सेवन करते। सहसा ही समुद्र-तट पर टहलते हुए उन के मुख से आहिस्ते से यह निकल गया कि अब मैं ज्यादा दिन न जीयूँगा। और यह कह कर सामने डूबते हुए सूरज को देखने लगे।

"हमने उनसे कहा कि आप को इस तरह की बात मुख से न निकालनी चाहिए। फुन्सियां हैं मामूली सी, वे जल्दी ही ठीक हो जायेंगी।

"उन्होंने शान्तभाव से हमारा चेहरा देखा, फिर सामने देखने लगे। तब अस्फूट बोले कि नागर भी गया, अब बारी मेरी है।

"शायद मैं ने पहली बार आत्मीय भाव से पिताजी से कहा कि नहीं, आप शीघ्र स्वस्थ हो जायेंगे। अभी तो आप बीकानेर की जुबिली में जा रहे हैं, वहाँ से आने पर आप यहाँ पुरी रहिए, स्वास्थ्य में अच्छा सुधार रहता ही है।

"सुन कर वे एक स्थान पर बैठ गये और हमसे बीकानेर की जुबिली में क्या होना चाहिए, इस विषय पर बात करने लगे। लेकिन हमने देखा, वे चाह कर भी नागरमल जी की स्मृति मन से उतार नहीं पाते थे।"

बीकानेर प्रस्थान करने से पूर्व सूरजमलजी कार्त्तिक वदी एकम को कलकत्ता पधारे। यहाँ पर बीकानेर ले जाने के लिए कुछ आवश्यक सामान आदि खरीदना था। एक विशेष कासकेट खरीदनी थी और बीकानेर नरेश के लिए मानपत्र की मुद्रण-व्यवस्था भी पूरी करवानी थी। दो दिनों तक आप कुछ ऐसे ही कार्यों में लिप्त रहे कि सहसा ही आपको बुखार हो गया। तापमान बढ़ने लगा। मोहनलालजी बाहर गये हुए थे। जिस समय तापमान ५ डिग्री पर पहुँचा, उस समय बंशीधरजी भी किसी ऐसोसिएशन की मीटिंग में भाग लेने के लिए जा चुके थे। रोग-शैया पर लेटे हुए सूरजमलजी उस तीव्र ज्वर में भी बहुत शान्त रहे। आपने ऐसा अनुभव किया कि संभवत: जो अवसान का क्षण है, वह निकट आ गया है। पास में झाबरमलजी सर्राफ उपस्थित थे। बहुत गंभीर भाव से आपने उन्हें आदेश दिया कि अब शायद अधिक अवसर जीवन का नहीं रह गया है, इसलिए मुझे कुछ विशेष बातें कहनी रह गई हैं। वह तुम ठीक तरह से सुन-समझ लो, घर आने पर बंशीधरजी को और मोहनलालजी को समझा देना। झाबरमलजी ने उच्च चिकित्सा का प्रबन्ध करवा दिया था और औषधादि देने में ठीक तरह से व्यस्त थे। इसलिए आपने उनकी कुछ बात सुनने से पहले उन्हें यही सान्त्वना दी कि तापमान बढ़ जाने से आप अशान्त न होवें, तापमान शीघ्र ही घटनेवाला है। आप जो भी आज्ञा देंगे, वह तो पूरी की ही जायेगी। थोड़ी और देर में मामोजी आदि आ जाने वाले हैं ही।

जैसा कि स्वाभाविक था, तीव्र ज्वर के कारण अशक्त शरीर कुछ समय बाद ही निद्रा में लिप्त हो गया। जब उनकी नींद खुली, उस समय तक प्राय: सभी स्वजन रोग-शैया के पास उपस्थित हो चुके थे। आपने छोटे भाई बंशीधरजी को पास बैठा कर

कहा कि अब तो दो चार बात ही ऐसी हैं जो मुझे कहनी शेष रह गई हैं। मेरी इच्छा है कि प्रभु के बुलाने पर में रवाना होऊँ, उससे पहले कुछ थोड़ा और कर जाऊँ। वंशीधरजी ने उन्हें बोलने से मना करते हुए आग्रह किया कि आपको अभी एकदम शान्त रहना चाहिए। रात भर में आपका ज्वर पूरी तरह से उतर जाएगा, ऐसा चिकित्सकों ने कहा है। कल सुबह आप जैसा भी कहेंगे, हम सब उसी आज्ञा का पालन करेंगे। सूरजमलजी आँखें बन्द कर लेट गये। उन्होंने इशारे से कहा कि मेरे तकिये के पास एक कागज और कलम रख दी जाये। वे वस्तुएँ वहाँ पर सहेज कर रख दी गई।

रात का एक बजे का समय था। सब ओर नीरव शान्ति थी। सड़क पर ट्राम और मोटर-गाड़ियों का आना-जाना भी रुक चुका था। सूरजमलजी ने एक भरी नजर अपने कमरे में रखी हुई वस्तुओं को देखा और फिर खुली हुई खिड़की से आती हुई हवा का संस्पर्श पाकर वे किसी अनिर्वचनीय आनन्द में खो गये। कुछ देर बाद आपको स्मरण आया कि राजा मोरध्वज ने जीवन के अंतिम क्षणों में क्या दिया था। और उसी समय उन्हें सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा भी याद आ गई।

धन! आज मेरे पास अवश्य यह धन है। मुझे इसका त्याग करना चाहिये। आपको एक के बाद ऐसे बहुत से उदाहरण याद आने लगे कि जिनके अनुसार मारवाड़ी समाज के धन्यभाग लोगों ने जीवन के अन्तिम क्षणों में उत्तम लोकोपयोगी कार्यों के लिए अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ धन लोक-कल्याण के लिए समर्पित कर दिया था और उन सब में अधिक याद रहा रायबहादुर विश्वेश्वरलालजी हलवासिया का नाम। हलवासियाजी भी सूरजमलजी के मित्रों में से एक थे। उनके साथ समान विचारों की संगति भी थी। सिर्फ १४ वर्ष ही तो हुए हैं कि वे आधी आयु का भोग करने के बाद ही हम सबके बीच में से चले गये थे। पर जाने से पहले उन्होंने अपनी अधिकांश सम्पत्ति का एक ट्रस्ट लोकोपयोगी कार्यों के लिये बना दिया था। कुछ अन्य नाम भी और याद आये, जिनके नाम से इसी प्रकार से ट्रस्ट स्थापित हुए हैं।

सूरजमलजी ने विचार किया कि ट्रस्ट बनाना ही किसी संकल्प की इतिश्री नहीं है। ट्रस्ट-गठन से पूर्व वास्तविक वस्तुस्थिति तो उचित भाव-भूमि का गठन है। मुझे इस सम्बन्ध में क्या करना चाहिए?

कुछ देर तक आप अपनी आत्मा में इस प्रश्न को दोहराते गये और कुछ देर बाद शान्ति से सो गये। बहुत अच्छी नींद आई। जब दुबारा उठे तो भोर हो चुकी थी। परिवारजन भी आकर उनके समीप उपस्थित थे। आपने एक दृष्टि पलक खोल कर पहले सबको देखा और फिर आँखें बन्द कर अपनी आत्मा से विकीर्ण होने वाले दिव्य-ज्योति पुंज को एक टक देखने लगे। आपने अपने से ही प्रश्न किया कि यह इतना तीक्ष्ण प्रकाश मेरी बन्द आँखों में कहाँ से आया? किसी अदृश्य शक्ति ने उत्तर दिया कि यह प्रकाश उन सब पवित्र आत्माओं को मिलता है, जो धन का परित्याग करने के लिए तत्पर हुआ करती हैं।

वंशीधरजी को अपने पास बुला कर आपने अत्यन्त मधुर स्नेहभाव से कहा कि अब तक हमने जो भी किया,व ह भगवान का दिया हुआ था, उसीसे कुछ किया। अब ५-६ महीने से प्रभु की दूसरी ही आज्ञा हो रही है। मैं चाहता हूँ कि तुम सब भी इस आज्ञा को सोच-समझ लो। मैं तो अब ज्यादा दिन का मेहमान नहीं हूँ। मेरी यात्रा में अब अधिक विलम्ब नहीं है।

वंशीधरजी उनके और पास सरक गये और बोले कि बात आज तक भी वही हुई है, जो आपकी आज्ञा रही है। आज आप आज्ञा दें, प्रभु भरोसे सभी पूरा करने की चेष्टा करेंगे।

वंशीधरजी ने देखा कि सूरजमलजी के माथे पर एक स्निग्ध आलोक प्रस्फुटित हो रहा है और उनके कंठ पर मानो आज कोई अदृश्य शक्ति विराजमान है। सूरजमलजी ने अपने तकिये के नीचे से एक कापी निकाली। उसमें उनके हाथों से कुछ लिखा हुआ था। उसे वंशीधर जी के हाथों में देते हुए वे बोले—"प्रसाद को बांटने का अधिकार तो पुजारी को ही होता है। मुझे आज यह बात सूझी है कि चलते हुए अपना हाथ पूरी तरह खाली कर जाऊँ। आज तक हमने जिसको भी दिया, उसको मुक्त हृदय से नहीं दिया। मेरी आत्मा मुझे विकल बना दे रही है कि हमने जिस-जिस का थोड़ा बचा कर रखा है, आज उसी की भरपाई कर दें।" और यह कह कर आपने अपने प्रधान मुनीम रामदेवजी देवड़ा से नाम लिखाना शुरू किया। पहले बहू-बेटियों के नाम लिखाये और उनके आगे कितनी राशि दी जानी है, वह रकम लिखाई। उसके बाद बहन-भाणजों के नाम लिखाये। फिर बन्धु-बान्धवों के नाम लिखाये, उसके उपरान्त नाते-रिश्तेदारों व स्नेही संगी-साथियों के नाम लिखाये। यह सूची पूरी हो जाने के बाद आपने मुनीम-गुमाश्तों तथा अन्य कर्मचारियों के नाम लिखवाये। कुछ देर ठहर कर आपने अब उन अबोधजनों का स्मरण करना शुरू किया, जिन्होंने किसी न किसी रूप में आपकी सेवा में रहते हुए आपके हृदय को मोह लिया था। देवघर, पुरी, रतनगढ़, हरिद्वार आदि स्थानों के उन सब लोगों को भी आपने उस समय स्मरण करना उचित समझा, जो श्रमिक हैं अथवा सेवा-तत्पर हैं। सब की सूची जब तैयार हो गई तो एक दृष्टि उस पर डालते हुए आपने यही कहा कि मेरी स्मृति तो इन तक ही जा रही है, अब तुम बतलाओ कि और कौन बाकी रह गया है?"

वंशीधरजी ने अपने ज्येष्ठ अग्रज की संभूत भावनाओं के मर्म को ग्रहण करते हुए कुछ ऐसे नामों का स्मरण करवाया, जो प्रियभाव से सूरजमलजी के मन में निवास करने योग्य थे। उन्होंने उन नामों के आगे वांछित राशि कितनी प्रदान की जायेगी, वह आंकड़ा भी लिखवा दिया। अब उस सम्पूर्ण सूची को देखकर सूरजमलजी बोले, "मुझे तो ऐसा लग रहा है कि जैसे वहुत वड़ा वोझ मेरे सिर पर से उतर चुका है। धन तो आकर भी ऋण है और जाकर भी ऋण है! कमाने से धन मन को चंचल करता है। मैं आज २० वर्षों से इसी चंचलता के विरुद्ध चेष्टा करता आ रहा हूँ, आज मेरा मन वहुत स्थिर है।"

थोड़ी देर शान्त रहने के वाद आपने दूसरी आज्ञा दी कि तुम सव कोई धैर्य के साथ वैठ जाओ, एक ट्रस्ट तैयार करना है। मैंने रतनगढ़ में काफी काम करवा दिया। देवघर में भी कुछ काम हुआ है, पर कलकत्ता में तो आज तक कुछ हुआ ही नहीं है। हमारा तो भूत-भविष्यत् इसी नगर में रहने वाला है। मेरी इच्छा है कि अपने सेन्ट्रल ऐवन्यू में जिस भूमि की वात कर रहे हैं, उसको थोड़ा वहुत कम-अधिक में ले लेना चाहिये। वहाँ पर एक इतना वड़ा भवन वने कि जिसमें २-३ संस्थायें एक साथ खड़ी की जा सकें। सव से नीचे तो भगवान राम का मन्दिर होना चाहिए और नियमित रूप से वहाँ पर कथा-वार्त्ता, कीर्त्तन, प्रवचन, मांगलिक अनुष्ठान और हिन्दू पर्व-त्यौहारों पर होने वाली शोभनीय झांकी चलती रहे।

वंशीधरजी की ओर सीधे देखते हुए सूरजमलजी ने कहा, "कलकत्ता में भगवान राम के मन्दिर की वहुत वड़ी आवश्यकता है। सेन्ट्रल ऐवन्यू का स्थान मन्दिर की दृष्टि से वड़ा उचित रहेगा। मुख्य सड़क पर होने के नाते आगत भक्तों को और दर्शनार्थियों को हर तरह की सुविधा रहेगी। आज तक हमने अपनी सव संस्थाओं का नाम महावीर हनुमान के नाम पर ही रखा है। इस मन्दिर में तो प्रधानता भगवान राम की ही रहनी चाहिए। भगवान राम जहाँ रहेंगे, वहाँ हनुमान जी का स्थान स्वयं रहेगा ही। आज राष्ट्रीय स्तर पर गांधीजी ने भी रामधुन को ही अपने प्रवचनों में प्रधानता दे रखी है। उनके सभी भाषणों और कार्यों में राम ही प्रधान हैं। सचमुच राम एक ऐसी शक्ति हैं, जिससे हमारे जातीय जीवन का और राष्ट्रीय जीवन का वहुत वड़ा उपकार हो सकता है। कलकत्ता में मन्दिर तो अनेक हैं, परन्तु सार्वजनिक हित की दृष्टि से ऐसा मन्दिर नहीं है, जहाँ पर रामधुन का स्वर-गुंजन व्यापक पैमाने पर आयोजित किया जा सके।"

कुछ देर ठहर कर सूरजमलजी ने कहा, "सलकिया में और रतनगढ़ में तो वड़े पुस्तकालय खड़े किये जा चुके हैं। उनका अच्छा विस्तार भी हो चुका है। वड़ावाजार में यों कुछ हिन्दी पुस्तकालय जरूर हैं और मैं उन्हें देख चुका हूँ। वे काम अच्छा कर रहे हैं, पर एक वड़ा पुस्तकालय जव तक नहीं होगा और उसे आर्थिक क्षमता से पूरी तरह आत्म-निर्भर नहीं वना दिया जायेगा, तव तक मेरी आत्मा को सन्तोष नहीं होगा। हिन्दी पुस्तकालय देश की सवसे वड़ी जरूरत है। शिक्षा के लिए स्कूल खोलना वुनियादी वात है, सामूहिक शिक्षा के लिए पुस्तकालय खोलना उससे भी वड़ी वात है। पुस्तकालय के लिए कम से कम दो ऐसे वड़े हॉल हों, जिसमें वाचनालय और पुस्तक-संग्राहलय सुरक्षित हों। मेरी इच्छा है कि इस सार्वजनिक स्थान को महत्वपूर्ण वनाने की दृष्टि से यह एक नया प्रयोग करना होगा। जो श्रोता और दर्शक और भक्तगण प्रातःकाल और सायंकाल देव-दर्शन के लिए मन्दिर में पधारें, वे लगे हाथ वाचनालय और पुस्तकालय की सुविधा होने पर अवश्य ही इसका सदुपयोग करना चाहेंगे। प्राचीन भारत में तो मन्दिरों में ही ग्रंथागार और पुस्तक-संग्रह हुआ करते थे। यदि हमारे देश के सभी मंदिरों में पुस्तक-संग्रह का और पुस्तकालय खोलने का नया अभियान शुरू हो जाये तो सचमुच देश के सारे उदास भाव को प्राप्त मंदिरों का जीर्णोद्धार हो जाये। इस दृष्टि से, मेरी इच्छा है, इस मंदिर के प्रथम तल्ले पर एक वड़ा पुस्तकालय स्थापित किया जाये। हमारी चेष्टा यह रहेगी कि निरंतर उत्तमोत्तम पुस्तकों से इसे लव्व वनायें और अधिक से अधिक मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र और शोध-पत्र मँगाने पर जोर देते रहें। यहाँ पर आनेवाले सदस्यों को शुल्क इत्यादि की दृष्टि से किसी तरह न वांधा जाय। ज्ञान-दान का शुल्क लेना एक अपराध है।" वंशीधरजी ने सुन कर कहा कि ऐसा ही होगा।

अव कुछ हर्षित होकर सूरजमलजी उठ वैठे। उनके चेहरे से लगता था कि मानो अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ वात अव वे कहने जा रहे हैं। ज्वर की पीड़ा इस समय वे भूल चुके थे। वंशीधरजी को एकाग्रभाव से देखते हुए अव उन्होंने कहा, "सलकिया में और रतनगढ़ में हम कन्या-पाठशालायें खोल चुके हैं। कलकत्ता में स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से अनेक प्रकार के अभाव चल रहे हैं। यहाँ पर या तो स्त्री-शिक्षा वहुत महँगी है अथवा शिक्षा-संस्थायें ऐसी हैं कि वहाँ पर मध्यवर्ग की कन्याओं का पहुँचना कठिन रहता है। मेरा विचार है कि वड़ावाजार के मध्यवर्गीय परिवारों की कन्याओं की हित-साधना की दृष्टि में रख कर हमें दूसरे एवं तीसरे तल्ले पर कन्या-पाठशाला का आयोजन पूरा करना चाहिए। देवस्थान में आने वाली शिक्षार्थी कन्याएँ पवित्र संस्कारों से लव्व वनेंगी और उनका शील उत्तमत्ता को प्राप्त होगा। इस कन्या-विद्यालय में उतना ही शुल्क लिया जाये, जो कि उनके माता-पिता आसानी से दे सकें। अभी तक हमारे देश में इस तरह का प्रयोग सामने नहीं आया है कि मंदिर में ही पुस्तकालय और कन्या-विद्यालय हों। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करने से एक उत्तम सार्वजनिक संस्था स्थापित

हो जायेगी। कलकत्ता के जन-जीवन में यदि इतना भी हमारी ओर से हो गया तो वह कोई कम बात न होगी।"

वंशीधरजी ने ज्येष्ठ भाई को आश्वस्त करते हुए कहा कि ऐसा ही होगा।

इसी समय चिकित्सक महोदय आ गये। रोग और निदान आदि की पूछताछ होने लगी। पथ्य आदि की व्यवस्था उन्होंने की और यह आदेश देकर चले गये कि आप कम से कम बातें करें। जब वे चले गये तो सूरजमलजी ने औषध ली और फिर आराम से लेट गये।

प्रभु-इच्छा ऐसी हुई कि दो दिन बाद आप पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गये। इस अवधि में आपने बैजनाथजी से और नारायणी देवी से तथा बाल-बच्चों से भी इस योजना के विषय में परामर्श किया। सभी एक ही मत थे कि यह बहुत उत्तम योजना है। सूरजमलजी को इस सर्वसम्मति के प्राप्त हो जाने के बाद कुछ ऐसी अनुभूति हुई कि मानो उनकी योजना का भावी मार्ग प्रशस्त हो गया है।

बीकानेर जाने का कार्यक्रम निश्चित था ही। आपने एक दिन बाद स्वस्थ होकर बीकानेर की दिशा प्रस्थान कर दिया।

प्रस्थान करने के पूर्व आपने रतनगढ़ इस प्रकार तार दिया—जिसमें सूरजमलजी माठोलिया को आदेश दिया गया था कि इस राजसी हर्ष-पर्व के समय रतनगढ़ नगर में किस प्रकार सार्वजनिक मोद-उत्सव आयोजित किया जाए। इस समय तक माठोलियाजी रतनगढ़ में सूरजमल नागरमल द्वारा संचालित सार्वजनिक संस्थाओं के कार्याध्यक्ष थे। तार में लिखा गया था—

Received letter Illuminate in best way all Sanstha-buildings Distribute sweets in all our schools and do whatever more as instructed Sagarmullji Send telegram Bikaner eighteenth expressing great joy and hearty rejoicings on Golden jubilee senders' name Soorajmull Nagarmull Sansthapak and Sanchalak and all members of the Shree Hanuman Pustakalaya Balika Vidayalaya Banita Vidayalaya Night School, Shilpshala Viyayamshala Ayurvedic College and Aushdhalaya etc. Soorajmull.

बीकानेर पहुँचने से पहले ही सूरजमल जी माठोलिया ने हर्ष-मोद की समस्त पृष्ठ-भूमि तैयार कर ली थी। वे जब तक बीकानेर पहुँचे, माठोलियाजी ने तार में दिये गये आदेश की पूर्ति करते हुए एक ऐसा उत्साह-वर्धक वातावरण तैयार कर लिया था, जिसमें रतनगढ़ के जन-जन का आनन्द-मंगल देखते ही बनता था। सूरजमलजी के बीकानेर पहुँचने के समय माठोलियाजी भी रतनगढ़ का कार्य समाप्त कर बीकानेर पहुँच गये। इस अवसर के रोचक प्रसंग सुनाते हुए आपने कहा, "समाचार-पत्रों में बहुत पहले से इस तरह की खबरें आने लगी थीं कि राजस्थान में पहली बार बीकानेर महाराज ही ऐसे हैं, जो अपनी निराली जुबिली मनायेंगे। इस तरह का आयोजन पहले किसी भी रियासत में नहीं हुआ था। देश के राजनीतिक आन्दोलनों के सन्दर्भ में प्राय: ये बातें बराबर दोहराई जाती थीं कि देशी रियासतों में न तो शासकजन प्रिय हैं और न वहाँ की शासन-व्यवस्था ही जनप्रिय है। इस विषय में बीकानेर महाराजा ने एक नीति इस तरह की अपनाई थी कि वे जनप्रियता की बात प्रचारित कर सकें। अपने शासन की जुबिली मनाने का मन्तव्य भी परोक्ष रूप में यही था।

"राज्य की प्रजा अपने नरेश में विश्वास करती थी, यह तो उस युग की सीधी बात थी। राज्य भर के सेठों में भी यह उत्साह आया था कि इस अवसर पर इस समारोह में राज्य भर के सेठ-साहूकार आपस में एक दूसरे से मिल-भेंट पायेंगे—यह सब के लिए आनन्द की बात होगी।

"बड़े सेठजी ने पत्रों में हमसे पूछना शुरू कर दिया था कि रतनगढ़ में क्या-क्या तैयारियाँ शुरू हो रही हैं। अपने पत्रों में यह आदेश भी देने लगे कि रतनगढ़ में क्या-क्या तैयारियाँ की जानी चाहिये। सब से अन्त में उनका एक लम्बा-चौड़ा तार आया, जिसमें धूमधाम के साथ रतनगढ़ में खुशी मनाने के लिए स्पष्ट निर्देश था। उसके बाद उनका पत्र आया और हमें बीकानेर आने के लिए संकेत किया। निश्चित तिथि के दिन मैं बीकानेर के लिए रवाना हो गया। यह बात पहले से ही तय हो गई थी, वे सीधे ही बीकानेर पधारेंगे। वहाँ पर राजस्व-मंत्री कुंवर प्रेमसिंहजी ने राज्य की ओर से उनका स्वागत किया और उन्हें राज्य-अतिथि के रूप में मोहताओं की हवेली में ठहराया गया। बीकानेर की धूमधाम देखते ही बनती थी। नगर में सजावट भी कम न थी, गरीब और अमीर सभी हर्षित थे। खुशी बाजार में तैर रही थी और वातावरण में चारों ओर से एक दूसरे को बधाई देने का चाव उमड़ पड़ रहा था। भारत में राज्याभिषेक के समारोह परम्परावादी शैली से जब भी हुए हैं, तो उनका आनन्द-उत्सव हमेशा ही उत्साह सहित रहा है। किन्तु ब्रिटिश-शासन की जुबिलियों का अनुकरण करते हुए बीकानेर में जो यह उत्सव हो रहा था, वह भी जनता में एक नई लहर फैला रहा था।

"सेठजी बीकानेर पहुँचने के बाद आराम से एक स्थान पर न बैठे। आपने कम से कम दो या तीन बार बीकानेर महाराज से भेंट की। इस अवसर पर आप कलकत्ता से ही उन्हें भेंट करने के लिए कासकेट में एक मानपत्र रख कर लाये थे। यह उन्हें समर्पित किया और कुशल-क्षेम के बाद यह बात आई कि इस जुबिली के अवसर पर कलकत्ता के सेठों की ओर से कुछ न कुछ नया काम बीकानेर में भी शुरू होना चाहिए। इस नये काम से आशय यह था कि या तो कोई नया व्यापार या कोई नया कारखाना बीकानेर

में शुरू किया जाय अथवा लम्बे-चौड़े दान से कोई सार्वजनिक योजना प्रारम्भ की जाय। प्रारंभिक भेंट के समय सेठजी ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और बीकानेर महाराज इस स्वीकृति से अवश्य प्रसन्न हुए। उसके बाद उन्होंने राज्य-अतिथि के रूप में सेठजी का भी सम्मान किया और राजकीय चिह्न महाराज ने अपने हाथों से उन्हें भेंट किया।

"इस समय बीकानेर के दीवान-पद पर महाराजा मांधाता सिंहजी थे। उन्होंने बात आगे बढ़ाने के लिए कि रतनगढ़ के सेठ बीकानेर में क्या नया काम शुरू करना चाहते हैं, इस विषय पर अपनी ओर से कुछ प्रस्ताव रखे। सूरजमलजी ने उन सब को बहुत ध्यान से सुना और एक स्पष्ट वक्ता के रूप में आपने उत्तर देते हुए कहा कि मैं काम अवश्य शुरू करना चाहता हूँ। आपको मालूम होना चाहिए कि मैं बीकानेर राज्य में इस समय तक बहुत कार्य कर चुका हूँ और मैंने काफी रुपया भी लगाया है। आज भी मेरी धारणा यह अवश्य है कि कुछ और नया काम शुरू किया जाय। मैं तो बीकानेर से अधिक, बीकानेर राज्य में रुपया लगाने के लिए हमेशा से ही तैयार रहा हूँ। मेरा बीकानेर तो रतनगढ़ है। आज भी यदि जुबिली के उपलक्ष्य में कुछ करना होगा तो मैं रतनगढ़ में ही करूँगा। ऐसे उद्गार सुन कर मांधाताजी को अच्छा न लगा। उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत करते हुए यही कहा कि अब तक आपने जो किया सो अपनी निजी मरजी के अनुसार किया। बीकानेर राज्य का एक नगर आपने सुविधा-सम्पन्न बनाया, इस पर हमें और महाराज साहब को गर्व है,लेकिन इस जुबिली के अवसर पर तो आपको महाराज की इच्छानुसार बीकानेर में ही कुछ काम शुरू करना चाहिए।

"हमने देखा कि सेठजी में कहीं भी विचलित होने का भाव नहीं आया, मुस्कराते हुए उन्होंने यही कहा कि महाराज जुबिली का उत्साह तो बड़ी धूमधाम से मना लेंगे और उसका लाभ भी उठा लेंगे। आपको तो समदृष्टि से राज्य के सभी नागरिकों को एक सतह पर देखना चाहिए। मैं तो इस जुबिली का आनन्द रतनगढ़ को ही देना चाहता हूँ। प्रायः सभी योजनायें अभी तक रतनगढ़ में शुरू हो चुकी हैं, केवल एक योजना की कमी है और वह है, एक आधुनिक अस्पताल खोलने की। आप इसी की घोषणा कर दें कि जुबिली के अवसर पर रतनगढ़ के सेठजी महाराज साहब की आज्ञा से रतनगढ़ में एक बड़ा आधुनिक अस्पताल खोलने जा रहे हैं। मांधाता सिंह तो पहले से ही सेठजी के दृढ़ मन्तव्यों से परिचित थे। अन्त में उन्होंने सेठजी के निर्णय पर औपचारिक प्रसन्नता प्रगट करते हुए उन्हें इस घोषणा करने पर बधाई दी और आदर सहित विदा किया।

"बीकानेर में लगभग ५ या ६ दिन ही सेठजी रहे। जब कि अन्य सेठों की ओर से वैभव का काफी प्रदर्शन किया गया, लेकिन सूरजमलजी की सरलता और सादगी देखते ही बनती थी। वहाँ पर सेठजी स्वामी गोपालदासजी के बारे में कुछ निर्णय करना चाहते थे, लेकिन वैसा वातावरण न देख कर आप मौन रहे और जुबिली का कार्यक्रम पूरा होने पर रतनगढ़ लौट आये।

"ट्रेन में बात करते हुए आपको इस बात पर कम खुशी न थी कि इस शुभ अवसर पर रहा सहा अस्पताल खोलने का निर्णय भी हो गया। रतनगढ़ पहुँच कर आपने सागरमलजी भुवालका आदि से अस्पताल की योजना पर विस्तार से विचार किया। आंकड़े इकट्ठे किये और उसी में अपना अधिक समय लगाया। उस समय तक रतनगढ़ में नगर के आधुनिकीकरण की दृष्टि से केवल एक अस्पताल खुलना शेष रह गया था और बड़े बाबू यही चाहते थे कि उनके जीते जी यह काम भी हाथ में ले लिया जाय।

"इस बार की यात्रा में एक बात विशेष थी। पहले तो आप जब अपनी संस्थाओं का निरीक्षण करने जाते तो केवल औपचारिक आगमन ही आपका होता और कार्यकर्त्ताओं से या संस्थाओं के अधिकारियों से कुशल-क्षेम पूछने के बाद लौट आया करते। इस बार इस कार्य-पद्धति में एक अन्तर था। आपने बारी-बारी से सभी संस्थाओं का जो निरीक्षण किया तो वह सूक्ष्म दृष्टि से किया। कुशल-क्षेम सबकी पूछी, लेकिन सबके परिवार की भी कुशल-क्षेम पूछी। बारीकी से यह बात भी जानते रहे कि संस्था में कौन-सा काम किया जाना बाकी रह गया है। उन्हें यह आशंका भी बराबर रहती थी कि अमुक कारण से अमुक संस्था का कार्य बिलकुल ठप्प भी पड़ सकता है, ऐसी स्थिति में वे बहुत सतर्क रहते थे। किसी भी संस्था में ऐसे प्राण-घातक घुन न लगने पावें, जिससे संस्था का सर्वनाश सामने आकर खड़ा हो जाय। सेठजी के जीवन की यह बहुत बड़ी विशेषता रही कि वे योजना बाद में खड़ी हुई देखते, लेकिन पहले संस्था की गहरी नींव खोदने में विश्वास करते थे और उसकी कार्य-पद्धति में ऐसे प्रहरी तत्व रखते थे कि जिससे संस्था निरंतर परिवर्द्धनशील होती रहे, निरंतर उससे अपेक्षित रखे जाने वाले कार्य संपादित होते रहें, निरंतर वह हमारे उद्देश्यों की पूर्ति करने वाली सिद्ध होती रहे और उसका विकास ऐसी शोभनीय भूमि पर हो कि उसके प्राण-रस का स्रोत अक्षय बन जाय। सेठजी को यह चिन्ता कभी नहीं रहती थी कि हमारा कार्य कितना छोटा है, संस्था कितनी छोटी है—अथवा उससे स्रवित होने वाला लाभ कितना अल्प है—वे हमेशा कहा करते थे कि बीज छोटे से बड़ा बन कर वृक्ष लगता है। शिशु घुटनियाँ चल कर ही बड़ा आदमी बनता है। उसी तरह एक प्रारंभिक संस्था को भी उसी तरह की बदली समझना चाहिये जो बहुत छोटे एक हवा के रेगे के रूप में दृग्गोचर होती रहे, किन्तु समय पाकर वह बहुत अधिक वर्षा करने वाला बदली भी बन जाती है!

"यह सब चल रहा था और उनकी कार्य-व्यस्तता भी चल रही थी, पर जो विशेष बात थी, वह हम लोग बहुत सावधानी से देख रहे थे। सायंकाल वे जब एकान्त में बैठते और हम ही केवल उनकी सेवा में रहते, उस समय वे हरिस्मरण करते हुए कुछ ऐसी बातें करने लगते, जो हम सबको चौंका देने वाली होतीं। उनका स्वर कुछ ऐसा-सा था, जैसा कि घर से किसी बहुत दूर तीर्थ-यात्रा पर जाने वाले उस बड़े-बूढ़े का हुआ करता है, जो अपनी आयु तो पूरी कर ही लेता है और उसे अनुमान होने लगता है कि शायद वह इस यात्रा से वापिस न लौटने पायेगा। फिर भी एक दबी-छिपी आशा तो रहती है कि वह शायद दुबारा इस घर में आयेगा और अपने बेटे-पोतों और पुत्र-वन्धुओं के बीच में बैठ कर सुख की नींद सोयेगा। इसीलिये ऐसे लोग अपनी कुशल-क्षेम, वे स्वयं कैसे रहेंगे,उसकी चर्चा नहीं करते, बल्कि जिनको हम पीछे छोड़कर जा रहे हैं उनकी कुशलता कैसे बनी रहेगी, उन्हीं की चर्चा किया करते हैं। कुछ ऐसी ही बातें सेठजी भी कर रहे थे। वे हम सबको सतर्क करते जा रहे थे कि यह सारा कार्य हम लोगों को ही सम्हालना है। फिर भी हम बार-बार छोटे बच्चों की तरह से यह ही कह रहे थे कि बाबूजी जब तक आप हैं, सब काम ठीक ही होता रहेगा। ध्यान से मैंने उनको देखा कि उनको यह बात बहुत अधिक प्रिय न लगी। जब तक मैं हूँ तब तक काम ठीक होगा—यह कैसी अनबूझ पहेली-सी है। सभी काम तो स्वतंत्र हैं, सभी का स्वतः विकास है और सब घटनाओं को स्वतंत्र रूप से ही अपनी दिशाओं में चलना चाहिए......।

"रतनगढ़ में रहते हुए एक बात जरूर हम सबके लिए प्रिय हो रही थी कि उनका शरीर जैसे कुछ स्वस्थ हो रहा था। २-४ दिन अभी वे रह ही पाये थे कि उन्होंने विदा लेने का विचार किया। थरड़जी ने और भुवालकाजी ने उनसे आग्रह कि कि यहाँ तो आपका स्वास्थ्य उत्तम हो ही रहा है, इसलिए अभी आपको रतनगढ़ और ठहरना चाहिए। इन क्षणों में राजस्थान के प्रायः सभी प्रवासी भाई अपनी पितृ-भूमि से कुछ खिंचे-खिंचे रहने लगे थे, और यदि वे राजस्थान की दिशा अपने गाँवों और कस्बों में आते भी थे तो २-४ रोज रह कर चले जाते थे। सेठजी का समस्त वंश एक रूप से स्थायी रूप में कलकत्ता में निवास करता था। यहाँ पर आपके प्रियभाजन भी बहुत कम ही थे। फिर भी आपका मन यहाँ बहुत रमता था। अपनी संस्थाओं में आपकी दैनन्दिन शक्तियाँ इस तरह नियोजित होने लग जातीं कि आपको किसी भी प्रकार से सूनापन या उदास भाव विकल न कर पाता। पारिवारिक मर्यादाओं की लघु-सीमाओं से आप इतने ऊपर उठे हुए थे कि कुशल-क्षेम के पत्रादि के उपरान्त रतनगढ़ में सहस्त्रों की संख्या में बसे हुए परिचित और अपरिचित नागरिकों के बीच में आप इस तरह जीवन-यापन करने लग जाते कि मानो सारा शहर ही आपका एक घर है। रतनगढ़ का कोई भी व्यक्ति आपके लिए पराया न रहता। सब समुन्नति पायें, खुशहाली पायें, जीवन की आधुनिक सुविधायें पायें, शिक्षा और चिकित्सा का वरदान पायें और एक आधुनिक नगर के तुल्य जीवन का रस पायें—यही तो आपकी एकमात्र इच्छा थी। और उसी इच्छा को फलता-फूलता देख कर आप फूले न समाते थे। रतनगढ़ में जब रुकने का आग्रह स्वीकार कर लिया तो थरड़जी ने एक चिट्ठी देवघर मांड दी कि अभी हम बड़े बाबू को यहाँ रोक रहे हैं। देवघर में मोहनलालजी उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे, क्योंकि सूरजमलजी ने बीकानेर के लिए प्रस्थान करने से पहले कलकत्ता में उन्हें यह आदेश दिया था कि बाई सावित्री को लेकर देवघर चलो, और मैं बीकानेर से लौटता वापिस देवघर ही आऊँगा। सावित्री बाई कुछ रुग्ण थीं और उन्हें उत्तम स्वास्थ्यप्रद स्थान में रखने के लिए सूरजमलजी ने उन्हें देवघर ले जाने का आदेश दिया था।

"रतनगढ़ में अभी वे लगभग २ मास भी न रह पाये थे कि उनके पैर में एक फुंसी हो गई। यदा-कदा उनके शरीर में फुंसी निकलना शुरु हो चुका था, इसलिए उन्होंने उस पर सिर्फ इतना ही ध्यान दिया कि वह बढ़ न जाये। जब उससे तकलीफ बढ़ने लगी और विकलता इतनी हो गई कि वह असह्य होने लगी तो स्थानीय डाक्टर को दिखाया। उसने उसे अपने औजार से कच्चे में ही खुरच दिया। बजाय कि वह सूखे, वह और तेजी से पकने लगी। हम देख रहे थे कि उस फुंसी की वेदना सेठजी को बहुत कष्ट पहुँचा रही है। आखिर हम सबने निर्णय किया कि बड़े बाबू को तत्काल कलकत्ता के लिए रवाना किया जाय। साथ में नन्दलालजी भुवालका दिल्ली तक पहुँचाने गये। उधर देवघर मोहनलालजी को सूचना दे दी गई कि हम कलकत्ता चलते हैं। पैर में फुंसी हुई, आप सीधे कलकत्ते आ जावो।

"जब हम रतनगढ़ स्टेशन पर उन्हें विदा करने गये तो वे बहुत शान्त थे। वेदना अवश्य पीड़ा पहुँचा रही थी। उनके नेत्रों में एक विचित्र-सी रिक्तता उतर आई। जब ट्रेन विदा हुई तो हम सबने ईश्वर से मन ही मन प्रार्थना करते हुए उन्हें स्वास्थ्य प्रदान करने की कामना की। हर बार जब वे विदा होते थे तो, प्रसन्न भाव से हम सबको चलते-चलते आदेश-उपदेश दिया करते थे। पर आज उनकी आँखें तो खिड़की से बाहर न मालूम क्या खोज रही थीं।"

रतनगढ़ का नाम यद्यपि सामन्ती इतिहास की दृष्टि से बीकानेर के एक समान्त के नाम पर रखा हुआ है, किन्तु मूल बात यह है कि वह रतनगढ़ के ही धनभाग सेठों और वैश्यों की कठोर साधना से बढ़ा है और फैला है और राजस्थान के उल्लेखनीय नगरों में अपना एक स्थान बना सका है। सूरजमलजी ने रतनगढ़ के वैश्यों की इस साधना को चार-चाँद लगाते हुए इसके आधुनिकीकरण का क्रम दृढ़ व्रत के साथ जब प्रारंभ कर दिया, तो वह बीच में कहीं

भी रुक न पाया। बीकानेर की जुबिली के समय तक रतनगढ़ का नाम सेठ-नगरी के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। एक नये आधुनिक परिवेश में वह गर्वोन्मत्त सिर उठाये हुए जिस तरह खड़ा हो गया था, उसका सारा श्रेय तो सूरजमलजी को था और इस नाते वह सूरज-नगरी कहलाने का अधिकारी हो गया था। बीकानेर से लौट कर रतनगढ़ से विदा होने के समय, और अपनी आखिरी विदा के समय उन्होंने इस नगर को आधुनिकता के प्रायः सभी आवश्यक उपादानों से और युग की समस्त वैज्ञानिक सुविधाओं से और भरे-पूरे हाथ के आनन्दप्रद वरदान से सशक्त बन जाये, ऐसा प्रबन्ध कर दिया था।

जब गाड़ी रतनगढ़ से विदा हुई तो बीमार रहते हुए भी वे लेटे नहीं, उठ बैठ गये। साथियों से इशारा किया कि दोनों खिड़कियाँ खोल दी जायें। चलती गाड़ी से आपने रतनगढ़ मन भर कर देखना शुरू किया और सहसा ही आपकी स्मृति आज से ४० वर्ष पहले उस दिन का सजीव दृश्य देखने लगी, जब पहली बार रतनगढ़ से आप कलकत्ता के लिए रवाना हुए थे, आपने देखा कि आज तो पेड़ों की कतारें हैं। नगर की हवेलियाँ और अटारियाँ और छतें नये रोगन से पुती हुई मुस्करा रही हैं। आज रतनगढ़ सुकाल की महिमा से कितना सुखी है। ऐसा लगता है कि आज रतनगढ़ के घर-घर में सोमलता लहरा रही हैं। वेदों में आर्यों ने देवताओं से यही प्रार्थना की थी कि हमें जीवन में सुख मिले और आनन्द मिले, लेकिन इन सबके ऊपर हमें सोमलता का रसपान भी मिले। अवश्य सोमलता रही होगी और उसका रसपान भी रहा होगा, लेकिन मूल में तो सोमलतायें आर्यकुलों की आर्य-ललनायें रही होंगी, जिनके उल्लास और मदिर हास में आर्यजन अपना जीवन का अहोभाग्य और अपने संघर्षों की महामहिम विजय मानते रहे होंगे। आज रतनगढ़ के घर-घर में कुल-देवियाँ प्रारंभिक शिक्षा के प्रकाश से प्रोज्ज्वल बन रही हैं। समाज में शिक्षित गृहलक्ष्मी ही सोमलता तुल्य है......

जब मैं उस दिन, आज से ४०-४२ साल पहले, रतनगढ़ से विदा हुआ था तो यह एक छोटा-सा नगर था, एक दीन नगर था, जीवन की सुविधायें यहाँ न थीं, स्वस्थ भाव से जीवित रहने के उपाय न थे। वैश्यों के लिए ऐसा कोई यज्ञ न था कि उसमें वे अपनी बुद्धि की हवि दे पाते। व्यापार तो वैश्यों के उन्मुक्त दुर्मुद शरीर से फलीभूत होता है। उस समय इस नगर के वैश्य अशान्त थे और शिथिल थे। वे अपने जीवन के उत्कृष्ट मन्तव्यों का उत्सारण और समीरण किसी नई दिशा में कर पायें, यह बहुत सहज न था। पेट की ज्वाला का भी क्षोभ उनके रोम-रोम में छाया हुआ था। उन क्षणों में रतनगढ़ कम से कम दुर्दैवी विधान दृष्टि से केवल रिक्त सीप बना हुआ था और दैवी कृपा के योग्य नहीं समझा जा रहा था कि उसमें भी स्वर्गीय अमृत की बूंद गिरे और वह मुक्ता बन सके......

इस समय तक रतनगढ़ आँखों से ओझल हो गया था। जब तक उसका अन्तिम छोर दिखाई देता रहा, वे उसे निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे। अब आँखें बन्द कर लेट गये। कहते हैं कि लाला लाजपतराय को जब देश निकाला दे दिया गया और उन्होंने पंजाब से विदा ली, उस समय लाहौर से बाहर जाते समय गाड़ी में बैठे हुए वे बहुत देर तक लाहौर के अन्तिम अंचलों को और उसके अन्तिम दृश्यों को देखते रहे। हल्के से स्वर में उन्होंने बस इतना कहा था कि खुश रहो अहले वतन, हम तो सफर करते हैं। न मालूम सूरजमलजी को ऐसा क्यों ऐहसास हो रहा था कि रतनगढ़ से यह उनकी अन्तिम विदा है। ४० साल पहले जब वे विदा हुए थे तो उनकी नवपत्नी रमाबाई ने सजल नेत्रों से कहा था कि राजी-खुशी जाइये और राजी-खुशी लौटिये। आज मानो रतनगढ़ की आत्मा ठीक उन्हीं के शब्दों को दोहराते हुए उनसे कह रही है कि राजी-खुशी कलकत्ता पहुँचो और हो सके तो एक बार फिर राजी-खुशी लौटना......

उनकी आँखें सजल हो गईं, करवट लेकर वे गहरी निद्रा में सो गये......

मोहनलाल जी ने अपने संस्मरणों का सूत्र आगे बढ़ाते हुए कहा, "जब रतनगढ़ से समाचार आया, तो उस समय हम देवघर में उनके पत्र की प्रतीक्षा कर रहे थे कि वे किस समय वहाँ से रवाना होते हैं। उससे पहले भुवालका जी का यह पत्र अवश्य आ चुका था कि यहाँ उनका स्वास्थ्य ठीक है और अभी हम बाबू को यहाँ रखते हैं। सहसा ही यह समाचार पाकर हम अवश्य घबरा गए और बाल-बच्चों को तो हमने देवघर में ही रखा कि जरूरत पड़ी तो वे पीछे से कलकत्ता आते रहेंगे और हम उसी समय दुपहर की गाड़ी से कलकत्ता के लिए रवाना हो गये। पिताजी सुबह ही कलकत्ता आ चुके थे।[1] घर पर उस समय तक डाक्टर बुलाये जा चुके थे—उन्होंने पैर की फुंसी को देखकर यही कहा कि साधारण सी फुंसी है, इस का सेक आदि होना चाहिए। उसी आदेश के अनुसार सेक हो रहा था। हम बहुत देर तक पिताजी के पास बैठे रहे। यद्यपि हमारी आयु इस समय २३ वर्ष की हो चली थी, लेकिन उन्होंने स्नेह से भर कर हमारे सिर पर हाथ फेरा, कुशल-क्षेम पूछी और शान्त रहे, पर उनका चेहरा बतला रहा था कि दर्द उन्हें अन्दर से सहन नहीं हो रहा है।

"सेक आदि से कुछ आराम न हुआ, रोग बढ़ता गया, डाक्टर भी उत्तम से उत्तम बुलाये जाते रहे, यहाँ तक कि एक डाक्टर तो होमियोपैथी का हवाईजहाज से पटना से बुलाया गया, लेकिन आराम होता नजर न आया और पन्द्रह दिन बाद आखिर यह पता चला कि उनके पैर में गैंगरीन हो गयी है। डायबिटीज के कारण

---

१ सेठ सूरजमल जी रतनगढ़ से १३ जनवरी सन् १९३८ को कलकत्ता आये। २३ जनवरी को आपके पैर का आपरेशन हुआ।

बेतीपुर में स्थित 'सूरजमल नागरमल' रिलीफ कैम्प में जब पंडित नेहरु उपस्थित हुए, शरणार्थियों के साथ कैम्प-व्यवस्थापक श्री मदनगोपाल भावसिंहकाजी (नेहरुजी के निकट शेरवानी-चूड़ीदार पाजामा पहने) ने उनका स्वागत किया।
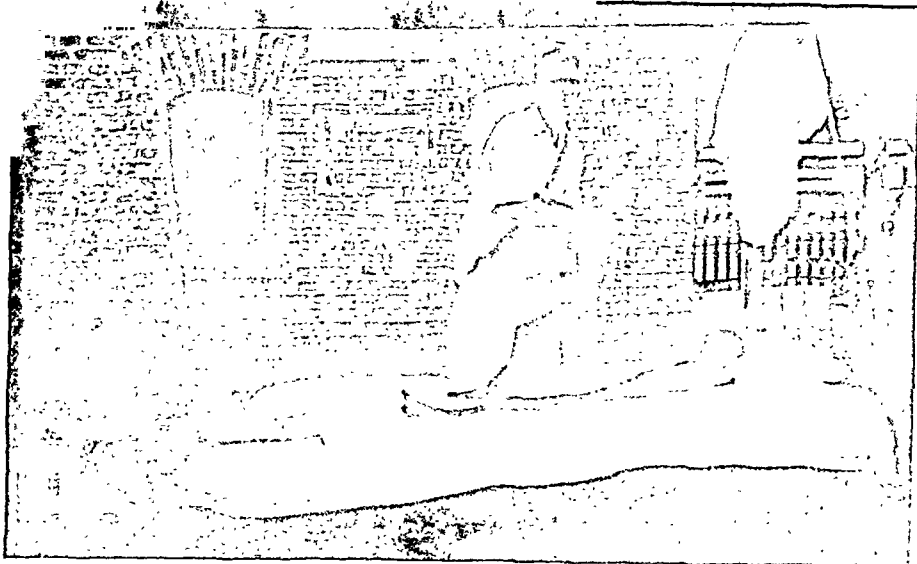
कैम्प में चलाये गये अस्थायी शिविर-अस्पताल में ऐसे कृश-अनाथ बच्चे भी आये, जिनकी दयनीय दशा देख कर प्राण सिहर जाते थे।
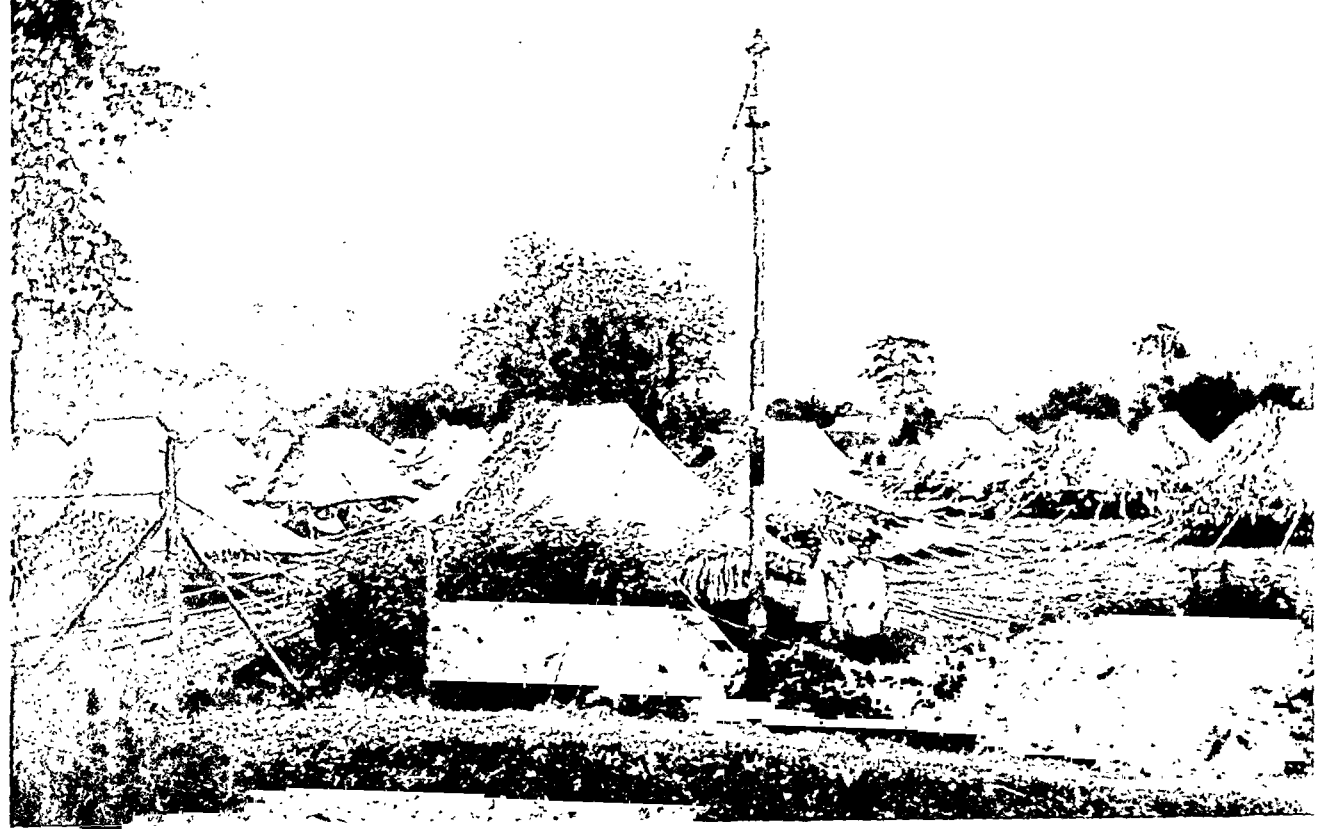
बर्मा-शरणार्थियों की सहायता को सरल-सुगम करने के लिए भारतीय सेना ने 'सूरजमल नागरमल' को भारतीय सीमा पर कैम्प प्रदान किए। हजारों-हजार शरणार्थी इन्हीं में अस्थायी रैन-बसेरा लेते थे।

कैम्प में हजारों शरणार्थियों को प्रतिदिन भोजन देने के लिए की गई सुदीर्घ व्यवस्था एवं भोजनालय का कार्य-संचालन जहाँ हुआ, उसका एक दृश्य।
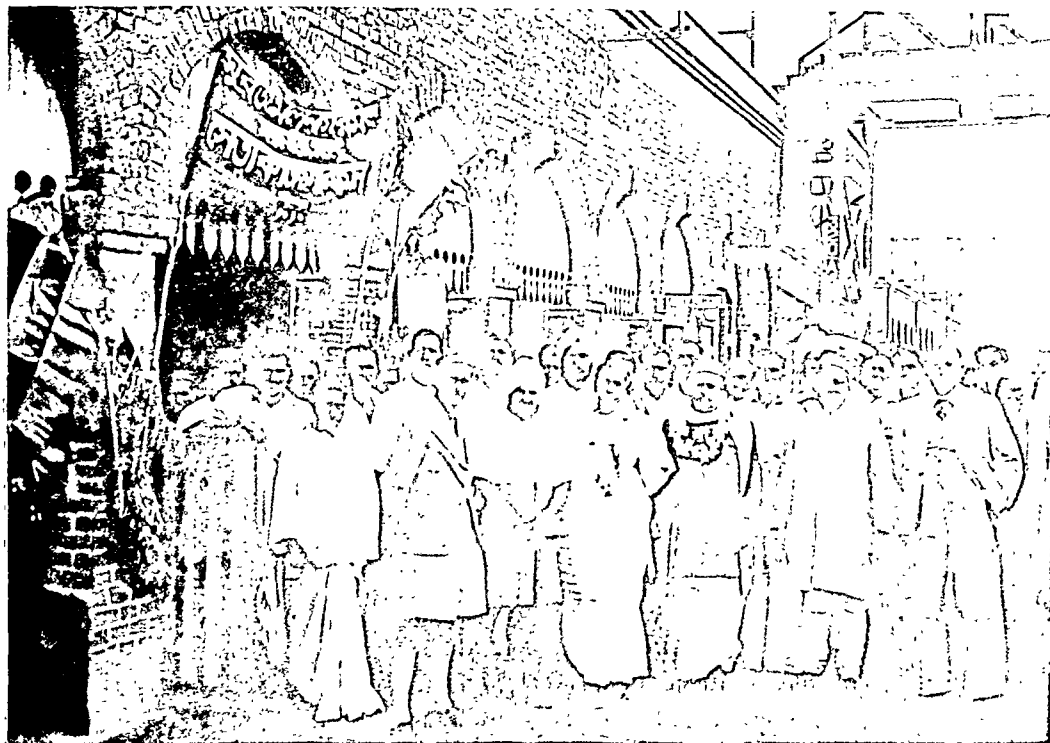
कम्प में वायसराय-परिषद के लोकप्रिय सदस्य श्री एम० एस० अणे भी उपस्थित हुए। आपके बाईं ओर श्री भावसिंहकाजी खड़े हैं।

कैम्प में और मार्ग में जो अनाथ शव प्राप्त होते थे, उनमें से मुसलमान होने से धार्मिक परम्परा के अनुसार कार्यकर्तागण उन्हें निष्ठा के साथ दफनाने का कार्य भी करते थे।
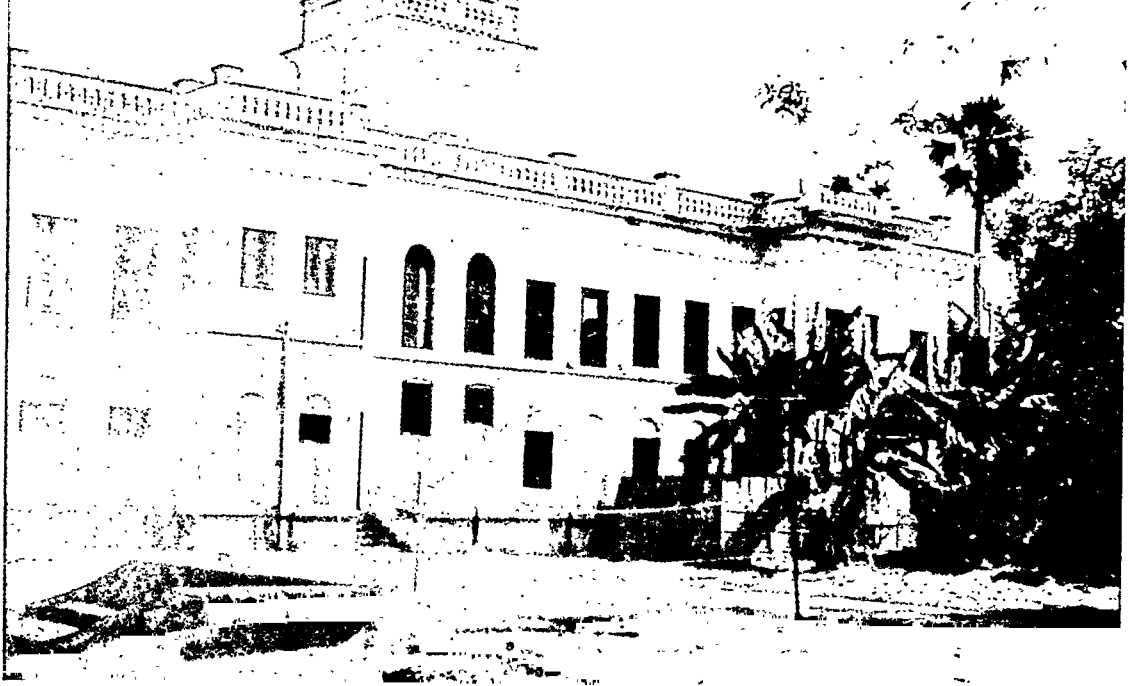
मानकुंडु मेंटल अस्पताल

सन् १९३८ में सूरजमल नागरमल द्वारा मानकुंडू में प्रस्तुत भवन मेंटल-अस्पताल के निमित्त खरीद कर दिया गया। यह संस्था मानसिक उपचार के क्षेत्र में काफी काम कर रही है।
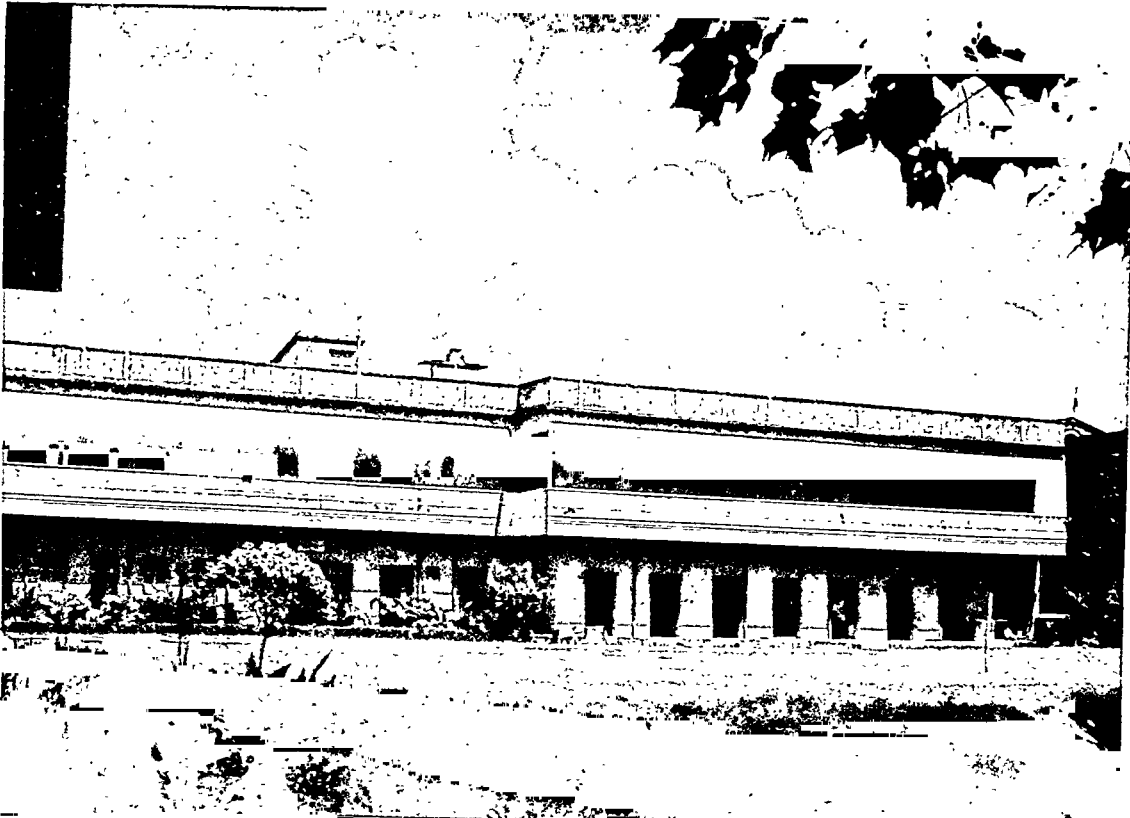
डीफ एँड डम्ब स्कूल, कलकत्ता, में सूरजमल जालान ब्लाक

अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता, में बधिर एवं मूक मानवों के लिए एक उल्लेखनीय शिक्षण-संस्था है। सूरजमलजी जालान की स्मृति में प्रस्तुत ब्लाक सन् १९३८ में तैयार करवाया गया। सन् १९४० में इसका उद्घाटन बंगाल के तात्कालिक गवर्नर सर हैंडरसन के हाथों हुआ था।

उनकी उस फुंसी में गलन प्रारंभ हो गया था।[1] तब प्रश्न आया कि इनका पैर काटना ही ठीक होगा, क्योंकि जब गेंगरीन शुरू होती है तो वह अपने प्रारंभ स्थान से अंग को गलाना शुरू कर देती है। उस से रक्षा का समाधान यही है कि गोड़े के ऊपर से पैर काट दिया जाये। सूरजमलजी ने यह सुना और बहुत आहिस्ते से कहा कि मान लीजिए, पैर कटा कर मेरी रक्षा हो गई और मैं नया जीवन पा गया, तो उसमें लाभ क्या हुआ? मैं अब शेष जीवन में कटे हुए पैर को लेकर जीवित नहीं रह सकता और मान लो, पैर काटने के बाद भी प्राण शेष नहीं रहे, तो आप सब क्या यही चाहते हैं कि मैं यह ग्लानि लेकर जीवन की अन्तिम सांस लूं कि आये थे पूरा पैर लेकर, गये पैर कटा कर? मेरे जीवन की गति को मैं ही पहचान पा रहा हूँ। आप दवा कर रहे हैं, उसमें मैं विघ्न नहीं डालना चाहता, लेकिन पैर को कटाने का प्रस्ताव मुझे स्वीकार नहीं है। और उन्होंने यह बात इस तरह दृढ़ स्वर में कही कि उस समय जिसने भी यह सुना, वे सब आगे कुछ भी कहने की स्थिति में न रहे। ऐसे मनोभाव के आगे डाक्टर भी परास्त हो गये।

"यह बीमारी ऐसी होती जा रही थी कि सारे घर में केवल यही केन्द्र-बिन्दु हो गयी थी। सब घबराहट में थे, सब चिंतित थे, सब को कुछ न सूझ रहा था कि किस तरह उनकी सेवा की जाए। हार कर एक प्रसिद्ध वैद्यराजजी की भी चिकित्सा की जा रही थी, पर रोग ऐसा उग्र हो चला था कि कहीं भी प्रकाश-किरण नजर आती दिखाई न दी। आने-जाने वालों का, कुशल-क्षेम पूछने वालों का तांता लगा रहता था, जो सुनता था, वह मिलने चला आता था। सगे-सम्बन्धी उनसे मिलते थे, वे सबको कुछ न कुछ ज्ञान की बात कहते, लेकिन बाहर आकर वे सब विषाद से भर जाते। हम सब की मानसिक शांति नष्ट हो चुकी थी। जो भी अधिक से अधिक करने को हो सकता था, उसके लिए हम प्रस्तुत थे, किये जा रहे थे, किये जा रहे थे......

"आखिर हम सब ने समझ लिया कि आखिरी घड़ी आ रही है। आँखों में हम अश्रु लिये काम करते थे, कब क्या अशुभ हो जायेगा, इसी दुश्चिंता में भरे हुए थे। लेकिन पिता जी का जहाँ तक संबंध था, उनके मनमें न तो घबराहट थी, न ही किसी तरह का टूटा हुआ मन था, न ही किसी से वे कच्ची बात करते थे और न ही कोई बात ऐसी बोलते थे कि हम सब निराशा से भर जायें। कष्ट उन्हें था, उसे वे ही मौन भाव से झेल रहे थे। बगल के कमरे में ब्राह्मण पूजा करता था, पर अपनी पूजा तो वे स्वयं करते थे। नियम से शौच आदि भी वे उठ कर ही करते थे। हनुमान जी का जाप उन्हें अभीष्ट था। जब इन सब कार्यों से अवकाश मिलता तो एक डायरी लेकर बैठ जाते और उसमें कुछ रामदेव जी मुनीम को पास बैठा कर लिखाते रहते। उनकी तन्मयता देखते ही रहते थे और हम अपना दुख भूल जाते थे। जीवन में वे किसी को भूले न थे, जिसको भूले थे तो उसे सत्य हृदय से याद करते रहते थे। वे इस तरह बैठे रहते थे और इस तरह दिवा-जागरण करते, रात्रि-जागरण करते, मानो कोई अपनी पढ़ी हुई पुस्तक को वापस पन्ने पलटते हुए कुछ भूला हुआ खोज रहा हो। लेकिन उन्होंने तो सदा ही अच्छी संगति की थी, इसलिए वे उस सत्संगति का मानो कोई उत्तम परिणाम प्रस्तुत करना चाहते थे। संत सुन्दरदासजी ने एक स्थान पर एक उत्तम निष्कर्ष निकालकर रख दिया है:

सुन्दर सतगुरु हैं सही, सुन्दर शिक्षा दीन्ह।
सुन्दर वचन सुनाई कें सुन्दर सुन्दर कीन्ह॥

"आज वे अपने अन्दर के सौन्दर्य का जैसे आखरी निचोड़ रखने के लिए योजना बना रहे थे। जब से जीवन में उन्होंने होश सम्हाला, किसी दिन भी उन्होंने पेंसिल और कागज हाथ से नीचे न रखा था, कितनी योजनायें बनाई होंगी, कितनी पूरी की होंगी, कितनी ही को अपने चिंतन-परिपाक से पूर्ण कर चुके होंगे। पर इस मृत्यु-शैया पर पता नहीं कौन सी योजना ऐसी अधूरी रह गयी है कि उसको समाप्त किये बिना वे काल के रथ को अपने द्वार पर रोके बैठे हैं। भीष्म ने उस समय तक के लिए अपने प्राण रोक लिये थे कि सूर्य देवता उत्तरायण पथ पर न आ जायें। दशरथ ने उस समय तक अपने प्राण रोके रखे थे, जब तक कि सामन्त वनवासी पुत्रों को गंगा-किनारे छोड़ कर न आ गया था। प्राणों का रोकना और सूर्योदय का रोकना कम-अधिक नहीं है—किसी महान सत्य के बल पर ही ये रुकते हैं।

"ऐसे क्षणों में टैगोर का 'हे मेरे मरण' गीत याद आता है:

हे मेरे मरण!
हे मेरे जीवन की अन्तिम साध!
हे मेरे मरण! आ मुझ से बात कर!
तुम्हारे लिए जन्म भर,
मैं जागता रहा, सुख-दुख का भार लिए घूमता रहा हूँ।
हे मेरे मरण! आ और मुझ से बात कर।
मुझसे और मेरे सर्वस्व से,
सम्पूर्ण जीवन,
एक रहस्य पूर्ण पथ से तुम्हारी दिशा में ही बढ़ रहा है।
तुम्हारी एक ही दृष्टि पर यह अर्पित है।
फलों की वरमाला पहन,
तुम कब सुन्दर वर बन आओगे!
उस दिन के बाद मैं नववधू बन, अपना घर छोड़ दूंगा।
फिर भेद नहीं रहेगा अपने में—
हे मेरे मरण! आ और मुझ से बात कर!

[1] प्रारंभ में प्रसिद्ध सर्जन एल० एम० बनर्जी ने आपरेशन किया था। दूसरे दिन पट्टी बदली गई तो उसमें खून आया। तीन दिन बाद पुनः आपरेशन हुआ। पर पता चला कि डायबिटीज के कारण घाव नहीं सूख रहा है, तब पैर काटने की बात डा० नीलरतन सरकार द्वारा पहले कही गई।

"हमें आज खूब अच्छी तरह स्मरण है कि पिताजी के उस कमरे में शोक नहीं व्याप रहा था। उनके कमरे में एक स्निग्ध प्रकाश-सा छाया रहता था। उस कमरे में जाकर हम देखते कि एक विचित्र-सा स्वर भरा रहता था। जिस स्थान पर मृत्यु-शैया रहती है, प्रायः वहाँ असह्य वेदना का वातावरण रहता है, पर पिताजी के कमरे में बात कुछ वैसी न थी। उन्हें असह्य कष्ट था, यह हम देख रहे थे, किन्तु मृत्यु को मानो उन्होंने अपना भयावह रूप न दिखाने के लिए जैसे राजी कर लिया था। वे बस अपनी डायरी में कुछ लिखते रहते थे या लिखाते रहते थे। बीकानेर जाने से पहले उन्हें फिर बुखार हुआ था, उसी समय उन्होंने कुछ अपनी अन्तिम इच्छायें सभी सज्जनों के सामने रखी थीं और अपने हाथों से लिख-कर उन इच्छाओं की एक रूपरेखा भी तैयार कर दी थी। उसीके साथ उन्होंने एक 'राम मंदिर' बनवाने का डीड भी तैयार कर दिया था। अब वे उसी रूपरेखा को और डीड को अन्तिम रूप दे रहे थे। उसकी बारीक से बारीक गुत्थियों को सुलझाने का उनका जो उत्साह था, वही उनके दारुण कष्ट पर हावी था। आखिर, घर के सब व्यक्तियों ने मिल कर उनकी योजनाओं को हृदयतः स्वीकार किया और कानूनी दृष्टि से उसकी पुष्टि कर दी गई। उस दिन पिताजी को लगा कि अब शान्ति से अपने प्राणों का विसर्जन कर सकेंगे। अपने पिताजी की यह बात कहने में संकोच अवश्य है, किन्तु भावनाओं के साथ-साथ यहाँ पर हमें रूस के अमर साहित्य-कार लियोतोल्सताय की बात याद आती है। उनके अन्तिम क्षण भी कुछ इसी प्रकार व्यतीत हुए। उनकी संपदा तो केवल उनका लेखन था और अपने जीवन के अन्तिम समय वे अपनी उस सम्पदा की विरासत करने का भार ही धारे रहे थे। उन्हें खाँसी का पीड़न था और गहरी निद्रा के उद्वेग बार-बार आ रहे थे। पर, मूल बात यही थी कि वे प्रभु के स्मरण में दत्तचित्त थे। शनैः-शनैः उनकी आँखें धँसती गई थीं, फिर भी जब उनके स्वजन उनसे अन्तिम भेंट करने के लिए पहुँचते तो वे उन्हें पहचानते और भरसक चेष्टा के साथ ममत्व दिखाते और दयालुता से अभिभूत होते हुए कहते कि अब यहाँ अन्त आ गया है, पर तुम परवाह न करना। जब मृत्यु-समय आया तो १ घंटे पहले उनके कुछ प्रिय साथी उनसे मिलने गये तो उन्हें कठिनाई से पहचानने के बाद उनके मुख से ये शब्द ही निकल पाये थे, कि ओफ्, ये कितने प्यारे लोग हैं। बस, उनकी शक्तियाँ जवाब दे रही थीं, पर जीवन का महत्व उन्हें क्योंकि पूरी आयु प्रिय रहा था, इसलिए अन्तिम समय जब उनके परिवार की एक महिला और एक बच्चे को सामने लाया गया, तो उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा कर स्पष्ट वाणी में कहा था, "मैं तुम्हें केवल एक ही बात कहता हूँ जो तुम याद रखना कि दुनिया में लियो तोल्सताय के अलावा लाख-लाख पुरुष हैं, पर तुम लोग केवल मुझ लियोतो-ल्सताय को ही एक टक क्यों देखे जा रहे हो।" इसके बाद वे शान्त हो गये, सदा-सदा के लिए शान्त हो गये। पिताजी का अन्तिम समय भी कुछ इसी प्रकार शान्ति से बीता। 'संस्कृत रत्नाकर' का एक उद्धरण है :

आश्वास्य पर्वत कुलं तपनोष्मतप्तं
दुर्दाव्वहीनं विधुराणि च काननानि
नानानदीन दशतानि च परयित्वा
रिक्तोसि यज्जलद सैवतवोत्तम्श्रीः

—हे मेघ, पर्वत-कुल को आश्वस्त करके, दावाग्नि की ज्वाला से दहकती हुई वनभूमि को शांत करके, नाना नद-नदियों को पूर्ण करके जो तुम रिक्त हो गये हो, यही तुम्हारी उत्तम श्री है। अपने को सब के मंगल के लिए लुटा देना ही सब से बड़ी उत्तम सम्पत्ति है!

"विद्वानों के मुख से जब ऐसी बातें सुनने को मिलती हैं तो एक नया प्रकाश मिलता है और शास्त्रों की सार-गर्भित बातों से हृदय सचमुच आश्वस्त भी होता है। पिताजी अपनी सम्पत्ति का एक बड़ा भाग दान कर चुके थे। अब वे शान्ति के साथ अपने अन्तिम क्षणों की प्रतीक्षा में थे। इन क्षणों में उनके पास जो भी आये, उसे उत्तम वचन कहते हुए उन्होंने कोई भी दुःख प्रगट करने से मना किया। ऐसे क्षणों की, कातरपूर्ण विनय के साथ मार्मिक वचनों में, अभिव्यक्ति को काव्यमय बनाते हुए विश्वकवि टैगोर ने भगवान से प्रार्थना करते-करते कहा था—

प्रभु! मेरे समस्त अहंकार को आँखों के पानी में डूबा दे।
मेरा मस्तक अपनी चरण-धूलि तक झुका दे!
प्रभु! मेरे समस्त अहंकार को आँखों के पानी में डुबा दे।
अपने झूठे महत्व की रक्षा करते हुए मैं केवल अपनी लघुता दिखाता हूँ।
अपनी ही परिक्रमा करते-करते मैं प्रतिक्षण क्षीण-जर्जर होता जा रहा हूँ!
मेरे समस्त अहंकार को मेरी आँखों के पानी में डूबा दे!
मैं अपने सांसारिक कार्य में अपने को व्यक्त नहीं कर पाता!
प्रभु! मेरे जीवन-कार्यों में तू अपनी ही इच्छा पूरी कर!
मैं तुझसे चरम शक्ति की भीख मांगने आया हूँ।
मेरे जीवन में अपनी उज्ज्वल कांति भर दे!
मेरे हृदय-कमल की ओट में तू खड़ा रह!
प्रभु! मेरा समस्त अहंकार मेरी आँखों के पानी में डुबा दे!

हमने कुछ और भी व्यक्तियों के अन्तिम क्षण देखे हैं, लेकिन पिताजी तो मानो सहर्ष किसी महायात्रा पर प्रस्थान कर रहे थे और बड़ी तसल्ली से जा रहे थे। सारी माया, सारी ममता और सारा भौतिक बन्धन वे मानो अपने पीछे छोड़े जा रहे थे। उनके अतिन्म समय की आहट लेते ही उनके कमरे के बाहर देव-पाठ और गीता-पाठ बैठा दिया गया था। रामायण का पाठ भी हो रहा था। घृत का दीप जल रहा था, लेकिन जो प्राण-दीपक अपनी आखिरी स्नेह-बूंदों को चुका रहा था, वह क्रमिक गति से क्षीण हो रहा था।

सुबह आठ बजे उनकी आत्मा ने शान्त भाव से प्रभु के चरणों में शरण ली......।"

सुबह सर्वत्र कलकत्ता नगर में एक शोक की लहर व्याप्त हो गई। सूरजमलजी का स्वर्गवास हुआ है, यह बात विद्युत प्रवेग से घर-घर में फैल गई—जिसने भी सुना, वह शोक में डूब गया। व्यापारियों ने तत्काल निश्चय किया कि आज तो यह हम सबका सामूहिक शोक है और तदनुसार बात तय ठहराई गई कि सारा बाजार बन्द रहेगा। देखते-देखते ६१ नं० हरिसन रोड के सामने शोक-यात्रा में शामिल होने के लिए परिचितों और अपरिचितों का जन-समूह एकत्र होता गया और बढ़ता गया। लगभग ५ हजार व्यक्ति मकान को घेर कर खड़े हो गये। उद्योग-व्यापार और सार्वजनिक क्षेत्र के सभी छोटे-बड़े व्यक्ति इस शोक-यात्रा में शामिल होने के लिए मौनभाव से चले आये थे। प्रश्न था कि न कोई सम्राट् इस दुनियाँ से उठा था और न कोई राष्ट्रीय नेता ही परलोकवासी हुआ था, फिर इतनी विशाल भीड़ क्यों एकत्र थी? सार्वजनिक दृष्टि से सूरजमलजी बहुत अधिक मौन और एकांत-प्रिय रहे थे, फिर उनके प्रति अकस्मात् यह श्रद्धा-भाव क्यों मुखरित हो चला था? इसका उत्तर यही था कि सूरजमल जी का मौन कृतित्व ही उनके प्रति सबको मौन विनीत बनाये हुए चला आ रहा था। आज यदि उनकी शोक-यात्रा में शामिल होने के लिए एक विशाल भीड़ एकत्र हो रही थी, तो वास्तविक अर्थों में यह भीड़ उसी मौन विनय की थी, उसी मौन श्रद्धा की थी, मौन आस्था निवेदन की थी।

जब अर्थी उठी तो हरिसन रोड से लेकर सेंट्रल ऐवेन्यू तक शोक-निमग्न व्यक्तियों का दल इस तरह लहरा रहा था कि जो भी याता-यात था, वह शान्त भाव से रुक गया था। एक विशेष बात और हुई, जो सूर्य कुछ समय पहले ही पूरी गर्मी के साथ तप रहा था, उसे अकस्मात् कुछ बदलियों ने आकर ढंक लिया, व्योम की गर्मी शान्त हो गई। अब प्रतिक्षण बदलते हुए कंधों पर सूरजमलजी चिरनिद्रा में निमग्न अपनी महायात्रा पर सुखद भाव से चले जा रहे थे, चले जा रहे थे......

सन् १८८२ में इसी नीमतल्ला घाट पर जब एक शाम एक चिता जली तो उस समय उसका दाहकर्म करने वालों में केवल २५-५० व्यक्ति ही उपस्थित थे और अग्नि-संस्कार एक दस वर्षीय बालक ने किया था। आज वही बालक ५७ वर्ष का पूरा प्रौढ़ व्यक्ति बनकर अपनी इहलीला समाप्त कर चुका तो कलकत्ता के ५००० गण्यमान्य नागरिकों ने उसे नीमतल्ला घाट पहुँचाया। नगर के जनपथों पर सहस्त्र-सहस्त्र व्यक्तियों ने अपनी मौन श्रद्धांजलि उसे दी। पचासों सार्वजनिक संस्थाओं ने उसकी अर्थी पर अपनी पुष्पमालाएँ अर्पित कीं। सैकड़ों सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने उसकी अर्थी में कंधे लगा कर अपने को ही उपकृत किया, क्योंकि जिस अर्थी पर जो व्यक्ति सोया हुआ था, उसने अमर मरण प्राप्त किया था!

बड़ी विचित्र-सी लोक-धारणा है कि शेषनाग ने भगवान रूप अंश की अमोघ शक्ति के बल पर इस पृथ्वी का भार अपने सहस्त्र फनों के ऊपर उठा रखा है। अनेक बार प्रश्न मनमें आता है कि सहस्त्र फन क्या हैं? तब हृदय में एक सुखद अनुभूति यही उत्पन्न होती है कि ये सहस्त्र फन तो वे अमर हुतात्मायें हैं, जो इस पृथ्वी की शालीनता का और मानवता का और दिव्यता का और अखंड कल्याण का भार अपने कंधों पर धारण किया करती हैं......

हम इस धराधाम से विदा लेते हुए व्यक्ति को पुष्पों के साथ विदा करते हैं। अश्रुसिक्त नेत्रों से नत् सिर प्रणाम करते हुए विदा देते हैं, और हमारे पास उपाय है भी क्या? नीमतल्ला घाट पर जब यह अर्थी पहुँची तो करुणा का समुद्र एक बारगी ही कम्पन खा गया। उसमें ज्वार आ गया। चन्दन की चिता सज चुकी थी। नश्वर शरीर की दिव्य शैया तैयार थी। एकमात्र पुत्र मोहनलाल ने अग्नि-संस्कार किया। मंत्रोच्चारण हुए, अग्नि की शाखाएँ ऊपर उठीं और सूरजमलजी का वह कान्तिमान जाना-पहचाना गौरवर्ण शरीर पंचतत्व को प्राप्त होने लगा। सभी स्वजन भारी हृदय से उस दृश्य के साक्षी बने हुए निर्निमेष दृष्टि से खड़े हुए थे......

हमारी काया को क्षण-भंगुर कहा गया है, पर जैसे इस कथन से बात अधूरी रह गई है। क्षण-भंगुर तो मरण का दृश्य हुआ करता है। यह काया तो विश्व-विजयिनी है। मरणजयी भी है और दिग्विजयिनी भी है। कलकत्ता की चारों दिशाओं में सूरजमलजी अपनी स्मृति-सुरभि के शेष अंश को अपने से मुक्त करते हुए अनन्त व्योम में समाहित हो गये।

इस अवसर पर स्टेट्समैन, दैनिक विश्वमित्र, दैनिक लोकमान्य, आदि पत्रों ने उनके सम्बन्ध में श्रद्धांजलि-सूचक समाचार प्रकाशित किये और उनकी जीवनगाथा पर प्रकाश डाला—

Amrit Bazar Patrika

16th Feb., Wednesday, 1938.

Seth Soorajmull of Messrs. Soorajmull Nagarmul an eminent business-magnet of Calcutta passed away at 8-15 a.m, Tuesday morning at his residence at 61, Harrison Road. About 10,000 people including a large number of distinguished citizen joined the funeral-procession carrying the body of the deceased to the cremation-ghat. . . .

Charities

His charities and gifts to the cause of suffering humanity are numerous of which the following de-

erve special mention. He started 20 free primary schools in his native village. Shree Hanuman Free reading library, where 12000 rare books are preserved; Sree Hanuman Balika & Banita Vidyalayas for unmarried and married girls respectively, Sree Hanuman Updesh Bhawan, Sree Hanuman Byayam Shala, Sree Hanuman Silpa Sadan, Shree Hanuman Bastu Bhandar, where the poor are supplied free utencils & requisites on ceremonial occassions.

He erected Gangajatri Bhawan and Bishram Bhawan at Manikarnika Ghat, Benaras ; 10 free primary schools for boys & girls and a charitable dispensary at Deogarh (S.P.).

He sank 200 tube-wells in the districts of Dinajpur and Rajshahi to remove the scarcity of drinking water of the poor villagers.

The Statesman also published the news and gave the following account—

Death of well-known businessman. By the death of Mr. Surajmull Jalan at his residence in Harrison Road yesterday the Marwari Community has lost one of its most prominent members.

The son of Mr. Hurdeodas Jalan, Mr. Jalan was born in Ratangarh in Bikaner State where he received his early education. Coming to Calcutta when he was about 20 years old, he was trained in his uncle's firm M/s. Gurmukhrai Seodutrai of Calcutta, where he acquired a knowledge of the Jute and hemp trade.

After his training he started a small business and in 1904 established the firm of M/s Surajmall Nagarmull which developed into one of the biggest Indian mercantile concerns in Calcutta. It now controls two Bengal and four Jute presses. The firm also does an extensive business in bailing and shipping jute, hemp etc.

Gifts to Charity

Mr. Jalan combined ability with a generous nature and his donations to various charitable institutions were considerable. His contributions, however, were not confined to Marwari institutions and were spread over the institutions of all communities and several provinces.

Mr. Jalan was keenly interested in the spreading of education and at his own expense established a number of free primary schools in the district round his village and also free primary schools in the Deogarh district where he also established a charitable dispensary.

In Ghoosery he established a library containing nearly 13,000 books. Mr. Surajmull Jalan is survived by an only son. The cremation took place at the Nimtolla Ghat last evening and was largely attended.

Hindustan Standard—

16th February, 1938.

Seth Soorajmull Jalan Dead. Big Business Magnate. The death occurred on Tuesday at about 8 a.m. of Seth Soorajmull Jalan, senior partner of Messrs. Soorajmull Nagarmull at the age of 56 at his Harrison Road residence. He was suffering from diabetes for a long time and an abcess was formed in his foot, which had to be operated on. Both western and eastern system of treatment had been tried, but without any success.

Sethji gave away about Rs. 20,00,000 (twenty lacs) in public charities during his life-time. He donated Rs. 1,00,000 to the Howrah General Hospital Building Fund, Rs. 85,000 towards Vishudhanand Marwari Hospital, Rs. 25,000 for expansion of Calcutta Medical College Chest department, numerous village schools, girl's schools, a rest house on the Ganges in Benaras, charitable dispensaries at Vaidyanath Dham, Ghusri (Howrah), Gopalpura and Sitabgunge (Rajshahi) etc. which owed their existence due to his munificence. He was responsible for sinking of no fewer than 200 tube-wells in Dinajpur and Rajshahi Districts. A few days before his death Messrs. Soorajmull Nagarmull praying for Sethji's recovery announced that they had set apart a sum of Rs. 500,000 (five lacs) to be devoted to charitable purposes. The fund will be distributed by a Board of Trustees to be appointed later on.

His wife predeceased him, and he is survived by his only son, Seth Mohan lal Jalan.

A vast crowd followed the body, which was carried in a procession to Nimtala Burning Ghat, where the last rites were performed.

पोद्दार छात्र निवास से प्रकाशित होने वाले 'मारवाड़ी' पत्र ने अप्रैल १६३८ के अंक में श्रद्धांजलि अभिव्यक्त करते हुए, अपने संपादकीय में 'स्वर्गीय सेठ सूरजमलजी जालान' शीर्षक से निम्न पंक्तियाँ प्रकाशित की थीं—

"बड़े शोक का विषय है कि गत ता० १५-२-३८ को मारवाड़ी समाज के लब्ध-प्रतिष्ठित व्यवसायी और दानवीर सेठ सूरजमलजी जालान का कलकत्ते में स्वर्गवास हो गया। आपका नाम केवल बंगाल और कलकत्ते में ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष के सफल व्यापारियों में लिया जाता है। आपके जीवन पर एक सरसरी दृष्टि डालने से मालूम होगा कि मनुष्य अध्यवसाय और बुद्धि के बल पर थोड़े साधनों से ही कितना बड़ा आदमी बन सकता है।

'आप एक साधारण गृहस्थ में ही पैदा हुए थे, किन्तु केवल अपने अध्यवसाय और श्रमशीलता के आधार पर ही आपने धीरे-धीरे व्यापार-जगत में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर ली। आपने केवल १०,००० रु० की पूंजी से 'सूरजमल नागरमल' नाम से फर्म खोला। अपनी कुशाग्र बुद्धि और अनवरत परिश्रम से फर्म के व्यापार में उन्नति करते करते निज के कई जूट प्रेस और सुप्रसिद्ध श्री हनुमान जूट मिल्स स्थापित कर लीं। वास्तव में आपने जूट के सुनहले धागे से सोना बनाया और परिणाम-स्वरूप आज "सूरजमल नागरमल" फर्म भारत के प्रमुख व्यवसायी फर्मों में गिना जाता है। इधर में आपने चीनी की भी दो मिलें खोली थीं, जो सफलता पूर्वक काम कर रही हैं।

"धनोपार्जन के साथ सार्वजनिक हित के कामों में मुक्त हस्त होकर दान देने में भी आपने प्रसिद्ध पाई है। आपने १००००० रु० हवड़ा अस्पताल के बनवाने में ५०,००० रु० श्री विशुद्धानन्द सरस्वती अस्पताल में आयुर्वेद विभाग बनाने में, और २५,००० रु० कलकत्ता मेडिकल कालेज में 'चेस्ट डिपार्टमेंट' (Chest Dept.) बनाने में दिये हैं। शिक्षा-प्रचार के लिये हवड़ा में एक स्कूल तथा श्री हनुमान पुस्तकालय (जिसमें करीब १२००० पुस्तकें हैं) आप ही के चलाये हुए हैं, तथा कलकत्ते में एक बृहत् पुस्तकालय खोलने की आपने स्कीम तैयार की थी, जिसको कार्यरूप में परिणत करने का समय न पा सके। कलकत्ते के बाहर भी वैद्यनाथधाम, पुरी तथा काशी, हरिद्वार आदि स्थानों पर भी पाठशालाएँ, धर्मशाला, विश्राम-घर आदि आपके बनाये हुए हैं। अपनी जन्मभूमि रतनगढ़ (बीकानेर) में एक बृहद् पुस्तकालय, श्री हनुमान बालिका विद्यालय, श्री हनुमान आयुर्वेद महाविद्यालय, श्री हनुमान उपदेश-भवन, श्री हनुमान व्यायामशाला, शिल्प विद्यालय आदि अनेक सार्वजनिक संस्थाएँ आपकी स्थापित की हुई हैं। इन सबके अतिरिक्त, समय-समय पर भिन्न-भिन्न संस्थाओं की सहायतार्थ बराबर आप दान भी देते रहे हैं।

"ऐसे दानवीर और सुप्रसिद्ध व्यवसायी की मृत्यु से निश्चय ही मारवाड़ी समाज की एक भारी क्षति हुई है। हम आपके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं तथा परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि वह दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करें।"

सन् १९३९ में प्रकाशित 'देश के इतिहास में मारवाड़ी जाति का स्थान' के सुप्रसिद्ध लेखक बालचन्दजी मोदी ने अपनी पुस्तक में निम्नलिखित शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है:—

"सूरजमलजी ने सूरजमल फार्म को कायम कर जितनी आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की, उतनी ही समाज में उन्होंने ख्याति पाई। वे बड़े मिलनसार व्यक्ति थे। नये धनिक होने के कारण वे साधारण भाइयों के दुःख-दर्द को स्वानुभव से समझते थे। चतुर भी बहुत थे। सामाजिक कार्यों में भाग लेने की इच्छा बहुत रखते थे। दान-धर्म भी करते थे। उनका दान आँख मीच कर नहीं, बहुत समझ-बूझ कर होता था। अपने साले श्रीयुक्त नागरमलजी बाजोरिया को वे अपने भाई और बालक की तरह मानते थे। दो-तीन वर्ष हुए, जब कि शिमले में उनका हठात् देहावसान हो गया, तो सूरजमलजी ने प्रायः दो लाख रुपये लगा कर उनकी स्मृति के लिये कलकत्ते में 'रामचन्द्र नागरमल बाजोरिया शिल्प विद्यालय' बनवाया जो कि आज उद्योग-धन्धों की शिक्षा का प्रसार कर रहा है। सूरजमलजी में पुस्तकालय-स्थापना की भावना बहुत देखी जाती थी। सलकिया और रतनगढ़ आदि में आपने अच्छे-अच्छे पुस्तकालय स्थापित किये। सूरजमलजी के साथ लेखक का बहुत घनिष्ठ परिचय रहा। उसे इस बात का अनुभव है कि सूरजमलजी में समाज के आवश्यक कार्यों को करने की भावना बहुत रहा करती थी। जब कभी एकान्त में बातें होतीं, वे आवश्यक कार्यों की पूछताछ किया करते थे। गत वर्ष जब वे वैद्यनाथधाम में थे, उस समय लेखक के साथ दो कामों के लिए विस्तृत रूप में परामर्श हुआ था। एक काम तो यह था कि कलकत्ते में एक ऐसा व्यवहारिक स्कूल खोला जाय, जिसमें छठे, सातवें, आठवें और नवें क्लास तक पढ़े हुए मारवाड़ी बालकों को, जिन्होंने स्कूल छोड़ दिया हो, अंग्रेजी बोलना सिखाया जाय, जिससे वे व्यापार में व्यावहार-चतुर बन कर सफलता प्राप्त कर सकें। इसके सिवा सभी प्रकार के व्यापार की व्यावहारिक शिक्षा क्रियात्मक रूप में दी जाय, जिससे किसी भी व्यापार में वे दक्ष-सिद्ध हों! दूसरी योजना यह थी कि जो मारवाड़ी भाई अर्थाभाव के कारण बेकार फिरते हैं, उनके लिये एक फण्ड बनाया जाय और उसमें दो विभाग रखे जायें। पहली व्यवस्था में पहले-पहल अढ़ाई-सौ व्यक्तियों को फेरी आदि के काम में लगाया जाय। उन्हें पहले २५ रु० का माल दिला कर काम में लगाया जाय और जब वे जानकार हो जायें, तब उन्हें ५० रु० तक का माल दिलाया जाय। इसमें सफलता होने लगे, तब संख्या बढ़ा दी जाय। इसके लिए फण्ड की ओर से एक स्थान रहे, जिसमें उनका माल सायंकाल रख दिया जाय और बिक्री का हिसाब प्रति दिन समझ लिया जाय। जो नफा हो, उसमें से आवश्यकतानुसार उन्हें दे दिया जाय और शेष नफा जमा रहे। दूसरी व्यवस्था यह हो कि कोई भाई फेरी का काम न कर दक्ष होने के कारण दुकान करना चाहे तो उसे पहले पांच सौ रुपये और बाद में

एक हजार रुपये तक लगा कर दुकान खुलवा दी जाय और उसकी देखरेख तथा संभाल फण्ड की ओर से हो। पहले पहल ऐसी एक सौ दुकानें खुलवाई जायें। इस प्रकार दो कामों की योजना सोची गई थी और इनको कार्य में परिणत करने के लिए सुगमता और मौका वे देख रहे थे। मालूम होता था कि भाईयों की स्वीकृति लेकर शीघ्र ही वे इन कामों को करना चाहते थे। पर, खेद है कि उनका असमय में ही हठात् स्वर्गवास हो गया। सच कहा है है कि 'शुभं च शीघ्रम्'। उपर्युक्त जिन दो कामों के करने की उनकी भावना दीख पड़ती थी, उनकी कोई व्यवस्था होगी या नहीं, यही अभी नहीं मालूम हुआ। क्या ही अच्छा हो कि उनके उत्तराधिकारी उनकी अन्तिम इच्छा का अनुभव करें और साथ ही साथ ऐसी व्यवस्था करें, जिससे उनकी पूर्ति हो सके।"

अब वह क्षण आ गया है कि हम इस महागाथा को शेष करते हुए अपनी लेखनी को विश्राम दें। इस ग्रंथ के प्रधान संपादक श्री राधाकृष्ण नेवटिया का सहाचर्य भी सूरजमलजी के साथ काफी उल्लेखनीय रहा है। हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए इस स्थल पर अन्तिम श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हुए श्री नेवटियाजी ने गद्गद् भाव से कहा--

एक योगी के रूप में जालान जी

"कोई बड़े अच्छे संत थे। वे नियम के बड़े पक्के थे। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में उठ कर वे उपासना किया करते थे। अमुक समय में तीर्थ-स्नान करके अपनी उपासना में बैठ जाना। थोड़ी भी देर होती तो उन्हें बड़ा दुःख होता। एक बार कहीं वे यात्रा में गये। थक जाने के कारण सोते ही रह गये। ब्राह्ममुहूर्त्त में न उठ सके। सूर्योदय हो गया। सूर्योदय तक सोते रहने में वे बड़ा दोष मानते थे। शास्त्रों में इसे पाप माना है, और इसका प्रायश्चित भी बताया है। सूर्योदय तक सोते रहने का उन्हें अत्यधिक दुःख हुआ। उस दिन वे दिन भर उदास रहे। भोजन भी नहीं किया। यही सोचते रहे कि मैं प्रभु से अधिक निद्रा को प्यार करता हूँ, तभी तो निद्रा के वशीभूत होकर सोता रहा। प्रभु को भूल गया। यदि प्रभु से प्रेम होता तो समय पर क्यों न जागता। किसी का बच्चा बीमार पड़ जाता है तो वह रात्रि भर जागता रहता है। मेरा प्रेम भगवान में उतना भी नहीं है। इस प्रकार उन्हें इस कर्म पर काफी पश्चाताप रहा।

"कुछ दिनों के पश्चात् पुनः एक प्रसंग ऐसा ही आया। वे नियत समय पर जागे नहीं। उनके नित्यकर्म का समय हो रहा था, किन्तु वे प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न थे। उसी समय एक बहुत ही सुन्दर रूप वाले मनुष्य ने उन्हें जगाया और कहा, 'महात्माजी! उठो, तुम्हारे पूजा-पाठ का समय हो गया है।'

"महात्मा जी हड़बड़ा कर उठ पड़े। देखा, नित्य के उठने के समय से थोड़ी ही देर हुई है। यदि ये सज्जन मुझे न जगाते तो मैं अब तक सोता ही रहता। इन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया है। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वे उनसे बोले, 'महानुभाव, आपने बड़ी कृपा की जो मुझे समय से जगा दिया, नहीं तो आज मैं इतना थका हुआ था कि आप न जगाते तो सूर्योदय तक सोता ही रहता। आपको बहुत बहुत धन्यवाद। क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकता हूँ?'

"उस व्यक्ति ने कहा, 'जी, मेरा नाम कामदेव है, लोग मुझे मन्मथ भी कहते हैं।'

"संत बड़े आश्चर्य में पड़ गये—'आप काम हैं, आप तो लोगों को भगवान से विमुख करके विषयों में फँसाते हैं। आपने मुझे प्रार्थना के लिए कैसे जगा दिया। यह काम तो आपने अपने स्वभाव के प्रतिकूल किया।' हँसते हुए मन्मथ ने कहा, 'संतजी, यह काम मैंने अपनी प्रकृति के अनुकूल ही किया है। मेरा स्वभाव है कि लोगों को भगवान से दूर हटाना। वैसे तो आप भजन करते हैं हीं। माला कर में फिरती रहती है, मनुआ इधर-उधर भटकता रहता है। भजन करने का आपका स्वभाव पड़ गया है, मन से! कि बहुना मन से भी उतना निश्चय पूरा कर लेते हैं। भगवान भी सोचता है, जैसा वह करता है, वैसा फल देवेंगे। उस दिन आप सूर्योदय तक सोते रहे। इससे आपको अत्यन्त हार्दिक पश्चाताप हुआ। दिन भर आप पश्चाताप करते रहे। इससे भगवान आपके बहुत निकट आ गये। भगवान जितना हृदय के पश्चाताप से द्रवित होते हैं, उतने किसी कर्म से भी द्रवित नहीं होते हैं। मैंने सोचा, आज भी आप सोते रहे और उस दिन की तरह आपको अधिक पश्चाताप होगा, तो आप भगवान के और भी अधिक प्यारे और नजदीक आ जायेंगे, उनके अधिकाधिक सन्निकट पहुँच जायेंगे। आप भगवान का उतना सानिध्य न पा सकें, इसलिये मैंने आपको समय में जगा दिया कि जैसे नित्य गाड़ी चलती है, वैसे ही चलती रहे।'

"इस कहानी के यहाँ लिखने का सार इतना ही है कि सूरजमलजी को भगवान ने अपने से दूर करने की बहुत चेष्टा की, पर उन्होंने भगवान का पल्ला नहीं छोड़ा। एक दफा की बात है, मैं और मेरे मित्र बड़ाबाजार कुमार सभा पुस्तकालय के लिए चन्दा मांगने उनके पास गये थे। चन्दा तो उन्होंने बड़ी खुशी के साथ दिया ही, पर साथ में कहने लगे कि आपलोग समाज के सुधार के लिए बड़े-बड़े काम करते हैं, क्या आपका ध्यान मध्यम श्रेणी के लोगों की ओर भी है, जो हजारों की संख्या में यहाँ काम करते हैं, अनेक फर्मों में नौकरी करते हैं और यहाँ बिना परिवार के रहते हैं, आपने उनके दुखों के बारे में कभी सोचा है क्या? उनको अच्छा भोजन नहीं मिलता। वे लोग बासा में तो भोजन करते हैं, पैसा भी बेशी देते हैं, पर भोजन उन्हें निम्नस्तर का मिलता है। इससे

उनका स्वास्थ्य गिरता है और बीमार पड़ जाने के बाद उनकी दवा-दारू करने वाला यहाँ कोई नहीं है। वे साक्षात् भगवान के स्वरूप हैं, उनके दुख-दर्द का भी ख्याल करना चाहिये। इसलिये आप लोगों को सस्ते दाम के बासे खोलने चाहिए। उसमें जो घाटा लगे, वह मुझ से मँगा लीजिये। कम से कम एक या दो ऐसे कार्य आरम्भ कीजिये।

"हम लोगों को उनका सुझाव तो बड़ा सुन्दर लगा। उनके हृदय में उन मध्यम श्रेणी के प्रवासी राजस्थानियों के दुखों की कितनी मर्मस्पर्शी वेदना थी, उसका हमलोगों ने अनुभव किया। उनके सुझाव को कार्य रूप में परिणत करने के लिए वायदा करना पड़ा, पर कुछ दिनों तक तो इस काम को हाथ में लेने का समय हम न पा सके। जब कभी वे मिलते तो सबसे पहले वही प्रश्न उनका होता। क्या जगह ठीक कर ली? कब से खोलते हैं? आखिर में उनकी इच्छा की पूर्ति करनी ही पड़ी। जब बासा खोला गया तो उन्हें बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने कहा कि भगवान ने एक बात मेरी पूरी कर दी। आज के युग में यह घटना बहुत छोटी-सी लगती है, पर उस युग में तो इसका अपना चमत्कारी प्रभाव पड़ा था......

"उस समय दान देने की प्रथा का बड़ा महत्व था। चाहे गरीब हो या अमीर। कुछ न कुछ वह दान करता ही था। उस दान के गिने-चुने प्रकार थे। उस समय लोग पैदल या ऊँटों की सवारी अधिक करते थे और दूसरा कोई साधन भी नहीं था। रास्ते में ठहरना और जल प्राप्त करना एक बहुत बड़ी समस्या थी, इसकी पूर्ति कुएँ, बावड़ी-धर्मशाला आदि बना कर की गई। पर सूरजमलजी का दृष्टिकोण बड़ा ही विशाल एवं समयोपयोगी था। समाज की आवश्यकता के बारे में वे चिन्तन किया करते थे और उसकी पूर्ति करने के लिए स्वयं समाज के कार्यकर्त्ताओं के सन्मुख अपने विचार रखते और जब तक उसका समाधान नहीं हो जाता, तब तक वे उसे छोड़ते नहीं थे। केवल समाधान तक ही सीमित नहीं था। वे उस कार्य को कार्यान्वित करने के लिए आर्थिक सहायता देते और प्रेरणा भी देते। वह कार्य नहीं होता तो उनको उससे बड़ा दुःख होता। लगन उनमें इतनी थी कि वे उस कार्य को पूरा कराये बिना चुप नहीं बैठते। उन्हें एक बात और करने की सूझी। यहाँ काफी संख्या में मारवाड़ी समाज बस चुका था और अधिक संख्या में पहले विवाह, सगाई आदि देश में ही होते थे, पर इधर में कलकत्ते में काफी रूप में होने लगे थे। एक ही दिन कई एक शादियाँ पड़ जातीं थी। उसके कारण दो चीजों की कठिनाई बड़ी विकट समस्या को लेकर खड़ी हो जाती। एक विवाह के लिए स्थान की कमी, दूसरी जो सबसे अधिक कष्टप्रद थी, वह थी, विवाह के लिए बर्तनों का प्रश्न! उस समय गरीब आदमियों के लिए तो यह जीवन-मरण का सवाल था। हर आदमी के लिए इतने बर्तन खरीदने संभव नहीं थे? उन्हें इसका जब अनुभव हुआ तो तत्काल ही एक बृहत् बर्तनों का भंडार खोलने का संकल्प किया। पर यह काम उनके बाद पूरा हुआ। उस भंडार से कोई भी व्यक्ति विवाह या अन्य कार्यों के लिए बर्तन ले सकता है। विवाह के डेढ़ महीने पूर्व अपना नाम लिखा देने से उसे बर्तन मिल जाते हैं। जो पहले जाता है, उसे पहले प्राप्त होते हैं। वस्तु-भंडार में विवाह और चौके के अतिरिक्त बिछायत के लिए सतरंजी, गलीचे भी रखे गये हैं। याने विवाह करनेवालों के लिए कोई दिक्कत नहीं है। आज तो उस भंडार से गरीब और मध्यम श्रेणी के लोग ही लाभ नहीं उठाते, बल्कि लखपति और करोड़पति भी उससे लाभ उठा रहे हैं!

"ऐसे कार्य एक नहीं अनेकों, अपने जीवन में सूरजमलजी ने पूर्ण किये हैं अथवा योजना बनाकर छोड़ी थी। कलकत्ते में ही नहीं, राजस्थान के हिस्सों में, जहाँ-जहाँ वे जाते, वहाँ जैसी वे आवश्यकता महसूस करते, वहाँ उस उस कार्य को पूरा जब तक न कर लेते, तब तक नहीं बैठते।

"उनमें यह प्रेरणा कुछ दिनों या कुछ वर्षों से नहीं थी, पचास वर्ष पहले की धुंधली एक घटना आज भी मेरी आँखों के सामने बराबर रहती है। १९१३ या १९१४ का साल था। उन्हीं दिनों मेरी शादी थी। मेरे बड़े भाईजी से उनका साधारण परिचय था, फिर भी प्रायः शादी के दिनों में नित्य ही वे हमारे घर आया करते और कहते, 'मेरे लायक कोई काम होवे तो बता देवो। जरा भी संकोच मता करियो।' और घंटों बैठ कर हमारी मदद करते थे।

"यह मदद करने की भावना एवं दूसरे के दर्द को अपना समझना उनमें जन्म से ही ईश्वरप्रदत्त था। और अन्त तक करोड़ों के धनी होते हुए भी वही काम वे जीवन के अन्त तक करते रहे! हितोपदेश का एक वचन है—

स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम्।
परिवर्तिनी संसारे मृत को वा न जायते॥

—उसी पुरुष का जन्मना सार्थक कहा जा सकता है, जिसके जन्म से उसका वंश लोक-परलोक की दृष्टि से समुन्नत हो। नहीं तो इस परिवर्तनशील संसार में कौन तो मरता नहीं, कौन जन्म नहीं लेता!

—और अन्त में हम गीता के इस श्लोक को याद कर ही अपने मन को धीरज बँधाते हैं:

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

—क्योंकि जन्मने वाले की निश्चित मृत्यु और मरने वाले का

निश्चित जन्म होता है। आत्मा तो सदैव अजर अमर है, उसके लिए शोक नहीं किया जाता।

> नैनंछिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

—इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और इसको अग्नि जला नहीं सकती है तथा इसको जल गीला नहीं कर सकता है और न ही वायु इसे सुखा सकती है। आत्मा तो सदा अजर अमर है।"

अब हम रुकें। महायात्रा के उपरान्त इस गाथा को पूर्ण विराम दें। बात हमने 'मधुछत्र रूप जीवनादर्शों का चरित्र' से प्रारंभ की थी। यह समस्त गाथा इसीलिए आगे बढ़ सकी कि पूरे जीवन भर वह मधुछत्र मधु-भार से विकसित होता गया, वर्द्धमान होता गया।

अपनी विनीत श्रद्धांजलि इन काव्यमयी पंक्तियों में प्रगट करते हुए हम अपने पाठकों से अवकाश ग्रहण करते हैं—

मधुछत्र

तरुण मुमाखियो!

अमर तरुणाई का दिव्य रूप धारे
जीवन की अमर जिजीविषा का पराग धारे

बोलो बोलो यह स्वर्ण मधु

यह सद्य-प्रसवा पराग-मधु
किन रश्मियों का दोहन कर उठा लाई हो?

व्यक्ति तो व्यक्ति का गीत, मुखर हो शान्त होता।

तुम्हारे पंखों की गुंजन अनादि अनंत
गहन श्वासों की और उत्तम क्या परख।

भरती रहो मधुमयी उड़ान
करती रहो मानवता ज्योति-अवसान।

पर मधुछत्र रहे अक्षय
मानवता यूं ही रहे निहाल!

ओम् शान्ति शान्ति शान्ति

हमारे श्रद्धावनत विनीत प्रणाम!
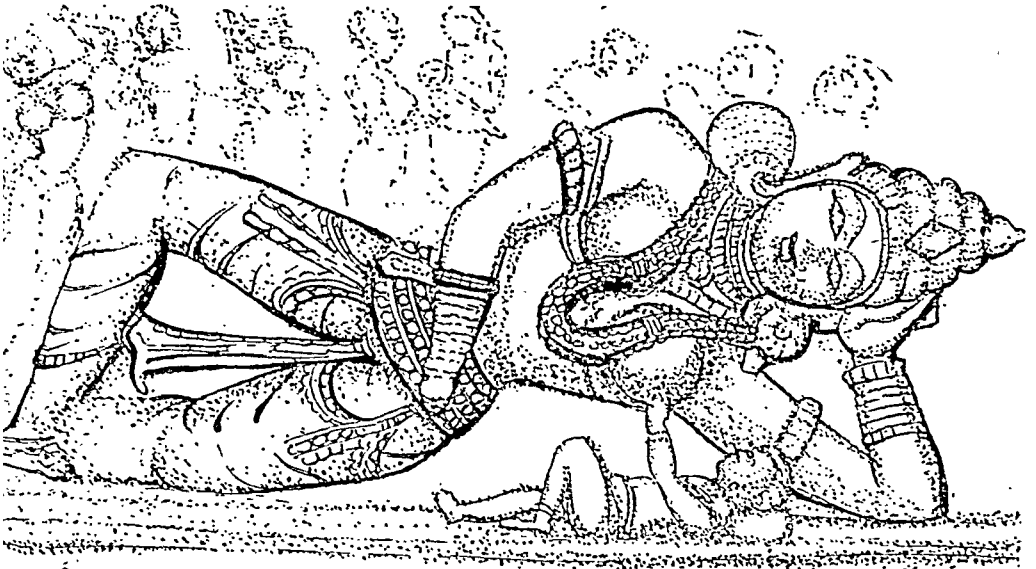
यशोदा, बालकृष्ण को दुग्ध-पान कराते हुए

[अजमेर संग्रहालय]
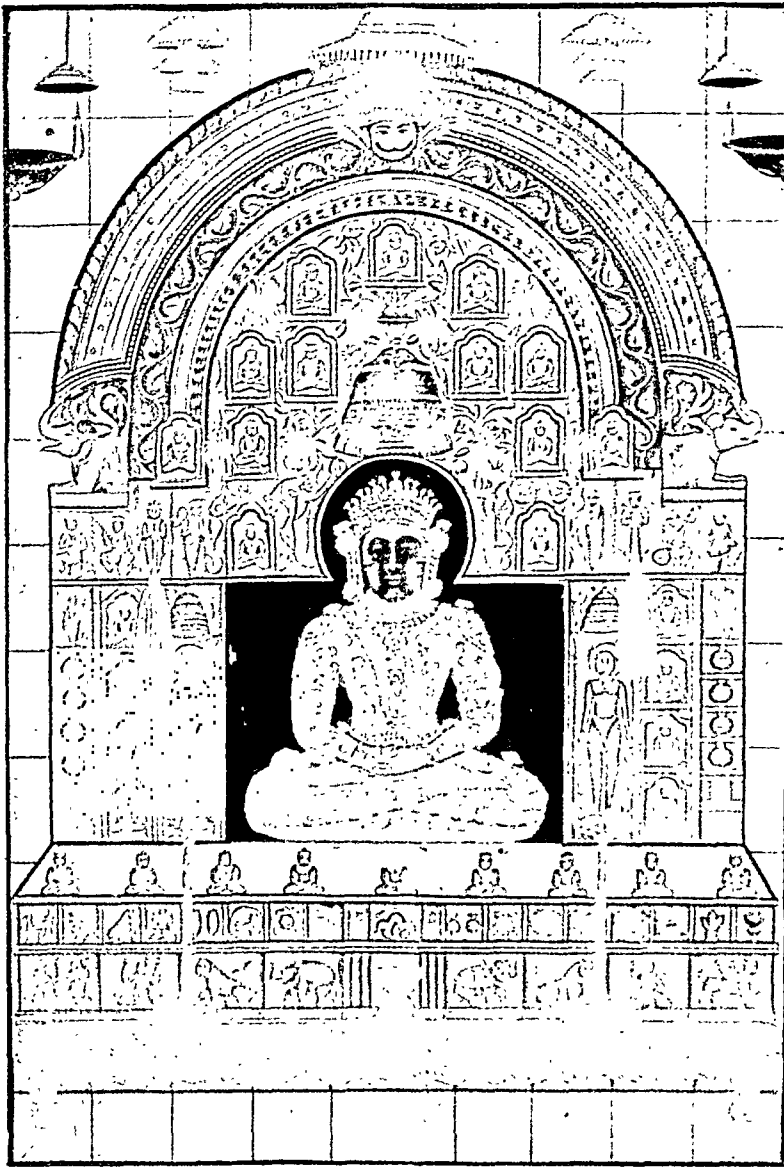
श्री केशरियानाथजी, ऋषभदेव

[प्रतिमा लगभग १५वीं सदी, उदयपुर, कृष्ण पत्थर]

श्री राणी सतीजी; झूँझनूँ

[मंदिर यद्यपि नया है, किन्तु पूजा-स्थल १३वीं सदी के बाद का है।]
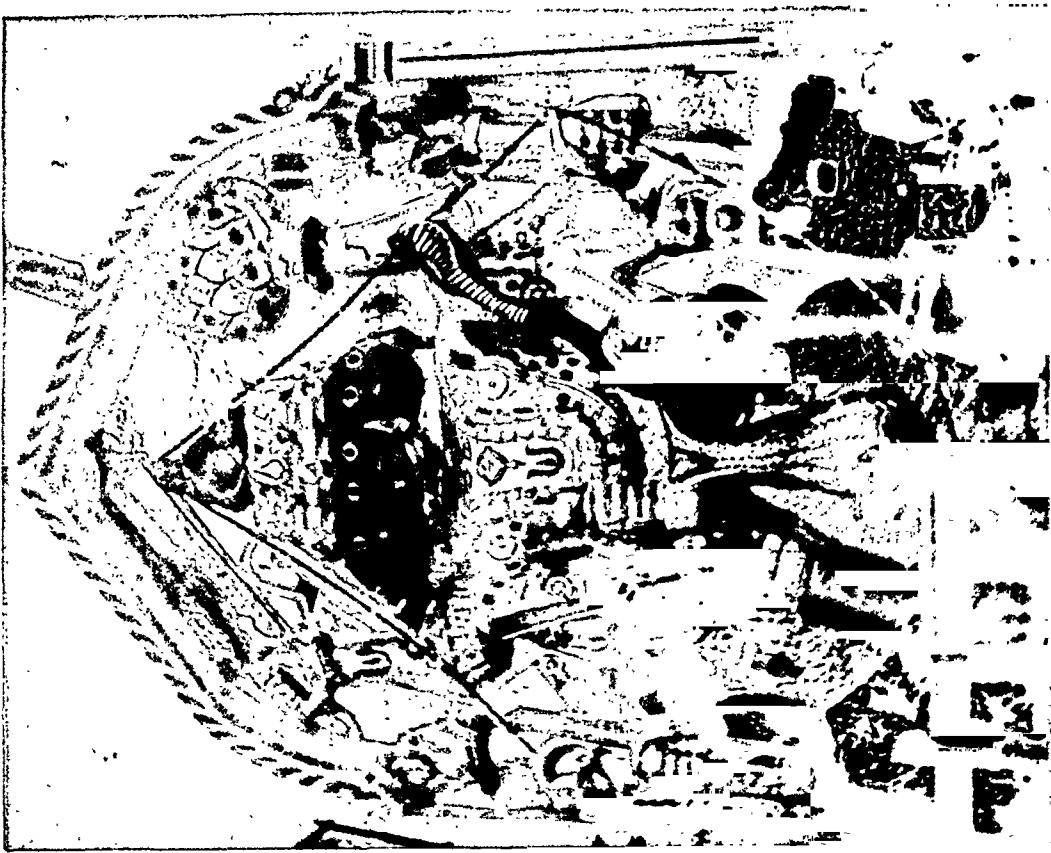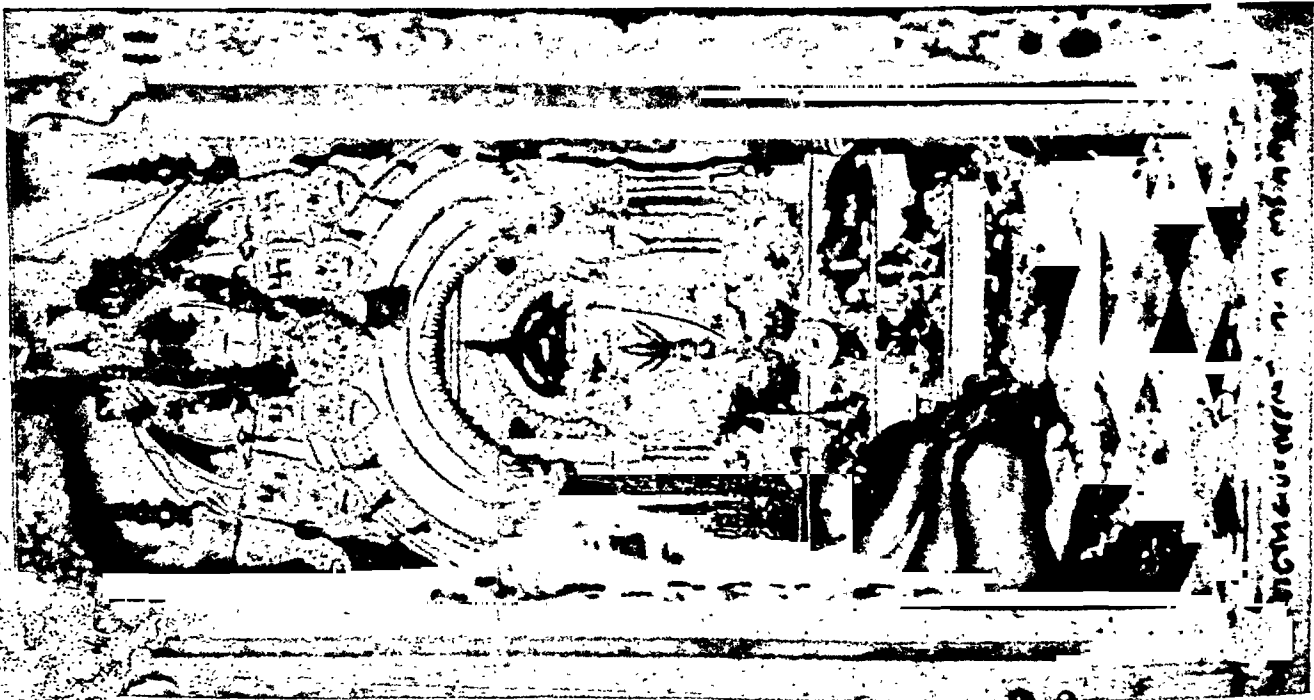
श्री पंचमुखी हनुमानजी, जोधपुर

[गढ़ के ऊपर विशाल मूर्ति, ऐसी मूर्ति संभवतः भारत भर में नहीं है ! यह मूर्ति लगभग १७वीं सदी की बताई जाती है।]

दीर्घजीवी महोत्सव
एवं
सुकर्म-संकीर्तन

०

[संक्षिप्त उपसंहार]

०

शुभदा एवं वरदायिनी चामुण्डा
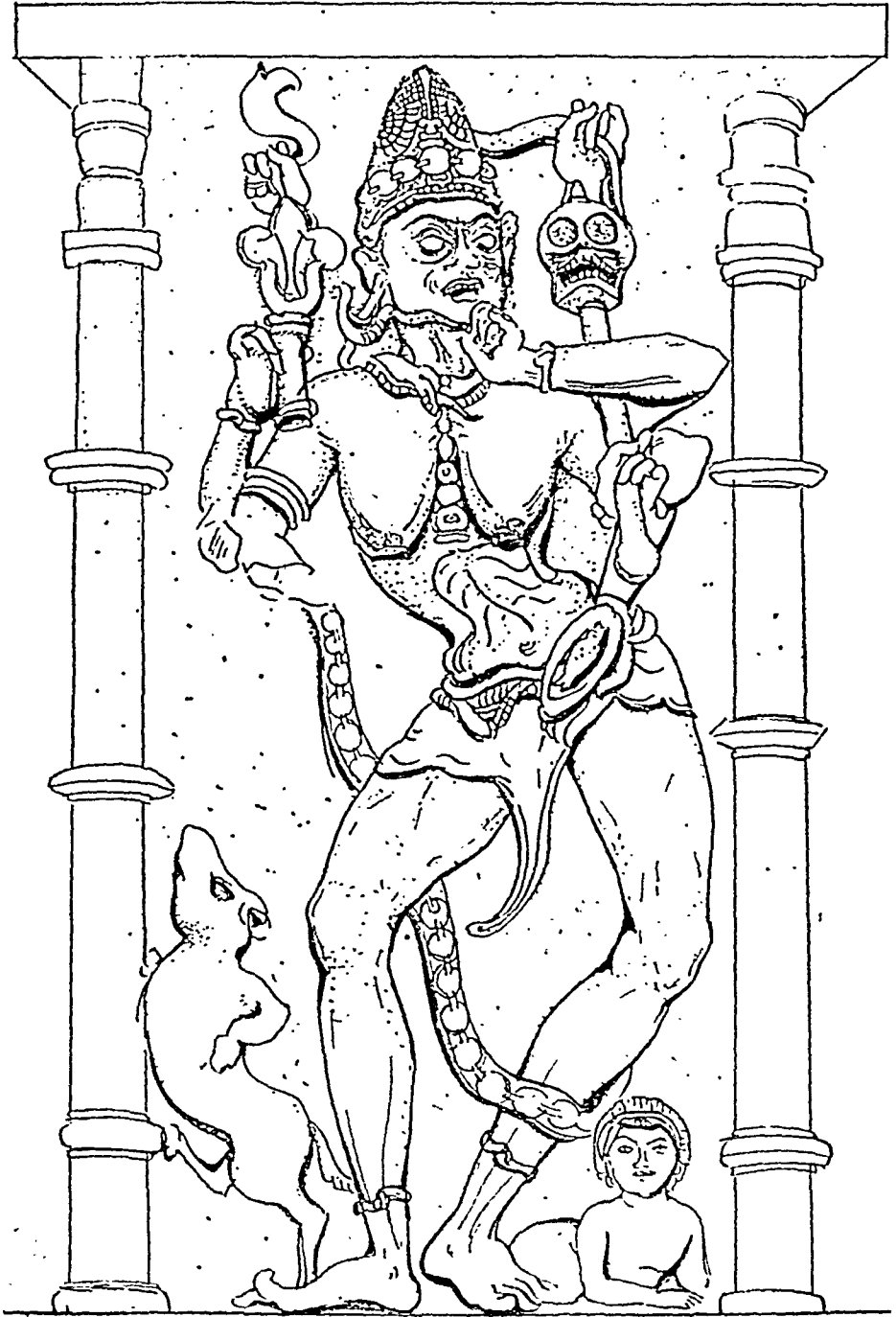
[अरथूणा के शिव-मन्दिर में अभी तक सुरक्षित]

राजस्थान में चामुण्डा के प्रति समर्पण एवं अर्घ्य-निवेदन प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह वास्तव में सामाजिक श्री और सद्विवेक-रूप मंगल-श्री की महिमामयी देवी हैं।

श्री मोहनलाल जालान का प्रतिरोध-यज्ञ

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापि हितं मुखम् । शुक्ल यजुर्वेद संहिता ४० : १७ ।
—सत्य का मुख स्वर्ण जैसी चमकीली वस्तुओं में छिपा हुआ रहता है ।

[१]

उपमा दिव्य मुस्कराहट की उत्तम पुत्र के लिए दी गई है—जिस तरह महान् आत्माएँ दिव्य भाव से मुस्कराया करती हैं, उत्तम पुत्र वंश में कुछ उसी प्रकार दिव्य स्मिति का संचरण करता रहता है । उत्तम पुत्र से आशय उस उत्तराधिकारी से है, जो गृहपति होकर अपनी पैतृक यशोगाथा को अपने हाथों से अवरुद्ध नहीं कर देता, अपितु वंश-वल्लरी को अपने प्रणरस से सींचता हुआ, उसे और भी लहराते रहने की सुविधायें दिया करता है । इसीलिए कहा गया है कि पुत्र हो तो ऐसा हो, वह अपने पिता के सिर पर रखा हुआ मुकुट चाहे न पहने, किन्तु पिता की कीर्त्ति को अपने नाम से गौरव-मंडित करता रहे । मोहनलाल जी पर जब दृष्टि जाती है और हम उन्हें निकट से देखते हैं और उनके सम्बन्ध में समाज में चर्चा करते हैं—उस समय यही ऐहसास होता है कि पिता की शक्तियाँ यदि प्रतिफलित हों तो इसी तरह के पुत्र-रूप में हों । "परिमितं वै भूतम् । अपरिमितं भव्यम् (एतरेय ब्राह्मण ४।६) अर्थात् भूतकाल तो वह है जो बीत चुका है और जिसकी अन्तिम सीमा सिमट चुकी है, लेकिन भविष्य तो अपरिमित होता है । उसका विस्तार हमारी बाँहों में समेटे नहीं सिमट सकता । जिस पिता ने स्वर्गारोहण कर लिया है, वह उस भूतकाल का सुबोध है, जिसके पृष्ठ भी कालक्रम में जीर्ण होकर बहुत कुछ अपठनीय बन गये हैं, पर उसका जीवित पुत्र तो उस भविष्य की तरह है, जो वर्त्तमान के प्रकाश से उज्ज्वल बना हुआ सुखद प्रत्याशाओं का मंगल-कलश बना हुआ है । श्री मोहनलाल जालान के प्रति ऐसी ही शुभ भावनायें मन में उठती हैं ।

सूरजमल जी की जीवन-गाथा समाप्त करने के बाद प्रश्न यह शेष नहीं रह गया था कि अब उनके वंश का शेषांश लिखना बाकी है, फिर भी यह आवश्यकता अवश्य सामने प्रबल बनी हुई थी कि यदि पाठक यह प्रश्न करें कि सूरजमल जी के जीवन में उनके हाथों जो किया-कराया था, वह क्या उनकी अन्तिम श्वास के साथ ही निष्कम्पभाव से धरा-धराया रह गया ? इस प्रश्न का महत्व हमारे लिए बहुत है और इसीलिए हम कहे बिना नहीं रह सकते कि सूरजमल जी की महायात्रा के बाद, जीवन की अमर निधि के रूप में उनकी परम्पराओं ने किस तरह पुनर्जीवन धारण किया, उसे समझने के लिए हमें मोहनलाल जी के जीवन पर एक दृष्टि डालना अनिवार्य है ।

आपने अपने जीवन पर संक्षिप्त दृष्टि डालते हुए उन तथ्यों, से परिचय कराया, जिनका समावेश अभी तक अछूता ही रहा था । आपने कहा, "मेरा जन्म सन् १९०५ में नाई टोला, कलकत्ता में हुआ । बाद में कुछ दिनों तक आड़ी बांसतल्ला में हम सब रहे । जब मैं ४ वर्ष का हुआ तब सपरिवार ३ नं० कलाकार स्ट्रीट के मकान में १ तल्ला भाड़ा पर लेकर हमलोग रहने लगे । पूज्य पिताजी ने, जब मैं ५ वर्ष का हुआ, मेरे पढ़ने का प्रबन्ध एक समीप की प्रह्लादराय जी गुरु की पाठशाला में कर दिया । प्रायः ९ वर्ष की अवस्था में मेरा प्रवेश श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय में कराया गया ।

"कुछ वर्षों के बाद हम लोग १०३ नं० हरिसन रोड (महात्मा गांधी रोड) में रहने लगे और मेरा प्रवेश पुनः श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय में कराया गया । शाम को वायु-सेवनार्थ हम बालकों के लिए एक फिटन गाड़ी की व्यवस्था कर दी गई, जिसमें मैं, मेरे छोटे भाई बाबूलाल, शिवभगवान तथा झावरमल बराबर घूमने जाया करते थे ।

"जब मैं १४ वर्ष का हुआ, मुझे टाइफाइड हो गया । इस ज्वर को मुझे दो मास तक भुगतना पड़ा । इसके लिए डॉ० सर कैलाशचन्द्र बोस का इलाज कराया गया । इसी समय सन् १९१८ में कलकत्ते में साम्प्रदायिक दंगा प्रारम्भ हो गया । उस अरसे में हमलोग १०३ नं० हरिसन रोड वाले मकान को छोड़ कर बीडन स्क्वायर में एक मकान भाड़े पर लेकर रहने लगे । वहाँ करीब दो वर्ष तक रहे । बाद में डॉ० सर नीलरतन सरकार का मकान[1] ६१ नं० हरिसन रोड खरीद लिया गया । मेरा विवाह भी इसी मकान में हुआ । डा० सर कैलाशचन्द्र बोस का पूज्य पिताजी को यही संकेत रहा कि मुझे स्कूल नहीं भेजा जाय और मेरा पठन-पाठन घर पर ही कराया जाय । फलस्वरूप हम सब बालक घर में ही पढ़ने लगे ।

"पूज्य पिताजी का बराबर यही ख्याल रहा कि लड़कों को काम सीखने के लिए छोटी उम्र में ही डाल देना चाहिए । इसी के

---

१ यह एक ऐतिहासिक भवन है । यहीं पर सबसे पहले राष्ट्रीय संग्राम के क्षणों में वन्देमातरम् गान सार्वजनिक रूप में गाया गया था ।

फलस्वरूप १८ वर्ष की अवस्था में मुझे पूज्य चाचाजी वैजनाथजी के साथ में हटखोला, फूलबगान आदि स्थानों पर पाट खरीदने के लिए भेजना शुरू किया गया। उनके साथ दिन में पाट खरीदने जाया करता था एवं सुबह प्रेस में दूसरा मुख्य काम पाट की जँचाई देखना था। यह काम ३ वर्ष तक चलता रहा। बाद में जूट बेल्स एसोसियेशन में पूज्य मामाजी नागरमल जी के साथ मैंने शिप्पिग तथा बैंकिंग का काम सीखना शुरू किया। सन् १६२७ में जब श्री हनुमान जूट मिल की नींव (फाउन्डेशन) पड़ी, तो उसके कन्स्ट्रक्शन का काम तथा स्टोर वगैरह खरीदने का काम मुझे दिया गया। सन् १६२८ में श्री हनुमान जूट मिल में उत्पादन शुरू हुआ। इसका माल बेचने का काम पूज्य मामा जी नागरमल जी किया करते थे। मैंने यह काम सन् १६३३ में देखना शुरू किया। ३ या ४ वर्ष के बाद जूट खरीदना भी शुरू किया। प्रतिदिन सुबह श्री हनुमान जूट मिल जाना तथा वहाँ का काम सम्हालना, यह तो दैनिक कार्य था ही, किन्तु पूज्य पिताजी प्रायः नित्य प्रति हम बालकों से हर एक काम की बारीकी के विषय में पूछताछ किया करते थे।

"पूज्य पिताजी हम सब बालकों को हर साल वायु-परिवर्तनार्थ प्रायः देवघर भेजा करते थे तथा स्वयं भी बीच-बीच में वहाँ जाकर सम्हाल आया करते थे। वे हम सबको मंसूरी, शिलांग, दार्जिलिंग तथा ऊटी वगैरह भी अपने साथ ले गये। हम बालकों के स्वास्थ्य का बराबर ख्याल रखा करते थे।

"सन् १६४६ में मेरे बड़े पुत्र तोलाराम का विवाह ६१ नं० हरिसन रोड वाले मकान में सम्पन्न हुआ। किन्तु परिवार बढ़ जाने की वजह से मैं सपरिवार ८ नं० बंकिम चटर्जी स्ट्रीट के मकान में १६४७ में आ गया। यह मकान पू० पिताजी के सामने ही सन् १६३८ से पहले ही खरीदा जा चुका था।"

इस आत्मकथन में एक बात सबसे अधिक प्रधान है। यद्यपि सूरजमल नागरमल फर्म सन् १६१५ के बाद से लखपति फर्म बन चुकी थी, किन्तु सूरजमल जी ने बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ धनिक परिवारों में अनावश्यक रूप से उत्पन्न होने वाला विलासिता का आविर्भाव अपने वंश की मर्यादा में न होने पाये, इसका कड़ा प्रबन्ध कर रखा था। १६वीं सदी के अन्त तक रईसों के यहाँ रईसी और नवाबों के यहाँ नवाबी और सेठों के यहाँ सेठाई की धूमधाम देखने को मिलती थी। इन सबके जीवन में श्रम का अभाव रहता था, व्ययसाध्य परावलम्बन की दुर्भावना रहती थी और बात-बात पर नाज-नखरों की झूम रहती थी। जो नवाब ठाठदार नवाबी ढंग से न उठा-बैठा, वह नवाब क्या हुआ, यह एक मोटी धारणा थी। जो रईस रईसाना नजाकत, जरी के कोट और विलायती रेशम के कुर्ते और हीरे-कंठों की माला पहन कर अपनी गद्दी पर आराम से पैर फैला कर न लेटा तो वह रईस कहलाने का अधिकारी न माना गया। रईसों के लिए यह जरूरी भी माना जाता था कि वह जरी की टोपी या मलमल की पगड़ी सिर पर जरा टेढ़ी रखें। वह टेढ़ापन बांई ओर होता था और दांई ओर की कनपटियों पर घुंघराली जुल्फों के पट्टों के चुभते हुए दर्शन हुआ करते थे। गर्दन पर भी केशराशि नीचे तक अलबेली बनी रहती थी। इसी तरह सेठों का हाल था। राजस्थान की लोक-चाल कुछ इस तरह की थी—

घी सक्कर अरु दूध के ऊपर पणडा
सात भायां के बीच सवाया कप्पड़ा
घर में धीणा होय क हुंडी चालणा
इत्ता दे करतार क फेर न बोलणा ॥

अर्थात् साहूकार परमात्मा से इतनी ही प्रार्थना किया करते थे कि हे त्रिलोकीनाथ! मुझे घी, शक्कर और मलाई से परिपूर्ण दूध पीने को मिले, सात भाईयों के बीच मैं सवाये कपड़े पहनने का उपभोग पा सकूं। घर में गोधन प्रचुर मात्रा में हो और मेरी हुंडी बाजार में चलती रहे। बस, इतना भर तूं मुझे दे दे तो फिर कहना ही क्या है, कुछ और बोलने की बात ही नहीं रह जाती है!

१६वीं सदी का जब शेषांश पूर्ण हुआ, उस समय तक देश में सेठों की परम्पराएँ सेठाई रंग-ढंग में ढली हुई थीं। वे विलायती वस्त्र पहनते थे, भरपूर नौकर-चाकर रखते थे, सुबह ८ बजे से रात के १ बजे तक गद्दी पर मुनीम बही-खातों में डूबे रहते थे और वे सेठ अपनी सेठाई की रक्षा के लिए एक पैसे की जगह एक रुपया खर्च करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। क्योंकि उन्हें शारीरिक श्रम करना नहीं होता था, इसलिए तोंद फलती-फूलती रहती थी!

ऐसी भीड़ भरी पंक्ति में सूरजमल जी का पदार्पण होता है। अन्य विनम्र स्वभाव के सेठों का पदार्पण होता है। वे छोटी अवस्था से बड़ी अवस्था तक पहुँचते हैं। कठोर शारीरिक श्रम में और बुद्धिश्रम में उनका विश्वास रहता है, सादगी और सरलता उनके सिद्धान्त बनते हैं और अपने पुत्रों को भी वे उसी ढाँचे में ढालते हैं। मोहनलाल जी ने जिन क्षणों में जीवन का होश पाया, उस समय तक इतनी बात अवश्य हो ही चुकी थी कि यदि वे चाहते तो चाँदी की शैया पर शयन करते और स्वर्ण के थाल-कटोरों में भोजन करने का विलास प्रारम्भ करते। किन्तु नहीं, सूरजमल जी ने उन्हें ऐसे संस्कारों से वंचित रखा। जिस तरह पिता स्वयं सुबह से शाम तक दैनिकचर्या में विनयभाव से लिप्त रहते, उसी तरह मोहनलाल जी को भी सुबह से शाम तक उन्होंने नपी-तुली, बंधी-बंधाई दैनिक चर्याओं में बांध कर रखा। किसी तरह का व्यसन उन्हें संस्पर्श भी कर पाये, ऐसी स्थिति पैदा न होने दी। धन का अर्जन करने में वे अपना समग्र बुद्धि-बल विभाजित रखें, इसके लिए

उन्हें अवश्य उत्साहित रखा, किन्तु उस संचित धन का दायित्व समाज के प्रति क्या है, इस ओर से भी उन्हें दीक्षित करते रहे। भद्रं नो अपि वातय मनः। ऋग् १०।२०।१---भगवान् ऐसी प्रेरणा कीजिए, जिससे हमारा मन कल्याण अथवा शुभ मार्ग का ही अनुसरण करे। इसी तरह के शुभ और कल्याणास्पद मार्ग की दिशाएँ उन्हें बतलाते रहे। उसी का यह सुफल था कि जब सूरजमल जी का शरीर न रहा, और मोहनलाल जी के कंधों पर सभी जिम्मेदारियां आकर गिरीं, उस समय उनके मन में सहस्र-सहस्र शुभ संकल्प थे, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की ओर चलने की सुखद प्रेरणाएँ थीं। निजी समुन्नति के साथ वे समाज के प्रति भद्र भावनाओं का विकास चाहते थे और सत्कर्मों के प्रति दृढ़ रहना चाहते थे।

अपनी इहलीला समाप्त करने से पूर्व सूरजमल जी ने जिस विपद् योजना का प्रारुप तैयार करने के उपरान्त उसकी बागडोर मोहनलाल जी के हाथों में थमा दी थी, उस समय बंशीधर जी ने और बैजनाथ जी ने उन्हें कम सहारा नहीं दिया। मिले-जुले परिवार में मोहनलाल जी का स्थान उस विशेष मुकुलित पुष्प की तरह से था, जो विहँसते हुए उद्यान में सबसे ऊपर रह कर लहलहाया करता है। पिताश्री के बाद आपने बड़े उत्साह से राम-मन्दिर की स्थापना का कार्य प्रारंभ कर दिया। कहना चाहिए, सूरजमल जी ने अपने जीवन में २५-२६ संस्थाएँ खड़ी कीं। किन्तु मोहनलाल जी ने उन सब के ऊपर पिताश्री की स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए एक विराट् संस्था का गठन किया, जो महत्व की दृष्टि से कलकत्ता के सार्वजनिक जीवन में सर्वाधिक लोकप्रिय है।

सन् १९३८ में ही, बंशीधर जी जालान, बैजनाथ जी जालान, मोहनलाल जी जालान, चिरंजीलाल जी बाजोरिया, नन्दलाल जी भुवालका और ओंकारमल जी सर्राफ के संयुक्त हस्ताक्षरों से यह निश्चय किया गया कि सूरजमल जी जालान की इच्छानुसार ट्रस्ट-डीड के सुरक्षित किये गए ५ लाख रुपयों को सूरजमल जालान ट्रस्ट के नाम से घोषित किया जाय और इसमें ५ या ६ ट्रस्टियों से अधिक न हों। इन ट्रस्टियों की नियुक्ति के उपरान्त ट्रस्ट-राशि को किस प्रकार व्यय किया जाय, इस पर विचार करते हुए यह निश्चय किया गया---

(अ) श्री रामचन्द्रजी की प्रतिमा की स्थापना, पूजा की व्यवस्था और देवस्थान में प्रतिदिन दैनन्दिन रामायण की कथा-वार्ता का प्रबन्ध।

(आ) एक वस्तु-भंडार की स्थापना, जिसमें विवाह-शादी, उत्सव, पर्व और सार्वजनिक समारोहों के समय हिन्दू जनता को बर्तन-बिछावन आदि अस्थायी व्यवस्था के लिए प्रयोगार्थ दिये जाने की व्यवस्था रहे।

(इ) संस्कृत, हिन्दी और बंगाली जनता के निमित्त एक पुस्तकालय और एक वाचनालय स्थापित किया जाय, जिसमें हिन्दू-धर्म के प्रतिपालक पाठक उपस्थित होने की सुविधा पा सकें।

(ई) हिन्दू छात्रों के लिए खाता बही, हिन्दी और बंगाली में महाजनी विद्या का विद्यालय स्थापित किया जा सके और उन्हें मिडिल कक्षा तक अंग्रेजी माध्यम से भी शिक्षा देने का प्रबन्ध रहे और साथ ही रात्रि-पाठशाला चलाई जावे, जिसमें उपस्थित होने वाले छात्र हिन्दी और बंगला का अध्ययन कर सकें। साथ ही हिन्दू बालिकाओं के लिए संस्कृत, हिन्दी एवं बंगला में पढ़ाई करने के लिए बालिका पाठशाला खोली जाए।[1]

(उ) दो लाख रुपयों की राशि का व्यय इस दृष्टि से स्वीकार किया गया कि जिससे कलकत्ता नगर में उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ५-६ तल्ले का मकान बनाने की दृष्टि से जमीन खरीदी जाय।

सन् १९३९ में सुचारु रूप से इस भवन-निर्माण का कार्य प्रारंभ कर दिया गया। यह सूरजमल जी जालान का ही पुण्य प्रताप था कि जो भूमि मिली, वह सेन्ट्रल एवेन्यू पर मुख्य सड़क पर स्थित थी। जब मन्दिर बन कर तैयार हो गया, बड़ा बाजार में एक मनःप्रिय चमत्कार नजर आने लगा। प्रायः ऐसा कम ही होता है कि किसी नये मन्दिर की स्थापना करते ही वहां पर दर्शनार्थियों की अधिकतम भीड़ उपस्थित होने लगे। सूरजमल जी की परिकल्पना बिल्कुल सत्य निकली कि बड़ाबाजार में और कलकत्ते में एक शोभनीय मन्दिर का अभाव पूरा होगा तो यह मन्दिर ही सर्वाधिक पूजित होने लगे। राम-मन्दिर में जो मूर्त्तियां मँगवाई गई, वे हिन्दू जगत् के दानवीर और धर्म-शिरोमणि सेठ श्री जुगलकिशोर जी बिड़ला की देखरेख में तैयार करवाई गई थीं।[2]

भगवान रामचन्द्र जी के अतिरिक्त जगज्जननी जानकी और लक्ष्मण जी के विग्रह स्थापित हुए और भगवान रामचन्द्रजी के चरणों में सूरजमल जी के परम इष्ट अंजनी-सुत महावीर जी ने दास भाव में विनयावनत रूप से स्थान पाया।

मन्दिर को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से सबसे पहला काम यह हुआ कि नियमित समय आरती आदि के अतिरिक्त प्रातःकाल और सायंकाल कथा के लिए पंडित नियुक्त किये गये। रामनवमी पर विशेष झांकियां तैयार की जाने लगीं। झूलनोत्सव की झांकी

१ ट्रस्टियों ने बाद में निश्चय किया कि आवश्यकतानुसार इसे डिग्री कालेज बनाया जाए। वर्तमान में यह स्वप्न भी पूरा हो चुका है।

२ इन प्रतिमाओं के प्रति लोक-जगत् में इतनी व्यापक श्रद्धा है कि प्रति-वर्ष इनके १०-१२ हजार चित्र ही वितरित हो जाते हैं।

तो सर्वसम्मति से राम-मन्दिर में ही सब से अधिक शोभनीय बनती है—यह धारणा लोक-समाज में ख्यात् हो गई है। अन्नकूट का उत्सव भी पूरी धूमधाम के साथ मनाना प्रारंभ हो गया। शिवरात्रि के दिन शिवलिंग को विशेष रूप से पुष्पों से समादृत और शोभित किया जाता है। प्रतिदिन जो भक्तगण दर्शन के लिए उपस्थित होते हैं, उन्हें प्रसाद आदि देने की अनुकरणीय व्यवस्था है।

मोहनलाल जो जालान प्रारंभ से ही जानते थे कि सार्वजनिक संस्थाओं अथवा सार्वजनिक मन्दिर का योजना-प्रबन्ध उसी समय नियमित और व्यवस्थित हो पाता है, जब कि हम उसका संरक्षण और उसका निरीक्षण और उसके कार्य-संचालन का दायित्व अपने ऊपर लें। व्यापार का कार्य-भार यद्यपि आपके कंधों पर सबसे अधिक था, लेकिन आपने अपने जीवन का एक संकल्प यह बना लिया कि नियमित रूप से इस मंदिर में देव-दर्शन किये जायें। मुख्य उत्सवों और त्यौहारों पर जो झांकियां प्रस्तुत हों, उनमें सपरिवार भाग लें। प्रति रविवार को प्रातःकाल अधिक से अधिक समय देकर मन्दिर की और अन्य संस्थाओं की अर्थ-व्यवस्था का स्वयं संरक्षण करें।

राम-मन्दिर के अतिरिक्त नियमित समय पर बालिका विद्यालय प्रारंभ कर दिया गया। सायंकाल की कक्षाओं के रूप में साहित्य विद्यालय भी शुरू किया गया। प्रथम तल्ले पर पुस्तकालय और वाचनालय खोल दिये गए। यद्यपि बड़ाबाजार में बड़ाबाजार लाइब्रेरी और कुमार-सभा पुस्तकालय और माहेश्वरी पुस्तकालय और महावीर पुस्तकालय काफी पहले से अपना कार्य कर रहे थे, किन्तु जालान स्मृति-मन्दिर में जिस पुस्तकालय की स्थापना प्रारंभ हुई, तो शीघ्र ही उसने समस्त कलकत्ता के हिन्दी भाषा-भाषी लोगों की दृष्टि केन्द्रित कर ली। मोहनलाल जी में अपेक्षया अधिक उत्साह तो जैसे इसी पुस्तकालय के लिए था। जिन क्षणों में इम्पीरियल लाइब्रेरी में हिन्दी पुस्तकों की दृष्टि से अत्यन्त दयनीय अवस्था बनी हुई थी, उस समय मोहनलाल जी ने यह स्पष्ट आदेश दिया कि हिन्दी साहित्य में जो भी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक छप चुकी है, वह इस पुस्तकालय में लाई जाय। हिन्दी साहित्य का जो भी उपादेय प्रकाशन हिन्दी में ताजा हो रहा है, उसका संग्रह अनिवार्य रूप से इस पुस्तकालय में रहना चाहिये। हिन्दी के जो भी श्रेष्ठ पत्र—मासिक और साप्ताहिक और दैनिक प्रकाशित हो रहे हों, उनमें से अधिकाधिक आयें। साथ ही आपने कलकत्ता में आने वाले हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वानों को कलकत्ता-आगमन के समय निमंत्रित करना शुरू कर दिया। पुस्तकालय के सम्बन्ध में उनके जो समयोपयोगी सुझाव आपको प्राप्त होते थे, उनका सदुपयोग भी आप करने लगे। आपको यह उचित लगा कि इस हिन्दी पुस्तकालय में उत्तम विद्वानों के भाषण होते रहते से पाठकों का अत्यधिक लाभ है। रतनगढ़ में और सलकिया में जो पुस्तकालय थे, उनका महत्व तो स्थान विशेष की दृष्टि से बहुत अधिक था ही, किन्तु कलकत्ता महानगर में उत्तमता की दृष्टि से पुस्तकालय में जो आवश्यकता थी, उस पर भी आपने जोर देना प्रारंभ किया। वाचनालय का हाल आपने इतना अधिक बड़ा बनवाया कि जिसमें एक साथ और एक समय में काफी अधिक पाठक उपस्थित हो सकें और पत्रों का पारायण कर सकें। इतना बड़ा वाचनालय बड़ाबाजार में किसी और पुस्तकालय का नहीं है।

श्री रामकृष्ण जी सरावगी ने इस पुस्तकालय की सेवा अवैतनिक मंत्री के रूप में काफी वर्षों से की है। इसलिए इसकी क्रमिक प्रगति के सम्बन्ध में आप ही एक ऐसे व्यक्त हैं, जो कुछ कहने के अधिकारी हैं। सरावगी जी का सम्बन्ध बड़ाबाजार की अनेक विशिष्ट संस्थाओं से रहा है और आपने बड़ाबाजार के कतिपय अन्य पुस्तकालयों की विकास-वृद्धि में सहयोग दिया है इसलिए जब आप पर जालान स्मृति भवन के पुस्तकालय की व्यवस्था का भार सौंपा गया, उस समय सभी की यही सर्व सम्मत धारणा थी कि इस पुस्तकालय में और भी अपेक्षित प्रगति सुनियोजित हो सकेगी। श्री सरावगी जी ने पुस्तकालय की प्रगति के साथ-साथ मोहनलाल जी के जीवन-दर्शन का जो प्रसंग प्रस्तुत किया है, वह इस स्थल पर उद्धृत करने योग्य है। श्री सरावगी जी ने कहा, "लगभग ८ वर्ष पूर्व श्रद्धेय रामदेव जी चोखानी और राधाकृष्ण जी नेवटिया ने यह प्रेरणा दी थी कि हमें समय रहते सूरजमल जालान स्मृति-भवन में स्थित पुस्तकालय का निरीक्षण-भार भी सम्हालना चाहिये। उस समय तक मैं बड़ाबाजार के दो ऐसे पुस्तकालयों से सम्बन्धित था, जो चार अथवा पांच युगों पहले से स्थापित थे और जिनकी पाठक-संख्या भी काफी संतोषप्रद थी। चोखानी जी के प्रति केवल मेरी ही नहीं, बड़ाबाजार के सभी राजस्थानी भाईयों की श्रद्धा रही है। अपने जातीय गुणों के अनुरूप वे उतने सफल व्यापारी न रहे, जितने कि राजस्थानी संस्कृति के मूल्यों के प्रतिष्पाठक रहे। यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि बड़ाबाजार में पुस्तकालय अथवा विद्यालय अथवा शिल्पशालाओं के प्रारम्भिक स्वप्न देखनेवालों में उनका स्थान शीर्ष रहा है। सूरजमल जी से उनका आत्मीय भाव था और उनकी प्रवृत्तियों में भी वे अपना बल समय-समय पर देते रहते थे। उनका स्मरण आने पर वे उनके हृदय की प्राणवान झलकियाँ दिया करते थे। जब मेरे सामने यह बात आई कि सूरजमल जी के स्मारक-स्वरूप जालान स्मृति मन्दिर में प्रारम्भ किये जा चुके पुस्तकालय की देखरेख करूँ, तो यह स्वाभाविक था कि मन में एक क्षीण जिज्ञासा थी। मैं अपने को पूर्णतया आश्वस्त नहीं कर पा रहा था कि एक व्यक्ति विशेष द्वारा संचालित किसी संस्था में मैं किस प्रकार अपनी रीति-नीतियों को व्यावहारिक रूप दे सकूंगा। निःसंकोच भाव से मैंने यह बात चोखानी जी के सामने तो रखी ही, नेवटिया

जी के सामने भी रखी। नेवटिया जी ने मेरी इस आशंका का मुस्करा कर केवल यही उत्तर दिया कि निजी अथवा सार्वजनिक यह द्वंद्व तुम्हारे जैसे कार्यकर्त्ताओं के मन में नहीं आना चाहिये। तुम्हारा श्रेय तो हम यही चाहते हैं कि तुम इस निजी संस्था को एक रूप दे सको। इन शब्दों के साथ नेवटिया जी ने मानो एक बहुत बड़े कार्य का भार वहन करने के लिए मेरा आह्वान किया था। चोखानी जी ने मेरी आशंका को सुन कर एक दूसरी बात कही। उन्होंने कहा कि सूरजमल जी के अधूरे कार्यों को पूरा करने की जिम्मेदारी केवल उनके पुत्र अथवा भाई-भतीजों पर नहीं है। सूरजमल जी की तरह से वे अवश्य उदारमना और चेता व्यक्ति हैं, किन्तु उत्तम सहयोगियों के अभाव में वे सार्वजनिक कल्याण की योजनाओं में कितनी प्रगति कर सकेंगे, इसकी ही मुझे चिन्ता है। मेरी तरफ से मैं एक बात से तुम्हें अवश्य निश्चित कर सकता हूँ, सूरजमल जी का कार्य करने का और कार्य कराने का तरीका अपने युग के अनुरूप था। तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि उनके सुपुत्र मोहनलाल जी का जो सहयोग देने का तरीका है, वह तुम लोगों के युग के अनुरूप है। मेरे तो मन में यही भावना है कि है कि भगवान मोहनलाल जी जैसा पुत्र सब पिताओं को दें। अब यह तुम पर निर्भर करता है कि तुम कितना मोहनलाल जी की सद्प्रवृत्तियों का अधिक से अधिक सदुपयोग कर सकते हो।

"नेवटिया जी और चोखानी जी की बातें सुनने के बाद स्थिति यही रह गई थी कि मैं पूरी तैयारी के साथ जालान स्मृति पुस्तकालय का पुनर्गठन करने में जुट जाऊँ। संस्था का प्रारंभ अवश्य हो चुका था और जो मंत्री महोदय श्री नारायण जी चोखानी उसका कार्य देखते थे, उन्होंने अपनी सूझबूझ से उसका संचालन भी ठीक ही किया था, किन्तु मेरे सामने तो मूल बात यह थी कि संस्था का संचालन करने के लिए संस्था के साथ अपना नाम नहीं जोड़ना है। मूल काम तो यह है कि हम इस पुस्तकालय को वास्तविक अर्थों में सूरजमल जी के नाम के अनुरूप महत् और गुण-प्रतिनिधि बनाने का यत्न करें। सार्वजनिक क्षेत्र में प्रायः ऐसा होता है कि कुछ संस्थाएँ अवश्य युग-प्रतिनिधि हो जाती हैं, किन्तु कालक्रम में शिथिल होकर वे अपना अस्तित्व समाप्त कर देती हैं। आदरणीय सूरजमल जी पुस्तकालयों एवं वाचनालयों के प्रति कितनी गहरी निष्ठा और दिलचस्पी रखते थे, यह तो उनके जीवन में स्थापित सलकिया में हनुमान पुस्तकालय को देख कर ही विदित हो जाता था। उनका एक विराट् स्वप्न यह था कि देश के बौद्धिक विकास के लिए हमें ऐसे आयोजन अवश्य करने चाहिए, जिनसे कि सैकड़ों वर्षों तक हमारी भावी संतति अपने सत्पथ का ज्ञान सही रखे। इन्हीं सब बातों की धारणा मन में सुनियोजित कर, जालान स्मृति मन्दिर के पुस्तकालय का मंत्री होना स्वीकार कर लिया। यद्यपि यह कार्य अवश्य जालान स्मृति मन्दिर में अन्यतम विभाग के रूप में काम कर रहा था और पश्चिम बंगाल में पूरी लगन के साथ हिन्दी के प्रचार-प्रसार में तन्मय भाव से संलग्न था। जितना स्थान इसे प्रदान किया गया था, उसको देखते हुए और उसमें सुनियोजित उत्तम प्रबन्ध-व्यवस्था का अनुभव करते हुए प्रायः सभी इस बात पर एकमत थे कि पूर्वी भारत के पुस्तकालयों में यही पुस्तकालय ऐसा है कि जिसको हिन्दी की शालीनता और उसके वैभव के अनुरूप आधुनिक कहा जा सकता है।

"पुस्तकालय का भार वहन करने के क्षणों में जब श्री मोहनलाल जी से साक्षात्कार हुआ और पुस्तकालय के विकास के लिए हमने विचार-विमर्श करना प्रारम्भ किया तो मैं सचमुच एक आनन्द से भर गया। मुझे ऐसा लगा कि वे पुस्तकालय की कार्य-व्यवस्था का संरक्षण करने के लिए जब प्रति रविवार को सुबह ९ बजे राम-मन्दिर में नियमित रूप से उपस्थित होते हैं, तो उस समय उनमें 'सेठ-भाव' यत्किंचित् भी नहीं रहता। वे उस समय हम कार्यकर्त्ताओं के बीच में एक सौम्य कार्यकर्त्ता की भावनाओं के अनुरूप इस प्रकार उठते-बैठते हैं कि मानो हम सब एक ही उत्तम योजना का गुरुत्तर दायित्व वहन करने वाले परिवारजन हैं। अनेक अवसरों पर मत-भिन्नता की बात सामने आई, किन्तु ऐसे क्षणों में मोहनलाल जी का विनोद देखते ही बनता है। मैं तो इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि विगत १० वर्षों से इस पुस्तकालय को न केवल कलकत्ता का, बल्कि पूर्वी भारत के श्रेष्ठ पुस्तकालयों में अग्रणी बनाने का जो कठिन काम हम सबने मिलकर आगे बढ़ाया है, उसकी बुनियाद में मोहनलाल जी का सामंजस्य और उनकी उत्तम सात्विक भावनायें एवं उनका प्रेरणास्पद विनोद ही सबसे अधिक सक्रिय रहा है। यह हम सबके लिए हर्ष का विषय है कि आज इसकी गणना प्रदेश में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथागार के रूप में की जाती है। मुद्रित ग्रंथों के विशाल संग्रह के अतिरिक्त राजस्थानी एवं संस्कृत के कई हजार हस्तलिखित ग्रंथ भी यहाँ संग्रहित हैं, जिनमें कई तो ६००-७०० वर्ष पुराने एवं अत्यन्त दुर्लभ हैं, इसलिए साधारण पाठक के साथ-साथ अनेक शोध-विद्यार्थी देश के विभिन्न भागों से आकर लाभान्वित होते हैं। आज पुस्तकालय की सदस्य-संख्या २८०० से ऊपर हो चली है और लगभग ७५००० पाठक प्रतिवर्ष वाचनालय का उपयोग करते हैं।"

सरावगी जी ने बहुत कुछ कहा, लेकिन विनीत संकोच में बहुत कुछ कहने से बाकी छोड़ दिया। इस पुस्तकालय के बारे में यह कहना जरूरी लगता है कि पश्चिम बंगाल में हिन्दी भाषा-भाषियों की प्रतिष्ठा के अनुरूप इस पुस्तकालय ने एक आदर्श स्थापित किया है। समय-समय पर आगत विद्वानों के भाषण होते रहने से बड़ाबाजार की जनता हिन्दी के अनेकानेक महोत्सवों का आनन्द ग्रहण करती रहती है। इसके प्रबन्ध में श्री बद्रीनाथ पांडेय, पुस्तकाध्यक्ष, की कार्य-क्षमता से पाठकों को बहुत सुख मिलता है।

जालान बालिका विद्यालय का समुद्भाव

[२]

स्वामी गणेशदत्त जी ने एक बार लाहौर में किसी बालिका विद्यालय में भाषण करते हुए कहा था कि जब तक नगर-विकास के साथ हम एक बालिका विद्यालय भी हर नये बसनेवाले मुहल्ले में स्थापित नहीं कर देते, हमारा नगर-विकास का प्रयोग और किसी नये नगर के महान होनेका गौरव खोखला ही रहेगा। जिन क्षणों में मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट और सेंट्रल ऐवेन्यू के मोड़ पर जालान-स्मृति भवन में बालिका विद्यालय स्थापित किया गया, उस समय इस अंचल में मानो मातृजाति का सौभाग्य एक विशेष स्मिति को प्राप्त हुआ। उस समय तक इस विशेष भाग में एक भी कन्या पाठशाला अथवा विद्यालय न था। यह भी सत्य है कि इसी अंचल में मध्यवर्ग के परिवार बहुत अधिक बसने लग गये थे और उनकी कन्याएँ घर से निकल कर प्राथमिक अक्षर-ज्ञान एवं ज्ञान-बोध कर सकें, ऐसी सुविधा न थी। यह हमारे सामाजिक दौर्बल्य का एक रोगाक्रान्त पक्ष है कि हमारी कन्याएँ निकटवर्ती किसी पाठशाला में तो विद्याग्रहण के निमित्त जाने की अनुमति पा सकती हैं, लेकिन किसी दूरस्थ अंचल में पैदल जाने की जोखिम उठाने के लिए सुविधाएँ नहीं पा सकतीं। जालान स्मृति-भवन की पाठशाला ने इस अभाव की बहुत बड़ी पूर्ति कर दी।

प्रारम्भ में यह प्राइमरी पाठशाला रही। बाद में इसे मिडिल स्कूल किया गया। इस समय इसकी विदूषी प्रधान अध्यापिका कृष्णादुलारी जी सूद बहनजी हैं। आपने अपने १२ वर्ष के अनुभवों की सूक्ष्म समीक्षा करते हुए इस विद्यालय के विकासक्रम पर रोचक प्रकाश डालते हुए बताया, "जिस समय हम इस विद्यालय में आई, उस समय यहाँ की उपस्थिति मात्र २५१ थी। यह अवश्य था कि कलकत्ता में इस समय तक कन्या-शिक्षा के प्रति विशेष वातावरण न था, विशेष सुविधाएँ न थीं कि कन्याएँ सुरक्षित अवस्था में बिना किसी संरक्षण के घर से बाहर निकल सकें। जो परिवार इस अंचल में आकर बस रहे थे, उनमें अधिकांश ऐसे ही थे, जिनके मनमें अपनी कन्याओं को शिक्षित करने का विशेष उत्साह भी न था। सबसे बड़ी बात यह थी कि उस समय तक इस विद्यालय में जो शिक्षक थे, वे अधिकांश में पुरुष थे और बहनें इस क्षेत्र में पदार्पण करें, ऐसी बात सामने न आ रही थी। तब सवाल यह था कि जो संभ्रान्त परिवार थे, वे अपनी कन्याएँ विद्यालय में भेजें तो किस आकर्षण से प्रेरित होकर भेजें।

"ऐसी स्थिति में इसी वर्ष हमारी अग्रज बहन श्रीमती इन्द्रावती सिंह जी ने इस विद्यालय के प्रधान अध्यापिका-पद का भार स्वीकार किया। मैं निःसंकोच कह सकती हूँ कि उसी समय से इस विद्यालय का वह द्वितीय अध्याय प्रारंभ हुआ, जिसे कि हम उच्चस्तरीय शिक्षा का अभ्युदय कह सकते हैं। प्रारम्भ से ही हम ने अपनी उन्नति और स्कूल की उन्नति को एक ही माना और उनमें कोई विभेद अनुभव न होने दिया। हम इसी प्रयास में सब जुट गयीं कि यह विद्यालय प्रथम श्रेणी के विद्यालय में अपना स्थान ग्रहण करे। इसीके भविष्य में हम सबने अपना भविष्य मिला दिया। और आज हम परम संतुष्ट हैं कि हमारे प्रयास अकारथ नहीं गये। हम सब की जो प्रतिष्ठा है, वह वास्तव में इसी संस्था की प्रतिष्ठा है।

"इस संदर्भ में जब भी हम पिछले इतिहास पर अपनी दृष्टि डालती हैं तो सबसे बड़ा तथ्य हाथ यही लगता है कि हमारी संगठित प्रगति में इस संस्था के संचालक माननीय मोहनलाल जी जालान का उदार हृदय से दिया हुआ सहयोग ही प्रधान कारण रहा है। भगवान ने मानों उन्हें बालिकाओं की शिक्षा के लिए ही उत्तम हृदय दिया है। यों संस्थाएँ वे कई चलाते हैं, लेकिन सच बात यह है कि कन्याओं की शिक्षा के प्रति उनके हृदय में सबसे ज्यादा स्थान है। इसलिए जब भी हमने नये प्रस्ताव या सुझाव सामने रखे, उनके व्ययसाध्य होने पर भी आपने सदैव उनके प्रति अनुराग रखा, महत्व दिखाया, संस्था की प्रगति के प्रति इस तरह उत्साहित रहे मानो वह उनकी व्यक्तिगत समुन्नति हो और हम सबको इस तरह प्रोत्साहित करते रहे कि जैसे यह हमारे मिले-जुले परिवार की निजी जिम्मेदारी हो! विशेष बात कई अवसरों पर उनके मुख से यही निकलती है कि चाहे सभी कन्याओं को हम विद्यालय में आने के बाद पढ़ाई के दो शब्द कम पढ़ायें, लेकिन उन्हें नैतिक शिक्षा अधिक से अधिक दें। हम सबने इसका अनुगमन किया और इसका सुफल भी हमें देखने को मिला। हमारी कन्याओं में इस आधार पर परिलक्षित जागरण हृदय में गर्व भरता है। सड़क पर जब हमारी कन्याएँ आती या जाती हैं, तो स्वभावतः अलग नजर आ जाता है कि ये जालान बालिका विद्यालय की कन्याएँ हैं। उनका शील, विनय, उत्तम स्वभाव, सदाचार और शिक्षा के प्रति अनुराग अनुभव करने की चीज हो गयी है। जालान जी को, यही कारण है, अपनी इस संस्था से बहुत स्नेह है। इसकी निरन्तर प्रगति से वे बहुत प्रसन्न रहते हैं। इस विद्यालय के सामूहिक उद्भव-विकास में एक प्रकार से जालान जी का वरद् हस्त प्रतीत किया जा सकता है। यह हमारे लिए गर्व की बात है कि विगत १२ वर्षों में इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी है कि अब इसमें

श्री जालान-स्मृति भवन, कलकत्ता

महानगरी कलकत्ता के बड़ा-बाजार अंचल में श्री सूरजमलजी जालान का यह सजीव स्मारक सार्वजनिक जीवन में सबसे अधिक लोकप्रिय है और अमर संस्थाओं में से एक है।

२००० कन्याएँ विद्या-लाभ कर रही हैं। केवल पांचवीं कक्षा से लेकर कालेज-स्तर तक लगभग १३०० कन्याएँ हैं!"

श्रीमती इन्द्रावती सिंह जी एम० ए० कलकत्ता में स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रमुख स्थान की अधिकारिणी मान्य हो चुकी हैं। व्यक्तित्व आपका बालिका विद्यालय के व्यक्तित्व में परागकणों की मधुरिमा की तरह से निमज्जित हो चुका है। अत्यन्त साधु स्वभाव, अत्यन्त विनीत, अत्यन्त कृश काया, उसी प्रकार अत्यन्त कृश तीक्ष्णता बुद्धि की, पर उसी अनुपात में छात्राओं के उज्ज्वल भविष्य को साभार उठाने के लिए अद्भुत शक्ति भगवान ने आपको दी है। जब आपने अपने विगत १२ वर्षों के जीवन पर दृष्टिपात किया तो हमें यह सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ कि आपने भी आदरास्पद भावनाओं के साथ मोहनलाल जी जालान के प्रति एक ऐसी बात कही, जिसने जालान जी के जीवन-दर्शन को विद्युत वेग से प्रकाशित कर दिया। इन्द्रावती जी ने कहा, "जीवन के १२ वर्ष एक संस्था के निर्माण में इस तरह खप गये कि मानो अपनी ही गोदी की एक कन्या का पालन मैंने किया है, और अब वह बहुत ज्येष्ठ आयु की सौभाग्यवती सुलक्षणा हो गई हो! जालान बालिका विद्यालय आज तो गर्ल्स कालेज है, पर जब मैं यहाँ आई थी, उस समय यह न तो मान्यता-प्राप्त संस्था थी, न ही इसकी परीक्षाओं को कोई महत्व प्राप्त था। निजी संस्था थी, निजी प्रणाली से इसका संचालन था। जब मैं ने इसके अधिकार-सूत्र संभाले, उस समय पहला नैतिक बल मुझे जालान जी से मिला, जिन्होंने यह शुद्ध हृदय से अनुभव किया कि इस संस्था के विकास में ही इसका उज्ज्वल भविष्य अपना शुभ दर्शन दे सकेगा। हमने जो भी दोष थे, उन्हें दूर करने में अपनी शक्तियाँ लगाईं, इसकी उपस्थिति-संख्या को बढ़ाने में एक प्रिय वातावरण तैयार किया, इसके परीक्षा-फल अन्य संस्थाओं के संतुलन में अपनी कहानी स्वयं कहने लगें, यह कसौटी हमने अपने लिए स्वीकार कर ली। पढ़ाई का स्तर बराबर वर्द्धमान रखा। परिणाम यह हुआ कि सन् १९५४ में, दो वर्ष बाद ही इसकी उपस्थिति-संख्या ७५० हो गई। कहाँ तो यह प्राइमरी पाठशाला थी, कहाँ हमने सारी शक्ति लगा दी कि यह हाईस्कूल हुआ और सन् १९५७ में इसे आई० ए० की परीक्षाओं के लेने का अधिकार प्राप्त हुआ, यह फर्स्ट ग्रेड डिग्री कालेज बन गया। सन् १९६१ से इसमें त्रय वार्षिक डिग्री कोर्स रखा गया। बी० ए० का परीक्षा फल तो इतना श्रेष्ठ आने लगा कि शत प्रतिशत कहा जा सकता है। हिन्दी में ओनर्स हुआ और यह गर्व हम क्यों न करें कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में जो कन्या[1] सन् १९६३ में हिन्दी के एम० ए० में सर्वप्रथम आई, वह हमारी ही संस्था की छात्रा थी। यह रिकार्ड यहाँ पर उल्लेखनीय है कि १४ वर्षों के बाद ओनर्स हिन्दी में इस छात्रा ने शीर्ष स्थान ग्रहण किया है। लेकिन यह बात तो लौकिक दृष्टि से हमने कही। आन्तरिक व्यवस्था की दृष्टि से यह संतोष भी हमें है कि हमने अपने यहाँ स्त्री-शिक्षा के सभी पहलुओं पर काफी जोर दिया है। सिलाई, खेलकूद, पिकनिक पर बाहर ले जाना[2], नैतिक रूप से सबल करना, गृह-कौशल में दक्ष बनाना और समाज में यदि पदार्पण का अवसर हाथ लगे तो नेतृत्व का संचालन किस योग्यता से किया जाए, इस पर भी बल देना—इस तरह भावी माताओं के व्यक्तित्व का निर्माण यहाँ पर सतत भाव से होता है। और यह सब इस लिए होता है, क्योंकि हमारे सभी महत् कामों में मोहनलाल जी जालान का भाग्य-निर्णायक हाथ सहायक रूप में विद्यमान रहता है। यह कहना कि वे केवल एक संस्था-संचालक हैं, उनके प्रति हमारी अभिव्यक्ति को बहुत अधिक सुस्पष्ट नहीं करेगा। यह कहना अधिक श्रेयस्कर रहेगा कि उनका श्रेय और प्रेय इस संस्था में हम सभी अधिकारियों को निरंतर उत्साहित रखता है।"

केवल गर्ल्स कालेज ही इस जालान-स्मृति-भवन में नहीं है, अन्य शिक्षण-संस्थाओं का अस्तित्व भी कलकत्ता में निरन्तर अपना ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है। श्री कस्तूरचन्द भंसाली जी इन सभी शिक्षा-संस्थाओं के अवैतनिक मंत्री हैं[3]। मधुरवाणी के धनी, संस्थाओं में अपना प्राण खपाये हुए, संस्थाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं के कल्याण की कामना में दत्तचित्त भंसाली जी से मोहनलाल जी जालान के जीवन-दर्शन पर कुछ अधिक प्रकाश डालने को कहा, तो आप संकोच में पड़ गये। फिर भी आपने कहा, "मेरे लिए कहने की गुंजाइश कहीं मुझे मिले तो कुछ कहा जाए, स्थिति यह है कि हम जो कदम आगे बढ़ाते हैं, उसकी भूमि तो हमें जालान जी से ही प्राप्त होती है। कहने को जालान स्मृति-भवन में चलनेवाली शिक्षण-संस्थाएँ निजी व्यक्ति के अधिकार की चीजें हैं,

---

१ इसका नाम अरुणा कपूर है और इसने बी० ए० इसी विद्यालय से किया था। दूसरा तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि वेस्ट बंगाल बोर्ड आफ सेकंड्री एक्ज़ामिनेशन के होम साइंस ग्रुप में भी इसी विद्यालय की छात्रा सन् १९६३ में सुधा अग्रवाल प्रथम और द्वितीय सुशीला फतहपुरिया आई थीं।

२ अभी इस बालिका-विद्यालय की कन्याएँ काश्मीर-यात्रा पर गई थीं। जब कन्याएँ गाड़ी में जाकर स्यालदह स्टेशन पर बैठीं तो देखा कि वहाँ मोहनलाल जी जालान पहुँच गये हैं। उन्होंने सभी कन्याओं को यात्रा में किस तरह का जीवन व्यतीत करना है, इसके उपदेश दिये और सकुशल यात्रा समाप्त हो, इसकी शुभ कामना प्रकट की। इस यात्रा में ये कन्याएँ डा० राधाकृष्णन, राष्ट्रपति, से भी मिलने गईं। उन्हें जब यह मालूम हुआ कि ये कन्याएँ जालान बालिका विद्यालय की हैं तो स्मरण करते हुए उन्होंने कहा कि मैं जालानों से भली प्रकार परिचित हूँ।

३ प्रारम्भ में इस शिक्षण-संस्था के अवैतनिक मन्त्री श्री [illegible] जी चोखानी रहे, जिन्होंने अथक परिश्रम से इसका कार्य [illegible] संयोजित किया। उनके बाद श्री [illegible] जी [illegible] ने यह भार सम्हाला। आपके कार्य-काल में भी संस्था ने काफी उन्नति की। कुछ समय तक श्री देवीदत्तजी [illegible] ने भी यह दायित्व ग्रहण किया था।

पर वास्तव में स्थिति यह है कि सार्वजनिक हित में जालान जी ने अपना समस्त उत्फुल्ल भाव नियोजित कर दिया है। व्यापक कल्याण जिस सुझाव में वे देखते हैं, उसके मानो वशीभूत हो जाते हैं। और क्यों न हो, यह शस्य श्यामला भारत वसुंधरा ऐसी महान विभूतियों की प्रसविनी रही है, जिन्होंने इस धराधाम पर उत्तीर्ण होकर अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा लौकिक-पारलौकिक साधना करते हुए 'बहुजन हिताय सर्वजन हिताय' की ऋषि-वाणी से प्रेरित होकर अपना जीवन धन्य बनाया है। सूरजमल जी जालान यदि शिक्षण-संस्थाओं के, हिन्दी क्षेत्र में, अनोखे स्वप्न-द्रष्टा रहे तो उनके पुत्र मोहनलाल जी ने दो कदम आगे बढ़ कर तमसोमा ज्योतिर्गमय का मंत्र ही व्यवहार में प्रबल वेग से प्रस्तुत किया है। जालान स्मृति-भवन—यह किसी एक व्यक्ति की कीर्ति न होकर आज इस जालान-वंश की जीवन्त निष्ठा बन गयी है। इसमें निम्नलिखित संस्थाएँ बराबर सक्रिय बनी हुई हैं :

(१) श्री राम-मंदिर (२) गर्ल्स कालेज, (३) उच्चतर माध्यमिक बहुद्देशीय बालिका विद्यालय, (४) हिन्दी साहित्य विद्यालय, (५) संगीत विद्यालय, (६) महाजनी विद्यालय, (७) औषधालय। (८) पुस्तकालय, और (९) वैवाहिक कार्यों में सार्वजनिक सहायक भंडार रूप में वस्तु-भंडार है।

"जिन क्षणों में हमने इन संस्थाओं के व्यवस्था-प्रबंध का भार सम्हाला, उस समय तक बालिका विद्यालय में एम० ए० टीचर केवल एक-दो ही थीं। हमारा यह निश्चय था कि उच्च शिक्षा में छात्राओं को पारंगत करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षिकाएँ भी उच्च शिक्षा में पटु हों, इसलिए शिक्षा-विज्ञान में पटु शिक्षिकाओं की संख्या में वृद्धि की गयी। यद्यपि कालक्रम में फीस में वृद्धि हुई, लेकिन मध्यवर्गीय कन्याओं की सेवा की दृष्टि से जो संख्या निःशुल्क छात्राओं की १० प्रतिशत निर्धारित की जा चुकी थी, उसमें कोई अन्तर नहीं आने दिया गया।

"बी० ए० ओनर्स की दृष्टि से कालेज और उच्च स्तरीय माध्यमिक शिक्षा की दृष्टि से बालिका विद्यालय इस तरह दो विभाग हैं। बालिका विद्यालय में वृद्धिशील छात्रा-संख्या के कारण प्रातः और सायं दो शाखायें चलाई जा रही हैं[1]।"

रतनगढ़ की संस्थाओं का विकास-क्रम

[३]

मोहनलाल जी के ऊपर एक दायित्व पितृ-ऋण के भार के तुल्य यह विशेष रूप से आ गया था कि सूरजमल जी के जीवन-काल में उनके ही हाथों जो संस्थाएँ दृढ़ आधार-भित्तियों पर खड़ी हो गयी थीं, उनका विकास-क्रम अपने हाथों व्यवस्थित करते रहें। इसलिए आप ने वर्ष में एक बार नियमित रूप से रतनगढ़ जाने का कार्यक्रम बना लिया। कलकत्ता में रहते हुए आप बराबर वहाँ से रिपोर्ट मँगाते और नियमित रूप से कार्य-व्यवस्था का नियंत्रण करते हैं। एक संक्षिप्त सिंहावलोकन करें, तो परिचय मिलेगा कि प्रायः सभी संस्थाओं के उद्भव-विकास में आप ने किस उत्साह के साथ पितृ-स्वप्न की कीर्तिलता को सिंचन-पोषण देते हुए, उन्हें नई दिशाएँ दी हैं।

सन् १९१९ में जिस हनुमान बालिका विद्यालय की स्थापना हुई थी, कालक्रम में वह मिडिल स्कूल बना, अब हाई स्कूल है। अब इसकी अपनी आधुनिक विशाल बिल्डिंग है। यह राजस्थान विश्वविद्यालय से मान्यता-प्राप्त उत्तम परीक्षा-फल के लिए ख्याति अर्जित कर चुका है। इस बालिका विद्यालय के प्रारंभिक प्रधान अध्यापक श्री पूर्णानन्द जी शर्मा शास्त्री थे। इस समय इसकी प्रधान अध्यापिका श्रीमती कीर्तिदेवी अग्रवाल हैं, आप एम० ए० हैं। आपके कार्यकाल में यहाँ अनेक नये सुधार हुए हैं। इस समय ६५० कन्याएँ पढ़ती हैं। इसकी शाखाओं के रूप में तीन दरवाजों पर तीन प्राइमरी पाठशालाएँ भी कार्य कर रही हैं।

श्री हनुमान पुस्तकालय की निरंतर प्रगति पुस्तक-वृद्धि की दृष्टि से हो रही है। देश में प्रकाशित प्रायः सभी अभिनव महत्वपूर्ण प्रकाशन इस ग्रंथागार में नियमित रूप से मँगाये जाते हैं। ओसवाल समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्री सूरजमल जी वैद्य ने बताया कि प्रारंभ से लेकर आजतक इस पुस्तकालय में एक विशेष बात यह रही कि यह पुस्तकालय अपने अंचल की आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा है। प्रारम्भ में वैद्य जी ने भी इस पुस्तकालय की सेवा की थी और आपके कार्यकाल में ही यहाँ पर, सूरजमल जी की स्वीकृति के उपरान्त, जैनधर्म की काफी पुस्तकें इस दृष्टि से मंगवाई गई थीं, क्योंकि कि रतनगढ़ एवं निकटवर्ती अंचलों में संतोषप्रद संख्या में ओसवाल परिवार निवास करते हैं। बजरंग लाल जी

---

१ यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इस शिक्षण-संस्था में फीस इतनी कम है कि वह महानगर की अन्य शिक्षण-संस्थाओं में ली जाने वाली फीस के अनुपात में बहुत अल्प है।

लोहिया जब तक कलकत्ता में जीवित रहे, इस पुस्तकालय के लिए दुर्लभ पुस्तकें देने का सहयोग देते रहे। इस समय इस पुस्तकालय में १६००० पुस्तकें संगृहीत हो चुकी हैं। अब इस पुस्तकालय से वाचनालय हटा दिया गया है, क्योंकि यहाँ पर कार्याधिक्य के कारण स्थानाभाव हो गया था। वाचनालय को श्री हरदेवदास घटिका-स्तूप (क्लाक-टावर) बनाने के बाद से उसी के एक कक्ष में स्थान दिया गया है। एक प्रकार से अब उसका और उत्तम प्रबन्ध सम्भव हो गया है और वहाँ पर अधिक पाठकों के बैठने की व्यवस्था कर दी गयी है।

व्यायामशाला का इस समय अपना निजी भवन है। पहले यह नागरमल जी बाजोरिया के निजी नोहरे में था। श्री रामचन्द्र पार्क के पार्श्व में इसका भवन बन जाने से स्वास्थ्यप्रद स्थान में आकर इस संस्था का नया अध्याय शुरू हुआ है। सुबह तो व्यायामादि होते हैं, सायंकाल वालीबाल आदि स्पोर्ट्स होते हैं।

आयुर्वेदिक कालेज में भी अनेक नवीन परिवर्तन हुए हैं। पहले इसका पाठ्यक्रम पुरानी पद्धति से चलता था और जयपुर राज्य के आयुर्वेद-विभाग की परीक्षा होती थी। अब राजस्थान सरकार के नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा दी जाती है। निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ की परीक्षाएँ पूर्व की तरह अब भी होती हैं। पहले छात्र इसी विद्यालय के ऊपरी कक्ष में निवास करते थे, अब उनके लिए एक आरामप्रद स्वतंत्र छात्रावास सन् १९६१ से बन गया है, जहाँ पर उनके खेलकूद के लिए विशाल प्रांगण भी विद्यमान है। इस समय छात्रों को प्रायोगिक शिक्षा की दृष्टि से एक प्रवेशित विभाग (इंडोर) भी कालेज में व्यवस्थित किया गया है, जहाँ पर रोगियों की ३० शैयाएँ हैं और भरती होनेवाले रोगियों पर छात्र भी दैनंदिन चिकित्सा का अनुभव करते हैं। पाठ्यक्रम के अनुसार शव-परीक्षा और उनकी चीर-फाड़ का भी इंतजाम रखा गया है। लेबोरेटरी भी निर्धारित है।

इसी कालेज से सम्बन्धित, रसायनशाला में अनेक नवीन अध्यायों की सृष्टि हुई है। निर्माण-पद्धति में जहाँ आवश्यक परिवर्तन स्वीकार किये गये हैं, वहीं पर उत्तम अनुभूत औषधों के प्रयोग-परीक्षण में विशेष प्रणाली स्वीकार की गयी है। औषधालय में एक नया निदान-कक्ष तैयार करवाया गया है, जिससे आगत रोगियों को और अधिक सुविधा हो गयी है।

उपदेश-भवन का लाभ रतनगढ़ के परिवारों में नियमित बना हुआ है। उत्तम विद्वानों के यहाँ पर धार्मिक प्रवचन कराये जाते हैं। एक प्रकार से यह दैनंदिन ज्ञानदान की संस्था मान्य हुई है। विशेष लाभ यह है कि प्रौढ़ पारिवारिक महिलाओं का हित इस संस्था से कुछ अधिक हुआ है।

वस्तु-भंडार का लाभ रतनगढ़-निवासियों को निरंतर मिल रहा है। यहाँ पर रखे गये बर्तनों में आवश्यकतानुसार वृद्धि होती रहती है और नवीन जीवन-पद्धति के अनुरूप नये बर्तनों की पूर्ति भी की जाती रहती है। अब इसके निजी भवन में और भी सुधार करवाकर उसे और भी शोभनीय बना दिया गया है, इसीमें रतनगढ़ चैरिटी ट्रस्ट का कार्यालय है।

ग्राम्य-पाठशालाओं के इतिहास में एक अभिनव परिच्छेद जुड़ गया है। जब से देश स्वाधीन हुआ है और राजस्थान में ग्राम-पंचायतों ने ग्राम-निर्माण का भार अपने कंधों पर लेना प्रारम्भ कर दिया है, उसके बाद से अनेक पाठशालाओं को ग्राम-पंचायतों ने अपने अधिकार में कर लिया है। राष्ट्रीयकरण के इस युग में यह उत्तम था कि इन पाठशालाओं को उनके संरक्षण में दे दिया जाए। फिर भी १४-१५ पाठशालाएँ अभी भी संचालित हो रही हैं। पहले अवस्था यह थी कि छात्रों को ढूँढ़ना पड़ता था, बुलाना पड़ता था, अब छात्रों में नवीन जागृति आई है, उनकी संख्या में आशातीत वृद्धि हुई है। उसी अनुपात में अध्यापकों की संख्या में वृद्धि कर दी गयी है।

महाराज गंगासिंह जी के समय यहाँ पर आधुनिक अस्पताल बन चुका था, उनके बाद उनके उत्तराधिकारी श्री शार्दूल सिंह जी के राज्याभिषेक के समय में जब वे रतनगढ़ पधारे तो उनके उस आगमन के उपलक्ष्य में रतनगढ़ के आधुनिकीकरण का सबसे महत्व-पूर्ण अध्याय प्रारम्भ कर दिया गया, उस समय बीकानेर के मुख्य मन्त्री श्री के० एम० पन्निकर ने भी बहुत सहयोग दिया। उस समय तक रतनगढ़ में पक्की सड़कें नहीं थीं। राजगद्दी के उपरान्त जब वे पहली बार रतनगढ़ पधारे, तो उनके स्वागतार्थ प्रारम्भिक सड़कें नगर के बीच तक पक्की करवाई गई। अब तो इन सड़कों का विस्तार नगर के बाहरी हिस्से में पूर्ण कर दिया गया है। यह सारा कार्य मोहनलाल जी की देखरेख में संपन्न हुआ है। ये सड़कें पांच बाजारों में हैं और हनुमान पार्क तक हैं। रेलवे-स्टेशन से लेकर घंटाघर तक सूरजमल जालान रोड, घंटाघर से हनुमान पार्क तक बंशीधर जालान रोड, चौक से उत्तर-पूर्व की तरफ ऋषिकुल के मकान तक बैजनाथ जालान रोड, चौक से लेकर उत्तर में रामचन्द्र पार्क तक व सरकारी तहसील से ओसवाल बाजार तक नागरमल बाजोरिया रोड और हनुमान पुस्तकालय से जालान हाऊस के सामने तक जालान स्ट्रीट नाम दिया गया है। बीकानेर के इंजीनियर श्री मैकेंजी ने तो सक्रिय योजना में हाथ बँटाया था।

श्री हनुमान पार्क की नींव अपनी निजी परिकल्पना के अनुसार सूरजमल जी अपने हाथों से डाल गये थे। लेकिन इसका वास्तविक निर्माण सन् १९४० में जाकर पूर्ण हुआ। निःसंकोच कहा जा सकता है कि निकटवर्ती नगरों में यह पार्क एक आदर्श कला से सज्जित है। इसमें सार्वजनिक स्नान-सरोवर (हनुमान सरोवर) है—जिसके ि

है। इसकी विशालता बरबस चित्त को मोह लेती है और सिद्ध करती है कि जहाँ आज से ३० साल पहले रेतों के टीबे थे, वहाँ पर तपस्वी वृत्तिशील मनुजों ने किस तरह लहलहाता पुष्प-उद्यान खड़ा कर दिया है। ग्रीष्मकाल में तो यह रतनगढ़-निवासियों का विहार-केन्द्र बन जाता है। इसका उद्घाटन श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार के हाथों हुआ था।

सेठ सूरजमल जालान अस्पताल भी सन् १९४० में बन कर तैयार हो गया था। उत्तम और चिकित्सा-सिद्ध डाक्टरों की देखरेख में इस अस्पताल ने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की है कि अन्य ग्रामों तक के रोगी यहाँ पर उपस्थित होते हैं। रोगियों के लिए यह वरदान है। पहले केवल ४० शैयाएँ ही प्रवेशित विभाग में थीं, अब २० शैयाओं की और वृद्धि कर दी गयी है। पहले केवल ४ ही काटेज वार्ड थे। अब और दो बढ़ा दिये गये हैं। पहले मुख्य कक्ष केवल एक ही तल्ला था, मोहनलाल जी ने इस पर दूसरे तल्ले का निर्माण करवाकर इसकी कार्य-क्षमता में नवीन प्रसार उपस्थित कर दिया है।

मोहनलाल जी ने अपनी माता जी रमादेवी की स्मृति में जिस शिवालय का निर्माण करवाया है, वह रतनगढ़ का परम रमणीक स्थान बन गया है। रमादेवी जी का स्वर्गवास रतनगढ़ में ही हुआ था। जहाँ पर उनका अग्नि-संस्कार पूर्ण हुआ, उस स्थान को आपने उनकी स्मृति में सुरक्षित कर रखा था। सन् १९४९ में उस स्थान पर बहुत अधिक धन व्यय करने के बाद, वहाँ के रेतीले टीबों को हटवा कर और विशाल गड्ढों को पाट करवा कर वहाँ स्मृति में रमादेवी शिवालय का निर्माण करवाया है और उसके चारों ओर एक विस्तीर्ण उद्यान की स्थापना प्रशस्त की है। हनुमान पार्क के ठीक बाएँ पार्श्व में इस तरह प्रकृति-स्थली की रचना करवाकर नगर की शोभा में चार चांद लगाये गये हैं।

इस निर्माण के तीन वर्ष उपरान्त मोहनलाल जी ने स्टेशन से आनेवाली सड़क जहाँ पर मोड़ खाती हुई, नगर में प्रवेश करती है, वहाँ पर शोभनीय अशोक-स्तंभ की स्थापना करवाई। अशोक-स्तंभ भारत की प्रिय संस्कृति का प्रतीक बना है। वह शासकीय चिह्न रूप में समादृत भी हुआ है। इस तरह रतनगढ़ में प्रवेश करने पर यह राष्ट्रीय प्रतीक स्तंभ आपका स्वागत् करता है। सन् १९५२ में इसका निर्माण पूरा हो गया था। यह पूरा संगमरमर का बना हुआ है।

मोहनलाल जी के हाथों तीन नये काम और हुए हैं। (१) श्री सेठ हरदेवदास जालान घटिका स्तूप, जो सन् १९६१ में पूर्ण हुआ। (२) श्री हनुमान आयुर्वेद आरोग्यशाला, यह भी सन् १९६१ में पूर्ण हुई। इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। (३) श्री रमाज्ञान-भवन, जिसका निर्माण भी सन् १९६१ में ही पूरा कर दिया गया। घटिका-स्तूप आधुनिक नगर की प्रथम आवश्यकता हुआ करता है। नगर के बीचों-बीच में संगमरमर का यह विशाल टावर भारतीय शैली की स्थापत्यकला का दर्शनीय नमूना है। यह विशेषता है कि इसके आधार-कक्ष में वाचनालय स्थापित कर देने से इसके नागरिक महत्व का मूल्य बढ़ा है। रमाज्ञान-भवन उस भवन का नाम है जो रघुनाथ विद्यालय के बहुद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के बन जाने के उपरान्त, उसे नये भवन में स्थानांतरित करने के समय दिया गया था। भवन का बाहरी स्वरूप गर्व-योग्य है। अब इसमें इतना स्थान पर्याप्त हो गया है कि समय के प्रगति-प्रवाह में जब भी यह शिक्षण-संस्था कालेज बनेगी तो उसकी आवश्यकता-पूर्ति भी इसी भवन में सहज सुविधा के साथ हो जायेगी। यह भवन भी सन् १९६१ में पूर्ण हुआ।

यहाँ पर श्री हनुमान सागर-कूप की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी। यह निर्माण भी मोहनलाल जी ने अपनी स्वर्गीय माताजी की स्मृति में बनवाया है, जिसका निर्माण-कार्य सन् १९३१ में पूर्ण हो गया था, लेकिन जिसका विस्तार-कार्य आगे के वर्षों में बराबर बढ़ता रहा है। इसी कूप से हनुमान पार्क और रमादेवी शिवालय व आरोग्यशाला आदि संस्थाओं में जल पहुँचाया जाता है। इसके पास में जो मुहल्ले हैं, उनको भी इसी कूप से जल मिलता है।

इस प्रसंग में, उपसंहार-रूप, एक निर्माण की चर्चा और प्रिय लगती है—वह है हनुमानपार्क में श्री सूर्य-सदन की स्थापना, जिसका कार्य सन् १९५६ में संपूर्ण हुआ। आधुनिक शैली की कोठी के रूप में यह उत्तम स्थान है और हनुमान-पार्क के ठीक एक कोने में स्थित है। यहाँ तक पक्की सड़क का निर्माण करवा दिया गया है, ताकि सुविधा के साथ स्टेशन से उतर कर यहाँ पहुँच सकें। कहना चाहिए, आधुनिकीकरण के इस दीर्घ अध्याय में यह सूर्य-सदन उस विराम-चिह्न की तरह है, जो किसी काव्य-पंक्ति के रसोद्रेक को संयत करने के लिए पाठक अथवा श्रोता को उपहार-स्वरूप अवकाश दिया करता है, उस रस का उपयोग छक कर कर लेने की दृष्टि से ! अवश्य यह उस खड़ी पाई का प्रतीक नहीं है, जो किसी भी प्रकरण को समाप्त कर दिया करता है। निर्माण की दृष्टि से रतनगढ़ में नई योजनाओं का सूत्रपात अभी और विकासशील बनेगा, यह स्पष्ट है।

मोहनलाल जी के हाथों रतनगढ़ में उल्लेखनीय निर्माण का एक और श्रेय स्मरणीय बन गया है। नारायणी बाई ने ८२ वर्ष की आयु पाई। सूरजमल जी के बाद, मोहनलाल जी ने उनकी सेवा की, उनकी सेवा में नियमित समय पर वे उपस्थित होते रहे। एक बार बात चली कि उनके स्वनामधन्य पति रामचन्द्र जी की स्मृति में कुछ काम रतनगढ़ में होना चाहिए। मोहनलाल जी की इच्छा यह थी कि काम वही करवाया जाए जो नानीजी के मन में हो। चिरंजीलाल जी बाजोरिया ने यह सुझाव दिया कि एक

उत्तम पार्क वन जाने से जनता को अधिक कल्याणकारी होगा। नारायणी बाई की इच्छा थी कि एक शिवालय बने, और बड़ा शिवालय बने। आखिर मोहनलाल जी ने यह उपादेय समझा कि इन दोनों योजनाओं को संयुक्त कर दिया जाए। उन की आज्ञा लेकर आपने अपनी देखरेख में श्री रामचन्द्र बाजोरिया की स्मृति में रामेश्वरम् शिवालय की स्थापना सन् १९५४ में करवा दी। बाजोरिया परिवार उत्तरावे रहता है, इसलिए यह उसी दिशा में वनवाया गया। फव्वारों की पंक्ति सहसा ही ताजमहल की याद दिलाती है। नगर का पूर्वी विस्तार इस शिवालय के द्वार पर जाकर अपनी अन्तिम सीमा पूर्ण करता है। मन्दिर की रचना में बहुत कौशल से काम लिया गया है। यदि रमादेवी शिवालय में भ्रमण-उपरान्त यह अनुभूति होती है कि हम किसी पुन्यवती आत्मा के सुखद अन्तराल में विचरण कर रहे हैं, तो इस शिवालय के पार्क में भ्रमण करने के उपरान्त मन्दिर में शान्ति के साथ बैठ जाने के क्षणों में यह आनन्दानुभूति होती है कि हम बाजोरिया परिवार की यशः आसंदी पर बैठे हुए शिवत्व का साक्षात् कैलाश-अवरोहण पा गये हैं!

अभी सन् १९६३ में हमने तीसरी वार रतनगढ़ का प्रवास किया। इस अवधि में हम यहाँ पर केवल दो दिन ठहरे। नई दिल्ली को अंग्रेजों ने अपने हाथों बड़े चाव से बसाया। काशी विश्वविद्यालय को बसाने में मालवीय जी ने अपना रात-दिन एक कर दिया। देश में इस तरह के नगर-निर्माण अनेक हुए हैं। उनका निरीक्षण करने के पश्चात् यह सुखद प्रतीति होती है कि आदेश देकर नगर नहीं बसाये जा सकते, एक हाथ के पारस-संस्पर्श से ही वे प्राणवान बना करते हैं। सूरजमल जी के बाद, रतनगढ़ के शोभा-निवास का और कितना दर्शनीय विस्तार हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि में मोहनलाल जी का अमर कृतित्व अपना संस्पर्श समाहित किये हुए समादृत है। आज रतनगढ़ समस्त बीकानेर डिवीजन का एक अलौकिक नगर है। नगर तो स्वयं बीकानेर भी है, पर वह राजसी सम्पत्ति का और राजमुकुटों की ३०० वर्षीय दीर्घ गाथा का विस्तार लिए हुए संभव हो सकता था, रतनगढ़ मात्र ५० वर्षों में उस श्रेष्ठि-परम्परा का नवीनतम अध्याय मुखर करता है, जो एक वंश की सोमलता की तरह पल्लवित और हर्षित भाव से विस्तृत हुई है।

कलकत्ता में तेजस्वी पुष्प तुल्य नवनिर्माण

[४]

रनी का एक धर्म है, शिल्पि का एक धर्म है, पर दोनों का संयुक्त धर्म एकांगी रह कर साइकल के उन दो विलग पहियों की तरह हो जाता है, जो अकेले न तो दृढ़ भाव से खड़े चल सकते हैं और न ही एक दूसरे की पूरक शक्ति बन सकते हैं। शिल्पि के हाथ में करनी उसी तरह सोहती है, जिस तरह नवविवाहित वधू की मांग में लाल सूर्ख सिन्दूर। सिन्दूर जब हनुमान जी पर चढ़ता है, तो परम वैभवशाली बल को दीप्त करता है, जब वह कुल-लक्ष्मी की मांग में चढ़ता है, तो पवित्र पतिधर्म को दिव्य बनाता है। करनी भी कुछ इसी तरह है। वह जब शिल्पि के हाथ में चढ़ती है, तो पृथ्वी पर किसी मनुष्य-कृति का संकल्प धारण करने लगती है, लेकिन यदि उस करनी को किसी लोकहितैषी श्रेष्ठि का संस्पर्श मिल जाये तो वह विहँसती हुई भव्य नवनिर्माण के लिए मचल पड़ती है।

करनी जिस वंश में चलती रहती है, वहाँ लक्ष्मी चंचलायमान नहीं रहती, नहीं रह सकती। नारनौल में किसी साधु के मुख से एक वाणी ऐसी निकली थी, जो साहित्य की अलभ्य वाक्य-शक्ति बन कर आज भी मुखर होती है। साधु महाराज ने इन पंक्तियों के लेखक से, ढोसी पहाड़ पर गंगा माई की प्रतिमा के पार्श्व में राजा भर्तृहरि की रखी मूर्ति की प्रशंसा जब हमने की तो, कहा कि करनी अर्जुन के पाताल-भेदी बाण से ज्यादा बलवती होवै है! सुन कर मानो वेदकाल से आज तक श्रेष्ठि-वर्ग द्वारा चलाये हुए करनी-धर्म का बढ़ाचढ़ा अभियान हस्तामलक सा स्पष्ट हो गया। बाणशैया पर पड़े भीष्म को जल कौन पिलाये? वह पिलाये, जिसने भीष्म को शरशैया पर लेटा दिया था और वह था अर्जुन, उनका परम प्रिय शिष्य! अर्जुन ने उसी समय एक बाण पृथ्वी में दिया, उसी क्षण पाताल का दिव्य जल-स्रोत खुल गया, भीष्म की तृषा शान्त हो गई। वेदकाल के बाद से श्रेष्ठियों ने जो भी पृथ्वी का भव्य निर्माण था, उसे करवाने के लिए अर्जुन के पातालभेदी बाण को कभी अपने हाथ से नीचे न रखा, हाथ में ही थामे रखा। भारत में जो भी प्राचीन निर्माण था, वह उसी बाण से संभव हुआ। भारत की संस्कृति उसी बाण के हाथों रचित सभ्यता के क्रोड़ में नवयौवना होती रही, पुनः-पुनः तरुणी होती रही। कहते हैं कि जो तैरना नहीं जानता, उसे इष्टदेवता वरुण डुबो देते हैं। सम्पत्ति के समुद्र की भी यही गाथा है, जो धन की तरंगों में तैरना नहीं जानते, वे डूब जाते हैं, ऐसे धनपति अथवा कोटयाधीश धनि-

लक्ष्य के अनन्त गह्वर में सदा-सदा के लिए विलीन बन जाते हैं। सम्पत्ति के सागर में वही तैरा करते हैं, जिनके हाथ में लोकहिताय करनी की पतवार होती है......

मोहनलाल जी ने पिताजी के बाद कश्ती की पतवार बड़े विश्वास के साथ जब अपने हाथ में थामी, तो ऐसा लगा कि उनके हाथ में जो लोकहिताय की धुना है, वह उनके न्याय-विवेक को भी संतुलित करेगी। उनके प्रति यह विश्वास जिसने किया था, वह व्यर्थ नहीं गया। सन् १९३८ से लेकर आज तक २५ वर्षों में, रजत-जयन्ती मनाने के अधिकारी इन ढाई दशकों में, मोहनलाल जी के हाथों जितना निर्माण हुआ है, उसकी सूची सचमुच बहुत लम्बी है, यहाँ पर केवल हम कुछ विशिष्ट निर्माण की ही चर्चा कर रहे हैं।

सन् १९३८ में सूरजमल जी की स्मृति में सबसे पहले लोअर सर्कुलर रोड पर डीफ एण्ड डम्ब स्कूल में एक नया स्थान बनवाया गया। इसका उद्घाटन सन् १९४१ में बंगाल के तत्कालिक गवर्नर सर जॉन हर्बर्ट ने किया था।

सन् १९३८ में ही कलकत्ता से १२ मील दूर बारुईपुर स्टेशन के पश्चिम में एक विशाल भवन बारुईपुर मेंटल अस्पताल के निमित्त खरीदा गया, जिसके नीचे उद्यान और तालाब आदि भी थे। इसका नाम भी सूरजमल जी जालान की स्मृति में रखा गया।

सन् १९४१ में अपने पिताजी की इच्छा-पूर्ति करते हुए कलकत्ता में वस्तु-भंडार की स्थापना की। कन्याओं के लिए यह भंडार कितना बड़ा वरदान बन गया है, यह तो उन हजारों-हजार परिवारों से ही पूछने से प्रमाणित हो सकता है, जिन्हें इस महानगरी में विवाह-शादी के समय अथवा धार्मिक उत्सवों के समय बिछावन, गलीचे, गद्दे, पलंग, बर्तन आदि सुलभ हो जाते हैं एक ही स्थान पर! यह व्यवस्था बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है।

सन् १९५९ में हनुमान जूट मिल्स के पास अपने हनुमान हॉस्पिटल स्थापित करवाया और ११ जुलाई को इसका उद्घाटन तत्कालीन रेल-मंत्री श्री जगजीवन राम जी के हाथों पूर्ण हुआ। हावड़ा में यद्यपि अनेक चिकित्सालय हैं, लेकिन विशाल भवन के साथ अत्युत्तम आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित इस हॉस्पिटल की गणना बहुत लोकप्रिय अस्पतालों में होने लगी है। यहाँ पर पुरुष-वार्ड और महिला-वार्ड दोनों से ही संबंधित विभाग हैं। आपरेशन-थियेटर में प्रायः सभी मुख्य आपरेशन किये जाते हैं। महिला-वार्ड में ५५ शैयाएँ हैं और दो केबिन एअरकंडीशन्ड हैं। ६३ शैयाएँ पुरुषों के लिए हैं। इसके अतिरिक्त आउट-डोर में मेडिकल, सर्जिकल, दाँत, कान, आँख, गला विभाग हैं, ओपथाल्मिक व डेरमेटोलॉजिकल व बालकों के विभाग भी हैं।

हनुमान जूट मिल्स में सन् १९२१ से श्रमिकों के बालकों के लिए एक हनुमान प्राइमरी स्कूल की स्थापना की गयी थी। इस समय मोहनलाल जी के संरक्षण में इसका विकास निरन्तर हुआ है और अब इसकी गणना हावड़ा के उत्तम हाईस्कूलों में होने लगी है। इसका निजी भवन भी बहुत शोभनीय बन कर तैयार हो चुका है। रायसाहब मदनगोपाल जी भावनिका सुचारु प्रबन्ध का निरीक्षण करते हैं।

कलकत्ता में एक ब्लाक चित्तरंजन कैंसर हॉस्पिटल में सूरजमल नागरमल के नाम से तैयार हुआ है।

सन् १९३८ के बाद से मोहनलाल जी ने देवघर में भी चलने-वाली सार्वजनिक संस्थाओं का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। प्राचीन पाठशालाओं का संचालन पूर्ववत् हो रहा है। सूरजमल जी की स्मृति में देवघर में नगर से बिजली-कोठी तक पक्की सड़क बनवाई गई है और उनके नाम से एक पार्क भी उस स्थान पर तैयार किया गया है, जहाँ वे प्रातः ४ बजे प्रार्थना करने जाया करते थे। शारदा बालिका विद्यालय का भवन भी स्थानाभाव को देखते हुए दो तल्ला बनवाकर दिया है।

किसी भी वंश की ख्याति कोई ऐसी चीज नहीं है कि वह अपने आप धरती पर अपने पैरों चल कर अपने पदचिह्न पीछे छोड़ती चली जाये। कीर्ति और यश तो दैनन्दिन जीवन में धूप की परछाईं को सार्थक करते हैं—सूर्य जब उगता है, उस समय हमारी परछाईं सबसे अधिक लम्बी पड़ती है। सूर्य का उगना और कीर्ति का उदित होना एक प्रकार से समान है। मध्याह्न के समय परछाईं बहुत छोटी हो जाती है। प्रश्न है कि कीर्ति जिस समय बहुत प्रखर होती है, उस समय उसकी परछाईं बहुत ज्यादा होनी चाहिये। पर, वास्तविक जगत् में बात ऐसी नहीं है। मनुष्य की कीर्ति उसी समय बड़े पैमाने पर जग-जाहिर होती है, जिस समय कृतित्व अपना काम पूरी शक्ति के साथ घटित हो चुका होता है। उस समय तक व्यक्ति की आयु भी क्षीण हो जाती है और शनैः-शनैः ढलते हुए सूर्य के सदृश उस कृतित्व की उपलब्धियों के साथ कीर्ति की छाया भी शनैः-शनैः लुप्त होती चली जाती है।

जो भाग्यशाली परिवार होते हैं और जिन वंशों में निरन्तर सौभाग्य का वर्षण हुआ करता है और जो व्यक्ति के सन्तुलन में समष्टि भाव की पूजा अधिक करते हैं और उसी की आराधना का व्यापक प्रचार करने का बीड़ा उठाते हैं, ऐसे ही उत्तम पुरुषों के परिवारों से कीर्ति का सूर्य प्रतिदिन सुबह उगता है और निरंतर उगता रहता है। सूरजमल जी ने अपने वंश की जो कीर्ति 'सूरजमल नागरमल' फर्म के महामहिम नाम के साथ प्रतिष्ठित की थी, वह उनके शरीरोपरान्त के बाद अनायास खर्च नहीं हो गयी, धूमिल नहीं हो गयी, अपनी उत्तम लिपि का लेखन बन्द नहीं कर गयी और अपनी परम्पराओं का अध्याय सहसा ही समाप्त नहीं कर गयी। सन् १९४२ में देश एक व्यापक हाहाकार से भर गया

था। जिन क्षणों में बंगाल का अकाल पैशाचिक भाव से अपनी आँखें खोल रहा था और मन्थर गति से हजारों हजार घरों में अपनी विषैली श्वासों का रौरव कुहराम व्याप्त करने लगा था, ठीक उन्हीं क्षणों में वर्मा के ऊपर जापानियों ने अपना सैनिक प्रभाव स्थापित करना शुरू कर दिया था। भय से आतंकित लोगों में भगदड़ मच गई। लाखों की संख्या में प्राणरक्षा के निमित्त लोग भारत आये। जहाजों में भेड़-बकरियों की तरह भर कर शरणार्थी भारत पहुँचे। एक हजार की सीट के जहाज में ५-५ हजार लोग न जाने उस समय कैसे समा गये! जिनके पास अन्य यातायात के साधन थे, वे सड़क के मार्ग से भाग निकले। पर जिनके पास पैसा तो था, लेकिन खोज-खोज कर भी साधन उपलब्ध न कर पाये, उन्हें आसाम की दिशा पैदल ही चलने के लिए विवश होना पड़ा।

सन् १९४२ में कई लाख वर्मा-शरणार्थी भारत पहुँचे। उन सबका प्रथम गन्तव्य स्थान कलकत्ता था। इस पलायन-यात्रा में कितने आदमी महामारी-ग्रस्त हुए, कितने भूख-प्यास से मर गए, कितने यात्राओं के कष्टों से पीड़ित थक गये और कितने अर्ध-मृतावस्था में कलकत्ता तक पहुँच पाये, यह एक लम्बी दारुण कहानी है, जिसका एक-एक विवरण सुन कर आज भी रोम खड़े हो जाते हैं और श्रोतागण सिहरने लगते हैं......

यह एक राष्ट्रीय संकट था! द्वितीय विश्व-युद्ध की लोमहर्षक विपत्ति थी। इन चिंतनीय घड़ियों में बंगाल की अनेकानेक सेवा-समितियों ने अपने समिति साधनों को जुटाया और वर्मा-शरणार्थियों की सेवा में खपाया। इस अवसर पर मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी ने अनेक कैम्प स्थापित किये और कई लाख शरणार्थियों को भोजन, पानी, वस्त्र, औषध और जीवनोपयोगी वस्तुओं आदि से सहायता की। उन्हें अपने निर्दिष्ट घरों तक पहुँचाने के लिए रेल में बैठाने तक का दायित्व अपने कंधों पर सम्हाला।

सूरजमल नागरमल ने दिनाजपुर जिले में पार्वतीपुर के अन्दर इन वर्मा-शरणार्थियों के लिए एक बहुत विशाल रिलीफ केन्द्र स्थापित किया। लीदो की दिशा से वे इधर बढ़ रहे थे। उनकी अवस्था बहुत शोचनीय थी। न उनके पास खाने को अन्न था और न वस्त्र थे और न पीने को जल था। आश्चर्य होता था कि वे मनु पुत्र-पुत्रियाँ किस अदृश्य शक्ति के बल पर अथाह कष्टों की मृत्यु-दंशित घाटियों और पहाड़ियों को लांघ कर चले आये थे। पार्वतीपुर में स्थापित सूरजमल नागरमल केन्द्र का संचालन करने के लिए श्री सेतावगंज शूगर मिल के जेनरल मैनेजर श्री मदनगोपाल जी भावसिंहका अपनी कार्य-तत्परता से प्राणवान् बनाये हुए थे। श्री बंशीधर जी जालान और मोहनलाल जी जालान ने उन्हें हर तरह से अधिकार दे दिया था कि रिलीफ के काम में किसी भी तरह की कमी न आने पाये।

पार्वतीपुर के इस कैम्प में लगभग दो-लाख शरणार्थियों ने स्थायी रूप से शरण ग्रहण की। उन्हें कैम्प में पहुँचते ही तत्काल तृप्ति-दायक भोजन मिलता रहे, इसकी लम्बी-चौड़ी व्यवस्था की गई थी। स्थान आदि के लिए बड़े पैमाने पर जल का प्रबन्ध हुआ, औषध आदि के लिए डाक्टरों को नियुक्त किया गया और जिनके पास वस्त्रों का अभाव था, उन्हें कम्बल, धोती, कमीज आदि भी दिये गए। सबसे बड़ी बात यह थी कि दूर-दूर तक जिनके शव पाये गए, उन्हें परम्परावादी रीति के अनुसार मुसलमान होने पर दफनाया गया और हिन्दू होने पर अग्नि-संस्कार अर्पित किया गया। हिन्दू कार्यकर्त्ताओं ने कर्तव्यभाव से प्रेरित होकर कब्रें खोदने का काम जिस लगन के साथ किया, वह तो रिलीफ के इतिहास में सदैव ही स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा।

इस रिलीफ कैम्प की खबर जब कलकत्ता में और नई दिल्ली में पहुँचने लगी तो सबका मन सूरजमल नागरमल के प्रति असीम श्रद्धा से भर गया। पं० हृदयनाथ कुंजरू इस कैम्प का निरीक्षण करने के लिए आये। तात्कालिक वायसराय-कौंसिल के भारतीय सदस्य श्री एम० एस० अणे भी आये और आसाम के लोकप्रिय नेता श्री जी० एन० वार्दोलाई भी वहाँ पहुँचे। सबसे बड़ी बात यह है कि पं० जवाहरलाल नेहरू भी वर्मा-शरणार्थियों की अवस्थाओं से अपने को परिचित करते हुए पार्वतीपुर पहुँचे और इस कैम्प का निरीक्षण किया। अमृत बजार पत्रिका ने २३ अप्रैल, १९४२ को नेहरूजी के इस निरीक्षण-कार्य का समाचार प्रकाशित किया और लिखा—

Amrita Bazar Patrika,
Dated, 23rd April, 1942

"Pandit Jawaharlal Nehru visited the Relief Center opened by Messrs. Soorajmull Nagarmull of Calcutta for the evacuees of Burma at Parbatipur Station on his way to Dimupur.

He highly praised the efficient management of the Relief Center by the Manager of Setabganj Sugar Mills and his Staff. Nearly thousand evacuees including Europeans were fed with Dal and Bhat on their way.

Panditji delivered a short lecture about the duties of the Public during such period."

यहाँ पर यह उचित लगता है कि हम श्री अणे और श्री वार्दोलाई के उन वक्तव्यों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत करें, जिनमें विशेष रूप से पार्वतीपुर में किये गए कार्यों की झलक मिलती है और पता चलता है कि सूरजमल नागरमल द्वारा सूरजमल जी की सेवा-परम्पराओं

को किस प्रकार और भी बड़े पैमाने पर लोककल्याण बनाया जा रहा था। श्री अणे ने अपने वक्तव्य में लिखा—

"I got down at Parbatipur Station where Mr. M. G. Bhawsingka and other friends interested in the relief work of the Burma-refugees, took me round the relief camp established by them at the station. The arrangements to provide the refugees with cooked food in the train as well as on the Platform are satisfactory. There is also a hopsital to give medical relief to those who are found sick and ailing little children are provided with milk. Nearly a thousand refugees are getting the advantage of the relief arrangements free of charges. The volunteers working on behalf of the committee have been showing a spelendid spirit of selfless service. All credit is due to Messrs. Soorajmull Nagarmull who have started their great charitable relief work at this centre at his expense. He will earn the eternal gratitude of the thousands of unfortunate evacuees who are being served by him, for all that he has been doing to mitigate their miseries and make their lot a bit happier. The Govt. of India desire to express their great appreciation of the services rendered by him to the evacuees, and those working under his directions and thank him for the co-operation received by them for the work of the relief of the evacuees."

Sd/-M. S. Aney,
Member of Council of Indian
Overseas.

श्री खगेन्द्रनाथ दास गुप्त, एम० एल० ए० ने इस कार्य का निरीक्षण करने के बाद इस प्रकार लिखा :—

Jalpaiguri
3rd, May 1942.

"I got down at Parbatipur on the 1st May last, to see personally the relief that is being given for over a month to the thousands of Evacuees from Burma, who are daily pouring in and are passing by the station.

I have great pleasure to note that the firm of Messrs. Surajmull Nagarmull through its able and kind hearted Manager Mr. M. G. Bhawsingka have set up such asplendid relief center from the record of which I find that uptill now more than 36,000 refugees have been fed and well taken care of, all expenses being borne by the firm itself.

I have nothing but profound admiration for the workers are day in day out labouring incessantly attending trains some of which steam in at dead of night and giving aid to the wretched evacuees in a disciplined and methodical way. I noted that there were also a ample supply of milk for the children and the sick their number being no less than a hundred every day.

I feel and it is no exaggeration that very few organisations could handle this national problem as efficiently as this one has done.

Our country is really indebted to this generous firm and to the workers for the services they have rendered and are rendering to the helpless evacuees irrespective of caste, creed and nationality.

May God keep burning in their hearts this spirit of service to the suffering humanity for all times to come.

Sd/-Khagendranath Das Gupta.
M. L. A.

श्री बारदोलोई ने पार्वतीपुर के सेवा-कार्यों को सब प्रकार की सुविधायें प्रदान करने का दायित्व अपने कंधों पर सम्हाला था और सरकारी अधिकारियों के नाम एक पत्र देते हुए यह स्थायी निर्देश दिया था कि सूरजमल नागरमल के कार्यकर्त्ताओं को आसाम के स्टेशनों पर सब प्रकार से सेवाकार्य करने की सुविधाएँ प्रदान की जायें। इसके बाद बारदोलोई महाशय स्वयं पार्वतीपुर के विशाल कार्य का निरीक्षण करने गये और अपने सम्मति-पत्रक में आपने भावनाभिभूत होकर लिखा—

Inspite of the fact that time spent at the Parbatipur Station was not quite sufficient for a thorough inspection of the relief work done by Shree M. G. Bhawsingka and his fellow workers, I was sufficiently impressed by the care and attention given by the workers in administering relief. Shree Bhawsingkaji's arrangements seemed to me to be quite thorough and his supervision very sympathetic and kindly to those for whom his master, Messrs. Surajmull Nagarmull have so generously opened their pense strings.

27-4-42 **Sd/-Gopinath Bardoloi.**

सार्वजनिक जीवन में लोक-नेतृत्व का सौम्य अध्याय

[५]

सूरजमल जी का युग मूल्यों के अवस्थापन का था, मोहनलाल जी जब कार्यक्षेत्र में आए, उस समय नई मान्यताओं को सक्रिय बनाने का युग आया। यही कारण है कि हम पिता और पुत्र के जीवन में एक स्पष्ट अन्तर देखते हैं। सूरजमल जी आजीवन मौन रहे, मोहनलाल जी कार्यक्षेत्र में आते ही एक हलचल भरी सक्रियता लेकर आए। सूरजमल जी परामर्श दिया करते थे, नई दिशाओं की ओर अंगुली-इंगित कर दिया करते थे। मोहनलाल जी ने आदेश-निर्देश में कार्य-भार सबसे ऊपर संभाला, व्यवस्था-विकास के साथ गहन अन्तर्गठन में अपनी शक्तियों का प्राचीर सा खड़ा करना शुरू किया। कहना होगा कि मोहनलाल जी पर यह गुरुतर दायित्व था कि पिता के किये कर्म को न केवल जड़ से स्थूल बनायें, अपितु उसके तने को भी अधिक से अधिक प्राणवान बनायें। इस रूप में यह स्वाभाविक था कि शनैः-शनैः अन्य संस्थाओं ने भी मोहनलाल जी के सौम्य जीवन का लाभांश अपने लिए सुरक्षित करना चाहा, उससे अपने भविष्य का अभेद्य कवच भी निर्मित करवाना चाहा। इस दृष्टि से यदि मोहनलाल जी के जीवन पर एक दृष्टिपात करें, तो सहज भाव से उनके कृतित्व के व्यापक दायरे का परिचय अनायास मिल जाता है और यह भी पता चल जाता है कि कलकत्ता-जीवनमें उनकी लोक-प्रसिद्धि किन अर्थों को लेकर नियमित हुई है और विस्तार पा सकी है।

श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय ने आपको सन् १९४६ में अपना प्रेसीडेंट बनाया। मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के आप सन् १९५० से लेकर ५२ पर्यन्त दो वर्ष तक प्रेसीडेंट रहे। कलकत्ता पिंजरापोल में आप दो वर्ष तक सन् १९६० से ६२ तक प्रेसीडेंट मान्य रहे। बड़ा बाजार युवक सभा ने और माधोमिश्र विद्यालय, सलकिया, ने भी आप को क्रमशः १९३८-३९ एवं १९५९से ६० तक अपना प्रेसीडेंट मनोनीत किया। बड़ा बाजार में सर्वप्रथम जो कन्या पाठशाला स्थापित हुई, वह सावित्री कन्या पाठशाला थी। सन् १९५१-५२ में इस संस्था ने भी आपको अपना प्रेसीडेंट बनाया। कलकत्ता में बीकानेर नागरिक संघ नामक संस्था ने किसी समय अच्छा काम किया, बीकानेर राज्य के एक लोकप्रिय निवासी होने के नाते संघ ने आपको अपना अध्यक्ष मनोनीत किया। मानकुंडू मेंटल हास्पिटल ने भी आपको अपना प्रेसीडेंट बनाया। सन् १९५५ से आप ही रतनगढ़ चेरिटेबल सोसाइटी के प्रेसीडेंट रहे हैं। मारवाड़ी अस्पताल के आप एक ट्रस्टी नियुक्त हो चुके हैं।

सन् १९५२ में आपने किसी विशेष अनुष्ठान की पूर्ति के लिए मथुरा की यात्रा की थी। उस अवसर पर ब्रज विद्वत् परिषद् मथुरा ने आपको अपने ८ वें अधिवेशन के अवसर पर 'धर्मभूषण' की उपाधि से विभूषित किया था।

जब कलकत्ता में पहली बार विश्वधर्म सम्मेलन हुआ था, उस समय विशेषरूप से आपको प्रधान अतिथि बनाया गया था।

मोहनलाल जी के संबंध में कुछ अधिक इस स्थल पर लिखना मन में एक स्वाभाविक संकोच उत्पन्न करता है। हमने निकट से आपका दैनिक जीवन देखा है; सब नियत समय पर, निश्चित कार्य-तालिका, कार्यक्रम में कोई व्यवधान उपस्थित न हो पाये इसके लिए पूरी तरह सचेष्ट और सतर्क। श्रम में उत्साहित, व्यवस्था में दक्ष, संरक्षणों में उदार, विनोदप्रियता में सब से आगे बढ़ कर मानवी गुणों से सरस, बन्द मुट्ठी की दृष्टि से जरा सख्त पर दानशीलता में नियमित, विचारशीलता की दृष्टि से सहिष्णु, मतभेद होने पर भी निकटस्थ मित्रों की राय के प्रति आदरास्पद और अपने पुराने परिचितों के बीच स्नेही मित्र।

एक व्यक्तिगत बात का उदाहरण यहाँ पर समीचीन रहेगा। कलकत्ता-प्रवास में ही नहीं, अपने दीर्घ प्रवासी यात्राओं में हमें अनेकानेक यशस्वी व लोकख्यात् व्यक्तियों के निकट उठने-बैठने और उनसे बात करने का अवसर मिला है, उनकी वंश-प्रतिष्ठा में कौन सा तंतु दीर्घ है, उसे स्पर्श करने का सौभाग्य भी हमने पाया है। लगभग चार वर्ष पहले प्रस्तुत ग्रंथ को लिखने का सुझाव एक मित्र ने दिया, मोहनलाल जी से भेंट कराई। बात हुई, भेंट हुई संक्षिप्त; पहली भेंट में हमने पाया कि अपने पिता के संबंध में वे अति संकोची हैं, उनके बारे में कोई ग्रंथ तैयार हो, इस दिशा में वे जैसे कठोर मौन ही रखना चाहते हैं। हमारी स्थिति यह कि जीवन में कभी सूरजमल जी को देखा नहीं, उनके बारे में पुराने पत्रों की फाइल में यत्रतत्र सूक्ष्म सा संदर्भ अवश्य पाया था, लेकिन कुछ निष्कर्ष निकाला जाए इतनी पर्याप्त सामग्री वह नहीं थी। जो अन्य सज्जन उनके सम्पर्क में रहे थे, वे इस दृष्टि से शिथिल कि उनके संस्मरण सुना पायें। बात आगे न बढ़ सकी। लेकिन बात अवश्य खड़ी हो चुकी थी, इसलिए कुछ महीनों बाद पुनः वार्ता के सूत्र सजीव रूप में यह नया प्रारूप लेकर सामने आये कि जीवनी लिखी जाए, लेकिन उसकी योजना को एक बृहत् रूप दिया जाए। कुछ मित्रों ने यह भार अपने ऊपर लिया, पर भार लेना एक बात है, उस घोषणा को स्तुत्य रूप में कार्यान्वित करना दूसरी बात है। मोहनलाल जी इन सभी प्रसंगों में संकोची, विनम्र [illegible] तटस्थ और अपने आप कोई निर्णय पुष्ट करने में उदासीन [illegible] रहे।

हुए नये युग का प्रकाश पा सकें इस नाते उन समस्त योजनाओं को ग्रहण किया है, जो आम रूप से पुराने संस्कारों के मारवाड़ी व्यक्ति प्रायः टालते थे। कारण क्या है? मोहनलाल जी का ध्यान यही रहता है कि हमारी संस्थाओं में सब जाति-प्रधान तत्व उपस्थित होते हैं, इस दृष्टि से संस्था का संचालन राष्ट्र-प्रियता को बलवती बनाने के हेतु होना चाहिए। वे इसी रूप में हितकारी सार्वदेशीयता के पक्षपाती हैं।

मान-प्रतिष्ठा के मामले में वे बिल्कुल अपने पिता के पदों का अनुसरण कर रहे हैं। यों सभापति अथवा अध्यक्ष बनने में अब वैसा संकोच नहीं है, लेकिन यश की तृष्णा से वे उसी तरह उदासीन हैं, जिस तरह सूरजमल जी थे। रतनगढ़ में पं० श्रीरामजी प्रज्ञाचक्षु हैं। उन्होंने एक अतीव रोचक संस्मरण प्रस्तुत किया था। उन्होंने बतलाया था कि जब सूरजमल जी के पास अर्जित धन विशेष मात्रा में आने लगा तो राजस्थान के बहुत से लोगों ने उन्हें उकसाना शुरू किया कि आप भी बीकानेर के अनेक धनाढ्यों की तरह सोने का कड़ा प्राप्त करने की चेष्टा करें! राजस्थान में मध्ययुग से ही यह प्रथा रही थी कि जो धनाढ्य व्यक्ति होते थे और नरेशों व महाराजाओं को येनकेन प्रकारेण खुश रखते थे, उन्हें पैरों में सोने का कड़ा पहनने की आज्ञा बख्शी जाती थी। यह ताजीम कहलाती थी। उस सोने के कड़े पहननेवाला व्यक्ति अपने घरों में अपनी स्त्रियों को भी सोने के आभूषण व कड़े पहना सकता था। अन्यथा साधारण परिवारों की स्त्रियाँ पैरों में मात्र चाँदी के आभूषण ही धारण करने की आज्ञा पा सकती थीं। जितनी बार सूरजमल जी से ताजीम प्राप्त करने का आग्रह किया गया, उतनी ही बार उन्होंने यह उत्तर दिया कि जब तक अपने पास धन है, सोने का कड़ा नहीं पहनेंगे भी, तो भी लोकप्रतिष्ठा मिलती रहेगी। लोकप्रतिष्ठा तो लोकहित से अधिक बलवती हुआ करती है, सोने के कड़े का बंधन पैरों में बाँधने से नहीं। यह कितनी गलत बात है कि हम लक्ष्मी के क्रीत दास तुल्य सोने की जंजीर से बँधे हुए पशु मात्र रह जायें। ऐसा लोभ मुझे नहीं चाहिए!

मोहनलाल जी भी कुछ इसी शैली के लोभ से उदासीन रहते हैं, बचते हैं। दानशीलता में जो रुचि है, उसे उत्कृष्ट परिणति की सीमा तक पहुँचाने का जहाँ लोभ मन में स्थिर रह गया हो, वहाँ कुछ क्षणों के लिए आडंबरपूर्ण प्रमाद का अंकुश उन्हें सह्य नहीं है। चाहे वे घर पर उठें-बैठें या आफिस में, वही निरभिमानी, विनीत, सज्जनता से ओतप्रोत और बातचीत में एक प्रगाढ़ आत्मीयता, उनकी साधना तो यही है कि जो संस्थायें हैं, उनका अस्तित्व दृढ़ हो। इसी दृढ़ता को वे अपना लोकयश मानते हैं।

आपकी अनुरक्ति अपनी संस्थाओं के प्रति देखते ही बनती है। सन् १९५८ में आप यूरोप-यात्रा पर रवाना हुए। ५ जुलाई को आपने बी० ओ० ए० सी० यान से प्रस्थान किया। यहाँ से आप उत्तरी आयरलैंड भी गये बैलफोर्ट। ऐडिनबर्ग भी गये। १७ जुलाई को आपने यहाँ से एक पत्र कलकत्ता श्री भावसिंहका जी के नाम लिखा। आपने ऐडिनबर्ग की परिचयात्मक व्याख्या लिखते हुए बताया कि यह स्काटलैंड की राजधानी है। लेकिन आपके मनमें चिंता तो हावड़ा में निर्मित हो रहे अस्पताल के नये भवन की गहरी थी, इसलिए जिज्ञासा करते हुए लिखा कि हास्पिटल की ३ मंजिला ढलाई हो गयी होगी। फिनिशिंग का काम जल्दी करायें। इसी प्रकार आप कलकत्ता में रहते हुए रतनगढ़ की संस्थाओं की दैनंदिन प्रगति के प्रति अपने को लगाए रहते हैं।

मोहनलाल जी के हाथों एक काम लोकाग्रह को देखते हुए मार्मिकता की दृष्टि से अच्छा हुआ है। सब का आग्रह था कि जालान स्मृति-मन्दिर में सूरजमल जी की एक प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित हो। आपने इस आग्रह को मान लिया। मूर्ति का आर्डर दिया गया। १४ नवम्बर १९५९ को इसका उद्‌घाटन-समारोह सर बद्रीदास जी गोयेनका के हाथों संपन्न हुआ। इसका जो विस्तृत समाचार दैनिक 'विश्वमित्र' में प्रकाशित हुआ, वह इस प्रकार है—

धनोपार्जन द्वारा समाज-सेवा का लक्ष्य

"कलकत्ता १५ नवम्बर। एक भव्य समारोह के अन्तर्गत आज प्रातः जालान स्मृति भवन में स्वर्गीय सेठ सूरजमल जालान की संगमरमर-प्रतिमा का अनावरण सुप्रसिद्ध समाजसेवी सर बद्रीदास गोएनका ने किया। प्रतिमा, जो पूर्ण मानव कद की है, राममन्दिर के चौक में दाहिनी ओर रखी गई है।

इस अवसर पर नगर के विशिष्ठ नागरिकों, उद्योगपतियों, व्यवसाइयों और पत्रकारों ने स्वर्गीय जालान जी को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके श्रेष्ठ मानवीय गुणों उदारता, सद्‌भावना, धार्मिक प्रवृत्ति और शिक्षानुराग का उल्लेख किया। आरम्भ में विद्यालय की बालिकाओं ने मंगलाचरण किया।

श्री रामकुमार भुवालका एम० एल० सी० ने कहा कि स्व० सूरजमल जी ने केवल स्वयं ही दान नहीं दिया, बल्कि अन्य लोगों को भी इन्होंने इस कर्म में प्रोत्साहित किया। वे समाज के सुगुणों की प्रतिमा थे और उनका उदाहरण हमें सदैव प्रोत्साहित करता रहेगा।

'विश्वमित्र' सम्पादक श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल ने कहा कि जिन तीन बातों पर राजस्थानी समाज का मस्तक आज गौरव से ऊँचा है, वे हैं शिक्षा, धर्म और हिन्दी का प्रचार। इन तीनों ही बातों का समन्वय जालान स्मृति-भवन में किया गया है। एक वक्ता के इस कथन पर कि समाज का नवयुवक वर्ग धर्म को डुबा रहा है, क्योंकि युवक होटलों तक में पहुँचने लगे हैं, श्री अग्रवाल ने इसका विरोध करते हुए कहा कि मैं यह नहीं मानता कि हमारे
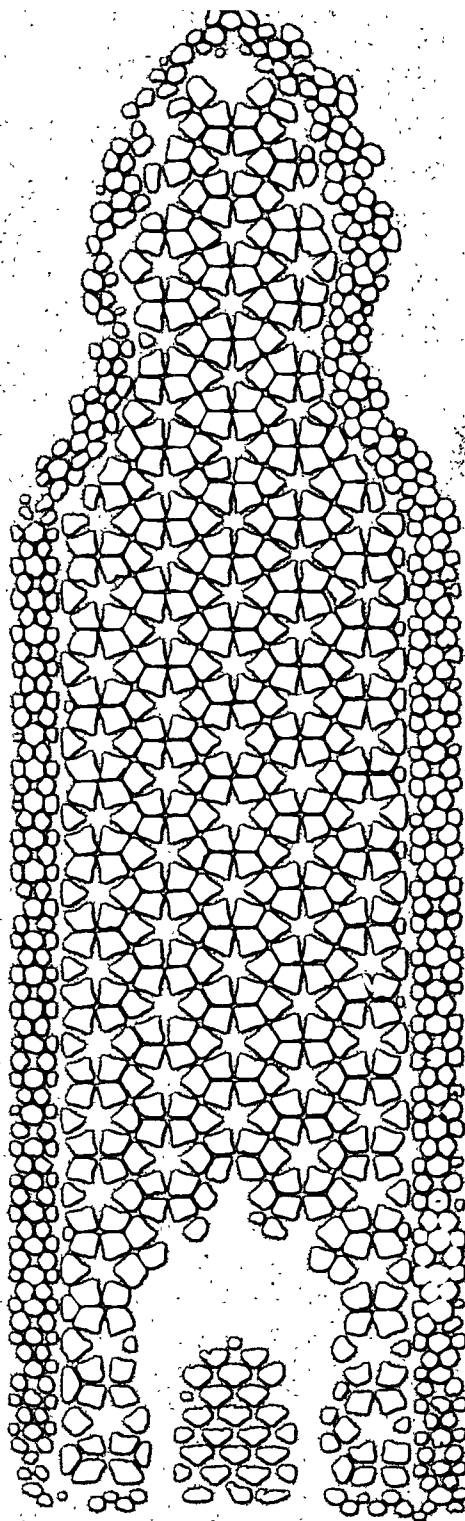
शिवलिंग, कामाँ (भरतपुर)
[अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित]

राजस्थान में प्राप्त देवी-देवताओं की श्लाघ्य सूची

Indian Temple sculpture forms an essential part in the cultural history of India and has thus great educative value. Apart from admiring these sculptures as individual pieces, I should see them as a whole, for there is a continuity about them, even though they differ greatly. A study in some historical perspective would give us a deeper sight into our past, than perhaps the written word.

—Jawahar lal Nehru

[१]

राजस्थान १०वीं सदी से पूर्व छोटे-छोटे जनपदों[१] के एक ही भौगोलिक प्रदेश का नाम था। वेदकाल के वाद से जो भौगोलिक परिवर्तन उत्तर-पश्चिमी भारत में होते रहे हैं, उन्होंने प्रियभाव से इस प्रदेश की रचना की थी। मूल वात यह थी कि अरावली की उपत्यका से संरक्षित यह प्रदेश पूर्वी भारत और दक्षिणी भारत से विभाजित था। प्रदेशों के नाम विभिन्न युगों में क्या रहे, इन पर विवेचन करने से प्राय: ऐतिहासिक भ्रम खड़े हो जाते हैं। हमें यही स्थिति स्वीकार करनी चाहिए कि सतलज के पूर्व में और दिल्ली से दक्षिण में जो प्रदेश पौराणिक संस्कृति की मर्यादाओं का जीवन्त प्रतीक रहा है, वही राजस्थान है। ब्रह्मा ने यहाँ पर पुष्कर क्षेत्र में तपस्या की। सरस्वती जब अन्त:सलिला वनी तो यहाँ की रमणीक उपत्यकाओं में वह पुन:-पुन: प्रगट होती रही। विष्णु की पुराणकालीन पूजा का यहाँ वड़ा-फैला माहात्म्य क्षेत्र था। ऊपर से नीचे तक अरावली में प्रगट होने वाली जल-धाराओं के साथ-साथ जो चौथी सदी के वाद से लेकर १२वीं सदी तक के शिव-मन्दिर प्राप्त होते हैं, उनसे यह भली प्रकार प्रमाणित हो जाता है कि शिव का क्रीड़ा-क्षेत्र भी यही प्रदेश रहा। यदि यह निष्कर्ष हम विना किसी विवाद को खड़ा किये हुए निकाल सकें कि शैवधर्म की विभिन्न धाराएँ दक्षिण में और पूर्व में राजस्थान से ही प्रवाहित हुई हैं, तो उसे उद्‌घाटित करने में हमें कोई संकोच नहीं है। वैष्णव-धर्म की प्राचीनता-समाहित अनेक शाखाओं का उत्खनन भी राजस्थान में जो हुआ है, उससे यह भाव-सत्य निकलता है कि इस प्रदेश में कृ[illegible]क्ति का वर्ष-भर चलने वाला महोत्सव पंजाब और राज-स[illegible]माओं पर सक्रिय वना रहता था। वीकानेर में रंग-महल क[illegible]म्यता से प्राप्त अवशेषों में कृष्ण-भक्ति का प्रमाण कराने वाली ईंटें प्राप्त हुई हैं। ओशिया में हरिहर के प्राचीन मन्दिरों में कृष्ण-लीला का अंकन हमारे सौभाग्य से अभी तक सुरक्षित मिलता है। ३३ करोड़ देवी-देवताओं की वात, ऐसा सोचना गलत है कि उस समय सवके सामने आई थी, जव हमारे देश की संख्या ३३ करोड़ रही होगी, इसका प्रतीक अर्थ यह है कि जितने प्रधान देवी-देवता हुए हैं, उनके विभिन्न रूपों का आविर्भाव जिन भिन्न नामों से हुआ है, उन सव की संयुक्त संख्या ३३ करोड़ हो जाती है। उदाहरण के तौर पर हम महाभारत-काल में जावें, इससे पहले रामायण-युग का स्मरण करें। किष्किंधा में ऋष्यमूक पर्वत पर जो वानर-सेना थी, वह पूर्व जन्म में दैवी अंशांश की प्रतीक थी। कृष्ण के सारे सखा वाल-गोपाल और यदुवंशी भी ऐसे ही दैवी तत्व थे। यदि हम वेदकाल के वाद से लेकर भागवत कथा के अन्तिम परिच्छेद-काल तक केवल ऋषि-पत्नियों और भारतीय सम्राटों की पत्नियों की गणना करें तो यह संख्या ही काफी अधिक हो जाती है और उनसे प्रसवित संतति का जमा-जोड़ भी निरंतर वढ़ता जाता है। राजा सगर के ६० हजार पुत्र, प्रतीक अर्थों में, उसकी ६० हजार प्रजा रहे होंगे!

जव हम राजस्थान में देवी-देवताओं की वात करते हैं, तो स्थूल रूप से इतने नामों की चर्चा हमारे सामने प्रमाणित रूप से हाथ लगती है, जिनमें कुछ की मूर्त्तियाँ झालावाड़-पाटन, अजमेर, कोटा जयपुर, भरतपुर, अलवर, जोधपुर और उदयपुर के संग्रहाले प्राप्त हुई हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी, गणेश, नारद, सूर्य, कृष्ण, वलदेव, भर्त्तृहरि, गंगा, जमुना, कुवेर, वायु, अग्नि, भैरव, सरस्वती, राधा, पार्वती, हनुमान, कंकाली, दुर्गा, महिषासुर-मर्दिनी, गरुड़, मनसा-देवी, लकुलिश और शिवलिंग। शेषशायी विष्णु की प्रतिमायें भी ५ फुट से १२ फुट लम्वी तक प्राप्त हुई हैं। कल्याणपुर में स[illegible]ढ़े तीन फुट ऊँचा कलात्मक शिवमुंड मिला है, जो समग्र [illegible] कला का एक ही नमूना है। यदि हम यह कल्पना करें [illegible] मुंड के नीचे पूरी मूर्त्ति पद्मासन रूप में भी जव रही होगी, त[illegible] ही वह मूर्त्ति कम से कम १२ फुट ऊँचाई तक पहुँची [illegible] उदयपुर में लकुलिश की वैठी हुई जो प्रतिमा एकलिंगजी के [illegible] में विद्यमान है, उसकी ही ऊँचाई लगभग ६ फुट है!!

देवियाँ

इन देवी-देवताओं के अतिरिक्त [illegible] देवी [illegible] रुद्राणी और ब्रह्माणी के मन्दिर सकराय में हैं। [illegible] नाम लोकजगत में सकराय

१ चित्तौड़ से ८ मील उत्तर में 'नगरी' नामक प्राचीन स्थल है। यहाँ पर शिवि लोगों की मुद्राएँ प्रचुर प्रमाण में मिली हैं। यह इन शिवियों का गणराज्य था और ये मुद्राएँ प्रमाणित करती हैं कि राजस्थान का यह प्रदेश एक उल्लेखनीय जनपद था।

विवादास्पद नहीं है।[1] झालावाड़-पाटण और अर्थूणा में ९वीं सदी और १०वीं सदी की चामुंडा की मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं। यदि यह प्रश्न किया जावे कि मरुप्रदेश में महिष-मर्दिनी की मूर्त्तियाँ अधिक प्राप्त हुई हैं अथवा चामुंडा की? तो सहसा ही कोई निर्णायक उत्तर नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह अवश्य है कि चामुंडा की पूजा राजस्थान की चहुँ दिशाओं में विशद बनी हुई थी। राजस्थान पर जितने ही अधिक आक्रमण हुए, महादेव व चामुंडा की पूजा के प्रति रणप्रिय जातियों का भुज-बंधन प्रगाढ़तर होता गया।

जोधपुर में चामुंडा का एक विशेष मन्दिर है। कहा जाता है कि जो प्राचीन मन्दिर था, उसे किसी कारण अकस्मात् विस्फोटित बारूद के भंडार में लगी हुई आग का शिकार होना पड़ा। तब संवत् १४०० में महाराज तख्त सिंह जी ने उसकी पुनः प्रतिष्ठा की।

प्रायः सभी राज्यों में राजमहलों के अन्दर साधारण भाव से चामुंडा के छोटे-बड़े मन्दिर मिलते हैं। प्राचीन मूर्त्तिकला की दृष्टि से चामुंडा की मूर्त्तियों का वैभव अवश्य महिष -मर्दिनी की मूर्त्तियों के सन्तुलन में उतना बोलता हुआ नहीं है। क्या हम यह सीधा प्रश्न इस प्रसंग में नहीं कर सकते कि चामुंडा की पूजा राजस्थान जैसे एकान्त प्रदेश में सिर्फ इसलिए हुई कि यहाँ पर रक्त की होली सातवीं सदी के बाद से सत्रहवीं सदी तक, पूरे हजार वर्ष तक, खेली गई और उसी अनुपात में चामुंडा के अस्तित्व का विग्रह न हो पाया, उनका पूजा-विग्रह ही अधिक से अधिक पूजित होता रहा!

जिस प्रकार ग्रीकवासियों ने अपनी युद्ध-प्रियता के दिनों में एथेना की पूजा, जो कि उनकी युद्ध-देवी थीं, को प्रमुख महत्व देना शुरू किया, उसी तरह क्या चामुंडा को राजस्थान में महत्व नहीं मिला है? पर इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यदि हम उत्तर के रूप में यह प्रतिप्रश्न करें तो चामुंडा का इतिहास कहीं अधिक आलोकित हो उठता है कि क्या राजस्थान की रमणी ७वीं सदी से ही चामुंडा की शक्तियों का गर्भ धारण करने के लिए विवश नहीं रह गई थी?

दुर्गा-सप्तशती शक्ति-पूजा का विशेष ग्रंथ है। लोक-धारणा है कि इस ग्रंथ का लेखन बूँदी के निकट हुआ। इसमें वर्णित घटनाओं की चर्चा जिस रूप में हुई है, उसके प्रसंग बूँदी के निकट प्राप्त होते हैं और उसी स्मृति के उपलक्ष में बहुत प्राचीनकाल से वहाँ पर शक्ति की पीठ स्थापित हुई चली आ रही है। यह स्थान सतूर में है, बूंदी से ५ मील दूर, वहाँ पर रक्त-दंतिका नामक महिष-मर्दिनी की प्रतिमा है। रूढ़ आर्थों में यह पीठ नहीं है।

[1] सकराय के संवत् ८७९ के द्वितीया आषाढ़ सुदी के शिलालेख के मङ्गलाचरण में सर्वप्रथम गणपति और फिर चण्डिका की स्तुति की गई है।

राजस्थान में शिव के बाद शक्ति-मन्दिरों की ही अधिक प्रधानता रही है। यह अवश्य रहा कि शिव-मन्दिर विराट् भाव को प्राप्त हुए और विशाल मन्दिर बने, इसी अनुपात में शक्ति के मन्दिर या तो राजप्रसादों में एकांत कक्ष में सुरक्षित रहे अथवा अनुपात में वे छोटे मन्दिर रहे।

बंगाल में दुर्गोत्सव आश्विन मास के शुक्ल-पक्ष में होता है, किन्तु उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, राजपूताना, दक्षिण प्रदेश आदि में नवरात्र चैत्र में वासन्ती पूजा के समय सुदी प्रतिपदा को प्रारंभ होता है और विजया दशमी के उत्सव में समाप्त होता है।

नवरात्र एक प्रकार का यज्ञ भी है और ऐत्तरेय-ब्राह्मण में इसकी चर्चा है। व्रत रूप में ही यह लोक-समाज में प्रचलित है। इसमें देवी का आह्वान और पूजन होता है। षोडशोपचार से पूजन किया जाता है। इसमें कुमारी की पूजा करते हैं। देवी-भागवत में इस विषय पर एक उत्तम उपाख्यान है।

जनमेजय के प्रश्न करने पर व्यासदेव ने प्रीति-पूर्वक उत्तर देते हुए बताया था कि वसन्त और शरद्—ये दोनों ऋतुएँ यमदंष्ट्रा हैं और अशुभ फल देती हैं। इन ऋतुओं पर घोरतर रोग होते हैं, अतः भक्ति-पूर्वक नवरात्र-व्रत का अनुष्ठान करना मनुष्य का एकान्त कर्त्तव्य है। कहीं-कहीं चंडीपाठ होता है और कहीं देवीपाठ। वेदी के ऊपर सिंहासन स्थापित करके आयुध-विशिष्टा, भुजा में चक्रचाप सम्पन्ना देवी की मूर्त्ति स्थापित की जाती है। अधिकांश भक्तगण अष्टादश भुजा, मुक्ताहार आदि सर्वाभरण-भूषिता, सर्व लक्षणाक्रान्ता, सिंहोपरिसंस्थिता और शंख-चक्र-गदा-पद्म धारिणी देवी की प्रतिष्ठा करते हैं।

नवरात्रों में स्थापित देवी की इन प्रतिमाओं को निश्चय ही स्थायी रूप से सुरक्षित करने की पद्धति नहीं होगी। बाद में पत्थर की प्रतिमाओं का सम्मान अधिक रहा होगा। रघुनाथगढ़में भग्न शिव-मन्दिर के एक सभा-मंडपमें १३वीं सदी की जो संग-मरमरकी बनी हुई महिषमर्दिनी की मूर्त्ति पड़ी हुई है, उसका रूप-सौन्दर्य अप्रतिम है। जोधपुर गढ़ में चट्टान में ही कटी ज्वाला-मुखी की, बांसवाड़ा से ८ मील दूर त्रिपुरा सुन्दरी की ६ फीट ऊँची भव्य मूर्त्तियाँ उल्लेखनीय हैं। राजस्थान के संग्राहलयों में महिष-मर्दिनी की अनेक मूर्त्तियाँ प्राप्य हैं, किन्तु बूँदी के दाधीच-ब्राह्मणों के माता-मन्दिर में

२. रतिव्यूह-प्रिय देवयुगल

संभवत: जो प्रतिमा छः फुट ऊँची विद्यमान है, वह तो सचमुच अपनी शैली की एक ही है ! उसमें सिंहवाहिनी ने सिंह की दोनों ओर टांगें लटका कर सवारी की हुई है। सिंह-मुख देवी की नाभि के आगे है ।

उदयपुर में नवरात्र के अन्तर्गत तलवार की पूजा होती है। विशेष उत्सव मनाया जाता है और गणगोर की सवारी निकलती है। गणगोर की चर्चा हम दूसरे प्रसंग में करेंगे।

शीतला

उदयपुर, कोटा, बूंदी, झालावाड़, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, अलवर, भरतपुर—सर्वत्र शीतला के छोटे-बड़े मन्दिर विद्यमान हैं। चैत्र सप्तमी को इनकी पूजा होती है। ये ग्रीक, फ्रीजयन और रोमवासियों की साइबिल देवी की तरह संतति की रक्षा करने वाली है।

षष्ठी

षष्ठ ङीप्। कात्यायनी (मेदिनी) सोलह मातृकाओं में से एक मातृका। यह देवी प्रकृति की षष्ठी कला और स्कन्द-भार्या है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के प्रकृति खंड में लिखा है कि यह छोटे-छोटे बच्चों का प्रतिपालन करनेवाली तथा प्रकृत्ति की षष्ठांश स्वरुपिणी हैं। मातृकाओं में यह देवी प्रधान है। प्रकृति की षष्ठांश स्वरुपिणी होने से ही इनका नाम षष्ठी हुआ है। ये कार्त्तिकेय की स्त्री हैं। इस देवी के प्रसाद से पुत्र पौत्रादि लाभ होते हैं। षष्ठी की पूजा के विषय में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में एक कथानक आता है। स्वायंभू नामक मन्वन्तर में प्रियव्रत नामक नरेश को, ब्रह्मा से आदेश प्राप्त करने के बाद, एक मृत सन्तान प्राप्त हुई। जब वे उस मृत पुत्र को श्मशान ले गये, उस समय उज्ज्वल विमान पर आरुढ़ एक देवी वहाँ उपस्थित हुई। उसने अपना नाम देवसेना बताया और कहा कि वे कार्त्तिकेय की पत्नी हैं। बोलीं कि मैं मातृकाओं में विख्यात हूँ, मैं प्रकृतिके षष्ठांश से उत्पन्न हुई हूँ। उसने प्रियव्रत के मृत पुत्र को जिला दिया। उसी समय से लोक-लोकान्तर में षष्ठी की धूमधाम से पूजा होने लगी। शुक्ला षष्ठी को इसकी पूजा करने में लोक-जगत में एक उत्साह आ गया। सूतिका-शौच के बाद भी इसकी पूजा होने लगी। शालिग्राम शिला अथवा घट अथवा वटवृक्ष-मूल अथवा घर की दीवार में पुत्तलिका बना कर इस देवी की पूजा होती है। ये त्रिजगद्धात्री हैं, बालकों के सूतिका-ग्रह के छठे और २१वें दिन शुभ संस्कार-कार्य में षष्ठी -पूजा होती है। स्कन्दपुराण में बारह मास की बारह षष्ठी के पृथक्-पृथक् नाम देखे जाते हैं। वैशाख मास में चान्दनी षष्ठी, ज्येष्ठ में अरण्य षष्ठी, आषाढ़ में कार्दमी षष्ठी, श्रावण में लुंठनषष्ठी, भद्रमास में चपेटीषष्ठी, आश्विन मास में दुर्गा षष्ठी, कार्तिक मास में नाड़ी षष्ठी, अग्रहायण मास में मूलक षष्ठी, पौष में अन्न षष्ठी, माघ मास में शीतल षष्ठी, फाल्गुन में गोरुपिणी और चैत्रमास में अशोष षष्ठी। इनकी यथा विधान पूजा कर मंत्र पढ़ कर प्रणाम किया जाता है।

३. पुष्कल मातृत्व की पूर्णा

षष्ठी पूजन के उपरान्त व्यजनस्थ वस्त्र के ऊपर बालक को रख कर षष्ठी देवी के चरण में 'समर्पण और मंत्र-पाठ करना होता है। इसके बाद बालक को सर्वांग हस्त द्वारा स्पर्श किया जाता है। पीछे वस्त्र पर विष्णु के द्वादश नाम लिख कर उसे शिशु के मस्तक पर रखना होता है। द्वादश नाम इस प्रकार हैं—केशव, अच्युत, पद्मनाभ, गोविन्द, त्रिविक्रम, हृषिकेश, पुंडरीकाक्ष, वासुदेव, नारायण, हयग्रीव और वामन। अनन्तर यथाक्रम त्रिलोचना, अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृप और परशुराम, इन सात चिरजीवियों की पूजा करनी होती है। षष्ठी का वाहन कृष्ण मार्जार माना गया है। जहाँ षष्ठी की प्रतिमा-पूजा की जाती है, वहां उनकी प्राण-प्रतिष्ठा और विसर्जन भी आवश्यक माना गया है।

देवता

वरुण

राजस्थान में वरुण की मूर्त्तियां भी मिली हैं। वरुण की पूजा का विधान बहुत ही प्रशस्त रहा है। जिन मन्दिरों के शिल्प-अंकन में समस्त देवताओं की प्रतिमाएँ किसी न किसी रूप में प्रस्तुत की जाती थीं, वहाँ पर वरुण अवश्य स्थापित होते थे।

'हय शीर्ष पंचराग' एवं 'जलाशयोत्सर्ग तत्व' में वरुण के अनुष्ठान प्रारम्भ करने से पहले उनकी मूर्त्ति स्थापित करने का आदेश देते हुए कहा गया है कि यह मूर्त्ति छोटे-छोटे रत्नों से बनानी चाहिये। दो भुज हों और हँस-पृष्ठ पर आसीन हों। दाहिने हाथ में अभय और बायें में नागपाश हों। बाई ओर जलराशि और दाहिनी ओर इनके पुत्र पुष्कर हों। इनकी मूर्त्ति जलाशय के किनारे या पवित्र स्थान में प्रतिष्ठित करने के उपरान्त इनकी अर्चना की जाए। मनु-संहिता में वरुण को अद्वितीय तेज-सम्पन्न और पाशहस्त कहा गया है। हरिवंश के ४५वें अध्याय में वरुण देव का रूप-वर्णन लिखा है। वे हँस पर विराजमान हैं, हाथ में पाश-अस्त्र हैं। यही अस्त्र धारण कर वे देव-असुर संग्राम में देवों की ओर से दिक्-पति रूप में अवतीर्ण हुए थे। ऐतरेय ब्राह्मण और रामायण में वरुण की युद्ध-कुशलता का वर्णन है।

भक्त मीराबाई के पूजा-देव
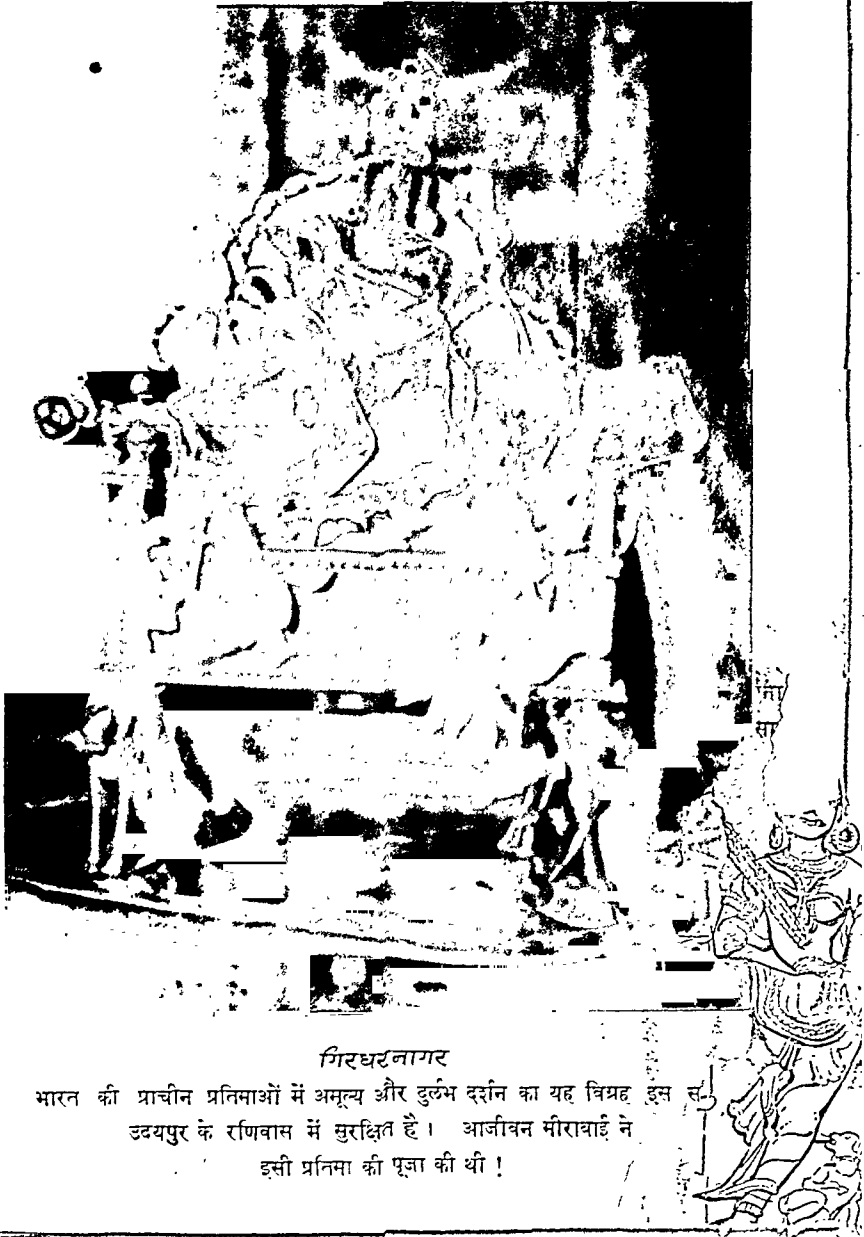
गिरधरनागर

भारत की प्राचीन प्रतिमाओं में अमूल्य और दुर्लभ दर्शन का यह विग्रह इस स-
उदयपुर के रणिवास में सुरक्षित है। आजीवन मीराबाई ने
इसी प्रतिमा की पूजा की थी !
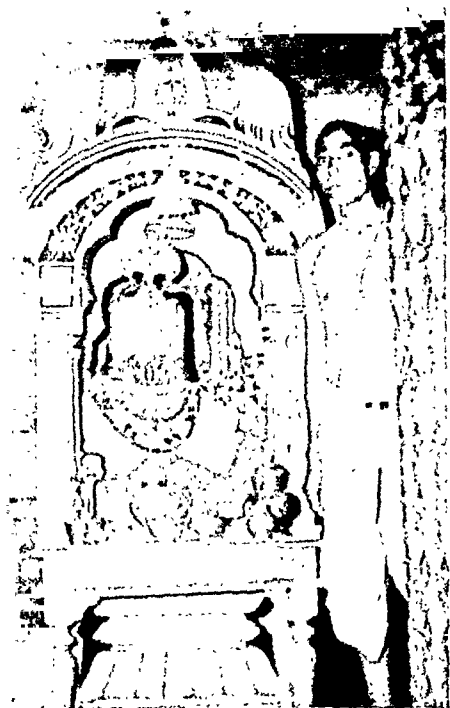
श्री ब्रह्माजी, पुष्कर (अजमेर)
[भारत का एकमात्र ब्रह्मा-मंदिर]
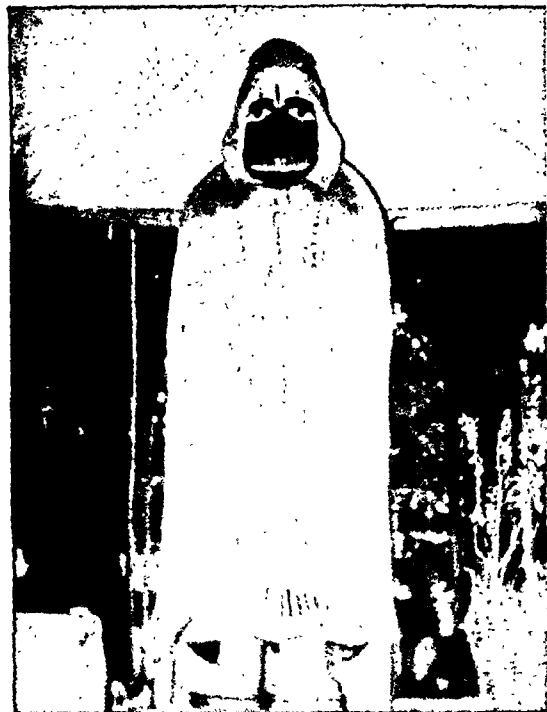
श्री हनुमानजी (दास-भाव में), बूँदी
[अनुपम दर्शनीय १२ फुटी प्रतिमा]

३. ...त्रीजी, पुष्कर (अजमेर)
...कमात्र पूजा-स्थल की दिव्य प्रतिमा]
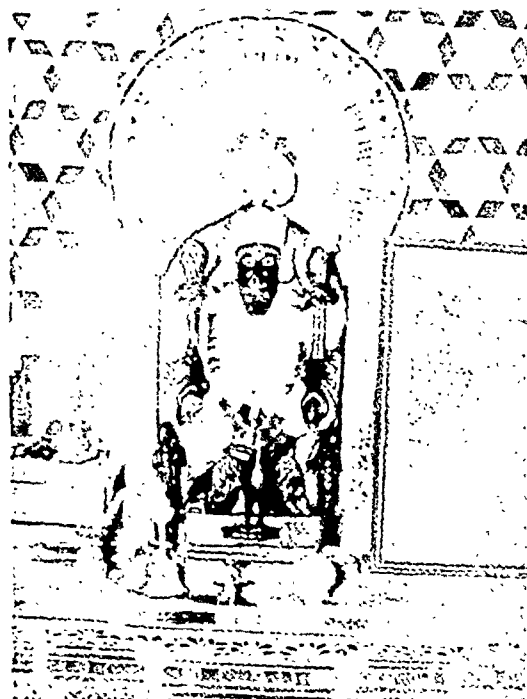
भगवान विश्वकर्मा
[सलुम्बर, मेवाड़ राज्य]
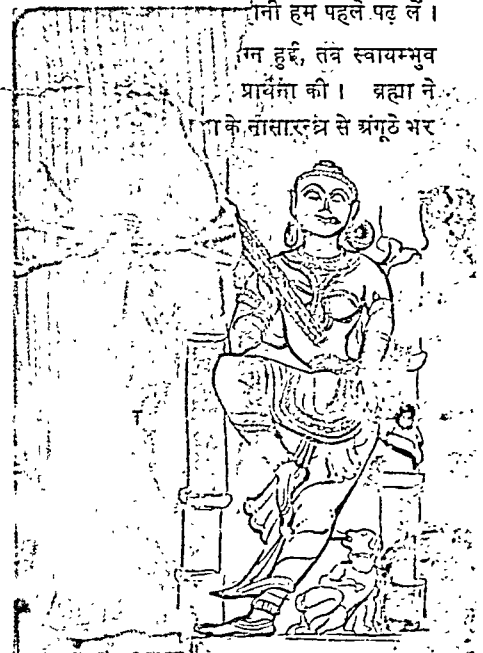
३. ...त्रीजी, पुष्कर (...
...कमात्र पूजा-स्थल की दि...

१. वांसवाड़ा में लाली वावा मठ में १३ वीं सदी की मूर्त्ति, २. फतहपुर-शेखावाटी में वड़के मंदिर में वड़े हनुमान जी, ३. महणसर के पोद्दारों के मंदिर में अंजनि जी, ४. सालासर के हनुमानजी, ५. जयपुर में चांदपोल के सर्वप्रधान हनुमान जी, ६. फतहपुर की एक प्राचीन हनुमान-मूर्त्ति और ७. वीकानेर में पंचमुखी हनुमान जी।

वरुण कश्यप ऋषि के पुत्र और अदिति-जननि की कोख की शोभा हैं। ऋग्वेद-काल से इनकी पूजा-पद्धति भारत में मान्य रही है। विशुद्ध जल, विमानचारी, वेगवान, पराक्रमशाली हैं। औषधि-पति हैं। (ऋक्० १, २४, ६, १५)—दिक्-पति हैं। धनाधिकारी हैं (ऋक्० १, १४३, ४)।

वरुण की स्तुति ऋक्-संहिता के ७वें मंडल में, हयशीर्ष पंचराग में, जलाशयोत्सर्ग तत्व में, मनुस्मृति ६ में, अथर्ववेद (६, २१, २), शांखायन-श्रौतसूत्र (२, २०, ४,) गोभिल सूत्र (३, ६, १२), शांखायन-ब्राह्मण (१८, १०) और कात्यायन श्रौत-सूत्र (१०, ८, २७) में अग्नि आदि से वरुण का एकात्म-भाव दर्शित हुआ है। ऐतरेय-ब्राह्मण से हरिश्चन्द्र उपाख्यान (७, १४) में राजा को राहुल पुत्र की जो प्राप्ति हुई थी, वह वरुण की तपस्या करने से ही सुलभ हो सकी थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१, ४, ८) में और शतपथ-ब्राह्मण (१२, ८, ३, १० और १३, ३, ४, ५) में वरुण की पूजा का विस्तार दिया हुआ है। वेदों के अनुसार देवों में श्रेष्ठ हैं और जल-देवता हैं। महाभारत के उद्योग-पर्व में और शल्य-पर्व में वे उरक्-पति रूप में वर्णित हुए हैं। भागवत में इनके जन्म की कथा है और कृष्ण व वरुण के युद्ध का वर्णन है। इस प्रसंग में परशुराम भी रंगमंच पर अवतरित होते हैं। किन्तु इन सब उद्धरणों में मुख्य तो वेद का यही कथन है कि जिस अन्तरिक्ष को देख कर वैदिक युग के आर्यो के हृदय में ईश्वर की अभिव्यक्ति उदित हुई थी, वही वास्तव में वरुण हैं। अन्त-रिक्ष-प्रतिष्ठित इन वरुण (द्यौस) के साथ ग्रीस की धर्मकथाओं के ज्युस कर्तृक उरेनस की कथा बहुत कुछ मिलती-जुलती है। पर वहाँ वास्तविक जल-अधिपति नेप्च्यून हैं।

कालिका-पुराण में वरुण-तीर्थ की चर्चा है। (७६-१०-१७)।

भैरव

अब हम ८ भैरव की चर्चा करें। जोधपुर के मंडोर नामक स्थान में काले और गोरे दो भैरव मिलते हैं। जोधपुर गढ़ में भी काले-गोरे भैरव हैं, जिन्हें लौह-शृंखलाओं से बांधा हुआ है! इसी प्रकार झालावाड़-पाटण के शनिचर मन्दिर में भी दो भैरव मिलते हैं। किन्तु राजस्थान में प्रायः समस्त ८ भैरवों की मूर्त्तियाँ प्राप्त रही है।[1] इन ८ भैरवों के नाम हैं—(१) रुद्र, (२) संवार, (३) काल, (४) असित, (५) क्रोध, (६) भीषण, (७) महा भैरव और ८ खट्वांग।

शास्त्रों में कहा है कि भैरव का विग्रह दिगम्बर होता है। चन्द्राकार मुकुट पहने होते हैं। ३ नेत्रों वाले हैं। प्रज्ज्वलित अग्निशिखा के समान उनका दिव्य रूप है। उनकी यह व्याख्या ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के ब्रह्मखंड में उद्घाटित की गई है। अर्थूण में इसी मर्यादा से मर्यादित भैरव प्राप्त हुए हैं।

भरतपुर के म्यूजियम में ईशान की मूर्त्ति भी मिलती है। इसके चिह्न इस प्रकार हैं—भयंकर पुरुष, त्रिशूलधारी, पट्टिश, व्याघ्रचर्म के वस्त्र और गदा धारण किये हुए दिगम्बर, विशालकाय, त्रिनेत्रधारी, दिग्पालों के स्वामी।

रुद्र की जो मूर्त्तियाँ प्राप्य हैं, उनका भेद और स्वरूप भी शास्त्रों में वर्णित है। महान् महात्मा, मूर्त्तिमान्, भीषण, भयंकर, ऋतु-ध्वज, उर्ध्वकेश, पिंगलाक्ष, रुचि-सुचि। इनके अतिरिक्त काला-ग्नेय रुद्र भी कहे गये हैं।

जयपुर के ताड़केटवर मन्दिर में आदमकद भैरव की मूर्त्ति विकराल है और दर्शनीय है। अर्थूणा में जो भग्न-मन्दिर पड़े हैं, उनमें भैरव का शिल्प-अंकन सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सशक्त हुआ है।

वराह

उदयपुर के संग्राहलय में और झालावाड़-पाटण के संग्राहलय में वराह की दर्शनीय प्रतिमायें विद्यमान हैं। हमारी ऐसी धारणा है कि राजस्थान में १०वीं सदी से पहले वराह के विशिष्ट मन्दिर रहे होंगे। ये तृतीय अवतार हैं। भागवत में भी इनका विषय आया है। वराह की कहानी को समझ लेने के बाद इनकी प्रतिमा की आवश्यकता देव-मंदिरों में क्यों रही, उसे हृदयंगम करने में आसानी हो जाती है। इसलिए इनकी कहानी हम पहले पढ़ लें।

प्रलय-पयोधि जल में पृथ्वी जब निमग्न हुई, तब स्वायम्भुव मनु ने ब्रह्मा के पास आकर स्थान के लिए प्रार्थना की। ब्रह्मा ने विष्णु का स्तवन किया। इस समय ब्रह्मा के नासारन्ध्र से अंगूठे भर का एक वराह-पोत निकला। निकलते ही इसका शरीरा-यतन इतना विस्तृत हुआ कि उसने आकाश को ढक लिया। इसका अंग-प्रत्यंग पत्थर के समान मजबूत हो गया। तब देवताओं ने इस नए अवतार का स्तवन किया तो वे पाताल में घुसे। तो पृथ्वी उनसे प्रार्थना करने लगी :—

नमस्ते पुंडरीकाक्ष
शंख चक्र गदाधर।
मामुद्धरास्मादद्य त्वं
त्वत्तोऽहं पूर्वमुत्यिता॥
(विष्णु पुराण १,४,१२)

४. तम.... कांतमता

[1] पूर्वी बंगाल में 'भैरव बाजार' एक प्रसिद्ध स्थान है। भैरवबाजार से सुरमा (|)-संगम तक प्राचीन ब्रह्मपुत्र का खात 'मेघना' कहा गया है।

—हे शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करने वाले कमलनयन भगवान, आपको नमस्कार है। आप आज इस पाताल से मेरा उद्धार कीजिए। पूर्वकाल में मैं आपसे ही उत्पन्न हुई थी।

त्वन्मयाहंत्वदाधारा त्वत्सृष्टा त्वत्समाश्रया।
माधवीमिति लोकोऽयमभिधत्ते ततो हि माम्।।
(वि० पु० १, ४, २०)

—हे प्रभो, मैं आपका ही रूप हूँ। आप ही के आश्रित हूँ और आप ही के द्वारा रची गई हूँ तथा आपकी ही शरण में हूँ। इसीलिए लोक में मुझे माध्वी भी कहते हैं।

महा वराह-रूप अद्वितीय शक्ति ने अपने दाँतों से पृथ्वी को पकड़ कर उठा लिया और उसे बाहर लाकर जल के ऊपर स्थापित कर दिया। वह पृथ्वी उस जल-समूह के ऊपर एक बहुत बड़ी नौका के रूप में स्थित है और बहुत विस्तृत आकार होने के कारण उसमें डूबती नहीं है। इस प्रकार पृथ्वी को स्थापित कर उन्होंने पर्वत, सप्त-द्वीप आदि विभाग पृथ्वी पर रचे। उनके असह्य भार से जहाँ पृथ्वी बीच में धंस गई, वहाँ समुद्र उत्पन्न हुए।

इस पृथ्वी के प्रथम पति ये वराह देव हुए और इन्होंने पृथ्वी के गर्भ से सुवृत, कनक और घोरू नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये। अब वराह-क्रीड़ा से पृथ्वी जब आतंकित होने लगी और उनके खुरों से प्रहाघात का कष्ट पाने लगी तो देवता उनकी स्तुति करने लगे। उनसे प्रार्थना की कि अब इस स्वरूप का परित्याग कीजिए।

उस अवस्था में महादेवजी ने शरभ (अष्टपाद एक कल्पित पशु) का रूप धारण किया। शरभ और वराह के तुमुल-युद्ध से वराह नष्ट हुए, उनके पुत्र-पौत्रादि भी नष्ट हुए। और उनके शव के खंड-खंड होने से आठ हजार यज्ञ उत्पन्न हुए। एक प्रकार से पृथ्वी का उद्धार करने के बाद वराह इस वरा-धाम पर सृष्टि को यज्ञमयी बना गये। उनके पुत्र सुवृत्त के शरीर से दक्षिणाग्ने, कनक के शरीर से गार्हपत्वय-आग्ने और घोर के शरीर से आह्वनीय-आग्ने उत्पन्न हुई। ये तीनों अग्नियां यज्ञ-सृष्टि की परम शोभा बनीं।

कालिका-पुराण (१६, २२) में भी यह कथा आई है। शिल्प-अंकन की दृष्टि से वराह-मूर्ति की प्रतिमा करने में उसके लक्षणादि का विषय हरिभक्ति-विलास में इस प्रकार लिखा है—वराह-मूर्ति के मुख का विस्तार अष्टकला, कर्ण द्विगोलक, हनु-देश सात अंगुल, दोनों दाँत डेढ़ कला, नासिका-विवर तीन जौ, दोनों नेत्र एक जैसे कुछ कम, मुख कुछ मुस्कराता हुआ, दोनों कान दो रन्ध्र के समान होने चाहिए। कान का मध्यभाग चार चला और उसकी ऊँचाई दो कला होगी। ग्रीवा-देश आठ अंगुल, ऊँचाई नेत्र के समान, अवशिष्ट सभी अंग नृसिंह देव के समान होंगे। शेषनाग नृ-वराह देव के चरण पकड़े हुए हैं। वराह अपनी बाँह से वसुन्धरा को धारण कर अवस्थित हैं। इसके वाम भाग में शंख और पद्म, दक्षिण भाग में गदा और चक्र हैं। इस प्रकार की वराह की मूर्ति स्थापित करने से भव-बन्धन दूर होता है, तथा इस लोक में तरह-तरह की सुख-सम्पदा प्राप्त होती है। वराह-कल्प की स्मृति-स्वरूप भारतीय शिल्प में वराह मूर्तियों का एक दीर्घ सिलसिला राजस्थान में १२वीं सदी तक बना रहा। वराह-द्वादशी माघ मास की शुक्ला द्वादशी को मनाई जाती है, जो कि वराह-रूपी विष्णु की अभ्यर्थना के रूप में प्रतिवर्ष नियमित हुई है। बंगाल में वराह-नगर इसी अवतार की स्मृति दिलाता है। और भगवान चैतन्य ने यहीं पर भागवताचार्य पर अपनी करुणा का वर्षण किया था। हिमालय के शिखर पर वराह-शिला है, उसकी विचित्रता का रहस्य बहुत कुछ इसी अवतार से संबंधित है।

वराह-क्रीड़ा-मगना

यम

कोटा के संग्राहलय में यम की मूर्ति प्राप्त हुई है। ये भारतीय आर्यों के प्रसिद्ध देवता रहे हैं। इन्हें दक्षिण दिशा का दिक्पाल भी कहा गया है। न मालूम कौन-से युग में वह रूढ़ि आई कि ये मृत्यु के देवता भी मान्य हो गये। इनके पर्याय इस प्रकार हैं—यमराज, पितृपति, प्रेतराट्, दंडधर, श्राद्धदेव, महिषध्वज और महिष-वाहन आदि।

वैदिक निघंटु ग्रंथ में (५-५) यम और मृत्यु का पृथक् रूप से उल्लेख है। यह निश्चित है कि वैदिक देवताओं में यह और मृत्यु दो भिन्न देवता थे। दुर्गाचार्य ने मृत्यु और यम की भिन्नता को स्वीकार करते हुए कहा है कि मृत्यु-देवता निश्चय ही मध्यलोक संचारी वायु हैं। महामुनि यास्क ने यम के बारे में कहा है कि जो जीवमात्र को कर्मों के अनुसार प्रदान करते हैं, वे ही यम हैं। और उन्होंने यम देवता की स्तुति भी करते हुए "संगमनम् जनानाम्' कहा है—अर्थात् जो कर्म-फल-भोगी जीवों को इस लोक से दूसरे लोक में ले जाते हैं, वे ही यम हैं। अथर्व-वेद (६, २८, ३) में यम को अन्यान्य सभी देवों से श्रेष्ठ कहा है और उसमें यम और मृत्यु को एक ही माना है। ऋग्वेद (१०, १४, १) में यम की पूजनीयता घोषित की है।

कुछ मूर्तियां यम और यमी की एक साथ मिली हैं, इससे यह भ्रम होता है कि यमी यम की पत्नी रही होगी। पर वास्तव में तथ्य यह है कि यम की बहन का नाम यमी है। इसी यमी का

दूसरा नाम यमुना हुआ है। ये विवस्वत् और सरण्यु की यमज संतति थीं। ऋग्वेद (१०, १७, २) में यम यमी से कहते हैं कि हम लोग गन्धर्व तथा योशा के पुत्र हैं। ऋग्वेद (१०, १०, ४)में यम और अग्नि एक हैं। ऋ० १–१६४ में अग्नि, यम और मातृश्वा एक हैं।

यम इस पृथ्वी के सबसे पहले मरणशील व्यक्ति थे। इस प्रतीक कथा में क्या निगूढ़ तत्व छिपा हुआ है, इसकी समीक्षा यहाँ पर समीचीन नहीं है। यम ही सबसे पहले इस पृथ्वी पर अपनी देह त्याग कर मरण-पथ के नेता हुए थे। ऋग्वेद में यह विभीषिका से युक्त नहीं हैं, पर अथर्ववेद में उनकी विभीषिका का स्वरूप परिपुष्ट हो चुका है।

वेदों के यम और पारसियों के धर्मशास्त्र 'अवेस्था' मे यिम एक ही हैं। ग्रीक पुराण में प्लुतो और मिनस वास्तव में यम हैं। अवेस्था में [illegible] बहन का नाम यमज है और वहाँ कहा गया है है कि यिम और यमज मानव जाति के प्रथम माता-पिता हैं। अवेस्था में यम-यिमे का प्रकरण दम्पति के रूप में हैं और ऋग्वेद में भी दम्पति शब्द का प्रयोग इनके प्रसंग में देखा जाता है। ऋग्वेद (१०, १०, १०) में कहा गया है, ऐसा युग आयेगा, जब भाई और बहन में सहवास करेंगे। स्पष्ट रूपसे यह मानव जातिके भावी उस पतित अवस्था का वर्णन है कि जब लोक-समाज में भाई और बहन भी सहवास करने लगेंगे—तो उस युग में साक्षात यम का ही साम्राज्य चहुँ ओर छा जायेगा!

मारकन्डेय पुराण में यम की कथा एक दूसरे ही रूप में है। वह ज्यादा भाव-गर्भित मालूम होती है। यहाँ पर उसे देने का लोभ मन में है। विश्वकर्मा के संज्ञा नामक एक कन्या थी। रवि के साथ उसका विवाह हुआ। संज्ञा ने रवि को देखकर आँखें मूंद लीं। रवि ने उसको श्राप दिया कि तुमने मुझे देख कर चक्षुः संयम किया है, इसलिये तुम्हारे गर्भ से जो पुत्र जन्म लेगा,वह प्रजा-संयम यम होगा। अर्थात् वह प्रजाओं का संयमन करेगा। यह सुन कर संज्ञा ने चंचल दृष्टि से रवि को देखा। अब रवि ने कहा—तुमने मुझे चंचल दृष्टि से देखा है, इसलिये तुम्हारे गर्भ से जो कन्या जन्म लेगी, वह चंचला नदी रूप में परिणत होगी। कालक्रम से जो पुत्र और कन्या उत्पन्न हुई, वह क्रमशः प्रजा-संयम यम और यमुना कहलाई।

यम १४ बतलाये हैं। तर्पण करते समय १४ यमों के उद्देश्य से तर्पण करना होता है:—१. यम, २. धर्मराज, ३. मृत्यु, ४. अन्तक, ५. वैवस्वत, ६. काल, ७. सर्वभूत क्षय, ८. ओडुम्बर, ९. दध्न, १०. नील, ११. परमेष्ठी, १२. वृकोदर १३., चित्र और १४. चित्र गुप्त।

कृष्ण चतुर्दशी के दिन नदी में यम तर्पण करने का विधान है। यम पापी और पुण्यात्मा को भिन्न-भिन्न रूपों में दर्शन देते हैं।

तानागतांस्ततो दृष्ट्वा नरान् धर्मपरायणान्।
भाष्करिः प्रीतिमासाद्य स्वयं नारायणो भवेत्॥
चतुर्वाहुः श्यामवर्णः प्रफुल्ल कमलेक्षणः
शंखचक्रगदापद्मधारी गरुड़ वाहनः
स्वर्ण यज्ञोपवीती च स्मे-रचारुतराननः
किरीटीकुंडली चैव वनमाला विभूषितः
(पद्मपुराण क्रियायोगसार २२ अ०)

यम की ऐसी दिव्य प्रतिमाएँ कोटा व भरतपुर संग्रहालय में विद्यमान हैं।

नृसिंह

नृसिंह के मन्दिर शेखावटी में खंडेला, उदयपुर और अन्य स्थानों पर मिलते हैं। उदयपुर के मन्दिर में नृसिंह भगवान के सामने हमने ५६ भोग लगाने का महोत्सव अपनी आँखों देखा है। उसमें लगभग ५ सहस्त्र व्यक्तियों ने जीमनवार के रूप में भाग लिया था। इस ग्रंथ में उसका चित्र संलग्न है। जहाँ भी नृसिंह भगवान के मन्दिर हैं, उनकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक व्यापक है। किसी समय नृसिंह की पूजा बहुत अधिक सर्व पूजित थी[1]।

नृसिंह विष्णु के चौथे अवतार थे और इनका अवतरण सतयुग में हुआ था। नृसिंह की पूजा की लोकप्रियता और विशेष रूप से उनकी प्रतिमा को लेकर प्रधान मन्दिरों का निर्माण राजस्थान के और देश के अन्यान्य भागों में क्यों हुआ, इसका उचित कारण खोजने पर यही प्रबलता सामने आती है कि नृसिंह के नाम से भी नृसिंह-पुराण तैयार हो चुका था और उसका पठन-पाठन लोक-समाज में श्रद्धा-भक्ति से होता था।

नृसिंह-मन्दिरों के प्रति लोक-समाज में विशेष आग्रह एक और कारण से भी रहा, जो नृसिंह-पुराण के गठन-पाठन से अधिक प्रधान होना चाहिए। वह है, स्वर्ण अथवा रौप्य नृसिंह-मूर्त्तियों का विशिष्ट पात्रों द्वारा दान दिया जाना। जब इन मूर्त्तियों का निर्माण हो चुकता होता था, तो इनका दान दे दिया जाता था। उनमें से कुछ अवश्य ही देवालयों में प्रतिष्ठित करने के लिए रक्षित की जाती रही होंगी। यह मूर्त्ति-दान कार्त्तिक अथवा वैशाख की पूर्णिमा अथवा द्वादशी को दिया

६. संकीर्तन-[illegible]रंजन
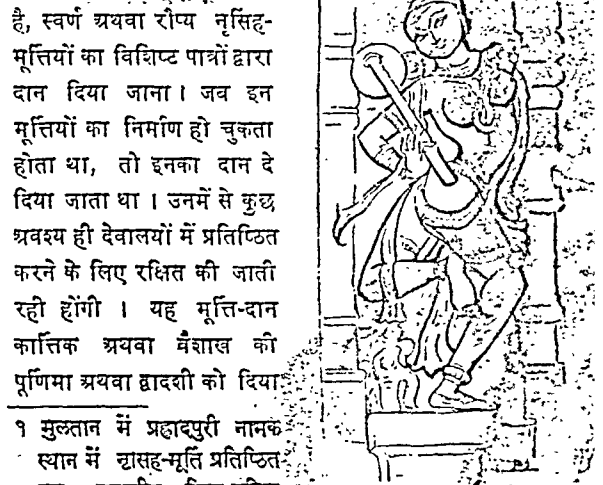
१ मुलतान में प्रह्लादपुरी नामक स्थान में नृसिंह-मूर्ति प्रतिष्ठित एक सुप्राचीन हिन्दू-मन्दिर १८५०तक रहा था।

जाता है। इस अनुष्ठान को सम्पन्न करने से भक्तों को विष्णुपद की प्राप्ति होती थी। ऐसे ही दान-अनुष्ठानों से नृसिंहों की मूर्त्तियों का विस्तार होता था और उन के मन्दिरों का प्रसार विस्तृत होता रहा।

कालिका-पुराण में इस दान की चर्चा है। हेमाद्री के दान-खंड में तो स्पष्ट लिखा है कि सोने या चांदी की चौकोर मूर्त्ति बनाई जावे। नृसिंह-भगवान के वे दांत चांदी के हों, जिन्होंने हिरण-कश्यप की विदीर्ण छाती का रक्त पीया था। उनकी आंखें पद्मराग-मणि से बनाई जाएँ। नख विद्रुम-मणि से, भ्रूदेश पुष्पराग-मणि से और दोनों कान हीरों से निर्मित हों। बाद में इस मूर्त्ति को ताम्रपात्र में रख कर प्रतिष्ठा पूर्वक दान करें।

बांसवाड़ा के लाली बाबा मठ में जो नृसिंह मूर्त्ति प्रतिष्ठित है, उसको अनावरण करके हमने चित्र लिया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में नृसिंह मूर्त्ति की बाह्य रूप-रेखा का जो वर्णन है, उससे वह मिलती-जुलती है। इस पुराण में लिखा है कि भगवान विष्णु की नृसिंह-मूर्त्ति सोने-चांदी से बनी हों। उसके स्कंध देश पीन हों, कटि ग्रीवा और उदर कृश हों। उसे नीलवस्त्र पहनाये जायें। सिंहासन पर बैठा कर उसे विभूषित किया जाये। अपने नखों से मूर्त्ति हिरणकश्यपु का वक्ष-स्थल विदीर्ण कर रही हो। ऊपर के दोनों हाथों में शंख और चक्र हों। प्रायः नृसिंह की सभी मूर्त्तियां सिंहासन पर बैठी हुई मिलती हैं, पर बांसवाड़ा की मूर्त्ति में अधिक प्रकृत सौन्दर्य है और यथार्थता के अधिक निकट है। यह मूर्त्ति खड़ी हुई है और भगवान नृसिंह हिरणकश्यपुको उठा कर अपनी कटि के निकट लटकाये हुए उसकी वक्ष विदीर्ण कर रहे हैं।

नर-नारायण

राजस्थान में नर-नारायण की मूर्त्तियां[1] काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं। वास्तव में ये दो ऋषि हुए हैं। कालिका-पुराण में इनकी उत्पत्ति का प्रसंग दिया गया है। महाबल सरब रूपी महादेव ने अपने दन्ताघात से नृसिंह को दो खंडोंमें विभक्त कर दिया था। अर्ध देह से महातपा दिव्याकृति मुनि रूपी नर और सिंहाकृति अर्ध देह से महातपस्वी नारायण नामक जनार्दन उत्पन्न हुए। देवी भागवत में इन दोनों को धर्म और दक्ष प्रजापति की कन्याओं से उत्पन्न पुत्र बतलाया है। और इसी कथा-प्रसंग में हमें देव-मन्दिरों में शृंगार-मूर्त्तियों की उपलब्धियों का रहस्य भी हाथ लग जाता है। कोणार्क और खजुराहो में शृंगार और मिथुन की मूर्त्तियां बहुत बड़े परिमाण में मिलती हैं, किन्तु राजस्थान में प्राप्त प्राचीन देव-मंदिरों की शृंगार-मूर्त्तियां और मिथुन-मूर्त्तियां अत्यन्त कलात्मक और उद्भूत सात्विक रति की प्रतिनिधिनी हैं!

कहा जाता है कि नर और नारायण ने एक बार कठोर तपस्या की। इन्द्र उनका तपोभंग करने के लिए कामदेव की शरण में गये, जिन्होंने मेनका, रंभा, तिलोत्तमा आदि ८०५० अप्सराओं को भेज कर उनके तप को भंग करने में अथक परिश्रम किया। नर-नारायण को जब यह मालूम हुआ कि देवराज इन्द्र ने उनकी तपस्या भंग करने के लिए इतनी अधिक अप्सरायें भेजी हैं, तो उन्होंने इन्द्र को लज्जित करने के लिए अपनी जंघा से अत्यन्त सुन्दर एक कन्या पैदा की। उससे उत्पन होने के कारण वह उर्वशी कहलाई। नर-नारायण ने इसके बाद इन्द्र द्वारा भेजी गई उन ८०५० अप्सराओं की सेवा करने के लिए ८०५० दासियों की सृष्टि की। निश्चय ही वे अप्सराओं से भी अधिक वजनी सौंदर्य-भार में रही होंगी।

यह अद्भुत दृश्य देख कर अप्सराएँ उनकी स्तुति करने लगीं। तब मुनियों ने प्रसन्न होकर कहा कि तुम अब अभिलषित वर मांगो और उर्वशी को अपने साथ इन्द्रलोक ले जाओ। इसे हमने देवराज इन्द्र को उपहार में दिया। किन्तु उन अप्सराओं ने बार-बार दोनों मुनियों से यही कहा कि हम तो आपको पति रूप में वरण कर चुकी हैं, इसलिए किस प्रकार हम यहां से लौट सकती हैं। बहुत सोच-विचार के बाद दोनों मुनियों ने अप्सराओं से कहा कि अभी हम तपः साधन में लगे हैं, तुम सबका धर्म है कि हमारे उस व्रत की रक्षा करो। ऐसा करोगी तो हम तुमसे खुश होकर अगले जन्म में सबका वरण करेंगे। इस आश्वासन से सन्तुष्ट होकर वे अप्सरायें स्वर्ग को लौट गई। अगले जन्म में जब नर और नारायण ने अर्जुन और कृष्णका स्वरूप धारण किया तो ये अप्सरायें राज-कन्याओं के रूप में उत्पन्न हुई और कृष्ण की १६००० पटरानियां बनीं।

भरतपुर में, रूपवास के निकट २१ फुट लम्बी नारायण की स्थायी मूर्त्ति यद्यपि १७वीं सदी की है, किन्तु अद्भुत प्रमाण है कि नारायण की पूजा कितनी सशक्त रही है। यह सवा सात फुट ऊँची है। पांचों पांडव उनकी सेवा में प्रस्तुत हैं।

...रिणी-लीला

[1] नर-नारायणका मन्दिर बंगाल में है। मेदिनीपुर जिले में तामलुक (जो प्राचीन जनपद था)के अन्दर द्वितीय तामलुक राज वंश के प्रतिष्ठाता राजा ताम्रध्वज ने नर-नारायण के महा कीर्त्तन के लिए कृष्णार्जुन-मन्दिर की स्थापना की थी। प्रवाद है कि अश्वमेधीय घोड़े की रक्षा करते हुए अर्जुन और कृष्ण आये तो देखा कि ताम्रलिप्त-नरेश ने उसे रोक लिया है। युद्ध में जय न पा सकने के कारण अर्जुन और कृष्ण भक्तप्रधान ताम्रध्वज के अतिथि बन गये। तब इस नरेश ने कृष्ण के चरणों की पूजा नित्य की थी और उनके स्वागत की स्मृति में कृष्णार्जुन मूर्त्ति की स्थापना की थी।

शेष

भारत में कुछ प्रतिमाएँ केवल ऐसी हैं, जो केवल राजस्थान में प्राप्य हैं। उनमें से शेषनाग भी एक हैं। शेष नाग के मन्दिर भारत में अन्यत्र नहीं हैं। इस समय इसके मन्दिर में केवल छोटी-सी दो इंची ठाकुरजी की प्रतिमा के रूप में ये शेषनाग विराजमान हैं। किन्तु कहा जाता है कि पहले भगवान शेषनाग की साक्षात् प्रतिमा थी।

यह मन्दिर लोसल में है। नवलगढ़ के प्रतिष्ठापक ठाकुर नवलसिंह जी के नाम पर पहले इसका नाम नोसल हुआ। फिर लोसल। जब तक रेलवे की लाइन सीकर, रींगस, डीडवाणा और कुचामण में नहीं थी, तब नांवा मुख्य यातायात का केन्द्र था। यह कुचामण से आगे ८ मील है—जो कि लोसल से दक्षिण-पूर्व में २८ मील है। पुरानी देशी रियासतों की क्षुद्र और संकीर्ण परिधियों के संदर्भ में यह सीकर और जोधपुर की सीमा पर स्थित होने के कारण एक बड़ी मंडी था। लोहार्गल के वैरागी साधुओं ने इस 'शेष' मंदिर की स्थापना की थी।

हनुमान

प्राचीन विद्वानों का कथन है कि सिंध पर अबूबिन कासिम के आक्रमण से पूर्व वहाँ पर हनु सम्प्रदाय का बहुत जोर था। हनुमानजी ही उस सम्प्रदाय विशेष के मुख्य आराध्य देव थे। प्रायः यह धारणा लोक-समाज में व्याप्त है कि हनुमानजी की पूजा तुलसीदास जी की रामायण प्रकाशित होने के बाद से अधिक व्यापक हुई है। पर यह कोरी भ्रान्ति है। वेलूर में १२वीं सदी की हनुमानजी की उत्कृष्टकला से युक्त प्रतिमा प्राप्त हुई है। वालि-द्वीप की प्राचीन सभ्यता की मान्यताओं पर आधारित जो हनुमान जी की मूर्त्ति मिलती है, वह उनके रौद्र रूप को प्रगट करती है। हाथ तो उनके दो ही हैं, किन्तु उनका जो मुकुट है, वह राजसी छत्र का प्रतीक है। इन दो तथ्यों के अतिरिक्त हनुमानजी की प्राचीनता के बारे में एक तीसरा सबल तथ्य राजस्थान में विद्यमान पांडुपोल[1] है। इसको सुस्पष्ट करने के लिए हमें जनश्रुतियों के कथानक की ओर उन्मुख होना होगा। जिस समय पांडव तेरहवें वर्ष के वनवास का भोग करते हुए विराट्‌नगर जा रहे थे, उस समय की यह बात है। एक निश्चित योजना के अनुसार सब भाईयों के आगे बली भीम चला करते थे, ताकि अज्ञात पथ की निष्कंटकता की खोज वे करते रहें। सघन पहाड़ी वन में भीम देखते क्या हैं कि उनके मार्ग में एक बन्दर सोया हुआ है। भीम ने उससे कहा कि तू अलग हट जा। बन्दर ने उत्तर दिया कि मैं तो आराम से सोया हुआ हूँ, तुम ही रास्ते से अलग हट कर आगे बढ़ो। बात बढ़ गई। भीम ने बन्दर की पूंछ पकड़ कर उसे दूर फेंकने की कोशिश की, पर वह बन्दर तो असीम बोझ की वस्तु सिद्ध हुआ और जब भीम ने जोर आजमाइश की उसे उठाने की, तो बन्दर की पूंछने भीम की बाँहों को जकड़ लिया! तब ऐहसास हुआ कि यह तो कोई मायावी लीला है। इतने में पांडुओं के साथ वार्त्तालाप करते हुए श्रीकृष्ण वहाँ पहुँच गये। उन्हें देखते ही उस बन्दर ने हनुमान जी का रूप धारण किया और उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। श्रीकृष्ण भीम की यह दुर्दशा देख कर हँस पड़े और बोले कि हनुमानजी को प्रणाम करो!

हनुमान जी ने श्रीकृष्ण जी से कहा कि अब मैं अपनी इस देह का त्याग करना चाहता हूँ। केवल आपके दर्शनों के लिए प्रतीक्षा कर रहा था। श्रीकृष्ण ने कहा कि ठीक है, आज से तुम बल के देवता के रूप में पृथ्वी पर पूजित होवोगे और उन्होंने अर्जुन की ओर देखते हुए कहा कि अब कौरवों के साथ युद्ध अवश्यंभावी है, इसलिए अपने रथ पर तुम युद्ध-पताका के ऊपर हनुमानजी का चित्र ही प्रतिष्ठित करना। इससे तुम्हारी साक्षात विजय होगी। अर्जुन ने यह आदेश शिरोधार्य किया। इस संलाप के बाद हनुमान जी विदा हुए। भीम हनुमान जी के प्रति अतिशय निष्ठा से भर गये और उन्होंने उसी स्थान पर विशाल शिला-खंडों को एकत्र कर हनुमानजी के मन्दिर की स्थापना की। लोक-लोकान्तर में यह मन्दिर प्राचीन भारत का बहुत बड़ा एक तीर्थ सिद्ध हुआ। काल-क्रम में जिस तरह अन्य मन्दिर ध्वस्त हुए, कुछ वैसी ही दुर्दशा इस मन्दिर ने भी पाई। आगे चल कर वैरागी साधुओं ने यहाँ पर कबीर का डेरा लगाना चाहा, किन्तु उन्हें अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। जब पुनः यहाँ पर हनुमानजी की मूर्त्ति की स्थापना हुई तो यह पुण्य स्थल श्रद्धालु लोगों के लिए कल्याण और योगक्षेम का क्षेत्र बन गया।

वांसवाड़ा में मठ के हनुमानजी की एक प्रतिमा है। वहाँ के बड़े-बूढ़ों का कहना है कि वह १३वीं सदी की शिला है।

अर्थूणा में एक १० फुट ऊँची प्रतिमा है। कहा जाता है कि वह भी ११वीं सदी के बाद की प्रतिमा है।

राजस्थान में हनुमान जी के कम से कम दो-अढ़ाई हजार हनुमान-मन्दिर मिलेंगे। इन सब में सब से दर्शनीय और गौरव-योग्य निर्माण तो उन पंचमुखी हनुमानजी का है, जो जोधपुर गढ़

द. प्रतुभंजदेवी का [illegible]रंजन

[1] यह स्थान वैराठ-नगर के निकट गहन एकान्त वन में है और सिंहादि वन्य पशुओं से भरपूर पहाड़ी उपत्यका में है। वर्षा ऋतु में यहाँ तक पहुँचना असम्भव कार्य है।

के ऊपर १५ फुट ऊँची विद्यमान है। पंचमुखी हनुमानजी की एक प्रतिमा उदयपुर के रामद्वारे में भी विद्यमान है। कुछ अन्य अलभ्य दर्शन भी राजस्थान में हनुमानजी के मिलते हैं। उनमें से चुने हुए कुछ चित्र इस ग्रंथ में संलग्न किये गए हैं।

वेदों में और बौद्ध-त्रिपिटक व जातकों में हनुमानजी की चर्चा प्राप्य नहीं है। पोजिटर नामक विद्वान् ने हनुमान शब्द को द्रविड़ शब्द आणमन्ती का संस्कृत रूपान्तर माना है और उन्हें किसी प्राचीन द्रविड़ देवता का रूपान्तर कहा है। पर रामकथा में हनुमान देवता के रूप में उपस्थित नहीं होते।

रामायण का वर्त्तमान स्वरूप प्रथम ईस्वी शती से शुरू होता है। उसी समय से १०वीं सदी तक हनुमान-भक्ति का पूर्ण विकास हो चुकता है। दास-भाव में विनीत खड़े हुए हनुमानजी की दिव्य प्रतिमा बूंदी में १२ फुट ऊँची मिलती है। चूरू के किले में हनुमान जी ने तलवार धारण कर रखी है। राजपूत उन्हें इसी रूप में शोभायमान मानते थे। डूंडलोद आदि में भी तलवार आयुध रूप में प्राप्य होती है हनुमान मूर्त्ति पर।

तंत्र-शास्त्रों में हनुमान को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

रामायण में हनुमान जी केशरी और अंजना के पुत्र हैं, किन्तु उनका वायु-पुत्र[1] नाम अथवा मारुती, वायु-सुत, पवन-सूत, वायु-नन्दन, मारुतात्मज, अनिल-सुत आदि जो पर्याय हैं, वे इनकी वास्तविक शक्ति के और उद्भव-विकास के द्योतक हैं।

वाल्मीकि रामायण के किष्किंधा कांड में इनके जन्म की जो कथा दी गई है, उसी में इनकी बाई हनु टूटने की चर्चा आती है, जिससे अंजना-सुत का नाम हनुमान पड़ा।

शैव और वैष्णव दोनों ही इन्हें अपने देव-वर्ग में सम्मिलित मानते हैं। दीनकृष्ण कृत रस-विनोद के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु

और शिव[2]—तीनों मिल कर ही हनुमान में उद्भूत हुए थे। अध्यात्म रामायण में कहा है कि वे नारायण के पार्षद थे। स्कन्द-पुराण में वज्राहत हनुमान शिवलिंग के स्पर्श से स्वस्थ होते हैं। भविष्योत्तर-पुराण की कथा अधिक पठनीय है। वज्र-प्रहार होने पर भी बाल हनुमान ने सूर्य को नहीं छोड़ा तो उसके आर्त्त वचन सुन कर रावण ने हनुमान की पूंछ पकड़ कर खींचना शुरू कर दिया और यहाँ पर रावण के साथ हनुमान का पहला मल्लयुद्ध हुआ। अन्य ग्रन्थों में उनके जन्म की भिन्न कथायें मिलती हैं। हिन्देशिया में हनुमान राम-सीता के पुत्र हैं और बताया है कि लक्ष्मण ने बल पूर्वक सीता की कुक्षि से भ्रूण को निकाल कर अंजना के मुख में रख दिया था!

हनुमान आजीवन ब्रह्मचारी माने गये हैं। हनुमान-सहस्त्र नाम स्तोत्रक में उन्हें जितेन्द्रिय घोषित किया गया है, किन्तु वाल्मीकि रामायणमें रामके प्रत्यागमन का अग्रिम समाचार लानेके उपलक्ष में भरत उन्हें १ सहस्त्र गायें, १०० गांव और पत्नी रूप में १६ कन्याएँ प्रदान करते हैं। जैन ग्रंथ पउमचर्य के एक संस्करण में हनुमान की १ सहस्त्र पत्नियों का और दूसरे संस्करण में ८००० पत्नियों का उल्लेख है—जिनमें रावण की बहन चन्द्रनखा की पुत्री अनंग कुसुमा तथा सुग्रीव की पुत्री पद्मरागा भी शामल है।

ये सब प्रसंग बतलाते हैं कि हनुमान सनातन धर्म अथवा कालातंर में लोकमान्य बने हुए बौद्ध-धर्म अथवा जैन-धर्म से ऊपर अपनी सार्व-देशीय लोकप्रियता ग्रहण कर चुके थे और बहु-पूजित थे।

हनुमान जी की दासभाव एवं पंचमुखी रूप के अतिरिक्त उनके कृतित्व के प्रतीक रूप में दो मूर्त्तियां अधिक मिलती हैं—संजीवनी बूंटी लाते समय विशाल शिला-खंड को उठाये हुए और दूसरा राम-लक्षमण को कंधों पर बैठाये हुए।

राजस्थान के संग्राहलयों में हनुमान जी की किसी प्राचीन प्रतिमा का न होना अवश्य एक विस्मय पैदा करता है।

यह जनश्रुति बहुत प्रबल है कि ये चिरजीवि हैं। तुलसीदास जी गुंसाई को इन्होंने काशी के घाट पर साक्षात् दर्शन दिये थे।

सन् १४१६ में राणा मुकुल के पुत्र कुंभा ने चित्तौड़ के सिंहासन पर आरोहण किया। वे अपने समय के बहुत बड़े वीर हुए। मालवराव मुहम्मद खिजली को उन्होंने बांध कर रखा था। चित्तौड़ का विजय-स्तम्भ उन्हीं का बनाया हुआ है।

चित्तौड़ के एक द्वार पर हनुमान की मूर्ति स्थापित है। यह हनुमान-द्वार कहलाता है। प्रवाद है कि राणा कुंभा इस मूर्ति को अनेक विशाल कपाटों के साथ विजित कर लाये थे।

९. तूर्य-वादिनी का प्रहर्षण

---

१ एक पौराणिक आख्यान में कहा गया है कि जब कुंजर-दुहिता अंजना मनुष्य-वेश धारण कर अपने पति केशरीराज के साथ विहार कर रही थी, तब उसका मनोहर रूप देखकर पवन काम-मोहित हुए। इनके आलिंगन से हनुमान का जन्म हुआ।

षष्ठी-पूजा के समय जब शिशु का संस्कार किया जाता है तो बालक के सर्वाङ्ग का स्पर्श करते हुए उसे ऐसे वस्त्र पर लेटाया जाता है, जिस पर विष्णु के द्वादश नाम लिखे जाते हैं, उनके अतिरिक्त एक नाम चिर-जीवी हनुमान जी का भी होता है।

२ श्री शिवपुराण भाषा के श्री शतरुद्र संहिता के २०वें अध्याय में हनुमान जी को भगवान शिव का अवतार माना है। इसीलिए देवताओं ने इन्हें अनेकों वरदानों से बलिष्ठ बनाया था। इन्होंने सूर्यनारायण से समस्त विद्याओं का लाभ प्राप्त किया था।

रावण

अर्थूणा में रावण की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। २० हाथ और १० सिरों से युद्ध करते हुए रावण का शिला-अंकन बंगाल के कुछ मन्दिरों में भी मिला है। हमारी यह निश्चित मान्यता है कि राजस्थान में रावण की और अधिक मूर्त्तियां प्राप्त रही होंगी। उसका कारण है, जोधपुर के निकट राठौड़ राजपूतों की प्राचीन राजधानी मंडोर रावण की ससुराल रही थी। मन्दोदरी इसी स्थान की कन्या थी। यहाँ पर आज भी एक स्थान रावण-चंवरी के नाम से विद्यमान है। शमसुद्दीन अल्तमस और फिरोज तुगलक ने मंडोर के वैभव को खंड-खंड कर दिया था। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि जयपुर संग्रहालय में आमेट से प्राप्त एक रावणानुग्रह फलक सुरक्षित है, जिसमें शिव-पार्वती आलिंगन-मुद्रा में हैं और उनके नीचे दशमुख रावण कैलाश पर्वत को उठाने का प्रयास कर रहा है। यह पूर्वमध्य युगीय अंकन है।

सूर्य

ऊपर हम लोसल की चर्चा कर आये हैं। इस समय राजस्थान में सूर्य का महत्वपूर्ण मन्दिर भी लोसल में ही है और लोसल से ४ मील दूर सिगरावट है। सिगरावट से जोधपुर की दिशा में २ मील दूर सुजरासन-देवरा है। यह वास्तव में 'सूर्य-आसन देवरा' शब्द था। देवरा देवालयों के लिए आंचलिक भाषा का शब्द रहा है। सुजरासन देवरा में १०वीं-११वीं सदी के कुछ खंडहर पड़े हुए हैं। इन खंडहरों की कलात्मक अभिव्यक्ति ३० मील दूर हर्ष पर्वत पर पड़े हुए १०वीं सदी के खंडहरों के समान है। यह एक प्रमाण है और कहता है कि इस अंचल में सूर्य-मन्दिरों की प्रधानता थी।[1]

नवलगढ़ से खंडेला के मार्ग में लुहारगल पड़ता है, यहाँ का प्रसिद्ध स्नान-कुंड सूरज-कुंड है। लुहारगल की जो परिक्रमा भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी से शुरू होती है, वह इसी सूर्य-कुंड में स्नान से प्रारंभ होती है। उदयपुर में प्रथम ईस्वी सदी के और उससे भी बहुत पहले के अहाड़ सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहीं की खुदाई में सूर्य की दो प्रतिमाएँ मिली हैं। उदयपुर में माघ की श्री पंचमी व वासन्ती पंचमी उत्सव के दो दिन बाद भान सप्तमी व भास्कर सप्तमी के दिन, राज्याभिषेक के उपरान्त सूर्य-मूर्त्ति को रथ में रखकर उत्सव मनाया जाता है। यह प्राचीन शक जाति के बीच में प्रचलित उत्सव था।

सूर्य की अन्य प्रतिमाएँ भरतपुर संग्रहालय में हैं। बांसवाड़ा से ४ मील दूर पर एक भग्नप्राय: मन्दिर विद्यमान हैं, वहाँ पर अभी भी विस्थापित रूप में सूर्य की ५ फुटी प्रतिमा रखी हुई है। निश्चित रूप से यह सूर्य-मन्दिर रहा होगा। इस स्थान का नाम तलवाड़ा है, यह पुरातत्व की दृष्टि से राजस्थान के अनेक इतिहास-संदर्भो का दीर्घ क्रम लिए बैठा है।

सिरोही के पास वरमाण के निकटस्थ सूर्य-मन्दिर के अधूरे-पौने अवशेष अभी तक पड़े हुए हैं। उसे देख कर लगता है कि यह अपने युग के विराट् मन्दिरों में से एक रहा होगा। १८वीं सदी के उत्तरकाल में जहाँ पर बीकानेर राज्य का राजकीय श्मशान, मुख्य नगर से ८ मील दूर स्थापित किया गया है, उसके पार्श्व में जो मन्दिर है, उसमें एक देवरा के रूप में पीतल की अनुपम छोटी सूर्य-प्रतिमा विद्यमान है। सूर्य-रथ पर आसीन ७ घोड़ों का सूत्र संचालन कर रहे हैं। निश्चय ही पीतल की ढलाई का यह नमूना बहुत उत्कृष्ट है। विशेष आग्रह के साथ इसका निर्माण किया गया होगा।

सूर्य के दो मन्दिर जयपुर में विद्यमान हैं। एक तो नगर से जाते समय गलता-पहाड़ी की दाईं चोटी पर ही अद्भुत कल्पना है। नगर के ऊपर सार्वभौम शासक की तरह सूर्य की प्रथम किरणका यह मन्दिर ही आह्वान किया करता है। दूसरा सूर्य-मन्दिर आमेर में मुख्य राजमहल से थोड़ा हट कर उस स्थान पर है, जहाँ प्राचीन आमेर के खंडहर पड़े हुए हैं।

राजस्थान में सूर्य की महत्ता का एक कारण इसलिए भी रहा है कि चन्द्रवंशी क्षत्रियों के अतिरिक्त सूर्यवंशी क्षत्रियों की काफी

१० सन्तप्त मदनिका

१. सूर्य-मन्दिरों की सत्ता १०वीं सदी से पहले प्रशस्त और जग-विख्यात् रूप में आधुनिक मुलतान और प्राचीन कश्यपपुर में रही है। दैत्यों के पिता महर्षि कश्यप के नाम पर इसका यह नाम रहा। हिकाटियस, हिरोदोतस और टलेमी आदि भौगोलिकों ने भी इसका नाम कश्यपपुर कहा है। टलेमी की एक पुस्तक में काश्मीर से मथुरा तक का देश कास्पिरियाइ तथा राजधानी कास्पिरिया कहा है। चचराज के अधीन जब यह राज्य था, तब चीनी परिव्राजक युएन चुवंग (ह्वेनशांग) ने यहाँ सूर्यदेव की एक सुवर्णमयी मूर्ति देखी थी। इन्होंने इस स्थान का नाम मूलसाम्बपुर कहा है। भविष्यपुराण में इस स्थान का नाम मित्रवन कहा है। साम्ब ने इस स्थान में सूर्य-मूर्त्ति स्थापित की थी। मूलतान का नाम सूर्योपासकों के इस प्रसिद्ध मन्दिर से हुआ है। यही संभावना समझ में आती है कि देश में मुसल्मानी शासकों द्वारा भारतीय मन्दिरों के विध्वंस का जो अध्याय ७वीं सदी के बाद प्रारंभ हुआ, उसमें सिंध पर आक्रमण करने के समय मुहम्मद-बिन-कासिम के हाथों यह सबसे पहले टूटा था। मुगल-काल में यहाँ के युग में पुनः बड़ा सूर्य मन्दिर स्थापित हो चुका था—जिसे औरंगजेब ने पुनः तहस-नहस करवा दिया था। यहूदियों के पैगम्बर मूसा (मिस्री भाषा में जिसका अर्थ होता है वरुण-पुत्र) ने हेलियोपोलिस (सूर्यनगर)में लिखना-पढ़ना सीखा था। मिश्री सभ्यता से उद्गमित प्रभाव-क्षेत्रोंमें सूर्योपासना का विस्तार काफी हुआ था।

प्रधानता रही है। उदयपुर के राजमहल से लगभग ४ मील दूर नगर-परकोटे से बाहर एक १०० वर्ष पुराना मठ है, जिसमें मुख्य मन्दिर सूर्य का है। प्रतिमा नवीन है और संगमरमर की है। अभी पिछले दिनों तक यह परम्परा रही थी कि राज्याभिषेक से पूर्व गद्दीधारी होने वाले शासक को इस मन्दिर में उपस्थित होकर सूर्य के आगे धोक खानी पड़ती थी। उदयपुर के मुख्य राजप्रासाद के प्रधान द्वार के ऊपर सूर्य-मुख के दो सुनहरी अंकन विद्यमान हैं। वे एक प्रकार से इस वंश के सूर्यवंशी होने की घोषणा करते हैं।

उदयपुर से पूर्व में मेवाड़ की प्रकृत राजधानी चित्तौड़ थी। चित्तौड़ में जाने के समय स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि क्या यहाँ सूर्य का मन्दिर न रहा होगा? प्रारंभ में चित्तौड़ को मोटी दृष्टि से देखने के उपरान्त यह जिज्ञासा शान्त नहीं होती, किन्तु पुरातत्व की दृष्टि से यदि हम जरा धैर्य रख कर चित्तौड़-गढ़ का अध्ययन करें तो दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। सूर्य-सरोवर अथवा सूर्य-कुंड यहाँ पर विद्यमान है। और ठीक उसके सामने कालिका-भवानी का मन्दिर है। हम ऊपर कह चुके हैं कि राजस्थान में काली की प्रतिष्ठा काफी रही है, किन्तु राजपूती लोकभाषा में और डिंगल-साहित्य में उसका नाम रणचंडी-भवानी रहा है। यह काली-मन्दिर वास्तव में सूर्य-मन्दिर था! मन्दिर के पृष्ठ भाग में अभी भी सूर्य का प्रभावशाली अंकित विग्रह खंडित अवस्था में विद्यमान है। मंडप के प्रमुख तोरण-द्वार पर भी ऊपर सूर्य-मन्दिर के अनेक प्रमाण विद्यमान मिलते हैं। सूर्य-वंशीय क्षत्रियों का यह मन्दिर लगभग ११वीं सदी के आसपास का है और जब यह अपने पूर्ण यौवन में रहा होगा तो निश्चय ही राजस्थान के सूर्य-मन्दिरों में इसकी ख्याति दिग्दिगंत में रही होगी।

राजस्थान में सूर्यनारायण की प्रतिमाएँ मिली हैं।[1]

भगवान सूर्य सभी के एकमात्र उपास्यदेव हैं। संध्योपासना में जो गायत्री का जप है, वह भी भगवान सूर्य की ही उपासना है। भगवान सूर्य अपने आप में प्रत्यक्ष देवता हैं। ज्योतिश्चक्र में उपस्थित होकर ये लोक-समूह की रक्षा करते हैं। उनसे ही यह लोक स्थित और प्रतिष्ठित हुआ है, इसलिए इनका एक नाम सनातन विष्णु भी हैं।

पद्मजी विद्युत्-चपला

1 विष्णुपुराण के द्वितीय अंश के ११ अध्याय के ६ से ११ श्लोक तक सूर्यनारायण की चर्चा आई है, जिनमें कहा गया है कि भगवान विष्णु की जो सर्व शक्तिमयी—ऋक्, यजुः और साम नाम की परा शक्ति है, वह वेदत्रयी ही सूर्य को ताप प्रदान करती है। ऋक्, यजुः और साम रूप विष्ण ही सूर्य के भीतर निवास करते हैं।

ओम् से ही सूर्य का सूक्ष्म रूप आविर्भूत हुआ है। आज से ५० वर्ष पहले तक यह बात ही सबसे ज्यादा प्रचलित थी कि सूर्य की पूजा केवल मुलतान में सर्वाधिक थी। वहाँ पर श्रीकृष्ण के महिषी जाम्बन्ती से उत्पन्न पुत्र शाम्ब ने मुलतान में सूर्य-पूजा की थी। भविष्यपुराण में इस सूर्य-पूजा के सूत्रपात का रोमांचक गाथाक्रम आया है। कहते हैं कि एकबार शाम्ब के अत्यधिक अनुपम सौन्दर्य को देख कर उनकी माता महिषियों में रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बन्ती को छोड़ कर शेष मातापदेन रमणियाँ मोहित चंचल-लुब्ध और वासनापूरित हो गई थीं। इस पर कृष्ण ने उन रमणियों को तो श्राप दिया ही और अपने पुत्र को भी श्राप दिया कि तुम्हारा रूप कुष्ठ, रोगाक्रान्त और मलिन हो जायेगा।

दुखी शाम्ब को नारद ने आश्वासन देते हुए कहा कि तुम मित्र की उपासना करो। शाम्ब ने चिन्ता प्रकट की कि मित्र नाम से सूर्य के प्रतिष्ठित होने पर कौन उसकी प्रतिष्ठा करेगा और कौन उसका पौरोहित्य करेगा। काफी खोजबीन करने के बाद शाक-द्वीप से मग ब्राह्मण लाये गए, जो प्रभाकर के पूजाकार्य में निरंतर रहा करते थे। चन्द्रभागा नदी के किनारे उन्होंने भगवान सूर्यदेव की मूर्त्ति स्थापित की। मनोहर पुरी का निर्माण कराने के बाद उसका नाम शाम्बपुरी दिया गया। उसके मध्य में सूर्य-मन्दिर बना। वह स्थान मित्रवन कहलाया। इस प्रतिष्ठित सूर्य-मूर्त्ति का नाम शाम्बादित्य लोक प्रसिद्ध हुआ है।

समग्र भारत में सूर्य प्रतिमाओंके अधिक विग्रह विद्यमान नहीं हैं, किन्तु राजस्थान में प्राचीन सूर्य मूर्त्तियाँ काफी अधिक मिली हैं।

रेवन्त

ये सूर्य-पुत्र हैं, घोड़े पर आसीन हैं। साथ में छत्र लेकर एक व्यक्ति चल रहा है। इस दृश्य की प्रतिमा भरतपुर संग्रहालय में है और अजमेर में भी सुरक्षित है। वहाँ प्राप्त झलक में रेवंत आखेट से लौट रहे हैं और उन पर छत्र तना हुआ है।

बलदेव

प्राचीन देव-प्रतिमाओं की शृंखलाओं में बलदेवजी का स्थान कहाँ तक निश्चित रहा था, इस संबंध में पूरे प्रमाण प्रशस्त रूप से मिलते हैं। फिर भी एक तथ्य बहुत सबल है, वह हमारी इस जटिल समस्या को सीधी उँगलि उठा कर स्पष्ट कर देता है। भरतपुर की सीमा से लगे हुए हरियाणा प्रदेश का बल्लभगढ़ है। यह दिल्ली-आगरा के बीच में पलवल से पहले आता है। किसी समय यहाँ पर भरतपुर का राज्य था। यहाँ जितने भी मुख्य मन्दिर हैं, वे सब बलदाऊजी के हैं! बलदाऊजी की पूजा यहाँ पर सर्व प्रकार से प्रधान रही है। इस नगर में एक मन्दिर के अन्दर बलदाऊजी की १७वीं सदी की कला-अंकित प्रतिमा विद्यमान है, जिसमें वे हल

वीं सदी से पूर्व सूर्य-मन्दिरों की श्रृंखला समस्त राजस्थान में व्याप्त थी। सूर्यनारायण, रथारूढ़ सूर्य, रथासंदी पर विराजमा
हित सूर्य की प्रतिमाएँ तो मिली ही हैं, झालावाड़ में अभी तक विशाल शिखर को सुरक्षित किये हुए सूर्य-मन्दिर भी सव
पं० …जी विद्युत- अभिनन्दन करने के लिए स्थित है। यहाँ पर मात्र ऐतिहासिक मूर्त्तियों के चित्र प्रेषित हैं। १. सूर्यशंकरादि, झालावा
…लय, चन्द्रभागा पाटन, ९वीं सदी। २. सपत्नी सूर्य, भरतपुर संग्रहालय, ११वीं सदी। ३. रथासीन सूर्य, भरतपुर संग्रह
लगभग १०वीं सदी। ४. लगभग १३वीं सदी के सूर्य, उदयपुर संग्रहालय। ५. बीकानेर के राजकीय श्मसान के नि
न्दर में सूर्य की अनुपम पीतल मूर्त्ति। ६. अजमेर संग्रहालय में रक्षित सूर्य। कमलधारी एवं कवच शोभित। ७. झालावाड़ संग्रहाल
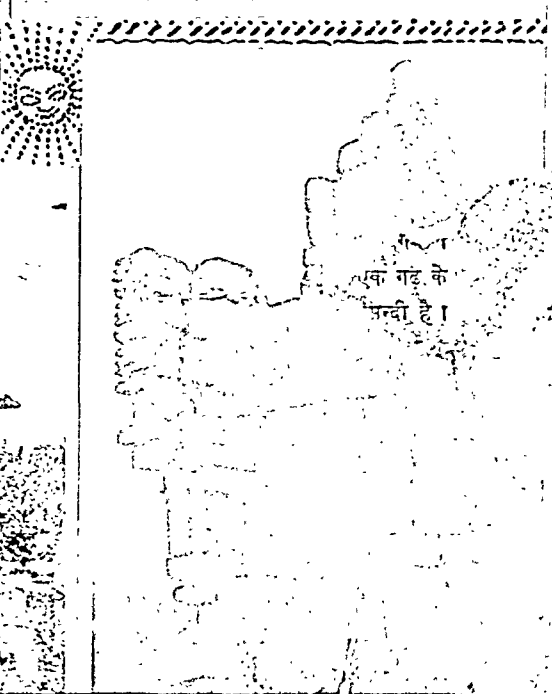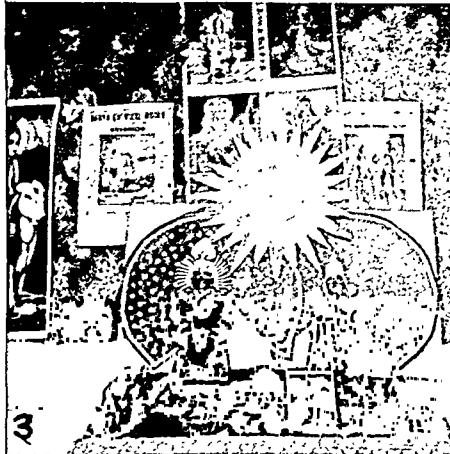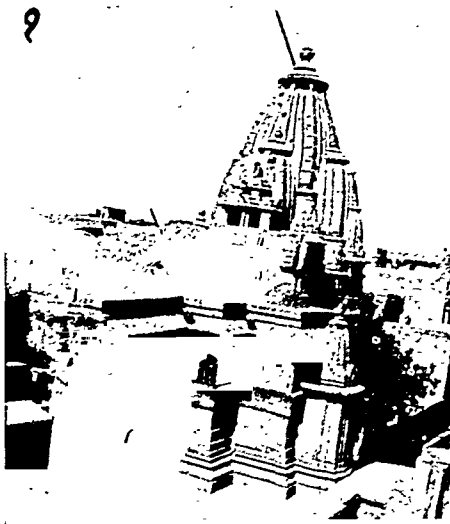
प्लेट-संख्या ३ : सूर्य : इस पृष्ठ पर जोधपुर की सीमा मे हम आगे बढ़ते है और झालावाड़ पाटन व बांसवाड़ा चलते है और जैसलमेर ... ते है ... का सूर्य-मन्दिर, जहाँ अन्दर प्राचीन सूर्य प्रतिमा सपत्नी है, सप्ताश्व हैं। २. झालावाड़ संग्रहालय ... जोधपुर-सीमा पर स्थित लोसल में दैनदिन पूजा-सेवित सूर्य मन्दिर में सूर्य-प्रतिमा सपत्नी। ... के वने सूर्य-मन्दिर की विस्थापित सूर्य-प्रतिमा। ५. झालावाड़ के विराट सूर्य-मन्दिर ... मूर्तियाँ। ६. तलवाड़ा का सूर्य-मन्दिर भग्न अवस्था में, सामने डूंगरपुर प्रचार विभाग-अधिकारी व काली पेंट में खड़े है। ७. लोसल से ६ मील दूर, जोधपुर-सीकर सीमा पर नुजरासन ... सूर्य-मन्दिर रहा होगा। ... आदि मे विद्यमान हैं। उदयपु... ... होता है, उदयपुर ... एक मन्दि...

वारण किये हुए हैं और एक हाथ से मुष्टिका-प्रहार का[1] रौद्र-भाव प्रगट हो रहा है। इस नगर में बलदाऊजी के लगभग ४ मन्दिर हैं। इनका आयुध मूसल भी रहा है। मूसल, धान-सभ्यता के अंचल में, गोपों के केन्द्र ब्रज में काफी रहे होंगे।[2]

यद्यपि हम विषयान्तर हो रहे हैं, फिर भी इस प्रसंग में बोहर की चर्चा हम आवश्यक समझते हैं। दिल्ली से ४० मील दूर हरियाणा प्रदेश में रोहतक है और रोहतक पहुँचने से ४ मील पहले ही बोहर-अस्थल नामक हठयोगियों का स्थान आता है। यहाँ पर एक प्राचीन खुदाई में जो मूर्त्तियाँ निकली हैं, उसमें सबसे विशाल मूर्त्ति हलधर बलदाऊ की है। यह २॥ फुट चौड़ी और ६ फुट ऊँची है। कंधे पर दृढ़ बाहुओं में थमा हुआ विशाल हल टिका है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह मूर्त्ति लगभग १२वीं सदी की है।

तो हम एक सीधी रेखा, बलदेव जी की प्रतिमाओं की उपलब्धि जिन स्थानों पर होती रही है, उनके बीच में खींचने का सरल सूत्र हाथ में इस बोहर-स्थल से पकड़ लेते हैं। रोहतक से जब हम दिल्ली न जाकर एक दूसरे मार्ग से राजस्थान और पंजाब की सीमा पर गुड़गाँव-रेवाड़ी पर आ जायें, तो यहाँ पर अहीरवाटी प्रदेश है। रेवाड़ी लोकमान्यता के अनुसार रेवती का पीहर स्थल था। दूसरे शब्दों में यह बलदेव जी की ससुराल थी। रेवाड़ी में बलदेव जी के मन्दिर अवश्य प्रमुख नहीं है, किन्तु बलदाऊजी की लोकमान्यता अवश्य प्रबल है।

इस अर्धवृत्त को हम पूर्ण कर सकते हैं, भरतपुर तक रेखा को खींचते हुए। यद्यपि ब्रज के अन्तराल में बसे होने के कारण यहाँ कृष्ण के मन्दिर अवश्य विद्यमान हैं तो वे हमारे मन में विस्मय उत्पन्न नहीं करते। हमारी दृष्टि तो बलदेवजी के मन्दिरों को खोजती है और जब हमारी दृष्टि भरतपुर से कुछ पास में रूपवास पर जाकर टिकती है, जहाँ कि बलदेव जी की २२ फुट लम्बी प्रतिमा एक चट्टान में खुदी हुई खड़ी है, तो गहरा संतोष होता है। दक्षिण भारत के गोटमेश्वर की विशाल प्रतिमा की चर्चा प्रायः विशाल प्रतिमाओं में अक्सर आती है, किन्तु बलदेव जी की इस प्रतिमा की कोई तुलना नहीं है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। बलदेव जी के सिर पर ७ नागराजों के फनों का छत्र कलात्मक रूप से तना हुआ है। इस पर १६६६ की तिथि अंकित है। भरतपुर से आगे चल कर जब हम अलवर होते हुए जयपुर पहुँचते हैं तो इस नगर में बलदाऊजी के दो मन्दिर विद्यमान मिलते हैं। इन मन्दिरों में एक नया तथ्य और हाथ लगता है। इन मन्दिरों की सेवा-पूजा जयपुर की राणियों के निजी हाथ में रही। इससे यह पता चलता है कि भरतपुर अथवा ब्रज प्रदेश में दीक्षित अथवा वहाँ तीर्थयात्रा से निष्णात बनी हुई राजकुमारियाँ और राणियाँ बलदेवजी की एकनिष्ठ पूजा में विश्वास करती थीं।

बलदाऊ जी का मन्दिर प्रमुख रूप से फिर हमें कोटा में मिलता है। अन्यत्र जो मन्दिर हैं, वे इतने उल्लेखनीय नहीं हैं।

अजमेर संग्रहालय में बलदेव और रेवती की प्रतिमा प्राप्त हुई हैं, उसे देख कर पुनः यह आग्रही तर्क मुखर होता है कि प्रमुख मन्दिरों में बलदेव और रेवती के दर्शन भी प्रिय माने जाते रहे होंगे।

रेवती

बलदेव जी की पत्नी का नाम रेवती था। यह इसके सौभाग्य-सिन्दूर का प्रताप ही समझिये कि राजस्थान की मूर्त्तिकला में रेवती को सौम्य सम्मान दिया गया है। भरतपुर में रूपवास स्थान पर जहाँ बलदेव जी की २२ फुट लम्बी खड़ी प्रतिमा है, वहीं पर रेवती की भी १६ फुट लम्बी प्रतिमा प्राप्त हुई है। अजमेर संग्रहालय में रेवती की जो प्रतिमा बलदेवजी के वाम पार्श्व में है, वह चित्त को मोहने के लिए काफी है। दाम्पत्य की श्री के रूप में रेवती का दर्शन राजस्थान की रमणियों को मंगलदायी अवश्य रहा होगा।

नाथ

राजस्थान ७वीं सदी के आसपास से गोरख-पंथियों का और हठयोगियों का केन्द्र रहा। कोटा, झालावाड़ आदि स्थानों में लकुलिश की मूर्त्ति का मिलना इसका बड़ा प्रमाण है। हरियाणा में बोहर-अस्थल एक प्रकार से मच्छन्दर नाथ का केन्द्र था। उदयपुर में एकलिंगजी के मन्दिर में हठयोगियों का प्रभुत्व १६वीं सदी तक रहा। जोधपुर में भी इन हठयोगियों का प्रभाव पहुँचा। इसका सबल प्रमाण 'महा मन्दिर' है, जो अपने आप में एक गढ़ के तुल्य है। इसके अन्दर जलन्धर नाथ जी की पूजा-अर्चना होती है। किन्तु यह मन्दिर बहुत पुराना नहीं है। जोधपुर शहर में भी नाथों का एक मन्दिर विद्यमान है।

मुसलमानी आक्रमणों के कारण उन अवशेषों के वास्तविक तथ्यों में कोई तारतम्य बैठाना अब बड़ा कठिन हो गया है कि राजस्थान में नाथों के अन्य कौन-से स्थान थे।

जैसलमेर से ७ मील दूर लुधरवा जहाँ कि जैसलमेर की पुरानी राजधानी थी और जिसे अलाउद्दीन खिलजी ने जमीन से उखाड़ कर नेस्तनाबूद कर दिया था पास एक चट्टान पर कुछ अवशेष

1 मुष्टिकस्य अन्तकः—कंस के दरबार के मुष्टिक नामक मल्ल को मारने वाले होने के कारण बलदेव मुष्टिकान्तक कहलाये।

2 वैशम्पायनोक्त धनुर्वेद में कहा है—

मुसलश्च क्षिशीर्षाभ्यां करैः पादैर्विवर्जितः।
मूले चान्तेऽति सम्बंधः पातनं पोथनं द्वयम्॥

पड़े हुए हैं। कुछ व्यक्तियों का ख्याल है कि यह बौद्धों का स्थान था। ७वीं सदी के बाद इन दिशाओं में बौद्धों का आकर रहना युक्तियुक्त मालूम नहीं होता। यह तो नाथों के डेरों के अवशेष ही कहे जा सकते हैं। इन्हीं नाथों की उत्तर कालीन परम्परा में दादू पंथी जैसे संप्रदायों का आविर्भाव होता है। इन दोनों में उतना ही अन्तर है, जितना अन्तर ७वीं सदी और १६वीं सदी में रहा। शेखावाटी में सकराय माता के मन्दिर में महन्त-पद पर अभी तक कनफटे साधु नाथ जी बैठते आ रहे हैं। नाथों की अन्य गद्दियाँ भी हैं।

कुबेर

सबसे अधिक चमत्कार-भाव को किसी की प्रतिमा प्राप्त हुई है, तो वह कुबेर की है। जैन शिल्प-कला के कुबेर हों चाहे वैष्णवी शिल्पियों के हाथों से टंकित, अनुपम राजसी वैभव उनके स्थलोदर पर वर्पण करता हुआ स्थिर है। उदयपुर, कोटा, झालावाड़ आदि सभी स्थानों में कुबेर की मूर्त्तियों का संग्रह हुआ है। ओशिया के एक भग्न-मन्दिर में कुबेर की बहुत बड़ी मूर्त्ति रखी है। वह तो सचमुच लाजवाब है। हाथ में थैली लिये हुए विराजमान कुबेर अथवा खड़ी हुई मुद्रा में, इन दोनों ही रूपों में कुबेर का अंकन मानो शिल्पि को अखंड तृप्ति देने के लिए हुआ था।

प्रश्न है कि इतनी अधिक कुबेर की प्रतिमाएँ और राजस्थान जैसे चामुंडा, नर-कंकाली-प्रिय देश में? सविनय उत्तर है कि यदि कुबेर की प्रतिमाएँ राजस्थान में न मिलतीं तो भला कहाँ मिलतीं। वैदिककाल की पणि जाति का क्रीड़ा-केन्द्र तो सरस्वती के लुप्त होने के बाद मूलतः इसी राजस्थान में हुआ था। राजस्थान के वैश्यों ने धनकी खेती की। मरुकान्तार प्रदेश में सबसे अधिक मन्दिरों का निर्माण वैश्यों ने करवाया। धन का अर्जन ही जिनके जीवन का प्रधान कौशल है, उनकी हार्दिक आस्था में यदि कुबेर शीर्ष-स्थान नहीं पाते, तो सचमुच विस्मय रह जाता। निश्चित रूप से व्यापारिक जातियों की धन के देवता के प्रति घनीभूत श्रद्धा का दारिद्र्य प्रमाणित हुआ मिलता, किन्तु यह तो असंभव था। कुबेर की दो फूटी प्रतिमाओं का मिलना मन में प्रियता भरता है।

१८६ : ...धान की मोहिनी

कुबेर के प्रसंग में हमें एक तथ्य और, ऐतिहासिक मूल्य के रूपमें, स्मरण करना होगा। रेगिस्तानों से और पहाड़ियों से घिरे हुए इस प्रदेश में वास्तविक सम्पदा भला क्या थी, यहाँ के खनिज और यहाँ की वन-सम्पदा क्या थी, इस सम्पूर्ण सम्पदा का अधि-स्वामित्व जिसने कठिन संघर्षों के बाद प्राप्त किया, वह कुबेर की विस्मृति कैसे कर सकता था!

सकराय माता में, जो कि प्रधान रूप से रुद्राणी-ब्रह्माणी का मन्दिर है, किन्तु जहां पर अब केवल महिष-मर्दिनी और सिंह-मर्दिनी दो प्रतिमाएँ विद्यमान हैं, उसमें जो संवत् ८७६, द्वितीय आषाढ़ सुदी का शिला-लेख मिला है, उसमें मंगलाचरण में गणेश और चामुंडा के साथ धनद (कुबेर) की भी प्रार्थना की गई है। ऐसा क्यों? वह इसलिए कि इस शिला लेख में वर्णित तथ्यों के अनुसार जो निर्माता रहे, वे वैश्य अपने कुबेर की पूजा विगत एक हजार वर्ष में नहीं भूल पाये हैं।

ओशिया में जहाँ माता का मन्दिर है, यद्यपि वह वैष्णवी देवी है, किन्तु ओसवाल वैश्यों ने उसे निजी अधिकार की वस्तु बनाने का अभियान रच रखा है, वहाँ पर भी ओर-पास में गणेश और कुबेर विद्यमान हैं, विराजमान हैं।

ये विश्रवा के पुत्र यक्षाधिपति हैं। महामुनि विश्रवा ने भरद्वाज की कन्या इल्वाला का पाणिग्रहण किया था। बड़े होने पर पितामह ब्रह्माने कुबेर की बुद्धि-चातुर्यता से सन्तुष्ट होकर कहा था कि हम आशीर्वाद देते हैं कि तुम धनपति बन कर सबके पूजित होओ।

एक बार इन्होंने कठोर तपस्या की, तब उससे सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा ने दूसरा वर दिया कि हम तुम्हें पुष्पक विमान प्रदान करते हैं, इस पर आरोहण करके तुम यथेच्छा विचरण कर सकोगे। आज से तुम एक लोकपालकी भांति प्रतिष्ठित होगे। इसके बाद उनके पिता ने आज्ञा दी कि तुम लंका पुरी में जाकर निवास बनाओ। कुबेर ने कुछ दिनों तक लंका में राज्य किया, उसके बाद वे रावणके भय से भयभीत हो कैलाश पर्वत पर अलकापुरी बना कर रहने लगे।

कुबेर यक्ष, किन्नर आदि के अधीश्वर हैं। इनकी देह श्वेत वर्ण है। इनके केवल ८ दाँत हैं और चरण ३ हैं। इस शारीरिक विकृति के कारण ही इसका नाम कुबेर पड़ा है।

कुबेर के नामान्तर—श्रीद, सितोदर, कुह, ईशसख, पिशाचकी, इच्छावसु, ऐलविल, एकपिंग, पौलस्त्य, वैश्रवण, रत्नकर, यक्ष, नरधर्मन्, धनद, नरवाहन, यक्षेश्वर, निधीश्वर, धनेश्वर, किम्पुरुषेश्वर, अल्काधिप और जटाधर है। प्राचीन ग्रीकों (यूनानियों) के भी एक धनेश्वर रहे। उनका नाम प्लुटस है।

यक्ष

यह एक देवयोनि विशेष है और यक्ष अनुचर माने जाते हैं। कुबेर का नाम भी यक्ष है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्रीकृष्ण-जन्म खंड के अन्तर्गत यह चर्चा है।
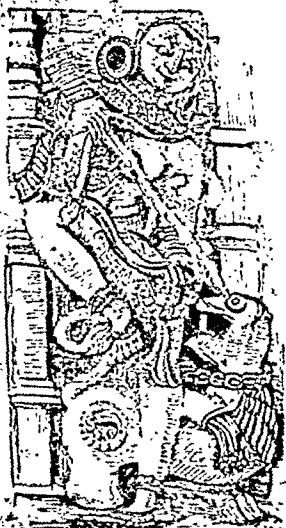
यक्ष की आकृति विकराल होती है। पेट फूला हुआ होता है और कंधे बहुत भारी होते हैं। इनके शरीरावयव बहुत अधिक काले होते हैं।

पौराणिक प्रवाद के अनुसार ब्रह्मा ने जब इस जगत की सृष्टि की तो उन्हें क्षुधा और कोप उत्पन्न हुआ था। क्षुधातुर होकर उन्होंने क्षुक्षाम की रचना की। यह सबके सब कुरूप और दाढ़ी-मूंछ वाले थे। जब वे अपने जन्मकर्त्ता को खाने दौड़े, तो उस समय जिन्होंने यह कहा कि इन्हें पकड़ो और खाओ, वे यक्ष कहलाये।

मनुसंहिता में यद्यपि लिखा है कि बर्हिपद नामक अत्रि-पुत्र से यह यक्षगण उत्पन्न हुए हैं, फिर भी अभी तक यह विद्वानों के लिए निगूढ़ पहेली बनी रही है कि इन यक्षों का जन्म और वासस्थान कहाँ पर था और किस भूमि में इनका निवास था। ईस्वी सदी से ३०० वर्ष पहले तक यक्ष-मूर्त्तियाँ मिलती हैं। कथा सरित-सागर में तो अनेक ऐसी कथायें हैं, जिनमें यक्षों के वैवाहिक संबंध मनुष्यों से हुआ करते थे। शास्त्रों में यक्ष वंश का भी वर्णन मिलता है और यह मानते हैं कि यक्षगण अलौकिक गुण-सम्पन्न हैं। प्रधान रूप से वे कुबेर के धन-रक्षक माने गये हैं।

दिवाली की रात को यक्षरात्रि भी कहा जाता है, क्योंकि उस दिन कुबेर की पूजा का विधान है और विशेष रूप से धन की रक्षा का प्रयास रहता है। भरतपुर के संग्रहालय में यक्ष की एक बहुत बड़ी प्राचीन प्रतिमा संग्रहीत है।

रामचन्द्र

चामुंडा, भैरवी, महिष-मर्दिनी, भैरव और शिव के साथ बड़े पैमाने पर कृष्ण-मन्दिरों के क्रीड़ा-आंगन में सबसे कम संख्या यदि किसी की है, तो वह रामचन्द्रजी के मन्दिरों की है। १७वीं सदी के बाद के राम-मन्दिर तो अवश्य राजस्थान के सभी नगरों में विद्यमान मिलेंगे, किन्तु इसके पहले के मन्दिरों का अभाव मन में एक व्याकुलता-सी भर देता है। धनुर्धारी राम की प्रतिमाएँ किसी भी संग्रहालय में नहीं हैं। नव-निर्मित मन्दिरों में रामचन्द्रजी की जो प्रतिमाएँ स्थापित हुई हैं, वे अवश्य पर्याप्त सुन्दर हैं।

वसुदेव और देवकी

जयपुर संग्रहालय में वसुदेव और देवकी की एकमात्र प्रतिमा ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से रोमांच उत्पन्न करती है। हमारे प्राचीन मन्दिर कितनी वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होते थे, और उनमें देवताओं की मानो समग्र सचित्र कथा सम्पूर्ण रूप से विद्यमान रहे, इसके लिए किसी को भी विस्मृत नहीं किया गया। धर्म तो धन्य तभी है, जब कि वह अपने अन्तः के विराट कथानक को संपुष्ट करने वाले देव-पात्रों की दिव्य झांकी अपने भक्तों को पूर्ण करा दे।

विधाता और विधातृ

सारे मरु-प्रदेश में ही नहीं, सम्भवतः समग्र भारत में विधाता और विधातृ की प्रतिमाएँ प्राप्य नहीं है। झालावाड़-पाटण के शनि-मन्दिर में हमें इस दम्पति की ३ फुट ऊँची प्रतिमाएँ जब हाथ लगीं, तो हृदय अपार हर्ष से भर गया। विधाता और विधातृ दोनों की ही चाहे एक ही प्रतिमा देखने को मिली, किन्तु यह स्पष्ट हो गया कि इनके प्रति केवल लोक-मानस का ही नहीं, मूर्त्ति-कारों का भी सौमनस्य रहा होगा। अन्य प्रतिमाएँ मन्दिरों के भग्नि-करण युग में संभवतः काल-कवलित होती गई।

नारद

बीकानेर राज्य के श्मशान-गृह के पास जो मन्दिर है, उसमें नारद की मूर्त्ति भी प्रतिष्ठित है। इससे अनुमान होता है कि प्राचीन देव-मन्दिरों में उत्खचित शिल्प-अंकन के अन्तर्गत अथवा अनु-देवालयों में नारद मूर्त्ति रूप से समादृत और पूजित होते रहे होंगे। भारतीय देवी-देवताओं की शृंखला में नारद एक ऐसे पात्र हैं, जिनको कोई भी रससिद्ध शिल्पि या मूर्त्तिकार दृष्टि-ओझल नहीं कर सकता। रोम में जिस प्रकार मर्करी की दिव्य मूर्त्तियाँ मिलती हैं, भारत में नारद की मूर्त्तियाँ भी निश्चय ही उनसे सर्वांग सुन्दर रही होंगी।

नारद देवर्षि थे। ब्रह्मा के कंठ से पैदा होने के कारण ये नारद कहलाये। दूसरी निरुक्ति यह है कि पितृगणों को सर्वदा जल-दान देने के कारण इनका नाम नारद पड़ा। श्रीमद्भागवत में (१, १६ अध्याय) नारद का जो कथानक है, वह उनकी ईश्वर-भक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करता है और स्पष्ट करता है कि किस तरह वे अखंड ब्रह्मचर्य धारण किये हुए निरंतर भ्रमण करते रहते हैं।

वास्तव में नारद की जितनी भी प्रतीक कथाएँ हमें मिलती हैं, उनके निगूढ़ अर्थों को उचित संदर्भों में सूत्रबद्ध करने का श्रम किसी विद्वान ने नहीं किया है। वास्तव में सत्य कथा यह है कि नारद हमारी विचरती हुई आत्मा का एक सजीव प्रति-बिम्ब है। हमारी जीवात्मा विभिन्न जन्मों में विभिन्न देहों को धारण कर विभिन्न लोकों का परिभ्रमण करती है, लेकिन नारद एक ही शरीर से सब लोकों में आवागमन करते हैं! सृष्टि की इस अद्भुत रचना को देख लेने के बाद मन में विचार उत्पन्न होता है कि अन्य आत्माएँ तो हँसती भी हैं और

१४. शुभदा छत्रपालिका

कलपती भी हैं, लेकिन नारद हैं कि जो हमेशा ईश्वर की स्तुति का उद्घोष करते हुए और सरस गान गाते हुए ही पर्यटन करते हैं, अखंड जागरण करते हैं और अखंड चराचर जगत का पर्यवेक्षण करते हैं।

ब्रह्म-वैवर्त्त-पुराण में नारद को ब्रह्मा का मानस-पुत्र बतलाया है और जिस तरह एक साधारण मनुज अप्सराओं के बीच में व्यवहार कर सकता है, उसी प्रकार नारद प्रगट होते हैं। वे ५० सर्वश्रेष्ठ गन्धर्व-कन्याओं के पति बनते हैं और दासी-पुत्र रूप में भी जन्म लेते हैं।

अनेक गतियों को भोगते हुए अन्त में उन्हें पुनः ब्रह्मज्ञान होता है और वे मृत्युजित् बनते हैं (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, ब्रह्मखंड २१, २२ अ०)।

वराह-पुराण और महाभारत ने भी इनकी चर्चा की है और यह कथानक प्रस्तुत किया है कि किस तरह नारद एक परम रूपवती रमणी-सुन्दरी की देह में परिणत हो जाते हैं। इस नारद-रूपिणी पत्नी की कोख से एक कद्दू का प्रसव हुआ था!

इस प्रकार नारद के अनेक कथानक हैं।

नेपाल के बौद्ध कथानकों में नारद को बुद्ध कहा गया है। बीकानेर में जो नारद की मूर्त्ति है, वह उनके परिचायक तम्बूरे से अलंकृत है।

अग्नि : वह्नि

राजस्थान में अग्नि की मूर्त्तियाँ प्राप्य हैं। ६-७ वर्ष हुए, सारनाथ में एक अग्नि की विचित्र शिला मिली थी और बौद्धों ने उस पर अपना अधिकार जमाना चाहा था, पर वही शिला अग्नि के अंकन के निमित्त भारत में एकमात्र नहीं रही। कोटा के संग्रहालय में अग्नि की जो प्रतिमाएँ हैं, वे प्रमाणित करती हैं कि प्रायः सभी कलाकृति-मंडित राजस्थानी देवालयों में अग्नि की प्रतिमाएँ अनिवार्य रूप से प्रतिष्ठित की जाती थीं।

५. पुणेश्वर द्वार-रक्षिका

अग्नि के जन्म की कहानी अत्यन्त विस्मयपूर्ण है। अज्ञान भक्ति अविवेक से उसे पढ़ने पर मन में ग्लानि उत्पन्न होती है, पर इस प्रतीक कथा को ठीक से हृदयंगम करने पर हमारे प्राचीन शास्त्रों की गहन दृष्टि का सर्वोत्तम लाभ हाथ लगता है।
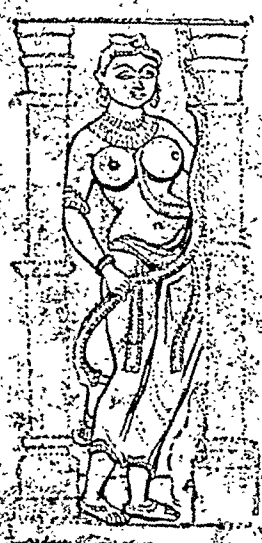
कहते हैं, एक बार ब्रह्मा विष्णु से मिलने जब श्वेत द्वीप गये तो वहाँ पर विष्णु के समक्ष नृत्य करती हुई मनोहारिणी रूपवतियों के नितम्ब-कुच आदि देख कर ब्रह्माजी का वीर्य उनके वस्त्रों में ही स्खलित हो गया। संगीत समाप्त होने पर ब्रह्माजी ने प्रतप्त वीर्य सहित उस वस्त्र को क्षीरार्णव में फेंक दिया। वहाँ तत्काल ब्रह्मतेज से देदीप्यमान एक तेजस्वी बालक उत्पन्न हुआ और ब्रह्मा की गोदी में आ बैठा। उसी समय वरुण भी आये और उस बालक पर अपना अधिकार जमाने लगे—क्योंकि उसका जन्म समुद्र में हुआ था। ऐसे समय विष्णु ने कहा कि यह बालक तो ब्रह्मा का पुत्र है, पर इसकी शिक्षा-दीक्षा का भार वरुण पर रहेगा।

इस प्रतीक कथा का अर्थ यह है कि जितने भी तेजस्वी देवी-देवता सृष्टि में अवतरित हुए, वे साक्षात् संस्पर्श से अथवा दर्शन मात्र से किसी मनोहारिणी शक्ति का उद्रेक-आग्रह मुखर होने के कारण ही उत्पत्ति का विधान प्राप्त कर सके थे।

पुराणों में ब्रह्मा, शिव, नारद, विश्वमित्र, व्यास आदि देवता एवं ऋषि-मुनियों के जो प्रसंग हैं, वे वास्तव में विराट् ज्योतिकणों के अभ्युदय के विद्युत प्रवेग मात्र हैं। वीर्य अथवा ओज का क्षरण भौतिक सृष्टि में दैवी विधान से ओतप्रोत रहा है। उस दिव्य शक्ति-स्रोत का गहनातीत मर्म ज्ञान-चक्षुओं का दिव्य द्वार खोलने के लिए पर्याप्त समर्थ है।

नाग-पूजा

शिव-प्रसंग में ही हमें नागपूजा के प्रसंग प्राप्त होते हैं। राजस्थान में लगभग ३४ से ऊपर किस्म के नाग मिलते हैं।[1] नागपंचमी के दिन सर्वत्र बहेलिए जीवित नागों को पकड़ कर उन्हें घर-घर दर्शन कराने लाते हैं और उन्हें दर्शन करवाते हैं।

वराह-पुराण में नागों का उत्पत्ति-विवरण है। कश्यप की एक पत्नी का नाम कद्रू था। अनन्त, वासुकी, कम्बल, करकोटक, पद्म, महापद्म, शंख, कुलिक, पराजित ये इसी माता के पुत्र थे। और नाग नाम से अभिहित होते थे। इनके काटने मात्र से मनुष्य भस्म हो जाते थे। अनेक पुराणों में बहु संख्यक नागों का उल्लेख है, जिनमें से कुछ प्रधान-प्रधान नागों के नाम हम यहाँ दे रहे हैं।

अकर्मक, अनिल, अपराजिता, अश्वतर, आपूरण, आप्ल, आर्यक, उग्रक, उपनद, उवृत्त, एलापत्र, कम्वल, कर्कोटक, कर्कट, कर्दम, कलमपोतक, कल्मप, कालीपक, कुकुन, कुकुर, कुंजर, कुटर, कुंभोदर, कुमुद, कुमुदाक्ष, कुलक, कुलीर, कुष्मांडक, कुहर, कुशक, कैलासक, कोटरक, कीण-पाशन, क्षेमक, खगजय, ज्योतिष्क, तित्तिरि, दधिमुख, दिलीप, धारण, नन्द, नन्दक, निष्ठानख, निष्ठरिक, नील, पद्म, पद्मद्वय, पिंगल, पिंजरक, पिठरक, पिंडारक,

१ जेम्स टाड ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में तक्षक-राज के उस मंदिर की ही चर्चा नहीं की है, उसकी प्रतिमा का रेखा-अंकन प्रस्तुत किया है, जो उसे भैंसरोड़ गढ़ के निकट नौली गांव में मिला था।

पुंडरीक, पुष्प, पुष्पदंष्ट्र, पूर्णभद्र, प्रभाकर, मणि, मणिनाग, मणिभद्र, महापद्म, महोदर, माल्य-पिंडक, मुखर, मद्गार-पिंडक, मूहर-पर्णक, मूषिकाद, वधिरान्ध, वहुमूलक, वामन, वालिशिख, वाह्य-कुंड, विमल-पिंडक, विरज, विश्वक, विल्वपत्र, विल्व-पांडक, विशुंडि, वृत्त, शंख, शंखपालक, शंखपिंड, शंखमुख, शंकशिरा, शावल, शालिपिंड, शिखी, शिरोपक, श्रीवह, सम्वर्त्तक, सम्वृत्त, सुमनोमुख, सुमुख, सुरसा, सुरामुख, सुवाहु, हरिद्रक, हलिक, हस्ति-पद, हस्तिपिंड, हस्तिमद, हेमगुह आदि।

विविध पुराणों में इन सब नामों का विवरण एवं अन्यान्य नागों का उल्लेख पाया जाता है।

नागों में अनन्त, वासुकि, पद्म, महापद्म, तक्षक, कर्कोटक और शंख ये प्रधान-प्रधान नाग हैं और मनसा देवी की पूजा करते समय इनकी पूजा की जाती है।

नागों के सम्बन्ध में विशेष विवरण देने के लिए हमें राजस्थान के अलावा गुजरात, दक्षिण भारत और बंगाल के अतिरिक्त, विदेशों पर दृष्टि डालने के उपरान्त मिस्र की सब से प्राचीन सभ्यता पर जब सिंहावलोकन करते हैं तो बहुत अधिक सामग्री और तथ्य और प्रवाद और किवदन्तियाँ हाथ लगती हैं। अभी इसका तथ्या-तथ्य निर्णय करने का उचित समय नहीं आया है कि नाग-पूजा भारत से मिस्र पहुँची या कौन से केन्द्र से चारों दिशाओं में प्रसारित हुई, मूल तथ्य की बात यह है कि समस्त विश्व में सर्प मिलते हैं। सर्प के कथानक प्रायः सभी प्राचीन धर्मों में विद्यमान हैं। जो प्रकृत तत्वों के अतिरिक्त पशु और अन्य प्राणियों की पूजा करने वाली जातियाँ रही हैं, उनमें सर्प के प्रति निष्ठा का आधिक्य प्रायः रहा है। 'हिन्दी विश्व-कोश' में कहा गया है कि ईसा से २००० वर्ष पूर्व नागपूजा यहूदियों ने शुरू की थी, किन्तु भारत में भी यह उससे कम प्राचीन नहीं है। पुराणकाल के बाद बौद्ध मूर्त्तियों में और जैन-मूर्त्तियों में भी देव-देवियों के मस्तक पर छत्र रूप में सर्प-फण देखने में आते हैं। इन छत्रों को यदि हम ध्यान से देखें तो किसी में ७फण और किसी में ९ और किसी में ११ सर्पों के फण मिलेंगे। सर्प अमृत्व का निदर्शन स्वरूप माना गया है। कँचुली बदलने से वह चिर-यौवन तथा चिरजीवी समझा जाता है। जनमेजय की जो प्रतीक कथा है, उसका संकेत तो नागगण के शाक्य मुनि के वंश में उत्पन्न बौद्ध- धर्मावलम्बियों के उस दमन का है, जो बौद्ध व ब्राह्मण धर्म के अन्तर-संघर्ष से उत्पन्न हुआ था। काश्मीर में नागपूजा और मनसा-पूजा इतनी अधिक प्रचलित मुगल-काल में थी कि अबुल फजल ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि वहाँ प्रायः ७०० स्थानों में नागपूजा होती थी।[1]

[1] एकलिंगजी (उदयपुर) के पास तक्षक-कुँड है, जिसका इतिहास तो विस्मृत है, लेकिन किंवदन्ती है कि इस अंचल में नाग किसी का दंशन नहीं करते।

देवियाँ

यमुना

यह वेदोक्त नदी है और भारतीय इतिहास में इसकी अत्यधिक चर्चा है। सरस्वती के अन्तःसलिला हो जाने के बाद आर्यों ने अपने उपनिवेश यमुना के किनारे वसाये थे और इसकी पूजा उन्होंने की थी। यही कारण है कि देवी-देवताओं की मूर्त्तियों में यमुना-मूर्त्ति भी गंगा की मूर्त्ति के साथ प्रतिष्ठित और पूजित होती रही है।

शिव और कृष्ण की कतिपय लीलाओं का सम्बन्ध यमुना से रहा है। बलराम ने हल की नोंक से यमुना को वृन्दावन तक पहुँचा दिया था। यमुना का जल विष-पान करने के बाद उन्मत्त महादेव के स्नान से काला पड़ गया था। तभी से इसे वसुन्धरा का केश कहा गया है। ज्येष्ठ मास की शुक्ला द्वादशी को यमुना में स्नान करना एवं पिंड-दानादि करना मंगलमय माना गया है। एतरेय, सत्पथ, पंचविंश ब्राह्मण, शांख्यायन, कात्यायन, आस्वलायन आदि में यमुना का काफी उल्लेख है।

यशोदा

कृष्ण को दूध पिलाते हुए एवं उन्हें गोदी में लिये हुए प्रतिमायें राजस्थान में यत्र-तत्र विद्यमान हैं। साधारण रूप से वे माता के स्तन-पान का लोभनीय रूप प्रगट करती हैं। पर वास्तव में वे यशोदा की अनुकृति हैं।

सती के देह-त्याग के उपरान्त दक्ष और प्रसूति ने देवी की आराधना की थी। यही प्रसूति कालान्तर में यशोदा रूप में जन्मी। ब्रह्म वैवर्त्त पुराण के अनुसार द्रोण की पत्नी धरा ने यशोदा-रूप में जन्म ग्रहण किया था।

योगिनी

१. नारायणी, २. गौरी, ३. शाकम्भरी, ४. भीमा, ५. रक्त दन्तिका, ६. भ्रामरी, ७. पार्वती, ८. दुर्गा, ९. कात्यायनी, १०. महादेवी, ११. चन्द्रघंटा, १२. महाविद्या, १३. महातपा, १४. सावित्री, १५. ब्रह्मवादिनी, १६. भद्रकाली, १७. विशालाक्षी, १८. रुद्राणी, १९. कृष्णपिंगला, २०. अग्निज्वाला, २१. रौद्रमुखी, २२. कालरात्रि, २३. तपस्विनी, २४. मेघस्वना, २५. सहस्राक्षी, २६. विष्णुमाया, २७. जलोदरी, २८. महोदरी, २९. मुक्तकेशी, ३०. घोररूपा, ३१.महाबला, ३२. श्रुति, ३३. स्मृति, ३४. धृति,

१६. सृष्टि-उन्मादिनी धारणी
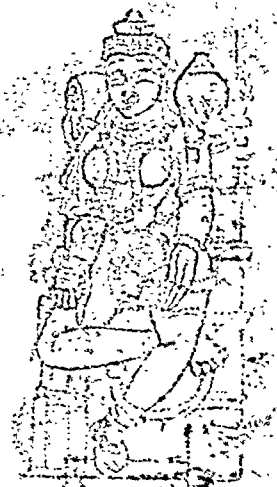
३५. तुष्टि, ३६. पुष्टि. ३७. मेधा, ३८. विद्या, ३९. लक्ष्मी, ४०. सरस्वती, ४१. अपर्णा, ४२. अम्बिका, ४३. योगिनी, ४४. डाकिनी, ४५. शाकिनी, ४६. हारिणी, ४७. हाकिनी, ४८. लाकिनी, ४९. त्रिदशेश्वरी, ५०. महा षष्ठी, ५१. सर्वमंगला, ५२. लज्जा, ५३. कौशिकी, ५४. ब्रह्माणी, ५५. माहेश्वरी, ५६. कौमारी, ५७. वैष्णवी, ५८. ऐन्द्री, ५९. नारसिंही, ६०. वाराही, ६१. चामुंडा, ६२. शिवदूती, ६३. विष्णुप्रिया, ६४. मातृका। वृहन्नन्दीकेश्वर पुराणोक्त, ये चौंसठ योगिनी हैं।

कालिका पुराण में चौंसठ योगिनियों के नाम अन्य रूप में लिखे हैं—ब्रह्माणी, चंडिका, रौद्री, इन्द्राणी, कौमारी, वैष्णवी, दुर्गा, नारसिंही, कालिका, चामुंडा, शिवदूती, वाराही, कौशिकी, माहेश्वरी, शांकरी, जयन्ती सर्वमंगला, काली, कपालिनी, मेधा, शिवा, शाकम्भरी, भीमा, शान्ता, भ्रामरी, रुद्राणी, अम्बिका, क्षमा, धात्री, स्वाहा, स्वधा, अपर्णा, महोदरी, घोररूपा, महाकाली, भद्रकाली, भयंकरी, क्षेमंकरी, उग्रचंडा, चंडोग्रा, चंडनायिका, चंडा, चंडवती, चंडी, महामोहा, प्रियंकरी, बलविकारिणी, बलप्रमथिनी, मनोन्मथिनी, सर्वभूतदायिनी, उमा, तारा, महानिद्रा, विजया, जया, शैलपुत्री, चंडघंटा, स्कन्दमाता, कालरात्रि, चंडिका, कुष्मांडी, कात्यायनी और महागौरी।

अग्नि-पुराण में लिखा है कि दक्ष की ५० कन्याओं को सिद्धि-योगिनी कहते हैं। ये सब योगिनी सर्वलोकमाता हैं, इनके नाम ये हैं—सती, ज्योति, स्मृति, सम्भूति, सन्नति, अरुन्धती, कीर्त्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, मति, बुद्धि, लज्जा, वपुः, शान्ति, तुष्टि, सिद्धि, रति, वसु, यामी, लम्बा, भानु, मरुत्वती, संकल्पा, मुहूर्ता, साध्या, विश्वा, अदिति, दिति, दनु, कालादना, आयुषा, सिंहिका, सुरसा, कद्रु, विनता, सुरभि, श्वासा, क्रोध, इरा और प्राधा।

१७. रति-ऐश्वर्य का सत्व!
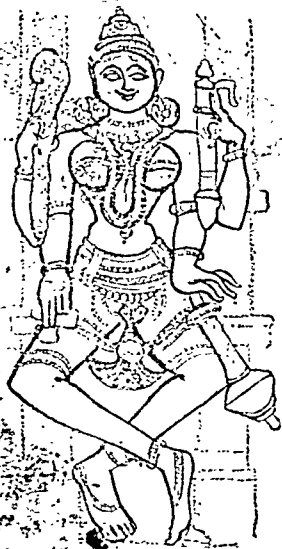
संज्ञा

भरतपुर के संग्रहालय में सूर्य की प्रतिमा उसकी पत्नी संज्ञा सहित प्राप्त हुई है। मारकन्डेय-पुराण के अनुसार यह विश्वकर्मा की कन्या थी। इसी संज्ञा के अश्विनीकुमार तथा खड्ग, चर्म, वर्म, वाण और तूण धारण कर रेवन्त उत्पन्न हुए।

अश्विनी कुमार देव-वैद्य के पद पर प्रतिष्ठित हुए और रेवन्त गुह्यकों के अधिपति-पद पर नियुक्त हुए।

विन्ध्यवासिनी

भगवती के दो रूपों की प्रतिमाएँ प्रायः रही हैं। एक भोगमाया प्रतिमा और दूसरी योगमाया प्रतिमा। प्रयाग के निकट मिर्जापुर जिले में विन्ध्य पर्वत की जो शृंखला घुसती हुई चली आई है, वहीं पर गंगा के तट से लगभग १॥ हजार फुट ऊपर प्राचीनकाल का सुप्रसिद्ध विन्ध्यवासिनी का मन्दिर है। पर्वत पर चढ़ने से पहले नीचे योगमाया का मन्दिर है।[1]

शीतला

वसन्त में प्रगट होने वाले रोगों की यह अधिष्ठात्री देवी है। स्कंध पुराण में इसका स्तवन लिखा हुआ है। नमामि शीतलां देवीं, रासभस्थां दिगम्बरीं।

यह एक विस्मय और आश्चर्य की बात है कि वसन्त आदि रोगों में मंत्र और औषधि आदि का कोई विधान नहीं है, केवल शीतला की आराधना ही तृप्ति देती है। ये श्वेतवर्णा हैं। हाथ में संमार्जनी और कुंभ है और मस्तक पर सूर्य। सोमवार को और शुक्रवार को इस देवी की पूजा होती है।

वासन्ती पूजा

ब्रह्म वैवर्त्त पुराण के अनुसार गोलोकधाम में वास करते हुए श्रीकृष्ण ने मधुमास में प्रसन्न होकर दुर्गादेवी की पूजा की थी। जब मधु-कैटभ युद्ध के समय विष्णु ने भगवती की शरण ली, तो ब्रह्मा ने देवी भगवती की पूजा की थी। यह शारदीय पूजा चैत्र मास में शुक्ला सप्तमी से दशमी तक होती है।

यमि

यम के साथ यमि की मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। यमि नाम यमुना नदी का है, किन्तु गंगा के साथ यमुना की मूर्त्तियों में यमुना का नाम यमि नहीं रहता। ऋग्वेद-संहिता १०,१ सूत्र में यमि को भी देवता और ऋषि बतलाया है। यम का एक नाम वैवस्त है उसका प्रतीकार्य दिन है। यमि का प्रतीकार्थ रात्रि है। और, यमि के परस्पर आलिंग्न न करने का जो भाव-कथानक है, उसका अर्थ यही है कि दिन और रात्रि सदा ही अलग-अलग रहेंगे, उनका परस्पर में आलिंग्न नहीं हो सकता!

सावित्री

इनका नाम गायत्री और वेदमाता भी है, जो सर्वलोक का प्रसव करती हैं, उनका नाम सविता भी दिया गया है। ये ब्रह्मा की पत्नी हैं। सूर्य की प्रश्नि नामक पत्नी से इनका जन्म हुआ था। इन्हीं का नाम ब्रह्माणी भी है। पद्म पुराण के षष्ठी खंड १७वें अध्याय में सावित्री का सहस्र-नाम कीर्त्तिवान् बताया गया है।

उपनयन संस्कार के समय सावित्री की दीक्षा होती है, इसीलिए उसे सावित्री-संस्कार भी कहते हैं।

अजमेर में पुष्कर तीर्थ के ऊपर-पहाड़ पर सावित्री का पूजनीय मन्दिर अवस्थित है।

१ राजस्थान में प्राप्त विंध्यवासिनी का प्रसंग आगे लिया जाएगा।

राजस्थान में महानगरियों की शृङ्खला

[२]

विराट् देव-मंदिरों के आधार-स्थल महानगर एवं लोकप्रिय नगर की प्राचीन व्याख्या करते हुए शास्त्रों ने बताया है कि जहाँ पर बहुत अधिक वणिक् व्यवसाय करते हों और रहते हों, वहाँ पर नागरिकों के निवासों के बीच में देवी-देवताओं के मंदिर विद्यमान हों, वही नगर है। भारतीय संस्कृति की यह प्रशस्त व्याख्या नगरों की भौगोलिक स्थिति का यथार्थ निरूपण ही नहीं करती, उनके महत्वका अंकन भी हमें स्पष्ट कराती है। पुरातत्व की दृष्टि से जिन प्राचीन नगरों की खुदाई हो रही है, उनकी स्थिति में यही सत्य सब से पहले उत्खनन को प्राप्त होता है और वहाँ पर या तो मुद्रायें मिलती हैं अथवा किसी देव-मंदिर के अवशेष प्राप्त होते हैं। राजस्थान के जो प्राचीन नगर रहे, और जिन इतिहास-उल्लेख्य नगरों की पुनर्प्राप्ति हमें खुदाईमें प्राप्त हुई है, वहाँ भी देव-मंदिरों के अवशेष निकले हैं।

अग्नि-पुराण में नगरों की रचना किस सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए, इस विषय पर विस्तार से विचार किया है और उसके बाद स्पष्ट आदेश दिया है कि नगर के मुख्य-मुख्य स्थानों पर देवी-देवताओं के मंदिर स्थापित होने चाहिए। विद्वानों ने अग्नि-पुराण का रचनाकाल ईसा से ५०० वर्ष पहले का माना है। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ईसा से १५०० वर्षों से पहले से नगरों की रचना का क्रम प्रारंभ हो चुका था और उसी अनुपात में देव-मंदिरों की स्थापना का विस्तार काफी अधिक प्रसारित हो चुका था। रामायण में शिव की पूजा के स्थान और उनमें स्थापित लिंग मिलते हैं। महाभारत में देव-मंदिरों की पताकाओं की चर्चा आती है।[1]

पंजाब के दक्षिण व दिल्ली के पश्चिम-दक्षिण में जो विस्तीर्ण भूभाग है, उसे हम वेदकालीन संस्कृति के तृतीय चरण की पावन भूमि कह सकते हैं।[2] ईसा से ४००वर्ष पहले तकके अनेक स्थलों का नामकरण जनश्रुतियों और किंवदन्तियों के आधारों पर जिन रूपों में मिलता है, उससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि सप्तसिंधव सभ्यता की विषम परिस्थितियों से[3] प्रताड़ित होकर आर्यों ने जब पूरब[4] और दक्षिण में प्रवास किया तो वे इस प्रदेश में अपने पूर्ण वैभव के साथ आसीन ही नहीं हुए, यहाँ की सभ्यता के नये अध्याय लिखने में उन्होंने सुरुचिपूर्ण योगदान भी दिया। और इस प्रकार अरावली-उपत्यका में मरु-कान्तार की दिशायें केवल रेतीली ही नहीं रह गई, महानगरियों की चहल-पलह से भी भर गई और जनाकीर्ण संस्कृति में भी आर्यों की विलास-मोदमयी विविधताओं से मुग्ध होकर यहाँ की रेगिस्तानी विडंबनाओं और विभीषिकाओं को भूलने लगीं।

राजस्थान पावन भूमि रहा है। पुष्कर-तीर्थ यहाँ का सर्व प्रसिद्ध स्थान था। तीर्थ अपने आप में महानगर हुआ करते थे और वहाँ पर देवताओं के मंदिर, ब्राह्मणों के निवास और ऋषि-मुनियों के तपोवन निकटवर्ती पहाड़ी अंचलों में विद्यमान रहते थे। आधुनिक बीकानेर डिवीजन के स्थान पर वाल्मीकिय रामायण के युद्धकाल में वर्णित द्रुमकुल्य था। यौद्धेयों ने दूसरी सदी तक रंगमहल, पीर सुलताना, काली बंगा, भद्रकाली और मुंडा थेड़ियों को भलीभांति आबाद ही नहीं कर लिया था, नगरी सभ्यता को भी पल्लवित कर दिया

---

१ ८वीं सदी से पहले प्रयाग के निकट विंध्यवासिनी देवी का जग प्रसिद्ध मंदिर विंध्य-शिखर पर विद्यमान है, जो किसी समय अनार्य जातियों द्वारा पूजित था। यहाँ के प्राचीन खंडहर प्रमाणित करते हैं कि किसी समय यहाँ १५० मंदिर थे और एक सुप्रसिद्ध नगर था। औरंगजेब ने इस पुनर्स्थापित नगर को पुनः ध्वंस कराया—यह आंचलिक बड़े-बूढ़े अब भी बताया करते हैं।

२ श्री विजयशंकर श्रीवास्तव लिखते हैं, "राजस्थान क्षेत्र पुरातत्व की दृष्टि से बहुत ही प्रसिद्ध है। इधर दो दशकों के बीच हुई पुरातत्व-संबंधी शोध के परिणाम-स्वरूप प्रस्तरयुगीन, हड़प्पाकालीन एवं परवर्ती समय के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं—वह विस्मयकारी होने के साथ-साथ इस बात के सबल प्रमाण हैं कि प्राचीन काल में राजस्थान क्षेत्र भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों में सभ्यता एवं संस्कृति की प्रमुख क्रीड़ास्थली थी। अतः यह समझना कि यहाँ का इतिहास राजपूतों के साथ प्रारंभ होता है, भ्रामक ही होगा।"

३ नगर-विहीन देश की चर्चा के प्रसंग ययाति के कथानक में विद्यमान हैं। ययाति जब वृद्ध हो गये, तो उन्होंने अपने पुत्रों से यौवन मांगा। प्रायः सभी पुत्रों ने उनकी वृद्धावस्था लेने से इन्कार कर दिया और वे उन्हें श्राप देते गये। जब द्रुह्यु ने भी इन्कार किया, तो ययाति ने उन्हें श्राप दिया, "जहाँ घोड़े, रथ, हाथी, राजसी सवारी, गाय, गदहे, बकरे, पालकी आदि का गमनागमन नहीं हो सकता, जहाँ बेड़े द्वारा पार करना होता है, जहाँ राज शब्द प्रसिद्ध नहीं, तुम उस देश में वास करो।"

१८. [illegible]

४ ऋग्वेद में इस विकास-क्रमके अन्तर्गत नगरों की चर्चा स्पष्ट रूप से देव-मंदिरों का संकेत करती है। तृत्सुगण ने यमुना किनारे स्थापित अज, शिग्रु और यक्षु नगर बसाये थे, जहाँ से इन्द्र को संतुष्ट करने के लिए अश्व-मस्तक उपहार में दिया गया था। यह प्रतीक कथा है। अश्व-मस्तक का अर्थ है, उतने भार का स्वर्ण।

था। इन्होंने शिव व विष्णु के मंदिरों की निर्माण-परम्परा का श्रेय अर्जित करना हाथ में थाम रखा था।

विराट नगर के उपरान्त

जिन क्षणों में सिकन्दर महान यौद्धेयों की पराजयदायिनी शक्ति का मजा चख कर लौट गया, उस समय तक भारत की सबसे बड़ी नगरियों का प्रदेश पंजाब ही था, अथवा भौगोलिक रूढ़ियों की भाषा प्रयोग करते हुए कहें, तो गांधार और हस्तिनापुर और जमुना के काठे में पूरब से लेकर सिंधु तट के दोनों छोरों पर आर्यावर्त के उन्नत ललाट के प्रतीकवत् महा पुर और विराट पुरियाँ पल्लवित हो चुकी थीं। शौरसेनी जनपदमें राजस्थानी संस्कृति के अनेक नगर मंदिरों की दृष्टि से पूजनीय थे।[1] महाभारत काल में हम राजस्थान की पूर्वी बाँहों पर हस्तामलक-सा रखा हुआ विराट नगर[2] देखते हैं। इसका नाम विराट क्यों था? क्योंकि इस भूभाग में अन्यत्र जो कुछ भी था, वह मरु देशीय यंत्रणाओं से क्लिष्ट लघु रचनाओं का पुंज मात्र था और केवल राजा विराट की नगरी ही चतुर्दिक दिशाओं को आलोड़ित और प्रमुदित करती हुई दिशि-दिशि के लोकमानस में अपना नाम सार्थक करने लगी थी। सिकन्दर महान के समय तक जो महान नगर जमुना के पश्चिम में आबाद हुए, वे इसी विराट नगर की परम्पराओं से उद्भूत हुए, ऐसा आभास इतिहास के सूत्रों से परिपुष्ट होता हुआ उस क्षितिज को भी आलोकित करता है, जो कि गुप्तकाल के बाद अरावली की उपत्यकाओं में सुस्पष्ट होता है।

1 Shri Shivcharan Lal, Curator, Bharatpur Museum, writes, "Bharatpur Region is very rich in sculptural heritage. It has supplied us theearliestspecimens in sculptural field from the point of view of both quality and quantity. Its importance lies in the fact that the State Museum possesses, besides rare pieces of work of art, sculptures belonging to the period ranging from the late-Mauryan period down to the 16th century A. D."

२ जयपुर से दिल्ली सड़क पर ५२ मील दूर है। इस अंचल में अनेक पुरानी गुफायें हैं। यह बीजक की पहाड़ी के अन्तराल में बसा है। अशोक के दो शिलालेख यहाँ से प्राप्त हुए हैं। यहाँ पर भारत का सबसे प्राचीन गोल मंदिर खुदाई में मिला है। अकबर-काल का शिलालेख भी गौ-वध-निषेध का है।

१९. [illegible]त-प्रिया

ऋग्वेद[3] में जमुना की चर्चा सरस्वती से पहले आने लग गई थी। आर्यों ने यमुना-किनारे उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। सप्त-सप्त जन शक्तिमान् मरुत्—एक आदमी मुझ को एक सौ के हिसाब से धन प्रदान करे; मैं यमुना-किनारे बैठ कर प्रसिद्ध गोधन प्राप्त करूँ। गोधनप्रिय आर्य इसीलिए यमुना-तट पर बसे थे। यमुना-तट पर स्थापित आर्य-उपनिवेशों के बाद उनका विस्तार राजस्थान की दिशा में भी काफी हो चुका था।

विषय-प्रसंग में हम आगे अपने राजस्थान के तीर्थों की चर्चा करेंगे। एक-एक तीर्थ[4] एक-एक नगर का द्योतक रहा है, इस दृष्टि से उनका परिचय हमें मिलेगा। पर यह अवश्य स्मरण रखें कि सब तीर्थों के बीच पुष्कर ही परम पूज्य केन्द्रीय तीर्थ था।[5]

गुप्तकाल से पहले मौर्यकाल आता है और इस युग में मेवाड़ में मौर्यकालीन नगरियों का रोपण हुआ है। इसकी साक्षी उस खुदाई से होती है, जो कि चितौड़ के निकट हुई थी। गुप्तकालीन साक्ष्य और सूचनायें भी समय-समय पर अर्द्धसूत्रों के रूप में प्रकट होती रहती हैं। गुप्तकाल में ही मालव अहिच्छत्रपुर (वर्तमान नागौर) के अधिकारी थे। इसी समय से अर्जुनायन गण ने भी राजस्थान

३ ऋग्वेद १०।७५।५।

४ तीर्थ अनेक मंदिरों के समूह को कहते थे। पावन जलधारा के किनारे मंदिर-समूह अधिक लोकप्रिय तीर्थ बनते थे। पुण्य-अर्जन के ये साधन-क्षेत्र थे। भौतिक दुनिया की माया से अलिप्त होने के बाद यहाँ पुण्य की कमाई होती थी।

ययाति ने स्वर्ग से पतित होने के बाद कहा कि जब तक तृष्णा का त्याग न किया जाए, मनुष्य सुखी नहीं रह सकता। मेरे पास पुण्य रूप प्रचुर धन जमा था, जिसे मैंने दर्प के कारण खो दिया, अभी वह लाख उपाय करने पर भी मुझे नहीं मिल सकता।

४ श्री परमेश्वरलाल सोलंकी लिखते हैं, "संभवतः गुप्तकाल में ब्रह्मावर्त के दोनों बाजू बहने वाली सरस्वती और दृषद्वती इन दोनों नदियों का मध्य भाग आधुनिक पल्लूघाटी के रूप में बसना प्रारंभ हुआ। तब तक ऋग्वेद की अश्वन्मती रीयते संरभध्वं उत्तिष्ठतः प्रतरता सखायः—विशाल पत्थरों से बहने वाली दृषद्वती महानद का संचय किया हुआ विशाल प्रस्तर समूह हजारों मन रेत के नीचे दब चुका था और इस रेतीले भू-भाग पर भी मनुष्य के चरण पड़ने लगे थे। फिर भी ठेठ दृषद्वती के मुहाने पर सूरेवाला से लेकर पुष्करराज तक समुद्र के अव-शेषों के रूप में खारी पानी की झीलें, तालाब और बरसाती पोखर उत्तर मध्यकाल तक वर्तमान रहे। ठीक पल्लू के निकट स्थित दसरा-सर, कालासर, सिंगरासर आदि तालाबों से लेकर उसके पूर्व-पश्चिम में कानोलाई, मोटालाई, साड़ेलाई, धानसरिया, खँदया, जबरासर और मेघाना आदि छोटे-बड़े पोखर तालाबों के बाद दक्षिण में क्रमशः लूणकरणसर, डाँडूसर, मालासर, खारो, कानासर, कोडमदेसर, पीलाप, गजनेर, कोलायत, छापर और सांभर तक इन झीलों की एक पंक्ति बनी रही। केवल पुष्कर की झील ही तब इन झीलों में मीठे पानी की झील थी, अतएव वह पवित्र मानी गई और उसके तट पर चतुर्वेद ब्रह्मा का मंदिर बना।"

में प्रवेश किया, जो 'वैश्यों' की तरह से काफी समय तक प्रवासी रहे, पर जिनका योगदान नगरियों के वसाने में माना जायेगा। उसके वाद राजस्थान में चौहान-युग आता है, उस काल के प्रायः सभी चिन्ह विद्यमान मिलते हैं और इन्हीं के आधार पर शृंखलाबद्ध रूपमें जो महानगरियां दिल्ली से लेकर अजमेर के आगे तक एक सीधी वर्तुलाकार रेखा में चली गई थीं, उनके आसार खोजने पर सामने प्रकट हो जाते हैं। इनके हाथों जांगल प्रदेशों में अनेक शैव मन्दिर वने, जिनमें से अव केवल तीन का नामोनिशां मिलता है—१. पल्लू, २. रतनगढ़, ३. मोखाना। यह तीसरा मंदिर उमा-महेश्वर का होगा। १२ वीं सदी के लगभग वना था। रिणी, जांगलू, नौहर और कालू आदि के प्राचीन मंदिर भी अपने पूर्व नगरों की स्पष्ट सूचनायें देते हैं।

फरीदावाद से अरावली की शृंखला का सूत्रपात पश्चिम-दक्षिण दिशा में होता है। गुड़गांव की दिशा में, दिल्ली को आवृत्त करती यह हुई पर्वत-पंक्ति फिरोजपुर झिरका तक चली गई है और सोहना के पास से कलियाणा की पहाड़ियाँ (भिवानी के पीछे से) नारनौल और नीमका थाना को अपनी वाहों में समेटती हैं।

फरीदावाद में पारासर ऋषि का आश्रम था और वहाँ पर एक जलधारा वर्ष-पर्यन्त वहती है। सोन में गरम जल के स्रोत हैं। फिरोजपुर झिरका में फिर ५०० फुट ऊपर से एक जलधारा नीचे वरावर वहती है। इधर नारनौल के पहाड़ ढोसी पर (जहाँ से दूसर वाणियों का उद्‌गम है और जो लोग वाद में भार्गव ब्राह्मण अपने को कहलवाने लगे!) तीन जल-स्रोत हैं। जरा आगे चलें तो खंडेला से लेकर रघुनाथगढ़ तक एक शृंखला है, जिसके दस मील आगे से दूसरी शृंखला हर्ष-पर्वत और रवासा पहाड़की हैं, जिसकी उपत्यका में जीणमाता भी स्थित है। यहाँ दीर्घसूत्री इन चंचलायमान पहाड़ी शिलाओं में सकराय, लुहारगल, रघुनाथगढ़, जीणमाता आदि स्थानों पर जलधारायें मिलती हैं। हर्ष पर्वत की जलधारा अव सूख चली है। यहाँ दो नदियाँ वर्षा में अव भी अपना संगम वनाती हैं। इस संयुक्त जलधारा का नाम अव भी पुराने नाम से—छनधारा से परिचित हैं।

ये जलधारायें अपने आक्रोड़ में महानगरियों को लिये वैठी थीं।

ई०पू० ३०० वर्ष तक पुष्करराज का आविर्भाव हो चुका था, वे प्रकट हो गये थे। अजमेर में सागरों का निर्माण कर दिया गया था। शाकंभरी के नमक-सागर का सदुपयोग होने लगा था। रवासा सागर से भी नमक निकल रहा था।

नगर या पुर उन स्थलों की अपेक्षा रखते हैं, जहां पर अधिकतम संख्या में मनुष्य केवल खड़ा ही न हो सके, अपने परिवार को लेकर उनका पोषण करने की सामर्थ्य भी जुटा सके। चौहान-युग के प्रारंभ से पहले, गुप्तकाल छिन्न-भिन्न हुआ था और नये गर्विततत्व सिर उठा रहे थे। जो सृजन सर्वोच्च स्तरीय था, उसके प्रति व्यापक ईर्ष्या वलवती होने लगी थी। अतः ऐसे भूभागों की खोज हो रही थी, जहाँ पर ईर्ष्या और द्वेष का अतिक्रमण न हो सके। यद्यपि मरुधाराओं का अधिक विश्वास नहीं था, लेकिन पार्वतीय संरक्षण का विश्वास तो किया ही जा सकता था। दक्षिण की दिशा में जो राजमार्ग खोजे गये थे, वे इसी अरावली उपत्यका की सार्वभौम हरियाली के मनःहर अंचल में से गुजते थे। शनैः-शनैः यहां लघु पुरियाँ क्रीड़ायें करने लगीं, वड़ी पुरियों का स्वरूप आश्वस्त होने लगा, ऋतु-प्रकोप से निश्चिन्त पुर अपने तीर्थस्थलोंके वरद् हस्तका प्रसाद पाने लगे। कलियाणा की पहाड़ियों में से वहनेवाली अजस्र-धाराओं से धन्य-धन्य होकर भिवानी के आसपासकी भूमि में सर्वाधिक पुष्पों की खेती का सौभाग्य जाग्रत हो चुका था। इत्र का और सुगन्धियों का निर्माण व्यापक पैमाने पर यहीं मूर्त होने लगा। यहाँ अनेक व्यापारिक नगरियों का सिलसिला शुरू हुआ। जहाँ उत्तर भारत में राज्यक्रांतियों ने अस्तव्यस्तता फैलाई, वहीं इन अंचलों में नागरिक सुदक्ष गणराज्य का सुदृढ़ कवच ओढ़े वैठे थे। नरहड़ भिवानी के पास विचक्षण राजमहलों की नगरी थी। खंडेला महाभारत काल के वाद से यद्यपि कई वार निर्जन वन चुका था, लेकिन वहाँ के राजप्रासाद पुन-पुनः सुभिक्ष के तरंगायित आनंद से विभोर हो जाते थे। लूहारगल एक धाराप्रवाहिक तीर्थयात्रियों की दृष्टि से महामहिम सम्मिलन केन्द्र था, संगम की उपाधि अवश्य उसे नहीं मिली थी। इसी प्रकार शक्रधारा के निकट, चिराणा[1] ब्रह्माणी देवी के पूजनीय मन्दिर को शिरोधार्य किये हुए ब्राह्मणों की पवित्र नगरी थी। शक्रधारा के क्रोड़ में जो सवसे उपजाऊ भूमि थी, वहाँ पर धनिक खेतिहर प्रचुर कृषि का ह्रास वटोरते रहते थे। और यहाँ की महानगरीमें कृषि-व्यापारियों का अंश फलता-फूलता जा रहा था। रवासाकी पहाड़ी के दोनों ओर नमक व्यापारी ही आवाद नहीं हुए थे, गणों के प्राण स्वरूप सभी प्रकारके हस्त कौशलोंमें पारंगत कलाकारों का जमाव भी हो गया था। हर्ष का पर्वत ऐसे ही धन्यभाग मनुजों से और व्यापार-धनी वैश्यों के स्थायी प्रवास से घिर कर प्राणवन्त वना था और वहाँपर सर्वोच्च

२०. [illegible]

१ यहीं पर सेठ जमनालाल बजाज के पूर्वज वसते थे।
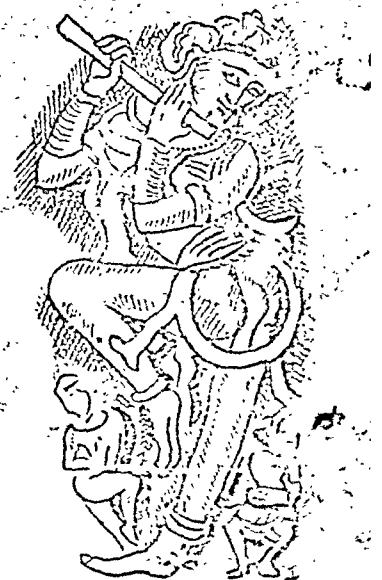
शिखर से गौरव-मंडित शिवालय स्फूर्त हुआ था। एक प्राप्त शिला-लेख के अनुसार यहाँ सन् ९७३ से पहले ८४ मंदिर थे। निकटवर्ती सभी राज्यतत्त्वों का वहाँ इष्टदेव था। यों खंडेला, लुहारगल, शुक्रवारा, रवासा, चिराणा, नरहड़, कलियाणा, नारनौल आदि प्रदेश शिव-मन्दिरों की क्रमबद्ध शृंखला के सुदृढ़ प्राचीर बने हुए केवल मात्र शैव संस्कृति ही नहीं, वैष्णव संस्कृति के वंदनीय गढ़ों की उपाधि पा चुके थे। हर्ष का श्रीहर्षनाथ का मन्दिर, यही कारण है, कि अपने समीप नित्य नये मन्दिरों की पंक्तियों से धर्मतीर्थ के रूप में महत् होने लगा था।

शाकम्भरी का राजा वाक्पति सन् ९३१ के बाद एक से एक विजयों में लिप्त हो रहा था। कहते हैं कि उसने १८८ विजय प्राप्त की थीं। यद्यपि ये अर्जित की गई थीं, यही कहना न्यायसंगत होगा। उसीका पौत्र विग्रहराज द्वितीय था, जिसने हर्ष पर विशाल नया शिव मंदिर बनवाया था। विग्रहराज शाकम्भरी की गद्दी पर था, इस नाते वहाँ कितना बड़ा महानगर अस्तित्व में आ चुका था, यह हम सहज में ही कल्पना कर सकते हैं।

इसी वंश के पुत्र लक्ष्मण सिंह ने रींगस के पास नाडोल राज्य की स्थापना ही नहीं की, एक बड़ा नगर भी स्थापित हो, ऐसी सुविधायें, प्रदान कीं। उसने भी अपने राज्य में नीलकंठ महादेव का विशाल मंदिर बनवाया।

जरा हम अपनी दृष्टि यहाँ से हटाकर खेतड़ी और सिंघाणाकी पहाड़ियों पर डालें। वहाँ पर बबेरा गांव था, लेकिन अपने समय में वह विशाल नगर था। इसी नगर से छः मील दूरी पर, पहाड़ी उपत्यकामें बाघेश्वर का विशाल मन्दिर था और वहाँ की मूर्तिकला किसी भी रूप में हर्ष पर मिलनेवाली मूर्त्तियों से कम न थी। इसी बबेर गांव से उठे हुए लोग बबेरवाल कहलाये। गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा ने इसी बबेर शब्द का रूपान्तर बेरक भी कहा है। यह बाघेश्वर का मन्दिर लगभग १० वीं-११ वीं शती का रहा। इसी क्षेत्र में बाघोर नामक एक अन्य प्राचीन नगर था, जहाँ विशाल मन्दिर विद्यमान थे। इन मन्दिरों के खंडहरों में समस्त भारत की मूर्ति कला से एकदम विशिष्ट परम्परा विद्यमान है, विभिन्न विषयों से आवृत्त अत्यधिक बाघ की मूर्त्तियाँ उपलब्ध हैं। एक और टीला (मिट्टी में दबा नगर) है, जिसे ग्रामीणजन तोंद कहते हैं। यहाँ से निकली हुई पौराणिक देवताओं की मूर्त्तियाँ किसी विराट कला-समादृत मन्दिर की सूचना देती हैं। इस स्थान का नाम ऐतिहासिक दृष्टि से पट्टण था। खेतड़ी[1] की चर्चा तांबे के कारण मुगल काल में काफी रही। पर यहाँ पर उससे पहले के अन्य कई नगर रहे।

गजगामिनी की मृदु-गति

अजमेर अपने राज्य की राजधानी थी। राजधानियाँ महापुर से अलग, कुछ विशिष्टता लिये हुए, हुआ करती थीं। वहाँ पर राज्य-पोषित श्रेष्ठियों के महल अपने अलग मुहल्ले बना कर खड़े रहते थे। इन्हीं श्रेष्ठियों से पुष्कर का तीर्थ तीर्थराज बनने लगा था।

यह केवल पूर्व की स्थिति थी। दक्षिण में और दक्षिण-पश्चिम में जो मरु-प्रदेश थे, वे नगर-विहीन न थे। १०वीं सदी तक सहज गणना के आधार पर हम यह तो मान ही सकते हैं कि समूचे राजस्थान में कम से कम १०१ महानगरियों का अस्तित्व था और उनकी बाहुएँ इस तरह मिली हुई थीं कि उत्तर भारत से मुसलमानी आक्रान्ताओं से उत्पन्न राज्यक्रांतियों के आतंक से, भागी हुई भयत्रस्त आबादी को यहाँ पर अभय संरक्षण प्राप्त हुआ था। और इसी रूप में इस प्रदेश की सभ्यता में चित्र-विचित्र रंगों का सम्मिश्रण खूब-खूब छा गया था।

मीरा के जन्मस्थान मेड़ता की चर्चा सन् १४८८ के आसपास से आती है कि उसे जोधपुर के अधिपति राव जोधा के चौथे बेटे राव दूदा ने बसाया था। इसी नगर के निकट कुड़की गाँव में राव दूदा के पुत्र राव रत्न सिंह की पुत्री मीरा जन्मी थीं। मेड़ता तथा कुड़की यद्यपि ग्राम थे, लेकिन, जनपदीय मनुष्योचित आवासों की शृंखला में परिवर्धनशील नगर थे। यहाँ की भौगोलिक स्थिति यह है कि सांभर के आसपास मीठा पानी बहुत दूर-दूर से मँगाया जाता है। फिर भी यहाँ मनुष्यों ने बड़े अधिकार के साथ बड़े नगरों की रचना की। सांभर, कुचामन, डेंगाना आदि स्थान इसी गिनती में आते हैं। मेड़ता में अभी कुछ समय पहले तक ५२ मंडियाँ थीं।

इसी जोधपुर राज्य के अन्तर्गत वर्तमान भीनमाल नगर की कहानी हम देखें तो पता चलता है कि यह अपने समय का एक विशाल नगर था। स्कन्ध-पुराण के अन्तर्गत श्रीमाल पुराण की चर्चा हुई है, जिसमें श्रीमाल के मन्दिरों व जलाशयों आदि का माहात्म्य है। सौगन्धिक पर्वत के उत्तर और अर्बुदारण्य के

---

१ खेतड़ी की पहाड़ियाँ संसार की प्राचीनतम चट्टानों में अपना स्थान रखती हैं। यहाँ पर्वतमाला के बीच में यदि आप ५-१० दिन पैदल भ्रमण करें, तो स्पष्ट पता लग जाता है कि किस सतह पर यहाँ समुद्र लहराया करता था—यह सारा प्रदेश किसी समय समुद्राधीन था।

वायव्य कोण में सिद्धिप्रद अंबक नामक सरोवर था—यह एक बड़ा तीर्थ था। इसके निकट प्राचीन नगर रहे। यहीं पर लक्ष्मी नामक भृगु-कन्या ने विष्णु से विवाह करने के उपरान्त स्नान करनेसे मनुष्य-रूप का त्याग कर देवी रूप प्राप्त किया था। अतः लक्ष्मी ने विश्वकर्मा को आज्ञा देकर यहाँ नगर-रचना का आदेश दिया। लक्ष्मी ने स्वयं यहीं निवास करना प्रारंभ किया। इसी श्रीमाल नगर में ९० हजार वणिक रहने लगे। ब्राह्मणों की संख्या भी बहुत अधिक थी। यहाँ लक्ष्मी का प्राचीनतम मन्दिर विद्यमान हुआ। कवि माघ का स्थान यहीं रहा।

१०वीं शती के आसपास जोधपुर अंचल में ददरेवा स्थान था, जहाँ गोरखनाथ के चरण पड़े थे।

७वीं सदी के बाद से हमें उदयपुर के अंचल में अनेक प्राचीन नगरों की चर्चा मिलती है। सन् १९११ में उदयपुर में १७ प्रधान नगर थे और ८३५६ ग्राम थे। छठी सदी से पहले यहाँ पर आहाड़, वल्लभीपुर, कल्याणपुर, नागदा, भंडेरादुर्ग, नगेन्द्र नगर और चित्तौड़ थे। बाद में कुम्भलगढ़ महत्व को प्राप्त हुआ। नांदसा से यूप-स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, जो संभवतः २२५ ई० के हैं। इनसे पता चलता है कि शक्ति-गुण गुरु ने षष्ठीरात्र-यज्ञ संपन्न किया था।[1]

कतिपय प्राचीन नगर

आहाड़—मेवाड़ राजसिंहासन के प्रतिष्ठाता राजा कनकसेन लोहकोट का परित्याग करते हुए द्वारका पहुँच गये थे, लेकिन वहाँ जब हूणों द्वारा खदेड़े गये, तो उन्होंने दलबल के साथ उदयपुर के आहाड़ नामक स्थान में आश्रय ग्रहण किया था, जो कि उस समय एक व्यापारिक स्थान था और अपने अंचल का मुख्य नगर था। आहाड़ सभ्यता की वजह से यह फलाफूला नगर था। व्यापारिक नगर में प्रायः आश्रयखोजी राजपरिवार निवास ग्रहण करते रहे हैं। यहाँ से दो अभिलेख (उदयपुर संग्रहालय) मिले हैं।

वल्लभीपुर—यहाँ जब हूणों ने आक्रमण किया, तो युद्ध हुआ। चन्द्रावतीपुरी के परमार राज की कन्या, शिलादित्य की स्त्री पुष्पवती ही की केवल जान बची थी।

भंडेरा दुर्ग—सातवीं सदी के पहले का एक दुर्ग-नगर, जहाँ पर नागादित्य के तीन वर्षीय बालक बापा को यहाँ रखा गया और यदुवंशीय भील-सरदार के आधीन उसका लालन-पालन हुआ। यदुवंशीय सरदार केवल राजपूत ही नहीं हुए, यह तथ्य यहाँ पर उल्लेखनीय है।

नगेन्द्र नगर—पराशर वन के मध्य यह नगर स्थित था, यहीं पर बाप्पा का बाल्यजीवन व्यतीत हुआ था।

चित्तौड़—बापा ने सबसे पहले इसे विजित किया। किन्तु इसका इतिहास मौर्यकाल के अन्त समय से प्रारंभ माना जाना चाहिए। यह सूर्य, विष्णु और शैव पूजा का प्रधान स्थान रहा है।

उदयपुर—अकबर के काल में विक्रमाजित के उपरान्त, उदयसिंह ने यहीं मुगल सेना से हारकर आश्रय ग्रहण किया था, यह उनके हाथों बसाया गया, यह प्रवाद निस्सार है; नगरी सभ्यता से पहले से यह आबाद था और गुजरात के मार्ग में व्यापार की मंडी था। मेवाड़ का विवरण कमलमेरु नाम से दिया गया है, जो कमलनाथ महादेव की ओर इंगित करता है।

माध्यमिका नगरी—यह शिवि-जन-पद की नगरी थी। यहाँ ई० सदी से २०० वर्ष पूर्व के प्राकृत मिश्रित संस्कृत के अभिलेख (उदयपुर संग्रहालय) मिले हैं। यहाँ संकर्षण बलराम के निमित्त नारायण वाट में पूजा-हेतु शिला-प्राकार (मन्दिर का प्रारूप) निर्माण कराये जाने का उल्लेख है। समूचे भारत में कृष्ण-बलराम के निमित्त मन्दिर बनवाये जाने का यह प्राचीनतम उल्लेख है। इस स्थान की चर्चा पातंजलि महाभाष्य (दूसरी ई० श० पूर्व) में भी प्राप्त होती है।

भ्रमरमाता का मन्दिर—उदयपुर संग्रहालय में सन् ४९० ई० का भ्रमरमाता का शिला लेख इसी प्रकार एक दूसरे राजकीय मन्दिर की सूचना देता है। यह 'मानवायनी' राजवंश का नगर था। संभवतः यह महिषमर्दिनी का स्थान था।

नागदा—यहाँ से सन् ६६१ ई०का कुण्डाग्राम (यहाँ से ६ मील) का अभिलेख (उदयपुर संग्रहालय) इस स्थान की प्राचीनता का द्योतक है। यह गुहिल राजवंश का स्थान था।

कल्याणपुर—ऋषभदेव से (जो स्वयं ११वीं सदी से पूर्व का एक बड़ा ग्राम था) ८ मील दूर कल्याणपुर के दो अभिलेख ८वीं-९वीं सदी के मिले हैं और उदयपुर-संग्रहालय में हैं। इनमें मन्दिरों की चर्चा है। एकलिंग की परम्परा-शृंखला में यह शैव-पूजा का उल्लेखनीय मनुष्य-आवास था।

बिजोलिया—क्रमांक ७ से सुरक्षित उदयपुर संग्रहालय में

२२. वीणा-जयन्ती [illegible]

1 श्री विजयशंकर श्रीवास्तव लिखते हैं, "राजस्थान में इन यूप-स्तंभों की सम्प्रति इस बात का स्पष्ट संकेत है कि पूर्वी राजपूताना में वैदिक विचारधारा और परम्परा को प्राचीन काल में विकसित होने का पूर्ण अवसर मिला था।"

बिजोलिया का अभिलेख शिवस्तुति से पूर्ण है। यह स्थान प्राचीन शिव-मन्दिरों की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। यहाँ पर बहने वाली जलधारा के कारण यह प्राचीन नगर होने का भी स्थूल संकेत करता है।[1]

बसंतगढ़—अरावली और अर्बुदाचल जहाँ दो बाँहों की तरह से विभक्त हो गये हैं, वहाँ पर बीच के वक्षःस्थल पर सिरोही बसा हुआ है। यहीं पर लम्बी पहाड़ी पर बसा वसन्तगढ़ है, जहाँ एक ओर शारदापीठ है, उसी के निकट दूसरे किनारे पर शक्ति पीठ। सम्पन्नावस्था में जब यह नगर था, तो इन दोनों देवियों का समान आदर था। यहाँ पर अभिलेख संवत् ७४४ का मिला है। काश्मीर के वृहत् शारदापीठ के बाद यही भारत का सबसे प्रमुख सरस्वती-मन्दिर था और इसे लघु शारदापीठ के नाम से भारत-वासी जानते थे। यहाँ की देवी का नाम त्रिपुरा भारती थी। शक्ति-देवी का नाम इस समय खीमेल माता है, प्राचीन 'त्रिपुरा भारती लघुस्तव' में इसका शुद्ध नाम क्षेमंकरी देवी था, संवत् ६८२ के शिलालेख में भी यही नाम मिला था।[2]

जैसलमेर—ऐतिहासिक आख्यानों से पता चलता है कि यहाँ ब्रह्मादि समस्त देवता यज्ञ करने आए थे। उसी समय से यहाँ ६८ तीर्थ, अर्थात् जन-आबादियाँ थीं। यहाँ की एक पौराणिक नदी के किनारे ब्रह्मा के पुत्र काक ने तपस्या की थी, उस नदी का नाम काक पड़ गया है। यह भी लोक-विश्वास चला आ रहा है कि यहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन पधारे थे। राव जैसल ने ऐसे ही पुण्य-स्थल पर जैसलमेर की स्थापना की थी। प्रारंभ में यहाँ पर यदुवंशीय राजपूतों का ही शासन रहा। लुधरवा यहाँ की प्राचीन राजधानी था, जिसे अलाउद्दीन खिलजी ने नष्ट किया था। उससे पहले सन् १२९४ में एक मुसलमान योद्धा महबूब ने इसे श्मसान बनाते हुए इस पर अपना अधिकार किया था।

मुंडस्थल—आबू से नीचे, पर्वत की तलहटी में यह स्थल प्राचीन तीर्थस्थल रहा है। यहाँ के आसपास चन्द्रावती नगरी के अवशेष अब भी विद्यमान हैं। मुंडस्थल (मूंगस्थल) मथुरा से गुजरात जाने के लिए एक बड़ा व्यापारी-पड़ाव था। शाहबुद्दीन गोरी को यहाँ से १० मील की दूरी पर कासिंद्रा गाँव में हराया गया था। यहाँ मुद्गलेश्वर महादेव का मन्दिर है, जिसमें एक शिलालेख संवत् ९८५ का है। यहाँ एक सूर्य-मन्दिर भी था, जो अब नष्ट है।

वरमाण—सिरोही अंचल में लोकख्यात् विशाल सूर्य-मन्दिर को केन्द्र बनाये हुए अनेक प्राचीन बड़े ग्राम अवस्थित थे।

अटरू—कोटा-संग्रहालय में प्राप्त मूर्त्तियाँ के जो मूल-निवास हैं, उनमें अटरू तथा अन्य स्थान लोकपूजित मन्दिरों से आच्छादित मुख्य राजपथों के जनाकीर्णा केन्द्र थे।

आबू—अर्बुदाचल के चारों ओर मध्यकाल में ४०० जिन मन्दिर होने का प्रमाण मिलता है। ११वीं सदी में यहाँ विमल-वसही का मन्दिर बना। किन्तु यहाँ पर वैष्णवी मन्दिरों का वृहत् केन्द्र बहुत प्राचीनकाल से था। वशिष्ठ के आश्रम तथा अच-लेश्वर महादेव इसका स्पष्ट संकेत करते ही हैं।

नरेणा—दिल्ली-अजमेर लाइन पर फुलेरा-जंकशन से १२ मील पर यह स्थान है। खुदाई में यहाँ पर प्राचीन मूर्त्तियों का बड़ा भंडार मिला है। सन् १००९ में महमूद गजनी ने सोमनाथ की दिशा जाते हुए यहाँ आक्रमण किया था। यहाँ की मूर्त्तियों को तोड़ कर, और लूटमार कर वह सोमनाथ की दिशा बढ़ा था। उस समय यह नारायण के नाम से प्रसिद्ध था। यह समृद्धिशाली था और धनी व्यक्तियों का प्रिय नगर था। यहाँ का राजा इस समय शाकंभरी के दुर्लभराज का पुत्र गोविन्दराज द्वितीय था। बाद में भी यहाँ मुसलमान-शासक मूर्त्ति-संहार करते रहे।

केशवराय पाटन—राजपूताने के पुराने बूंदी की एक तहसील और शहर था। यह अक्षा ० २५. १७ उ० देशा ७५. ५७ पू० में चम्बल के ऊपर तट पर अवस्थित है। यहाँ से कोटा १२ मील नीचे और बूंदी २२ मील दक्षिण-पूर्व है। यह स्थान महाभारत का समकालीन बताया जाता है। पहले यहाँ बिलकुल जंगल था। नगर का असली नाम रन्तिदेव पाटन था। राजा रंतिदेव माहिष्मती के अधिपति और हस्तिनापुर-प्रतिष्ठाता राजा हस्ति के भतीजे थे। प्राचीन शिल्प-लिपियाँ २ सती-मन्दिरों में मिली हैं। उनमें अनुमानतः सन् ३५ और ९३ ईस्वी पड़ा है। यह भी कहा जाता है कि उक्त समय से बहुत पीछे परशु नामक किसी व्यक्ति ने जम्बु-

---

आतुर वल्लभा

1. इसका प्राचीन नाम जेम्स टाडने विंध्यावलि भी कहा है। अहि-च्छपुर व मोरकड़ा भी लोक-प्रचलित रहा। यहाँ मन्दाग्नि जलधारा बहती है। यहाँ के प्रारंभिक नरेश शाकंभरी माता के उपासक रहे। मोरकड़ा के प्राचीन दुर्ग-खण्डहर यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। मध्ययुग का बना हुआ दुर्ग अवश्य है, पर उससे अधिक प्रमुख तो अब यहाँ के विशाल शैव-मंदिर हैं।
2. प्राचीन शिला-लेखों में शारदा के स्तवन एवं मंगलाचरण राज-सम्मान में प्राप्त होते हैं। विशेष चर्चा हम इस विषय में आगे करेंगे, जहाँ सरस्वती का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

मार्गेश्वर नामक शिव-मन्दिर बनाया था। धीरे-धीरे यह मंदिर गिर गया। तब केशवराय का बड़ा मंदिर बनवा दिया, जिसके लिये यह नगर प्रसिद्ध हुआ है। केशवराय मंदिर में विष्णु की एक मूर्त्ति है। और प्रतिवर्ष बहुत से भक्त पूजा करने आया करते हैं।

विष्णु-मन्दिरों की शृङ्खलायें

[३]

राजस्थान के विभिन्न स्थलों पर जो पुरातन देव-प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं, उनमें विष्णु की मूर्त्तियाँ शिव की मूर्त्तियों से अधिक हैं, यद्यपि इसका निर्णय नहीं हुआ है, लेकिन, अजमेर, मेवाड़, झालावाड़ आदि संग्रहालयों में विष्णु की प्रतिमायें ६वीं सदी से लेकर १६वीं सदी तक बराबर ही प्राप्त होती हैं। तलवाड़ा (बांसवाड़ा) में शेष-शैयाशायी विष्णु की जो ६ फुट लम्बी भव्य मूर्त्ति है, कुछ वैसी ही आकर्षक किन्तु खंडित रूप में राजस्थान के अन्य संग्रहालयों में रखी हुई हैं। यों देव सोमनाथ (डूंगरपुर) के वृहत् मन्दिर में भी एक छोटी मूर्त्ति इसी प्रकार की है। कुंभलगढ़ से प्राप्त पन्द्रहवीं सदी की मूर्त्तियाँ उदयपुर के संग्रहालय में लगभग ग्यारह रखी हुई हैं। यों बड़ौदा, डूंगरपुर, चित्तौड़, उदयपुर आदि में विष्णु की प्राचीन मूर्त्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। विष्णु का पूजाभाव उदयपुर से रणकपुर जाते हुए कांकरोली से ६ मील दूर, चारभुजाजी के मन्दिर में आज भी सबसे अधिक लोकप्रिय हैं, जहाँ वर्ष में दो एक-दो लाख व्यक्ति उपस्थित होते हैं।

नारायण

विष्णु का नाम नारायण है। महाभारत में 'जहनुर्नारायणो नरः (भारत, १३, १४६, ३६) कहा है और वह नारायण की ओर संकेत करता है, किन्तु किसी नर नामक ऋषि के अपत्य होने के कारण विष्णु नारायण कहलाये थे।

ब्रह्मवैवर्त्त के मत-अनुसार नारायण की दो प्रकार की मूर्त्तियाँ मिलती हैं—द्विभुज और चतुर्भुज। वैकुंठ में चतुर्भुज-मूर्त्ति है और गोलोक में द्विभुज। महालक्ष्मी, सरस्वती चतुर्भुज नारायण की पत्नी हैं और गंगा व तुलसी द्विभुज नारायण की।

"श्रीकृष्णस्य द्विधारूपो द्विभुजश्च चतुर्भुजः।
चतुर्भुजश्च वैकुंठे गोलोके द्विभुजः स्वयं।।
चतुर्भुजस्य पत्नी च महालक्ष्मी सरस्वती।
गंगा च तुलसी चैव देवी नारायण प्रिया"।। (प्र०खंड६४अ०)

शालिग्राम-शिला की पूजा नारायण पूजा के अन्तर्गत ही आती है। प्रश्न है कि हम जिन मन्दिरों के निर्माण में लाखों रुपया लगाते हैं और सहस्त्रों की धनराशि व्यय कर देवताओं की मूर्त्ति बनवाते हैं, तो उससे कौन से लोकहित का संपादन होता है और जब हम इसी प्रश्न को नारायण पूजा पर लागू करते हैं तो हमें क्या उत्तर हाथ लगता है? कौन से दुर्गुण हम से दूर रहते हैं?

क्रियायोगसार अध्याय १८ में इसका उत्तर लिखा गया है। सर्वभूतों में दया, निरहंकार, भक्तिपूर्वक कार्यानुष्ठान, सत्य कथन आदि भावनायें विष्णु-पूजा के योग्य पात्र तैयार करती हैं।

हिंसा, क्रोध, असत्य, अहंकार, क्रूरता, परनिंदा, परवर्त्तन, विध्वंसन, पिता, माता, भ्राता, पत्नी और भगिनी का त्याग, गुरुजनों के प्रति कटुवाक्य प्रयोग, गुरुजन के प्रति अवज्ञा, चाहे जिस उपाय से हो दम्पति के मध्य मनोभंग-करण, परद्रव्य-हरण, आराम छेदन, जलाशय-नष्टकरण, ग्रामवास, परस्त्री देख कर आकुलता, पाप-चर्चा श्रवण, अनाथ व्यक्ति का द्वेष-कारण, विश्वासघातकता, गो-वीर्य हनन, वृषलीपति-अश्वत्थ नाश, ब्रह्मा-विष्णु और महादेवादि में भेदबोध, देव-निंदा, एकादशी में आहार, परदारासक्ति, पापमंत्रणा दान, मित्र-द्रोह, घातक नाश, दिन को स्त्री-संगम, रजस्वला-संभोग, व्रतस्था-संभोग, अमावस्या की रात्रि में भोजन, अमावस्या में आमिष भोजन, तेल-भक्षण और स्त्री-संभोग में वैष्णव-निंदा ये सब कार्य नारायण के अप्रीतिकर हैं। (क्रिया योगसार १८ अ०)

राजस्थान व दक्षिण भारत का मूर्त्ति-भेद

राजस्थान में प्राप्त होने वाली प्राचीन नारायण-मूर्त्तियों में और दक्षिण भारत की तंजोर आदि प्रसिद्ध मंदिरों में मिलने वाली मूर्त्तियों में जो अन्तर है, उसका प्रधान रहस्य अथवा भेद क्या है? राजस्थान में शंख-चक्र-गदा-पद्म आदि अलंकरणों के अतिरिक्त गरुड़ तो विद्यमान रहता ही है, परन्तु उसका सौम्य-रूप अत्यधिक अलंकरणों से बोझिल और अतिरेकानन्द की अभिव्यक्ति करने वाले अलंकरणों की अतिरंजना से दुरूह नहीं बना रहता। दक्षिण भारत के मुकुट और उसके नीचे विष्णु के चेहरे की मुख-रेखायें विशेष रूप से अनि मानवीय बनाई जाती हैं। राजस्थान की मूर्त्तियों का कद और उनकी आँखों का दिव्य तेज इस संतुलन में

२४. वेणुजमुक्ता [illegible]

कहीं अधिक मोहक होता है। राजस्थान के शिल्पियों ने देवताओं को और देवाधिदेवों की मूर्त्तियों को वैसा ही शारीरिक सौष्ठव प्रदान किया है, जितना कि उन्हें अभीष्ट था। भारत के अनेक स्थानों में और दक्षिण भारत में ऐसे अनेक स्थान हैं, जिनका विष्णु की जीवन-लीला से कम सम्बन्ध रहा है। मद्रास प्रदेश के अन्तर्गत उत्तरी आरकट जिले में नारायण-वन ऐसा विशेष स्थान रहा है। पर राजस्थान में शिव और ब्रह्मा के और महिषासुर-मर्दिनी के तो सम्बन्धित स्थान मिलते हैं, किन्तु विष्णु-लीला के प्राचीन स्मारक प्राप्त नहीं होते।

विष्णु निम्न रूपों में प्रायः मिलते हैं—

त्रिविक्रम—

यह भी विष्णु का एक अवतार रूप है। बलि को छलने के लिए विष्णु ने यह रूप धारण किया था। इसे विराट रूप भी कहते हैं।

शारंगधर

विष्णु ने यह रूप ग्रहण कर मेघकर नामक राक्षस का नाश किया था। बरार राज्य में यह स्थान मेहकर नाम से परिचित होता है।

वैकुंठनाथ

प्राचीन काल[1] से विष्णु के इस नाम-पद की देव-पूजा काफी हुई है। राजस्थान में इस रूप नाम के काफी मन्दिर हैं।

मत्स्य-रूप

विभूतिवर्द्धिनी एक विशेष तिथि भारत में प्रचारित रही है। इसका नाम विभूति-द्वादशी है। इसका नाम विष्णु के नाम पर पड़ा है। इस द्वादशी को विष्णु का व्रत रखा जाता है। इसमें एकादशी की रात को मत्स्य मूर्त्ति तैयार करवा कर स्थापन की जाती है और उसके बाद रात्रि-जागरण करते हुए भगवान के नाम का संकीर्त्तन अथवा स्मरण होता है। दूसरे दिन वह मूर्त्ति ब्राह्मण को दान में दी जाती है। ऐसी मूर्त्तियों के दान से ही विशिष्ट प्रतिष्ठाओं के मन्दिरों का प्रसार होता था। इस द्वादशी में विष्णु की पूजा इन मंत्रों के साथ की जाती है।

२५. मानिनी का प्रातः दर्शन

> "विभूतिदाय नमः पादावशोकाय च जानुनी।
> नमः शिवायेत्यूरू च विश्वमूर्त्तयेनमः कटिम्॥
> कन्दर्पाय नमो मेढ्रमादित्याय नमः करौ।
> दामोदरायेत्युदरं वासुदेवाय च स्तनौ॥
> माधवायेति हृदयं कंठमुत्कंठिते नमः।
> श्रीधराय मुखं केशान् केशवायेति नारदः॥
> पृष्ठं शंखचक्रासि गदापरशुपाणयः।
> सर्वात्मने शिरोब्रह्मन् नमः इत्यभिपूजयेत्॥
>
> (मत्स्य पुराण ८३ अ०)

विष्णु-प्रतिमाओं के विभिन्न प्रारूप

केशव मूर्त्ति—इस मूर्त्ति के दक्षिण और निम्न भुजा में पंकज तथा ऊर्ध्व भुजा में पांचजन्य और बाईं ओर की ऊर्ध्व भुजा में गदा तथा अधोमुखमें चक्र व्यवस्थित रहाता है। यह आदि वासुदेव मूर्त्ति का प्रकार-भेद है।

नारायण मूर्त्ति—इस मूर्त्ति में पूर्वोक्त शंख, चक्र गदा और पद्म अवरोत्तर भाव में अर्थात् दक्षिण ओर की निम्न भुजा में शंख और ऊर्ध्व भुज में पद्म, इसी प्रकार बाईं ओर की ऊर्ध्व भुजा में चक्र और नीचे की भुजा में गदा विन्यस्त करना होगा। यह भी वासुदेव मूर्त्ति का प्रकार भेद है।

माधव मूर्त्ति—बाईं ओर के अधोभुज में पद्म, ऊर्ध्व में शंख तथा दक्षिणोर्ध्वभुज में गदा और अधोभुज में चक्र व्यवस्थापित होगा, यह मूर्त्ति भी आदि मूर्त्ति भेद है।

गोविन्द मूर्त्ति—दक्षिण भुज में चक्र तथा ऊपर के बाहु में गदा, वामहस्त में पद्म और उसके अधोभुज में शंख विन्यास कर इस मूर्त्ति का संगठन करना होता है। यह संकर्षण मूर्त्ति का प्रकार-भेद है।

विष्णु मूर्त्ति—दक्षिण भुज में पद्म, उसके नीचे गदा तथा वामार्द्ध में चक्र और उसके अधो भुज में शंख विन्यस्त होगा। यह मूर्त्ति भी संकर्षण-भेद है।

मधु-सूदन—दक्षिण भुज में शंख, उसके नीचे चक्र तथा वामार्द्ध में पद्म और अधोबाहु में गदा दे कर स्थापना होगी। यह भी संकर्षण मूर्त्ति-भेद है।

त्रिविक्रम—दक्षिणोर्ध्व में गदा, उसके नीचे पद्म और वामोर्ध्व में चक्र तथा अधोमुख में शंख स्थापन कर वाम पद ब्रह्माण्ड के ऊपर और दक्षिण पद की पीठ के ऊपर विन्यास करना होगा।

श्री वामन मूर्त्ति—यह मूर्त्ति बलि समीपगत है तथा वामोर्ध्व में गदा, उसके नीचे पद्म, दक्षिणोर्ध्व में चक्र और अधो भज में शंख रहता

१ चन्द्रात्रेय-वंशीय राजा यशोवर्मन ने चेदिराज को जीतने के बाद कालंजर पहाड़ अपने कब्जे में किया और वैकुंठनाथ मंदिर बनाया। इसकी मूर्त्तिको उन्होंने कन्नौज राज देवपाल से सन् ९४८ में पाया था। देवपाल के पिता हेरम्पपाल को यह मूर्त्ति कीर राजशाही से मिली थी, इसका अर्थ हुआ कि यह मूर्त्ति ८वीं सदी की तो अवश्य थी।

है। इन्हें सप्तताल अर्थात् प्रायः साढ़े तीन हाथ का बनाना होगा।

श्रीधर मूर्त्ति—दक्षिण बाहु में चक्र, अधोबाहु में पद्म तथा वामोर्ध्व में गदा और उसके नीचे शंख रहता है। इस मूर्त्ति के वाम भाग में पद्महस्ता लक्ष्मी देवी की स्थापना करनी होगी। इस मूर्त्ति को उपविष्ट या दंडायमान जिस किसी अवस्था में रख सकते हैं, किन्तु उसमें विलास-भाव रहना आवश्यक है क्योंकि इसे प्रद्युम्न का प्रकार-भेद कहा है।

हृषीकेश—दक्षिणोर्ध्व में चक्र, उसके नीचे गदा तथा वाम बाहु में पद्म और अधोभुज में शंख विराजमान है।

पद्मनाभ—दक्षिणोर्ध्व बाहु में पद्म, उसके अधोभुज में शंख तथा उपरिस्थ वाम भुज में चक्र और अधस्थ हस्त में गदा व्यवस्थित होगी।

दामोदर—दक्षिण ओर के उपरिस्थ बाहु में शंख और अधोस्थ बाहु में चक्र का विन्यस्त करना होगा। यह अनिरुद्ध का मूर्त्ति-भेद है।

ये केशवादि बारह श्री मूर्त्तियाँ माघादि बारह मास की अधिपति मानी गई हैं।

वामन के कुछ अधिक परिचय की आवश्यकता है। वह इस प्रकार है—

वामन—ये विष्णु के पंचम अवतार माने जाते हैं। क्रौंच द्वीप में वर्णित क्रौंच पर्वत का दूसरा नाम वामन पर्वत है। इसके नाम से एक पुराण भी है—जिसमें देवी भागवत के मत से १०००० श्लोक हैं। दैत्यपति बलि ने स्वर्ग पर अधिकार कर सब देवताओं का निर्वासन कर दिया था, इसलिए विष्णु ने वामन-अवतार धारण किया। कश्यप की पत्नी अदिति ने वामन अवतार को अपने गर्भ में धारण किया था। भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को शुभ मूहूर्त्त में इनका जन्म हुआ था।

जन्म-समय सूर्य, सावित्री और बृहस्पति आदि बृहत् सूत्र पाठ में प्रवृत्त हुए। पृथ्वी ने कृष्णाजिन् सोमदण्ड, माता ने कोपीन, स्वर्ग ने छत्र, ब्रह्मा ने कमंडलु, सप्तर्षियों ने कुश और सरस्वती ने अक्षमाला पहनाई। यक्षराज ने भिक्षा-पात्र दिया और स्वयं अम्बिका ने इनको भिक्षा दी। बलि उस समय अश्वमेघ यज्ञ कर रहे थे। वामन देव ब्राह्मण का रूप धारण कर उनसे भिक्षा लेने गये। वामन ने दान में उनसे सब कुछ मांग लिया। वामन-मूर्त्ति की रचना के सम्बन्ध में हरिभक्ति विलास में इस तरह लिखा है—इस मूर्त्ति की दोनों भुजाओं का आयतन त्रिगोल, वक्ष:स्थल विस्तीर्ण, हाथ-पैर चतुर्थांश, मस्तक बृहद्, उरुद्वय और मुख प्रदेश आयाम विहीन, कटि मोटी (पश्चाद् भाग), पार्श्व और नाभि भी मोटी होगी। मोहनार्थ वामन देव की मूर्त्ति ऐसी ही होनी चाहिए।

यह मूर्त्ति पीनगात्र, दंडधारी, अध्ययनोद्यत दूर्वा-दल, श्याम और कृष्णाजिन होनी चाहिए।

अब कृष्ण की व्याख्या लें—

कृष्ण—विष्णु के १० अवतारों में से कृष्ण का अवतार हुआ है। भागवत के मत में कृष्ण १२ वां अवतार है। महाभारत, हरिवंश-पुराण, विष्णु-पुराण, पद्म-पुराण, ब्रह्म-पुराण, श्रीमद्-भागवत्, देवी-भागवत, गरुड़-पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, स्कंध पुराण, और कूर्म पुराण आदि में कृष्ण का जीवन नाना भावों में वर्णित हुआ है।

कृष्ण के निर्वाण के बाद महाभारत का एक कथानक यह है कि अर्जुन द्वारका गये और वहाँ से कृष्ण-पत्नियों एवं यादव-स्त्रियों को हस्तिनापुर लेकर लौटने लगे। मार्ग में उनके दल पर वन्य जातियों ने आक्रमण किया और वे स्त्रियाँ अपहृत कर ली गई। यादव-वंशियों का क्षय अवश्य पूरा न हुआ, किन्तु वे भिन्न-भिन्न स्थानों में कालक्रम से फैल गये। बीकानेर के रंग-महल जिले में जो खुदाई हुई, उसमें कृष्ण की लीला से अंकित पुरानी ईंटें मिली हैं। यह एक सूक्ष्म-सा सूत्र देती हैं कि प्रदेश में कृष्ण-भक्ति का दौरदौरा था, बीकानेर से दक्षिण-पश्चिम में जब हम जैसलमेर की ओर जाते हैं तो वहाँ पर १२ वीं सदी से पहले से यादव-वंशीय राजपूतों का साम्राज्य था। कृष्ण-भक्ति की प्रधानता थी। ओशिया में मंदिर हरिहर के हैं। अर्थात् विष्णु और शिव की संयुक्त मूर्ति है, किन्तु उनके ऊपरी भाग में कृष्ण-लीला शिल्प-अंकित है।

उदयपुर-मेवाड़ के संस्थापक प्रारंभ में उचित और मूर्तियां मिलने के कारण द्वारका गये थे। इस तथ्य से यह प्रमाण मिलता है कि उदयपुर का और द्वारका का पुराना सम्बन्ध रहा। १२ वीं सदी में रामदेव जी के पिता पुत्र-प्राप्ति न होने की वजह से पुत्र का वर मांगने के लिए द्वारका गये थे। राजस्थान और द्वारका के घनिष्ठ सम्बन्धों का यह दूसरा प्रमाण है। राणा कुंभा के समय में कुंदभायाम[1] का मंदिर बनाया गया था, यह तीसरा तथ्य है कि उस समय तक

[1] कुछ विद्वानों ने इसे वराह का मंदिर भी कहा है। राणा कुम्भा विष्णु भक्त थे, अपना विजय-स्तम्भ उन्होंने विष्णु को ही अर्पित किया है।
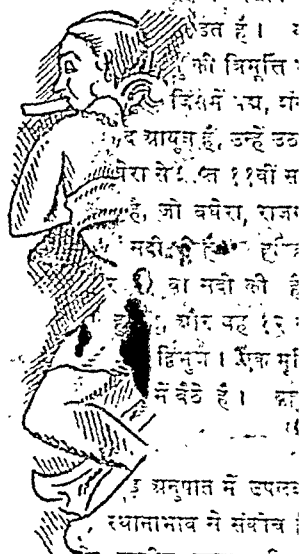
चित्तौड़ में कृष्ण-भक्ति का प्रवेश हो चुका था। १६ वीं सदी में मीरावाई ने इस भक्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया और सारा राजस्थान कृष्ण-भक्ति के प्रवाह में बह गया।

राजस्थान में इस समय कृष्ण-परंपरा के काफी अधिक मंदिर विद्यमान हैं। उनकी चर्चा आगे यथास्थान आयेगी।

उदयपुर से सड़क-मार्ग द्वारा चित्तौड़ जाने से पहले एक गांव सांवलिया आता है। यहाँ पर १६वीं सदी के उत्तरकाल की या १७ वीं सदी के मध्य की एक मूर्त्ति किसी तालाव से निकली है। लगता है, यह मुगल-आक्रमण के समय इस स्थान पर सुरक्षित कर दी गई थी। अपने प्रदेश में यह सांवलिया जी के नाम से प्रसिद्ध है। गाँव का नाम मंडपिया है।

१७ वीं सदी के अन्त में औरंगजेब से प्रपीड़ित होकर वृन्दावन से अनेकों कृष्ण-मूर्त्तियाँ यत्र-तत्र ले आई गई। नाथद्वार में श्रीनाथ जी और जयपुर में गोविन्ददेव जी के विग्रह ऐसे ही हैं।

शेष

वांसवाड़ा में, कोटा में, देव-सोमनाथ में और कुछ अन्य स्थानों में शेषशायी विष्णु की मूर्त्तियाँ प्राप्त होती हैं। यहाँ पर प्रतिमाओं की कला की दृष्टि से शेष का कुछ संदर्भ देना आवश्यक लगता है।

भविष्य-पुराण में लिखा है—

फण सहस्र संयुक्तं चतुर्वाहु किरीटिनं।
नवाभ्र पल्लवाकारं पिंगलश्मश्रुलोचनम्॥
पीताम्बर धरं देवं शंख चक्र गदा धरं।
कराग्रे दक्षिणे पद्म
गदां तस्यत्यधः करे॥
दधानं सर्व लोकेशं
सर्वाभरण भूषितं।
क्षीराब्धि मध्ये
श्रीमन्तमनन्तं पूजयेत्ततः॥

ये भगवान की द्वितीय मूर्त्ति हैं। क्षीर सागर में भगवान विष्णु लक्ष्मी के साथ इन्हीं के ऊपर शयन करते हैं। कालिका पुराण में इस आसन की जिस रूप में चर्चा आई है, शेषशायी मूर्त्तियों में उसी का अवलंवन लिया गया है। उसमें लिखा है कि शेष अपना पूर्व फण फैला कर कमल पुष्प को आच्छादित किये रहते हैं और उत्तर फण से भगवान का सिर और दक्षिण फण से भगवान के पैर ढके रहते हैं। पश्चिम फण को फैला कर भगवान को पंखा झेलते और ईशान फण के द्वारा शंखचक्र और दोनों तूणीर को धारण किये रहते हैं एवं गरुड़ की रक्षा करते हैं। आग्नेय फण द्वारा गदा-पद्म आदि धारण करते हैं। वलदेव आदि के ऊपर छत्ररूप में भी ये विराजमान रहते हैं।

विष्णु-मूर्त्तियों के प्रारूप

राजस्थान में विष्णु की मूर्त्तियों के अनेक प्रारूप हैं। यहाँ पर हम संक्षेप में उनकी चर्चा कर लें।

सीकर के संग्रहालय में हर्ष से प्राप्त एक त्रिमुखी प्रतिमा है, इसके पीछे का चौथा मुख दिखाई नहीं देता। मध्यवर्त्ति सिर के ऊपर मुकुट है तथा वाजु के दोनों सिरों पर जटा। देवता ने अपनी दोनों टाँगें नीचे लटका रखी हैं। पैरों में फुल-वूट और वक्ष पर कवच स्पष्ट करते हैं कि सूर्य भाव भी यहाँ पर विद्यमान है। नीचे पृथ्वी पर दाहिने वृषभ व पुरुषाकृति गरुड़। वायें हंस व अश्व—यह शिव, विष्णु, ब्रह्मा व सूर्य की संयुक्त मूर्त्ति है। हाथों में गृहीत आयुध सूर्य के दो कमल, विष्णु के शंख व चक्र, ब्रह्मा का कमंडल और शिव का त्रिशूल उपस्थित है। इस प्रकार की पाँच अन्य मूर्त्तियाँ भी राजस्थान में उपलब्ध हुई हैं।

इसी संग्रहालय में दूसरी मूर्त्ति स्थानक विणु की है। सिर पर सीमन्त पुरी का अभिप्राय शुद्ध मुकुट वा हाथों में गदा व कमल है। टांगों तक लटकती हुई वनमाला व पैरों के निकट आयुध-पुरुष की उपस्थिति। इस प्रकार की अनेक मूर्त्तियाँ जयपुर संग्रहालय में हैं और सांभर से प्राप्त हुई हैं।

इस संग्रहालय में तीसरी तीन मूर्त्तियाँ नृसिंह, वराह, विष्णु की लीला-मुद्रा में हैं। मध्यवर्ती सिर पर मुकुट है और महाविष्णु के हाथों की संख्या ८ है, जिनमें आयुध हैं। सूत्रधार मंडन ने अष्टभाव एवं त्रिमुखी मूर्त्तियों को वैकुंठ-संज्ञा दी थी। झालावाड़ संग्रहालय में इस मूर्त्ति से भिन्न जो वैकुंठ-मूर्त्ति है, उसे गरुड़ ने उठा रखा है, जब कि यहाँ पर गरुड़ अनुपस्थित है। इस संग्रहालय में एक दूसरी प्रतिमा नृसिंह, वराह और विष्णु की त्रिमुखी है, जिसे गरुड़ ने उठा रखा है।

इसी संग्रहालय में शेषशायी विष्णु भी विद्यमान है और लक्ष्मी जी उनके चरण दवा रही हैं। ऊपरी भाग में नवग्रह हैं। इसी संग्रहालय में हरिहर की मूर्त्ति भी है। वामवर्त्ती अर्ध भाग में विष्णु का शंख और चक्र दर्शा गया है और एक सिर पर मुकुट है। विष्णु ने वामवर्त्ती नीचे के हाथ में शंख को मोदक की तरह धारण कर रखा है। पैरों-पास चक्रायुध पुरुष है। मूर्त्ति का शेष भाग शिव का वोध देता है।

उदयपुर नगर के निकट वेदला में हरिहर की ५वीं ६ ठी सदी की एक मूर्त्ति है। ओशिया में हरिहर का मन्दिर है और पृष्ठ भाग में हरिहर की प्रतिमा विद्यमान है।

खेतड़ी के निकट बाघेश्वर स्थान में विष्णु की कुछ खंडित मूर्त्तियां हैं, पर उन पर कुछ अत्यधिक सिंदूर चढ़े रहने से यहाँ उनकी विशेष चर्चा नहीं की जा सकती।

खेतड़ी के तालाब में तूंदा नाम के गांव के विध्वस्त नगर से निकाली हुई जो प्रतिमाएँ हाथ लगी हैं, उनमें लक्ष्मी एवं विष्णु की संयुक्त प्रतिमा है। गदा शंखादि आयुधों से युक्त विष्णु ने एक हाथ लक्ष्मी के कंधे पर रखा है। इसी प्रकार का दायाँ हाथ विष्णु के कंधे पर है। इसी तालाब में विष्णु और लक्ष्मी की संयुक्त मूर्त्ति लगी हुई है। सीकर के हर्ष पर्वत पर अभी भी अवशेष रूप में पड़ी हुई मूर्त्तियों में चतुर्भुज-विष्णु की मूर्त्तियाँ मिलती हैं, जिन में एक में भगवान को पुरुषाकृति गरुड़ उठाये हुए हैं। योगासन मुद्रा वा बद्धांजलि स्थिति में चतुर्बाहु मूर्त्तियाँ राजस्थान से प्राप्त मथुरा संग्रहालय में विद्यमान हैं। ऐसी प्रतिमाओं में ऊपर के दो हाथों में शंख, चक्र, गदा आदि आयुधों में से दो अवश्य दिखाये जाते हैं।

ओसिया में योगनारायण की ऐसी ही एक प्रतिमा प्राचीन निर्जन मंदिर में है। वहाँ पर चक्र और पद्म ये दोनों आयुध दो स्थानक पुरुषों द्वारा धारण कराये हुए हैं।

डीडवाणा से प्राप्त जोधपुर के राजकीय संग्रहालय में योग-नारायण की एक तीसरी प्रतिमा है, जिसमें विष्णु की वैजयन्तीमाला का भी अंकन हुआ है। यहाँ पर आयुध प्रगट नहीं किये गये हैं।

आबू के वशिष्ठ आश्रम में भी बद्धांजलि स्थिति में एक प्रतिमा

है, जिसमें वैकुंठ-भाव की अभि-व्यक्ति है—अर्थात् एक मुख और अष्ट बाहु एवं किरीट मुकुट धारी।

२८. प्रतिमाया अप्सरा

अजमेर संग्रहालय में नृसिंह, वराह और विष्णु की प्रतिमा को गरुड़ उठाये हुए हैं। प्रत्येक देवता के ४-४ हाथ के हिसाब से यहाँ कुल १२ हाथ हैं, जिन में से दो हाथ बद्धांजलि स्थिति में हैं। विष्णु लीलासन में हैं।

सीकर के संग्रहालय में वर्णित त्रिमुखी प्रतिमा की ऊपर चर्चा आई है।

जोधपुर से १२० मील दूर किराडू में सोमेश्वर मंदिर है। सभा-मंडप के एक स्तम्भ पर मुकुटधारी प्रतिमा चतुर्बाहु, ऊपर के हाथों में सूर्य का परिचय देती है। नीचे के दो हाथ बद्धांजलि-स्थिति में हैं। चरण-चौकी पर सूर्य के सप्ताश्व का अंकन विद्यमान है। वरमाण में भी वामेश्वर मंदर की चहार-दीवारी पर सूर्य की एक प्रतिमा और लगी है, पर वहाँ सप्ताश्व नहीं मिलते।

भरतपुर संग्रहालय में विष्णु के दशावतार का एक फलक कुम्हेर से १० वीं सदी का प्राप्त हुआ है। ये दश अवतार हैं— मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि।

इसी संग्रहालय में विष्णु की एक खंडित मूर्त्ति हालेका से प्राप्त १२ वीं सदी की है। नीचे का सब भाग टूटा हुआ है, केवल वक्ष और मुकुट-किरीट हैं। १५ वीं सदी का एक दूसरा फलक इसी संग्रहालय में नवग्रहों का और विष्णु, ब्रह्मा, और शिव का है। धवलपुर से १७ वीं सदी का प्राप्त एक फलक यहाँ है, जिसमें अलग-अलग ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने अपनी बाईं जंघाओं पर साविन्नी लक्ष्मी और पार्वती को प्रेमासक्त-भाव में बैठा रखा है।

अभी पिछले दिनों इसी संग्रहालय में विष्णु की परिकर आदि से संयुक्त लगभग ६ फुट ऊँची विराट प्रतिमा मिली है, जो अनेक स्थानों पर खंडित है।

अजमेर के संग्रहालय में २० मूर्त्तियां, है, इनमें से सिरोही जिले के लोटाना से प्राप्त ११ वीं सदी की एक मूर्ति के आसपास मत्स्य, वराह, वामन, राम और बुद्ध—ये पांच अवतार प्रदर्शित हैं और दूसरी ओर कूर्म, नृसिंह, परशुराम, बलराम और कल्कि हैं। ऊपर ब्रह्मा व शिव भी प्रदर्शित हैं। इनमें से लगभग ७ मूर्त्तियां तो खड़ी हुई हैं और अलंकरण बहुल हैं। एक मूर्त्ति में यद्यपि पैर केवल दो हैं, किन्तु २० हस्त हैं जो प्रायः सब खंडित हैं। यह तलवाड़ा से प्राप्त हुई थी। वराह, नृसिंह, विष्णु की त्रिमूर्त्ति भी इनमें से एक है। एक मूर्त्ति १४ हस्त की है, जिसमें पद्म, शंख, अंकुश, खंग, बाण, गदा, चक्र, तीर, संग आदि आयुध हैं, उन्हें उठाये हैं। गरुड़ के मुख पर दाढ़ी है। यह बघेरा से प्राप्त ११वीं सदी की है। शेषशायी विष्णु की ३ मूर्त्तियां है, जो बघेरा, राजगढ़ और अथूर्णा से प्राप्त है। तथा सभी १२ वीं सदी [illegible] हरिहर की एक मूर्त्ति बघेरा में प्राप्त [illegible] है और [illegible] वीं सदी की है। लक्ष्मी-नारायण की मूर्त्ति [illegible] प्राप्त हुई [illegible], और यह १२ वीं सदी की है, यहाँ विष्णु [illegible] और [illegible] द्विभुज। एक मूर्त्ति ब्रह्मा व विष्णु और महेश [illegible] में बैठे हैं। [illegible] अपने आप में त्रिमुखी है।

विष्णु की प्रतिमाओं की संख्या जिस बड़े अनुपात में उपलब्ध है, उसकी व्याख्या व परिचय देने में, स्थानाभाव से संकोच है, फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि प्राचीन आलंकारिक मूर्त्तियों को आज वस्त्राभूषित करना उनके साथ पूर्ण अन्याय है।

शृङ्गार-लब्ध मदनिकाओं के तुल्य अरावली की शृङ्खलायें

[४]

राजस्थान के मंदिरों का उद्भव कौन से भौगोलिक संरक्षण के कारण उच्चतर स्तर का प्रेरक विकास प्रस्तुत कर पाया, इसके लिए हमें नगरियों की शृंखला पर संक्षिप्त दृष्टि डालने के बाद, अब उस दीर्घ शृंखला पर अपनी मनःस्थिति केन्द्रित करनी होगी, जिसने इन महानगरों[1] को मातृ-तुल्य प्रसव दिया और उनके शैशव को अपने क्रोड़ का भरा-पूरा पोषण दिया।

सरस्वती नदी की उपत्यका में आर्यों ने कृषि के बल पर महानगरियों की स्थापना की थी। उससे आगे जब आर्यों का प्रसार हुआ तो यमुना के उपजाऊ प्रदेश पर उन्होंने अपने उपनिवेष बसाये। किन्तु अरावली प्रदेश में नगरों के स्थापन की भाव-भूमि क्या रही, इस पर हमें एक दृष्टिपात करना आवश्यक लग रहा है।

राजस्थान की दिशा में आनेवाले आर्यों ने और पणि जाति के उत्तराधिकारियों ने ईसा से लगभग २००० वर्ष पहले से ही यहाँ पर विराट-नगरियाँ स्थापित कर ली थीं। उसका मूल रहस्य यही था कि अरावली की उपत्यकाओं में और पार्वतीय प्रदेश में जीवन की सुविधायें कम न थीं और दीर्घजीवन बिताने के उपाय भी कम न थे।

शिव-पुराण यद्यपि कैलाशाधिपति भगवान शिवशंकर द्वारा लिखित आत्मकथा नहीं है, फिर भी उसमें हिमालय की शृंखलाओं का शृंगार-वैभव प्रकट नहीं किया गया है। कालिदास ने अवश्य रघुवंश महाकाव्य में हिमालय की स्तुति करते हुए उसके दर्प-वैभव, खनिज-वैभव, यक्ष-किन्नरि-वैभव और वन्य-पशुओं के वैभव का वर्णन किया है। शृंखलाओं के वैभव का वर्णन तो उसी समय संभव हुआ होता, यदि स्वयं कालिदास ने उन शृंखलाओं के बीच दीर्घ प्रवास की परिक्रमा का संकल्प भी 'कुमारसंभव' के लेखन के साथ ग्रहण कर लिया होता। विदेशों में केवल ऐल्प्स पर्वत की उच्चतम शृंखलायें [illegible] हैं, जिनके बीच विचरण करते हुए सहस्रों पर्यटकों व पर्वतारोहियों ने [illegible] वर्षों से अनेक प्रकार से उनके अद्भुत ऐश्वर्य पर लिखा है और वह [illegible] स्तुति के साथ-साथ गहनतम अनुभूतियों का पठनीय परिपाक भी लगता है।

किसी भी काल में अरावली की उपत्यकायें अथवा उसकी पहाड़ियों की बोझिल दुर्गम चट्टानें और चोटियाँ दुर्द्धर्ष पथिकों के लिए विहार-केन्द्र अथवा विचरण-अंचल नहीं रहीं। इन पर वही भूला-भटका पहुँचा, जो या तो रास्ता भूला, अथवा जो युद्ध में हार कर इनमें शरण लेने गया और छिप कर रहा। राणा प्रताप ने मेवाड़ की अरावली उपत्यका के अंतर्गत बिछे हुए मगरी-मगरों (कम ऊँची पहाड़ियों) के जालाच्छादित चक्रव्यूह में जब जीवन बिताया, तो बादशाह अकबर के लिए यह सुगम नहीं रह गया कि वह उसका पीछा कर सके और उसे बंदी बना सके। उन क्षणों में राणा प्रताप ने इन अलंघ्य चोटियों और दुर्दान्त शृंखलाओं के सौंदर्य का दृष्टि-आस्वाद किया होगा, किन्तु दुख का विषय है कि उस स्वतंत्रता-सेनानी ने अपने जीवनकाल में अपने संघर्ष-संस्मरण नहीं लिखे, अन्यथा वे भारतीय साहित्य के अमर परिच्छेद सिद्ध हुए होते।

दिल्ली से ही चिदानन्द के स्रोत प्रकट होते हैं

अरावली न तो मीलों लम्बा अजगर है, न ही वह उत्तर और दक्षिण भारत के बीच विन्ध्य पर्वत की तरह से सत्य सनातन सेतुबंध है। यह भी गलत है, जैसा कि अनेक इतिहासकारों ने लिखा है कि अरावली राजस्थान को पूर्व और पश्चिम दो भागों में विभाजित करता है। अरावली किसी निश्चित गति से भी आगे अग्रसर नहीं होता। अरावली का इतिहास अनेक प्रकार से राजस्थान का प्राणोपम जीवन रहा है, लेकिन मुख्य बात यह है कि जिस तरह हिमालय भारत के उत्तर में म्यान से निकली हुई तलवार की तरह उत्तर से आनेवाले आततताइयों के लिए अपना तेज फलक उसकी छाती पर कसे हुए रखता है, उस तरह अरावली किसी भी ऐसे अस्त्र या शस्त्र का बोध नहीं कराता कि प्रतीति हो सके कि वह पूरब या पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारी पर वार करने के लिए खुल कर रह गया अस्त्र या शस्त्र हो! भारत के सभी पर्वत, दुर्भाग्य या सौभाग्य से, अपने भूमि-भागों के माईल-स्टोन बन कर भी नहीं रहे। यही तथ्य अरावली के साथ है। वह लम्बाई में इतना अधिक फैलता चला गया है कि किसी एक या दो या तीन राज्यों की सीमायें उससे स्पर्श नहीं करतीं, अनेकानेक राज्यों को या तो बीचसे विदीर्ण करता हुआ अथवा उसको अपनी छोटी और दृढ़ बाहों में सिमटने योग्य उपत्यका से वन्य करता हुआ अगल-बगल से आगे बढ़ गया है। सबसे अन्तिम, किन्तु मूल बात यह है कि अरावली

२९. शुभ्र नीरांजना

पश्चिमी और पूर्वी भारत की सीमा-रेखा भी नहीं है। वह क्या है आखिर? इस प्रश्न का उत्तर ही इतने अधिक आनन्द से परिपूर्ण है कि उसे विस्तार से लिखने का लोभ आज संवरण नहीं हो रहा है।

दिल्ली से जब हम दक्षिण-पश्चिम दिशा में राजस्थान की ओर बढ़ते हैं, तो यह अरावली दिल्ली-आगरा की सीमा पर स्थित फरीदाबाद से ही अपनी केशराशि लहराने लगता है। इसकी प्रारम्भिक चट्टानें मीलों में विस्तीर्ण हैं और मौन भाव से आगे बढ़ती हुई गुड़गांव से अग्रसर होने लगती हैं। इतने अंश में[1] रोहिल्लों के राज्य-गढ़ थे और पाण्डवों का किला भी इसी के एक उन्नत शिखर पर चिना गया था। इस अंश का दर्शन आज अधिक आनन्द उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि पलवल से लेकर गुड़गांव तक दिल्ली व नई दिल्ली की आबादी गहन वन की तरह से छा गयी है और अरावली की आकर्षक मांसलता उसके नीचे कुछ उसी तरह छिप गयी है जिस तरह उच्छृङ्खल भाव धारण किया हुआ चन्दन मस्तक की शोभनीय ललाट-रेखाओं को ढंक कर बैठ जाता है। गुड़गांव के पास से जो नया क्रम शुरू होता है, वह पर्याप्त गगन-चुम्बी है और उसका शिखर इतना विस्तीर्ण है कि दस-बारह घोड़े उस पर मीलों दूरी तक दौड़े हुए जा सकते हैं।

---

१ राजपूताने के उत्तर-पूर्व पहाड़ियों के अन्तर्गत मेवात प्रदेश की इस शैल-श्रेणी को 'मेवात' पर्वत नाम दिया जाता रहा है, जो दिल्ली और पंजाब प्रदेश के गुड़गाँव जिले के सीमान्त देश में अवस्थित है। प्रायः हर ५० मील के टुकड़ों का आंचलिक नाम है। विराट नगर की शृंखलाओं के नाम तो २०-२० मील बाद परिवर्तित होते जाते हैं। ये नाम किसी प्राचीन इतिहास के अर्द्ध-सत्य अथवा खंड सत्य के सजीव स्मृति-कोष हैं, जिनका संदर्भ खोजने के लिए विवश रह जाना पड़ता है। जैसलमेर जहाँ बसा है, वह है त्रिकूट, लेकिन उदयपुर से ३६ मील दूर है कमल्नाथ महादेव, जहाँ पर रावण ने शिव की आराधना करते हुए कमल के स्थान पर, अपने शीश काट कर अर्पित किये थे। इसी संतुलन में वाड्मेर के पास जो शृङ्खला है, उसे 'शिवकोटर' कहते हैं॥ जयपुर के पास जहाँ जोबनेर है, उस पर्वत-शृङ्खला को ढूंढ नाम दिया जाता है, ढूंढार प्रदेश उसी को केन्द्र बना कर बसा॥
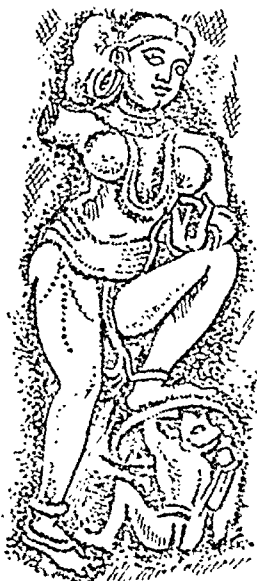
२०. दिव्य दर्विका

फिरोजपुर झिरका के पास पहुँच कर इसकी गहन घाटियों में थोड़ा सा भयंकर भाव गुजर होने लगता है। इन्हीं घाटियों में छिप कर मेवों ने इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर भी, दिल्ली सल्तनत के अलाउद्दीन खिलजी से लेकर शाहजहां तक बराबर विद्रोह का नारा बुलन्द रखा है। मिर्जा गालिब की पत्नी इसी फिरोजपुर झिरका के नवाब की लड़की थी। यहीं की घाटी से ताजमहल का पत्थर मकराना की खानों से आकर आगरा को दिया गया था। यह शृंखला अलवर और जयपुर की दिशा आगे बढ़ जाती है। इस घाटी में अखंड शिवधारा लगभग १०००फुट ऊपर से प्रकट होकर नीचे तीन मील का चक्कर लगा कर एक जलाशय का रूप धारण कर लेती है। चिदानंद हम जिसे कहते हैं, वह यहां के मनोरम दृश्य से आपको आत्मसात् कर लेता है।

जयपुर में अरावली का रूप भयंकरतम

अलवर और जयपुर में पहाड़ी उपत्यकाएं पार्वतीय पर्यटकों को प्रायः वशीभूत कर लिया करती हैं। यही कारण है कि यहां पर सुंदर गढ़ों की रचना हुई, और उससे भी प्रबल कारण यह है कि यहां पर पौराणिक युगों के तीर्थों की रचना हुई, जो अब तक विद्यमान हैं। नवलगढ़ के पास लुहार्गल व सकराय, जयपुर में गणेश्वर व गलता कुछ नाम हैं। यहां पर इसकी चोटियां साढ़े तीन हजार फुट तक गर्वोन्नत होती चली गई हैं। सीकर का रघुनाथगढ़ यहीं पर कन्दराओं के बीच में स्थित है, और भीमलीगढ़ ऊपर राजस्थान के सब गढ़ों में सर्वोच्च स्तर पर जम कर अपनी अकड़ में बैठा हुआ है। हर्ष पर्वत भी ३००० फुट से कम नहीं है। सकराय की ओर लुहार्गल की चोटियां दहशत पैदा करती हैं, पर उनका चित्ताकर्षक रूप उसी तरह आपको, वशीकरण मंत्र की प्रारंभिक उच्चारण-मारण और दोहन-मंथन की दंशन-पद्धति से, अपनी ओर खींचता है, जिस तरह वारांगना रूपसि का दंशन-सौंदर्य उद्धत होकर अपनी कारगुजारी से बाज नहीं आता। यह भयंकरता अजमेर तक चलती है, जहां पुष्कर तीर्थराज बन कर लहराता है और जो ब्रह्मा का यज्ञस्थल है। अलवर से जयपुर तक इसी भयंकरता को पराभूत किये हुए अनेक प्रसिद्ध [illegible] सहस्रों ग्रामीणों और भक्तों को निमंत्रित किया करती है। यद्यपि अरावली की यह तासीर है कि वह सीधी दिशाओं में अपनी शृंखलाओं को बिछाती हुई चलती है और उनके स्वभाव में [illegible] गति अधिक नहीं है, लेकिन यह भी है कि यह सदा अपनी दोनों बाहों को, मानो किसी का आलिंगन करने का उसने संकल्प कर लिया है, सामने फैला कर आगे दौड़ती है। ट्रेन में या बस में [illegible] आपको इस अनुभूति का साक्षात्कार अलवर से उदयपुर तक निरंतर होता रहेगा। यहां पर भी ये चोटियां अलंघ्य नहीं हैं, बशर्ते कि आप भी कम उद्धत न हों। फिर भी, जिस तरह प्रमदा का रूठना उसकी रति-चंचलता से अडिग नहीं रहता, उसी की रसानुभूति देता हुआ इन चोटियों

का औद्धत्य दृष्टि-निमेष में आपकी बाहों में समाने के लिए ललच उठता है और उसके बाद स्थिति यह रहती है कि वह मानिनी गगन-चुम्बी होने का भाव त्याग देती है। सीधी बात के रूप में कहा जाये तो बात कुछ इस तरह है कि अरावली की शृंखलायें शयन मुद्रा में अधिक ऊँची नहीं हैं, कहीं-कहीं पर ही वे अपनी पूरी ऊँचाई को लेकर खड़ी होती हैं, पर उस दूरी पर जमकर जैसे वे खड़ी-खड़ी थक गई हैं। इसलिए या तो बैठ गई हैं अथवा शयन-मुद्रा में विश्राम कर रही हैं!

मेवात में शृंगार-लब्ध मदनिका का लास्य-भाव

राणा प्रताप ने बादशाह अकबर के खिलाफ किस तरह आजीवन युद्ध जारी रखा अथवा मीरा राजमहल से निकल कर किस तरह और किस मार्ग से वृन्दावन गई और फिर कौन से मार्ग से काठियावाड़ गई, यदि यही जानकारी हाथ में लेने के लिए निकलें तो चित्तौड़ से आगे अरावली के गहन अन्तराल का निरीक्षण जरूरी हो जायेगा। चित्तौड़ का त्याग करने के बाद उदयपुर की बसावट रक्षार्थ हुई थी। उदयपुर के चारों तरफ अरावली की शाखाएँ इस तरह विस्तीर्ण हुई हैं, मानो पर्वतीय कन्दराओं का कोई रमणीक निकुंज तरकीब से सजाया गया हो। जिस तरह मन्दिरों में, गुप्तकाल के बाद के निर्माण में, देव-प्रतिमाओं के साथ-साथ शृंगार-नायिकायें और रति-विलास की मूर्तियाँ भी राजस्थान में व्यवस्थित की जाती थीं, उसी तरह कुछ-कुछ अरावली की शृंखलाबद्ध पहाड़ियाँ भी आपस में सजी हुई आगे चलती हैं, उन्हें देख कर यह अनुभूति प्रत्यक्ष होने लगती है कि मेवाड़ में इन चोटियों और अनु-चोटियों का शृंगार-विलास मानवीय सभ्यता के विकास में अवश्य ही रम्य रहा होगा। इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि मेवाड़ इतिहास-पूर्व मानवीय सभ्यता का कर्म-क्षेत्र रहा है। इसका सबसे बड़ा रहस्य है यह कि अरावली की इन उपत्यकाओं के बीच में यहाँ की ऊँची और नीची पहाड़ियों ने सर्वाधिक जलधारायें प्रदान की हैं। मेवाड़ में विश्व की सबसे बड़ी झील का होना इन जल-प्रवाहों की उत्तम परिणति है। और उदयपुर, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, बूंदी,[1] चित्तौड़ की पहाड़ी नदियों के किनारे चार-पांच हजार वर्षो से भी पहले से मनुष्य का निवास रहा है और यहाँ पर किसी भी कम मात्रा में अन्न नहीं उपजा है। बस या लारी में बैठकर जब हम इन पहाड़ियों को पार करते हैं तब ऐहसास होता है कि मानो विशालकाय पहाड़ी भैंसे एक दूसरे से अड़कर बैठे जुगाली कर रहे हैं! एक स्थान पर डूंगरपुर से बांसवाड़ा जाते हुए यह भ्रम हुआ कि मानो पहाड़ी दिग्गज बिच्छुओं का बहुत बड़ा ढेर यहाँ से वहाँ तक छा गया हो!!

अरावली अपने आप में एक गहन विषय रहा है और वह विस्तार की अपेक्षा रखता हैं। झालावाड़ में ही अरावली के साथ विंध्य की शृंखलाओं का संगम होने लगता है और इधर प्रतापगढ़ के पठार में अरावली की दीर्घ बांहें कुछ इस तरह समा गई हैं, मानो मालवा की उपजाऊ भूमि ने उन्हें अपनी प्यार-उद्दीप्त बाहों में समा लिया हो! अरावली की कहानी इस तरह क्रीड़ाओं से भरी हुई है। पर उस क्रीड़ा का आनंद वही ले, जो उत्तर में दिल्ली से लेकर ५० से २०० मील की चौड़ाई में फैलती हुई, दक्षिण की दिशा में तेजी से दौड़ती अरावली के साथ कदम बढ़ाते हुए, इसे अपने कदमों से नापने का दुस्साहस कर सके। अरावली दुस्साहसियों का ही वरण करती रही है और आज भी करना चाहती है!!

उदयपुर से हम अब सिरोही की दिशा चलें, जहाँ अरावली का उत्तप्त यौवन ग्रीष्म में सतृष्ण हो उठता है और शरद् में वह शरद्मधु का स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

वैष्णव संस्कृति का नमस्य धाम

गर्वी-गुजरात की तरुणियां आबू को अपने लास्य का गोपनीय धाम मानती हैं। राजपूती युग की ठकुराणियों का यह धाम सुरापान के लिए प्रचंड रूप धारण किये रहा है। राजस्थान के पोलिटिकल एजेंट ने यहाँ पर बैठकर मुगल बादशाह से भी अधिक जीवन का उपभोग किया है। वह अपने आप में एक सरस कहानी है। श्वेताम्बर पंथी जैन इसे अपने मध्ययुगीय गर्व का फहराता हुआ जरी-रेशमी वाला ध्वज मानते हैं। लेकिन मूल बात यह है कि आबू वैष्णव संस्कृति का नमस्य धाम आज से चार हजार वर्षो से रहा है। आबू का धार्मिक इतिहास इस दृष्टि से अभी लिखा जाना बाकी है। मार्कण्डेय पुराण, पद्म पुराण और भागवत में इसी पर्वत की कथा सरस व मधुर रीति से उल्लिखित हुई है। यहीं पर वशिष्ठ ऋषि का आश्रम रहा था। वशिष्ठ महाराज दशरथ के राजगुरु रहे, लेकिन उससे पहले तपस्या-क्षेत्र उनका यही रहा। आज भी वहाँ पर उनके

३१. स्फूर्त जगद्दहा

[1] बूंदी की सीमा पर जब हम केशोराय-पाटण पहुँचते हैं, तो अरावली का एक अभिनव सत्य हाथ लगता है। राजस्थान स्थूल दृष्टि से नदी-विहीन देश है। केशोराय पाटण चम्बल नदी के तट पर है। इस बारहमासा नदी के संतुलन में डूंगरपुर राज्य की सोन नदी भी कुछ बारहमासा ही है। पर ये सीमान्त की धारायें हैं। अरावली ने अपने जनावासों को वर्षा-जल अथवा पहाड़ी जलधाराओं के क्षीण स्नेह-संबल से ही प्राणवन्त बना कर, उन्हें दीर्घ जीवन का भोग कराया है।

आश्रम की पावन स्मृति में उनकी प्रतिभा का दर्शन करने लाखों यात्री प्रति वर्ष आते हैं। मंदिर की शिला पर लिखा है, 'वशिष्ठ-मुनि हिमालय पर तपस्या करते थे। बहुकाल कठोर तपस्या करने के बाद वह सिद्ध हुए और वहाँ से चलते समय ब्रह्मा की अनुमति से हिमालय का नन्दी वर्धन नाम का एक शृंग उखाड़ लाए।' इसी तथ्य को वस्तुपाल के मंदिर ने इस प्रकार वर्णित किया है, 'अर्बुद शिखर गौरी पति के श्वसुर का पुत्र और शशिभृत गंगाधर का अंश बताया है।' यही कारण है कि जैनियों ने भी अनेक स्थानों पर अपने मंगलाचरण में शिव और भगवती का नाम लिया है। उनकी सचिया देवी पुराणकालीन वैष्णव महिष-मर्दिनी है और इस शक्ति का एक पौराणिक नाम सचिया भी है, जिसे जैनी अपनी देवी बताते हैं।

यहीं से ही श्रीकृष्ण भगवान द्वारिका पधारे थे, उस स्थल को द्वारिका द्वार कहते हैं। यह एक दर्शनीय स्थल है। महाराज अम्बरीष की यही तपोभूमि थी, इसीलिए यहाँ पर अम्बरीष आश्रम का दर्शन अपना महत्व रखता है। ७५० सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद वशिष्ठ आश्रम पहुँचा जा सकता है। गौतम महर्षि का आश्रम भी यहाँ पर है। अचलेश्वर महादेव का मंदिर अचलगढ़ के नीचे बहुत प्राचीन है। कहना यही उपयुक्त होगा कि दिल्ली से जो शैव प्रदेश अरावली शृंखला के पूर्व-पश्चिम दिशाओं को अपनी भुजा-ऋज्जुओं में लपेटता हुआ दक्षिण दिशा चला आया है—उसका अंतिम छोर यही अचलेश्वर महामंदिर है!

औषधि-खरल की बनावट का रहस्य

प्रायः सभी लोग रेल मार्ग द्वारा आबू रोड से होकर आबू पर्वत पर जाते हैं। और इस तरह उन्हें १८ मील का मार्ग तय करना पड़ता है। किन्तु जैन मतावलम्बी आबू की परिक्रमा सिरोही से प्रारंभ करते हैं और उन्हें कुल मिलाकर ९० मील की यात्रा करनी होती है। स्वयं आबू पर्वत की परिधि लगभग ४२ मील लम्बी है। यह लगभग अठारह मील लंबा है और दस मील चौड़ा है। पर्वत पर चार हजार फुट ऊपर, लगभग चौबीस मील का ऊँचा-नीचा मैदान है। मूल रूप में यह दो पर्वतों से मिल कर बना है। जाते समय सारी सड़क एक ही पर्वत पर घूमती है। लेकिन सिरोही से जानेवाले पैदल यात्री आबू के पीछे से दूसरे पर्वत पर पर होकर जाते हैं और केवल छ मील की चढ़ाई करने के बाद ही ऊपर पहुँच जाते हैं। सिरोही से यह पर्वत बहुत दर्शनीय है। मैंने इस पर्वत को आगे से भी देखा, सिरोही से चलकर मीरपुर की दिशा जाते हुए, इसका पृष्ठ भाग भी देखा। तभी इस रहस्य का उद्घाटन हुआ कि यह पर्वत वास्तव में औषधि-खरल की तरह से बना हुआ है।

३२. देवेष्ट चर्मयष्टि

अरावली की शृंखलायें सारे राजस्थान में दो आजानु बाहों की तरह से आगे प्रसारित हुई हैं, किन्तु सिरोही से निकल कर वह शृंखला आबू की शान में इस तरह चारों ओर घूमती है कि आबू पर्वतराज की तरह उनके बीच में गर्वोन्नत मस्तक से खड़ा हुआ है। इसकी सबसे ऊँची चोटी ५ हजार फुट से भी ऊपर चली गई है। अन्दर के भाग में यह खरल की तरह से है। इतिहास में यहाँ पर केवल सामन्ती वर्गों ने ही अपने चरण थाम कर रखे, अथवा बारहवीं सदी के बाद यह वैष्णव व जैन देवालयों के संगम की स्थली बन गई, कहना यह अधिक उपयुक्त होगा कि इस खरल में शैव व जैन स्थापत्य कला का परिपाक हो गया, वह एक रस होकर एक रंग हो गई!

आबू की तहसील में चन्द्रावती नगरी के अवशेष पड़े हैं। नवीं सदी के शिवालय मूंगथला में भग्न पड़े हैं, जो कि एक प्रकार से लकुलीश (शिव के २८वें और अन्तिम अवतार) के पूजास्थल थे। आबू इतिहास का वह सेतु-बंध है, जहां पर दक्षिण और उत्तर भारत की सभ्यताएँ परस्पर में भुजबाहुओं को जकड़ कर मिली हैं।

राजस्थान और गुजरात का सेतु-बन्ध

प्रायः इतिहासकारों ने विन्ध्यपर्वत को उत्तर और दक्षिण भारत का सेतुबंध कह कर उसका यथोचित सम्मान किया है। पर यही बात यह नहीं है। विन्ध्य तो उत्तर की दक्षिण सीमा पर एक तरह से अवरोधक दीवार बन कर खड़ा रहा है। जो भी मार्ग उत्तर भारत से दक्षिण की ओर गये हैं, वे आबू होकर गये हैं। श्रीकृष्ण के युग से दक्षिण जाने का यही मार्ग था। यहीं से ही मारवाड़ का व्यापारिक मार्ग था। गुजरात और उदयपुर की राज-पगडंडियाँ यहाँ से होकर गुजरती रहीं। [illegible] में जैन धर्म जब भली प्रकार पल्लवित हो चुका था, तब वह [illegible] में इसी मार्ग से होकर आया और उसने सबसे अधिक प्रसार सिरोही में किया। आबू के दक्षिण में शिव-साम्राज्य था, ब्राह्मण-धर्म का प्राबल्य था, इसलिए जैन धर्म ने अपनी दिशायें अरावली के पश्चिम में ऊपर से नीचे तक फैले हुए अथाह रेगिस्तान में अधिकृत बनाईं और यहीं पर ही कठिन श्वासों को लेकर जीवित रहा। जैसलमेर, [illegible] जैन धर्म की पट्टी कहा जा सकता है। आबू इसी नाते गुजरात और राजस्थान का सेतुबंध बन गया: आज भी वह है। यों आबू आज गुजरातियों का ही विहारकेन्द्र है। यों गनीमत है कि राजस्थान ने लड़झगड़ कर उसे अपनी सीमा का प्रिय अंग बनाने में सफलता [illegible]

है, लेकिन गुजरात भविष्य में बराबर इस पर्वत के लिए संघर्ष करता रहेगा, इसमें कोई दो राय नहीं हो सकतीं। भविष्य में यदि इस पर्वत पर केवल गुजरातियों का ही प्रादुर्भाव पक्व होता चला जाये, तो उसमें कोई आश्चर्य शेष नहीं रह जायेगा। गुजरात आबू पर पहुँच कर मानो अपने मस्तक पर लगाने के लिए चंदन का टीका पा जाता है। पर राजस्थान में आबू की स्थिति वही है, जो कटि-मेखला में लटकते हुए हीरक की होती है, मुखासन में विराजमान प्राचीन राजस्थानी संस्कृति की कटि-मेखला का बहुमूल्य हीरक!

दुर्ग-नगरों का प्रसव

अरावली की कहानी बहुत बड़ी है। उसका सौंदर्य वासुकि नाग सा अनन्त है। प्राचीन मानव की वह मातृ-गोदी बन कर रहा है। पर सबसे बड़ी बात यह है कि राजस्थान में सर्वाधिक दुर्ग-नगरों का ही निर्माण प्रिय रहा है। १६ वीं सदी तक जो मुख्य नगर रहे, वे दुर्ग-नगर रहे। जो प्रधान मंदिर रहे, वे इन्हीं दुर्ग-नगरों में स्थित रहे, अथवा मुख्य शृंगों पर अवस्थित किये गये। अरावली की यह प्रकृत देन देव-पूजा के लिए बहुत मार्के की है।

यहाँ हम, उदाहरण के तौर पर, कुछ दुर्ग-नगरों की चर्चा कर लें।

नगरी, आमेर, जालौर, पोकरण, जूना छोटा, तारागढ़ (अजमेर), नाडोल, चित्तौड़, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, अलवर (उलवल), भरतपुर, खंडेला, रणथम्बोर, सिरोही, बूंदी व कोटा, झालावाड़ पाटण, चन्द्रावती नगरी (आबू), भैंसरोड़, बेगूं[1], सलूम्बर (उदयपुर) और बैराठ। नवीं सदी में लिखित खुम्माण-रासो में चित्तौड़ की प्रशस्ति के अन्तर्गत लिखा है कि यह ८४ कोट में से एक था। इसमें ८४ बाजार हैं। मध्ययुग से पहले यहाँ प्रधान सूर्य-मन्दिर था। शैव और कृष्ण-परम्परा १४ वीं सदी के बाद प्रबल होती चली गई। जालोर का दुर्ग भी दुर्ग-नगरों में से एक था। परमार-काल की चर्चा यहां केन्द्रित रही है। चौहानों ने सन् १३०० में अलाउद्दीन खिलजी से मोर्चा लेने के लिए [illegible] जमाये थे। प्राचीन नाम इस स्थान का सोनगिरी था। यहां पर [illegible] का मन्दिर विद्यमान रहा, जो नाथों का प्राबल्य साक्ष्य रूप में प्रकट करता है। जलंधरनाथ के शिष्यों ने इसका नाम जालौर रखा। आमेर की स्थापना ढोलाराय ने सन् ९६७ में की थी। चित्तौड़ की स्थापना इस समय तक दुर्ग-नगर के रूप में प्रधान हो चली थी। जूना छोटा के पास जो पर्वत-शृंखला है, उसका नाम अलनदेव है। १२००० घरों की यह दृढ़ बस्ती थी। आमेर के [illegible], माद्ध और अन्य बड़े नगर भी इसके प्रभावक्षेत्र में रहे। किंवदन्ती है कि आमेर के दायरे में ५२ दुर्ग थे। तारागढ़ सातवीं सदी में आबाद हो चुका था। शाकंभरी भी दुर्गनगर रहा, इसके प्रमाण प्रमाणित किये जा सकते हैं। इन नगरों में जो ध्वस्त प्राय मन्दिर पड़े हैं, वे प्राचीन राजस्थान का बहुत-सा प्रशस्त इतिहास पूरी तरह धूमिल नहीं कर पाये हैं। दुर्ग-नगरियों की आस्था धर्मनिष्ठ तो रही ही, हिन्दू जाति के प्राणों की भी नित्य नवीन प्रतिष्ठा करती रही।

प्रश्न है कि १५वीं सदी से पहले तक राजस्थान पर ही मुसलमानों के सबसे अधिक आक्रमण क्यों हुए? शेरशाह सूरी तक इस लोभ से वंचित क्यों न रहा। अकबर को भी अपनी सबसे अधिक शक्ति, इस आक्रमण-परम्परा को जीवन्त रखने के लिए, राजस्थान में क्यों लगाये रखनी पड़ी?

सरल-सा एक उत्तर तो यह है कि यहाँ के जो मन्दिर थे, वे विशाल, दृढ़ आस्था के ज्वलन्त प्रतीक थे। इन मन्दिरों में केवल राजपूती का निवास ही न था, धनाढ्य वैश्यों का अपरिमित धन भी जनहिताय भाव से आरोपित था। ये शिक्षालय थे, रणबुद्धि के विद्यालय थे, अजेय मानवात्मा के अक्षय कोष थे। बार-बार आक्रमण इसीलिए किये गए, ताकि पश्चिमी सीमान्त पर इन्हें पराभूत किये बिना भारत का पश्चिमी द्वार अविजित रहता था। कन्नौज का सहाय्य न मिलता, क्या गोरी पृथ्वीराज की दुर्दमनीय बाहुओं को स्पर्श कर पाता!

अरावली इस तरह के अनेक प्रश्नों का अकेला उत्तर है। उसने कठोर भाव से दुर्ग-नगरों में धर्म-अनुरक्ति से शोभित दुर्ग-प्राण-स्वरूप मन्दिरों का प्रथम स्तरीय लोकनिर्माण करने में अति कर दी थी। मुसलमानों का जिहाद अपनी शक्ति की प्रथम कसौटी इन्हीं दुर्ग-नगरों को न मानता, तो देश के किस भू-भाग को मानता?

दक्षिण भारत के मंदिरों का युग राजस्थान के मंदिरों के बाद आता है। उड़ीसा, बंगाल के मंदिर भी पूर्वमध्यकाल के हैं। राजस्थान ही इस समय मंदिरों की दृष्टि से प्राचीनतम सौंदर्य प्रस्तुत करनेमें समर्थ है — यह कृपा इसी अरावली की है। यह पर्वतश्रेणी अवश्य ही खैबर-दर्रे के अभिशाप का निराकरण न कर सकी, किन्तु इसने भग्न होने के बाद उनके स्मृति-चिह्न दुखी मृतवत्सा की तरह सहेज-समेट कर बहुत सतर्क भाव से रखे!

३३. सर्पदंशन-मोहिनी

1 बेगूं के पास बसनोडा दुर्ग-नगर था, जिसके अधीनस्थ २४ लघु दुर्ग कहे
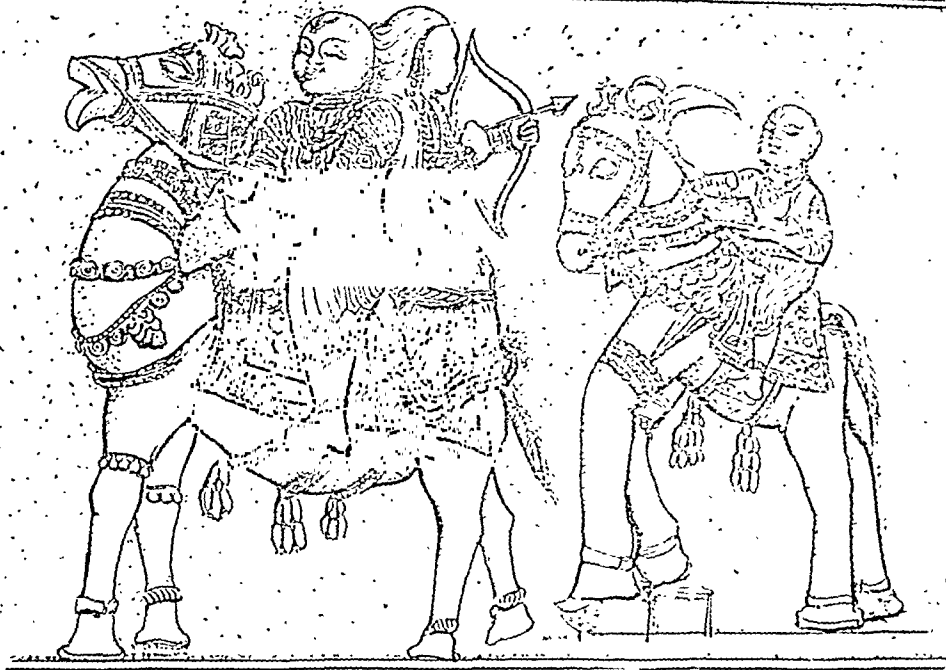
ढोला-मारू : एक दृश्य
[भरतपुर संग्रहालय, १७वीं सदी]

राजस्थान में ब्रह्मा के दो मंदिर

[५]

ब्रह्मा जी के मंदिर की व मूर्त्तियों की चर्चा पहले आई है। पुष्कर में ही भारत का एक मात्र ब्रह्मा-मंदिर रहा। किन्तु राजस्थान के इतिहास में एक ब्रह्मा के मंदिर की चर्चा चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ के शिला-लेख में आई है कि वह संवत् १५१५ में स्थापित किया गया था।[1] डूंगरपुर के घाणेश्वर महादेव मंदिर में तथा जागेश्वर महादेव के मंदिर में ब्रह्माजी के अलग देवरे हैं। इन मंदिरों के विषय में श्री राजेन्द्र शंकरजी भट्ट ने विशद सूचनाएँ देते हुए लिखा है—

"तीन बड़े देवताओं में ब्रह्मा की गणना सबसे पहले की जाती है, लेकिन समस्त भारत में ब्रह्मा के पूरे तीन मन्दिर भी विद्यमान नहीं हैं। यह एक विचित्र अवस्था है। और इससे भी विचित्र बात यह है कि ब्रह्मा के जो दो मंदिर इस समय विद्यमान हैं वे दोनों ही राजस्थान में हैं। शिव और विष्णु के साथ अवश्य प्रायः [illegible] ब्रह्मा की पूजा होती है, इनके मंदिरों में ब्रह्मा का [illegible] रहता है। लेकिन शिव के मंदिर में शिव की [illegible] विष्णु के मंदिर में विष्णु की अभ्यर्थना [illegible] ब्रह्मा को दिखाया गया है, अथवा विष्णु की नाभि से निकले कमल पर [illegible] दिखाया गया है। [illegible] मंदिर वास्तव में [illegible] जिनमें ब्रह्मा ही मुख्य देव के स्थान पर पूजा पाते हैं। राजस्थान में एक मंदिर पुष्कर तीर्थ में है और दूसरा सिरोही प्रदेश के [illegible] नामक प्राचीन दुर्ग के निकट। इसके अतिरिक्त [illegible] प्रदेश तथा खजुराहो विन्ध्यप्रदेश में भी ब्रह्मा के मंदिर हैं, परन्तु नगण्य से। धारवाड़ और हैदराबाद दक्षिण में दो मंदिरों का उल्लेख मिलता है। परन्तु इन दोनों के [illegible] ही विशेषज्ञों [illegible] यही कारण [illegible] इनमें [illegible] उपलब्ध नहीं हैं। [illegible]

[illegible] किन्तु लोकमानस ने बड़ी [illegible] [illegible] संख्या [illegible]

[illegible] स्मृतियों में सुरक्षित रख छोड़ा है।

---

[1] ब्रह्मा-मंदिरों की परम्परा उदयपुर में एकलिंग जी के स्थान पर रही। वहाँ आज भी ब्रह्माजी का मंदिर है। बांसवाड़ा में छींछ में है।

"ब्रह्मा की पूजा आखिर उतनी होती क्यों नहीं है? इसके सम्बन्ध में कई किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। पुष्कर के मंदिर की सीढ़ियों पर एक पुजारी ने जो गाथा सुनायी वह बड़ी हृदयस्पर्शी है। ब्रह्मा जब पुष्कर में यज्ञ करने को बैठे तो उन्हें अपनी पत्नी सावित्री की आवश्यकता हुई, चूंकि सब धर्म-कार्य जोड़े से किये जाते हैं। सावित्री को लेने नारद भेजे गये, उन्होंने पति-पत्नी में विग्रह कराने की सोची। सावित्री को बुलावे की शीघ्रता का भान नहीं होने दिया और वे दूसरी देव-पत्नियों को न्योता दे आयीं—और सब महिलाओं ने शृङ्गार में समय लगा दिया। उधर नारद ने न जाने कैसा सन्देश लौटकर ब्रह्मा से कहा। और यज्ञ का समय भी निकला जा रहा था। ब्रह्मा ने इन्द्र को कोई और कन्या लाने का आदेश दिया। वे एक ग्वाले की कन्या गाय द्वारा पवित्र कराकर ले आये—गायत्री। ब्रह्मा ने वहीं उनका पाणिग्रहण किया और यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। यज्ञ की आहुति की ध्वनि सावित्री ने सुनी, वे तब फुर्ती से नीचे आयीं और ब्रह्मा के वामांग पर स्त्री को देखकर स्वभावतः कुपित हुईं। उन्होंने क्रोध में ब्रह्मा से कहा कि सिवा इस यज्ञ-स्थल के और कहीं उनकी पूजा नहीं होगी, और यहाँ भी १०० वर्ष में कुछ दिन उनको भोजन तक नहीं मिलेगा। ब्रह्मा ने भी उलटकर श्राप दिये, सावित्री चाहे कहीं भी रहे उसे पानी सिवा पुष्कर के और कहीं का नहीं मिलेगा। सावित्री ने नारद, इन्द्र आदि इस कांड से संबंधित लोगों को भी श्राप दिये थे। ब्रह्मा के मंदिर से दूर रत्न-गिरि पहाड़ी पर कुपित सावित्री विराजमान है। ब्रह्मा के वामांग पर है गायत्री। इस आख्यायिका को अपने ग्रन्थ में दिवान बहादुर हरविलास सारदा ने भी दिया है। वे नारद के स्थान पर वरुण का उल्लेख करते हैं। एक पौराणिक उद्धरण के अनुसार मोहिनी नाम की अप्सरा ब्रह्मा पर मोहित हो गयी, लेकिन ब्रह्मा ने उसकी कामना पूरी नहीं की। इससे कुपित होकर मोहिनी ने ब्रह्मा को श्राप दे दिया। भृगु जब त्रिदेव की परीक्षा लेने निकले तब उनको ब्रह्मा ने रुष्ट होकर [illegible] लौटाया, तब उन्होंने ब्रह्मा को श्राप दे दिया। [illegible] आख्यायिका यह है कि एक बार ब्रह्मा-विष्णु में यह विवाद उठा [illegible] कौन है। शिव ने कहा कि जो भी उनके लिंग-स्वरूप [illegible] अंत का पता ले [illegible] उसी को बड़ा कहा जावेगा। युग बीत गये और दोनों में से कोई भी छोर नहीं छू पाया। ब्रह्मा ऊपर की ओर जा रहे थे, उन्होंने एक केतकी का फूल गिरते देखा। वह शिव के शीर्षस्थान से गिरकर नीचे आ रहा था।[1] ब्रह्मा ने उसे अपनी ओर से असत्य साक्षी देने को मना [illegible] शिव से जाकर कह दिया कि वे ऊपरी छोर तक हो आये थे। [illegible] शिव इस [illegible] पर अत्यन्त प्रभावक्षेत्र में रहे। किंवदन्ती है कि आमेर के दायरे [illegible] ब्रह्मा के पांच थे। नागगढ़ सातवीं सदी में आबाद हो चुका था। [illegible] में पूजा शिवरात्रि को स्वीकार कर लेते हैं, ऐसे ही एक दो स्थल ब्रह्मा के लिए बाद में मुक्त कर दिये गये हों।

"पुष्कर और वसन्तगढ़, जहाँ ब्रह्मा जी की आज भी पूजा होती है, राजस्थान के प्राचीनतम स्थानों में माने जाते हैं। धार्मिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से इनका अत्यन्त महत्व है। पुष्कर के स्थान की खोज ब्रह्मा ने अपने यज्ञ के लिए की थी। यह तो पौराणिक बात हुई। यहाँ ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व तक के सिक्के मिले हैं। उसके बाद जो जो मुख्य युग हुए हैं उनके सिक्के भी यहाँ से प्राप्त हुए हैं। रामायण और महाभारत में पुष्कर का उल्लेख है। ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व के सांची में प्राप्त एक बौद्धकालीन शिलालेख में भी पुष्कर का उल्लेख है। सन् १८३० के एक अप्रकाशित इतिहास-ग्रन्थ में उसके लेखक श्री गुलाम कादिर ने पुष्कर के पास प्राप्त संवत् १०९ के एक शिलालेख का उल्लेख किया है। यह शिलालेख अब नहीं मिलता। सन् १२५ के लगभग के नासिक के पास एक शिलालेख में पुष्कर का उल्लेख है। स्वयं पुष्कर में प्राप्त प्राचीनतम शिलालेख सन् ९२५ का है और अब भी अजमेर के संग्रहालय में सुरक्षित है। हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध और जैन-शास्त्रों में भी पुष्कर का महत्व वर्णित है। वसन्तगढ़ का सम्बन्ध वशिष्ठ से जोड़ा जाता है। यहाँ के ब्रह्मा के मंदिर के सन्निकट ही एक बावड़ी है जिसमें से पूर्णपाल के समय का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसके अनुसार राजा पूर्णपाल की विधवा बहन लाहिनी ने सन् १०४२ में इस सरस्वती नाम की बावड़ी की मरम्मत करायी थी। इस शिलालेख के अनुसार प्राचीन काल में यह स्थान जंगल मात्र था और यहाँ वटवृक्षों की बहुतायत थी। यहाँ वशिष्ठ का आश्रम भी था। वशिष्ठ ने अर्क और भृगु के मंदिर बनवाये और वट नामक नगर स्थापित किया। यह अर्क और भृगु ही सूर्य और ब्रह्मा हैं, जिनके मंदिर एक दूसरे के समानान्तर और सन्निकट अब भी अवस्थित हैं और इस स्थान के नाम से वसन्तगढ़ का भी मूल प्राचीन नाम वट में ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई एक हजार वर्ष पहले भी इस स्थान को और यहाँ के सूर्य एवं ब्रह्मा के मंदिरों को अतिशय प्राचीन माना जाता था। इन मंदिरों के निकट एक देवी-मंदिर में संवत् ६८२ का एक शिलालेख मिला है। और, मंदिरों की दूसरी ओर के जैन मंदिर में संवत् ७४४ की धातु मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन उदाहरणों से इस स्थान की प्राचीनता और इसका धार्मिक महत्व स्वयं सिद्ध है।

"दोनों मंदिरों में प्राचीन एवं दर्शनीय वस्तु मूल मूर्तियाँ ही हैं। दोनों मूर्तियों की आकृति मनुष्याकार है, पुष्कर में ब्रह्मा बैठे हैं और वसन्तगढ़ में खड़े हैं। पुष्कर में चार मुख दीखते हैं, वसन्तगढ़ में तीन ही। यह पाषाण प्रतिमाएँ देखने में अत्यन्त सुन्दर और भव्य हैं। दोनों मंदिर बहुत पुराने नहीं हैं। पुष्कर के मंदिर का जीर्णोद्धार सन् १८०९ में हुआ है।"

---

[1] देगू के पास वनथोड़ा दुर्ग-नगर था, जिसके अधीनस्थ २४ लघु दुर्ग थे कि [illegible] जाते थे।
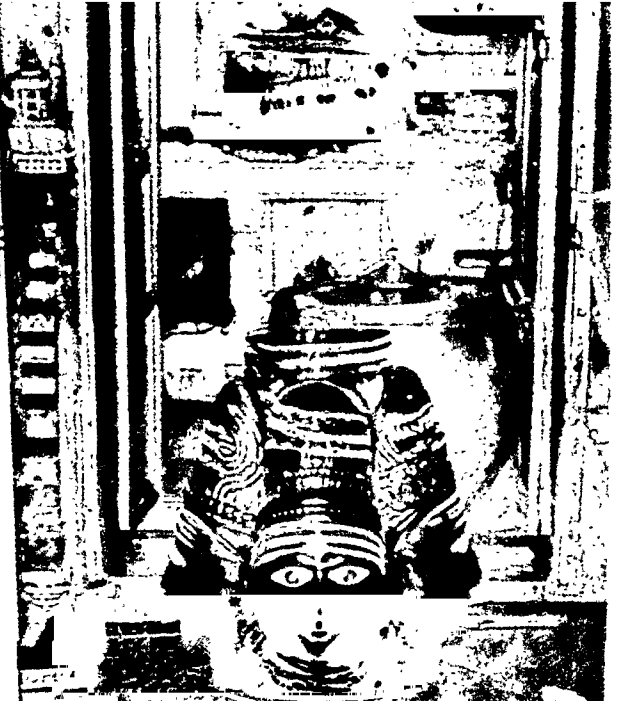
३४. प्रहरी-रूप प्रकृति की जिज्ञासा-मूर्ति एवं ३५, ३६ व ३७ सत्यं-शिवं-सुन्दरं के तीन भाव-अंकन

राजस्थान में शिव के व्यापक प्रसंग

[६]

शिव—शिव के नाम कितने हैं, यह बाद में बतायेंगे। समस्त भारत में शिव-मंदिरों के नाम की ही यदि हम गणना करें तो एक बहुत बड़ी सूची तैयार हो जाये। अकेले राजस्थान के बड़े-बड़े और प्रमुख मंदिरों की सूची बनाने मात्र से कम से कम १००० नाम तो हमारे सामने अवश्य आ जायेंगे। १० वीं ११ वीं सदी के आसपास पक्के और कलात्मक शिल्प-अंकन से मंडित शिखर-मंदिर कम से कम १००० अवश्य रहे होंगे। मूर्त्ति-भंजकों का कार्यक्रम ६ वीं सदी के बाद १७ वीं सदी तक निरंकुश भाव से चलता रहा। उसके बावजूद आज स्थिति यह है कि राजस्थान में अकेले शिव-मन्दिर कम से कम डेढ़ हजार हैं। इनमें वे भी शामिल हैं, जो ग्रामों के एकान्त में छोटे-से शिवलिंग के रूप में जन-जन की धर्म-श्रद्धा को सजीव बनाये हुए हैं।

शिव ने मृत्यु को जय किया था, यह तथ्य विचित्र शंकाओं को उत्पन्न करता है। मृत्युंजय नाम शिव का इसीलिए रहा। इसी मृत्युंजय भाव के कारण शिव के प्रति जन-जन की भावना अगाधरूप से पयस्विनी बनी रही है। शिव का दूसरा नाम मेखलाल है। जो मेखला पहनते हैं, वे शिव हैं। सर्वस्व त्याग कर और त्रिभुवन के वैभव को अस्वीकार कर जिन्होंने शरीर पर केवल मेखला धारण की हो, उनके प्रति धनिकों का, विद्वानों का और दीनजनों का आदरास्पद भाव एक-समान व्यापक रूप से बना रहा।

राजस्थान में शिव की प्रारंभिक क्रीड़ा-भूमि किस प्रकार [illegible] विस्तार करती गई, इसको सरल रूप में समझने के लिए हमें [illegible]वली पहाड़-शृंखला को एक विशेपरूप से समझना होगा।

भूतत्ववेत्ताओं ने यदि कोई सबसे अधिक महत्व की बात [illegible] है तो यही, कि हिमालय से भी प्राचीन पर्वत-शृंखला [illegible] पर्वतमाला की है। यह अरावली उत्तर-पूर्व [illegible] है। फरीदाबाद से शुरू होने [illegible] मन्दिरों की दृष्टि से उदयपुर राज्य के [illegible] भूमि चयन [illegible] अपना वैभवपूर्ण साम्राज्य लिये हुए है। [illegible] सीमायें [illegible] मेवाड़ के [illegible] को [illegible] अपने [illegible] [illegible] अद्भुत कौशलपूर्ण नृत्य करने लगती है।

शिव की क्रीड़ा-भूमि

राजस्थान के प्रसिद्ध व अमर इतिहासकार डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है कि भारतवर्ष के [illegible] वर्ष पूर्व के मंदिरों [illegible] संभव नहीं है। [illegible] मूर्त्तियाँ उपलब्ध नहीं हैं। [illegible]

किन्तु लोकमानस ने बड़ी चतुराई [illegible] किंवदन्तियों में सुरक्षित रख छोड़ा है।

के निकट कमलनाथ महादेव का तीर्थ है, जो लगभग १५०० फुट ऊपर पहाड़ों की घाटियों में स्थित है। इससे ठीक ५०० फुट ऊपर वह स्थान है, जहां रावण ने महादेव की आराधना की थी और कमल के अभाव में अपने ही सिर काट कर उसके भेंट किये थे।[१] हारीत ऋषि[२] व शृंगी ऋषि[३] व पाराशर ऋषि[४] व च्यवन ऋषि[५] आदि के स्थलों की महिमा के साथ जयपुर में गालव ऋषि का स्थल भी उल्लेखनीय है। भर्तृहरि स्थान भी यहीं रहे।[६] अरावली की प्राचीनता खेतड़ी व सिहाणा के बीच की घाटियों के देखने से लग सकता है, कैसे कहां पर कभी हिन्द महासागर लहराया करता था।

टाड के समय तक पांचवीं सदी तक की कोई उत्तम शिल्प की शिव-प्रतिमा प्राप्त नहीं हुई थी, किन्तु कनिष्क के सिक्कों पर द्विभुजी व एकमुखी शिव की मूर्त्ति अंकित मिलती थी। अब भरतपुर क्षेत्र के अघारपुर नाम से उत्तर शुंगकाल का शिवलिंग एकमुखी मूर्त्ति से युक्त मिला है। इससे प्राचीन शिवलिंग अभी तक राजस्थान में और नहीं मिला। यह बहुत सुन्दर है।[७]

हम भरतपुर में चलें। भरतपुर में राजस्थान में ही नहीं, भारत के शिवलिंगों की सम्पदा में भी जो सर्वश्रेष्ठ हैं, ऐसे शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। इन में से उक्त शिवलिंग भरतपुर में है, जो लगभग ६ फुट ऊंचा है। इसकी आकृति का यथार्थ स्वरूप एक-बारगी ही दर्शक को चौंका देता है। अजमेर में जो दो शिवलिंग हैं, उनके निर्माण में संभवतः ५ वीं सदी के श्रेष्ठ कलाकारों का श्रम समर्पित हुआ है। पंचमुखी शिव की कल्पना को उन्होंने मानो अनुपम काव्य की अजस्र वाणी से अवगाहन करा दिया है।[८] इससे दो सदी के बाद वे वैभवपूर्ण मंदिर अर्थूणा में अपना खोया हुआ वैभव समेटे हुए विद्यमान मिलते हैं। जिस दायरे में अर्थूणा के मंदिर हैं, वह राजकीय श्मशान लगता है।[९] उनकी स्थिति स्पष्टरूप से उस स्थान को श्मशान घोषित करती है। इन शिव-मंदिरों की कला-शैली अपने युग की सर्वोच्च प्रतिनिधिनि रही। ५ वीं ६ ठी सदी की अत्यधिक लोकनिष्ठा की इस परम्परा में बांसवाड़ा और अर्थूणा से आगे चल कर हमारी दृष्टि उदयपुर के एकलिंगजी[१०] पर पड़ती है। यह एकलिंग नाम प्रारंभ में एक ही लिंग रहा होगा। बापा रावल और हारीत ऋषि के कथानक के सन्दर्भ में एकलिंग का (पुनः) प्रगट होना इस बात को प्रमाणित करता है कि भौगोलिक कारणों की वजह से ७ वीं सदी के पूर्व के शिव-मंदिर बाढ़ आदि में बहते रहे होंगे और वे पुनः दिव्य शक्तियों का इंगित पाकर प्रकट हुए।

उदयपुर में जलधाराओं की कमी नहीं है, उनके अनेक संगम हैं। इन संगमों पर प्राचीन शिव-मंदिरों की किंवदन्तियां प्राप्त होती हैं, उस परम्परा में देव सोमनाथ महादेव आदि मंदिर आते हैं। १३ वीं सदी का सोम नदी के तट पर विद्यमान देवसोमनाथ महादेव निश्चय ही राजस्थान के शिव-मंदिरों में विशेष गर्व-गौरव का धनी रहा होगा। आज भी इसकी स्थापत्य-संपदा बहुत कुछ आंखों को सुख देती है।[११]

जोधपुर बहुत पुराना शहर नहीं है, किन्तु उसके अन्तराल में शिव-मंदिरों की कमी नहीं है। जोधपुर से आगे हम जैसलमेर निकल जाते हैं। १२ वीं १३ वीं सदी में वहां के समस्त मंदिरों को मुसलमानों के हाथों अन्तिम ह्रास प्राप्त हो जाता है। फिर भी जैसलमेर नगर के बाहर मुख्य तालाब पर ३ फुट ऊंची और अढ़ाई

---

१ उदयपुर प्रचार-विभाग (राजस्थान सरकार) की सूचना-पत्रिका में लिखा है, "यह उदयपुर के दक्षिणमें स्थित है। अरावली सुरम्य पहाड़ियों से आच्छादित है। स्वतंत्रता-संग्राम में [illegible] रणशिरोमणि राणाप्रताप ने अपने वनवास के दिन काटे [illegible] गये हैं। कमलनाथ यहां [illegible] ऐतिहासिक [illegible] के ए, पृष्ठ ३५३, स[illegible]

२ हारीत ऋषि की मूर्ति एकलिंग जी के [illegible] स्थानों पर स्थित है।

३ शृंग ऋषि का स्थान राजस्थान का ऐतिहासिक व प्राकृतिक सौंदर्यस्थली से लब्ध धाम है, खेमली स्टेशन के पास विकरनी ग्राम के निकट है।

[illegible] ऋषि का स्थान फरीदाबाद की पहाड़ियों में प्रकट जल-[illegible] है।

[illegible]वक्षेत्र में रहे। किंवदन्ती है कि [illegible] पंजाब की सीमा पर, अरावली [illegible] तारागढ़ सातवीं सदी में आबाद हो गया है।

[illegible] के पास बनयोटा दुर्ग-नगर [illegible] कलचुरी, अलवर में और कुछ [illegible] थे। [illegible] प्रमाणित किया करती हैं।

८ इन दो शिवलिंगों में से एक का चित्र देखिए पृष्ठ २६७ पर और दूसरे लिंग का चित्र है पृष्ठ ३५२ पर, संख्यक ११।

९ चित्र देखिए पृष्ठ ३५३, संख्या ३।

१० चित्र देखिए शैल-शिखर पृष्ठ ३५३ पर, संख्या १६; एकलिंग जी के विभिन्न शृंगारों के चार चित्र पृष्ठ ३५४ पर।

११ ओझाजी डूंगरपुर राज्य के इतिहास में लिखते हैं, "यह डूंगरपुर से उत्तर-पूर्व में १५ मील पर सोमनदी के तट पर है, जो डूंगरपुर राज्य के सब देवालयों से प्राचीन और एक है। यह श्वेत पाषाण का है। इसके तीन द्वार पूर्व, उत्तर और दक्षिण में हैं। प्रत्येक द्वार पर दो-दो मंजिल झरोखे हैं। गर्भगृह पर ऊंचा शिखर बना है। आठ स्तंभों का बना हुआ सभा-मंडप है। बीस तोरण थे, जिनमें से चार अभी पूरे विद्यमान हैं, पांच आधे। सन् १८७५ में सोम नदी इतनी बढ़ गई कि मंदिर की तीसरी मंजिल में पानी पहुंच गया और लकड़ी के लट्ठों के टकराने से कई तोरण टूट गये।
इसके शिखर की अन्दरूनी रचना बहुत सुदृढ़ और विशिष्ट है।" चित्र देखिए पृष्ठ ३५३, संख्या ११।

फुट चौड़ी एक शिला[1] रखी हुई है, जिस पर सदाशिव, काल-भैरव और गरल-पान करते हुए शिव का अंकन प्रमाणित करना है कि यहाँ पर अवश्य ही कोई विशाल शिव-मंदिर रहा होगा। इसी तरह की शिला की परम्परा में चित्तौड़ का समिद्धेश्वर महादेव आता है, जो ऊँचाई में लगभग १२ फुट ऊँचा है।[2]

बीकानेर शिव-मन्दिरों की दृष्टि से विशेष कहानी नहीं कहता। स्थान नया है, नगर नया है, मन्दिर नये हैं[3] और प्राचीनता की दृष्टि से प्राचीन अवशेष लुप्त प्राय हैं। हाँ, नागौर में अवश्य २० फुट गहराई में जो शिव-मन्दिर है, वह कम-से-कम उसे मध्य युग से पूर्व का प्रमाणित करने के लिए काफी विचार मन में घनीभूत करता है। नागौर शहर का निर्माण अपने आप में यह कहता है कि यह कई बार लूटा गया है, कई बार तोड़ा गया है और कई बार बसाया गया है। जेम्स टाड की कहानी में भी ऐसे अनेक संकेत विद्यमान हैं।

बीकानेर से नीचे जब हम जयपुर प्रदेश में आ जाते हैं तो दो प्रमुख स्थान विशेष रूप से हमें बरबस अपनी ओर आकर्षित करते हैं। पहला है नीम का थाना की पहाड़ियों में स्थित गणेश्वर महादेव और दूसरा है, रघुनाथगढ़ में शिव-मन्दिरों के भूमिसात् छिटपुट पड़े हुए खंडहर।

रघुनाथगढ़ के खंडहर १२वीं-१३वीं सदी के हैं। उनका एक कीर्त्ति-स्तम्भ स्पष्ट रूप से १३वीं सदी की बात करता है। गणेश्वर-माहात्म्य गणेश्वर स्थान के बारे में संभवतः एकलिंगजी और भरतपुर के शिवलिंगों से भी प्राचीन समय की दीर्घ गाथा को कहता है।

यह जयपुर से उत्तर दिशा में ३० कोस पर नीम के थाने के पास गणेसर नाम के छोटे से ग्राम में है। ग्राम क्या है, बड़े लम्बे चौड़े ऊँचे पहाड़ की उपत्यका में दक्षिणाभिमुख बसा हुआ है, यहाँ पर ही गालव ऋषि के नाम से महामहिम बना हुआ गालवाश्रम है। हारीत ऋषि के बाद गालव ऋषि के नाम के साथ यह दूसरा शिव-तीर्थ है। इस पर्वत का नाम मालकेतु है। विराट् पर्वत भी इसे कहते हैं। भागवत के पंचमस्कंध में इसका नाम गौ का मुख लिखा है। सोने-चाँदी की खान होने से स्वर्णमय सुमेरू पर्वत का पौत्र मालकेतु होना इसका सत्य प्रतीत होता है। इसकी लंबाई-चौड़ाई २४ मील में है। ऊँचाई भी बहुत ऊँची है। यहाँ की जलधारा उष्ण है। प्राचीन साहित्य में इस बात की चर्चा आती है कि राजसूय-यज्ञ के बाद भी धर्मराज युधिष्ठिर को मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं हुई, उन्हें ऐसी अवस्था में देख कर ऋषि विश्वमित्र ने उन्हें गालव-तीर्थ का माहात्म्य बतलाया। विश्वमित्र ने वशिष्ठ से युद्ध करने के बाद जो तप किया था, उस अवधि में गालव नाम के मुनि ने उनकी सेवा की थी। गालव को गुरु-दक्षिणा देने में असमर्थ रहने के कारण उन्हें भी घोर तप करना पड़ा और भगवत-दर्शन होने पर उन्होंने यही वरदान मांगा कि जहां मैंने तप किया है, वह मेरे नाम से तीर्थ हो जाये। उन्हें ऐसा ही आशीर्वाद मिला।

ऐसे माहात्म्य की बात सुन कर धर्मराज हस्तिनापुर से गालव तीर्थ में गये और स्नान करने के बाद उन्होंने मानसिक शान्ति प्राप्त की। इस कथानक के संदर्भ में यह तथ्य छिपा हुआ है कि यह स्थान राजस्थान के अन्य तीर्थों से, पुष्कर को छोड़कर, प्राचीन है।

जयपुर के बाद अलवर में राजगढ़ के पास ११वीं सदी का नीलकंठ-महादेव[4] नामक प्राचीन मन्दिर अभी भी येन-केन प्रकारेण सुरक्षित बना हुआ है।

शिव के प्रसंग में हमें उदयपुर मेवाड़ राज्य मे स्थित कल्याणपुर[5] की चर्चा कर लेना भी जरूरी लगता है। उदयपुर संग्रहालय में जो ३ फुट ऊँचा कीट-कुंडल से सुशोभित अर्धचन्द्र से मंडित एवं विस्तीर्ण शिवत्व से लब्ध नेत्रों की ज्योत्स्ना से परिपूर्ण शिव-मुंड रखा हुआ है, वह कल्याणपुर की शैव-परम्परा का अविस्मरणीय इतिहास कहने के लिए किसी भी इतिहासकार को अपनी ओर आह्वान देता हुआ-सा वाणी देता है। कल्याणपुर में भी कुछ और बड़े शिवलिंग प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनका उत्खनन सुनियोजित ढंग से अभी तक नहीं हो पाया है। पुरातत्व की यह निधि ११वीं सदी के बाद की लगती है।

राजस्थान में दो प्रकार के शिव-मन्दिर हैं। शिवलिंग से शोभायमान एवं मनुष्याकृति रूप में वामपार्श्व[6] में पार्वती को धारण किये हुए। शिव-पार्वती की प्रतिमाएँ १०वीं सदी के बाद की काफी मिली हैं। प्रतापगढ़ के गौतमेश्वर स्थान में शिव-पार्वती की जो छोटी-सी प्रतिमा[7] सुरक्षित है, वह संभवतः भारत की प्राचीन शिव-प्रतिमाओं में अनिद्य सौन्दर्य का विस्फोट करती है।

मेणाल[8] शिव-मन्दिरों की दृष्टि से उदयपुर राज्य के अन्तराल में अपना वैभवपूर्ण साम्राज्य लिये हुए है। [illegible][9] के [illegible] मन्दिर [illegible] मेणाल के [illegible] को द्विगुणित महत्व देने वाले हैं।

---

१ चित्र देखिए पृष्ठ ३५२, संख्या ३।

२ रंगीन चित्र देखिए पृष्ठ ३०४ पर।

३ विशाल शिव-मंदिर का चित्र देखिए पृष्ठ ३५३, संख्या ६।

४ इसकी एक मूर्ति देखिए अलवर संग्रहालय में सुरक्षित, पृष्ठ ३५१ पर, संख्या ६।

५ देखिए रेखाचित्र पृष्ठ ५६।

६ ऐसे १२ चित्र देखिए पृष्ठ ३५१ पर, विभिन्न स्थानों से प्राप्त मूर्त्तियां हैं ये।

७ पृष्ठ ३५१ पर, संख्या ४।

८ चित्र देखिए पृष्ठ ३६८, संख्या ८।

९ विहंगम दृश्य चित्र देखिए पृष्ठ ३५३, संख्या १०।

झालावाड़ में यद्यपि सर्व प्रधान सूर्य-मन्दिर ही रहा, किन्तु शिव-मन्दिरों की प्रतिष्ठा यहाँ भी अपने पदचिह्न छोड़ गई है। झालावाड़ में शिव-पार्वती की प्रतिमाओं[1] का जो संग्रह है, वह दर्शक को अपलक बना देता है।

हजारेश्वर महादेव

राजस्थान में शिवलिंगों के अन्तर्गत एक विशेष श्री-शोभा की छवि का उद्घाटन करते हुए हजारेश्वर महादेव भी मिलते हैं। इनका पूजन और अनुष्ठान सबके साथे साध्य नहीं था। बिजोलिया में १०वीं-११वीं सदी का हजारेश्वर शिवलिंग विद्यमान है। इसका मूल स्वरूप यह है कि २, ३ फुट ऊँचे और १०-१२ इंच मोटे शिवलिंग पर चारों ओर एक सहस्र शिव-लिंग उत्कीर्ण किये जाते थे और तदुपरान्त उनकी पूजा होती थी। ऐसे शिवलिंग के स्थापनार्थ मन्दिर के निर्माण-अधिकारी को अनेक क्लिष्ट अनुष्ठानों का अग्रिम आयोजन करना पड़ता था। यही कारण है कि हजारेश्वर महादेव समग्र राजस्थान में केवल दो ही प्राप्य हैं। दूसरा हजारेश्वर शिवलिंग उदयपुर में है और केवल ५० वर्ष पुराना है। यह जलेरी से युक्त लगभग ६ फुट ऊँचा और लगभग सवा फुट मोटा है। लोक-धारणा है कि ऐसे शिवलिंग की पूजा करने से एक समय में ही एक-सहस्र शिवलिंगों की पूजा का माहात्म्य हाथ लगता है।

शैव धर्म

वैष्णव सम्प्रदाय की तरह शैव सम्प्रदाय भी अत्यन्त प्राचीन है। वेदों के रुद्रप्रकरण में शिव रुद्र रूप से अवतरित होते हैं। वेद-पुराण के अतिरिक्त मृच्छकटिक नाटक में उपलब्ध प्रमाण भी इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करता है।

प्राचीन-शिला-लिपियों में शिव का नाम और उनके नाम का सन्निवेश मिलता है। चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग ने ७ वीं सदी के शैव-सम्प्रदाय के कीर्तिकलाप का भी परिचय लिखा है। उन्होंने [illegible], कन्नौज, फरांची, कुंवार आदि स्थानों के शिव-मंदिर देखे थे, उनमें से कई स्थानों पर उन्हें पाशुपत नामक उत्कृष्ट और उद्भव प्राप्त शैव सम्प्रदाय दृष्टिगोचर हुआ था। ह्वेनसांग का यह वर्णन पढ़ने की चीज है।

गुप्तवंश के नरेश शिवभक्त थे। उनकी मुद्रा में वृष, त्रिशूल, सिंह-वाहिनी आदि अंकित होते थे। जाट, हूण आदि जातियों के लोग भी शिवोपासक बने। राजस्थान का मेणाल चौहानों की इस शिव-भक्ति का सर्वोच्च प्रमाण है। महाभारत काल में पाशुपत शैव के सिवा किसी दूसरे शैव सम्प्रदाय का नाम नहीं आता!

प्रमाणिक ग्रंथों से पता चलता है कि समस्त भारत में शैव धर्म की दृष्टि से काश्मीर और राजपूताने में शैवों का पूरा प्रभाव था; यद्यपि प्रारम्भ में केवल पाशुपत सम्प्रदाय ही मुख्य था और महाभारत में केवल इसकी ही चर्चा मिलती है। किन्तु श्रीभाष्य (२, २, ३६) में ४-६ संप्रदायों का परिचय है। कापाल, कालामुख, पाशुपत और शैव। इसके उपरान्त सायणाचार्य के सर्वदर्शन संग्रह ग्रंथ में भी इन चार नामों की चर्चा है—(१) लकुलीश पाशुपत दर्शन, (२) शैव दर्शन, (३) प्रत्यभिज्ञा और (४) रसेश्वर दर्शन।

लकुलीश

लकुलीश के सम्बन्ध में प्रमाणित रूप से कहा जाता है कि वे शिव के २८वें अवतार हैं। एकलिंगजी के मन्दिर में लकुलीश की विराट् मूर्त्ति विद्यमान मिलती है। इसमें पूर्वी दीवार पर जो शिला-लिपि है, उस पर ओं ओं नमो लकुलीशाय लिखा है। और यह स्पष्ट रूप से लकुलीश से साम्य रखती है। इस शिला-लेख में लकुलीश का रहस्योद्घाटन भी किया गया है कि नर्मदा नदी के किनारे भड़ोच देश में भृगु ऋषि को मुरभिद् विष्णु ने शाप दिया था। तब भृगु गति का उपाय न देख महादेव की आराधना में प्रवृत्त हुए। महादेव उनकी आराधना से संतुष्ट हुए और उनके सामने लकुल धारण कर प्रगट हुए। जिस स्थान पर इस रूप का आविर्भाव हुआ, उस स्थान का नाम कायावरोहण है। बड़ौदा के अन्तर्गत कारण नामक आधुनिक स्थान ही इस कायावरोहण का केन्द्र माना जाता है। कुछ लोगों का ख्याल है कि ९४३ ईस्वी में मुनिनाथ चिल्लुक ने मैसूर में लकुलीश का अवतार धारण किया था और इस संप्रदाय के प्रणेता बने थे। लिंग-पुराण में भी इस विषय की कुछ चर्चा आयी है। कूर्म-पुराण में भी कुछ प्रसंग हैं।

कोटा, झालावाड़ में भी लकुलीश की मूर्त्तियाँ मिली हैं।[2] इसके अतिरिक्त नर्वदा तीरवर्ती मांधाता नामक स्थान में एक लकुलीश की मूर्त्ति मिली है।[3] दक्षिण भारत में भी किसी समय लकुलीश

---

१. चन्द्रभागा नदी पर स्थित मंदिर का चित्र देखिए पृष्ठ ३५३, संख्या १। प्रतिमाओं के चित्र पृष्ठ ३५१, ३५२ पर।

२ लकुलिश की विभिन्न मूर्त्तियों के चित्र देखिए पृष्ठ ३४२। संख्या १, ३, ४ और ५ मूर्त्तियाँ प्राप्त प्रतिमाओं में मुख्य हैं।

३ ओझा जी लिखते हैं, "लकुलीश अवतार का प्रभाव मेवाड़ में विशेष रहा। एकलिंग जी, मेनाल, तिलिस्मा, बाड़ोली आदि स्थानों के प्राचीन शिव-मंदिर इसी संप्रदाय के हैं। इन मंदिरों के पुजारी कनफड़े साधु होते हैं। लकुलीश के ४ शिष्यों—कुषिक, गर्ग, मित्र और कौरुष से ४ सम्प्रदाय चले। एकलिंग के मंदिर के मठाधीश कुषिक संप्रदाय के थे। कई शैव संप्रदायों के मंदिरों पर लकुलीश की मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं, जो पद्मासन स्थित और जैन-मूर्त्तियों की भाँति शिर पर केशों से आच्छादित हैं। उनके दाहिने हाथ में बिजोरा और बायें में लकुट (दण्ड) होता है। इस संप्रदाय के साधु लकुलीश का नाम तक भूल गये हैं और वे (कनफटे) अपने को गोरखनाथ आदि के शिष्यों में मानने लग गये हैं।"

की पूजा होती थी और वलगामी नामक स्थान इनकी आराधना का प्रधान केन्द्र था। वहाँ पर अनेक शिला-लेख प्राप्त हुए हैं और मैसूर का केदारेश्वर मन्दिर इसका मुख्य स्थान था।[1]

लकुलीश की प्राप्त मूर्तियों पर हम विवेचन कर चुके हैं, यहाँ मूर्त्ति-रूप में उसकी पूजा कैसे प्रारंभ हुई, इसका संदर्भ ले लें।[2]

महिसुर(मैसूर) के कालामुख शैवगण सम्भवतः लकुलीश के उपासक थे। ये 'लकुलागमसमय' नामक ग्रन्थ के सिद्धान्त को मानते थे। वलगामी में कई शिला-लिपियां पाई गई हैं। उनमें से एक शिलालिपि में लिखा है कि सोमेश्वर ने लकुलीश सिद्धान्त का विकास-साधन किया। दूसरी शिलालिपि में सर्वप्रथम लकुलीश महादेव की वन्दना है। दक्षिण केदारेश्वर के मन्दिर के आचार्यगण लकुलीश के उपासक थे। यद्यपि पुराणों में लकुलीश महादेव का अवतार बतलाया गया है, तथापि वे मनुष्य का शरीर धारण कर मनुष्य की तरह विचरण करते थे, इसका भी प्रमाण पाया जाता है। दाक्षिणात्य के मुनिनाथ चिल्लुक लकुलीश के अवतार माने जाते हैं। सर्वदर्शन संग्रहकार ने लकुलीश दर्शन की सूचना में लिखा है—"तदुक्तं भगवता ल (न) कुलीशेन"।[3]

१ लकुलीश के ऊर्ध्वमेढ़ को विद्वानों ने अखंड ब्रह्मचर्य का सूचक बताया है। हमारी विनम्र राय में यह सूचना अर्द्ध सत्य ही है। शिव-लिंग जन - साधारण में लिंग व जलेघी अन्तर्गत शिव व पार्वती के समग्र भाव का प्रतीकार्थ है, किन्तु लकुलीश में उर्ध्व-मेढ़ पार्वती विहीन योग-तल्लीन व प्रहर्ष-प्राप्त ओज को मूर्त करता है। अखंड ब्रह्मचर्य तो काफी प्रारंभिक स्तर की मनः स्थिति है।
यहाँ एक बात विशेष समझने की है। बांसवाड़ा से प्राप्त मूर्ति द्विभुज है, एकलिंग-स्थित मूर्ति भी द्विभुजा है, किन्तु कोटा संग्रहालय में सुरक्षित ९ वीं सदी की अटरू-प्राप्त-मूर्ति एवं झालवाड़ संग्रहालय में सुरक्षित, १०वीं सदी की मूर्त्ति चतुर्भुजी है। इनमें सब से अधिक विराट भाव को प्राप्त मूर्त्ति एकलिंग-स्थित ही है, जो इस बात का प्रमाण है कि मेवाड़, झालावाड़, कोटा आदि प्रदेशों में एकलिंग का स्थान ८ वीं सदी तक विशाल यश का अधिकारी हो चुका था।
बांसवाड़ा की मूर्त्ति में मेढ़ का तक्षण बहुत संकोच के साथ किया गया है। एकलिंग-स्थित मूर्ति में यह तक्षण उदार भाव से सोत्साह हुआ है।
इन मूर्त्तियों में उर्ध्व मेढ़ एकदम शिवलिंगों की वाच्यार्थ शैली में सीधा व्योम-मुखी है, किंतु, एकलिंग-स्थित मूर्त्ति में वह प्रकृतावस्था में, बाईं ओर को टेढा है। यही वास्तविक सत्य भी है। चन्द्रभागा पाटण से अर्द्धनारीश्वर की मूर्त्ति में उर्ध्वमेढ़ की जोदाई ओर झुका दिखाया है (चित्र पृष्ठ ३४२, संख्या २), वह अप्रकृत है, पर स्थान-संयम की वजह से ही ऐसा किया गया है, क्योंकि बाईं ओर पार्वती-भाग है।

२ लकुलीश की पूजा के ह्रास के दो कारण हैं—यह व्यापक जन-पूजा की दृष्टि से सद् गृहस्थों का आकर्षण-केन्द्र न हो सका। इस विषय पर नाथों ने जिस निरंकुश भाव से अधिकार किया, वह जन-जन में आतंक का विषय बन गया।

३ लकुलीश के प्रारंभ का यह सूत्र हिन्दी विश्वकोष का है, जो हमें अप्रमाणिक लगता है।

'हेमावती' शिलालिपि के पाठ करने से मालूम पड़ता है कि मुनिनाथ चिल्लुक ही लकुल सिद्धान्त और नकुलागम के शिक्षक थे। कोड़िय मठ के गुरुगण पातंजलोक्त योग शिक्षा प्रदान करते थे। सुतरां लकुल सिद्धांत योग संमिश्रित है। इसलिए ही लकुलीश पाशुपत दर्शन में पाशुपत योग का यथेष्ट परिचय मिलता है।

श्री रामानुज कहते हैं कि दक्षिण भारत के कालानुखगण लगुड़ी धारण करते हैं। सम्भवतः ये लोग लकुलीश का अनुकरण करके ही सम्प्रदाय का चिह्न स्वरूप लगुड़ व्यवहार करते हैं। दक्षिण भारत का लकुलीश सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त है। यथाः प्राचीन और नवीन। लकुलीश सिद्धान्त के नष्ट हो जाने की आशंका से लकुलीश ने मुनिनाथ चिल्लुक का अवतार धारण कर जिस सिद्धान्त का प्रचार किया था, दक्षिण भारत में वहीं नवीन लकुलीश सिद्धान्त के नाम से विख्यात है।

जो कुछ भी हो, लकुलीश अवतार के सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड पुराण और लिंग पुराण में थोड़ा-थोड़ा आभास पाया जाता है। इस विषय का कुछ अंश लिंग पुराण से लेकर यहाँ उद्धृत किया जाता है—

> अष्टाविंशे पुनः प्राप्ते परिवर्तेक्रमागते।
> पराशरसुतः श्रीमान् विष्णु र्लोकः पितामहः
> यदा भविष्यति व्यासो नाम्ना द्वैपायनः प्रभुः
> तदा षष्ठेन चांशेन कृष्ण पुरुषसत्तमः
> वसुदेवाद् यदुश्रेष्ठो वासुदेवो भविष्यति
> तदाप्यहं भविष्यामि योगात्मा योगमायया
> लोक विस्मयनार्याय ब्रह्मचारीशरीरकः
> श्मशाने मृतमुत्सृष्टं दृष्ट्वा कायमनामकम्
> ब्राह्मणानां हितार्थाय प्रविष्टो योगमाया
> दिव्यांमेरुगुहां पुण्यां त्वया सार्द्ध च वै तदा
> भविष्यति सुविख्यातं यावद्भूमि परिष्यति
> तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपस्विनः
> कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रः कौरुष्य एव च
> योगात्माना महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः
> प्राप्य माहेश्वरं योग विमलाह्यूर्ध्वरेतसः
> रुद्रलोकं गमिष्यन्ति पुनरावृत्ति दुर्लभम्
> एते पाशुपताः सिद्धा भस्मोद्धूलित विग्रहाः
>
> (लिंग पुराण १४ अ० ११४-१

लिंगपुराण के अनुसार मालूम होता है कि लकुलीश महादेव का अट्ठाइसवां योगावतार है। कूर्म पुराण में भी महादेव के लकुलीश्वर अवतार का उल्लेख [illegible] इस पुराण में भी चारों शिष्यों के नाम दिये गये हैं।

लकुलीश की मूर्तियों की चर्चा ओझाजी ने अपने बांसवाड़ा एवं जोधपुर के इतिहास में भी की है। [illegible] के हनुमानजी

की मूर्ति के छवने के मध्य में लकुलीश की मूर्ति है। जोधपुर के सोटण स्थान में लकुलीश का मन्दिर, वीठू-स्थित अकालनाथ के मन्दिर में लकुलीश की मूर्ति, नाणा-स्थिति नीलकंठ महादेव के मन्दिर में प्राप्त एक शिलालेख में लकुलीश-मन्दिर के निमित्त दिये गये दान का उल्लेख और सादड़ी-स्थित चतुर्भुज मन्दिर में रखी लकुलीश की मूर्ति है। ये सभी सूचनाएँ ओझाजी द्वारा लिखित हैं।

शिव-पूजा की लोकप्रियता के प्रधान कारण

प्रारम्भ में ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही रूप थे। कार्य-विभाजन की दृष्टि से इनके तीन रूप हो गये। तीनों में सर्वाधिक मन्दिरों की दृष्टि से और व्यापक सार्वदेशीय पूजा की दृष्टि से शिव अधिक पूजापात्र मान्य हुए। भारत के अन्यान्य भागों में शिव-पूजा का माहात्म्य विभिन्न कारणों से पुष्ट हुआ है। राज-*स्थान में उन सबसे अधिक कुछ ऐसे निगूढ़ कारण हैं, जिन पर हमें* गंभीर भाव से उसके रहस्य को समझना होगा।

(१) मंगलमय रूप—जिनसे अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, वे ही शिव हैं। क्लिष्ट भूगोल के दुर्भाग्य से आवृत्त राजस्थान में ऐसे देवता की महिमा का घर-घर में वास होना इसीलिए उनका पूजाभाव फलीभूत हुआ।[1]

(२) पशुपति नाथ होने के कारण ये गृहस्थों की पशु-संपदा को बढ़ाते हैं। हमारे घोड़े, ऊँट, भेड़ें और गाय आदि का कल्याण करते हैं। राजस्थान की संस्कृति प्रधानतः पशुधन पर आधारित रही है। ऊँट, घोड़े, भेड़, गाय, बकरी, भैंस और गधे—ये प्रधान पशु हैं, इस मरु-प्रदेश में। इनकी सम्पदा के बढ़ाने वाले देवता का श्रद्धा-भाव इसीलिए उच्च और निम्न सभी वर्गों में महोत्सवमय रहा।

(३) राजस्थान समग्र भारत के सन्तुलन में, अनुपात में, अधिक वीर-प्रदाता रहा, अनेक असंख्य वीरों की दिग्विजयिनी भूमि रहा। और शिव वीरों के वरदाता हैं। शौर्य, वीर्य, विजय-लाभ, अस्त्र-लाभ, शत्रु-लाभ आदि की दृष्टि से बाण, रावण, शाल्व, अर्जुन, [illegible] आदि सहस्रों वीरों ने [illegible] करने के बाद उनसे अमोघ अस्त्र पाये और उत्तम वर पाये और समर में विजय लाभ के आशीर्वाद पाये, इसलिए राजपुत्र-प्रदेश में शिव एक अवश्यंभावी अर्चना-पूजा के प्रधान अधिपति होते चले गये।

(४) भागवत (१०-८८) में और अथर्व वेद (१३-४-४) में शिव की धन-दाता शक्ति के रूप में भूरि-भूरि अभ्यर्थना की गई है। राजस्थान में राजाओं को धन चाहिये था, व्यापारियों को धन की बुभुक्षा थी और प्रायः यहाँ धन का अकाल रहता था। धन का समागम बाहरी प्रदेशों में संभव था, इसलिए शिव के प्रति निष्ठा रहने से धनोपलब्धि के कार्य सुगम होते रहते थे।

(५) शिव पर्वत-वासी हैं। वेदों में उनका गिरीश रूप कहा गया है। पुराणों में शिव का वासस्थान कैलाश प्रकल्पित हुआ है।

राजस्थान दुर्गों का प्रदेश है। अरावली शृंखमाला का प्रदेश है और पार्वतीय जनजीवन का देश है। इस पृष्ठभूमि में उस समय भक्ति का उद्रेक और भी अधिक प्रगाढ़ बन जाता है, जब शिव-जटा से निकली गंगा के समान अरावली शृंखला में स्थान-स्थान पर बारहों महिने प्रवाहित होने वाली जल-धाराएँ प्रगट होती हैं और नगरों की पानीय जल की समस्या को संरक्षित करती हैं। इस भावभूमि में शिव की आराधना अवश्य ही बलवती होनी चाहिए थी।

(६) शिव का रुद्र रूप वेदकाल से ही बहुत उग्र रहा है। वे अनेकानेक शक्तियों के अधिपति हैं। रणांगन में वे स्वयं भी अनेक बार प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, इसलिए युद्धों की पिपासा लिए हुए वीरों के मन में, राज-परिवारों के मन में, और जन-जीवन के मानस में यदि सबसे पहले इनके प्रति आसक्ति का भाव अग्रसर हुआ, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात न थी।

(७) शिव का दाम्पत्य जीवन जिस प्रकार अनेक पुराणों में और प्राचीन साहित्य में प्राप्य है, वह सर्व साधारण को आश्वस्त करता है। शिव का सदाशिव रूप और मनमौजी रहने की उमंग और पत्नी के प्रति विनीत रहने की भावना राजस्थानियों के लिए प्रिय रही। स्वाभाविक था कि उनके प्रति एक सरल निष्ठा व्याप्त रहती, दृढ़ बनती।

(८) यह कारण यद्यपि सबसे अन्तिम है, लेकिन सबसे अधिक प्राणवान है। अन्य देवी-देवताओं की पूजा के लिए अनेक प्रकार के विधान हैं, अनेक प्रकार के साध्य आयोजन हैं और अनेक प्रकार से उन्हें सम्पन्न करने के लिए क्लिष्ट समारोहों का उपाय रचना पड़ता है; शिव-पूजा में इतना खटराग नहीं है। शिवलिंग पर जल का अर्चन मात्र और उनका भावनाभिभूत ध्यान मात्र पर्याप्त है। सरलता से बात समझ में आ जाती है कि उनकी भक्ति का अनुराग दीर्घजीवी किस प्रकार बना रहा।

शिव-नाम

शिव के इतने नाम मिलते हैं—शिखिडिन, शितिकंठ, नाग देवता, शिपिविष्ट, शिरश्चन्द्र, शिरोहारिक, शंभू, ईश, पशुपति, शिव, शूली, महेश्वर, ईश्वर, ईशान, शंकर, चन्द्र शेखर, भूतेश, खंडपरशु, गिरीश, अर्धांतनु, मृड, मृत्युंजय, कृत्तिवास, पिणाकी, प्रथमाधिप, उग्र, कपर्दी, श्रीखंड, त्रिनेत्र, कपालमाली, वामदेव, महादेव, विरुपाक्ष, त्रिलोचन, कृशानुरेता, सर्वज्ञ, धूर्जटि, नील लोहित, हर, स्मरहर, भर्ग, त्र्यम्बक, त्रिपुरान्तक, गंगाधर, अन्ध-

[1] शिव जिस भस्म को अपने शरीर पर धारण करते हैं, उसे विभूति कहा जाता है। स्वयं राख लपेट कर जो गृहस्थ-जनों को विभूति धारण करने को दे, ऐसे देवता की जय जयकार चहुँ दिशाओं में क्यों न व्यापे?

करिपु, क्रतुध्वंसी, वृषध्वज, व्योमकेश, भवमोचन, रुद्र, उमापति, वृषपर्वा, रोहण, भगाली, पांशुचन्दन, दिगम्बर, अट्टहास कालंजर, पुरद्विट्, वृषाकपि, महाकाल, वराक, नंदिवर्द्धन, हीर, वीर, खरु, भूरि, कटप्रु, यमेश्वर, ययातीश्वर, ययी, भैरव, ध्रुव, शिविविष्ट, गुडाकेश, देव देव, महानट, तीव्र, खंडपर्शु, पंचानन, कंठेकाल, भरु, भीरु, भीषण, कंकालमाली, जटाधर, व्योमदेव, सिद्धिदेव, धरणीश्वर, विश्वेश, जयन्त, हररूप, सन्ध्यानाटी, सुप्रसाद, बमभोला, चन्द्रापीड़, शूलधर, भूतनाथ, वरेश्वर, विश्वेश्वर, विश्वनाथ, काशीनाथ, कुलेश्वर, अस्थिमाली, विशालाक्ष, हिंडी, प्रियतम, विषभाक्ष, भद्र, उर्ध्वरेता, यमान्तक, नन्दीश्वर, अष्टमूर्त्ति, अर्वीश, खेचर, भृंगीश, अर्द्धनारीश, रसनायक, पिनाकपाणि, फणधरधर, कैलाशनिकेतन, हिमाद्रितनयापति, नभोयोनि, नर्तक, नर्तन-प्रिय, नवभृत, नाट्यप्रिय, पुरजित्, पुरांतक, वाहुशाली, विदुदेव, पुष्कर-स्थपति[1], पुलिस्त, पुलह, दंभ, दक्षक्रतध्वंसी, दक्षपति, प्रभाकर, प्रभु, प्रमथनाथपत, प्रमथाधिव, प्रमथेश्वर, प्रतापवान, सुमुखे, संसार-सार ।

राजस्थान में प्रायः प्राचीन मूर्त्तियों में शिव की तीन प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं। मनुष्याकार रूप में बैठे, पार्वती को अपनी बाँई जंघा पर बैठाये और रसोद्रेक के साथ उनके वाम कुच का स्पर्श करते हुए एवं नटराज रूप में उल्लसित भाव को प्राप्त। यदि इस बात की खोज भी की जाय कि दक्षिण भारत की सर्व प्रसिद्ध पीतल और कांस्य से निर्मित नटराज की मूर्त्तियों का उद्भव-विकास कौन-सी सदी से हुआ तो हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि शिव की नट्राज की प्रतिमाएँ कहीं अधिक प्राचीनकाल से राजस्थान में निर्मित होती हुई चली आ रही हैं। खड़े हुए शिव और पार्वती की प्रतिमाएँ भी कुछ मिली हैं, किन्तु इन सब प्रतिमाओं में से अद्भुत और भारत की एकमात्र दुर्लभ कृति है, हर्ष पर्वत पर प्राप्त लिंगोद्भव[2] की प्रतिमा। यह हमारे सौभाग्य से अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित है।

कल्याणपुर में, जैसलमेर में, चित्तौड़[3] में—इन तीनों स्थानों पर त्रिमूर्त्ति शिव के जो मुंड-रूप शिला-फलक प्राप्त हैं, वे रुद्र, भैरव और सदाशिव के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। राजस्थान में रुद्र रूप का कम महत्व नहीं रहा। यहां पर रुद्र रूप की वेदों में प्राप्त शब्द-व्युत्पत्ति की चर्चा प्रासंगिक रहेगी, फिर भी इतना संकेत तो पर्याप्त है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से शिव के रुद्र स्वरूप का वर्णन पूजा-भाव में अर्चना के समय भक्ति-क्षणों में बहुत अधिक किया जाता था।

शिव की भक्ति ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सभी को स्वीकृत है। शिवरात्रि का व्रत शिव-चतुर्दशी को प्रायः सभी वर्ग करते हैं।

१ इस शब्द पर ध्यान देने की जरूरत है। राजस्थान में प्राचीनतम तीर्थ पुष्कर है, उसके स्थपति शिव है। ज्योतिर्लिंग स्थापित होने से पहले, शिव राजस्थान में अपनी लीला-भूमि नियोजित कर चुके थे, वे इस नाते इस प्राचीनतम तीर्थ के स्थपति (शासक) हुए!

२ लिंगोद्भव की कथा हमने ऊपर प्रारंभ में ली थी। यह प्रतीक कथा इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि शैवों ने अपने आराध्य-देव की सर्वशक्तिमत्ता को अतिरंजित करने में कोई कसर न उठा रखी। किन्तु अतिरेक भाव में यह लिंग-पूजा का रहस्य भी प्रकट करती है। लिंग सृष्टि के नित्यभाव का सार्थक स्वरूप है। इस सृष्टि का आदि और अन्त न स्वर्ग में है, न पाताल में है, वह इसी पृथ्वी पर चरितार्थ है!

३ ओझा जी ने उदयपुर के इतिहास में लिखा है, "शिव की त्रिमूर्त्तियां सुप्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के दो मंदिरों में हैं, जिन में से परमार राजा भोज के बनवाए हुए त्रिभुवननारायण (समिद्धेश्वर) के मंदिर की मूर्त्ति सब से प्राचीन है।" देखिए-चित्र पृष्ठ [illegible] पर।

सपत्नीक कुवेर

कामदेव और रति

३८. अ.वधेनु   ३९. द्रिरुद्धा   ४०. कल्लोलिनी   ४१. देव-मानसी

राजस्थान के शैव-मन्दिर : राजस्थानी इतिहास के आनन्ददायक प्रश्न

[७]

आज जब हम किसी भी राजकीय भवन पर राष्ट्रीय ध्वज उड़ता हुआ देखते हैं, तो यह नहीं सोचते कि एक [illegible] य इस देश में ऐसा था, जब देश की ध्वजायें केवल मन्दि[illegible] हरा करती थीं। गहन वनों से यात्रा करते समय [illegible] पर्यटक जब किसी दू[illegible] अंचल में कोई मन्दिर-शिखर अथवा [illegible] पर उड़ता [illegible] तो वे आश्वस्त हो जाया करते थे कि अब हम [illegible] हैं [illegible] रों पर जो ध्वजायें [illegible]ं, उनके लिए कभी संग्राम नहीं हुआ, वे जातीय जीवन और [illegible]ष्ट्रीय जीवन के प्रिय आंचल बन कर फहरा करती थीं। महा-[illegible]रत में कृष्ण ने शस्त्र न उठाने का निश्चय किया। उनके रथ [illegible] (४) भाग उस पर हनुमान जी का प्रतीक अंकन रहता था। [illegible] शिव को [illegible] दाता शक्ति पर जो ध्वजायें रखते थे, उन पर प्राय: [illegible]राजस्थान में राजाओं [illegible]हने का चित्र ही अंकित रहता था। उस [illegible]भुक्त थी और प्राय: यही [illegible] ध्वजाओं पर उस नरेश द्वारा व्यवहृत [illegible] जब तीर्थयात्री के समूह देग [illegible] उनका एक सबसे बड़ा आनन्द [illegible] चाहे दक्षिण हो, चाहे पूर्व हो [illegible] गा तो श्वेत रंग की अथवा लाल वस्त्र की ही होती थीं। ये दोनों रंग धार्मिक सहिष्णुता के परिचायक माने गये हैं।

१ शिव जिस भस्म को अपने शरीर [illegible] विभूति कहा जाता है। स्वयं [illegible] को विभूति धारण करने को दे, ऐसे [illegible] दिशाओं में क्यों न व्यापे?

शिवालयों का साम्राज्य

इतिहासकारों ने मन्दिरों का अध्ययन करने की दृष्टि से शुंग-काल, कुषाण-काल, गुप्त-काल और पूर्व-मध्यकाल तथा मध्य-काल जैसे पारिभाषिक शब्दों का इस्तेमाल किया है। कुछ कला-मर्मज्ञ यह भी कहते हैं कि अमुक मन्दिर परिहार-काल के हैं और अमुक मन्दिर क्षत्रप-काल अथवा हूण-काल के हैं। पर इतिहास का अध्ययन भले ही इन पारिभाषिक शब्दों से हो जाये, मन्दिरों के साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता। मन्दिरों की निजी परम्परायें इस तरह के अध्ययन में उजागर नहीं हो पातीं। और लोग केवल स्थापत्य-कला अथवा मूर्ति-अंकन कला का रसास्वादन करने मात्र से संतोष करने लगते हैं। पर हम आँख खोल कर नहीं देखते कि इस तरह के अध्ययन से मन्दिरों के विषय के साथ घोर अन्याय होता आया है और अब तक हो रहा है। राजनीति ने कभी भी मन्दिरों को न तो प्रोत्साहित किया और न ही उनके विकास की सीमायें निर्धारित कीं। मन्दिरों ने ही राजनीति को प्रश्रय दिया है और उसे संरक्षण देते हुए उसे जन-प्रिय बनाने

का महत् कार्य किया है। राजस्थान में धर्म-प्रिय क्षत्रियों के राज्यों का विस्तार इसीलिए संभव हो सका, क्योंकि वे इसी प्रदेश में स्थापित मन्दिरों के आगे नतमस्तक हुए थे। जो नहीं हुए, वे अपनी हस्ती अक्षुण न रख सके।

महाभारत-काल से ही राजस्थान की अरावली शृंखलायें तीर्थ के तुल्य रही हैं। धर्म-कथाओं में इन तीर्थों का माहात्म्य बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया है। यदि हम फरीदाबाद से, जहाँ से अरावली का सूत्रपात होता है, अध्ययन करने लगें तो पता चलेगा कि दिल्ली से लेकर इधर उदयपुर तक और आबू तथा जोधपुर तक फैली हुई इन पर्वत-मालाओं में अनेक महत्वपूर्ण ऋषियों के आश्रम रहे हैं। स्वयं ब्रह्मा ने अजमेर के रमणीक अंचल में तप किया। पाराशर ऋषि, गालव ऋषि, हारीत ऋषि, शृंग ऋषि आदि अरावली की विभिन्न गुफाओं में तप करने आये थे। वे यहीं के होकर रह गये। ऋषियों की यह सूची बहुत लम्बी है। उसका ही यह प्रभाव माना जाना चाहिये कि ऋषि-युग के बाद, वीर-पूजा काल में मध्ययुगों में रामदेव जी, गोगाजी, जांभाजी, पाबूजी आदि वीर भी पूज्यनीय बने!

पर मूल बात यह है कि अरावली की उत्तर से दक्षिण तक चली आई हुई उपत्यकाओं में कम-से-कम ईसवी सदी से बहुत पहले से शिवालयों का साम्राज्य छाया रहा, जो कि १२वीं सदी तक अनेक समृद्ध मन्दिरों के निर्माण में प्रबल कारण होता रहा। शिव श्मसान का देवता ही नहीं है, वह पर्वत की चोटी पर निवास करनेवाला एकाकी देव है। जहाँ जलधारा स्वतः पर्वत से प्रकट हो जाये, उसे जन-मानस गंगा का अवतरण मानकर तीर्थधारा मानने लगता है। अरावली ऐसी जलधाराओं से लब्ध ही नहीं रहा, उन जलधाराओं से उसने अपने भूभागों को भरपूर सिंचित और धन-धान्य से पेट भरा भी रखा। राजस्थान में जो दो हजार वर्ष पूर्व से शिवालय चले आ रहे हैं, वे इन्हीं जलधाराओं के उद्गम स्थानों पर स्थित हुए। जनमानस का पूजाभाव इन उद्गम स्थानों पर केन्द्रित होता रहा। पहले यहाँ आदिवासी इस देवता के पूजक रहे, जब राजपूत आये तो उन्होंने भी शिव को अपना आराध्य बनाया। भैंरों अथवा महिषमर्दिनी अथवा माताओं की पूजा इसी शिव-पूजा की शाखा-प्रशाखा के रूप में प्रचलित हुई। शिव का साम्राज्य उसके शिवालयों में था, शैवधर्म का साम्राज्य अरावली के पूर्व और पश्चिम में व्यापक बनता रहा था। आज के आधुनिक नगरों के प्राचीन श्मसानों का हमें पता लगाना हो तो उस नगर का सबसे प्राचीन शिवालय खोजना होगा। इसी प्रकार जो नगर ध्वस्त हो चुके हैं अथवा जिन का अता-पता लगाने में असुविधा होती हो, वहाँ पर यदि किसी शिवालय का सुराग मिल जाये तो उस प्रदेश की शासकीय सत्ता के अन्य चिह्न सुगमता से हाथ लगते देर नहीं लगती। सम्पूर्ण राजस्थान का गहन विश्वास शिव में था, शिव ने इस प्रदेश के जन-जन को मृत्युंजयी बनाया! क्लिष्ट पर्वतीय कन्दराओं में जीवन बिताने और बीहड़ रेगिस्तानों में जीवन की सुखद श्वासों का उपभोग करने के लिए शिव ने यहां के जनमानस में एक विशेष जीवट वृत्ति दी। शूरवीरों का यह देश शिव की कृपा से हुआ।

बीरबल का विनोद और रहस्योद्घाटन

कहते हैं, अकबर की तीसरी अजमेर-यात्रा, जो कि उसने पैदल ही आगरा से की थी, के क्षणों में बीरबल भी साथ था। बादशाह के समर्थन से अजमेर मुस्लिम धर्म का प्रधान तीर्थ हो चला था। और इसका एक दुष्प्रभाव यह होने लगा था कि दिल्ली से लेकर अजमेर तक का प्रदेश बरबस मस्जिदों की एक लम्बी कतार से हावी बनने लगा था। बीरबल मस्जिदों से आतंकित होनेवाला प्राणी न था, उसे केवल यह भय था कि राजस्थान में मन्दिरों की जो भव्य परम्परा चली आ रही थी, उसे किसी भी क्रांति का सांप न सूंघ जाये। इसलिए मार्ग में जितने भी भग्न अथवा निर्जन मन्दिर मिले, वह उनमें दर्शन के लिए जाता रहा। अकबर ने यह देखा, मौन रहा। जब अजमेर आया, अकबर तो दरगाह में सिजदा के लिए रवाना हुआ, उधर बीरबल सीधा पुष्कर पहुँचा और प्रसिद्ध कुंड में स्नान के लिए उतर गया। दिन भर वह पुष्कर में ही रहा। देर रात में लौटा तो अकबर उसी की राह में बैठे थे। पूछा, तो प्रश्न में बीरबल को स्पष्ट ध्वनि मिली कि सरकार जरा रोष में हैं, "क्यों बीरबल, तुम सब मन्दिरों में जाते हो, [illegible] देवता तुम खुद होते हो या पत्थर का बुत तुम जैसे हाड़-मांस के [illegible] बुतों पर कहकहा लगाने लगता है? अजीब मजाक है, मुगल सेना [illegible] का निशान जहाँ उड़ता है, वहाँ भी तुम्हारे मन्दिर अपने शिखरों पर अपने खुद का झंडा फहराते हैं। तुम यह सब कैसे बरदाश्त [illegible] कर लेते हो? मेरी बादशाहत की यह [illegible] बेइज्जती होते हुए [illegible] कैसे देख रहे हो?"

बीरबल आज जैसे सब कुछ के लिए तैयार था। [illegible] उसने तपाक से [illegible] कहाँ लगाया [illegible] पाँवपोश [illegible] [illegible] की मैथुनी सृष्टि की योजना [illegible] झाड़ आयें [illegible] आते हो, [illegible] बादशाहों से [illegible] इस देश में एक [illegible] बरकरार रहें [illegible] पहली किरण इन्हीं मन्दिरों के शिखरों पर [illegible] दुनिया को रोशन करने का [illegible] इज्जत इस देश में तभी तक [illegible] तक इन मन्दिरों के [illegible] राते रहेंगे। वरना, [illegible]

अकबर चुप हो गया। इतिहास भी चुप है कि [illegible]

हिन्दू साम्राज्यों को तहस-नहस किया, लेकिन क्यों उसने इस्लाम के ७ वीं से १४ वीं सदी तक के अनुयायियों के मदांध मूर्ति-भंजन-दायित्व को शिरोधार्य न किया !

उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, बूंदी, कोटा, झालावाड़, प्रतापगढ़, सिरोही, अजमेर, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, अलवर, भरतपुर, धौलपुर आदि अंचलों में जो ८-१० हजार मन्दिर छाये हुए हैं, उनमें राजस्थान का वह इतिहास पुंजीभूत है, जिसे हम सांस्कृतिक इतिहास कहते हैं। इन मन्दिरों पर जो देव-प्रतिमाओं के अतिरिक्त, शृंगार-प्रतिमाओं का वैभव छाया हुआ है, वह हमारी सामाजिक परम्पराओं का जीता-जागता अध्याय है। कौन से सम्प्रदाय, धर्म-प्रवृत्तियों के प्रवेश और गुरु-विशेष के ज्ञान-आंदोलन राजस्थान में महामहिम हुए हैं, उनके सूत्र इन मन्दिरों में ही सूत्रबद्ध हुए मिलते हैं। राजपूत नरेशों की प्रजा-कल्याण की भावनायें किस क्रम से धूमिल होती गईं, उनका उत्तर भी इन मन्दिरों में ही छिपा हुआ मिलता है। मन्दिर केवल व्यक्ति-परक पूजा के स्थल नहीं हैं, वे पुजारियों के निरंकुश शासन-स्थल भी नहीं हैं, राजाओं और रानियों की निजी सेवा का एकाधिकार ही इनमें रक्षित नहीं था, वास्तव में ये व्यापक रूप से जनजीवन के सार्वभौम ऐसे दिव्य क्षितिज थे, जिन पर जन-जन की जिजीविषा का सूर्य प्रति दिन हँसता हुआ उदित होता था और सायंकाल मनःहर घंटध्वनि के साथ शयन करता था। आज इन मन्दिरों का अर्थ-वक्र दृष्टियों का जंजाल क्यों बन गया है, इस प्रश्न का उत्तर एक ही है कि अंग्रेजी शासन ने हमें हमारी देवत्व-तुल्य संस्कृति से विमुख बना दिया है। हम अंग्रेज और अंग्रेजियत व पाश्चात्य की हवा के छूतीले संक्रमण से मुक्ति पा सकें तो इन मन्दिरों के शाश्वत मूल्य हमें पुनः सुलभ हो सकें।

शिवरात्रि

[illegible] स्थायी रूप से ही स्थापित नहीं होते थे, अस्थायी [illegible] होते थे— यह तथ्य केवल हमें शिवरात्रि [illegible] पता चलता है कि जो महाभाग अथवा [illegible], उनके लिए कभी संग्राम नहीं [illegible] लिंगों की प्रतिष्ठा करवा [illegible]ष्ट्रीय जीवन के प्रिय आंचल बन कर [illegible] करते थे, उनके [illegible] में [illegible] एक [illegible] और समस्त नगरवासियों की [illegible] उन मन्दिर-[illegible] में संयोजित हो जाती थी कि [illegible] व्यक्ति को मिट्टी के लिंग बना कर उनकी स्थायी प्राण-प्रतिष्ठा [illegible] असुविधाएँ नहीं सहनी पड़ती थीं। मन्दिरों के अन्दर स्थायी लिंग स्थापित करने से एक सुविधा और भी होती थी। प्रतिष्ठित लिंग की पूजा करने में आह्वान, प्राण-प्रतिष्ठा और विसर्जन का प्रश्न नहीं रह जाता था। मिट्टी के लिंग बना कर पूजा करने से इन सब का विधान यथापूर्व आवश्यक रह जाता था और उसे पूरा करना आसान काम न था।

यों तो शिवपूजा एक प्रकार से वर्ष-पर्यन्त चलने वाला प्रातःकालीन महोत्सव है, किन्तु शिवरात्रि के दिन सभी शैव मन्दिरों का मानो महान् उत्सव वर्ष में एक बार प्रगट होता है और उस दिन वे भी श्रद्धालुजन उसमें भाग लेते हैं, जो सम्प्रदाय-भेद अथवा इष्ट भेद से शिव-मन्दिरों में उपस्थित नहीं हुआ करते। शिवरात्रि व्रत पर चांडाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी का समानाधिकार है। फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को यह व्रत किया जाता है। उस दिन रात्रि को प्रथम प्रहर में लिंग का दुग्ध द्वारा स्नान होता है, द्वितीय प्रहर में दधि, तृतीय प्रहर में घृत तथा चतुर्थ प्रहर में मधु-स्नान होता है।

जहाँ तक हमारी धारणा है, शिवरात्रि व्रत के सार्वजनिक आग्रह ऐसे रहे होंगे कि प्रमुख स्थानों पर स्थायी रूप से शिव-मन्दिरों के निर्माण के प्रति विशिष्टजनों में उत्साह उत्पन्न होता रहा होगा।

शिवलिंगों पर शास्त्रीय और लोक-प्रचलित मत-मतान्तर

यद्यपि विश्व की अनेक भाषाओं में शिवलिंग से सम्बन्धित शोध और अनुसंधान विषयक तथ्य और विवेचन प्राप्त होते हैं, फिर भी बराबर जिज्ञासुओं की वह धारणा शान्त नहीं होती कि जो प्रजनन अंग है, उसकी हम पूजा क्यों करते हैं। पुराणों में इस सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर अनेक तरह से चर्चा आई है। सेतुबन्ध बांधने के क्षणों में रामचन्द्रजी ने रामेश्वरम् में शिवलिंग स्थापित किया था, यह बात तो रामायण-काल की हुई। उससे पहले शिवलिंगों की अर्चना करने से किस प्रकार विशिष्ट व्यक्तियों को अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त हुए, ऐसे तथ्यात्मक प्रमाणों की प्राचीन साहित्य में कोई कमी नहीं है। शिव महापुराण में इस रहस्यमय प्रश्न पर कुछ संक्षिप्त-सा प्रकाश डाला गया है। एक बार जब ब्रह्मा और विष्णु में सशस्त्र युद्ध शुरु हुआ, उस समय में दोनों ही माहेश्वर और पाशुपत अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे। ऐसे क्षणों में बीच-बचाव करने के लिए शंकर प्रस्तुत हुए, क्योंकि ब्रह्मा और विष्णु के सशस्त्र युद्ध से सम्पूर्ण सृष्टि अग्निदग्ध होने वाली थी। शिवजी ने उससे भी भयानक महाग्नि का एक स्तम्भ विग्रह में उलझे हुए उन दोनों दैवीयोद्धाओं के बीच में प्रस्तुत कर दिया। थोड़ी ही देर में वहाँ अग्नि का एक विशाल स्तम्भ प्रगट हो गया। ब्रह्मा और विष्णु का युद्ध तत्काल रुक गया। यह अग्नि-स्तम्भ ही कालान्तर में शिवलिंग कहलाया! इस प्रतीक कथा का सरल अर्थ यह है कि इस सृष्टि-लोक का विकास-विस्तार अग्नि से प्रारंभ हुआ, शिवलिंग इसी प्रजन-रूप अग्नि-स्तंभ का द्योतक है।

शिवलिंगों के देशभेद, कालभेद, पर्वतभेद, तीर्थभेद आदि रूपों में बहुत अधिक नाम हैं। समस्त भारत में शिवलिंगों के नामों की सूची काफी बड़ी है और अकेले राजस्थान में ही लगभग ५०० से ऊपर शिवलिंग विभिन्न नामों से भूषित हैं और प्रतिष्ठित मिलते हैं। आमेर जैसा दुर्गनगर, जिसकी स्थापना १० वीं सदी

के आसपास मानी जाती है, अम्बिकेश्वर नामक महादेव मन्दिर के कारण उसकी आमेर नाम से ख्याति हुई थी और अम्बिकेश्वर नाम भी मान्धाता के पुत्र अम्बरीष द्वारा स्थापित हुआ था। इसी प्रकार अन्य नामों के पीछे चित्र-विचित्र संदर्भ मिलते हैं।

मूल प्रश्न हमारा यह है कि लिंग की पूजा शिव नामक देवता के पूजन पर हावी होती हुई क्यों अत्यधिक व्यापक हो पाई? दार्शनिक पृष्ठभूमि एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि यहाँ प्रस्तुत करने से काम नहीं चलेगा। ब्रह्मा और विष्णु की पूजा व्यक्ति के जन्म और संरक्षण से प्रतिफलित हुई है। *शिवलिंग उस बद्धमूल* धारणा का नाम है, जो इस पृथ्वी के ममत्व में हर मनुष्य के अन्दर निहित है। यह पृथ्वी सामाजिक सृष्टि से प्रतिफलित हुई है। हमारी जिजीविषा केवल हमारी ही नहीं है, वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनन्त काल से चली आ रही है और अनन्त काल तक चली जाती रहेगी। माता और पिता की संयुक्त जिजीविषा जब तक जीवन-लब्ध है, तब तक इस मानवीय सृष्टि का ऐश्वर्य इस पृथ्वी को *भोगवती बनाता रहेगा। शिवलिंग इसी कठिन भोगवती* जिजीविषा का साकार रूप है!

शिवलिंग की भावना के मूर्त्त होते ही ब्रह्मा और विष्णु के संदर्भ में लिंगोद्भव की कथा का सूत्र उत्पन्न होता है। ब्रह्मा आकाश की ओर उसका अन्त देखने के लिए गये और विष्णु पाताल का भेदन कर नीचे की ओर गये। किन्तु न तो उन्हें शिव का आदि मिला और न अन्त मिला। यह दूसरी प्रतीक कथा है। इस पृथ्वी पर योनि सृष्टि का उद्भव इतिहास के कौन-से क्षण से हुआ, अभी उसकी खोज जारी है। कुछ इसे १० लाख वर्ष पुरानी मानते हैं और कुछ इसे कई करोड़ वर्ष से ऊपर ले जाते हैं। इसी प्रकार हमारी यह योनि-सृष्टि कब तक भविष्य के कौन-से छोर तक गति करती रहेगी, इसकी कल्पना भी एक अबूझ पहेली है। ऐसे अज्ञात आदि और अन्त के बीच में शिवलिंग का जो मूर्तिमान पूजा भाव है, वह हर भारतीय के मन में एक युग-पुरातन श्रद्धा-निवेदन प्रस्तुत करता है।

बेर फल के रूप में लिंग-पूजा तो होती ही है, किन्तु प्रमाण भेद से छोटे और बड़े शिवलिंग स्थापित होते रहे हैं। भरतपुर में जो शिवलिंग मनुष्यांगाकार रूप में प्राप्त हुआ है, वह लगभग ५ फुट ऊँचा है और कहा जा सकता है कि प्राप्त शिवलिंगों में यह सबसे बड़ा है। वास्तविक अर्थों में यह लिंग के विराट भाव को अद्भुत रूप से महत् और महान बनाता है।

भरतपुर में चतुर्मुखी शिवलिंग, एकमुखी शिवलिंग और पंचमुखी शिवलिंग भी मिले हैं। शिव का पंचमुखी रूप पौराणिक भाषा में बहुत महत्वपूर्ण रहा है। शिवपुराण में लिंगों की अलग-अलग ऊँचाई बतलाई है और कहा गया है कि लिंग-पीठ स्थापित करने से पहले नीलम, रक्त, वैदूर्य, मरकत, मोती, मूंगा, गोमेध, आदि नवरत्नों से देवालय की प्रधान दिशाओं के द्वारों को सुशोभित किया जाये और उनके बीच में शिवलिंग स्थापित किया जाये। लिंग स्थापित करने से पहले जहाँ पर उसे खड़ा करना है, उसके नीचे एक बड़ा गड्ढा खोदा जाय और उसमें सुवर्ण आदि प्रचुर मात्रा में भरा जाय और तब स्थायी भाव से उसके ऊपर पीठ (जलहरी) स्थापित करते हुए लिंग बैठा दिया जाये। अधिकांश के विशाल देवालयों के अन्दर और अन्य प्राचीन देवालयों में शिवलिंगों को उखाड़ कर उन्हें एक ओर फेंक दिया गया है, इसका कारण यही लोक-धारणा है कि आक्रामकों और चोरों की यह विश्वास-भावना थी कि शिवलिंग के नीचे गड़ा हुआ धन मिलेगा!

पीठ साक्षात पार्वती रूप और लिंग परब्रह्म शिव का स्वरूप है। जैसे शंकर पार्वती को अपनी गोद में लिये रहते हैं, वैसे ही यह लिंग पीठ पर स्थापित रहता है। यह धारण-भाव तीसरी प्रतीक-कथा है—इसका अर्थ है पृथ्वी पर दृढ़ भाव से खड़ी हुई पुरुष-नारी की विभूति!

शिव की पांच मूर्त्ति ईशान, पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात नाम से प्रसिद्ध हैं—जिनमें ईशान सर्वप्रधान है। मूर्तिमान स्थानक मूर्त्ति पुरुष कहलाती है। अघोर मूर्त्ति बुद्धितत्व का आशय लेकर रहती है, वामदेव नाम की मूर्त्ति महादेव के अहंकार की अधिष्ठात्री है तथा अग्नि की अधिष्ठात्री अघोरा मूर्त्ति है।

अर्द्धनारीश्वर रूप

झालावाड़-पाटण में अर्धनारीश्वर की एक प्रतिनिधि मूर्त्ति सुरक्षित है। इसमें पुरुष और स्त्री रूप में दम्पति का संयुक्त प्रतिदर्शन है। बाकी अंग तो अर्धनारीश्वर के रूप में सुलभ होने वाली झांकी के अनुरूप हैं। किन्तु कटि के नीचे शिव के [illegible] भाग का प्रतिनिधित्व करने वाला [illegible] भेद है, जैसा कि [illegible] की मूर्त्ति में मिलता है और स्त्री रूप में अर्द्ध योनि को [illegible] रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रश्न है कि यह अर्धनारीश्वर रूप क्यों है? इसका उत्तर देते हुए शतरुद्र संहिता में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने [illegible] सृष्टि रच दी, किन्तु उसका वृद्धि-विकासक्रम प्राप्त नहीं [illegible] बहुत दुखी हो गये। उस समय [illegible] कि अगर तुम मैथुनी सृष्टि रचो तो प्रजा प्रतिफलित [illegible]। किन्तु उस समय तक भगवान शंकर ने एक भी स्त्री उत्पन्न नहीं की थी, इसलिए [illegible] की मैथुनी सृष्टि की योजना [illegible] प्रारम्भ हो [illegible] कठिन [illegible]। ऐसे समय [illegible] ने अर्धनारी[illegible] रूप धारण किया [illegible] अपने से अलग [illegible] हुए मैथुनी सृष्टि की योजना का [illegible] कर दिया। उसी समय से प्रजा बढ़ने लगी। कहा जा सकता है, झालावाड़ की उक्त मूर्त्ति के द्वारा [illegible] पूर्वक सही भावानुवाद हुआ है, इस नाते वह एक बहुमूल्य मूर्त्ति है।

अर्धनारीश्वर स्वरूप की पूजा भी हमारे यहाँ बराबर हुई है। शिलालेखों में उनकी चर्चा आती है।

शिव के स्मरणीय रूप

'सारदातिलक तंत्र' (१९वाँ और २०वाँ पटल) में वर्णित शिव की कुछ प्रधान मूर्त्तियों का ध्यान-रूप इस प्रकार है—

(१) सदाशिव का रूप

मुक्तापीतपयोदमौक्तिक जवा वर्णैर्मुखैः पंचभि
स्त्र्यक्षैरंपितमीशविन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभं
शूलं टंककृपाणवज्र दहनान्नागेन्द्रघंटांकुशान्
पाशं भीतिहरन्दधानमतिताकल्पोज्ज्वलंचिन्तयेत्

(२) ईशान का रूप

शक्तिडमरुकाभीतिवरान् संविभ्रकतरैः
ईशानंतीक्ष्णं शुभ्रमैशान्यांदिशि पूजयेत्

(३) तत्पुरुष का रूप

परशुवेणवराभीतीर्दधानं विद्युदुज्ज्वलं
चतुर्मुखं तत्पुरुषं त्रिनेत्रं पूर्वं तोऽर्च्ययेत्

(४) अघोर का रूप

अक्षस्रजं वेदपाणी शृणि डमरुकंततः
खट्वांगं त्रिशितं शूलं कपालं विभ्रतं करैः
अंजनाभं चतुर्वक्त्रं भीमदंष्ट्रं भयावहम्
अघोरंतीक्ष्णं याम्ये पूजयेन्मन्त्रवित्तमः

(५) वामदेव का रूप

कुंकुमाभं चतुर्वक्त्रं वामदेवं त्रिलोचनं
वराभयाक्षवलयकुठारन्दधतं करैः
विलासिनं स्मेरवक्त्रं सौम्ये सौम्यकमर्च्चयेत्

(६) सद्योजात का रूप

[illegible]

[illegible]

वालेन्दुशेखरोल्लासिमुकुटं पश्चिमे [illegible]।

(७) हरपार्वती का रूप

वन्दे सिन्दूर[illegible]
[illegible]
कान्तोऽन्यस्तपाणेररुणकुवलयं सन्दधत्याः प्रियाया
वृत्तोत्तुंगस्तनाग्रे निहित करतलं वेदटंकेष्ट हस्तं

(८) मृत्युंजय का रूप

चन्द्रार्काग्निविलोचनं स्मितमुखं पद्मद्वयान्तस्थितं
मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमांशुप्रभं
कोटीरेन्दुगलत्सुधाप्लुततनुं हारादिभूषोज्ज्वलं
कान्त्या विश्वविमोहनं पशुपतिं मृत्युंजयं भावयेत् ॥

(९) महेश का रूप

कैलाशाद्रिनिभं शशांक सकलस्फुर्ज्जजटनमंडितं
नासालोकनतत्परं त्रिनयनं वीरासनाध्यासिनं
मुद्राटंककुरंग जानुविलसत्पाणिं प्रसन्नाननं
कक्षाबद्धभुजंगमं मुनिवृतं वन्दे महेशं परं ॥

(१०) दक्षिण मूर्ति का रूप

स्फटिकरजत वर्णं मौक्तिकीमक्षमाला
ममृतकलशविद्याज्ञानमुद्राकराग्रैः
दधतमुरगशूलं चन्द्रचूड़ं त्रिनेत्रं
विघ्मृतविविध भूषं दक्षिणामूर्त्तिमीड़े ।

(११) नीलकंठ का रूप

वालार्कद्युततेजसं धृतजताजूटेन्दुखन्डोज्ज्वलं
नागेन्द्रैः कृतभूषणैर्ज्जपवटीशूलं कपालं करः
खट्वांगं दधतं त्रिनेविलसन् पंचाननं सुन्दरं
व्याघ्रत्कूपरिधानमञ्जनिलयं श्रीनीलकठं भजे ॥

(१२) अर्द्धनारीश्वर का रूप

नीलप्रवाल रुचिरं विलसत्रिनेत्रं
अर्द्धाम्बिकेशमनिशं प्रविभक्तभूषम्
वालेन्दुबद्ध मुकुटं प्रणमामि रूपं
रक्ताभिमिन्दु सकलाभरणं त्रिनेत्रम्
खट्वांगपाशशृणिशुभ्रकपाल हस्तं
वेदाननंनिविनासमनर्ध्य भूपं
रक्तांगरागकुसुमांशुकमीशमीड़े ॥

(१३) पंचानन का रूप

घंटाकपालशृणिमुन्डकृपाणखेट
खट्वांगशूलडमरुभमवन्दधानं
रक्ताम्बुमिन्दुसकलाभरणं त्रिनेड़ं
पंचाननाञ्जमरुणांशुकमीशमीड़े ॥

(१४) अघोर का दूसरा रूप

सजलघनसभाभं भीमदंष्ट्रं त्रिनेत्रं
भुजगधरमघोरं रक्तवस्त्रांगरागं
परशुडमरुखड्गान् खेटकं वाणचापौ
त्रिसिखनरकपाले विभ्रतं भावयामि ॥

(१५) पशुपति का रूप

मध्याह्नार्क समप्रभं शशिधरं भीमाट्टहासोज्ज्वलं
त्र्यक्षं पन्नगभूषणं शिखिशिखाश्मश्रुस्फुरन्मूर्द्धजं
हस्ताब्जैस्त्रिशिखं समुन्दरमसिं शक्तिन्दधानं विभुं
दंष्ट्राभीमचतुर्मुखं पशुपतिं दिव्यास्वरूपं स्मरेत्
उद्यद्भास्कर सन्निभं त्रिनयनं रक्तांगराजस्त्रजं
स्मेरास्यं वरदं कपालमभयं शूलन्दधानं करेः
नीलग्रीवमुदारभूषणशतं शीतांशुचूडोज्ज्वलं
वन्देकारुणवाससं भवहरं देवं सदाभावयेत्
ध्यायेन्नीलाद्रिकांतं शशिसकलधरं मुडमालं महेशं
दिग्वस्त्रं पिंगकेशं डमरुमथशृणिं खड्पाशाभयानि

नागं घंटां कपालं कलसरसिरुहैर्व्बिभ्रतं भीमदंष्ट्रं
सर्पाकल्पं त्रिनेत्रं मणिमयविलसत् किंकिनीनूपुराढ्यं

(१६) **चंडेश्वर का रूप**

चण्डेश्वरं रक्ततनुं त्रिनेत्रं रक्तांशुकाढ्यं हृदि भावयामि
टंकं त्रिशूलं स्फटिकाक्षमालां कमण्डलां विभ्रतमिन्दु चूड़म् ।।
वासुक्या ध्याश्च ये सर्पा, यथास्थानं च ते हरम् ।
भूपर्यांकुच रुद्गम्य शिरोवाह्वादिषु द्भुतम् ।।

नन्दी

शिव के द्वारपाल बैल का नाम नन्दीकेश्वर है। इसी नाम से चतुर्थ उप-पुराण भी है, जिसके अन्तर्गत शिवस्तोत्र आता है। कहते हैं कि यह नन्दी द्वारा ही उवाचित हुआ था। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में नंदीकेश्वर कारिका नाम से शिव-सूत्र में *गूढ़ व्याख्या २८ श्लोकों में की थी। नागेश भट्ट के शब्देन्दु शेखर में* यह उद्धृत है। विष्णु-पुराण में कहा गया है कि कृष्ण भगवान ने अत्यन्त प्रसन्न होकर शिव को अपने गो और वृष-धन में से एक सुन्दर मनोहर वलि-वरद भेंट किया था। वह करोड़ों सिंहों के समान बलशाली था। उसी समय से शिव इसकी सवारी करते हैं। यह कथा ब्रह्मखंड में आई है। दक्षिण भारत के विशाल नंदी की चर्चा प्रायः समाचारपत्रों में सचित्र आया करती है, किन्तु राजस्थान के नन्दियों की चर्चा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। वास्तविक स्थिति यह है कि राजस्थान में विशाल नंदियों की स्थापना ५ वीं ६ ठी सदी से होती रही है। हर्ष पर्वत पर ८ फुट लम्बे और ५ फुट ऊँचे नंदी का जो अर्ध-खंडित शिलाखंड पड़ा हुआ है, वह इस बात का प्रमाण है कि उससे भी बड़े नंदी राजस्थान में बनाये जाते थे। हर्ष-पर्वत का यह नंदी १० वीं सदी का है। मेणाल की सभ्यता को हमें हर्ष पर्वत से कुछ पूर्व का मानना होगा। यहाँ पर जो नंदी है, वह मंदिराभिमुख, विशेष मंडप के नीचे पृथ्वी से लगभग ८ फुट ऊँची चौकी पर आसीन है। बिजोलिया के नंदी अवश्य अनुपात में छोटे हैं। कोटा, बूंदी, एकलिंग आदि में भी बड़े नंदी मिलते हैं। जयपुर में ताड़केश्वर मंदिर के अन्तर्गत तो नंदियों की परम्परा को ही आमूलचूल परिवर्तित कर दिया गया है। वहाँ पर १० फुट ऊँचे पीतल के बने हुए नंदी को स्थापित किया गया है, जो हरियाणी नस्ल का शुद्ध परिचय देता है।

नंदी वेदकालीन सभ्यता के गो-धन का जीवन्त प्रतीक है। वह हमारी कृषि का भाग्य-विधाता रहा है। १७ वीं सदी तक वह हमारे यातायात और परिवहन का अधिस्वामि रहा है। उसके *प्रति श्रद्धा-निवेदन इसलिए तो होता ही रहा है कि वह शिव का* वाहन है और इसलिए इनका नाम नंदीकेश्वर है, किन्तु इसलिए भी होता रहा कि वह हमारी दैनंदिन जीवन की गहन जीवन-प्रणाली का मूल तत्त्व रहा है।

राजस्थान के नंदियों की शिल्प-अंकन शैली में दक्षिण भारत के नंदियों से एकदम भिन्न शैली का प्रतिदर्शन मिलता है। राजस्थान का मूर्ति-शिल्प अपने विशिष्ट अस्तित्व के प्रति कितना आस्थावान रहा है, उसका अकेला परिचय हर्ष का नंदी देने के लिए प्रस्तुत है।

४२. गंध-कलिका   ४३. गंध-केलिका

४४. गंध-मोहिनी   ४५. गंध-लता

४६: कपिलाक्षी
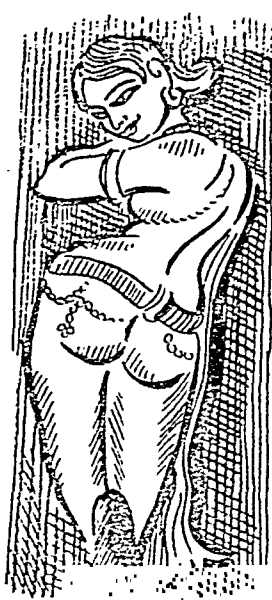
४७. गज-क्रीड़िता

४८. कपिशा

४९. चंद्रधनु

देवादिदेव एकलिंग जी का रम्य स्थल

[८]

राजस्थान में मेवाड़ के अन्तर्गत स्थापित एकलिंग जी का सर्वश्रुत नाम इस प्रदेशीय इतिहास में ७वीं सदी से ही विख्यात रहा है। यहाँ पर हम इसका इतिहास ज़रा विस्तार से लेंगे। उदयपुर राज्यवंश के महाराज श्री शिवदान सिंह जी [illegible]वरति ने इस विषय पर काफी काम किया है। आप लिखते हैं, "श्री एकलिंग जी तीर्थ मेवाड़ की राजधानी उदयपुर से २१ कि[illegible]र की दूरी पर अरा[illegible]ली पर्वतमालाओं के रमणीक एकान्त में, समुद्र की सतह से २१८५ [illegible]ाई पर स्थित है। उदयपुर नगर राजपूताने के दक्षिणी [illegible] २३-४६ से २५-२८ उत्तर अक्षांश और ७३-०१ से ७५.४६ [illegible]र के बीच [illegible] है। विभाण्डक ऋषि के पुत्र शृंगि [illegible] का आश्रम ए[illegible] में है। यह वही ऋषि शृंग मुनि हैं जिनके चरण लगते ही राजा रामपाद के राज्य में अनावृष्टि मिट कर सम्पूर्ण धरा शस्य श्यामला हो गई। तब राजा ने अपनी पुत्री इन्हें व्याह दी। इसी तरह इन्होंने महाराजा दशरथ के पुत्रेष्टियज्ञ को सफल बनाया। इस तीर्थ में कई वापी, कूप, तड़ाग, नद-नदी, निर्झर, नाले आदि हैं, जिनमें मुख्य वाघेला, इन्द्र सरोवर, ओझावाव, कुण्ड, कुटिला नदी आदि हैं। इस प्रकार आठ तीर्थ-कुण्ड हैं—धारेश्वर, तक्षक, भैरव, करज, तुलसी, बीजासण वावड़ी, [illegible] और अमृत कुंड हैं। इस अंतिम कुंड पर अमृतेश्वर महादेव [illegible] हैं। करजकुंड के पास ही हारित ऋषि की वांस निकुंज में तपोभूमि थी और यहीं पर बाप्पा को एकलिंगेश्वर की प्राप्ति हुई थी। श्री एकलिंग जी जहाँ स्थापित हैं, वह स्थान कैलाशपुरी नाम से विख्यात है। चारों तरफ ऊँची-ऊँची पर्वत श्रेणियों से सुरक्षित होकर कैलाशपुरी परम रम्य तपोभूमि बनी हुई है। यहाँ के वनों में विल्वपत्र, आम, इमली, महुआ, जामुन, वड़, पीपल, चन्दन, नीम, शीशम, आँवला, बहेड़ा, वांस और अनेक प्रकार की वनस्पति व कई प्रकार की जड़ी-बूटियाँ मिलती हैं। सरोवरों में अरविन्दों की शोभा निराली ही रहती है। वाघ, वघेरा, भेड़िया, सूअर, रीछ, हिरण, भेड़ला, कुरू, खरगोश, गीदड़, जरख, श्यागोश, आदि पशु और शुक, सारिका, कुकुट, तीतर, कपोत, मयूर, लावा, वटेर, बुलबुल, धनन्तर, पपीया, गरुड़ आदि पक्षी यहाँ विद्यमान हैं। इसी तरह जल-जीव सारस, वतख, वक, भाटीया, आड़, जुगाव, और मगर-घड़ियाल, कछुआ-मत्स्य आदि भी सुरक्षित हैं। यह अहमदावाद-दिल्ली के प्रधान राजमार्ग पर स्थित है।

"श्री कैलाशपुरी स्थापत्यकला में भी अपना विशेष स्थान रखती है। यहाँ के विशाल प्रासाद श्वेत पाषाणों से निर्मित बाघ, हारित ऋषि आदि की गुफायें, मठ-मन्दिर, अतिथि-गृह, तोरण, अट्टालिकाएँ, सभी दर्शनीय हैं। इस अंचल की गगनचुम्बी चोटियों पर देवियों के कई मन्दिर राजाओं व उपासकों द्वारा बनाये गये हैं। जैसे—राष्ट्रकूट माता, अरबुदा माता, नीमच-खीमच माता। इसी तरह पहाड़ों पर परकोटे चित्तियां आदि भी बनी

बनी हुई है। भगवान एकलिंग के मन्दिर के पीछे और उत्तर की ओर शिखर बन्द कई छोटे-बड़े मन्दिर तथा देवरिया हैं, उनमें महाराणा कुम्भा का बनवाया हुआ विष्णु मन्दिर, मीरा बाई का मन्दिर, गोवर्धन नाथ, लक्ष्मी नारायण, सीता राम, सोमनाथ, देवेश्वर एवं गणपति के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। कुल मिलाकर इस स्थान पर लगभग ७० मन्दिर हैं। श्री एकलिंग जी में मन्दिर का एक अपना पावर हाऊस है, जिससे रोशनी, पंखा, और अनाज-पिसाई का कार्य होता है। मन्दिर के विशाल प्रांगण में संगमरमर जटित आंगन और विशाल रजत का कटहरा व प्रवेशद्वार से आंगन तक दोनों तरफ हरी-भरी दूरवा से घिरा हुआ पथ और फव्वारे मनमोहक छवि बिखेरते हैं। इसके अतिरिक्त रजत, पीतल और परेवे के नन्दिकेश्वर दर्शनीय हैं, निज मन्दिर के पाषाण खण्डों की खुदाई में विशेष रूप से दृष्टि केन्द्रित करती है—दक्षिण द्वार के ऊपरी भाग में श्री कालिका जी के सन्मुख स्थित ऐरावत हाथी जिस पर इन्द्र, अप्सरायें आदि हैं। मन्दिर के प्राचीर के बाहर उत्तर में खड़े हुए गणपति की प्रतिमा अपने ढंग की अनोखी है। ये सब वस्तुएँ श्री कैलाशपुरी के सौन्दर्य और कलात्मक निधि में चार चाँद लगा देती हैं। श्री एकलिंग जी से तीन मील दूर एक देलवाड़ा नामक कस्बा है। देलवाड़ा के जागीरदार झाला मन्ना के वंशज हैं। श्री एकलिंग जी स्थान की सामान्य तौर से रक्षा का भार पूर्व समय में इन्हीं को सौंपा हुआ था। यहाँ पर वैकुन्ठनाथ जी का मन्दिर दर्शनीय है। श्री एकलिंग जी के खास मन्दिर की परिधि में एक सुन्दर कलात्मक विष्णु मन्दिर है, जो मीरा बाई के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि कहा यह जाता है कि यह उनके परमाराध्य देव श्री गिरधर गोपाल का मन्दिर है, पर यहाँ पर विष्णुकी आयुध-भूषित मूर्त्ति है। इसकी स्थापत्य कला भारत के प्रसिद्ध मन्दिरों में अपना स्थान रखती है। दूसरा मन्दिर जो इसी परिधि में दक्षिणी ओर है, जिसको यहीं के मठाधीश ने संवत् १०२८ (सन् ९७१) में बनवाया था। ये लोग नाथमतावलम्बी थे। यह मन्दिर शिव के अष्टादश अवतारों में से एक लकुशील या लकुटीश (द्विभुज, वामहस्त में लकुट (दण्ड) और दक्षिण हस्त में बीजपुर (बिजोरा) लिए हुए शिव स्वरूप का है। विश्व कर्मानुसार वास्तुशास्त्र का एक श्लोक है :—

लकुलीशं ऊर्ध्वं मेढ़ूं पदमासन मुसंस्यम् ।
दक्षिणे मातुलिंगच वामेदण्डं प्रकीर्तितम् ।।

"नागदा—संस्कृत शिलालेखों में 'नागहृद या नागद्रह' नाम से उद्धृत है, पहले ये बड़ा समृद्धिशाली नगर था। दिल्ली के सुलतान शमशुद्दीन अल्तमश ने मेवाड़ की चढ़ाई के समय इस नगर को तोड़-फोड़ दिया था। तभी से इसकी जीर्णशीर्ण दशा बनी हुई है। महाराणा कुम्भ करण (कुम्भा) के राज्य समय में, विक्रम संवत् १४९६ में ओसवाल सारंग ने यहाँ जैन मन्दिर बना कर एक नौ फुट ऊँची शान्ति नाथ की मूर्ति पधराई थी। इसकी विशालता के कारण लोग इसे 'अद्भूत जी' कहते हैं। नागदा ग्राम में एक कलापूर्ण खुमाण रावल का देवरा है, जिसे देखकर देलवाड़ा और बाड़ोली के मन्दिर स्मरण हो आते हैं। इसी तरह यहाँ एक सास-बहू का देवालय सन् ११०० का बना हुआ है। ये सास-बहू के देवालय, या अद्भूत जी मन्दिर और खुमाण रावल का देवरा स्थापत्यकला के उत्कृष्ट नमूने हैं, इनकी खुदाई और कलाकृतियां भारत की सुप्रसिद्ध स्थापत्य कला में अपना एक स्थान रखती हैं।

"जब गुजरात के बादशाह एहमद शाह ने मेवाड़ पर विक्रम संवत् १४७८ से १४९० तक आक्रमण किया, तब जाति-द्वेष के कारण श्री एकलिंगजी के मन्दिर पर भी वह चढ़ आया। उस समय महाराणा मोकल ने मन्दिर को सुरक्षित रखने के लिए परकोटा बनवाया और जीर्णोद्धार भी करवाया। महाराणा कुंभ के समय में भी विक्रम संवत् १४९० से १५१५ तक मन्दिर का सुन्दरतापूर्वक निर्माण हुआ, ऐसा कुम्भलमेर के मामादेव की प्रशस्ति में वर्णन है। महाराणा कुम्भा के पुत्र उदय करण के समय विक्रम संवत् १५२५ से १५३० तक यह मन्दिर गिर गया था। उसको महाराणा रायमल ने विक्रम संवत् १५३० से १५६५ तक पीछे बनवाया। कितने ही गाँव राणा उदयकरण के समय जो खालसे हो गये थे, वे पुनः सेवा-भाव से भेंट किये, ऐसा दक्षिण [illegible] की प्रशस्ति के श्लोक ८६ में लिखा है।

रूद् तापत्रयात्मकं संसार दुःखं रूत् रुदं द्रावयतिति
वाष्पा मिधो नर पतिः रघु वंश केतु लेभे सयस्त [illegible]
कृपयैव मिवार राज्यम् ।
तं शम्भु पूजन रतं नियतेन्द्रियाश्वं हारित रा[illegible]
मृषि पुगंव, सारतो स्मि ।।

[illegible] ती है, उनने [illegible] रभाव भी [illegible] इस तरह [illegible] तृशक्ति को [illegible] उनसे वसुनि- [illegible] लगता है।

हारीत ऋषि का [illegible] स्थान

"श्री एक[illegible] की सिद्धपीठ के अ[illegible] [illegible] लोचक, ने भारतीय है। इनके समय-निर्णय में कोई प्रमाण [illegible] प्राप्त आद्यागमित को के संस्थापक बाप्पा के गुरु होने के कार[illegible] से प्रकट किये हैं। [illegible] समय-निर्णय किया जाना युक्ति संगत [illegible] की दृष्टि से अपेक्षया के विषय में मतभेद होने पर भी [illegible] [illegible]-ज्ञान की प्रबुद्ध अवस्था के २०-२१वें श्लोक के आधा[illegible] [illegible] किसी कुमारी के स्तनों तदनुसार ईस्वी सन् ७३४ से [illegible] [illegible] टके स्तन न होकर, ऋषि का भी मानना उचित है [illegible] [illegible] से गुंथे हुए और चित्तौड़ रसिया की छत्री [illegible] सज्जित छत्र है। [illegible] सम्पूर्ण विश्व को योगबल [illegible] में इस बात को [illegible] एकलिंग के परम भक्त [illegible] प्रतिमूर्ति भी [illegible]

---

१ हारित ऋषि का [illegible] कि भारत और [illegible] है। ऐसा लगता [illegible] था, [illegible] वहाँ पर बौद्धधर्म में सुरक्षित रही है, इसका एक [illegible] यह प्रमाणित हो ने उन्हें स[illegible] चामुंडा [illegible] २०० वर्ष रचिया देवी नाम में पू[illegible]

में नाथों के मन्दिर की विक्रम संवत् १०२८ ई० सन् ९७१ की प्रशस्ति व उसमें स्थापित शैव सम्प्रदाय के संस्थापक लकुलीश की मूर्त्ति तथा विंध्यवासिनी देवी के सामने नाथों की वेशभूषा से अंकित हारित राशि की मूर्ति से पूर्ण ज्ञात होता है कि महर्षि हारित शैव सम्प्रदाय के थे। इनके अतिरिक्त चित्तौड़ नौ कोठे की प्रशस्ति में भी श्री एकलिंग हरा रावन पाशुपताचार्य' हारित ऋषि का उल्लेख मिलता है। इन्हीं हारित ऋषि को प्रसन्न कर बाप्पा ने अपना राज्य स्थापित करने का वरदान प्राप्त किया। योगिराज हारित के अनुग्रह से ही बाप्पा एक दिन चित्तौड़ के अधीश्वर हो गये।

ततः सन्निजित्य नृपंतु मोरी जातीय भूयं मनुराज संज्ञम्।
गृहीत वां श्चित्रित चित्रकूटम् चक्रे त्र राज्यं नृप चक्रवर्ती॥
[राज प्रशस्ति महाकाव्य सर्ग ३]

गुरु के अनुग्रह से राज्यलक्ष्मी प्राप्त होने के कारण, आचार्य हारित के इस स्थान पर बाप्पा की पूज्य दृष्टि होने से कुलगौरव रक्षक बाप्पा के वंशजों ने आज भी इस स्थान को कुल-गुरु का आसन [illegible] मुहणोत नेणसी की ख्यात, एकलिंग माहात्म्य व [illegible] आधार पर इस स्थान के आदि पुरुष हारीत पूर्ण योगी [illegible] की सभी सिद्धियों में सिद्धहस्त थे। प्राचीन मठ का [illegible] भी ऐतिहासिकों के अनुमान से बाप्पा के समय विक्रम [illegible] से ८१० तदनुसार ईसवी सन् ७३४ से ७५३ तक [illegible]।

राजस्थान [illegible] के परम भक्त, मूल [illegible] हारित के बाद शिष्य-श्रुत नाम इस प्र[illegible] लगना कठिन है। केवल विक्रम संवत् १०२८ यहाँ पर हम इसका [illegible] प्रशस्ति में वेदागमुनि [illegible] राशि, सद्यो- राज्यवंश के महाराज [illegible] राशि का उल्लेख मि[illegible] है। तदनन्तर पर काफी काम किया है [illegible] कोठा की प्रश[illegible] में श्री एकलिंग मेवाड़ की राजधानी [illegible] राशि [illegible] महेश्वर राशि [illegible] पर्वतमालाओं के रम[illegible] होने के कारण [illegible] शिष्य-परम्परा [illegible] पर स्थित है। [illegible] है। श्री एकलिंग जी के बाद [illegible] ३-४९ से २५[illegible] की प्रशस्ति में [illegible] १[illegible]० की है [illegible] के बीच [illegible] श्री शिवराशि, [illegible] गुण राशि का [illegible] का आश्रम ए[illegible] में संवत् १५९[illegible] में नरहरि [illegible] है जिनके चरण लगते ही राजी [illegible] तदनन्तर स्थान-धारियों मिट कर सम्पूर्ण धरा शस्य श्यामल [illegible] जगतसिंह वि० सं० १६८७ में इन्हें ब्याह दी। इसी तरह इन्हों[illegible] और हारीत राशि के इस [illegible] को सफल बनाया। इस तीर्थ में श्री एकलिंग जी की सेवा का [illegible] नदी, निर्झर, नाले आदि हैं, जिनमें [illegible] में इस स्थान पर संन्यासी ओझावाव, कुण्ड, कुटिला नदी आदि हैं। [illegible] का होने से वेग- कुण्ड हैं—धारेश्वर, तक्षक, भैरव, करज, तुल[illegible] जी महाराज [illegible] और अमृत कुंड हैं। इस अंतिम कुंड पर [illegible] शारदा [illegible] है। करजकुंड के पास ही हारित ऋषि [illegible] सम्प्रदाय का [illegible] नाम कोटवार है। अगस्त्य गोत्र है, तीर्थ और आश्रम पद है, द्वारिका क्षेत्र में वासुदेव देवता है, सिद्धेश्वर नाम के महादेव हैं, भद्रकाली कुलदेवी, बटुक भैरव आदि का समावेश है, इस सम्प्रदाय के मूल आचार्य विश्वरूप हैं, जो अद्वैत मत के प्रवर्तक शंकराचार्य के समकालीन थे।

पुराण व जनश्रुति

भगवान आशुतोष श्री शिव के वर्णन में वेद और पुराण भरे हुए हैं। परन्तु विशेषकर श्री एकलिंगेश्वर श्री कैलाशपुरी तीर्थ का वर्णन वायुपुराणान्तर्गत श्री एकलिंग-पुराण और एकलिंग माहात्म्य में (जो अभी हस्तलिखित है) विशद निरूपण आता है। श्री एकलिंग माहात्म्य में लिखा है कि जब इन्द्र को वृत्रासुर के मारने की ब्रह्म-हत्या का पाप लगा और वह केनाप्युपायेन शमन नहीं हो सका, तो अपने गुरु बृहस्पति की शरण में गया।

पृथिव्यांभारते क्षेत्रे मेद पाटे ति विश्रुते।
कुटिलायास्तटे रम्ये सर्व तीर्थ मये शुभे॥
कल्प वृक्ष वनातस्ये रत्न मण्डप मध्यगे।
देव दानव गंधर्व यक्ष किन्नर से विते॥
तत्तेक लिंगो देवोस्ति तमासाधयसत्वरम्।
विध्यांद्रि वासिनीं देवीं पूर्वमाराध्य भक्तितः॥
ततस्तुष्टे जगन्नाथे हत्ययान भयंतव।
इत्युक्तः सजगामाशु ततीर्यं नाग हृदेमुने॥

तदनुसार कार्य करने पर इन्द्र ने ब्रह्म-हत्या से मुक्ति पाई। इसी अवसर पर यहाँ इन्द्र ने एक पर्ण-कुटी बना कर वज्र से भूमि खोदी। उस स्थान पर 'इन्द्र सागर' नाम का जलाशय प्रसिद्ध हुआ। और इसमें स्नान करनेवालों को सर्व इच्छित फल प्राप्त होने की श्री एकलिंगेश्वर से प्रार्थना की तो श्री एकलिंगेश्वर ने आज्ञा दी—

तवनान्यासरस्त्वेदं ख्याति मेष्यति वासव
अस्मिन् सरसियस्नाति सर्व तीर्थ फलप्रदे।
यत्किंचित् क्रियतेपुण्यं तदक्षय फलमभवेत्॥

स्वयं बाल ब्रह्मचारी भीष्म ने असामर्थ्य प्रकट की—

अशक्तोहं गुणान् वक्तु महादेवस्य धीमतः
योहि सर्वगतोदेवो नव सर्वत्र दृश्यते। म. अ. १४-३
कोहि शक्तो गुणानवक्तु देव देवश्य धीमतः।
गर्भ जन्म जरायुक्तो मर्त्यो मृत्यु समन्वितः॥
म० अ० १४

"एक समय लोकोत्तर पुरुष भगवान श्रीकृष्ण से भी पूछा गया, उनका भी उत्तर इस प्रकार था—

नगतिः कर्मणां शक्त्या वेतु मीशस्य तत्वतः।
हिरण्य गर्भ प्रमुखा देवा सेन्द्रा महर्षयः
नविदुर्यस्य भवन मादित्या सूक्ष्मदर्शिनः॥

"श्री एकलिंग शिव का नामान्तर है, शिव की पूजा-पद्धति शास्त्रीय ढंग से आध्यात्मिक ढंग पर महर्षियों के अनुभूत सुपरिष्कृत सिद्धान्तों के आधार पर बनी हुई है, उसी के आधार पर त्रिकाल पूजन गोस्वामी तथा ब्रह्मचारियों के द्वारा होता है। सारे भारत वर्ष में कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ इस रीति-नीति से पूजा-अर्चा होती हो। एकलिंग माहात्म्य के अनुसार एक समय पार्वती ने ऋषि-पत्नियों के संयम की परीक्षा के लिए भगवान शिव से प्रार्थना की, जिस पर श्री शिव ने उनकी परीक्षा के लिए मोहक सुन्दर युवक रूप धारण किया। सब क्या देखते हैं कि वे ऋषि-पत्नियाँ उन पर मोहित हो गई हैं। इस पर उनके पतियों ने भगवान को श्राप दिया। तदनुसार मान्धाता की सुन्दर नगरी में लिंग-पात हुआ। समय पाकर उसी शिव लिंग का कामधेनु द्वारा स्मृत होने पर, मेदपाट देश में पुनः प्रादुर्भाव हुआ। एक प्रशस्ति के आधार पर कहा जाता है कि श्री एकलिंग जी की मूर्ति पहले लिंगाकार थी, बाद में महाराणा रायमल जी ने वर्तमान चतुर्मुखी मूर्ति की प्रतिष्ठा की। भगवान श्री एकलिंग का पश्चिम मुख ब्रह्मा, उत्तर मुख विष्णु, पूर्व मुख सूर्य, दक्षिण मुख रुद्र की भावना से पूजित होता है और मध्य में सर्वोपरि श्री सदा शिव विराजते हैं। पश्चिम द्वार से दर्शन करने पर सामने श्री पार्वती जी की मूर्ति और इनके दाहिने दक्षिणाभिमुख रजत की गणपति की मूर्त्ति और पार्वती जी के बराबर पूर्व द्वार के अन्दर गंगा जी और इनके बाहिर तरफ उत्तराभिमुख कार्तिक स्वामी की रजत मूर्ति विराजमान है। इसी तरह पूर्व द्वार के बाहर मन्दिर की पूर्वी भित्ति में अन्दर की तरफ नीचे यमुना और सरस्वती की मूर्तियां हैं। सभा-मण्डप में एक रजत के बड़े नन्दकेश्वर हैं। और सभा-मण्डप से बाहर निकलते ही एक अलग छत्री में पीतल के नन्दकेश्वर की एक विशाल प्रतिमा है और एक श्याम पाषाण की बड़ी नन्दकेश्वर की मूर्ति है। मन्दिर के दक्षिण-द्वार की प्रशस्ति में १०० श्लोक हैं। ये महाराणा रायमल के समय के हैं, जिनमें महाराणा हमीर से लेकर रायमल तक के राजाओं का इतिहास तथा मन्दिर के पुरातन वृत्तान्त का महत्वपूर्ण संकलन है। मन्दिर से कुछ ऊँचाई पर विक्रम संवत् १८१० के बने हुए अम्बा माता, कालिका माता और गणेश जी के एक दूसरे से संलग्न तीन मन्दिर बने हुए हैं, जो गोस्वामी जी प्रकाशानन्द जी महाराज के समय में बने थे। कालिका देवी के सन्मुख एक श्वेत पाषाण का इन्द्र सहित ऐरावत हाथी है। इस एक ही पाषाण में कई कलात्मक बनी हुई मूर्तियां हैं, इस पर इन्द्र विराजमान हैं। इन्द्र के आगे एक स्त्री हाथी को चलाती है व एक पीछे चमर हाथ में लिये हुए इन्द्राणी बैठी हुई है। सून्डों में लिये हुए कमल पुष्प वह हाथी है। मूल से मिली हुई दोनों तरफ अप्सराएँ वाद्यादि लिये हुए नृत्य करती हुई साथ चल रही हैं। इसे देखने से प्राचीन शिल्प-कला के गौरव की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

कोटेश्वर महादेव

"ब्रह्मा जी का मन्दिर और महादेव जी कोटेश्वर जी भगवान एकलिंग के मन्दिर के पीछे हैं, परकोटे के बाहर ईशान कोण में हारित राशि की गुफा है और उनके पूरे कद की मूर्ति है, जिस पर संवत् १५०२ खुदा हुआ है और आस-पास ही विन्ध्यवासिनी देवी तथा भैरव की प्राचीन दर्शनीय कंकाल मूर्तियां हैं। वि० संवत् १४८५ शृंगी ऋषि के शिलालेख में प्राचीन निर्माण के अवसर पर निम्नांकित श्लोक पढ़ने में आया है—

> येन स्फटिक सच्छिला मय इव ख्यातो मही मण्डले
> प्राकारो रचितः सुधा धवलितो देवैकलिंग...।।
> ......सत्कपाट विलसद्ध द्वारत्रालयतः
> कैलासंतु विहाय शम्भु रकरोष दत्राधिवासेमति।

"हारित राशि की गुफा पहाड़ों के भीतर बहुत लम्बी दूर तक चली गई है। वन्य पशुओं के आतंक की वजह से उसे बन्द कर दिया गया है।

भर्तृहरि

"यह स्थान बहुत पुराना है और तपस्वियों के ठहरने के लिए [illegible] है। यहाँ राजा भर्तृहरि ने तपस्या की थी।

"यहाँ एक राड़ा जी का स्थान है, जहाँ [illegible] को [illegible] प्रदीप्त किया जाता है। वह हवा व वर्षा में [illegible] रहता है! रोगी लोग बुखार और [illegible] [illegible] की मानता करते हैं जिससे अच्छे [illegible] हैं। इसके आगे एक ओंकारेश्वर महादेव [illegible] पास ओझा बाव नामक कुण्ड है [illegible] है। इसके आगे एक फूलवाड़ी [illegible] जी का मन्दिर है, जिसका [illegible] ही आधा मील की [illegible] पर पहाड़ों के बीच [illegible] जिसे अम्बा दड़ [illegible] जिनके नाम अमरेश्वर और [illegible] मन्दिर भी है और दो सुन्दर कुण्ड हैं। [illegible] बाड़ी है, एक सूर्य कुण्ड व दो अन्य कुण्ड हैं [illegible] व एक गणेश जी की मूर्ति भी है। [illegible] प्रसिद्ध स्थान है [illegible] दान में एकलिंग [illegible] चलता था, तो [illegible] आता तो गुम [illegible] वह काम [illegible] दक्षिण-पूर्व [illegible] मन्दिर है। [illegible] इस स्थान [illegible] किया। लेकिन अब [illegible]

[illegible] वर्ती है, उनमें [illegible] आदरभाव की [illegible] मूर्तिस्तान में इस तरह [illegible] षण्मूर्तियां मातृशक्ति की [illegible] हैं, और उनसे बलुचि-[illegible] हाथ लगता है। [illegible] समालोचक, ने भारतीय [illegible] में प्राप्त आद्यागमिक की [illegible] रूप से प्रकट किये हैं। [illegible] कास की दृष्टि से अपेक्षया [illegible] ज्ञान की प्रबुद्ध अवस्था [illegible] मूर्ति किसी कुमारी के लगों [illegible] होकर, [illegible] देवी की [illegible] अलंकार [illegible] से गुंथी हुई [illegible] पीछे पुष्प-सदृश अंकन से सज्जित [illegible] है। [illegible] आते हुए देवियों की मूर्तियों में [illegible] जाने लगी थी कि वे [illegible] प्रतिमूर्ति भी [illegible] तौर पर यह [illegible] है कि भारत और [illegible] संबंध छठी शताब्दी के बाद [illegible] यहाँ पर बौद्धधर्म [illegible] प्रमाणित [illegible]

भाद्रप्रद कृष्णा प्रतिपदा को एक मेला लगता है, जिसमें दूर-दूर के दर्शनार्थी सम्मिलित होते हैं।

मुद्राओं पर एकलिंग नाम

"महाराणा कुम्भा के प्राप्त हुए ताम्बे के एक चौखुटे सिक्के पर एक ओर कुम्भ करण और दूसरी ओर एकलिंग स्पष्ट पढ़ा जाता है। एक सिक्का महाराणा संग्राम सिंह का है जिसमें एक ओर श्री रण (सं) ग्रम सं० (घ) और दूसरी ओर त्रिशूल और कुछ चिन्ह हैं। यह सिक्का उन्हीं संग्रामसिंह जी का है, जिन्होंने वावर से युद्ध किया था। आधुनिक सिक्कों में भी ताम्बों के सिक्कों में जो त्रिशूल या सिक्का है, वह भगवान श्री एकलिंग के प्रति महाराणाओं की भक्ति को सूचित करता है।

श्री एकलिंग जी की पूजा-पद्धति

भगवान श्री एकलिंगेश्वर की अर्चन-पद्धति स्वर्गीय महाराणा स्वरूपसिंह जी ने करीव दो शताब्दी पूर्व शारदा पीठाधीश्वर श्री शंकराचार्य की आज्ञानुसार वेदोक्त तंत्रविधि से स्थापित की थी। भगवान एकलिंगेश्वर के पांच मुखारविन्द हैं। पाँचवाँ मुख सर्वोपरि अखण्ड अनादि सच्चिदानन्द स्वरूप सर्व का मूल स्तोत्र श्री सांवसदाशिव। इसी भाव के अनुसार राग, भोग, और अर्चन के भी नियम है। पूजन तीनों काल होते हैं। त्रिकाल पूजन में ... समय द्वार-पूजन, पात्रास्थापन, अवमर्पण, प्राण-प्रतिष्ठा, आदि 'शिवोमृत्वा शिवंजेयत्' की भावनानुसार भगवान ... की अ... प्रारंभ होती है। इस राजोपचार पूजन श्रुत... दर्शन है। इसमें प्रथम आरती, फिर सहस्रधारा यहाँ प... आरती, पुनः आवरण, पूजनोपरान्त आरती। राज्यव... आरती (वड़ी आरती), तत्पश्चात् शयन आरती। पर काफी काम... समय नक्कार खाना, शहनाई, वैण्ड इत्यादि मेवाड़ की राज... ते हैं। आरती होते समय वीर घन्ट-घन्टीका जो पर्वतमाला... द हो...। ऐसे दर्शनों के समय कीर्तन- ...गाई पर ... भी ... रहता है। श्री एकलिंगेश्वर ... ३-४६ से ... परम्परागत केवल महाराणा उदयपुर को ... के वं... के गुरु श्रीमान गोस्वामी जी महाराज को है। ... का आश्रम एवं ... और नन्दीकेश्वर की पूजा के भी विशेष है जिनके चरण ... वार और प्रदोष के दिन शृंगार धराया ... मिट कर सम्पूर्ण धरा शस्... समय श्री एकलिंग इन्हें व्याह दी। इसी तर... मन्दिर के कथाभट्ट को सफल वनाया। ... —वाहर-भीतर कई नदी, निर्झर, नाले ... भरतपु... ओझावाव, कुण्ड, कु... भग १०वें कुण्ड है—धारेश्वर ... लती ... और अमृत कुंड है। ... फाल्गुन, अतिरिक्त शिवरात्रि, ... है। ... संक्रांति पर घृत का टोप और वसन्त पंचमी पर उष्णीष आदि का विधान है। इसी तरह जितने भी धार्मिक त्यौहार उत्सव जैसे—होली, दीपावली, तीज आदि विशेष समारोहों पर कुछ न कुछ विशेष रीति से पूजा का कार्यक्रम अपनाया जाता है। उदाहरण के तौर पर आम्र रस का अभिषेक, जल शय्या, विल्वपत्र पार्थिवेश्वर आदि होते ही रहते हैं। देव-झुलनी, हरियाली अमावस्या आदि कई अवसरों पर श्री गोस्वामी जी महाराज की, हाथी-घोड़ा ताम-जाम आदि लवाजमे के साथ, सवारी की वड़ी शोभा रहती है। भगवान के नैवेद्य की एक खास पद्धति और पवित्रता है। यहाँ वाहर का भोग सेवा में नहीं आ सकता। मंदिर का कोठार-पाकशाला निजी है। गौशाला भी अपनी है, जहाँ मनों दूध, दही, घृत-मधु, शर्करा और करीव १५ हजार वार्षिक की केसर-कस्तूरी तथा सच्चे मोतियों की व्यवस्था हैं। ये मोती ताम्बूल के चूने में मिलाये जाते हैं।

"शिवरात्रि आदि वड़े त्यौहारों पर रत्न-जटित लाखों रुपयों के आभूषणों का शृंगार भगवान को धराया जाता है। मुख्य मंदिर पर ध्वजा वैशाख शुक्ला १० वीं को धराई जाती है। वैसे इस तीर्थ के एक भक्त श्री धारा जी नाम के जो सुई दर्जी थे, उनकी स्मृति में भी कई सौ हाथ लम्वी एक ध्वजा चैत्र अमावस्या पर सुई सालवी और छीपा दर्जी मिल कर वड़े उत्सव और जागरण के साथ चढ़ाते हैं।

पाटोत्सव

"इस दिन भगवान के मंदिर की प्रतिष्ठा हुई थी। यह दिन वड़े राजसी ठाठ-वाट से मनाया जाता है। श्री भगवान को मेवाड़ के अधिपति रूप में नजराने, तोपों की सलामी, दरीखाना इत्यादि आयोजन रहता है। पहले हाथियों की कुश्ती भी होती थी।

फाग

फाल्गुन में रंग-विरंगी गुलाल और ऋतुराज वसन्त के नव कुसुमित पुष्प-पल्लव की फाग चैत्र कृष्णा १३ तक केसर कसूंवा आदि से होती है। तेरह को अगणित नर-नारी एकत्रित होकर गोस्वामी जी व ब्रह्मचारियों द्वारा पिचकारी डाले हुए कसूंवे के रंग से तरवतर हो जाते हैं।

देव झूलणी (परिवर्तिनी)

भादवा शुक्ला ११ को इन्द्र सागर पर श्री गोस्वामी जी महाराज सवारी कर पधारते हैं। और वहाँ दरीखाना भी होता है, जिससे स्थानीय जनता के जमाव से पर्याप्त चहल-पहल हो जाती है।

श्रावण कृष्णा अमावस्या को भी देवी-दर्शनार्थियों का मेला यहाँ जुड़ता है। और जन-समुदाय वर्षा ऋतु की प्राकृतिक छटा का आनन्द लेने के लिए पहाड़ों के शिखर पर वने हुवे मन्दिरों की यात्रा करता है—ऐसे प्राचीन रीत्यानुसार वर्षाऋतु के प्रारंभ में पुरीवारी गांव के वाहर भगवान पाक-शासन का स्वागत करने जाते हैं और भोजन भी वहीं वना कर भोग लगाते हैं, जिसे उज्जैनी कहते ह।

५०. प्रतिरंभा

५१. प्रदक्षि

५२. प्रदक्षि

५३. शत-शत शक्ति-शतह्दा

शक्ति-पूजा के स्रोतों पर एक विचार

[६]

राजस्थान में शक्ति की मूर्तियों पर हमने कुछ सिंहावलोकन पहले प्रस्तुत किया है। यहाँ पर एक दृष्टि इसकी ईसा पूर्व की उपलब्धियों पर दे ली जाए।

ईसासे चार हजार वर्ष पूर्व की बलूचिस्तान में प्राप्त सभ्यता के जो अवशेष हाथ लगे हैं, उनमें मोहनजोदड़ो से भी पूर्व की कथा मिलती है। पाकिस्तान के एक शोध-पत्र में श्री अहमद छागला ने इस पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि यहाँ पर मातृशक्ति की जो छोटी प्रतिमाएँ मिली हैं (और उनके ४ चित्र भी उन्होंने प्रकाशित किए हैं) वे बुद्धकाल में प्राप्त होनेवाली पत्थर की प्रतिमाओं से मिलती-जुलती हैं। उन्हें और उनकी समानता को देखकर आश्चर्य होता है। इनमें स्तनभाग तो अनावरण है, ऊपर वस्त्र के चिह्न हैं! चारों प्रतिमाओं में स्तनभाग का इस तरह प्रदर्शित किया जाना एक विचार पैदा करता है। कटिप्रदेश के नीचे भी वस्त्रों का लोप है। श्री छागला का कहना है कि ऐसी मातृशक्ति की जो प्रतिमाएँ क्रीट से लेकर सप्तसिंधव सभ्यता के प्रदेशों तक मिली हैं, उनमें बहुत कुछ समानता है। इनमें शिरोपरिधान है, गर्दन पर अलंकरण हैं, बालों में अलंकरण हैं। इनका सौंदर्य इतना प्रचुर है कि ये प्रकृति की प्रजनन-शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। काली की जिस तरह भयावह मुखवाली प्रतिमा-कल्पना है, कुछ ऐसी ही भयंकर नकाब एक इस तरह की मूर्ति पर मिलती है, उससे प्रमाण मिलता है कि उनकी संहारकारी शक्ति का आदरभाव भी उस समय तक विद्यमान हो चुका था। बलूचिस्तान में इस तरह की ईसा से चार हजार वर्ष की पहले की मृण्मूर्तियाँ मातृशक्ति को प्रत्यक्ष करनेवाली बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं, और उनसे बलूचिस्तान की धार्मिक परम्पराओं का प्रमाण हाथ लगता है।

हर्मन गोट्ज, जर्मनी के प्रसिद्ध कला-समालोचक, ने भारतीय कला पर विचार करते हुए, मोहनजोदड़ो में प्राप्त आद्यशक्ति की मृण्मूर्तियों पर अपने विचार स्तुत्य रूप से प्रकट किये हैं। वे बलूचिस्तान की मृण्मूर्तियों में कला-विकास की दृष्टि से अपेक्षया कहीं अधिक सुंदर हैं और शिल्पियों के सौंदर्य-ज्ञान की प्रबुद्ध अवस्था का प्रमाण देती हैं। एक देवी की मृण्मूर्ति किसी कुमारी के [illegible] का प्रत्यक्षीकरण करती है, उसमें, मातृपद [illegible] स्तन न होकर, उन्नत स्तन हैं। देवी की केश- [illegible] से गुंथी [illegible] है और उसके पीछे पुष्प-सदृश अंकन से सज्जित [illegible] हैं। [illegible] सभ्यता तक आते हुए देवियों की मूर्तियों में [illegible] बात [illegible] बरती जाने लगी थी कि वे [illegible] प्रतिमूर्ति भी [illegible]

साधारण तौर पर यह [illegible] है कि भारत और [illegible] के सांस्कृतिक संबंध छठी शताब्दी के बाद [illegible], [illegible] वहाँ पर बौद्धधर्म ने प्रवेश किया। लेकिन अब [illegible] यह प्रमाणित हो

गया है कि यह संबंध और भी प्राचीन है और वास्तव में जापान की *शासकीय परम्परा भारत के सूर्यवंशी नरेशों से उत्तराधिकार की कहानी कहती है।* जापान में जो देवियों की पुरानी प्रतिमायें मिली हैं, उनमें शिरोपरिधान तो अवश्य अंचल-विशेष के कारण जापानी किरीट-कुंडल शैली का है, लेकिन उसके हाथों में आयुध जो हैं, वे पूर्णतया भारतीय हैं। यह देवी कामाकीरा मंदिर में है और षष्ठभुजा है। जापान की सरस्वती देवी का नाम है बेनटेन। इसके हाथ में वीणा मिलती है।

राजस्थान में शक्ति-पूजा के दीर्घ सूत्र

माताओं के मन्दिरों की सूची यदि हम राजस्थान में बनाने बैठें, तो इनकी संख्या १००० से ऊपर बैठेगी। मातृ शक्ति-पूजक राजस्थान में चामुंडा और भगवती का आधिक्य इस बात का सूचक है कि सामाजिकता के स्रोत[1] की अविरल धारा को प्रगाढ़ बनाने के लिए उसने शक्ति-अवतारों की अभ्यर्थना में अपना ध्यान अच्युत बनाये रखा।

माताओं के मन्दिर भी यहाँ खूब बने। प्रारंभ में हमने विंध्यवासिनी के मन्दिर की चर्चा की है। राजस्थान में जो भी माता का मन्दिर किसी पहाड़ी के शिखर पर है, अथवा किसी पहाड़ी शृंखला के व्यूह में जाकर छिप गया है, उसे आंचलिक नाम के साथ विंध्यवासिनी भी[2] कह दिया जाता है। जोधपुर गढ़ पर जो माताएँ हैं, वे विंध्यवासिनी भी कही जाती हैं। उदयपुर के निकट एकलिंग जी के मन्दिरांचल में भी विंध्यवासिनी नाम से ही मन्दिर है। इस का कारण यह कहना कि प्रयाग के निकट विंध्यवासिनी की लोकख्याति ने अन्य मन्दिरों को भी यह नाम दे दिया हो, निराधार है। राजस्थान स्वयं विंध्य (पर्वत) का वासी रहा है, उसने अपनी माताओं के मन्दिर सर्वत्र शैलशिखरों पर बनाये। हर्ष पर्वत का हर्ष-मन्दिर इस बात का प्रमाण है, १२वीं सदी से भी पहले से विख्यात नरहड़ (प्राचीन ग्राम पुवाह अथवा नृपुवाड़ था, पट्टण भी इसे कहा गया, क्योंकि यह विशाल व्यापारिक नगर था) के दहरोड पहाड़ियों के बीच सिंहद्वार पार कर दक्षिणी ओर सिंहवाहिनी का मन्दिर था।

कालान्तर में अनेक शिव-मंदिर बदलकर माता-मंदिर लोकसमाज द्वारा बना दिये गये हैं। जीणमाता का मंदिर बाद में माता का मंदिर बना है, पूर्वास्था में यह शिवालय था। इसी प्रकार उदयपुर स्थित जगत माता[3] का मंदिर भी कालांतर में ही माता-मंदिर बना है, *अन्यथा इसके दाहिने पार्श्व में जो चंड-स्थान अथवा* जलेरी (जल-संग्रह) कुंड बना है, उसकी आवश्यकता क्या थी, यह गहरा संशय उत्पन्न करता है। इसी प्रकार हम सुजरासन देवरा (सीकर-स्थित सिंगरावट से तीन मील दूर, जोधपुर की दिशा) चलें तो वहां की माता का जो मंदिर[4] है, वह निश्चयेन शिवमंदिर था, भग्नीकरण-परिच्छेद के बाद, जब बसावट दुबारा हुई, तभी उसमें माता का मंदिर आबाद हो गया। जावर-माता (उदयपुर, जहाँ की पर्वतीय उपत्यकाओं में राणा प्रतापने अपने वनवासकाल के दिन बिताये और जिसके सामने १६ वीं सदी का विष्णुमंदिर स्थित है) का मंदिर भी, हमारी पुष्ट धारणा है, पहले शिवमंदिर था, मूलत: नष्टविनष्ट होने के बाद ही वह भीलों की माता का मंदिर *मान्य होने लगा।* यह १७ वीं के बाद हुआ होगा, क्योंकि १४ वीं सदी के बाद तक वहाँ पर चांदी निकालनेवाले व्यापारियों व कारीगरों व श्रमिकों की छोटी नगरी आबाद रही थी।

शक्तिपूजा के प्रारंभिक सूत्रों की व्याख्या करने में पुरातत्व के अनेक विद्वानों ने बहुत परिश्रम किया है। निरंतर महत्वपूर्ण उत्खनन राजस्थान में हुए हैं, जिनसे इस विषय का स्पष्टीकरण एक सीधी रेखा में बैठाने में सहूलियत होती है। राजस्थान में रैढ़[5] (जयपुर), सांभर[6] (शार्कंभरी-स्थान), नगर[7] (जयपुर राज्य, *जिसे कुछ विद्वानों ने मालवनगर कहा है*), गंगधार[8] (झालावाड़), छोटी सारड़ी (उदयपुर), कामां[9] (भरतपुर), रंगमहल[10] (बीकानेर

---

१ संवत् १२२६ के विजोलिया-शिलालेख में शाकंभरी को जातीय शाखाओं की अथवा पारिवारिक संबंधों की संरक्षिका माना गया है। इसी शिला-लेख में उसे पर्वतीय शृंखलाओं की और दुर्गों की अधिष्ठात्री के रूप में भी कहा गया है।

२ वही। इसमें बाप्पाको विंध्यसम्राट घोषित किया है, आशय पर्वतीय शृंखलाओं में विस्तीर्ण उसके राजस्थान-व्यापक साम्राज्य से है।

३ प्राप्त एक शिला लेख में इसे माता का मंदिर ही कहा गया है। उस अवस्था में यहां शिवलिंग भी अवश्य रहा होगा।

४ इस मंदिर में स्थान-स्थान पर ११ वीं सदी के स्तम्भ एवं शिखर-कंगूरे के टुकड़े जटित हैं, जो इसके प्राचीन शिल्प की कहानी कहते हैं, पर दुख है कि सब पर बुरी तरह कली पोत दी गई है। इस मंदिर के शिखर से एक बार कारीगरों को बहुत पुराने घी से भरा हुआ कलश भी मिला था।

५ और ६ की मूर्त्तियों का विवरण श्री के. ए. पुरी द्वारा सम्पादित 'रैढ़ खननवृत्त' में मिलता है, प्रकाशित पुरातत्त्व विभाग जयपुर द्वारा।

७ यहाँ प्राप्त मृण्मूर्त्ति पूर्वगुप्त काल की सम्भवत: अपने विषय की पहली है।

८ यहाँ से प्राप्त शिलालेख सन् ४२३ का है, जिस में विष्णुकी अर्चना के साथ परम वैष्णव मयूराक्ष ने मातृकावेश्म का निर्माण कराया था।

९ यहाँ से शिव-पार्वती की परिणय-विलास से प्राप्त उत्तप्त भाव की बड़ी सुन्दर मूर्ति गुप्तकाल की प्राप्त हुई है, जो भरतपुर संग्रहालय में सुरक्षित है।

१० यहाँ ऐसी गुप्तकालीन मृण्मूर्त्तियों के फलक (ईंटें) हाथ लगे हैं, जिनमें से एक पर, दाम्पत्य सुख में विभोर शिव-पार्वती विराजमान हैं, दोनों स्मित भाव से मुस्करा रहे हैं, पार्वती के हाथ में शीशा है और घाघरा पहन रखा है। देखिए चित्र मंदिर प्रकरण की आर्ट-प्लेटों के अन्तर्गत शिव-प्रसंग की चित्रावलि में।

ग्रादि में जो प्राचीन मृण्मूर्तियां मिली हैं ग्रथवा शिला-लेख हाथ लगे हैं उनसे प्रमाणों का बहुलीकरण प्रचुर होने लगता है ग्रौर प्रमाणित करने के लिए उत्साहित भी करता है कि शक्तिपूजा की दृष्टि से राजस्थान ईसा सन् के प्रारंभिक क्षणों में कहीं भी न तो दरिद्र था, न हीन। बल्कि इस से भी ग्रधिक इस की पुष्टि करने के लिए ग्रनेक सबल प्रमाण हाथ में थमा देता है कि संभवतः महिषमर्दिनी की पूजा राजस्थान से ही शेष भारत में प्रसारित हुई होगी।

शक्ति के ग्रवतार ग्रनेक हुए, उनमें दुर्गा, काली, पार्वती ग्रौर सरस्वती लोकमान्य ग्रधिक हुईं। शिव के १२ ज्योतिर्लिंग देश के विभिन्न भागों में स्थापित हैं। ये शंकराचार्य-युग की सूझ-बूझ का परिणाम है। जिन दिनों ज्योतिर्लिंगों की परिकल्पना चरितार्थ की जा रही थी, उन दिनों राजस्थान उसी प्रकार के विलीनीकरण में व्यस्त था, जिस तरह सन् १६४७ के बाद स्वतंत्रोत्तरकाल में देशीराज्यों का जब विलीनीकरण हुग्रा, तो कुछ भी जो व्यवस्थित था, वह सभी ग्रस्तव्यस्त होता चला गया, यह ग्रवश्य हुग्रा कि राजनीतिक इकाई एक हो सकी, यद्यपि उस ऐक्यभाव को सार्थक करने में पूरा एक युग व्यतीत हो गया। प्रश्न है कि शिव के साथ शक्तिपीठों की संख्या देश में निर्धारित करनेवाले युग-नेता उत्पन्न क्यों न हुए? इस संदर्भ में सरल सा उत्तर यही है कि उसकी परिकल्पना सार्थक कैसे होती, जब कि उसकी पूजा का विस्तार राजस्थान से बाहर बहुत ही क्षीण रूप में हो पाया था। तब शक्तिपीठ सदृश लोकख्याति की दृष्टि से शाकंभरी ग्रादि ही राजस्थान में प्रतिष्ठित थे। बंगाल के कवि जयदेव (१२ वीं सद) प्रयाग जाने के उपरान्त जयपुर होते हुए मेवाड़ तक गये थे। वे यहाँ से क्या ले गये, इस विषय पर ग्रभी ग्रनुसंधान नहीं हुग्रा है, लेकिन यदि बंगाल में महिषमर्दिनी किस तरह प्रकट हुई, इस तथ्य की नींव का उत्खनन किया जाए, तो राजस्थान की दिशाग्रों का स्पष्ट दर्शन होने की सुविधा हाथ लग जायेगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। बंगाल ने राजस्थान के कौन से दान-प्रतिदान ग्रपने फैले ग्रांचल में लिये हैं, इस पर ग्रभी शोध-प्रसार की ग्रावश्यकता है।

सरस्वती के प्रकरण में हम विश्वव्यापी, शक्तिपूजा के कुछ दर्शन प्रस्तुत करेंगे। ज्ञानशक्ति के साथ मांसल शक्ति का ग्राविर्भाव हमारी सामाजिक मातृ शक्ति का वैभव प्रस्तुत करता है। माता की पूजा के रूप में हमारी कल्पना देवीपूजा तक पहुँचकर दिव्य हो जाती है।

शक्तिपूजा का स्रोत शिव-प्रसंग में ग्रविरल धारा से प्रवाहित होने लगता है। कामां (भरतपुर) से ईसा की ४ थी सदी के जो शिवलिंग विराट भाव को प्राप्त मिले हैं, वहीं पर ठिठक कर हमें सहसा ही प्राचीन भारत की शक्तिपूजा के दीर्घ सूत्र ग्रवतरित होते हुए लगते हैं। शिव की ग्राराधना में पार्वती स्वतः ग्रनयहस्त उठाती प्रत्यक्ष होने लगती हैं। तब उनके भिन्न ग्रवतार किस तरह दृष्टि-ग्रोझल हो सकते हैं। इसीलिए उक्त मृण्मूर्तियों का जो प्रमाण इन युगों में शक्तिपूजा का द्योतक होकर पृथ्वी - गर्भ से प्रकट हुग्रा है, उस पर गंभीर विचार करना ही पड़ता है।

मातृका-भवन के उल्लेख

हमने ऊपर बलराम के शिला-प्राकार (देवालय) के प्रथम ईसवी सदी का शिलालेख नगरी से प्राप्त देखा है। इन शिला-प्राकारों की चर्चा में विशेष व्याख्या नगर-परिक्रमा में की जायेगी। ५ वीं सदी में गंगधार (झालावाड़) में सन् ४२३ का जो शिलालेख है, उसमें स्पष्टरूप से मातृका-भवन की चर्चा है। वहाँ पर मातृकावेश्म शब्द ग्राया है। परम वैष्णव किसी मयूराक्ष सचिव ने निर्माण करवाया था। यह तो इस शिलालेख का प्रताप है कि हम यह ग्रधिकार जताने में ग्रग्रणी हो जाते हैं कि इससे पूर्व राजस्थान से बाहर कहीं भी मातृका-पूजालय की चर्चा ग्रभी तक नहीं ग्राई है। यदि राजस्थान के प्राचीन साहित्य का सूत्र ग्रौर हाथ लग सके, तो संभवतः हम इसे ग्रौर भी प्राचीन युगों तक ले जा सकते हैं। पर जिस प्रदेश में बाहरी ग्राक्रमण ग्रौर गृहयुद्धों का दावानल पूरे सहस्र वर्ष तक दहका हो, वहाँ बहुत ग्रधिक प्राचीन सामग्री हाथ लग पायेगी, यह ग्रभी तो दुराशा ही कहा जायेगा।

छोटी सादड़ी स्थित भ्रमरमाता के लेख (सन् ४६०) में ग्रपदय-सुरदारण तीक्ष्णशूला का जो शिलालेख है, वह उक्त शिलालेख की परम्परा को ग्रौर ग्रधिक प्रशस्त करता है। यहाँ पर यह सोचने की बात है कि इन दोनों शिलालेखों में ६७ वर्ष का ग्रन्तर है, पर उचित यही होगा कि हम इस ग्रवधि को पूरे सौ वर्ष की मानें, जिस दीर्घ समय में शक्तिपूजा स्पष्ट रूप से परिपुष्ट हुई होगी, तो यह ४ थी सदी ग्रर्थात् गुप्तकाल का प्रारंभ हो जायेगा, जिस समय राजस्थान में शक्तिपूजा की बल्लरी पूरे हर्ष के साथ लहराई होगी।

सातवीं सदी से तो शिलालेखों का ग्रौर प्राचीन साहित्य का प्रमाण इतना ग्रधिक है, कि शक्तिपूजा के निमित्त हमें यह कहने के लिए सरलता हो जाती है कि चाहे कोई वैष्णव रहा, चाहे शैव, वह शक्तिपूजक ग्रवश्य रहा। ग्रौर जब जैनधर्म ने राजस्थान में प्रवेश किया, तो वह भी इसी शक्तिपूजा के व्यापक प्रभाव से ग्रछूता न रह सका। महिषमर्दिनी को उसने ग्रपनी देव-देवियों के ग्रादरास्पद क्रमसंख्या में स्थान दे दिया। यह स्वाभाविक था। यहाँ के निवासी जैनी बाद में बने, पहले वे शक्तिपूजक थे ग्रौर जब वे जैनी बन गये, उनके यहाँ विवाहादि संबंधों से जो गृहणियां ग्राईं, वे तो विशुद्ध रूप से शैव व शक्तिपूजा के संस्कारों से दीक्षित होकर ग्राईं। फलतः हम १६ वीं सदी तक यह ग्रन्तर्द्वन्द्व जैनियों में देखते हैं। खंडेला के इतिहास में यह द्वंद्व ग्राता है कि किस तरह कुछ जैनी हो गये, कुछ जैनी बनकर भी ग्रग्रवाल वैश्यों के संस्कारों की परिधि

में ही संतुष्ट बने रहे।[1] आज तक यह विभाजन रेखा चली आ रही है। ओसवाल व माहेश्वरी—इस तत्व-भेद में भी यही भाव-मिश्रण मिलेगा। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे विद्वान् इतिहासकार ने भी अपने जोधपुर राज्य के इतिहास में ओसवालों द्वारा पूजित (ओसिया स्थित) सचिया माता के (जो कि विशुद्ध रूप में वैष्णवी महिषमर्दिनी है) मंदिर में चंडिका, शीतला, सच्चिका, और क्षेमंकरी देवियों की विद्यमानता का उल्लेख किया है।[2]

राजस्थान में प्रसिद्ध माताएँ

१. जमुवाय माता, यह रामगढ़ (जयपुर) में स्थित है, कछवाहा शाखा के राजपूतों में इसकी इष्टपूजा तो होती ही है, अंचल-विशेष के नर-नारी भी उसे धोक देते हैं।

२. नारायणी देवी—थाना गाजी (अलवर) में बडगूजरों की राजधानी थी। यहाँ से टहला होता हुआ एक मार्ग राजगढ़ जाता है, जहाँ से २४ मील दूरी पर यह सिद्धपीठ रूप सम्प्रदाय-विशेष की गद्दी है। जंगलों में नारायणी देवी का मंदिर है, पानी के कुंड हैं। समस्त नाई जाति के लोग अपनी मान्यता यहीं करते हैं। मुंडन कराते हैं। यहाँ किसी को सांप-विच्छू नहीं काटते, यह मान्यता है। इस अंचल में आकर आतंककारी आवाज करते हुए पशु भी चिंघाड़ने या गर्जने से संकोच करते हैं!

३. मनसा देवी—अलवर-दुर्ग के मार्ग में है। नारनौल राजस्थान का सीमा-नगर है, उससे ६ मील राजस्थान की सीमा पर ढोसी पहाड़ के एक भयंकर शिखर पर भी स्थित है।

४. करतल माता—अलवर के एक निकटस्थ नगर में यह बहुपूजित शक्ति-स्थान है।

५. राजेश्वरी—भरतपुर में प्राचीन शक्ति-मंदिर है।

६. चौथ माता—सवाई माधोपुर लाइन पर चौथ का बरवाड़ा नामक स्टेशन के पास पहाड़ी पर यह मंदिर है। बहुत अधिक मान्यता है।

७. जोबनेर माता—जयपुर के एक प्राचीन गढ़ में स्टेशन से दूर पहाड़ी पर प्रसिद्ध देवी-मंदिर है। यहाँ के पुजारी क्षत्रीय हैं।

८. जीणमाता—सीकर से १४ मील दूर, हर्ष पर्वत से लगभग ४ मील। १० वीं सदी का खंडहर मंदिर है, उसमें स्थित। समस्त प्रवासी राजस्थानी भाई अपना मुंडन आदि इसी देवी-स्थान में कराते हैं। यह वास्तव में सती-स्थान है। भगवती या महिषमर्दिनी का स्थान नहीं है।

९. सकराय माता—यह नवलगढ़ से लगभग २५ मील दूर है। अरावली की गहन उपत्यका में है। अब तो जीप जाने योग्य सड़क है, पर कठिन मार्ग है। रुद्राणी-ब्रह्माणी की प्रतिमाएँ हैं।

१०—चित्तौड़ में काली मंदिर है। यह देवस्थान पहले सूर्य का मंदिर था।

११. दधिमाता—नागौर के पास रोल गांव से ६ मील पर स्थित है। महर्षि दधिचि ने यहीं पर तपस्या की थी। पास बने कपालकुंड तीर्थ पर उन्होंने यज्ञ किया था। महर्षि दधिचि का आश्रम भी बना हुआ है। दधिचि ब्राह्मण इस स्थान को पवित्र मानते हैं। जोधपुर के गांठ मंगलोद के शिलालेख (जो मारवाड़ का सबसे प्राचीन शिलालेख कहा गया है) में प्रधान वागीश्वरी का उल्लेख है, फिर दधिमती का। यह शिलालेख सन् ६०८ ईसवी का है और लिखा है—श्रीदध्या दधिमातासंनिध्यपादानुध्याता... देवीं दधिमातीं विज्ञापयन्ति...अस्मिन्देव्या वेशे गोष्ठिका। यह मंदिर दध्य ब्राह्मणों की एक गोष्ठी द्वारा किया गया था। इस सम्बन्ध में लिखा है, जिस आदि शक्ति (प्रकृति) ने, क्षीर समुद्र को दधिके समान मंथन कर मोहिनी रूप से निकले हुए अमृत को देवों का रूप धरे हुए भक्त बालकों में मक्खन के समान विभक्त कर दिया था, उसी को वे बालक दधिमथी व दधिमती माता कहने लगे। जब से दधीच हुए, तभी से उनकी दधिमथी उपासना स्वाभाविक रूप में प्रचलित हुई है। क्योंकि उनके वंशके मूलपुरुष महर्षि दधिचि भी अपने पिता अथर्वा के समान उसी की उपासना किया करते थे। जो दधिमथी को पूजे, वह दध्यंच। अथर्वा ने अपने पुत्र का नाम अपनी उपास्य देवी के नाम पर किया था, क्योंकि पिता अपने उपास्य देवता के नाम से भी पुत्र का नाम अंकित किया करते थे। उसी समय से अर्थात् वैदिककाल से दधिमती की उपासना चली आ रही है, ऐसा इस विषय में दाधीच ब्राह्मणों का कथन है।

१२. जावर माता—उदयपुर से २० मील दक्षिण में प्राचीन देवी का मंदिर है। कहा जा सकता है कि भरतपुर के नये निर्मित गंगामाई के मंदिर अथवा नवलगढ़ में स्थित गंगामाई के मंदिर के अतिरिक्त कहीं भी प्राचीन शैली का इतना बड़ा मंदिर राजस्थान में नहीं है। यहाँ की मूर्ति भी मध्ययुगीन है, ६ फुटी ऊँची है। यह भीलों की पूजा का प्रधान केन्द्र है।

१३. चींच (छींछ) माता—बांसवाड़ा से १० मील दूरी पर

---

१ देखिए, 'खंडेला का इतिहास'।

२ इस स्थान का प्राचीन नाम 'उपकेश-पट्टन' जैन-ग्रन्थों में प्राप्य है। पट्टण से व्यापारिक नगरी होने की सूचना स्वतः मिल जाती है। यहां के मंदिरों का काल ओझा जी ने ९ वीं सदी बताया है। और लिखा है कि ओशियाँ में १२ प्रसिद्ध मंदिर हैं, जिनकी बनावट झालरापाटन के मंदिर से मिलते हैं। यहाँ पर यह दृष्टव्य है कि ओशियाँ में आनेवाले ओसवाल वैश्य दर्शन करने के बाद [illegible] भी नहीं ठहरते। उन्हें यह सदा भय बना रहता है कि [illegible] देवी के कोप-भाजन न बन जावें। [illegible] पर गर्भग्रह के बाहर तीन ताकों में चामुण्डा, महिषमर्दिनी [illegible] शीतला की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

दक्षिण-पश्चिम में पुराना मंदिर है। सन् १६२८ का शिलालेख यहाँ से प्राप्त हुआ है। पर यह पुराना स्थान है। यहाँ बहुत बड़ा मेला वर्ष में एक बार भरता है।

१४. तरताई माता—इसे शुद्ध रूप में त्रिपुरा सुंदरी भी कहते हैं। तलवाड़ा से (बांसवाड़ा से छः मील दूर) यह लगभग ७ मील की दूरी पर है। यहाँ की मूर्ति अभी तक प्राप्त महिषमर्दिनी की मूर्तियों में विशाल, लगभग ८ फुटी और दर्शनीय है। स्थान निर्जन है, पर स्थान का जीर्णोद्धार किया जा रहा है।

१५. माला देवी—कृतमालेश्वर (इन्द्रगढ़) कोटा से ३ मील दूर पर, प्राचीन स्थान है।

१६. केला देवी—करौली से १८ मील दूर है, अपने अंचल में इसकी मान्यता बहुत अधिक है। चैत्र कृष्ण ११ से पूर्णिमा तक मेला भरता है।

१७. *मोरखाना माता—बीकानेर से २८ मील दक्षिण-पूर्व* में इस स्थान पर सुसाणा देवी का मंदिर है, जो सुराणाओं की कुलदेवी है। सन् ११७२ का शिलालेख मिला है।

१८. वसुंधरा देवी—डूंगरपुर से २८ मील की दूरी पर प्राचीन मंदिर है। सन् ६६१ का शिलालेख मिला है, जो मेवाड़ाधीश अपराजित का है। एक दूसरे शिलालेख में यद्यपि अन्य विषय खंडित हैं, लेकिन देवी की स्तुति का श्लोक विद्यमान है। ओझाजी का विचार था कि यह लेख ७ वीं सदी का है।

१८. भ्रमर माता—उदयपुर राज्यान्तर्गत छोटी सादड़ी में है। यहाँ से प्राप्त सन् ४६० के लेख में दुर्गा देवी की स्तुति का शिलालेख मिला है। इससे प्राचीनता का प्रमाण स्पष्ट हो जाता है।

१६. *खोखरी माता*—जोधपुर के (२२ मील उत्तर में स्थित) तिवारी नामक स्थान में यह प्राचीन मंदिर है, और ६ वीं सदी का है। इसमें वेदी पर गज-लक्ष्मी की मूर्ति है।

२०. पीपलाद माता का मंदिर—यह जोधपुर प्रदेश में है। और प्राचीन स्थान है। इसके एक तरफ कार्तिकेय की प्रतिमा है। इस से भी यह देवी-मंदिर नहीं था, ऐसा भी विचार होता है।

२१. विन्ध्यवासिनी जी— यह मन्दिर कैलाशपुरी (एकलिंगस्थान, उदयपुर) गोस्वामी जी महाराज के गुरुकुल देवी का है, आश्विन मास की नवरात्रि में त्रिकाल-पूजन व अष्टमी के दिन हवन आदि का प्रबन्ध श्री गोस्वामी जी महाराज की तरफ से होता है। ट्रस्ट से तीनों समय भोग मंदिर से जाता है और पूजन आदि का प्रबन्ध भी ट्रस्ट से है। माता जी के निज मंदिर के बाहर ही काल कंकाल दो भैरव नृत्य कर रहे हैं। ठीक माता जी के सामने ही एक हारित ऋषि स्थान है, यह स्थान बाप्पा के समय का है। इन्होंने ही बाप्पा को दर्शन दिये और राजा होने का आशीर्वाद भी दिया।

उसी दिन से बाप्पा ने जो कि कामधेनु गऊ थी, उसका आधा सेर दूध प्रति दिन भोग लगाना शुरू किया। आज भी मध्याह्न की सेवा में गोस्वामी जी द्वारा आरोगाया जाता है। यह स्थान बड़ा प्रसिद्ध है। यहाँ कई एक यज्ञ आदि भी हुए हैं। इनके पास ही एक बाण माता जी का मन्दिर है—जो महाराणा साहब की कुल देवी मानी जाती हैं। इसके पास महलों के नीचे सूर्यनारायण का मंदिर है। वैशाख कृष्ण सप्तमी को पूजन होकर एक ब्राह्मण यहां सूर्य मंत्र जपता है। उसके पास महाराणा साहब के बिराजने के महल हैं, जिनको श्री महाराणा भूपालसिंह जी ने बनवाया है।

२२. भवाला-माता—यह स्थान मेड़ता से १२ मील दक्षिण में है। गाँव के बाहर महाकाली का मन्दिर है। यहां २० हाथों वाली मूर्त्ति है, जिसके बाईं ओर ब्रह्माणी है।

२३. पार्श्वनाथ फलोदीमाता—यह फलोदी (प्राचीन नाम फल-वर्द्धिका) में है। ओझा जी ने अपने इतिहास में इसे ब्रह्माणी की मूर्त्ति कहा है और आशा व्यक्त की है कि यह फलवर्द्धिका माता का मंदिर रहा होगा। अब मूर्त्ति नई है।

२४. शाकम्भरी—यह सांभर से कुछ मील दूर, चौहानोंकी कुलदेवी का स्थान है। यहीं पर एक मंदिर देवदानी (देवयानी) का भी है।

२५. बरमाया—यह नागौर में है, जो योगिनी का माना जाता है।

२६. लटियाल माता—यह पोकरण-फलोदी में है।

२७. इडाणा माता का मंदिर—यह स्थान सलूम्बर में उदयपुर के अन्तर्गत है।

२८. अम्बा माता—उदयपुर राजपरिवार की इष्ट देवी, राणा खड्गसिंह जी के समय का बनवाया हुआ है। नगर-परकोटे में स्थित है। इसका चित्र [illegible] में प्रस्तुत है।

२६. आवरी माता—यह आवरी गांव में उदयपुर से लगभग ४५ मील की दूरी पर है। यहाँ पर लकवे के रोगी विशेष लाये जाते हैं। उदयपुर की अन्य आंचलिक माताओं की चर्चा नगर-परिक्रमा अनु[illegible] की गयी है।

३०. चावन्ड माता—मुख्य तथ्य यह है कि [illegible] की अन्तिम जीवनावधि का जो दुर्ग [illegible] जड़ में स्थापित है। इसी से लोग यह कहते हैं कि [illegible] के हाथों स्थापित किया गया था। गांव का नाम चा[illegible] इसे भी चावन्ड माता कहा जाता है। संभावना यह [illegible] चावन्ड माता के नाम से यह गांव इस नाम से अभिहित होने [illegible] यह स्थान उदयपुर से ३२ मील दूर मुख्य सड़क मार्ग पर है।

उदयपुर में धर्म-संप्रदाय पर एक नोट प्रस्तु[illegible] प्रसिद्ध इतिहासकार ओझा जी ने लिखा है, "वैदिक पर[illegible] नामों को ही देवता मानकर उपासना प्र[illegible]

किन्तु ईश्वर की मानी हुई शक्ति ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि देवताओं की पत्नियों की शक्तिरूप में कल्पना की जाकर उनकी पृथक्-पृथक् पूजा होने लगी। प्राचीन साहित्य के अवलोकन में देवियों के भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं, जैसे कि ब्राह्मी (ब्रह्माणी), माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री। इन सात शक्तियों को मातृका कहते हैं। देवियों की कल्पना में दुर्गा अर्थात् महिषमर्दिनी मुख्य है और जगह-जगह उसकी पूजा होती है। सामोली गांव से मिले हुए मेवाड़ के राजा शिलादित्य के समय के ई० सन् ६४६ के शिला-लेख में लिखा है कि यहाँ के निवासी जेतक महत्तर द्वारा अरण्यवासिनी देवी का मन्दिर बनाया गया। इन लेखों से निश्चित है कि मेवाड़ में देवी की पूजा भी विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व से आती थी। तांत्रिक ग्रन्थों में देवी की अनेक प्रकार की मूर्त्तियों का उल्लेख है। मातृकाओं की मूर्तियां चित्तौड़गढ़, कुंभलगढ़, उदयपुर आदि स्थानों में देखने में आई हैं और दुर्गा की मूर्त्तियां तो जगह-जगह मिलती हैं; उनके चार, आठ, बारह, सोलह और बीस तक भुजाएँ होती हैं। देवी के उपासकों में एक दल वाममार्गी कहलाता है जो बड़े ही गुप्त रूप से उपासना करता है। मद्य, मांस, स्त्री-सेवन करना इस मतका मुख्य सिद्धान्त है! मेवाड़ में इस मत का पहले विशेष प्रचार था और कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ और शूद्र निःसंकोच ऐसी उपासनाओं में भाग लेते थे। समय के परिवर्तन से अब इस मत का प्रभाव घटता जाता है। क्षत्रिय लोग प्रायः देवी के उपासक होते हैं। और नवरात्रि आदि अवसरों पर देवी के आगे भैंसों तथा बकरों का बलिदान करते हैं। अन्य लोग भी इस मत के उपासक हैं। पर उनकी उपासना का मार्ग भिन्न है।"

चामुंडा की विशाल मूर्तियां चन्द्रभागा नगरी (झालावाड़) में वहाँ के संग्रहालय में विद्यमान हैं। इससे निश्चित होता है वहाँ भी कुछ मंदिर मुख्य रहे होंगे। चामुंडा का एक मुख्य खड़ेला की पहाड़ी पर लगभग ८०० फुट ऊपर है। जाने का मार्ग बना है।

[illegible] नामक शक्ति ने महासंग्राम में शुम्भ-निशुम्भ के दो [illegible]न्यता है। [illegible] मुण्ड को नष्ट कर दिया था, इसलिए दुर्गा का नाम

७. जोधपुर [illegible] चामुण्डबेट्टी नामक पर्वत पर [illegible] का प्रसिद्ध मंदिर है, वहीं पर महिषासुर का वध

१ देखिए, [illegible]

२ इस स्वरू[illegible]

[illegible] चामुंडा का एक मंदिर जोधपुर गढ़ में है। यह राज-[illegible] का मंदिर था।

[illegible] का आतंक साम्राज्य (!) न केवल ढूंढार प्रदेश [illegible] में है। यहाँ इनका इतिहास प्रस्तुत [illegible] शीतला [illegible] पारीक ने बताया—

"जयपुर की पुरानी राजधानी, आमेर के मध्यकालीन राजमहलों का एक भाग धवल संगमरमर के एक आधुनिक मन्दिर से सुशोभित है, जिसमें काली की एक प्राचीन एवं ऐतिहासिक प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। मन्दिर के शुभ्र श्वेत शिल्प-सौष्ठव के मध्य महिषासुर-मर्दिनी, सिंहारूढ़ महाकाली की इस 'श्यामांगाष्टभुजी'[1] मूर्ति का रौद्र और विकराल स्वरूप अनायास ही दर्शनार्थियों के शिर झुका देता है। देवी की इस पावन मूर्ति के सम्मुख कभी राजा मानसिंह और मिर्जा राजा जयसिंह जैसे मध्यकालीन भारत के अन्यतम सेनानायकों, कूटनीतिज्ञों और शासकों के मस्तक नत हुए थे और पद्माकर जैसे महाकवि ने अपने 'जगद्विनोद'-मंगलाचरण में ही इस 'शक्ति शिलामयी' का जयजयकार करना अपने कवित्व की सफलता के लिए आवश्यक समझा था।

"शिलादेवी का यह आधुनिक मन्दिर जयपुर के वर्तमान महाराजा की शक्ति-उपासना और श्रद्धा का प्रतिफल है। प्राचीन मन्दिर के स्थान पर आशिखरान्त संगमरमर का यह नवीन मन्दिर अभी १९४२-४३ में ही बनवाया गया था। नवीन राजपूत वास्तुकला का, जिसका आरम्भ जयपुर नगर के निर्माण से समझा जा सकता है, यह मन्दिर नवीनतम उदाहरण है, किन्तु प्राचीन राजपूत शैली की परम्परा इसमें अविच्छिन्न रूप से सुरक्षित है। सभा-मंडप के स्तम्भों और मेहराबों की बनावट ही इसका प्रमाण है। यद्यपि स्तम्भों तथा मेहराबों पर फूल-पत्तियों के बारीक कटाव तथा पार्श्वों में संगमरमर की झिलमिल जालियाँ आगरे के ताज के पाषाण पर्दों का स्मरण करा देती हैं, तथापि मन्दिर की रचना में अलंकरण की नहीं, वरन् एक सादगी और वास्तुकला के आनुपातिक सौंदर्य की प्रधानता है। समूचा मन्दिर स्फटिक के समान उज्ज्वल और निर्मल है। भित्तियों की श्वेत कान्ति बीच-बीच में दुर्गा के विविध स्वरूपों के आधुनिक तैल-चित्रों के रंगों की छटा से द्विगुणित हो गयी है। प्रवेश-द्वार के कपाट नवदुर्गा-अंकित चांदी के हैं, और सभामंडप में मुख्य मन्दिर की देहरी के दोनों ओर रंगीन संगमरमर के केले के वृक्ष अत्यन्त कलामय और कमनीय हैं, जिनमें केले के पत्ते, डन्ठल और फल ऐसी कुशलता से दिखाये गये हैं कि दूर से देखने पर वास्तविक से लगते हैं।

"मन्दिर में विराजमान शिलामाता की मूर्त्ति 'सुन्दरवन के लोकप्रिय वीर' प्रतापादित्य के प्रदेश में केदार कायस्थ नामक एक राजा की उपास्य दुर्गा थी और आमेर के राजा मानसिंह, जो १७वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में बंगाल के सूबेदार थे, इसे यहाँ लाये थे। जयपुर में यह दोहा छोटे-छोटे बालकों को भी कंठाग्र है—

> सांगानेर को सांगो बाबो, जयपुर को हनुमान।
> आमेर की सिल्ला देवी, ल्यायो राजा मान॥

"इस प्रकार देवी की यह मूर्त्ति न केवल आज से तीन शताब्दियो

---

१ देखिए चित्र-पृष्ठ ३७५ संख्या २।
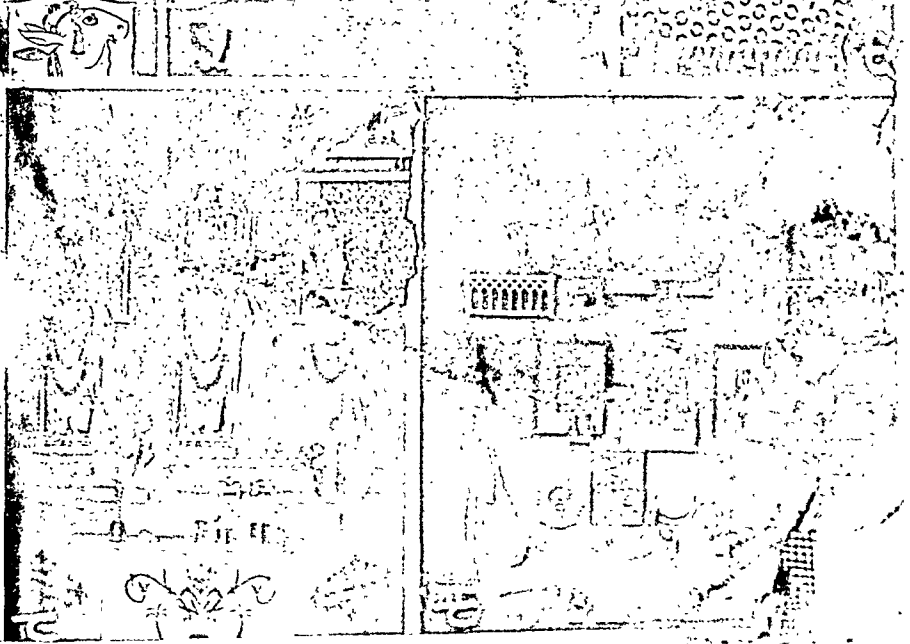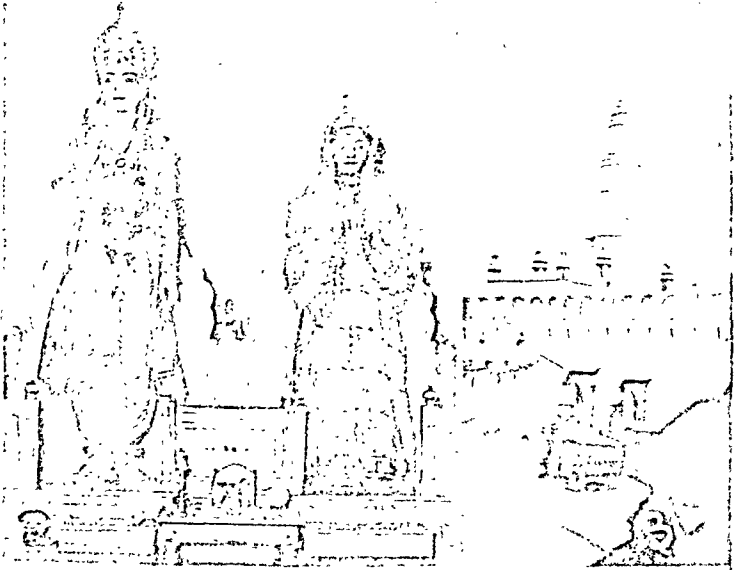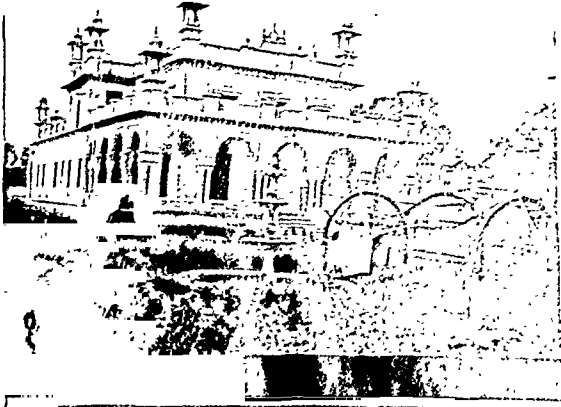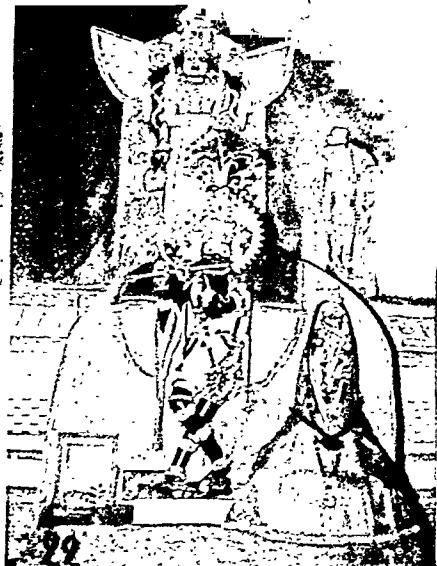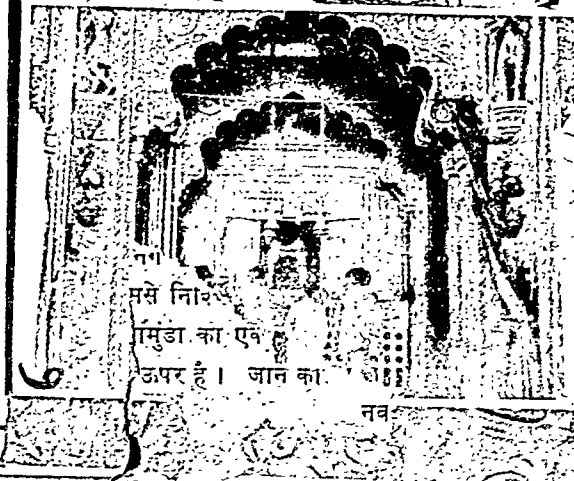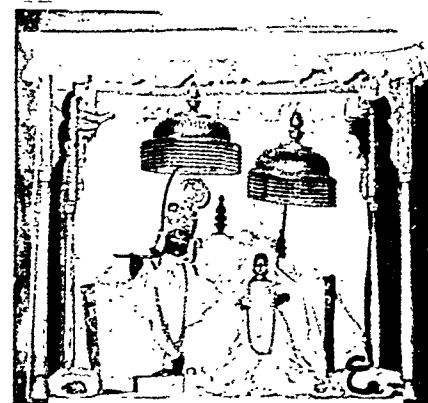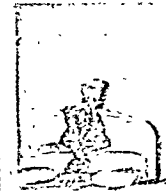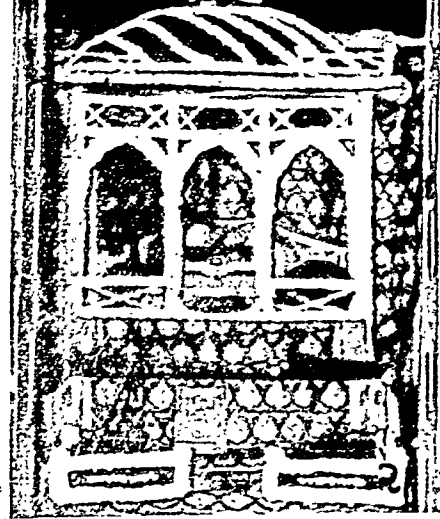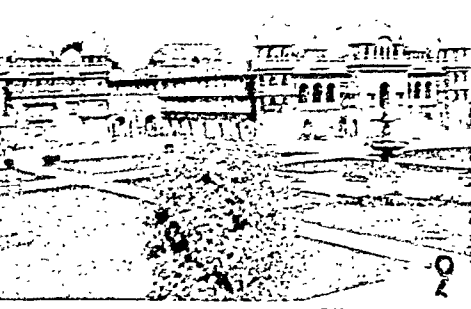
...बीकानेर में रत्नविहारी का मंदिर (बायें) व अन्य राजवंश द्वारा स्थापित कृष्ण-मंदिर। २. गोपालदासजी, बूंदी। ३. राजकीय ... शीतला का मंदिर, बीकानेर में भगवान कृष्ण (गोवर्द्धनधारी)। ४. गोविन्दविहारीजी, चूरू। ५. आनंद कृष्णविहारीजी, जयपुर। ... विहारीजी, जयपुर। ७ व ८. गोविन्ददेवजी का दर्शनीय सभा-मंडप, शेरवानी पहने खड़े हैं, राजस्थान सरकार के डायरेक्टर, ...भाग, श्री राजेन्द्रशंकर भट्ट ; जयपुर में विशाल लोक-प्रतिष्ठा के आराध्य-देव श्री गोविन्ददेवजी। ९. केशोराय पाटण का मंदिर ...पुर, बूंदी। १०. श्री व्रजनिधिजी, जयपुर। ११. जगतशिरोमणि मंदिर, जयपुर, में पुरानी प्रतिमा श्री विष्णु की ... प्रतिमा राधाकृष्ण की।
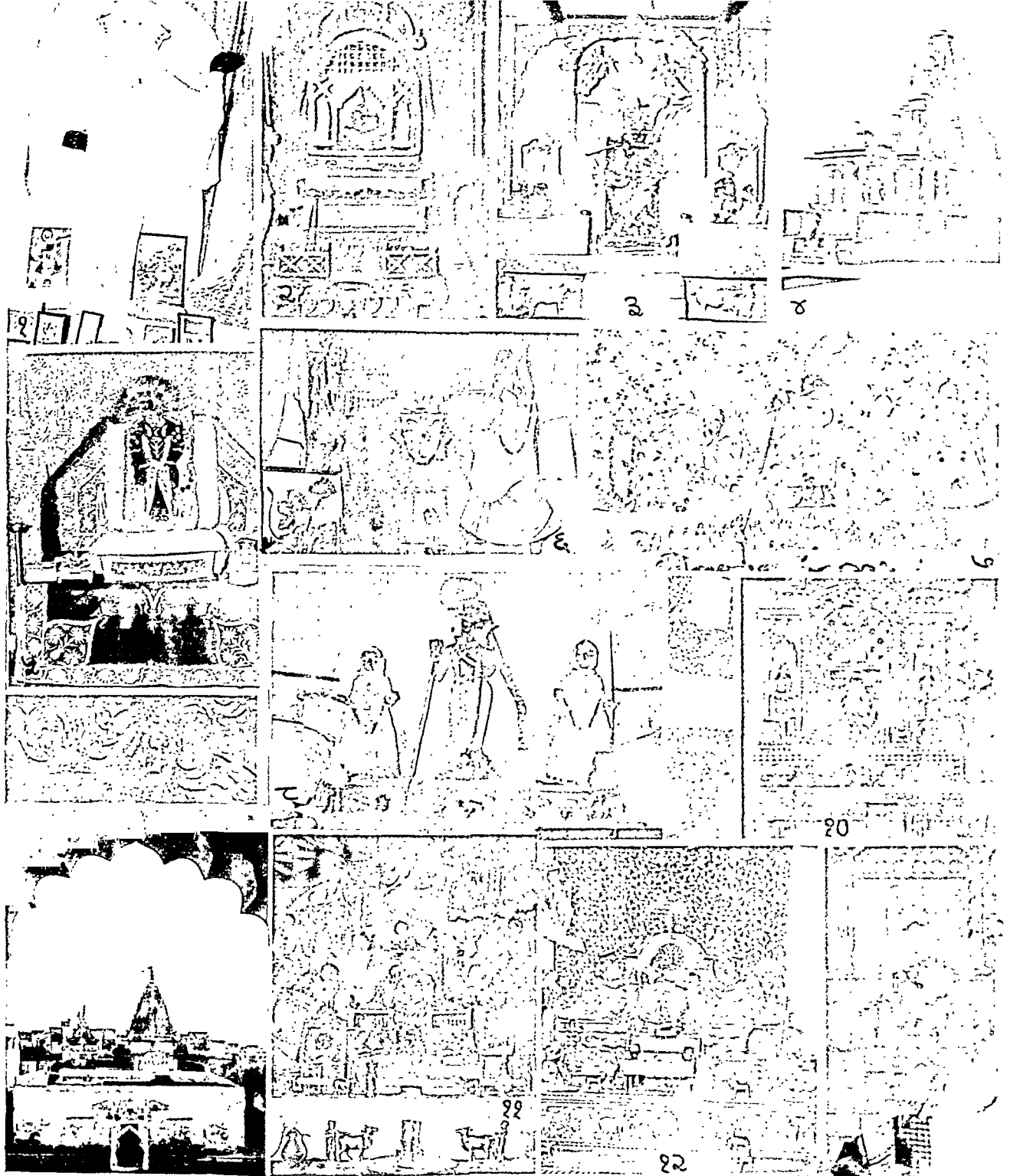
प्लेट-संख्या २७ : कृष्ण : यहाँ जोधपुर, झालावाड़, मंडपिया, नागौर आदि के विग्रह व मंदिर हैं। १. डूंगरपुर, तालाब पर स्थित ... प्रासाद, कोटा, मे श्री व्रजनाथजी। ३. जोधपुर, लोकख्यात श्री घनश्यामजी। ४. चित्तौड़ में मीरा-म... पाटण, यशस्वी श्री द्वारकानाथजी। ६. चित्तौड़ के मीरा-मंदिर के निजु-मंदिर का दृश्य। ७. प्रता... बीकानेर में सर्व-प्रख्यात् श्री रत्नविहारीजी। १०. उदयपुर मंडपिया ग्राम मे श्री सांवलियाजी। ... मंदिर। ११. उदयपुर के स्थल मे श्री द्वारकाधीशजी की शरदपूर्णिमा की झांकी। १२. बूंदी, श्री गोविन्ददेवजी। १३. झालावाड़-पाटण. प्राचीन सूर्य-मंदिर में स्थापित श्री पद्मनाभजी।
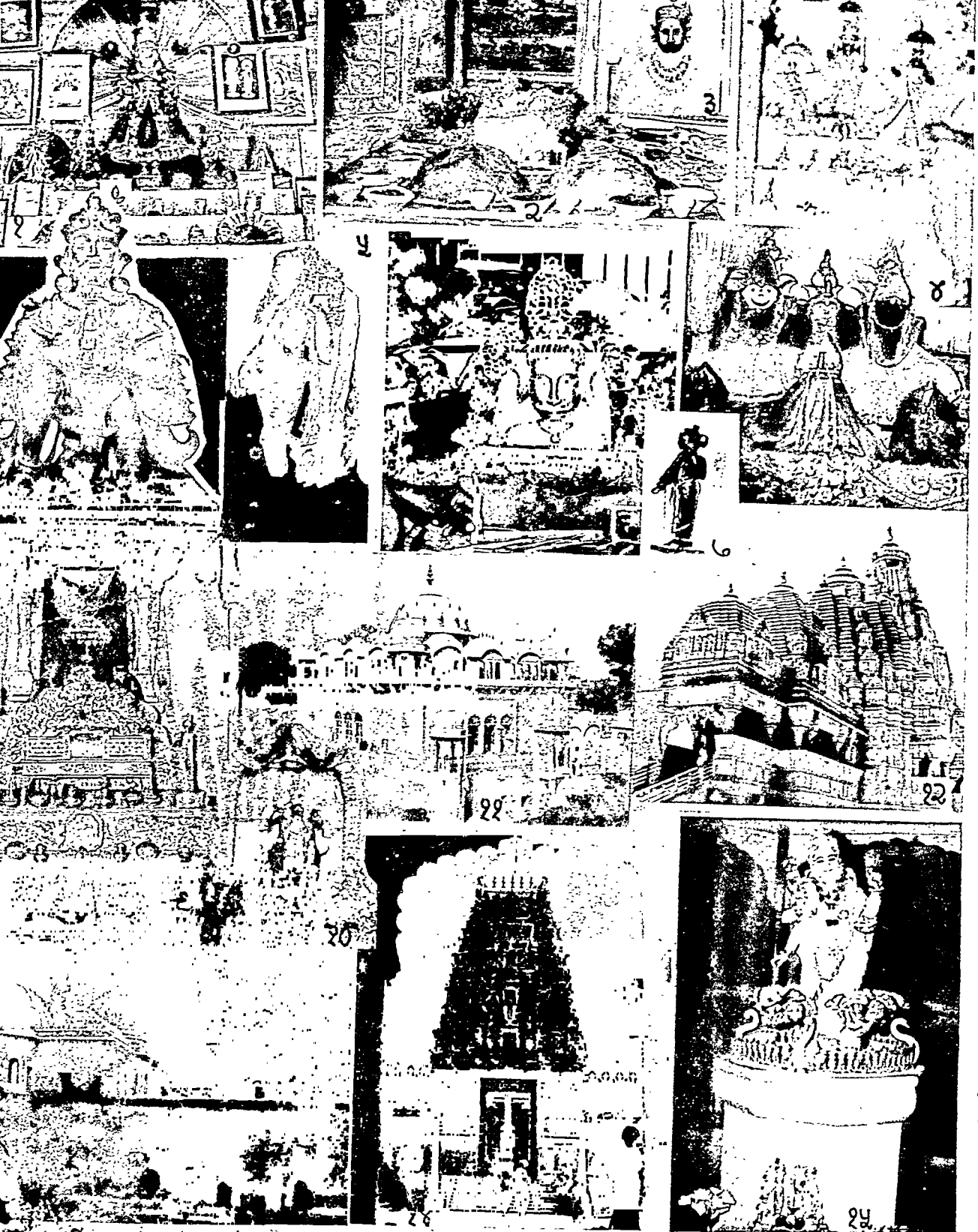
...द्वा देव : १. नवलगढ़ में परम दर्शनीय गंगा माई। २. उदयपुर में नृसिंहजी के आगे प्रस्तुत ५६ भोग। ३. भरतपुर में पुराने लक्ष्मणजी का अन्यतम विग्रह और महन्त श्री .... पूजाभाव में प्रस्तुत। ४. उदयपुर के जगदीश-मंदिर में गरुड़देव। ५. वीकानेर के तिवाड़ियों के मंदिर में, जगन्नाथपुरी में सेवित मूर्त्ति, महाराज रत्नसिंहजी के समय में स्थापित जगदीशजी। ७. पोकरण-फलोदी में रामदेवजी का देवरा। ८. आमेर-स्थित गज-लक्ष्मी की प्राचीन प्रतिमा। ९. बूंदी राजप्रासाद (गढ़) में राजकीय वंश के इष्टदेव श्री रंगनाथजी। १०. नवलगढ़ में श्री वदरीनाथजी। ११. फतहपुर-शेखावाटी में गनेड़ीवालों की ...चाल छत्री, जहाँ वदरीनाथजी स्थापित हैं। १२. पिलानी का नया सरस्वती-मंदिर। १३. अलवर में लाल वावा का डेरा। ... पुष्कर में रंगनाथजी का मंदिर। १५. नागरी भंडार, वीकानेर में, श्री सरस्वतीजी की पूजा-प्रतिमा।

पूर्व बंगाल में आमेर के शासक की एक स्थानीय विजय का स्मारक है, वरन् उस समय भी दुर्गा-पूजा के प्रदेश, बंगाल में काली की उपासना की व्यापकता और उससे भी अधिक राजस्थान व बंगाल जैसे दो सुदूर प्रान्तों के मध्य संभवतः पहली बार सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक सम्बन्धों की स्थापना का प्रतीक है।

"जयपुर की वंशावली में शिलादेवी के प्रसंग की यह दन्तकथा है—'उधर (प्रतापादित्य के राज्य के पास) केदार कायस्थ का राज्य था। वह राजा कहलाता था। उसके यहां शिला माता थी। उस माता के प्रताप से उसे कोई भी नहीं जीत सकता था! मानसिंह जी ने पूछा कि इसके किसका बल है तो (लोगों ने) अर्ज की कि इसके शिला माता का बल है। तब आपने माता के प्रसन्न होने के लिये हवन-पूजन कराये। माता प्रसन्न हुई। परन्तु केदार को माता ने यह वचन दे रखा था कि तू राजी होकर कह देगा कि 'तू जा', तब जाऊँगी। एक दिन राजा पूजन में बैठा था। उस समय देवीजी उसकी बेटी के समान एक बालिका का स्वरूप धारण करके पूजन में राजा के पास आ बैठी। बेटी को राजा ने कहा, 'तू जा, मुझे पूजन करने दे।' इस प्रकार तीन बेर कहा। तब देवी ने (प्रत्यक्ष होकर) कहा, मेरा वचन पूरा हुआ। राजा ने कहा, मुझे छल लिया, अब आपकी मर्जी हो सो ही कीजिये। राजा केदार ने शिला को समुद्र में प्रविष्ट करा दिया (जिससे कोई ले न सके)। तब देवी ने आकाशवाणी से राजा मानसिंह को कहा कि "मुझे समुद्र में डाल दिया है, वहां से निकाल लेना, मैं तुझ से प्रसन्न हुई हूँ।" जिस समय लड़ाई में राजा मानसिंह जी ने केदार पर दबाव डाला तो राजा केदार तो जहाज में बैठकर भाग गया और अपने दीवान को मानसिंह जी के पास भेजा। दीवान आकर मिला। राजा मानसिंह जी ने केदार की बेटी मांगी। उसने देनी स्वीकार की। केदार आकर मानसिंह जी से मिला और नजर की। मानसिंह जी ने केदार को उसका राज्य वापस दे दिया। पीछे समुद्र में से शिला माता को निकाल लिया। माताजी से मानसिंह जी ने विनय की कि आप आज्ञा दो, उसी तरह पूजन करूँ। तब माता ने कहा कि जब तक मेरे नित्य बलिदान होता रहेगा, तब तक तेरा राज्य बना रहेगा और मैं भी तेरी नगरी में रहा करूँगी। महाराज ने यह आज्ञा स्वीकार कर ली और माताजी को ले आये और बंगालियों को पूजन सौंप दिया।'[1]

"नित्यं छागबलि—प्रदान-निरता—शिलादेवी के लिये यह सम्बोधन एक विशेष स्तोत्र में किया गया है। इसके अनुसार आमेर में प्रतिष्ठा होने के दिन से ही नित्य बलिदान की व्यवस्था है और भोग-राग में रुधिर, मुण्ड सबका समावेश है। सेवा-पूजा का अधिकार राजा मानसिंह के समय से ही बंगाली ब्राह्मणों को सौंपा गया था। शिला देवी के पुजारियों का परिवार शायद राजस्थान में आकर बसने वाला पहला बंगाली परिवार था और इस मूर्त्ति का आमेर में स्थानान्तरण और कछवाहा वंश की कुलदेवी के रूप में पूजित होना राजस्थान के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण राज्य में सांस्कृतिक एवं धार्मिक उच्चता की छाप थी। शिलादेवी का सेवा-शृंगार दुर्गा-पूजा की बंगाली पद्धति पर ही होता है।"[2]

१ मौलवी जुकाउल्ला, पृष्ठ ३१२
२ फर्जन्दे दौलत मिर्जा राजा मानसिंह प्रथम" (पु० हरिनारायण) पृष्ठ ६४

५४. नृत्य-पूर्णिमा ५५. नृत्य-नेति ५६. नृत्यप्रिया ५७. [illegible]

५८. वेणी-शृंगार

५९. दर्पण-अवगाहन

६०. दर्प-दर्पण

६१. दर्पण-चक्षु

सरस्वती देवी के विश्व-व्यापी संदर्भ में राजस्थान की दो शारदा-पीठ

पावका नः सरस्वती, वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टुधियावसुः॥
चोदयित्री सूनृतानां, चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥
महो अर्णः सरस्वती, प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वविराजति॥

हे सरस्वती देवी, तू पवित्र करनेवाली है। तू शब्दों का भण्डार है। तेरा चिन्तन-मात्र सब धनों का द्वार है। तू हमारे यज्ञ (आराधन) को स्वीकार कर। हे सरस्वती देवी, तू सच्ची वाणियों को प्रेरणा करनेवाली है। तू सु-मतियों को सुझानेवाली है। तू (सब) यज्ञों को धारण करनेवाली है। हे सरस्वती देवी, तेरे इशारे से महान् शब्द पैदा हो रहा है। तुम सब सकल स्तोत्रों को प्रकाशमान बनाती हुई, स्वयं ही उनके अन्दर चमक रही हो।

(ऋग्वेद, १: १: १०, ११, १२)

[१०]

पंडित राहुल सांकृत्यायन जी तब दिल्ली से कलकत्ता होते हुए चीन जा रहे थे। दिल्ली स्टेशन पर वे उसी ट्रेन में सवार थे, जिससे मैं कलकत्ता आ रहा था। कठोर ग्रीष्म, पानी जितना पीयो, उतनी ही प्यास। ससुराल से ही अपनी सुराही ले आया था। स्टेशन पर मैंने बरफ और खरीद ली कि जब तक मार्ग की ठंडी हवा भरपूर डिब्बे में न आने लगे, तब तक बरफ की शीतलता से दिल को राहत देने का क्रम जारी रखा जाये। कि गाड़ी ने सीटी दी। उसी समय राहुल जी खिड़की पर आकर सुराही खरीदने के लिए आवाज देने लगे। और उनकी आवाज कोई सुने, कि गाड़ी चल दी। मैंने कहा कि यह सुराही मेरे पास है। उन्होंने एक दृष्टि मुझे देखा, मेरी दाढ़ी देखी और फिर शान्त होकर सामने देखने लगे। मुझ से न रहा गया, मैंने विनोद कर दिया, कहा, "अगर मुसलमानी सुराही से परहेज न हो, तो कुछ बरफ मिलाकर पानी का गिलास सेवा में हाजिर करूँ।" वे गरमी से अत्यधिक पीड़ित थे। विनोद का उत्तर बहुत शान्ति से दिया कि ठीक है, एक गिलास दीजिए। बरफ डालकर मैंने एक गिलास पानी बढ़ा दिया। उन्हें कुछ राहत पहुँची। बातों का सिलसिला शुरू हो गया। कलकत्ता तक चलता रहा। यहाँ भी सात दिन साथ रहे और उन्हें हवाई अड्डे पर पहुँचा कर ही उनकी सत्संगति का आनन्द-लाभ पूर्ण हुआ। जाने से पूर्व वे चार-पाँच घण्टे के लिए 'माघोभवन' भी पधारे, मेरे निवास पर।

स्वर्गीय राहुल जी सब कुछ थे, पर एक विराट तथ्य को लेकर

वे सबसे बढ़ कर थे। उनका कहना था कि सत्य एक नहीं है। हम कहते हैं कि सत्य अन्तिम नहीं है, उसका अर्थ यह है कि सत्य सर्वाङ्ग भूमण्डल पर भूगोल के रूप में व्याप्त है। मानव-जाति जिस तरह इस धराधाम पर चारों दिशाओं में व्याप्त है, उसी तरह उसके सत्य भी। उसके देवी-देवता भी। किसी एक देश का मनुष्य ही अन्तिम सत्य नहीं है, अन्य देशों के मनुष्य भी सत्यांश अवश्य हैं। इसी तरह देवी-देवता हैं, सभी देशों में पृथ्वी-वासियों ने देवताओं की परिकल्पना की है, वे अपने-अपने अञ्चल में अन्तिम सत्य नहीं हैं, अन्य देशों में उनके अपने समकक्ष देवताओं को मिलाकर ही वह सत्य पूर्ण हो सकता है। यह बात और है कि किसी एक पृथ्वी-खण्ड पर वह सत्य किसी अर्द्धांश रूप में प्रकट हुआ, कहीं पर कुछ और भी विलम्ब से उसकी मात्र झंकृति ही सुनाई पड़ी। बस, इतना याद रखो कि सत्य प्रखर चेतना का है, देवी-देवता उसी चेतना के दृश्य कल्पना-लोक हैं!

उनकी इस तरह की विचारधारा से और अधिक आश्वस्त होने के लिए मैंने सरस्वती का उदाहरण सामने रखा। मैंने कहा कि यह देवी इस बात की साक्षी है कि हमारे देश में वाणी का उद्बोधन बहुत पहिले हुआ और माता का दूध जितना मीठा न रहा होगा, उससे अधिक मिठास, प्रबुद्ध ज्ञान से, हमारे देशवासियों को विश्व के अन्य देशों से पहले लगी होगी। उन्होंने कुछ विचार किया, कुछ स्मरण किया, फिर बोले, "सरस्वती अन्तिम सत्य नहीं है। आपको पहले दुनिया भर की मेधा-देवियों का अध्ययन करना होगा, उनकी परम्परायें और उनके अधीत विषयों को एक सीधी रेखा में रखना होगा, तभी हम सरस्वती की वैज्ञानिक परिणति शोभनीय रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। मेरे कहने का ठीक अर्थ समझ लो। सरस्वती मान लो, हमारे देश की धरती में पैदा हुई लता-वल्लरी है, इसी कोटि के रूप-रस-गन्ध-की अन्य लता-वल्लरियों को, जो अन्य देशों में हुईं, उनके रूप-रस-गन्ध को अपने संचयकोष में भर लेना चाहिए, तभी हम सरस्वती देवी का सर्वोच्च आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। अखिल विश्व के प्रति हमारी सम्वेदना तभी अखण्ड रूप से सत्य रह सकती है। संकीर्ण देशीयता में बैठ कर हम सरस्वती को भी संकीर्ण बनाने की धृष्टता करते रहेंगे।"

राहुल जी का यह आग्रह मैंने अंगीकार कर लिया। वे चीन चले गए, वहाँ से बीमारी की हालत में लौटे, फिर लंका चले गए, श्री किशोरी दास वाजपेयी अभिनन्दन के अवसर पर कलकत्ता आए, उनसे असाध्य रूप में रुग्ण होने के ठीक एक दिन पहले पुनः साक्षात्कार हुआ, बड़ी देर तक बातें हुईं, नैनीताल आने का निमंत्रण प्राप्त हुआ, पर दूसरे दिन वे ऐसे बीमार हुए कि फिर न सुधरे। उनका नाशवान शरीर क्षय को प्राप्त हो गया। पर सरस्वती के वे महान पुत्र मुझे जो आग्रह दे गये थे, बीच-बीच में उसे पूरा करने में लगा रहा। इस वसंतोत्सव[1] पर सरस्वती के विराट स्वरूप की परिकल्पना को अखिल विश्व के रंगमंच पर आसीन, दिव्य सुपुष्पियों के रूप में, दर्शन करने का सौभाग्य मिला है। यह महती कृपा स्वर्गीय राहुल जी की है और इसीलिए यह सारी सामग्री मैं उनके प्रति अपनी अन्तिम श्रद्धांजलि रूप में प्रस्तुत करता हूँ।

[1] सन् १९६४।

सरस्वती के माध्यम से अखिल विश्व की अंतरात्मा का मनःरञ्जनकारी प्रतिदर्शन

सरस्वती वेदकाल में थीं। उनका नाम विभिन्न रूपों में पूज्यनीय बन चुका था। किन्तु यदि हम और पश्चिम में चलें और फारस, मिश्र, स्वीडन, नारवे, आयरलैंड आदि ऐसे देशों की प्राचीन धर्म-कथाओं का अध्ययन करें, जहां पर मनुष्य जाति का आदि स्वर दिव्य भाव को प्राप्त हो चुका था, तो यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि मेधा, बुद्धि, ज्ञान-पुष्टि, चेतना, स्मृति-शक्ति और अभिधा-दीप्ति के धाराप्रवाहिक विकास को इन सभी देशों में एक देवी-विशेष की महती अनुकम्पा समझा गया है। समस्त विश्व में धर्म का पुण्याभरण इसी रूप में शोभित हुआ है कि पृथ्वी पर मनुष्य असहाय और म्रियमाण है और अद्वितीय अदृश्य शक्तियां ही उसे सार्वभौम बनाती हैं। केवल देवता की कल्पना ही सार्थक न हुई, देवियों की परिकल्पना भी उतने ही साहस के साथ की गयी। उनमें पत्नीभाव, सखि-भाव, मातृत्व-भाव आदि [illegible] आरोपित किये गये। जब ग्रीस और रोम में नये धर्म का आविर्भाव हुआ, तो उन्होंने अपने देवी-देवता प्रस्तुत किये, उनकी धर्म-कथायें प्रमुख बनने लगीं; पुराने देवी-देवता अपने-अपने [illegible] में इन नये देवी-देवताओं के स्मरणीय [illegible] में समाविष्ट हो गये। और जब ईसाई धर्म का प्रचार बहुत देशों में [illegible] लगा, तो केवल उत्तर दिशा में ही मेधा का ज्ञान-प्रकाश इतने भी [illegible] तीव्र था, ईसाधर्म की अनिवार्य आवश्यकता वहां [illegible] न हो सकी। ईसाई धर्म ने अवश्य प्राचीन देवी-देवताओं को प्रायः सभी देशों के क्षितिजों से विस्मृत करने में एक प्रचण्ड सूर्य की तरह से कार्य किया, लेकिन यह विषय यहां पर विचारणीय नहीं है। स्थिर वस्तुस्थिति यह है कि ईसाई धर्म से पहले, प्राचीन जातियां अन्य देवी-देवताओं के साथ सरस्वती-रूप ज्ञान-अधिष्ठात्री का स्तवन किया करती थीं, उसकी आराधना से अपने बुद्धि-रूप में घनीभूत विश्वास रखते हुए, वाक्शक्ति में प्रबल बनने की निष्ठा से प्रवृत्त रहती थीं। भूगोल केवल यह नहीं है कि भू अर्थात् पृथ्वी गोल है। भूगोल प्रकृति और ऋतु-जनित नदी-पहाड़ व वनस्पति के साथ-साथ उस खुले हुए व्योम को भी प्रस्तुत करता है, जिसके नीचे सारे मानव-समाज ने अपने निकटवर्ती भूगोल [illegible] से भिन्न जीवनोपायों को खोज निकालने की [illegible]। यह बात कुछ ऐसी तरह की है कि जैसे [illegible] किया, रोमनों ने नेक्टर का पान किया [illegible]

गौरव-गान किया, चीनियों ने पीत-नदी का अजेय-गान गाने में असीम हर्ष-ध्वनि की ! और, भारत ने हिमालय की विरुदावलि कंठस्थ की, जापानियों ने अपने ज्वालामुखी के देवताओं का भजन-पूजन प्रमुख रखा ।

यदि हम कक्षाओं में रखे हुए पृथ्वी के भौगोलिक गोले को अपने सामने रख कर बैठ जायें, और ध्यान से घुमाते हुए बायें से दायें देखें तो सर्वप्रथम अफ्रीका महाद्वीप, फिर यूरोप और ऐशिया महाद्वीप व जापान, प्रशान्त महासागरीय द्वीप और उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका-द्वय सामने आयेंगे । उत्तर के यूरोपीय महादेशों को पहले ग्रीस व रोमन साम्राज्यवादी शक्तियों ने अभिभूत रखा, उससे पहले मिश्र की सभ्यता का सूर्य-प्रताप आच्छादित था । किन्तु ईसाई धर्म ने जो भी प्राचीन था, उसे अपने प्रखर प्रभाव से तिरोहित कर दिया । मध्यपूर्व की कहानी आर्य-शाखाओं की गौरव-गाथा बनी रही । चीन, कोरिया, जापान और सुदूर पूर्व के देशों को बौद्धधर्म ने अपने रंग से रंगने का चमत्कार पैदा किया । भारतीय संस्कृति की आजानु बाहुएँ इधर मध्यपूर्व में और उत्तरी युरोप तक और इधर जावा-सुमात्रा तक अपना वरदानीय संस्पर्श पहुँचाती रहीं । अफ्रीका महाद्वीप की संस्कृति अपने संपुट में रक्षित रही, अमेरिका-द्वय का एकान्त-भाव तो कल तक बन्द द्वारों में रहा । जब वे द्वार खुले तो यूरोप की मध्ययुगीय सभ्यता का बोलबाला ही वहाँ एक नये बाने को धारण करता हुआ विहँसने लगा था । यह विश्व का और उसके धर्म की विविधताओं का स्थूल भूगोल हुआ ।

लेकिन देवी-देवताओं की दृष्टि से सरस्वती देवी का आविर्भाव इङ्गलैंड-हालैंड में कुछ अपने ढङ्ग का है, स्लैव जातियों के अञ्चल रूस आदि देशों में अपने ढङ्ग का है और जापान आदि में अपने ढङ्ग का है । इनसे ठीक विपरीत तो नहीं, लेकिन और भी ऐश्वर्य से युक्त अवतरण ग्रीस व रोम साम्राज्य में दो रूपों में हुआ । अवेस्ता जहाँ की और जिन की धर्म-पुस्तक है, वहाँ भी कुछ उसी तरह से हुआ, जिस तरह भारत में उस की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है । तिब्बत में बौद्धधर्म की तारा और मंजुश्री कुछ और प्रचण्ड बन जाती हैं । चीन में पहुँचते-पहुँचते और सुदूर पूर्वीय देशों तक अपनी यात्रा पूर्ण करते हुए सरस्वती का अनोखा नाम-परिवर्तन तक हो चुका है । अफ्रीका की कहानी तो बिल्कुल ही दूसरी है । यदि हम इन समस्त नामरूप भिन्नता लिए हुए सरस्वतियों को एक स्थान पर, एक पंक्ति में समासीन कर दें तो यह आनन्दानुभूति होती है कि जैसे समस्त विश्व के ज्ञान-सूर्यों की रश्मियों के मिश्रण से एक चित्र-विचित्र अद्भुत ज्योत्स्ना-पुञ्ज सस्वर खिलखिला रहा है और उसके बीच में हमारी सरस्वती भगवती इन्द्रधनुषी रङ्गों का परिधान पहने हुए और भी अलौकिक हो गई है ।

शायद ऐसी ही विराट सरस्वती के दर्शन करने से अथर्ववेद का ऋषि धन्य-धन्य हुआ होगा । हम केवल भारत की सरस्वती का स्मरण करें और मिनर्वा व ऐथीन का स्मरण न करें, यह तो मूर्खता है । इसी मूर्खता को स्वीकार करता हुआ, अथर्ववेद का ऋषि कह उठा था—

यदाशसा वदतो मे विचुक्ष मे, यद्याचमानस्य चरतो जना अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्ट, सरस्वती तदा पृणाद् घृतेन ।।

(अ० ७ : ५७ : १)

—हे सरस्वती माता, मैं मूर्खतावश तेरे (विराट स्वरुप की) उपेक्षा करता हुआ, इधर-उधर लोगों के सामने हाथ फैलाता रहा हूँ । मैंने अनेक प्रकार से घबराहट और मानहानि द्वारा अपना आप खोया है । तू अब स्नेह से मुझे फिर पूर्ण बना दे ।

आइए, हम पहले विश्व-सरस्वती के दर्शन करें, फिर अपने को पूर्ण बनाने के लिए विनम्र भाव से विनीत होकर बैठ जायें ।

टयूटेनिक लोगों की मेधा देवी ईडुन्न व सागा

५ वीं सदी के बाद जर्मनी, स्विटजर्लैंड, आस्ट्रिया, डच, स्वीडन, नारवे और आइसलैंड में जो फिरका बहुत बड़े वेग से फैलने लगा था, वह टयूटेनिक लोगों का था । यों भी कहा जाता है कि ये लोग ७००-८०० वर्ष पहले उत्तरी यूरोप से नीचे के मैदान में पहुँचे थे । बाद में तो इन पर अन्य देशों की रीति-रिवाजों का और वहाँ की जातियों में मिश्रण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि इनका मूल रूप पहचान में भेद-कारक न रह गया, लेकिन आइसलैंड में अवश्य इनके प्राचीनतम संस्कार अनेक रूपों में बने रहे । आइसलैंड में ड्रेडाज नामक जाति के लोगों के जो विश्वास हैं, उनसे इस प्राचीन फिरके का अता-पता चलता है । ऐड्डा नाम से एक पुस्तक भी मिलती है, जिसमें इस जन का धार्मिक समुत्थान अभिव्यक्त हुआ है । यह स्नोर्रीस्टर्ल्यूसन नामक एक ऐसे कवि द्वारा लिखित है, जिसका सामाजिक जीवन आइसलैंड में बीता था और वह वहाँ का प्रधान जातीय कवि था । आइसलैंड में औड्डी एक ऐसा स्थान था, जहाँ पर बुद्धिमान और प्रज्ञावान और प्रबुद्ध व्यक्ति रहा करते थे, यों भी कहा जा सकता है कि वह विद्या-निवास था और यह कवि भी इसी स्थान पर रहता था ।

यहाँ के धार्मिक ग्रन्थों में जो प्राचीन देवी-देवताओं के नाम प्राप्य हैं, उनमें इङ्गलिङ्ग (ईश-लिंग ?) नाम भारतियों को चौंकाने के लिए काफी है । ऐड्डा नामक काव्य में, जो एक तरह से रामायण के तुल्य धर्मकथा है, प्रथम भाग इंगलिंगसागा (ईश-लिंग सर्ग ?) है, जिसे इङ्गलिश-ताल (लय और ताल ?) नामक लोक-काव्य पर निर्भर किया गया है । इससे पता चलता है कि इन टयूटेनिक लोगों के कौन-कौन से देवी-देवता थे और किस तरह इन दैवी विभूतियों ने नारवे के राजाओं को अपना शासन-सूत्र सौंप दिया था । इसी सूचि में शिव के तीन रूप —सत्यं शिवं और सुन्दरम् की हल्की-सी

झांकी भी मिल जाती है। इस पुस्तक का विस्तार से वर्णन दि माइथोलोजीज आफ आल रेसेज, वोल्यूम द्वितीय के 'ऐडिक' नामक खंड में मिलता है। यह ग्रंथ लगभग १२ भागों में विस्तार से बंटा हुआ है।

इस ग्रन्थ से पता चलता है कि टयूटैनिक लोगों के यहां सरस्वती का रूप भी विद्यमान था। लेकिन निश्चित रूप से पता चलाने के लिए हमें दो देवियों का स्मरण करना पड़ेगा। एक देवी का नाम था ईडुन्न अथवा ईदुन्न। नारवे और आइसलैंड में स्त्रियां अपना यह नाम बहुत चाव से रखती हैं। यह ब्रेगी नामक ऐतिहासिक पुरुष की पत्नी थी और ब्रुन्नाक्र्स नामक जल-प्रवाह के तट पर निवास करती थी। यह अमरता की देवी मानी जाती थी। यहाँ के लोगों का विश्वास है कि जिस परिवार में उत्तम गवैये होते हैं, यह देवी उन गवैये के बूढ़े पिताओं को आजीवन युवा बना कर रखती है, वृद्ध नहीं होने देती। कवियों ने इसे बारहमासा कहलानेवाले *काव्य-पुष्प की देवी कह कर इसे समादृत किया है।* यह काव्य के प्रहर्षण की प्रतीक देवी है। एक पश्चिमी विद्वान गेरिंग का कहना है कि यह गीतों की अमरता की देवी है। आदम और ईव के मूल कथानक में सेब जिसके संरक्षण में रखे गये थे, यहां पर यह मान्यता रही है कि इसी देवी ने अपने संरक्षण में सेब रखे थे। इस तरह स्थूल रूप से यह काव्य और संगीत की अधिष्ठात्री देवी पूजित हुई।

सागा एक दूसरी देवी का नाम है। सागा (सर्ग ?) ऐसी दिव्य देवी है, जो सब कुछ देखती है, अन्तर्यामी है, जानती है—अर्थात् हमारे मनोभावों की साम्राज्ञी है। उसका निवास जलीय लोक में है, जिस तरह सरस्वती देवी गंगा के अभिशाप से सरस्वती नदी रूप में प्रवाहित रहती हुई भी विष्णु के पत्नी-भाव को प्राप्त रही थीं। लोक-विश्वास है कि यह देवी प्रतिदिन अपने स्वर्ण-कलशों से हर्ष-विह्वल होकर अमृत का पान किया करती है। यह अमृत आखिर क्या है ? जन-जन का कहना है कि वह वास्तव में प्रज्ञा और मनीषा का पान किया करती है। किन्तु वास्तविक रूप यह है कि यह प्रज्ञा और मनीषा तथा बुद्धि की अधिस्वामिनी देवी है। कवि और साहित्यकार इसका ध्यान करते हैं।

गैल्ली जाति के लोगों की सरस्वती : सूल देवी

कहा जाता है कि ये लोग रोमन साम्राज्य से पहले स्पेन से आयरलैंड में पहुँचे थे। सीजर ने जब अपना आधिपत्य ब्रिटेन पर कर लिया था, उस समय ये लोग ही इस देश के मूल निवासियों के रूप में बसे हुए थे। सीजर ने इनके धार्मिक रीति-रिवाजों की प्रचुर चर्चा की है और लिखा है कि ये लोग रोमन देवता मर्करी आदि के समकक्ष देवताओं की ही पूजा करते हैं। इनसे पता चलता है कि रोमन देवताओं का आधार जिन प्राचीनतम मान्यताओं पर आश्रित रहा है, वे ही इन लोगों में निमज्जित हो चुकी थीं। मर्करी ऐसा देवता है, जो कला और शिल्प-विज्ञान का प्रधानतम् प्रभु है। पर सत्य यह था कि इन जाति के अपने मर्करी आदि देवता थे और उनके अपने नाम थे। इनके अपने देवता का नाम ओगमियस था, जो वाणी और काव्य का अधिदेवता था। किन्तु सरस्वती का रूप भी विद्यमान था, उसका नाम था सूल। तीसरी सदी के लेखक सोलीनस ने इस देवी का परिचय दिया है। यह रोम की मिनर्वा के समकक्ष कही गयी है। जिस तरह सरस्वती नदी रूप में प्राणवान रही है, उसी तरह यह देवी उष्ण जल-स्रोतों की अधिस्वामिनी भी मानी गयी है। वहाँ पर साहित्यकारों की यह पूज्यनीया देवी भी रही थी। जब रोमनों ने इन पर पूर्ण आधिपत्य कर लिया तो काल-प्रवाह में आधीन बने हुए इन पर रोमन धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा और इनके देवी-देवता रोमन देवी-देवताओं में घुल-मिल गये, परस्पर में नाम-भेद भी अधिक न रह गया।

सैमिटिक लोगों का धर्म और उनकी विद्यादेवी

ईसा से ४,००० वर्ष पूर्व जिस जाति के लोगों ने महान नगरों की रचना कर ली थी और जो बेबीलोनिया व असीरिया की प्रचलित भाषा सैमिटिक बोलते थे, उनका दूसरा नाम अकेडियन भी है। सेमाइट्स से पहले अकेडियन लोग रहते थे। जिस समय भारत में पौराणिक सभ्यता का प्रादुर्भाव विकसित हो रहा था, उस समय सुमेरियन लोगों ने अपने अञ्चलों में चित्र-लिपि का आविष्कार कर लिया था। उनका अपना साहित्य प्रचुर प्रमाण में पनपने लगा था। इन लोगों की सभ्यता का प्रभाव पश्चिमी एशिया में काफी फैल चुका था। पुरातन कैसानिटिज, पर्शीयन, फोनिशियन, मास्रोवाइट और बाबाटियन सभ्यताओं के दौर इन्हीं सभ्यताओं में जीवित रह चुके थे, इनके कुछ पर्व-त्यौहार अंश इस सैमिटिक सभ्यता के दौर में अपना रंग जमाकर रखते रहे।

सैमिटिक सभ्यता की कहानी बहुत विस्तृत है, इस पर विशाल ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। इसके देवी-देवताओं की संख्या भी हिन्दू देवी-देवताओं से कम नहीं है। ये सूर्योपासक थे और मातृ प्रकृति की पूजा करते थे। यद्यपि जापान की तरह अरब में भी सूर्य कोई देवता न होकर एक देवी है, लेकिन अरबी सभ्यता पर अपना प्रभाव हावी रखनेवाली सैमिटिक सभ्यता ने अन्य प्रभावों में आकर बहुत प्रकार के दुखद परिवर्तन देखे, इसके देवी-देवताओं के नाम भी परिवर्तित होते रहे और उनके शक्ति का चमत्कार भी अपने अध्याय बदलता रहा। रोमन व ग्रीक सभ्यता का जब मिश्रण इस दिशा में हुआ, तब पुराना चोला अवश्य बदल गया, लेकिन पुराने देवी-देवताओं का नाम हठात् लुप्त न हो सका।

एक बात ध्यान रखनी चाहिए कि देवी-देवताओं की परिकल्पना किसी जाति-विशेष की जीवन-प्रणाली से प्रभावित हुआ करती है। आर्यों को भारत में शान्ति का सह-अस्तित्व मिला, इसलिए उनके देवी-देवताओं का आधार शालीन रहा है। सैमिटिक जाति-

निरन्तर अस्तित्व के संघर्षों से जूझना पड़ा, इसलिए इनके देव व देवी भी उतने ही युद्ध-प्रिय हैं। लेकिन सभ्यता की समृद्धि अवश्य ही बहुत अधिक रही है; इसीलिए देवी-देवताओं की संख्या भी बढ़ती रही है। बेबीलोन 'देवताओं के अधिपति का नगर' माना जाता था। जिन दिनों सुमेरियन देवी-देवताओं का आधिपत्य था, उस समय अन्न की देवी निदाबा ही साहित्य की देवी मानी जाती थी। हमारे यहाँ गणेश, ब्रह्मा आदि ज्ञान और ऋद्धि-सिद्धि के देवता हैं, उसी तरह उस धर्म में नाबू साहित्य-सृजन का देवता कहा गया है। इसका मंदिर विशेष रूप से बरसिप्पा में था, जहाँ पर राजनीतिक केन्द्र था। फारस की खाड़ी के पूर्वी तट पर दिलमुन में, यह प्रसिद्ध था, वहाँ बहिश्त की स्थापना की जा चुकी है, इस विश्वास के साथ वहीं पर इस देवता के मन्दिर थे। इसकी पत्नी ताशमेता श्रवण व दया की देवी मानी गयी है। पर सेमिटिक जाति में देवताओं पर अगाध श्रद्धा अधिक रही, इसलिए नाबू का नाम अधिक रहा, अन्यथा निदाबा ही इस प्रदेश की सरस्वती रही! नाबू का एक रूप देवताओं का सन्देशवाहक भी रहा, जैसा कि कुछ हमारे शास्त्रों में नारद ऋषि का रहा है।

ग्रीक धर्म की सरस्वती : एथेना

एथेन्स की सभ्यता का आविर्भाव ईसा से १००० वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। इस धर्म में सब से बड़ा देवता जीयूस रहा है। कहा जाता है कि इसकी पत्नी मेटिस जब गर्भवती हुई, तो इसी सन्देह से दुखी होकर उसने अपनी इस गर्भवती पत्नी का भक्षण कर लिया। हर्मीज ने तुरन्त मृत पत्नी के सिर की कपाल-क्रिया की और तत्काल वहाँ पर पूर्ण शस्त्रों से सज्जित एक नई देवी का आविर्भाव हो गया—जिसका नाम एथेना रखा गया। मूलतः यह ग्रीक सभ्यता-पूर्व की सिद्धि देवी है, लेकिन जिस तरह आर्यों ने लक्ष्मी आदि द्राविड़ देवियों को अपने यहाँ प्रधानता दी और अपने देवताओं से उन का विवाह आदि कराकर अपने प्रेम-पुरातन संस्कारों में उन्हें सम्माननीय बना लिया, कुछ उसी तरह एथेन्स की नींव डालनेवालों ने भी यही किया और इस देवी के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा इस तरह घनीभूत हुई कि उन्होंने अपने सबसे प्रधान बसाये हुए नगर का नाम भी एथेंस रखा! यद्यपि यह एथेंस की ही प्रतिष्ठित देवी थी, लेकिन इसका सम्प्रदाय अन्य स्थानों में, जैसे स्पार्टा आदि में चलता था। जिन क्षणों में रोमन साम्राज्य प्रभावशाली बनने लगा, तो जहाँ उन्होंने अन्य ग्रीक मान्यताओं को ग्रहण किया, वहीं पर उन्होंने इस एथेना की सर्वपूज्यता को स्वीकार करते हुए अपनी मिनर्वा को भी उतनी ही प्रधान देवी कहना शुरू कर दिया। एथेना की पूजन-महत्ता में अग्नि का संस्कार उपस्थित नहीं होता था, निर्धूम अथवा बिना अग्नि के ही पूजा हुआ करती थी। यह कुमारी थी। यह कुमारी देवी है, फिर भी एरिकथोनियस की माता मानी जाती है। कहते हैं कि एथेना ने अन्य वाद्य-यंत्रों के अतिरिक्त प्रधान रूप से बाँसुरी का आविष्कार किया। एथेना सदा ही क्योंकि पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित रहती है, इसलिए एथेंसवासी इसका आह्वान युद्ध में विजय के लिए भी किया करते थे। इसके कंधे पर ढाल रहती है। एथेंस में इसका ही प्रधान मंदिर था।

इटली की पूजनीया रोमन देवी : मिनर्वा

ईसा से १५०० वर्ष पहले इस प्रदेश में टेरामारा सभ्यता प्रचलित थी। ईसा पूर्व ६५० वर्ष के आसपास यहाँ पर एट्रस्कन सभ्यता का विकास होने लगा था। इसी समय रोम की स्थापना 'चतुर्दिक दिव्यता की नगरी' नाम से रोमुलस सम्राट के हाथों हुई। यह घटना ईसा पूर्व ७५३ वर्ष की है। यहाँ की सभ्यता, जाति और भाषा पूर्णतया लैटिन ही रही। बलि की मान्यता थी इन लोगों में और देवताओं के जीवन को हर तरह से शान्तिमय रखना सभी रोमनों का प्रधान धर्म था।

रोमन लोगों के मंदिरों में जुपिटर, ययूनो और मिनर्वा इस तरह इन देवी-देवों की प्रधान मान्यता थी। मिनिर्वा जुपिटर की पुत्री थी। यह भी कुंवारी देवी है। इसके आगे ऐसे बछड़ों की बलि दी जाती थी, जो बाल्यावस्था के होते थे। यह व्यापार को फलप्रद करनेवाली और कलाओं का संरक्षण करनेवाली देवी है। संख्याओं का आविष्कार इसी देवी ने किया था, यह रोमनों का विश्वास था। स्त्रियों पर यह कृपालु रहती थी। उन्हें सीना, बुनना, कातना आदि घरेलू धन्धों को अपनी कृपा से सिखाने का भार लिया करती थी। जब रोमन युद्ध में जाते थे, तो इसका आह्वान करते थे। यह बताती थी कि युद्ध में किस तरह विजयी होना है। युद्ध की लूट का एक अंश इस देवी के आगे चढ़ाना अनिवार्य था। जिस तरह सरस्वती का पर्व बसन्त पंचमी के दिन पाँच दिवसों तक मनाया जाता है, कुछ उसी तरह इस मिनर्वा का उत्सव भी बसन्त के आसपास पाँच दिनों तक १९ से २३ मार्च तक मनाया जाता है। रोमनों का जब साम्राज्य था, तब इसी दिन स्कूल के विद्यार्थी अपनी वार्षिक फीस लाया करते थे। रोम में इसका बहुत विराट मंदिर था।[1]

यह एक बात ध्यान में रखने की है कि इन दोनों ऐथेना और मिनर्वा देवियों पर मध्य एशिया और भारतीय धर्म - कथाओं की स्पष्ट छाप है। क्रीट की मिनोग्रान - माईसिनियन देवी की झलक भी इनकी पूजा-पद्धति में मिलती है। होमर की कविताओं में ग्रीक ऐथेना का गुणगान इतना अधिक है कि विश्वास होने लगता है कि इस देवी का प्रभाव प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों पर उसी तरह बढ़ा-चढ़ा था, जिस तरह हमारे यहाँ सरस्वती का श्रद्धा-भाव आजतक चला आ रहा है!

---

१ रोम और ग्रीक सभ्यत्ता में बुद्धि, कला, साहित्य और युद्ध-विकास का विकास इसीलिए सर्वाधिक हुआ कि ये मेधा और मनीषा की देवी के पूजक रहे!

म्यूजेज : कला-विषय की प्रधान नौ देवियाँ

भारत में जब नौरात्र आते हैं, तब चण्डीपाठ होता है। दुर्गा के रूपों की परिकल्पना इस अवसर पर विराट रूप में सबके सामने प्रकट होती है। यद्यपि ब्रह्मा की मानस-कन्या अथवा विष्णु-शक्ति अथवा पूर्व रूप में जगद्पिता ब्रह्माजी की समर्पित शक्ति के रूप में सरस्वती देवी का चिन्तन भी हमारे प्राचीन साहित्यकारों ने बहुत विराट रूप में किया है, लेकिन ईसा के प्रादुर्भाव के बाद से यूरोप और अन्य पश्चिमी देशों में कला-विषय के उत्स के लिए वहाँ के कलाकार म्यूजेज का ही स्मरण और स्तवन अथवा चिंतन किया करते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि ग्रीक धर्म में ऐथेना ही साहित्य की देवी रही है,लेकिन प्रधानतया वह उस युग के निरन्तर चलनेवाले युद्धों की वजह से युद्ध-आह्वान की देवी का महत् पद पा चुकी थी और उसका रूप इतना आतंककारी हो चला था कि कला जैसे सौम्य विषयों के लिए निरन्तर उसका आह्वान करते रहना सम्भव नहीं मालूम पड़ता था। ऐसी स्थिति में वहाँ पर म्यूजेज नामक नौ देवियों का आविर्भाव हुआ ! हमारी नौ दुर्गाओं का स्मरण हमें इस स्थान पर हठात् होने लगता है।

ये देवियाँ प्रारम्भ में परी-रूप थीं। ग्रीक राष्ट्र के जन्म से पहले इनका निवास एकान्त रमणीक जंगलों के प्रपातों के पास रहता था। शनैः-शनैः कलाकारों के मन में इनके प्रति श्रद्धा व रम्य भावना का उद्रेक होने लगा। एक समय वह आया कि ये ही कलाकारों के मन में वास करने लगीं। इनके स्तवन से ही उन्हें बल और प्रेरणा का ओज प्राप्त होने लगा। क्योंकि इनकी संख्या नौ थी, इसलिए कलाकारों ने अपने-अपने विषयों के अनुसार इनका विषय-विभाजन कर लिया। शनैः-शनैः इनके नामों के साथ इनके विशिष्ट विषयों का स्पष्ट वर्गीकरण हो गया।

इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) क्लियो (इतिहास), (२) यूटर्प (गीति काव्य), (३) थालिया (सुखान्त नाटक), ४. मेल्पोमीन (दुःखान्त नाटक), ५. तर्प्सीकोज (नृत्य), ६. इराटो (प्रेमविह्वल काव्य), ७. पोलीहिमनिया (सात्विक प्रार्थनायें) ८. यूरेनिया (ज्योतिष) और ९. कैलियोप (पौराणिक काव्य)। इन देवियों के बारे में कहा जाता है कि ये ग्रीस के जगत्पिता ज्यूस की पुत्रियाँ थीं और म्नीमोसीन नामक स्मृति की देवी के गर्भ से उत्पन्न हुई थीं। वहाँ के धर्म-साहित्य में जो सबसे अधिक पवित्र पर्वत है उसका नाम ओलिम्पस है, उसीके निकट इनका जन्म हुआ था। जैसे हमारे यहाँ सुमेरु की परिकल्पना है, उसी तरह ग्रीस में हैलीकोन तथा पैरनासस पर्वत हैं, इन दोनों पर इन कला-उद्बोधक देवियों की पूजा का बड़ा-चढ़ा माहात्म्य था। मध्ययुगीय कवियों ने स्थान-स्थान पर अंग्रेजी साहित्य में इन देवियों का स्मरण किया है। अंग्रेजी कवि शैली के काव्य में ये अनेक बार प्रकट हुई हैं।

तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान और अन्य बौद्धधर्म प्रधान देशों में

तिब्बत में बौद्धधर्म लगभग सातवीं सदी में आया। उससे पहले यहाँ पर लामाओं का धर्म प्रचलित था और इस धर्म का अपना साहित्य था। स्थानीय देवी-देवताओं की एक बड़ी संख्या विद्यमान थी। किन्तु जब बौद्धधर्म का प्रचार यहाँ पर प्रबल वेग से होने लगा, तो स्थानीय देवी-देवताओं पर अनेक रूपों में बौद्धधर्म में स्वीकृत देवी-देवताओं के व्यक्तित्व की छाप हावी होने लगी और शनैः-शनैः स्थानीय देवी-देवता विस्मृत होने लगे। ऐसे क्षणों में तिब्बत में तारा और मंजुश्री का प्रादुर्भाव हुआ। तारा तो भारत में रहते हुए ही बौद्धधर्म की प्रधान देवी हो गई थी, किन्तु कुछ अंशों में मंजुश्री का आविर्भाव तिब्बत में हुआ। नील सरस्वती और तारा का रूप भारतीय हठयोग में पहले से ही प्राप्त होता है, इसकी चर्चा आगे यथा संदर्भ की जाएगी। किन्तु तिब्बत में मंजुश्री भारतीय सरस्वती के समक्ष देवी मान्य हो गयी। इसकी पूजा १०वीं सदी में सारे मध्य एशिया में व्याप्त हो चुकी थी। इसके हाथ में एक तलवार है, दूसरे में, पुस्तक। सिंह-वाहिनी है। तिब्बत में इस का नाम जामद्पाल है। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए यह मनुष्यों में विवेक जाग्रत करती है। नीला-तप्तारापराजिता (ग्दुग्ज-द्कार चान-मा) इस नाम से जो देवी है, वह त्रिमुखी है, उसके अष्ट हस्त हैं, और क्रमशः उसके हाथों में फरसा, चक्र, धनुष, तीर, पुस्तक, वज्र आदि आयुध विराजमान हैं।

चीन और कोरिया और जापान का प्राचीन धर्म-साहित्य बहुत प्राचीन है। यहाँ पर उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने में भी बहुत विस्तार हो जायगा। जब बौद्ध-धर्म का इन देशों में प्रसार हुआ तो प्राचीन ज्ञान-[illegible] के देवता नये रूपों में प्रकट हो गए अथवा विस्मृत हो गये और [illegible] मंजुश्री की पूजा ही सर्वमान्य रह गयी।

हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों की कथा [illegible] प्रकार है। एक तो वह, जब [illegible] यहाँ पर भारतीय संस्कृति का प्राबल्य रहा। उन क्षणों में यहाँ पर भारतीय देवी-देवताओं की पूजा ही मान्य रही। कालान्तर में जब यहाँ पर अन्य मूर्ति-पूजक धर्मों का प्रचलन शुरू हुआ, तो अन्य देवी-देवताओं के साथ ज्ञान-[illegible] बुद्धि की देवी अथवा देवता की स्थानीय [illegible] को भी [illegible] दिया गया।

अफ्रीका आदि देशों में और अमरीकी-[illegible] की प्राचीन धर्म-कथाओं में भी हमें गहरा अध्ययन करने के बाद ऐसी [illegible] मिलती है कि वहाँ पर ज्ञान का [illegible] करने के लिए वहाँ के मानव ने किसी देवी अथवा देवता का आश्रय अवश्य [illegible] किया।

इन समस्त कथाओं में [illegible] एक ही निगूढ़ [illegible] हुआ है। जहाँ पर सभ्यता का विकास [illegible] है, वहाँ पर ज्ञान की देवी मान्य हुई है; जहाँ पर जीवन में [illegible] का [illegible]

वहाँ पर ज्ञान की प्रार्थना के लिए किसी देवता का आह्वान ही अभीष्ट समझा गया है। और इस तरह हम अखिल विश्व के धर्म-भूगोल की आत्मा का मन: रंजन कारी प्रतिदर्शन प्राप्त कर लेते हैं।

भारत की वीणा-पाणि सरस्वती

समस्त विश्व में जिस आद्यादेवी के विषय में सर्वाधिक सामग्री सुलभ होती है, वह सरस्वती ही है। भारतीय साहित्य में इनका विस्तार से उल्लेख मिलता है। भारत की अनेक धर्म-कथाओं में ये प्रकट होती हैं। युग-युगों से, जितना भी प्राचीन काव्य-साहित्य है अथवा मध्ययुगीय ग्रंथ-लेखन हुआ है अथवा उसके बाद के कवियों-लेखकों ने जो कुछ भी लिखा है, सब से पहले इसी सत्वगुण रूपा देवी की स्तुति की है।

सरस्वती के नाम इस प्रकार हैं:—महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्-सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, कामधेनु, वेदगर्भा, धीश्वरी (बुद्धि की स्वामिनी)। ऋग्वेद में वाग्देवी नाम के साथ सरस्वती नाम भी प्राप्य है। पर्याय-रूप में इनके लिए शारदा, गिरा, गीर्देवी, ईश्वरी, वाचा, वर्णमातृका, श्री, वागेश्वरी, अन्त्यसांख्येश्वरी आता है। अर्थ रूप में गो, मनु-पत्नी (मेदिनी), ज्योतिष्मती, सोमलता, दुर्गा है।

सरस्वती की चर्चा ऋग्वेद के प्रथम मंडल से दशम मंडल तक, वाजसनेयसंहिता, (१६, ६३), अथर्ववेद, (४, ४, ४६), तैत्तिरीयसंहिता (१, ८१३, २), शतपथ ब्राह्मण (१, ६, २), मनुसंहिता (२, १७), ब्रह्मवैवर्तपुराण, देवीभागवत, तन्त्रसार आदि ग्रंथों में जन्म और कृतित्व सहित विशद रूप से हुई है।[1]

पुराणों में इनकी अभ्यर्थना की गयी है। महाभारतकार ने इनका मंगलाचरण प्रस्तुत करके ही अपना महाग्रन्थ लिखना शुरू किया था। शंकराचार्यकृत 'सौन्दर्य-लहरी' में इनका स्मरण किया गया है। महाकवि केशव ने इनकी कीर्ति गायी है। [illegible] और गुसाईं तुलसीदास कृत रामचरितमानस में [illegible] भव्य मंगलाचरण प्रस्तुत हुए हैं। २०वीं सदी के तीसरे युग में महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने इनका प्राणोपम गीत लिखा। 'पुरस्कार' कविता में विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस पंचस्त्रोता देवी के प्रति श्रद्धा-निवेदन किया है।

देवी भागवत ने स्पष्ट लिखा है कि ये ब्रह्मा की स्त्री हैं। किन्तु कालान्तर में जब विष्णु की पूजा का प्रचार बढ़ा, उस युग के शास्त्रकारों ने इनको ब्रह्मा की मानस-कन्या घोषित करते हुए इन्हें नारायण-पत्नी घोषित कर दिया और सरस्वती रूप में जो ये बहुत वर्षों तक बहती रहीं, उस कथा के साथ इनके जीवन के सूत्रों को सम्बद्ध करने का अभिनव चमत्कार भी प्रस्तुत कर दिया। किन्तु जब भगवान कृष्ण की पूजा का लोक-प्रचार बढ़ा, तो उनके नाम के साथ धर्मकथाओं में इनका नाम भाव-कथाओं में सूत्रबद्ध हो गया। जब ये देवी कृष्ण-योषित के मुख से आविर्भूत हुईं, तब इन्होंने कृष्ण की कामना की। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा कि हे साध्वि! तुम सद्वंशस्वरूप चतुर्भुज नारायण की कामना करो, उनको भजो, और बैकुण्ठ में वास करो, माघ मास की शुक्ला पंचमी तिथि में और विद्यारम्भ के समय सभी तुम्हारी पूजा करेंगे। तुम्हारे प्रसन्न न होने से कोई भी विद्यालाभ न कर सकेगा। (हिन्दी विश्वकोष, पृ० ६५३)

किन्तु इसके पूर्व देवी भागवत की कथा का महत्व अधिक है। उसमें बताया गया है कि अनन्तशक्ति ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की सेवा में सरस्वती, लक्ष्मी और काली तीन शक्तियों को क्रम से प्रदान किया। सृष्टि के आरम्भ में अनन्त शक्ति ने ब्रह्मा से कहा, "ब्रह्मन्! तुम इस दिव्यरूपा चारुहासिनी, रजोगुणयुक्ता, श्वेताम्बरधारिणी, श्वेतसरोजवासिनी, महासरस्वती नाम्नी शक्ति को स्व-क्रीड़ा-सहचारिणी करने के लिए ग्रहण करो। यह अनुत्तमा ललना तुम्हारी प्रिय सहचरी होगी। इसको मेरी विभूति समझ सदा ही पूज्यतमा समझना और कभी भी इसकी अवमानना न करना। तुम इसके साथ सत्यलोक में गमन करो और वहाँ रह कर महत्व रूप से चतुर्विध जीवों की सृष्टि करो।" (३, ६)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में यह कथा-प्रसंग एक नया अध्याय ग्रहण करता है। लक्ष्मी जी के साथ ये विष्णु-पत्नी बन जाती हैं। वहाँ पर गंगा के साथ परस्पर में अभिशाप-ग्रस्त होकर दोनों नदी-रूप में प्रवाहित होने लगती हैं। इनका लोक-कल्याण रूप प्रकट हो जाता है!

वेद में जिस तरह श्री-सूक्त द्वारा लक्ष्मी की पूजा आदि निर्दिष्ट है, उसी तरह सरस्वती का सूक्त भी विद्यमान है। यह एक विशिष्ट तथ्य है कि लक्ष्मी की पूजा करने के बाद भी सरस्वती की पूजा की जाती है, और सरस्वती की पूजा करने के बाद लक्ष्मी की पूजा का विधान बना हुआ है। इसी के बाद अन्य देवताओं की पूजा हो पाती है। सरस्वती देवी के आठ अंग हैं, अतएव इनकी भी पूजा होनी चाहिए। सरस्वती-पूजा में बन्धुजीव और द्रोण-

[1] "Brahma formed from his own immaculate substance a female, who is celebrated under the names of शतरूपा, सावित्री, सरस्वती, गायत्री और ब्रह्माणी।

"Brahma's wife is Saraswati, the goddess of wisdom and science, the mother of the Vedas. She is represented with four arms. With one of her right hands she is presenting a flower to her husband, by whose side she constantly stands; and in the other she holds a book of palm leaves. In one of her left hand she has a string of शिवमाला, a string of pearls and in the other is a small drum.

"The four arms represent Budhic activities—1. Prodnction of the higher qualities for the self. 2. The inspiration of the scriptures. 3. The passing on of the Divine life (सूत्रात्मा) to the lower planes. 4. The harmonising (music) of the qualities."

—Wilkins: *Hindu Mythology*, p. 107.

नरेना (जयपुर) : श्री दादू महाराज का प्रमाणिक प्राचीन चित्र । नरेना में दादूजी जहाँ सर्वप्रथम शमी-वृक्ष के नीचे आकर विराजे, वहाँ पर बनी छत्री नरेना में बना हुआ त्रिपोलिया, जहाँ भ्रमण करते हुए दादूजी महाराज ने आसन लगाया था । यहाँ पर उन्हें वृहदाकार सर्पराज दर्शन दिया था । यह नरेना स्थान दादू-द्वारा के नाम से जयपुर-अंचल में प्रसिद्ध है और दादू-संप्रदाय का प्रधान केन्द्र है ।

...मी
...निन्द
...क भव्य मगर

"Brahma...
female, who is c...
र स्वती, गायत्री और ब्र...

"Brahma's w...
science, the mother...
arms. With one...
her husband, by ...
other she holds a book...
she has a string of शिवम ... rls a...
is a small drum.

"The four arms repres... dhic ac...
of the higher qualities for the self. 2. The...
scriptures. 3. The passing on of the Divin...
lower planes. 4. The harmonising (music...

यह स्थान अखिल भारतीय जगद्गुरु श्री निम्बार्क ... प्रधान पीठ है । इस स्थान का नाम परशुरामपुर है, ...र-क्षेत्र में है । किशनगढ़ से उतर कर जाना होता है । यहाँ विश्वेश्वर की प्रतिमा है, श्री जयदेव-संसेवित श्री राधा-माधव ...गल के अनुपम दर्शन हैं । विक्रम की १६वीं सदी में यह मूल पीठ ...थापित हुई थी । इसका एक शाखा-स्थान उदयपुर के स्थल में ... है जहाँ के महन्त श्री मुरलीमनोहरजी शरण हैं ।

पुष्प—ये दोनों पुष्प न चढ़ाने चाहिए। इस पूजा में वासक और अड़ाहुल पुष्प बहुत उत्तम माने गये हैं।

धर्म-कथाओं के अतिरिक्त तंत्रसार में इस देवी को महत्व के साथ ग्रहण किया गया है, इसका कारण यही है कि ये प्रज्ञा की सर्वोच्च देवी हैं और तंत्र में मनीषा व प्रज्ञा का स्थान सर्व प्रथम आता है। तंत्रों में पूजा के साथ मंत्रों का विधान भी है। 'वेद वह वाग्वादानि वह्लि वल्लभा' यह सरस्वती का दशाक्षर मंत्र है। इस मंत्र द्वारा इनकी उपासना से सभी विद्याएँ सिद्ध होती हैं। इस मंत्र का दस लाख बार जाप करने से पुनश्चरण होता है। मंत्रों के ध्यान भी भिन्न हैं। एक ध्यान इस प्रकार है—

शुभ्रां स्वच्छविलेपमाल्यवसनां शीतांशुखन्डोज्ज्वलां
व्याख्यामक्षगुणं सुधाढ्यकलसं विद्यांचहस्ताम्बुजैः।
बिभ्राणां कमलासनां कुचलतां वाग्देवतां सम्मितां
वन्दे वाग्विभवप्रदां त्रिनयनां सौभाग्यसम्पत्करीं॥

तंत्रसार में पारिजात सरस्वती नामक एक और सरस्वती का उल्लेख मिलता है। तंत्रों में इनका लोकप्रिय नाम तारा देवी है और नील सरस्वती भी मिलता है।

ऊपर कहा गया है कि ऋग्वेद में वाग्देवी का नाम सरस्वती बताया गया है। इनके तीन स्थान हैं। स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष। स्वर्ग की वाग्देवी का नाम भारती, पृथ्वी के वाग्देवता का नाम इला और अन्तरिक्ष-वासिनी वाग्देवी का नाम सरस्वती है।

सरस्वती का एक नाम स्वरात्मिका है। इस शब्द का निगूढ़ मर्म यह है कि ये सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद करनेवाली तथा बोधरूपिणी हैं। इनकी उपासना से सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये संगीत-शास्त्र की भी अधिष्ठात्री देवी हैं। ताल, स्वर, लय, राग-रागिनी आदि का प्रादुर्भाव भी इन्हीं से हुआ है। सात प्रकार के स्वरों द्वारा इनका स्मरण किया जाता है। इसलिए इन्हें स्वरात्मिका कहा गया है। सप्तविध स्वरों का ज्ञान प्रदान करने के कारण इनका नाम सरस्वती है।

'कल्याण' के नारी-अंक में लिखा है (पृष्ठ ३३८), "एक समय की बात है, ब्रह्माजी ने सरस्वती से कहा—तुम किसी योग्य पुरुष के मुख में कवित्व-शक्ति रूप में निवास करो। सरस्वती ने स्वर्ग व सात पातालों में घूमकर पता लगाया कि योग्य पात्र कौन है। इसी अनुसन्धान में सत्ययुग बीत गया। तदनन्तर त्रेता युग के आरम्भ में महातपस्वी महर्षि वाल्मीकि अपने शिष्यों के साथ रमण करते हुए मिले। इतने में ही उनकी एक दृष्टि क्रौंच पक्षी पर गिरी, जो व्याध के शर से आहत नीचे जमीन पर फड़फड़ाता हुआ गिरा पड़ा था। उसकी पत्नी क्रौंची आर्तस्वर में चें-चें कर रही थी। उस दयनीय दशा को देख कर दयालु महर्षि की सहज करुणा द्रवीभूत हो गयी। उनके मुख से तुरन्त चार चरणों का एक श्लोक निकल गया—

मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह श्लोक सरस्वती की ही कृपा का प्रसाद था। उन्होंने महर्षि को देखते ही उनकी असाधारण योग्यता और प्रतिभा का परिचय पा लिया था, अतः उन्हीं के मुख में सर्वप्रथम प्रवेश किया। कवित्व-शक्तिमयी सरस्वती की प्रेरणा से ही उनके मुख की वह वाणी, जो उन्होंने क्रौंची की सान्त्वना के लिए कही थी, छन्दोमयी बन गयी। उनके हृदय का शोक ही श्लोक बन कर निकला था। सरस्वती के कृपापात्र होकर महर्षि वाल्मीकि ही 'आदि कवि' के नाम से संसार में विख्यात हुए।

सरस्वती की महिमा कौशिकी रूप में भी विद्यमान है। गौरी के शरीर से प्रकट होकर इन्होंने यह नाम पाया था। और शुम्भ-निशुम्भ आदि का वध करके इन्होंने संसार में सुख-शान्ति की स्थापना की थी।

इससे हम समझ सकते हैं कि विश्व के अन्य भूभागों में सरस्वती-रूपिणी देवियों के रूप में जो विद्या-बुद्धि की अवतार देवियाँ हैं, उनके हाथ में आयुध क्यों विद्यमान हैं?

सरस्वती का एक परिचय और है, जो वर्तमान परिचित विषय से सर्वथा भिन्न है और नहीं भी है। हठ-योग में नाड़ियों का जहाँ क्लिष्ट वर्णन आता है, वहीं पर बताया गया है कि इड़ा शीतल स्वभाव की है, उसमें चन्द्रमा का वास है, उसे गंगा माना गया है, उसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। पिंगला उष्ण स्वभाव की है, उसमें सूर्य का वास है, उसे यमुना माना गया है। उसके अधिष्ठाता विष्णु हैं। इड़ा को चन्द्रनाड़ी तथा पिंगला को सूर्यनाड़ी भी कहते हैं। सुषुम्ना दोनों के मध्य में है। त्रिगुणमयी है, चन्द्र-सूर्य-अग्नि-स्वरूपा [illegible] है। इसके अधिष्ठाता शिव हैं। इसे सन्त लोग [illegible] भी कहते हैं। इन तीनों नाड़ियों का संगम या त्रिवेणी ब्रह्मरन्ध्र में होता है।

यह उल्लेख स्पष्ट प्रमाण है कि सरस्वती देवी का सर्वोच्च प्रभाव हमारे समस्त ज्ञानार्जन में [illegible] है। इसीलिए ऋग्वेद (१०, १७, ७) में ऋषि ने कहा था :—

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते, सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त, सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥

—हे सरस्वती [illegible] कामनाओं की प्राप्ति तेरे द्वारा होती है। [illegible] तेरे द्वारा होता है। [illegible] आत्माओं को प्यारी है। तू दानशीलों को [illegible] प्रदान करनेवाली है।

राजस्थान में तीसरी सदी के [illegible] संगमरमर शिला-लेखों में प्राप्त हैं। [illegible] पिलानी में [illegible] सरस्वती-मंदिर [illegible] हुआ है। यह संभवतः आधुनिक भारत में मंदिरों [illegible] अपनी श्रेणी का एकमात्र उदाहरण है। [illegible]

राजस्थान के पांच लोक देवता

कोटा-स्थित एक गांव में अपनी शैली के एक मात्र सर्पमंदिर में तक्षक राज की प्रतिमा।

[११]

राजस्थान का शायद ही कोई गांव या शहर ऐसा हो जिसमें किसी-न-किसी लोक-देवता की प्रतिष्ठा न हो। अपने आदर्श जीवन तथा त्याग व बलिदान से इन लोक-देवताओं ने जन-जीवन पर अपनी अमिट छाप डाली है।

पावू, हरभू, रामदे, मांगलिया मेहा।
पाँचों पीर पधारज्यो गोगाजी जेहा॥

इस पद्य में जिन पाँच पीरों के नाम आये हैं वे हैं—पावू, हरभू, मेहा मांगलिया और गोगा। ये पांचों ही जनता के द्वारा देवता के रूप में पूजे जाते हैं। इन पाँचों का यहाँ संक्षिप्त दिया जाता है।

गोगा जी

गोगा जी चौहान जाति के थे और उनका जन्म ददरेवा (बीकानेर डिवीजन की राजगढ़ तहसील का एक गाँव) में हुआ था। मुहणोत नैणसी की ख्यात के अनुसार गोगा जी का विवाह पावूजी राठोड़ की भतीजी केलमदे से हुआ था, पर कर्नल टाड और श्री के० एम० मुंशी ने उन्हें महमूद गजनवी का समकालीन मान कर दोनों के युद्ध और गोगा जी की वीरता का प्रशस्तिगान किया है। भारतीय विद्या मन्दिर के शोध-प्रतिष्ठान में गोगा जी की जो वंशावली उनके वंशज श्री रत्नसिंह ने चौहानों के वही-भाटों से लाकर दी है, उससे उनका समय ११वीं शताब्दी निर्धारित होता है। क्याम खाँ रासो के वर्णन से भी इस काल का समर्थन होता है। गोगा जी ने अपने प्रवल पराक्रम के द्वारा विदेशी आक्रान्ताओं को भी आतंकित कर दिया था। उनका जीवन वीरता के लिए आदर्श था। गोगा जी की पूजा राजस्थान के बाहर भी उत्तर प्रदेश, पंजाव और हिमाचल प्रदेश में होती है। उत्तर प्रदेश में वे जाहरपीर के नाम से प्रसिद्ध हैं।

गोगा जी साँपों के देवता माने जाते हैं। उनके मृत्यु-स्थान गोगामेडी (नोहर तहसील के पास एक गाँव) में प्रति वर्ष भाद्रप्रद में नवमी को वड़ा भारी मेला लगता है, जिसमें दूर-दूर से दस हजार से अधिक व्यक्ति आते हैं। गोगा जी की पूजा सभी जातियों के लोग करते हैं। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान सभी पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाला है। वीर होकर भी वे इसीलिए 'पीर' हैं। प्रत्येक गाँव में शमी वृक्ष के नीचे उनकी प्रस्तर प्रतिमा होती है। इसीलिए राजस्थान में कहा जाता है—

'गाँव-गाँव गोगो नै गाँव-गाँव खेजड़ी'

अर्थात् प्रत्येक गाँव में गोगा का 'थान' है और प्रत्येक गाँव में खेजड़ी (शमी) का वृक्ष है।

रामदेव जी

रामदेव जी तँवर अजमाल जी के पुत्र थे। कहा जाता है, अजमाल जी की द्वारका-यात्रा के समय स्वयं भगवान् ने उनके घर जन्म लेने की बात कही थी। रामदेव जी ने अल्पायु में ही भैरूँ नामक एक राक्षसीवृत्ति वाले आदमी को मार दिया। भैरूँ के आतंक से पोकरण शहर और उसके आस-पास का इलाका निर्जन हो गया था। रामदेव जी के इस कार्य से निकटवर्ती प्रदेश के लोग वहुत ही प्रसन्न हुए और उनकी पूजा करने लगे। रामदेव जी ने 'रुणेचा' नामक स्थान पर, जो पोकरण से ८ मील दूर है, वहाँ पर जीवित समाधि ली। इस स्थान को रामदेवरा कहते हैं और यहाँ प्रतिवर्ष भाद्रप्रद में वड़ा भारी मेला लगता है। मुसलमान

लोग भी रामदेव जी की पूजा करते हैं और उन्हें 'रामशाह पीर' कहते हैं। रामदेव जी के अनेक चमत्कार जनता में प्रसिद्ध हैं। समुद्र में डूबते हुए बनिये के जहाज को बचाना, मृत भानजे को पुनर्जीवित करना, रुणेचा की यात्रा पर आनेवाले सेठ को जीवन-दान देना, डाकुओं को अन्धा करना आदि अनेक बातें इनके सिद्धि-प्राप्त व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। रामदेव जी की पूजा सभी जातियों के लोग करते हैं। चमार जाति के लोग रामदेव जी में बहुत अधिक श्रद्धा रखते हैं और रामदेव जी के अधिकतर मन्दिरों में वे ही पुजारी होते हैं। इसीलिए राजस्थान में कहा जाता है—

रामदेव जी नै मिल्या जिता ढेढ ही ढेढ

अर्थात् रामदेव जी को केवल ढेढ ही ढेढ मिले। चाहे जो हो, इससे एक बात बिलकुल स्पष्ट है। उच्च जाति के होते हुए भी रामदेव जी ने जाति-पाँति का भेदभाव नहीं माना और मानवमात्र की समानता और एकता का प्रतिपादन किया।

पाबू जी

ये धांधल जी राठौड़ के पुत्र थे। देवलदेवी चारणी से इन्होंने कालमी घोड़ी इस शर्त पर प्राप्त की थी कि वे उसकी गायों की खींचियों से रक्षा करेंगे। पाबू जी दृढ़प्रतिज्ञ और शरणागत-वत्सल वीर क्षत्रिय थे। इन्होंने थोरियों को अपने यहां आश्रय दिया था और देवलदेवी की गायों की रक्षा के लिए अपने विवाह के बीच में उठ कर चले गये और गायों को वापस ले आये। खींचियों के साथ युद्ध में लड़ते हुए ये वीरगति को प्राप्त हुए। इनका मन्दिर फलोदी (मारवाड़) से १८ मील दक्षिण कोलू नामक गांव में बना हुआ है। राजस्थान में पाबू जी के सम्बन्ध में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं। कहा जाता है कि इन्होंने अपनी भतीजी केलणदे के विवाह में दहेज के लिए लंकस्थली से ऊँटों व सांडों का टोला लाकर दिया था। पाबूजी एक सिद्ध पुरुष थे। वचन के इतने दृढ़ थे कि गायों की रक्षार्थ अपने प्रण की बात याद कर विवाह को बीच ही छोड़ दिया। ये एक लोक-देवता के रूप में पूजे जाते हैं।

मेहा जी

मेहा जी को टॉड आदि ने सांखला लिखा है, पर अनुसंधान करने पर पता चला है कि ये मांगलिया जाति के थे। हरभू जी सांखला इन्हीं के पुत्र थे। मेहा जी ने अनेक युद्ध किये। जैसलमेर के राव राणंगदेव भाटी के साथ युद्ध में इनकी मृत्यु हुई। ये शकुन शास्त्र के बहुत बड़े ज्ञाता थे।

हरभू जी

ये मेहा जी के पुत्र थे। रामदेव जी से जब इनकी भेंट हुई तो इन्होंने क्षत्रिय का बाना उतार दिया और शस्त्र त्याग भगवान् के भजन में लीन रहने लगे। कहा जाता है कि जोधपुर बसाने वाले राव जोधा जी ने विपत्ति के समय हरभू जी के यहां कई दिन तक आश्रय लिया था। फलोदी के पास 'बेंगटी' नामक गांव में हरभू जी की गाड़ी अब भी पूजी जाती है। रामदेव जी ने समाधि लेते समय पहले ही बता दिया था कि मेरे पास में ही दूसरा गढ़ा भी तैयार कर दो क्योंकि आठ दिन बाद हरभू जी भी यहीं समाधि लेंगे। ऐसा ही हुआ। आगे चल कर लोक-देवता के रूप में उनकी पूजा होने लगी। ऐसे उदाहरण विरले हैं, जहां गुरु और शिष्य दोनों की लोकदेवता के रूप में पूजा होती हो।

पाँचों लोक-देवताओं के चरित्र से एक बात स्पष्ट हो जाती है। जन-जीवन उसी को अपना परम आराध्य बनाता है, जो उसे भेद-बुद्धि से हटा कर एकत्व की ओर ले जाये। पांचों लोक-देवता वीर हैं, पीर हैं, सिद्ध हैं और महापुरुष हैं। उन्होंने चरित्र और कार्यों से यह बताया कि मानव एक है, ऊँच-नीच का भेदभाव मिथ्या है तथा पवित्र और त्यागमय जीवन ही सार है। राष्ट्र के नव-निर्माण में इनका चरित्र हमारे लिए एक प्रकाश-स्तम्भ की भांति है। राष्ट्र की रक्षा के लिए आज हमें गोगा जैसे वीरों की आवश्यकता है, जो प्राणों की भी परवाह न करते हुए अपनी प्रचण्ड गर्जना से आक्रान्ता को स्तब्ध कर दें। उच्च और कुलीन वंशीय होने का मिथ्या अभिमान मिटाने के लिए और समस्त जातियों में परस्पर सौहार्द्र और प्रेम बढ़ाने के लिए आज रामदेव जी और पाबू जी जैसे महापुरुषों की आवश्यकता है। सत्य का मार्ग दिखाने के लिए मेहा जी और हरभू जी का चरित्र हमारे समक्ष है।

राजस्थान में श्री निम्बार्कीय देवालय

[१२]

राजस्थान में लगभग १६ संप्रदाय प्रचलित हैं—१. रैदास पंथ, २. मलूकदास पंथ, ३. दादू-पंथ ४. श्री निरंजन-पंथ, ५. श्री रामसनेही पंथ, ६. श्री चरणदासी पंथ, ७. श्री जसनाथी पंथ, ८. श्री लालदासी पंथ, ९. श्री वेनामी पंथ, १०. श्री धामी पंथ, ११. श्री नागा पंथ, १२. श्री कबीर पंथ, १३. श्री तेरापंथी १४. सिक्खी पंथ और अन्य २ आंचलिक पंथ हैं। यहां हम निम्बार्कीय संप्रदाय के बारे में कुछ सूचनाएँ प्रस्तुत करें। श्री मुरली मनोहर शरण लिखते हैं—

आद्याचार्य भगवान् श्री निम्बार्काचार्य का यद्यपि प्रादुर्भाव दक्षिण प्रदेश गोदावरी के निकट पैठण में हुआ था, किन्तु उनकी

तपस्थली और विशेष निवास, गिरिराज गोवर्धन के सन्निकट निम्ब ग्राम में रहा है—जो राजस्थान से अत्यन्त संलग्न ही है। अतः अन्य प्रान्तों की अपेक्षा राजस्थान में श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के मठ-मन्दिर और देवालयों की संख्या अधिक है। २२ प्राचीन राज्यों में ऐसा कोई भी राज्य एवं राजधानी नहीं, जहाँ श्री निम्बार्कीय मठ-मन्दिर न हों। सभी नरेशों का श्री निम्बार्क सम्प्रदायाचार्यों से सम्पर्क रहा है।

श्री परशुराम द्वारा, पुष्करराज—विक्रम संवत् १२२० के लगभग श्री नाहर रावपडिहार ने ब्रह्म पुष्कर के चारों ओर बारह सालें बनवाई थीं, उनमें से यह एक है। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में यहाँ श्री परशुराम देवाचार्य जी ने तपश्चर्या की थी, उनके शिष्य श्री हरिवंश देवाचार्य जी ने १७वीं शताब्दी में अपने गुरुदेव की समाधि और मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया। यहाँ श्री परशुराम देवाचार्य जी की एक गुफा भी है।

अखिल भारतीय श्री निम्बार्काचार्य पीठ

श्री पुष्कर राज से ११ कोस उत्तर की ओर यह आचार्य पीठ है, जो भारत में एक ही माना जाता है। यहां का विशाल मन्दिर का निर्माण-कार्य १५वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। वह उत्तरोत्तर चलता रहा। यवनों द्वारा विध्वंस होने पर १९वीं शताब्दी में पुनरुद्धार हुआ। यह आचार्य पीठ जयपुर-जोधपुर आदि राज्यों की सीमा पर स्थित है, राजस्थान ही नहीं सभी भारतीय राजाओं ने इस आचार्य-पीठ का मान-सम्मान किया है। यवन और अंग्रेज शासकों ने भी मान-प्रतिष्ठा दी है। यहाँ एक दीर्घिका (बावड़ी) भी दर्शनीय है। विदेशी पर्यटकों को भी इन्हें देख कर कौतुक होता है। यहाँ श्री राधा माधव की प्रतिमा भी अद्वितीय ही है।

वशिष्ठाश्रम, आबू—यह एक प्राचीन आश्रम है, बहुत-सी पुरानी मूर्तियां और १३वीं १४वीं शताब्दी के शिलालेख भी यहाँ मिलते हैं। भारतीय गणतंत्र राज्य के सर्वप्रथम राष्ट्रपति महामहिम डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने सन् १९४८ ई० में यहां पहुँच कर आबू से सभी सुन्दर आश्रमों में इसे सर्व सुन्दर बतलाया था। उन्होंने निरीक्षण-पुस्तक में लिखा है कि यहां आने से ही शांति मिलती है।

जयपुर—सहस्रों देवालयों में कई विशालकाय मन्दिर यहाँ श्री निम्बार्क सम्प्रदायके हैं, उनमें श्रीजी की मोरी वाले मन्दिर की प्रधानता रही हैं। जयपुर और आमेर के बीच बना हुआ श्री परशुराम द्वारा, कला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। श्री रामचन्द्र जी, श्री मदनमोहन जी आदि के और भी कई विशालकाय दर्शनीय मन्दिर हैं। जयपुर राज्य की तवारीख के अनुसार पान के दरीबा का गोपाल मन्दिर वि० सं० १५९९ में बना हुआ माना जाता है।

स्वामी प्रयागदासजी का स्थल, उदयपुर

यह स्थान एक आश्रम-पद्धति का है। इसकी स्थापना निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्री स्वामी नारायण शरण जी देवाचार्य ने सन् १७३८ ई० में मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा श्री जयसिंह जी के समय में की थी। इसके बाद इस स्थल पर लगभग १२ महात्मा गद्दी प्राप्त कर चुके हैं। बीच में एक सन्त हुए हैं, जिनका नाम श्री राधिका दास जी महाराज था और जो १२५ वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। वे बहुत ही ऊँचे और चमत्कारी सन्त थे। मेवाड़ के समस्त राजाओं और जागीरदारों को इन्होंने अपना शिष्य बनाया, जिनमें आज भी हजारों क्षत्रिय तथा अन्य नागरिक स्थल के शिष्य हैं। मेवाड़ में स्थल की लगभग ५० शाखाएँ हैं। वर्तमान समय में इस स्थान के द्वारा एक धर्मशाला, माध्यमिक शाला, संस्कृत तथा आयुर्वेद के विद्यालय, पुस्तकालय एवं वाचनालय संचालित हैं। मन्दिर में श्री द्वारिकाधीश जी का श्री विग्रह है, जो स्वयं प्रकट हैं। भगवान द्वारिकाधीश जी का चित्र इसी अंक में मुद्रित है।[1] यह स्थान निम्बार्क संम्प्रदाय की प्रमुख पीठों में मान्य है।[2]

इनके अतिरिक्त गोपालद्वारा जयतारंण (मारवाड़), नृसिंह मन्दिर, चतुर्भुज जी का मन्दिर आदि अजमेर, अस्तेड़ा, किशनगढ़ रैनवाल सामोद चला, लोहार्गल, चेतनदासी की बावड़ी (जि० जयपुर), बाईजी राज के कुंड आदि उदयपुर ये सब राजस्थान के विशिष्ट एवं प्रतिष्ठित निम्बार्कीय देवालयों में परिगणित हैं।

भरतपुर

श्री नागाजी महाराज व्रज के एक विशिष्ट महापुरुषों में माने जाते हैं। उनके संसेवित श्री विहारीजी महाराज का विशाल मन्दिर भरतपुर के किले में है, जो राज्य भर का प्रधान मन्दिर कहलाता है। यहां श्री नागाजी की मूर्ति और गूदड़ी के भी दर्शन होते हैं। गिरिराज गोवर्धन का बहुत सा भाग भरतपुर राज्य में रहा है। वहाँ के गोविन्द कुंड पर श्री नागाजी की प्राचीन समाधि और गोविन्दजी का शिखरदार मन्दिर है, जो बारहवीं शताब्दी का माना जाता है।

---

१ देखिए चित्र प्लेट-संख्या २७ पर, संख्या ११।
२ उक्त पंक्तियों के लेखक श्री मुरलीमनोहरजी शरण अखिल भारतीय निम्बार्क महासभा के अध्यक्ष हैं।

जयपुर-स्थित नरेना में दादूद्वारा

[१३]

हमारे जिज्ञासा करने पर दादू-द्वारे के विद्वान स्वामी श्री हरिदास जी लिखते हैं—

"दादूजी की याद में कोई विशेष स्थान नहीं बनाया गया है। कारण, वे इस प्रकार की प्रथाओं को अनुपादेय समझते थे। उन्होंने जहाँ-जहाँ अधिक समय व्यतीत किया था, वहाँ उनके रहने की जगह हैं, वे ही उनके स्मारक हैं। मुख्यस्थान जहाँ सबसे पहले उन्होंने लम्बे समय तक साधना की, कल्याणपुर (करडाला) है। वहाँ उस डूँगरी पर जहाँ कि महाराज ने निवास किया था, भजन-शिला है। आज भी सन्त लोग उसको पावन समझ उसमें श्रद्धा रखते हैं। पहाड़ी की तलहटी में बाद में एक स्थान भी बनवाया गया है, जिसको 'दादूद्वारा' कहते हैं।

"भजन-शिला और दादूद्वारा ये दो जगह करडाले की है। करडाले से महाराज साँभर में आये। वहाँ सर में एक कुटिया बनाकर रहे थे। उस कुटिया की जगह बाद में किसी ने एक छतरी बनादी। वह छतरी आज भी उस कुटिया के स्थान की याद दिलाती है। वैसे साँभर में अब एक बहुत विशाल दादूमन्दिर है, जिसका निर्माण महात्मा ठण्डीराम जी के प्रयास से आरम्भ हुआ और महात्मा चैनजी के उद्योग से सम्पन्न हुआ। इस तरह साँभर में भी छतरी और मंदिर दो स्मारक हैं। साँभर के बाद दादूजी का सबसे लम्बा समय आमेर में बीता। आमेर में जिस स्थान पर आप विराजे थे, वहीं पर दादूद्वारा बना हुआ है। दादूद्वारा में वह प्राचीन स्थान, जिस जगह महाराज ने बैठ कर तप किया था, सुरक्षित रक्खा गया है।

"आमेर के बाद महाराज नारायणा पधारे। नरायणामें त्रिपोलिया में जो कि पहलेका बना हुआ एक स्थान था, कुछ दिन महाराज रहे थे। वह खण्डित अवस्था में आज भी है। खेजड़ा (शमी-वृक्ष) जिसके नीचे बैठ कर बहुत दिन तक आत्मचिन्तन किया था, आज भी सुरक्षित है। भजनशाला जो खेजड़े के पास कच्ची बनाई गई थी, वह भी अब तक मौजूद है। उस पर अब चूना लगा दिया गया है। दूसरे स्थान भी बन गये हैं। और वहीं पर उत्तरार्ध महात्मा ठण्डीराम जी पटियालेवालों का बनाया हुआ एक विशाल मन्दिर भी है। नरायणा ही महाराज के अन्तिम समयका स्थान है। अतः महाराज के बाद की आचार्य-गद्दी नरायणेमें ही रही। यही स्थान मुख्य स्मारक रूपका स्वीकार किया गया। सं० १६६० से अब तक प्रतिवर्ष फाल्गुन सुदी ५ से ११ तक यहाँ दादू-पन्थी महात्माओं का मेला भरता है। धीरे-धीरे यहाँ सैकड़ों पक्के स्थान बन गये हैं। आज यहाँ इस सम्प्रदाय की स्वतन्त्र एक आबादी बसी हुई है। मेले पर एक दिन का अन्न राज्य की ओर से होता है। साँभर के नाजिम साहब राज्य की ओर से भेंट करने आते हैं। सम्प्रदाय के आचार्य पूज्य श्री स्वामीजी महाराज यहीं विराजते हैं। दादूजी के पश्चात् १६ आचार्य हो चुके, अब सत्रहवें महाराज प्रकाशदेवजी वर्तमान आचार्य हैं।

"श्री दादू जी का अन्तिम स्मारक भैराणा है, जहाँ दादूजी महाराज के स्थूल शरीर को रक्खा गया था। भैराणा में उस जगह उस स्थान की याद के लिए एक चबूतरा पीछे से बनवाया गया था। वही चौतरा वहाँ का स्मारक-चिह्न है। बाद में वहाँ पालकाजी तथा रहने के कई स्थान भी बनाये गए, जो अब विद्यमान हैं। नरायणे के मेले पर भैराणे में भी फाल्गुन कृष्ण ३० से फा० सु० ३ तक मेला भरता है। इस तरह कल्याणपुर, साँभर, आमेर, नरायणा, भैराणा ये पांच स्थान दादूजी महाराज की स्मृति के परिचायक हैं। दादूपन्थी सन्त इनको पञ्चतीर्थ मानते हैं।

आचार्य गद्दी की परम्परा

"महाराज दादूजीका कोई सम्प्रदाय चलाने का उद्देश्य नहीं था वे तो कल्याण की भावना से ही कार्यक्षेत्र में उतरे थे। उनके शिष्यों में अधिकांश शिष्य ऐसे थे जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद दादूजी के शिष्य हुए थे। इनमें कई अन्त तक गृहस्थ ही रहे। कइयों ने गृहस्थ का परित्याग कर दिया। कुछ ही ऐसे थे जिन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया था। दादूजी ने उपदेश के साथ-साथ न तो उनके नामों में परिवर्तन किया और न और कोई विशेष बात की। उनका तो ध्येय अपने विचारको बतला देने का था। जिन्होंने उनके विचारोंको अपनाया, वे स्वतः ही अपना रूप बदलते गये। महाराज के ब्रह्मलीन होने पर सब शिष्य नराणे में एकत्र हुए। दादूजी महाराज की गरीबदास जी पर कुछ विशेष कृपा थी। सबने मिलकर निश्चय किया कि महाराज तो पधार गये हैं। उनका कोई पन्थ सम्प्रदाय बनाने का ध्येय यद्यपि नहीं था, फिर भी उनकी स्मृतिके लिए तथा उनकी विचार-परम्परा को कायम रखने के लिए अपने को ऐसा सिलसिला जारी रखना चाहिए, जिससे हम लोग वर्ष में एक बार एकत्र हो सकें। इसकी पूर्ति का साधन महाराज के स्थान पर किसी को मान लेना ही था।

"सबने विचार कर गरीबदास जी को ही उस स्थान पर आसीन करने का निश्चय किया, क्योंकि उन्हीं पर महाराज की विशेष अनुकम्पा थी। महाराज का उत्तराधिकारी उन्हीं को बना लिया गया और नराणे में ही महाराज की जन्मतिथि फाल्गुन सुदी ८ का मेला रख लिया गया। तभी से यह परम्परा प्रचलित है।

"गरीबदास जी महाराज अत्यन्त मान्य महात्मा थे, वे पदों में भी बहुत उच्च श्रेणी के थे, योगाभ्यासकी शिक्षा भी उन्होंने महाराज से.

प्राप्त करली थी। वे अधिक समय अपने अभ्यास ही में लगे रहते थे। आत्मचिंतन व ईश्वर-गुणगान ही उनका मुख्य काम था। वे महाराज दादूजी के सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए मानव-कल्याण का कार्य सम्पन्न करते रहे। संवत् १६६३ में वे ब्रह्मलीन हुए। उनके पश्चात् श्री मसकीनदास जी महाराज की गद्दी पर बैठे। ये भी दादूजी महाराज के शिष्य व गरीबदास जी के गुरुभाई थे। इनके पश्चात् इन्हीं की शिष्य-परम्परा में स्वामी जी महाराज होते रहे। अब तक यही क्रम चल रहा है। इनके बाद आचार्य गद्दी पर निम्नलिखित स्वामी जी महाराज विराजमान हुए —

१. श्रीस्वामी फकीरदास जी महाराज
२. श्रीस्वामी जैतरामजी महाराज
३. श्रीस्वामी किशनदेव जी महाराज
४. श्रीस्वामी चैनरामजी महाराज
५. श्रीस्वामी निर्भयरामजी महाराज
६. श्रीस्वामी जीवणदास जी महाराज
७. श्रीस्वामी दलेराम जी महाराज
८. श्रीस्वामी प्रेमदास जी महाराज
९. श्रीस्वामी नारायणदास जी महाराज
१०. श्रीस्वामी उदयरामजी महाराज
११. श्रीस्वामी गुलाबदास जी महाराज
१२. श्रीस्वामी हरजीरामजी महाराज
१३. श्रीस्वामी दयारामजी महाराज
१४. श्रीस्वामी रामलाल जी महाराज
१५. श्रीस्वामी प्रकाशदेवजी महाराज (वर्तमान)

इस तरह दादूजी महाराज के बाद सोलह पीढ़ी और हो चुकीं, सत्ररहवीं पीढ़ी चल रही है। इनमें कई तो ऐसे पहुँचे हुए पुरुष थे, जिनकी कितनी ही चमत्कार की कथायें आज भी प्रसिद्ध हैं। उनके त्याग और तप का ही फल था कि जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, अलवर, कोटा, बूँदी आदि राज्यों की ओर से इनके सम्मान में कई नियम अब तक बने हुए हैं। बहुत से राज्यों की ओर से गांव, जमीन, कुँए, कोठी भी भेंट किये हुए हैं। यह सब इन्हीं के प्रभाव का परिणाम था। यह परम्परा अब भी उसी रूप में चल रही है।"

राजस्थान के प्राचीन-अर्वाचीन मंदिरों का अध्ययन

[१४]

प्राचीन-अर्वाचीन समस्त मन्दिरों पर अब हम नगर-परिक्रमा के क्रम से एक सिंहावलोकन प्रस्तुत कर दें।

विराट नगर

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाँचाल, शूरसेन—ये सब मिल कर ब्रह्मदेश कहलाते थे—(ब्रह्म-वैवर्त)। सरस्वती और दृषद्वती के बीच का भाग मनुस्मृति के युग तक ब्रह्मावर्त कहलाता था। मथुरा प्रदेश के निकट मत्स्य देश था, यहीं पर पांचों पांडवों ने अज्ञात-वास का अन्तिम समय व्यतीत किया था और कुरुक्षेत्र-युद्ध की तैयारियाँ यहीं से सम्पन्न हुई थीं। वैराट और माचाड़ी इसी के प्राचीन नगर हैं। विराट दिल्ली से १०५ मील दक्षिण-पश्चिम में है और जयपुर से ४१ मील उत्तर में है। यहाँ पहुँच कर मंदिरों के अध्ययन की दृष्टि से यदि हम वर्तमान वैराट गांव के सामने की सर्वोच्च पहाड़ी पर खड़े होकर एक दृष्टि चारों ओर फैलाएँ तो लगता है कि इसी स्थान से वह विभाजित रेखा पंजाब और राजस्थान के बीच में चली जाती है, जहाँ से राजस्थान के मंदिरों की विशिष्टता प्रारम्भ होती हैं। यहाँ रक्तवर्ण शैलशृंगों की गोलाकार उपत्यका के बीच में यह प्राचीन नगर विद्यमान था। पूरब-पश्चिम में ४ से ५ मील लम्बा और उत्तर-पश्चिम में ३ से ५ मील। शहर के पिछले भाग में बीजक पहाड़ है, यहाँ पर जो छोटी स्रोतस्वती बहती है, वह एक प्रकार से बाणगंगा की शाखा है। तांबे की खान के कारण यह मुगलकाल में प्रसिद्ध रहा। आयने-अकबरी में इसका नाम विराट् मिलता है। भीमजी-ग्राम या भीमजी का डूंगर या भीमजी की गुफा या भीम-पद ये सब भीम नाम अज्ञातवास काल में रहे हुए भीम के स्मारक-चिह्न हैं। ह्वेनसांग ने ७ वीं सदी में इस जनपद का उल्लेख किया है। उस समय यह वैश्य जातीय राजाओं के अधिकार में था और वे सभी वैश्य वीरता और युद्ध-निपुणता के धनी थे। उस समय यहाँ पर १००० घर ब्राह्मणों के थे और १२ मंदिर थे और ५००० बौद्धों का वास था और ८ बौद्ध-मठ थे। कनिंघम का अनुमान है कि ७ वीं सदी में यहाँ लगभग ३०००० व्यक्ति रहते थे।

सन् १००९ में महमूद गजनी ने वैराट नगर पर आक्रमण किया था। सन् १०१४ में यहाँ पर उसका दूसरा आक्रमण हुआ। घमासान लड़ाई हुई, उसने इस नगर को विध्वंस कर डाला। यहाँ के अधिवासी दूर देशों में भाग गये, सन् १०२२ में मुसलमान सेनापति अमीर अली ने दुबारा यहाँ अधिकार जमाया और इसकी धन-सम्पत्ति लूटी। उस समय फरिश्ता नामक इतिहासकार को एक लिपि

मिली, जिसमें लिखा था, "वैराट का नारायण मंदिर ४००० वर्ष पहले बनाया गया था। पर वास्तव में वह लिपि अशोक की थी। अशोक के शिलालेख तो अभी भी यहाँ चट्टान पर सुरक्षित हैं। इसमें एक में लिखा है कि अपने जीवन का ३७ वां प्रवास इस विराट नगर में अशोक ने किया है और दूसरे शिला-लेख से विराट नगर की समृद्धि का परिचय मिलता है।

धौलपुर

नगर से दो मील दूर मुचुकन्द नामक तीर्थस्थान है—रामचन्द्र जी के वंश के २४ वें सूर्यवंशी राजा मुचुकुन्द का यहाँ इतिहास-प्रसिद्ध राज्य था। तीर्थ एक सुन्दर सरोवर है, जिस के चारों ओर देवालय बने हुए हैं। इस राज्य को चम्बल नदी का उल्लेखनीय स्पर्श होता है। यही नदी फिर आगे चलकर कोटा का स्पर्श करती है।

भरतपुर

नगर के अन्दर लक्ष्मणजी की पूजा का विराट महोत्सव व्याप्त है। लक्ष्मणजी का एक मंदिर लुहारगल के मालकेतु पर्वत पर स्थित है, किन्तु भरतपुर तो वास्तव में लक्ष्मण जी की पूजा का केन्द्र है। पुराने मंदिर के महन्त जी श्री गंगासिंहजी विद्वान् और योगी तरुण हैं। नया मंदिर नया होने के कारण भवन की दृष्टि से दर्शनीय है।

नगर में नवलगढ़ व चूरू व रतनगढ़ के बाद गंगाजी का राजस्थान में सब से विशाल मंदिर-प्रासाद है।

गढ़ के अन्दर श्री बिहारी जी, श्री मोहन के दो मंदिर हैं। केवलादेव महादेव का स्थान गहन वन में है—जहाँ एक झील है।

भरतपुर से अलवर के मार्ग में डीग स्थान है, यह जाटों की पुरानी राजधानी था।

कामाँ से अनेक प्राचीन मूर्त्तियाँ मिली हैं, प्राचीन नगर था। यह व्रज के १२ मुख्य स्थानों में से एक है। कदमवास सीकर के पास तीर्थस्थान है, पर यहाँ कदम्ब का घना वन हुआ है। गोपीनाथ जी का मंदिर भी है।

बयाना राणा संग्राम सिंह व बाबर का युद्धस्थल है। पर संम्वत् ४२८ में, वारीक विष्णुवर्द्धन पुण्डरीक ने यहां यज्ञ किया था, यह स्तूप विद्यमान है, लोग उसे भीम की लाट कहते हैं। एक उषा मंदिर भी है, कन्नौज के महाराज महीपाल की रूपवती रानी चित्रलेखा ने बनाया था।

बयाना से ७ मील पर बंध बरेठा है, उसके निकट बंसी पहाड़पुर है, जहाँ २२ फुट दीर्घ बलदेव की मूर्ति है, सात नागों के फन उस पर छत्र ताने हुए हैं।

भरतपुर क्षेत्र में कदम्ब, केवड़ा और खस बहुतायत से होता है, यह त्रि-सुरभि संगम संभवतः भारत में अनुपम है।

अलवर

नगर में मुख्य मंदिर जगन्नाथ जी का है, जो चौक में सब से ऊँची चौकी पर है। इतनी ऊँची चौकी का मंदिर राजस्थान में संभवतः अन्यत्र नहीं है।

शहर से दूर विजय-मंदिर राजप्रसाद है, यहाँ भारत की एकमात्र देवप्रतिमा सीताराम की है, जिसका निर्माण अमरीका में हुआ था।

मार्ग में सन्त चरणदास जी का स्थान है, उनका मंदिर है, प्रतिमा भी स्थापित की जा चुकी है। चरणदासी संप्रदाय के लोग अलवर में बहुत हैं।

नगर से २५ मील दूर लाल बाबा की समाधि है, जिसके मानने वालों में हिन्दू-मुसलमान अपरिमित संख्या में भारत भर में छाये हुए हैं।

कुछ दूर, जयपुर की दिशा चलने पर भर्तृहरि का रमणीक स्थान है, गुफा है, झरने-मंदिर हैं। 'नीति-शतक' का निर्माता यह संत अलवर में ही अधिकांश रहा, इस स्थान की किंवदन्तियां प्रमाणित करने में काफी उत्साहित मिलती हैं।

विराटपुरी की चर्चा हम प्रारंभ में कर ही चुके हैं।

विराट में बौद्धों का गोलाकार मंदिर है—डा० सत्यप्रकाश का कथन है कि भारत में मिलनेवाले प्राचीनतम मंदिरों के अवशेषों में यह सब से प्राचीन है।

आमेर

यह नगरी भी स्वतंत्र और आत्म-निर्भर एवं राजस्थान की नगरी सभ्यता से लब्ध एक ऐसा इतिहास केन्द्र रहा है, जहां पर राजपूत-काल से पहले मनुष्य का आवास सम्भव हो चुका था। यद्यपि कहा यह जाता है कि काकिलजी ने ११वीं सदी में इसकी स्थापना की थी, किन्तु यहां पर उससे पहले मीणों के जनपद और गण स्थापित थे। हमें इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि बीकानेर और शेखावाटी अंचल में यौधेयों व जाटों के गण विद्यमान थे और इधर जयपुर व मेवाड़ की तरफ मीणों और भीलों के छोटे-छोटे गण बिखरे हुए थे और इनके देवी-देवताओं के छोटे-छोटे स्थान भी यथास्थान व्यवस्थित थे। जयपुर से ७ मील की दूरी पर उत्तर में बसा हुआ यह नगर पहाड़ पर जिस तरह से अवस्थित है, वह हमारे प्राचीन दुर्ग-नगरों की, चित्तौड़ व बैराट् के बाद, तीसरा गर्व-स्थल है।

जयपुर से आमेर की दिशा जाते हुए हमें मार्ग में [illegible] और काला हनुमान के दर्शन होते हैं। आमेर लगभग [illegible] फुट ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। यद्यपि यहां पर इस समय प्राचीन मन्दिरों का अभाव है, किन्तु मध्ययुगीन देवालयों की काफी भरमार है, जिसमें सबसे प्रमुख है—शिला माता का मन्दिर। [illegible] में जो शनिश्चर के मन्दिर के अन्तर्गत कालीमाई की प्रतिमा है—उसके बारे में कहा जाता है कि यह शिलामाता की सही-सही ...

कृति है। यद्यपि शिला-माता के चित्र लेने के ऊपर कठोर नियंत्रण रखा गया है, किन्तु उसकी एक सही अनुकृति के रूप में जयपुर नगर के बीच ताड़केश्वर मन्दिर के अन्तर्गत दीवार पर जो भित्ति-चित्र है, वह बिल्कुल प्रत्यक्ष दर्शन देता है। प्रवाद तो यह है कि राजा मानसिंह बंगाल की एक सजीव-स्मृति के रूप में इस प्रतिमा को बंग-प्रदेश से लाये थे। पर, हमें स्मरण रखना चाहिये कि राजस्थान में काली, कंकाली, चामुंडा, महिष-मर्दिनी आदि की विशाल प्रतिमाएँ १०वीं सदी से पहले से ही बनी हुई प्राप्त होती हैं।

हिजरी दरवाजे के पास विष्णु या ठाकुरजी का मन्दिर है और इस मन्दिर पर कृष्ण व गोपियों का कलात्मक तक्षण हुआ है। आमेर में प्राप्त प्राचीन मन्दिरों के शिल्प का स्थापत्य प्राचीन हिन्दू-शैली को भव्य रूप में मूर्तिमान करता है। यद्यपि जगत-शिरोमणि मन्दिर संगमरमर और लाल-पत्थर से बना हुआ १७वीं शताब्दि का है, किन्तु इसका समस्त निर्माण एक प्रकार से प्राचीन भग्न-मन्दिरों की सही प्रतिलिपि के रूप में है। इसमें विष्णु की प्रतिमाओं के साथ-साथ कृष्ण की प्रतिमा भी है और पुजारियों का यह कथन है कि वृन्दावन जाते हुए मीराबाई ने इसकी स्थापना यहाँ की थी। उनकी यह बात सही मालूम नहीं होती कि यही वह प्रतिमा है, जिसका दैनन्दिन पूजन वे किया करती थीं। नट-नागर का वह विग्रह तो उदयपुर के जनाना-महल में अब तक भी सुरक्षित है और विश्वसनीय है। जगत-शिरोमणि का मन्दिर न केवल जयपुर में, बल्कि राजस्थान के समस्त वैष्णव व जैन मन्दिरों में अपना अन्यतम स्थान रखता है। इस मन्दिर का निर्माण महाराज मानसिंह प्रथम के ज्येष्ठ पुत्र कु० जगतसिंह की स्मृति में उनकी बहन ने बनवाया था। सभा-मंडप के सामने एक छोटे-से मण्डप में गरुड़ देव विद्यमान है।

कछवाहा के सबसे प्राचीन मन्दिर और इनके इष्ट नृसिंहजी का देवालय है। खंडेला के बाद यह महत्वपूर्ण नृसिंह-मन्दिर है। सिंहद्वार शैली के कुछ और भग्न-मन्दिर भी यहाँ पर हैं। जिस मुख्य द्वार पर सिंह विराजमान हों, उसे सिंहद्वार नाम दिया जाता है। सबसे प्राचीन मन्दिर यहाँ पर अम्बिकेश्वर का है, जिसके लिए यह जनश्रुति है कि यह मान्धाता के पुत्र अम्बरीष ने स्थापित किया था। वे अयोध्या के नृपति थे। लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इन्हीं अम्बरीष के कारण इस स्थान का नाम आमेर पड़ा है। इसमें कुछ स्तम्भ १०वीं सदी के कला-अंकन से जड़ित विद्यमान हैं। दो प्रतिमाएँ त्रिविक्रम की हैं। एक प्रतिमा की पूजा शीतला माता के रूप में होती है। कुछ जैन मन्दिरों में लिंग-स्थापित हैं और उनमें से १०वीं सदी के कार्त्तिकेय का दर्शन होता है। ये मोर पर विराजमान हैं और षष्ट-भुज हैं। यह एक विचारणीय बात है कि कार्त्तिकेय की लीला-भूमि राजस्थान क्या नहीं रही होगी? मोर केवल राजस्थान का पंछी है और कार्त्तिकेय का वाहन है!

एक अलग टेकरी पर सूर्य का मन्दिर है, अब उसमें प्रतिमा काफी नई है। दूसरा मन्दिर विष्णु का है, जो कुछ पुराना है। कल्याण जी का मन्दिर जगत-शिरोमणि से भी पुराना है।

जयपुर में प्रवेश करने से पहले हमें गलता का निरीक्षण करना चाहिए। वहाँ पर एक ही प्रधान मंदिर है, जिसमें श्री रघुनाथ का विग्रह प्रधान है। यह दक्षिण भारत के श्री रामानुज सम्प्रदाय की प्रधान गद्दी है। पयहारी कृष्णदास जी का तपोस्थल यहीं था। समय-समय पर यहाँ कई मूर्तियां स्थापित होती रहीं, जिनमें लक्ष्मण जी आदि की मूर्त्तियाँ तो धातु की हैं और कुछ पाषाण की हैं। जयपुर नगर में राजसी-प्रासादों के अन्दर व्रजराज विहारीजी, वल्लभ कुल के श्री आनन्दकृष्ण विहारी जी और व्रजनिधि जी के तीन बड़े मंदिर हैं। तथा चौथा मंदिर श्री प्रतापेश्वर जी का शिखरबंद मंदिर है। अभी तक इन मंदिरों में केवल रानियों द्वारा अथवा राजपरिवारों द्वारा विशेष पूजा होती थी और सर्वसाधारण का जाना निषिद्ध था। लेखक को यह श्रेय जाता है कि प्रथम बार इन रहस्यमयी देव-प्रतिमाओं का चित्रीकरण उसके हाथों से संभव हुआ है। व्रजनिधि जी के मंदिर में महाराज प्रतापसिंह जी प्रतिदिन एक स्वरचित पद गाया करते थे और उसी के बाद जल ग्रहण किया करते थे। नगर के बीच में ताड़केश्वर का मंदिर है, जिसमें एक अलग कक्ष में ६ फुट ऊँचे सुखासन में विराजमान गणेश जी की धातु-प्रतिमा है। मनुष्याकार रूप में खड़े हुए भयंकर रूप में भैरव हैं। आधुनिक शैली के पीतल-निर्मित नंदी हैं।

चांदपोल दरवाजे पर हनुमानजी का सर्वमान्य, नगर का सबसे अधिक पूजित मंदिर है। गलता की पहाड़ी पर नगर के ऊपर मानो शासन करते हुए, एक दूसरा सूर्य भगवान का मंदिर विराजमान है।

यदि हम जयपुर के गोविन्ददेव जी की चर्चा न करें तो मानो एक भयंकर भूल हो जायेगी। नाथद्वारा में स्थापित वल्लभकुल की जो प्रतिमा स्थापित है, ठीक उसी युग की यह गोविन्ददेव जी की प्रतिमा यहाँ स्थापित हुई थी। जयपुर के समस्त मंदिरों की परिक्रमा करने के बाद इस मंदिर का दर्शन सब के लिए अनिवार्य है।

जयपुर से ५० मील दूर मालपुरा के निकट डिग्गी के कल्याण जी का मंदिर है। यह काफी प्राचीन मंदिर है। जयपुरवाटी के न केवल राजपूतों में, बल्कि सभी जातियों में इसके प्रति व्यापक श्रद्धाभाव है। जयपुर के पास में रणथंभोर का किला है। आज भी विवाह-शादियों के अवसर पर जिस रणतभंवर का मंगलाचरण प्रायः सभी मांगलिक अनुष्ठानों में स्त्रियां गाती हैं, और जिस गणेश का आह्वान किया जाता है, वे इसी रणथंभोर के गणेश जी हैं। हाथी की सूंड के रूप में यह एक शिलामात्र है और इसी का गणेशरूप में पूजन होता है। यद्यपि सारे राजस्थान में लगभग ५०० दर्शनीय गणेश-मंदिर विद्यमान हैं, किन्तु रणथंभोर के गढ़ पर स्थापित

[illegible], अजमेर
[चित्र लगभग सन् १९४०]

—श्री बलदेव प्रसाद अग्रवाल, अजमेर, के सौजन्य से प्राप्त चित्र।

इस मध्ययुगीय गणेश का व्यापक प्रभाव सारे राजस्थान में किस प्रकार लोक-समाज के अन्दर प्रतिष्ठित हुआ, वह सहसा ही न तो समझ में आता है और न उसका कोई समाधान और मिलता है।

जयपुर के निकट कुछ दूरी पर सांभर है और वहां पर नगर के बाहर शाकंभरी का मंदिर है। इस देवी का माहात्म्य गुजरात तक में प्रगट हुआ और वहां भी इस नाम से संभवत: एक प्रतिमा स्थापित हुई थी।

सांगानेर—राजपुताने के अन्तर्गत जयपुर राज्य का एक शहर, शाह नदी के किनारे जयपुर शहर से ७ मील की दूरी पर अवस्थित है। यह शहर राजपूताना मालवा रेलवे के संगनेर स्टेशन से ३ मील दूरी पर पड़ता है। यहां बहुत देवमंदिर हैं।

सीकर जिले में अनेकों ऐसे दर्शनीय स्थान हैं जो ऐतिहासिक, धार्मिक स्थापत्य कला एवं प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

सकराय

सीकर से ३४ मील दूर पहाड़ियों में, जिसे लोग सकराय माता कहते हैं, का अति प्राचीन मन्दिर है। उपलब्ध शिला-लेख के अनुसार संवत् ७४६ में मन्दिर का निर्माण हुआ है तथा जीर्णोद्धार संवत् १६७२-१६८० में नवलगढ़-निवासी रामगोपाल भूरामल द्वारा कराया गया है।

सकराय माता का मन्दिर पहाड़ एवं आम्र वृक्षों से घिरा हुआ है, मन्दिर के पिछले भाग में जल के सात कुंड बने हुए हैं। वर्षाकाल में एक के पश्चात् दूसरे-तीसरे इस प्रकार सात कुंडों को पार करती हुई जल-धारा प्रवाहित होती है। वर्षाऋतु में सैकड़ों नर-नारी इस प्राकृतिक दृश्य का आनन्द उठाने आते हैं। यहां वर्ष में दो बार चैत्र एवं आश्विन शुक्ला में मेला भी भरता है। मेले में दर्शनार्थियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ हैं एवं मन्दिर की तरफ से बर्तन आदि देने की भी व्यवस्था की जाती है।

हर्षनाथ

सीकर से दक्षिण दिशा की तरफ आठ मील की दूरी पर हर्ष[1] ग्राम है। यह गांव हर्ष पहाड़ जो कि अरावली पर्वत-माला का ही एक भाग है, की तलहटी में बसा हुआ है। जनश्रुति के अनुसार भगवान शंकर द्वारा त्रिपुरासुर का वध करने के पश्चात् इन्द्रादि देवताओं द्वारा उनकी पूजा-अर्चना यहीं की गई तथा इसीलिए इस पर्वत का नाम हर्षनाथ पड़ा। एक अन्य लोककथा के अनुसार हर्ष एवं जीण भाई-बहन थे। जीण अपनी भाभी से झगड़ा होने के पश्चात् घर से चली गई। हर्ष बहन की खोज में निकला। दोनों बहन-भाई घर लौट कर नहीं आये तथा उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भगवद् भजन में ही बिताया।[2]

हर्ष पर्वत की ऊँचाई ३००० फुट है। पहाड़ पर पहुँचने के लिए खड़ी चढ़ाई पार करनी पड़ती है, जिसमें अनुमानत: १ घंटा लगता है। पहाड़ के ऊपर भूमि समतल है, चौड़ाई करीब १०० गज है। पर्वत के शिखर पर पहुँचने के पश्चात् शेखावाटी एवं जयपुर के पहाड़, सीकर नगर एवं लक्ष्मणगढ़ का किला दिखाई देता है।

इसी हर्ष पर्वत पर अजमेर के चौहान राजा द्वारा संवत् १०१८ आषाढ़ कृष्ण १३ को भगवान शंकर के मन्दिर का निर्माण-कार्य प्रारम्भ कराया गया, जिसे उनके उत्तराधिकारी विग्रह राजा द्वारा आषाढ़ कृष्णा १५ संवत् १०३० में पूरा किया गया। इस प्रकार मन्दिर के निर्माण में पूरे १२ वर्ष का समय लगा। मन्दिर के भग्नावशेष एवं खंडित मूर्तियों जो कि सीकर संग्रहालय में सुरक्षित रखी हुई हैं, को देखने से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय के सर्वोत्तम मन्दिरों में एक हर्षनाथ का मन्दिर भी रहा होगा। कुशल कारीगरों द्वारा किया पत्थर में खोदाई का काम स्थापत्य कला का बेजोड़ नमूना है। यद्यपि मन्दिर-निर्माण समय के प्रमाणिक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं, पर सुनने में आता है कि हर्ष पर्वत पर मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त ८४ अन्य मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था।

वे मन्दिर सात सौ वर्षों तक सही सलामत रहे। औरंगजेब के शासन-काल में देश के अन्य स्थानों के देवालयों की तरह यहां भी खान जहान द्वारा सन् १६७६ के [illegible] मास में मंदिरों की तोड़-फोड़ की गई, यहां तक की प्रत्येक मूर्ति को खंडित किया गया है।

[illegible] वर्ष पश्चात् सीकर के तत्कालीन राजा शिवसिंह द्वारा सन् १७१८ में [illegible] मन्दिरों के मलबे से पुराने मंदिर के निकट शिव मन्दिर का निर्माण कराया गया, जहां हजारों दर्शनार्थी दर्शन करने एवं प्राचीन मन्दिरों के खंडहर देखने जाते हैं।

जीणमाता

जयपुर-सीकर रेलवे लाइन पर गोरियां स्टेशन से [illegible] मील एवं सीकर से १४ मील दूर जीणमाता देवी का मंदिर है।

---

1. Dr. Satya prakash writes, "The Sacred mountain of Harsh., commonly known as *Uncha pahar* (*High hill*), situated eight miles south-east of Sikar, is 3000 ft. high and can be seen from a distance of 20 miles. The Summit of the hill is at a distance of about 1 to 5 miles from the foot of the hill. The stray collection on view at the site is a striking but small remnant of what was originally, forming part of 1 temples.... Tradition records that Harsha was once a huge city with broad lands and one thousand shops and markets. The city is also said to have had a circumference of 36 miles and some 900 wells in it. The village of Harsha and the surrounding area was known as 'Ananta' in the 10th century."

२. यह कथा विस्तार से हर्ष-जीण के लोक-गीत में मिलती है।

यह मन्दिर अरावली पर्वतमाला की श्रृंखलाओं से तीन तरफ से घिरा हुआ है। मन्दिर में लगे शिला-लेखों के अनुसार इसका निर्माण १०वीं शताब्दी में हुआ है।

अन्य देवी मन्दिरों की तरह यहाँ भी नवरात्रि में चैत्र एवं आश्विन के शुक्ल पक्ष में मेला भरता है। बड़ा मेला आश्विन शुक्ला सप्तमी एवं अष्टमी को भरता है, जिस में दर्शनार्थियों की संख्या अनुमानतः बीस हजार तक हो जाती है। शेखावाटी क्षेत्र के निवासी देश के कोने-कोने से जात देने एवं बच्चों का मुंडन-संस्कार करने जीणमाता जाते हैं। दर्शनार्थियों के ठहरने के लिए काफी संख्या में तिबारे एवं धर्मशालाएँ बनी हुई हैं। मेले के दिनों में पानी एवं बिजली का प्रबंध मेला कमेटी द्वारा किया जाता है। मेले के दिनों में बिजली देने के लिए ओइल इंजन भी लगाया हुआ है।

श्यामजी खाटू

खाटू ग्राम दांतारामगढ़ तहसील में स्थित है। तहसील हैड-क्वाटर से जो कि सीकर जयपुर लाइन पर रेलवे जंक्शन है, बारह मील दूर है।

यहाँ श्यामजी (कृष्ण) का मन्दिर है। वर्ष में एक बार फाल्गुन शुक्ला १३ को मेला भरता है। जीणमाता की तरह श्यामजी खाटू में भी लोग दूर-दूर से मनौती मनाने, जात देने एवं बच्चों के मुंडन-संस्कार के लिए आते हैं।

यहाँ के बारे में भी प्रमाणिक ऐतिहासिक तथ्य तो उपलब्ध नहीं हैं किन्तु एक जनश्रुति के अनुसार महाभारत के वीर बभ्रूवाहन के मस्तक की पूजा होती है, जबकि दूसरी जनश्रुति इस प्रकार बताई जाती है कि खाटू ग्राम के एक निवासी को श्यामजी ने स्वप्न में कहा कि वे खाटू की बावड़ी में मिट्टी के नीचे हैं, उन्हें निकाला जाये। कहते हैं कि बावड़ी की मिट्टी निकालने पर मूर्त्ति प्राप्त हुई। उसीकी पूजा की जाती है।

मन्दिर का जीर्णोद्धार कुछ वर्ष पूर्व किया जाकर आधुनिक रूप दिया गया है[१] तथा मन्दिर के पास ही आइल इंजन लगाया गया है, जिससे निज मन्दिर एवं ग्राम की सड़कों पर रोशनी की व्यवस्था की गई है।

गणेश्वर

यह नीमकाथाना पंचायत समिति के अंतर्गत गणेश्वर पंचायत का मुख्यालय है। नीमकाथाना एवं सीकर से इसकी दूरी क्रमशः ६ एवं ६२ मील है।

गणेश्वर में उष्ण जल का निरंतर बहने वाला स्रोत है। उष्ण जल संगमरमर के बने गौमुख से होकर एक कुंड में जाता है, जिसमें लोग स्नान करके पुण्य लाभ करते हैं। इस क्षेत्र का यह स्थान तीर्थ माना जाता है तथा लोग जिले के अन्य भागों से स्नान करने आया करते हैं। यह स्थान इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि जिले के आसपास उष्ण जल का यह एकमात्र स्रोत है।

उदयपुर—शेखावाटी

नवलगढ़ से सकराय के मार्ग में उदयपुर शेखावाटी प्रधान नगर आता है। इसे गाँव कहना इसके साथ अन्याय करना है। मराठों ने इसे लूटते समय इसके राजप्रासादों को जमीन में मिला दिया था। पर, यह वैश्य-संस्कृति प्रधान नगर था। यहाँ यह स्मरणीय है कि उदयपुर शेखावाटी का अंचल राजस्थान के वह उपजाऊ प्रदेशों में से एक है। आज तो यहाँ सभी प्रकार के फल लगते हैं, खूब अनाज पैदा होता है। अकबर के जमाने में यहाँ तांबे की खान थी। यहाँ के मोहल्लों के नाम वैश्यों के नाम पर स्थापित हैं। यहाँ पर कुछ मध्यकाल के मन्दिर हैं, जिनमें कृष्ण-भक्ति परम्परा थी।

उदयपुर-शेखावाटी के सम्बन्ध में हमें सशस्त्र-साधुओं की चर्चा करना आवश्यक है और उसे विस्तार से देने का लोभ है। इससे पता चलता है कि दादू की परम्परा की और दादूद्वारों की लोकमान्यता की अन्तिम समय में, २० वीं सदी के मध्य में क्या परि-णति हुई और भारत स्वतंत्र हुआ तो इसका विघटन किस रूप में सहसा ही हो गया, यह प्रमाणिक रूप से मालूम हो जाये। अभी तक इस विषय में बिलकुल भी प्रकाश नहीं डाला गया है। विश्वास है, यह सूचना विशेष रूप से विद्वानों को एक नया प्रमाण प्रस्तुत करेगी।

सशस्त्र साधु और सशस्त्र विद्रोह

औरंगजेब के इतिहास से पता चलता है कि उसके राज्यकाल में नारनौल में एक बड़ा सशस्त्र विद्रोह हुआ था और औरंगजेब की सेनाओं ने बड़ी निर्दयता से उनका दमन किया था। यह सशस्त्र विद्रोह नारनौल के संन्यासियों ने किया था। ये सतनामी साधु थे। सतनाम साधुओं का सम्प्रदाय बहुत पुराना नहीं है। किन्तु अकबर से पहले देश में दो धारायें चल रही थीं। बाहरी मुस्लिम शक्तियों से यहाँ के लोग सम्बन्ध स्थापित कर अपने लिए विशेष स्वार्थों का सुयोग संचित कर रहे थे, किन्तु दूसरी ओर विधर्मियों द्वारा देशके सनातन धर्म पर कुठाराघात होते देख कर साधुगण सशस्त्र होने लगे थे। बौद्धधर्म के काल में भी यही कुछ हुआ और पटना में जिस तरह रक्तपात हुआ, उसमें बौद्धों का योगदान आज तक इति-हास का चिंतनीय विषय बना हुआ है।

दादू पंथी साधु और शस्त्रधारण की परम्परा

आचार्य क्षितिमोहन जैसे मनीषियों ने भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं पाया कि ये सतनामी साधु किस तरह औरंगजेब के खिलाफ

---

१. चित्र देखिए, प्लेट-संख्या २८, संख्या ३।

सशस्त्र विद्रोह कर सके। किंतु यदि हम नारनौल के इर्दगिर्द जीर्णशीर्ण मठों और मंदिरों में परिभ्रमण करें तो कुछ सूत्र हाथ लगते हैं और हमारी दृष्टि जयपुर राज्य के नीमका थाना नामक स्थान पर जाकर टिक जाती है, जहाँ पर अपने युग का प्रसिद्ध अखाड़ा मशहूर था और जहाँ के साधु तलवार, बन्दूक, ढाल, भाले और बरछे नियमित रूप से रखा करते थे। उनकी शक्ति पर कोई भी विश्वास कर सकता था। समय आने पर वे खूंखार और रक्त-पिपासु तक बन जाया करते थे। मराठों से उन्होंने युद्ध किया है। नारनौल में इन्हीं की सहायता से सतनामी साधुओं ने औरंगजेब के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह किया था। नीमके थाने की पहाड़ियों के पीछे बसे उदयपुर शेखावाटी में इन्हीं सशस्त्र साधुओं की जमात आज से १०० वर्ष पहले स्थानान्तरित हुई थी। कुल मिलाकर उस जमाने में १५००० सशस्त्र साधु थे। अन्य अखाड़ों में सशस्त्र साधुओं की जो जमात थी, उसका हिसाब कूतने पर यह संख्या १ लाख तक हो सकती है।

रहस्यमय गाथा और आठ अखाड़े

कहा जाता है कि अकबर के दरबार में बूंदी राजा पृथ्वीसिंह जी के छोटे भाई सुन्दरदासजी[1] किसी युद्ध में हार गये थे। उस से क्लान्त और ग्लानि से भरे हुए वे पंजाब में भटक रहे थे। उन्हीं दिनों दादू इस प्रदेश में अपने भक्तों का आग्रह पूरा कर रहे थे। सुन्दरदास जी सशस्त्र रूप में थे। तलवार, ढाल और भाला साथ में था और निसान हाथमें था। इसी रूप में उन्होंने दादू के आगे नमन किया और उसी रूप में उन्होंने उनके अनुयायी होकर जीवनयापन की इच्छा प्रकट की। दादू न स्वीकार कर लिया। सुन्दरदास जी बीकानेर वापस न लौटे। उन्होंने अपने सशस्त्र साधुओं को लेकर अपना केन्द्र घाटेला में बनाया। यह स्थान अलवर राज्य के अन्दर है। तभी से इस लश्कर के अनुयायी सशस्त्र रहते चले आ रहे हैं।

यहाँ पर यह स्मरणीय है कि दादू के ५२ शिष्यों में प्रधान शिष्य एक और सुंदरदास हुए हैं, जो अपने युगके मनीषी कवि ही नहीं हुए, विद्वानों में परम विद्वान हुए। उनका मठ फतहपुर शेखावाटी में था और अब वह जीर्णशीर्ण अवस्था में विद्यमान है।

सशस्त्र सुन्दरदास जी के लश्कर को जयपुर राज्य ने अपने आश्रय में स्थान दिया था, उस समय तक अलवर का अस्तित्व नहीं बना था। देखते-देखते जयपुर राज्य ने सुंदरदास जी के इस सशस्त्र लश्कर को एक और रूप दे दिया। क्योंकि सुंदररास जी प्रसिद्ध राजपूत घराने के व्यक्ति थे, इसलिए उनकी सेवाओं से जयपुर ने पूरा लाभ लेना चाहा और इस नाते उनके साधुओं का मासिक वेतन २ रुपये मासिक कर दिया गया। राजा मानसिंहजी ने यह वेतन बढ़ा कर ४ रुपये कर दिया था। बारूद और गोले राज्य की तरफ से दिये जाते थे। ये साधु बन्दूक अपनी बनाते थे, तलवारें स्वयं तैयार कर लेते थे।[2]

क्रमशः इन साधुओं की संख्या बढ़ने लगी। पट-शिष्य गुरु बनने लगे। तब जयपुर राज्य ने यह व्यवस्था की, जयपुर की सीमा पर अन्य केन्द्र बनें। ऐसी सुविधायें दी गई और देखते-देखते उदयपुर शेखावाटी, नीम का थाना, निवाई, लालसोट, महावीर, चांदसेन, सवाई माधोपुर और मोरड़ा में ये अखाड़े जम गये। आचार-विचार से ये सशस्त्र लश्कर शान्तिप्रिय साधु थे और सुबह-शाम दादू की वाणी का स्मरण करते थे, दादूकी आरती गाते थे और जमात के रूप में रहते हुए अपने निकटवर्ती अंचलोंकी रक्षा करते थे। दुष्टों का दलन इनका काम था, चरित्रहीनों का शमन इनका बायें हाथ का खेल था। जयपुर राज्य से क्योंकि ये नियमित रूप से वेतन पाते थे, इस नाते बदले में नैतिक धर्म से ये कर्तव्य-बद्ध थे कि जब भी आवश्यकता पड़ेगी तो ये जयपुर राज्य की रक्षा करेंगे। जमात के रूप में रहते हुए इनकी शक्ति का दर्शनीय रूप यहां तक समृद्ध हो चुका था—कि इनकी जागीरें बढ़ चुकी थीं। हाथी ये रखते थे। इनके निसान अलग फहरते थे। दशहरे के दिन इनका जुलूस अपनी विशेष महत्ता रखता था। हरिद्वार में जो सशस्त्र अखाड़े आते हैं, यद्यपि उनकी गाथा अलग हो सकती है, किन्तु उनका क्रम-विस्तार कुछ इसी तरह हुआ होगा। ये लश्कर जयपुर राज्य की सहायक सेना के रूप में जीवित रहते थे। भारत सरकार आज जिस तरह टैरीटोरियल आर्मी का गठन कर रही है, कुछ उसी रूप में जयपुर राज्य ने इस सेना का गठन किया था।

क्योंकि युद्ध सदा ही नहीं होता, इसलिए शान्तिकाल में इन सशस्त्र साधुओं का एक दूसरा कार्य नियमित था। ये पटवारियों के साथ मालगुजारी की वसूली में सहयोग देते थे और शस्त्रों के निर्माण में व्यस्त रहते हुए ये अतिरिक्त बारूद-गोला भी तैयार करते रहते थे।

भिक्षा और विवाह

आज से ५० वर्ष पहले तक ये सशस्त्र साधु भिक्षा नहीं मांगते थे। यदि राज्य-वेतन आदि आने में विलंब होता था तो इनकी अपनी एक पंचायत होती थी और उस पंचायत के पास अतिरिक्त पूंजी सुरक्षित रहती थी, उसी में से साधुओं को निर्वाह-योग्य धन वितरित किया जाता था। किसी भी साधु को भिक्षा मांगनी पड़े, इस तरह का क्षण उपस्थित ही नहीं हो पाता। भिक्षा न मांगना इस जमात[3] का अटल नियम था और आज भी है। पहले इनके पास करने

[1] दादू महाविद्यालय रजत जयंती ग्रंथ में इनका पूर्व नाम भीमसिंह जी लिखा हुआ है। पृ० ४२।

[2] जयपुर-भरतपुर में जब संघर्ष हुआ तो सन् १८०० में जयपुर की ओर से ये सशस्त्र साधु फार्मी में रखे गये थे, भरतपुर के आतंक का दमन करने के लिए। अन्य युद्ध-विग्रह के प्रकरण भी ऐसे ही हैं।

झोंपड़े होते थे और ये कच्चे झोंपड़े इस तरह शहर के या गाँव के बाहर लगाये जाते थे, कि इनकी वस्ती दूर से ही अपनी अलग सत्ता घोषित करती नजर आती थी। बाद में शनैः-शनैः ये अपनी किसी तरह की अतिरिक्त आय से पक्के मकान भी बनाने लगे। उदयपुर की जमात में पचास सौ घर पक्के बने हुए हैं और वे ६० वर्ष पुराने हैं। वह अलग मुहल्ला है और जमात नाम से मशहूर है।

ये साधु कभी विवाह नहीं करते थे। आज्ञा भी नहीं मिलती थी। जो इस नियमका उल्लंघन करता था, उसे जमात से अलग कर दिया जाता था। इस कारण गरीबी से संत्रस्त व्यक्ति अपने बच्चों को छोटी अवस्था से ही इस जमात में भरती कर दिया करते। पंचायत का नियम था कि चाहे वह बूढ़ा हो या चार बरस का निरीह बालक हो, वेतन सब को बराबर मिलता था। जयपुर राज्य तो एक लंगोटी पीछे वेतन दिया करता था।

शेखावाटी पर जयपुर का नियंत्रण

शेखावाटी के ठिकाणे प्रारंभ में स्वतंत्र थे। जब जयपुर ने इन ठिकाणों को अपने अधीनस्थ करने का बीड़ा उठाया, तब इन सशस्त्र लश्करों ने जयपुर की सेनाओं से कंधे से कंधा भिड़ा कर युद्ध किया था और इस प्रकार बरसों से दिया गया इनको वेतन फलप्रद सिद्ध हुआ था।

इस तरह की कोई सामग्री या सूचना हाथ नहीं लगती कि चालीस-पचास हजार की संख्या में दादूपंथी साधु कभी आपस में ही शस्त्र लेकर गृहकलह मचा बैठे हों। हां, दाता रामगढ़ के १५००० साधुओं में जब आपसी मनमुटाव हुआ तो युद्ध नहीं हुआ, महीनों तक ये अलग-अलग मोर्चो पर विभक्त होकर जीवनयापन करते रहे। बाद में समझौता हुआ और ये सब साथ रहने लगे।

जब भारत स्वतंत्र हुआ तो इन जमातों पर पहला असर यह हुआ कि राज्य की तरफ से लाख से ऊपर दिया जानेवाला इनका वेतन कम किया गया। फलतः पहला नियम यह बनाया गया, कि जो १८ बरस से कम आयु के बच्चे थे, उनका वेतन समाप्त कर दिया गया और उन्हें बाध्य किया गया कि वे जमात छोड़ कर किसी दूसरी तरह से जीवनयापन करें। शेष लोगों का वेतन मिलता है, यह कहा जाता है। ये निजामत में रहते हुए सरकारी अधिकारियों को हर प्रकार से सहायता देते हैं। पर अब इन साधुओं ने अपनी खेतीबारी शुरू कर दी है। कुछ साधुओं ने संगीत में प्रवीण होकर कलकत्ता-बम्बई की यात्रा शुरू कर दी है। जब तक पंचायतों के पास रक्षित पूंजी है, इन जमातों के प्रधान साधु अपना पूर्ववत् जीवन-यापन करते रहेंगे। लेकिन निकट भविष्य में इन जमातों का अस्तित्व अवश्य ही क्षीण और समाप्तप्राय हो जायेगा। भारतीय सेनामें इनका उपयोग इसलिए नहीं किया जा सकता कि ये नियमतः सेना के योग्य व्यक्ति हैं भी नहीं।

सारे देशमें अब दादू पंथी साधुओं के अखाड़े उजड़ रहे हैं। पर उनसे पहले ये सशस्त्र अखाड़े विस्मृतिके गर्भ में समा रहे हैं। यों भी अखाड़े गये-बीते जमाने की बातें रह गई हैं। कर्मठ समाज में अकर्मण्य साधुओं का स्थान कहाँ है, यह सभी जानते हैं।

चित्तौड़—उदयपुर से ६९ मील पूर्व दिशा में बसा हुआ राजस्थान का यह प्राचीनतम गढ़ दिल्ली से ३९२ मील के व्यवधान पर है। इसका इतिहास तीसरी या चौथी सदी से प्रारंभ होता है किंवदंतियाँ यह भी हैं कि तीसरी-चौथी सदी के आसपास जो किला था वह पुराने खंडहरों पर निर्माण हुआ था और महाभारत में भी यहाँ एक गढ़ रहा, इसकी संभावना सत्य प्रतीत होती है। जनश्रुति है कि यहाँ पर पांडव भी आकर ठहरे थे। भीम गोडी और भीमलत्त नाम के दो जलाशय शायद उनका ही स्मरण कराते हैं।

चित्तौड़ से ७ मील दूर माध्यमिका (शिवी जनपद) के अनेक चिह्न प्राप्त हुए हैं। अजमेर राज्य के बाडली गांव से ४४३ ईसा पूर्व का एक शिला-लेख मिला है, जिसमें माध्यमिका के अन्दर एक जैनकेन्द्र होने का उल्लेख है। इसमें बौद्ध स्तूप भी मिले हैं। पुष्यमित्र ने जब मौर्य युग के बाद अश्वमेध यज्ञ किया तो एक घटना से उत्तेजित होने के कारण यूनानी नरेश मिनेंडर ने भारत पर हमला किया और माध्यमिका तक उसकी सेना अग्रसर हुई। उसकी सेना ने इसे ध्वस्त कर दिया, पर ५ वीं सदी के बाद पुनः मौर्यवंश की शाखा ने यहाँ निर्माण प्रारंभ कर दिया। चित्रांगद नामक राजा ने नये सिरे से यहाँ का किला बनाया। कुमारपाल प्रबन्ध का यह सूत्र—

यत्र चित्रांगदश्चक्रे, दुर्गं चित्रनगोपरि।
नगरं चित्रकूटाख्यं देवेने तदधिष्ठितम्॥

यह घटना ५ वीं या ६ ठी सदी की है।

आठवीं सदी से बापा रावल की कहानी शुरू होती है। १० वीं सदी में प्रतिहारों की शक्ति क्षीण हुई और परमारोंने उदयपुर के चितौड़ से भी प्रसिद्ध नगर आहाड़ को बर्बाद कर चित्तौड़ को अपना गढ़ ठहराया।

मुंज परमार ही सबसे पहले यहाँ आया। उसके छोटे भाई सिंधुराज के पुत्र प्रसिद्ध विद्यानुरागी राजा भोज ने यहाँ समिधेश्वर का मंदिर ११ वीं सदी में बनवाया, जो अभी भी विद्यमान है और उसमें १२ फुट ऊँची दीवाल पर उत्खचित त्रिमुखा महादेव की प्रतिमा अपने विराट् देवत्व का अभ्युदय प्रगट करती है।

कल्याणपुर में जो ३ फुट ऊँचा शिवमुंड प्राप्त हुआ है, उसकी कला-शैली भी और कुंडल इत्यादि बहुत कुछ इससे मिलते-जुलते हैं। भैरव-मुख की भयावहता मन में हड़कम्प-सी पैदा करती है। तीसरा मुख समाधिस्थ है। पुराना होने के कारण अपनी भावाभिव्यक्ति धूमिल कर बैठा है। इस मंदिर के ठीक सामने लगभग १२५ फुट की दूरी पर अद्भुतनाथ जी का मंदिर है, जो १४४९ ई० में बनवाया गया था। विचार करने की बात यह है कि जिस समय

तक समिद्धेश्वर का जीर्णोद्धार हो चुका था,उसके बाद इसी शैली के और इसी समानान्तर मूर्ति की स्थापना का सन् १४८६ में करने का प्रयास केवल इसी आधार पर रहा होगा कि समिद्धेश्वर के प्रति जन-मानस में कुछ उदासीनता आई होगी। मंदिरों के प्रति जन-मन में हठात् ही उद्वेग आता है और सहसा ही उदासीनता भी परिव्याप्त हो जाती है। पर आज भी समिद्धेश्वर की प्रतिमा कहीं अधिक सशक्त और कहीं प्राचीनतम शैली के त्रिमुखी महादेव की प्रतिनिधि शक्ति को लेकर प्रमत्त है।

समिधेश्वर महादेव से भी प्राचीन यहाँ पर सूर्य का मंदिर है, जो ७वीं ८ वीं सदी का है। इस समय यहाँ कालिका माता का मंदिर स्थापित कर दिया गया है। अलाउद्दीन खिलजी ने १३ वीं शती में चित्तौड़ पर प्रथम साके के समय जो विशाल मृत्यु-तांडव उपस्थित किया था, उसी समय यह सूर्य मंदिर खंड-खंड हुआ होगा।

१५वीं सदी में कुंभ स्याम का मंदिर राणा कुंभा ने बनवाया। मंदिर का शिल्पअंकन बहुत प्रभावशाली, मूर्त्तिकला की दृष्टि से अपने युग के कला - साम्राज्य का मानो अधीश्वर रूप है। निश्चित रूप से राणा कुंभा की जो ख्याति ललित कलाओं में पारंगत होने की दृष्टि से है, उसका जीवन्त स्मारक यह मंदिर है। कहा जाता है कि राणा कुंभा ने कुल मिला कर ४२ मंदिरों का निर्माण किया। इस मंदिर में विष्णु के वराह अवतार की प्रतिष्ठा थी। इसी के वाम-पार्श्व में मीराबाई का मंदिर है, जिसमें कोई प्रतिमा नहीं है, किन्तु वर्त्तमान में मीराबाई का चित्र टांग कर इसे मीराबाई द्वारा स्थापित मंदिर बनाने की घोषणा की जा रही है। इन मंदिरों के अतिरिक्त सन् ७५० में निर्मित मुकुटेश्वर का महादेव मंदिर है, पातालेश्वर है और कुल अन्य जैन मंदिर हैं। राणा कुंभा ने सन् १४४८ में जयस्तम्भ का निर्माण करवाया था। कुंभाशाम के मंदिर के बाद यह दूसरा वैष्णवी निर्माण था, जो अपने इष्ट विष्णु के निमित्त उसने बनवाया था। यह १२२ फुट ऊँचा है और सम्पूर्ण स्तम्भ भारत के समस्त देवी-देवताओं को समर्पित है। ब्रह्मा-विष्णु तथा अन्य देवताओं की शत-शत मूर्तियाँ इस पर खुदी हुई हैं। इतिहासकार वी० ए० स्मिथ ने इसे हिन्दू देवी-गाथाओं का एक सचित्र कोश बतलाया है, यह उसने सत्य ही कहा था। प्राचीनकाल के विजय-स्मारकों और विजय-स्तम्भों की परम्परा में यह स्तम्भ एक प्रकार से उस सर्वोच्च सनातनी श्रद्धा का प्रतीक है, जो ईश्वर-शक्ति में विश्वास करते हुए गीता के निष्काम कर्मयोग का पालन करते-कराते अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए प्रवृत्त होना है। राजपूत नरेशों ने जो भी युद्ध लड़े, उनकी बलवती प्रेरणा वे अपने इष्ट देवी-देवताओं के सम्मुख खड़े होकर आन्तरिक युद्धोन्माद के सहारे प्राप्त किया करते थे। यहाँ पर श्री अन्नपूर्णा देवी का मंदिर भी है। इसका निर्माण राणा हमीर प्रथम ने करवाया था। बनमाता का मंदिर राणा देव के द्वारा निर्मित है। चारभुजा जी का मंदिर भी है। जो नीलकंठ महादेव है, उसकी स्थापना भीम के हाथों हुई थी,ऐसी कथा चली आ रही है।

क्योंकि चित्तौड़ गढ़ अपने आप में एक स्वतंत्र दुर्ग नगरी रहा, इसलिए यहाँ पर स्थापित मन्दिरों का अध्ययन करने से समग्र राजपूती देवाराधना को एक सीधी रेखा में खींचा हुआ २००० वर्षों का इतिहास हाथ लग जाता है। इस दृष्टि से चित्तौड़ के मन्दिरों का अपना एक स्वतंत्र ऐतिहासिक मूल्य है।

यह ५वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी पर्यन्त गुहिलोत तथा मेवाड़ के सीसोदिया राजाओं का रहा। किन्तु उससे पूर्व, प्रसिद्ध है कि यह गढ़ के आदि निर्माता चित्रांगद मौर्य का स्थान था। उसी मौर्यवंशी नरेश के नाम पर यह चित्तौड़ नाम डिंगल की तुक में हो गया। उसके बाद गुहिलोत आये और उन्होंने इस गढ़ का विकासात्मक निर्माण ८वीं सदी में युग की परिस्थितियों के अनुरूप करवाया, सीसोदिया राजा अजयपाल (सन् १६७४-७७) ने इसे अपने अधिकार में करने के बाद गुहिलोतों द्वारा निर्मित प्राचीन कोट को पुनः बनवाया और संभवतः इसका अधिक प्रसार भी किया। संभवतः १२वीं सदी से लेकर १५वीं सदी तक निरंतर होनेवाले आक्रमणों की दृष्टि से ही इस गढ़ की लम्बाई ५ मील तक अपना भयावह और अविजेय रूप धारण करती चली गई। जहाँ इसके भवनों में शिल्पकला का युगानुरूप सौम्य और दर्शनीय स्वरूप सहस्त्र-सहस्त्र दर्शकों को आकर्षित करता है, वहीं पर अपनी स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले वीरों की शूरता इतिहास-लेखकों और राष्ट्र-प्रेमियों का निरंतर आह्वान करती है।

चित्तौड़ गढ़ में बने हुए मन्दिरों की कथा से यह अकाट्य प्रमाण हाथ लग जाता है कि यह प्रदेश शैवधर्म का अनुयायी था। इससे पूर्व यहाँ पर सूर्य की उपासना निकटवर्ती उत्तरीय अंचलों की सूर्योपासना को बल देती हुई प्रचलित थी। शैवधर्म में अनुरक्त सभी राज्यों का इतिहास दुर्द्धर्ष संग्राम-प्रियता और समुन्नत सांस्कृतिक जीवन के लिए प्रसिद्ध रहा है। यही कारण है कि जब इस देश में मुसलमानों का आधिपत्य शुरू होने लगा तो उनकी दृष्टि इस राज्य पर भी गई, जो उस समय की दृष्टि से, राजस्थान के अन्य राज्यों के अनुपात में, सर्वाधिक संपन्न व मन्दिर-बहुल नगरों का अधिपति था। चित्तौड़ पर पहला आक्रमण सन् १३०३ में हुआ। पद्मिनी को अधिकृत करने की इतिहास-कथा प्रतीक-कथा अधिक है; वह पूर्ण रूप से इस प्रदेशीय राज्य पर हावी होने का स्वप्न देख रहा था, कुछ उसी तरह, जिस तरह अकबर ने जयपुर की जोधाबाई को अपनी पत्नी बनाकर, राजस्थान में अपने एकच्छत्र पराक्रम का ध्वज फहरा दिया था और बड़े पैमाने पर राजपूतों को मुगल सेना में अधिकार देने का अभियान सबल बनाने में अभूतपूर्व सफलता ग्रहण की थी। अलाउद्दीन खिलजी राजपूतों के बल पर सार्वभौम बादशाह होने का स्वप्न देखता था। किन्तु इसे परिणाम-स्वरूप

चित्तौड़ में पद्मिनी की राख हाथ लगी, राणा रत्नसिंह ने वीरगति पाई और उसके आठ पुत्र भी शहीद हुए।

दूसरा आक्रमण सन् १५३६ में होता है, जब गुजरात के राजा बहादुरशाह ने आक्रमण किया। देओलिया के रावल बाघसिंह और उनकी रानी जवाहिर बाई ने इस संग्राम में वीरगति प्राप्त की।

तीसरा आक्रमण अकबर ने किया। उस समय राणा उदयसिंह के युद्ध-नायक जयमल और फत्ता ने अद्भुत पराक्रम का परिचय देते हुए वीर गति प्राप्त की। कहते हैं, नौ रानियाँ और पांच राजकुमारियों ने जौहर किया। उसके बाद, राणा उदयसिंहजी के देहावसान के बाद, राणा प्रताप ने मेवाड़ के भाग्य की बागडोर अपने हाथों में सम्हाली, लेकिन हल्दीघाटी के युद्ध में वे परास्त हुए। पर उन्होंने हिम्मत न हारी, अरावली की उपत्यकाओं में वे अपनी सैन्यशक्ति बटोरते रहे और शनैः-शनैः अपने सभी गढ़ों पर उन्होंने निजी अधिकार प्राप्त कर लिये। स्वाधीनता-संग्राम की विजय किन उपायों से हस्तगत होती है,इसके वे अमर प्राण आदर्श देश के इतिहास में बन गये।

लेकिन इस राजनीतिक झांकी के सामने हम चित्तौड़ का देवालय-वैभव गौण नहीं बना सकते। राजस्थान के समस्त गढ़ों में शायद इतने अधिक देवालय नहीं है। राजमहल, बावड़ी, तोपखाना आदि राजकीय उपादानों के अतिरिक्त वहाँ पर केवल काम-चलाऊ मन्दिर ही सुलभ होते हैं। पर चित्तौड़ का इतिहास सिद्ध करता है कि यहाँ पर देवालयों की आराधना विस्तृत और सबल आधारों पर संपन्न होती रही। काल-क्रम के महत्व की दृष्टि से यहाँ पर निम्न देवालय विद्यमान हैं :

१. कालिका माता; लगभग ७वीं सदी का सूर्य-मन्दिर है, बाद में राणा कुंभा के समय कालिका आई। इसमें पूर्णतया सूर्य का वर्णन है।

२. समिद्धेश्वर महादेव : इसमें ८वीं, ९वीं और १२वीं-१३वीं सदी की शिल्पकला विद्यमान है।

३. कुम्भा श्याम जी : अपनी सदी का श्रेष्ठ निर्माण-शैली का नमूना है। पहले यह विष्णु मन्दिर रहा होगा, क्योंकि इसमें सर्वत्र विष्णु-लीला की झांकी है। यह १०वीं सदी का है, १५वीं सदी में इस का जीर्णोद्धार राणा कुम्भा ने कराया। और और यहां पर श्यामजी की प्रतिमा स्थापित की। इससे पता चलता है कि श्यामजी की पूजा १४वीं सदी के बाद से प्रचलित होने लगी थी। देव-पथ लगभग २५ फुट लम्बा, १४ स्तंभ सभा मंडप में,वराह की मूर्ति अब गर्भ गृहके ठीक पीछे दीवार में अंकित है।

४. अद्भुतनाथ जी : यह भी समिद्धेश्वर महादेव के समान १३वीं सदी के बाद का मालूम होता है, इसमें भी समिद्धेश्वर के समान त्रिमूर्ति है।

५. नीलकंठ महादेव : यद्यपि इसका बाहरी चिनाव संगमरमर का हो गया है, लेकिन इसकी नींव का अध्ययन करने से मालूम होता है कि यह १०वीं सदी का है।

६. रत्नेश्वर महादेव : रतन सिंह जी के महलों के पास है, १४वीं सदी का है।

७. गुप्तेश्वर महादेव : शिल्प की दृष्टि से बहुत उत्तम है, १४वीं सदी का है।

८. जटाशंकर महादेव : शिल्प की दृष्टि से इतना अच्छा नहीं है, लेकिन १५वीं सदी का है।

९. अन्नपूर्णा मन्दिर : अनेक बार की मरम्मत के कारण इसके असली समय का पता नहीं है।

१०. गोतमेश्वर मन्दिर।

११. मीरा बाई का मन्दिर।

१२. तुलजा भवानी का मन्दिर।

१३. बाण माता।

१४. भगवान चतुर्भुज का मन्दिर।

१५. अबरी माता का मन्दिर : अबरी गाँव, चित्तौड़ से ८ मील दूर। लकवे के रोगी यहाँ मनौती मनाते हैं, और नीरोग होते हैं।

१६. जैन मन्दिर—११वीं सदी का है। सात बीस देव हैं।

१७. शृंगार चौरी—सन् १४४३ का है। शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है। प्रतिमा इसके केन्द्र में थी। नृसिंह जी की मूर्ति है दीवार पर, राणा कुभा के खजांची ने इसे बनवाया।

बूंदी

जयपुर से यदि हम सीधे बूंदी निकल जायें, तो यहाँ पर हमें अधिकांश १७वीं सदी के आसपास अनेक मन्दिर विद्यमान मिलेंगे।

बूंदी का गढ़ ऊपर पहाड़ी पर स्थित है। यहाँ पर श्री रंगनाथ जी का मन्दिर है। यह राजकीय देवालय है। उनके इष्टदेव ये ही थे। ज्येष्ठ कृष्ण इकादशी को संवत् १८११ में यह स्थापित हुआ था।

बाजार में कृष्ण-मन्दिर की परम्परा में "माता श्री छोटी पड़हारीजी साहब श्री शुभनाथ जी कुंवरिजी छै, यां ने बूंदी नगर के दक्षिण की तरफ गोविन्द सागर नामक कुंड बसाया छै, अब . . . श्री गोविन्दनाथ जी का मन्दिर श्री पीताम्बर जी का मन्दिर के पास बणवाकर पधरवाया फाल्गुन शुक्ला नवमी रविवार, संवत् १९८२।" इसी मन्दिर के पार्श्व में पीताम्बर जी का मन्दिर है।

शिखर-रहित आवास में काष्टमूर्ति के जगदीश जी का मन्दिर है बाजार में। सबसे अधिक मान्यता यहाँ पर गोपालदास जी के मन्दिर की है। यह वल्लभकुलीय देवालय है। नगर से बाहर उत्तर दिशा में केदारेश्वर महादेव है, जहाँ पर बारह मास लिंग के ऊपर प्रकृत जलधारा गिरती रहती है। इस धारा का नाम

बाण गंगा है। यह बद्रीनारायण-केदारेश्वर स्वरूप माना जाता है, इस अंचल का प्रसिद्ध तीर्थ भी है।

इस तीर्थ को जाते हुए मार्ग में एक एकान्त कोने में खड़ा हुआ एक विष्णु मन्दिर है, छोटा है। इसे रंडियों का मन्दिर कहा जाता है। हिन्दू वारांगनाएँ अपनी पूजा यहीं पर किया करती थीं, इसलिए यह नाम हुआ!

शिकारबुर्ज में दस फुटी दास भाव में खड़ी हुई मनोरम राज-मुकुटधारी हनुमानजी की मूर्ति है।

नगर से ४ मील की दूरी पर रक्तदंतिका का मन्दिर सतूर में है। किंवदन्ती है कि दुर्गासप्तशती यहीं पर लिखी गई; रक्तदन्तिका के समक्ष दाल-बाटी का भोग लगता है। सतूर में बूंदी राजवंश की इष्टदेवी आसपूर्णा की चर्चा जेम्स टॉड ने अपने ग्रंथ में भी की है।

इस स्थान से जब हम लौटते हैं तो नगर से एक मील की दूरी पर दधिमाता का मन्दिर है। यह भी शक्ति-मूर्ति है, लेकिन यह महिषमर्दिनी न होकर, सिंहवाहिनी है। हमारी यह निश्चित धारणा है कि इस प्रकार की मूर्ति संभवतः समग्र राजस्थान में और नहीं है। देवी का सौन्दर्य शिल्पि से दिव्य बन पड़ा है, एक ओर न बैठकर वे दोनों पैरों को दोनों ओर लटका कर सिंह की पीठ पर आरूढ़ हैं। लेकिन वस्त्र से इसे आच्छादित इस बुरी तरह कर दिया गया है कि केवल मुख और सिंह-मुख ही दिखाई पड़ता है। यह मन्दिर दायमा ब्राह्मणों का पूजास्थल है।

सतूर से ४ मील दूर मारकंडेय ऋषि का आश्रम माना जाता है और वह पश्चिम दिशा में स्थित है।

यदि हम चित्तौड़ से बूंदी की दिशा जाते हुए मेणाल की तरफ बढ़ें तो मेणाल से ७ मील दूर पश्चिम दिशा में अरावली की गहन उपत्यकाओं के बीच शिखरों के अन्तराल में स्थित जोगिनी माता का मन्दिर और उसके निकट एक झरना है। यहाँ पर प्रायः वायुरोग के रोगी अधिक जाते हैं।

यह बात समझ में नहीं आती, वैसे समझने की विशेष बात भी नहीं है, क्योंकि एक मन्दिर के प्रसिद्ध होने पर प्रायः उसके निकट-वर्ती अंचलों में उसी प्रकार की मूर्ति के गुण, रूप-प्रसाद से विभू-षित प्रतिमाओं के स्थापित करने की परम्परा १७वीं और १८वीं सदी में रही है, कि उदयपुर प्रदेश में ऐसी माताओं के मन्दिर ५-६ हैं, जहाँ पर लकवा, वायुरोग, गलितकुष्ठ जैसे रोगों के रोगी अपना दुखड़ा लेकर जाते हैं। और इस आशा में जाते हैं कि वे देवी के समक्ष आत्म-समर्पण करने के उपरान्त अवश्य ही नीरोग हो जायेंगे। आज तक इस विषय में कोई निश्चित अनुसंधान नहीं हुआ है, फिर भी आर्त्त और जीवन से निस्सहाय रोगी इन स्थानों में एक अन्तिम आशा लेकर अवश्य पहुँचते हैं और बड़ी संख्या में पहुँचते हैं।

इसी प्रसंग में जोगिनी माता के निकट तिलस्म महादेव का मन्दिर भी है, जहाँ पर एक कच्चा कुंड है और जिसकी कच्ची मिट्टी गलित कुष्ठ पर लेपने से आराम होता है, यह एक मोटी धारणा है।

कोटा

कोटा बहुत अधिक पुराना नगर नहीं है। पहले यह बूंदी का एक अंग था। यहाँ पर वल्लभकुल के मन्दिर मिलते हैं।

हरियाणा प्रदेश से निकलने के बाद और भरतपुर से आगे चलते हुए यह पहला स्थान है, जहाँ पर बलदाऊजी का मन्दिर भित्तिचित्रों से सुसज्जित है।

राजकीय प्रासाद में, गढ़ के अन्दर, ब्रजनाथजी का मन्दिर है।

प्रासाद के पीछे के एक कोने में, चम्बल नदी के तट के ऊपर स्थित गोकर्णेश्वर महादेव का एक नया मन्दिर है, जहाँ पर १॥ फुट लंबी विशाल श्याम पत्थर की जलहरी पर शिवलिंग स्थापित है और लगभग ५ फुटी लम्बाई में स्थित एक बड़े आकार का कलात्मक नन्दी विराजमान है।

यहाँ पर एक मन्दिर रामचन्द्रजी का है, जिसे अग्रवालों का मन्दिर कहते हैं। विस्तीर्ण आंगन और विस्तीर्ण सभा-मंडप के साथ यहाँ भी २०वीं सदी के द्वितीय युग के भित्तिचित्र हैं।

कोटा गिरी-सम्प्रदाय के संन्यासियों का गढ़ रहा है। यहाँ पर दो छोटी समाधियां हैं। एक लघु गढ़ के रूप में विराजमान है और यह लगभग ३५० वर्ष प्राचीन कही जाती है। चम्बल नदी इनकी दीवालों के नीचे से बहती है। मूल बात यह है कि आज तक चम्बल के आघात इन समाधियों को कोई क्षति नहीं पहुँचा सके हैं। इन दोनों समाधियों में शिवलिंग स्थापित हैं।

समग्र राजस्थान में केवल दो ही स्थान ऐसे हैं, जहां पर कायस्थ जाति द्वारा पूजित चित्रगुप्त के दो मन्दिर हैं, जिनमें चित्रगुप्त स्थापित हैं। एक तो यहाँ कोटा में है, और दूसरे भरतपुर में। कोटा के राजकीय प्रासाद में इस समय एक संग्रहालय इस प्रदेश के प्राचीन देवालयों के दर्शनीय व उल्लेखनीय सूत्रों का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

सीता बाड़ी : अभी तक यह विवादास्पद ही है कि राम द्वारा निष्कासित होने के बाद सीताजी कहां पर रही और वाल्मीकि का आश्रम कहां पर था। राजस्थान में लोक-धारणा से संपुष्ट ऐसे दो स्थान हैं। एक तो कोटा प्रदेश में और दूसरा प्रतापगढ़ के भयंकर पर्वत-शृंगों के बीच में स्थित है। दोनों ही स्थानों का नाम सीताबाड़ी है। कोटा से ४२ मील बारां है और उससे १५ मील आगे सीताबाड़ी है। यहां पर सीता, सूर्य और लक्ष्मण के तीन कुंड हैं। एक नदी भी बहती है। उसकी बीच धारा में लिंग या जलहरियां प्रकृत रूप से विद्यमान हैं। सूर्य कुंड पर २०० फुट ऊँचे वृक्ष देखने को मिलते हैं। यहां चिरोंजी दाना अनाज की तरह से बिकता है। आशय यह है कि बहुत प्रचुर मात्रा में होता है।

बाड़ोली के मन्दिर

राजस्थान में जहाँ एक ओर प्राचीन दुर्ग-नगर ८वीं सदी तक एक दीर्घ शृंखलाओं में स्थापित हो चुके थे, वहीं पर पहाड़ियों की हरीभरी उपत्यकाओं में जलधाराओं के निकट, रमणीक प्रकृति-स्थलि के प्रांगण को अपना केन्द्र बनाते हुए देवालय नगर भी स्थापित किये गये। जबकि बांसवाड़ा के निकट, अर्थूणा[1] स्पष्ट रूप से एक बड़े श्मशान का परिचय देता है, उसीके सन्तुलन में मेणाल है। बिजोलिया, बाड़ोली के मन्दिर, सीकर का हर्ष पर्वत, नीमथाना के पास गणेश्वर आदि स्थान इस बात का परिचय देते हैं कि विशिष्ट दिव्य स्थानों पर लोक-परम्परा का समर्थन प्राप्त करते हुए विराट मन्दिरों के लघु नगर निर्मित किये जाते थे।

बाड़ोली के मन्दिर स्पष्ट रूप से दिव्य देवगणों का ऐसे ही एक नगर रूप हैं। यह स्थान कोटा से दक्षिण में ३० मील दूर सप्त मन्दिर समूह का दिव्य देश[2] माना जाता है। यद्यपि जेम्स टाड ने इस स्थान की पृष्ठभूमि का मूल्यांकन सही रूप से लगाने में अपनी असमर्थता प्रदर्शित की है, किन्तु मन्दिरों का जो निरीक्षण-उल्लेख प्रस्तुत किया है, वह आज भी पढ़ने के बाद हमें हमारी संस्कृति के प्रति गर्वोन्नत हो जाने के लिए प्रेरणा देता है। यहां पर मुख्य रूप से महादेव के मन्दिर विद्यमान हैं। मन्दिरों की परिधि में अष्टभुजा माता का भी मन्दिर है, जो कि एक प्रकार से शक्ति की महेश्वर के ऊपर विजय थी। योगिनियों और अप्सराओं का अंकन तो केवल साक्षात दर्शन से ही वास्तविक आनन्द दे सकता है। यहाँ पर त्रिमूर्त्ति का भी मन्दिर है। शिव के ऊपर नागराजों का छाया हुआ छत्र है, यह मुख्य प्रतिमा ६।। फुट ऊँची है। केन्द्रिय मन्दिर ५८ फुट ऊँचा है। यहाँ पर भुक्ति-माता की प्रतिमा भी विद्यमान है, जो एक प्रकार से अकाल, दुर्भिक्ष आदि के समय श्रद्धा-निवेदन की अधिष्ठात्री देवी बनती थी। जेम्सटाड ने इसका नाम रोड़ी बाड़ोली कहा है, जो एक प्रकार से बालरोड़ी का अपभ्रंश है। यहाँ पर शैलपति हिमालय की कन्या पार्वती का भी एक मन्दिर स्थापित किया गया था, किन्तु वह अशुभ अवस्था में अरक्षित पड़ा हुआ है। चित्तौड़गढ़ की तरह यहाँ भी एक शृंगार-चंवरी है, जिसकी कलात्मक तक्षण-शैली अद्‌भुत रूप से दर्शकों को मोहित कर लेती है। जिस राजा हूण की कथा चौहानों के प्रारंभिक इतिहास में आती है—जिसके नाम से जन-श्रुति यह प्रमाणित करने की पूर्ण कोशिश करती है कि यह बाड़ोली मन्दिर उसी राजा हूण के स्थापित किये हुए हैं; वे ही यह बताने की भी कोशिश करते हैं कि इसी चंवरी में राजा हूण ने अपना विवाह रचाया था। यहाँ के नन्दीश्वर की प्रतिमाएँ भी दर्शनीय हैं। गणेश की प्रतिमा भी है।

कोटा प्रदेश में केवल बाड़ोली ही ऐसा स्थान नहीं था, जहाँ देवालयों की स्वतंत्र नगरी बसी हुई थी। गुप्तकाल के बाद से यहाँ पर और भी ऐसे स्थान रहे, जिनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार तैयार की जा सकती है—

महादेव चौमा : कोटा से १५ मील दूर। वर्तमान नाम चौमाकोट गाँव है।

मुकुन्दरा : झालावाड़ के मार्ग में ३३ मील दूर है। दर्रा की घाटी में भीमचौरी मंडप है, ये दोनों स्थान गुप्त कालीन हैं।

मध्यकालीन स्थान इस प्रकार हैं—

अटरू : कोटा से ६० मील दूर यहाँ पर ९वीं सदी के मन्दिर हैं।

शेरगढ़ : कोटा से ८० मील दूर है।

कृष्ण विलास : यह कोटा की तहसील किशनगंज में ७१ मील दूर विलास नदी के तट पर है।

भीमगढ़ : कोटा की तहसील छीपा बड़ौदा में यह ७२ मील दूर है और दुर्ग व मन्दिरों के भग्नावशेष हैं।

रामगढ़ : तहसील किशनगंज से ७० मील दूर। यहीं पर भंड देवरा नाम का शिवालय है।

गेपरनाथ : दक्षिण में १० मील दूर गहरे खड्डे में एक शिव मन्दिर है।

बूढ़ादीत : ३५ मील दूर तहसील बड़ौद में सूर्य मन्दिर के अवशेष हैं।

असनावर : यह दक्षिण में ६५ मील है।

आमेठा : यह ८० मील दूर है।

भीमपुरा का सप्त मात्रिकाओं का प्राचीन मन्दिर तथा श्री दंष्ट्रा देवी और डेरु माता के सुप्रसिद्ध मन्दिर, जो कोटा नगर के १२ मील के घेरे में स्थित हैं, इस क्षेत्र की प्राचीन संस्कृति का आभास देते हैं। इंद्रगढ़ तहसील में स्थित ऊँचे पहाड़ पर भगवती बीजासन का प्रसिद्धि-प्राप्त मन्दिर है, जिसके प्रति श्रद्धालुओं की ऊँची भावना है। रामगढ़ के पहाड़ में भगवती कृष्णा और अन्नपूर्णा का सुप्रसिद्ध मन्दिर स्थित है—इसकी सात सौ सुन्दर सीढ़ियों का निर्माण एक शताब्दि पूर्व झाला जालिम सिंह ने करवाया था।

कोटा के पास कन्सुआँ का सुप्रसिद्ध प्राचीन श्री करुणेश्वर का शिखरबन्ध शिव-मन्दिर गुप्त-कालीन है। श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका में इस स्थान को कण्वाश्रम की संज्ञा दी है। शंकर के इस भव्य मन्दिर के ऊपर एक सुन्दर उद्यान में श्री बटुक भैरव की प्राचीन ६ फीट ऊँची प्रतिमा है, जिसके प्रति लोगों की विशेष श्रद्धा है। कन्सुआँ के अतिरिक्त कोटा जिले के अन्य स्थानों पर भी प्राचीन शिव मन्दिर विद्यमान हैं, जिनसे तत्कालीन संस्कृति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। चारचोमा के सुप्रसिद्ध शिव-मन्दिर का चतुर्मुखी लिंग और विशाल नन्दी

---

१ ओझाजी ने बांसवाड़ा के राज्य में अपनी सम्मति देते हुए लिखा है कि यहाँ प्राचीन नगर था, किन्तु अपने वृत्तान्त में वे स्पष्ट लिखते हैं कि ये समस्त मंदिर मृत व्यक्तियों की स्मृति में चिनवाये गये थे!

२ रंगनाथ के मंदिरों की परम्परा में दिव्य देश की स्थापना कोई मौलिक कल्पना न थी, वह बहुत पुरानी है।

अपनी पृथक विशेषता रखते हैं। इस स्थान पर पूर्व पुरुषों ने अनेक यज्ञ करके अपने इष्ट देव को संतुष्ट किया है। यह मन्दिर गुप्त कालीन वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण है। इसके स्तम्भ पर ध्रुव स्वामी का नाम अंकित है जो हूणों की लड़ाई में मारा गया था। कोटा नगर में प्राचीनतम शिवालय श्री नीलकंठ महादेव का माना जाता है जो राजमहल के पूर्व में स्थित है। कोटा नगर के दक्षिण की ओर विश्वनाथ का एक अत्यन्त रमणीक मन्दिर है जो भीतर का कुंड के नाम से प्रसिद्ध है। मन्दिर के भीतर चौमुखा शिव लिंग है जो उदयपुर के श्री एकलिंग से मिलता जुलता है। नगर से १२ मील दक्षिण में गैपुरनाथ का सुप्रसिद्ध शंकर का मन्दिर है। इस स्थान पर चम्बल की अनोखी छटा है। यहाँ दो घाटियों के बीच में लगभग २०० फीट की ऊँचाई से गिरते हुए पानी का दृश्य देखते ही बनता है। अन्ता तहसील में नागदा का शिव मन्दिर भी एक प्राचीन स्थान है जिसके नीचे निरन्तर बहने वाली नदी और सुन्दर कुण्ड विशेष आकर्षण रखते हैं। कुण्ड के जल में यह विशेषता है कि वर्षाकाल में भी यह मैला नहीं होता। इन्द्रगढ़ से पाँच मील दूर कवांल जी का सुप्रसिद्ध प्राचीन शिव मन्दिर है। इसके पार्श्व में स्थित जलाशय का जल सब प्रकार के चर्म रोगों में औषधि का काम करता है। किंवदंती है कि इस तालाब में स्नान करने से राजा भोज के कोढ़ दूर हो गये थे।

झालावाड़

कोटा के निकट बस द्वारा मार्ग से झालावाड़ पहुँचा जाता है। लगभग ७ घंटे का मार्ग है। झालावाड़ आधुनिक नगर है और २ मील की दूरी पर प्राचीन नगर झालावाड़-पाटन है और यहाँ से १ मील की दूरी पर चन्द्रभागा नदी के किनारे पर प्राचीन मन्दिरों की उजड़ी हुई देवनगरी है।

बूंदी के सतूर स्थान के पास भी चन्द्रभागा नदी मिलती है। यहाँ पर बहनेवाली जलधारा का नाम भी चन्द्रभागा ही है।

झालावाड़-पाटन का सर्वप्रधान और इतिहास-प्रसिद्ध मन्दिर सूर्य का है, जो उजाड़ होते हुए भी अपने पूर्ण वैभव के साथ दर्शकों को आनन्दित करने के लिए यथापूर्व खड़ा हुआ है। कहना चाहिये कि मेणाल, बिजौलिया, बाड़ोली, चित्तौड़, जैसलमेर, मंडोर और अलवर के नीलकंठ महादेव आदि स्थानों में जितने भी प्राचीन मन्दिर हैं, उन सबमें सबसे अधिक विशाल मन्दिर की दृष्टि से यह सूर्य-मन्दिर अपने सजीव-साक्षात हस्तामलक के रूप में विद्यमान हैं। अब यहाँ पर पद्मनाथजी का विग्रह स्थापित है।

झालावाड़-पाटन में आधुनिक मन्दिरों में सबसे अधिक पूजनीय द्वारकानाथ जी का मन्दिर है और नवनीत प्रियाजी की प्रतिमा भी स्थापित है। कहा जाता है कि राधाकृष्ण जी की भारत-विख्यात सप्त मूर्तियों में से यह एक है! ये सप्त मूर्तियां इन स्थानों पर विद्यमान हैं—

(१) मथुरा, (२) भरतपुर, (३) जयपुर, (४) नाथद्वारा, (५) कांकरोली, (६) झालावाड़ और (७) कोटा। रमणीकनाथ तथा गोपीनाथजी के विग्रह भी हमें इस नगर में मिलते हैं। रमणीक की प्रतिमा एक लोहार के मकान की खुदाई में से मिली थी। द्वारकानाथ जी का यह मन्दिर लगभग १५० वर्ष प्राचीन माना जाता है।

प्राचीनता की दृष्टि से यहां पर शनिश्चरजी के मन्दिर में कुछ प्रतिमाएं १६वीं, १७वीं सदी की पड़ी हुई हैं। इनमें राहु, केतु, गुरु, चन्द्र, बुद्ध, सूर्य, धर्मराज और विधातृ की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय हैं। इस मन्दिर के अन्तर्गत शिलादेवी का मन्दिर भी है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह मूर्ति करीब ४०० वर्ष पुरानी है। यहां पर काला-गोरा भैरव भी है। और माता के पुजारियों का कथन है कि जिस समय आमेर के गढ़ में शिला माता की स्थापना हुई थी, ठीक उसी समय और उसी की अनुकृति के रूप में यहाँ पर यह शिलादेवी स्थापित की गई थी।

अजमेर

यह भी लगभग चौहानों के समय से डेढ़ हजार वर्ष प्राचीन नगर है। यहाँ पर ६ मील दूर पुष्कर का प्रसिद्ध तीर्थ है। ब्रह्माजी व सावित्री के मंदिर काफी प्राचीन हैं। श्री रंगनाथ जी और गायत्री के मंदिर अभी नये स्थापित हुए हैं।

अजमेर संग्रहालय में प्रदेश के अनेक पुरातत्व महत्व की प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

सिरोही

सिरोही से लगभग ४ मील दूर सारणेश्वर महाराज का मंदिर है। यह सिरोही राज्यवंश के कुलदेवता थे। मंदिर के समक्ष दो विशालकाय हाथी उनकी सेवा में अनन्य मूर्ति बने हुए मुख्य द्वार के समक्ष खड़े हुए हैं। सिरोही की पर्वतमाला के अन्तराल में यह मंदिर एक एकान्त में स्थित है। इस मंदिर की एक विशेषता है। जलहरी का जो जल होता है, उसको लांघने का धर्म नहीं है। यही कारण है कि प्राय: शिवमंदिरों में परिक्रमा पूरी नहीं दी जाती। पुराण में कथा आती है, जलहरी का जल सबसे पहले चंड के मुख में जाना चाहिए। यहाँ पर मंदिर के पृष्ठ भाग में एक जलकुंड के अन्दर चंड की विस्तीर्ण मुख ऊपर की ओर खोले हुए मूर्ति है और जलहरी का जल उसी में गिरता है। इससे प्रमाण मिलता है कि मध्यकाल से पूर्व के जितने भी प्राचीन मंदिर रहे होंगे, उनमें भी जलहरी के पृष्ठ भाग में मुख खोल कर जल ग्रहण करते हुए चंड की मूर्तियां अवश्य रही होंगी।

अर्बुदाचल यद्यपि लोकदृष्टि में आबू के जैन मंदिरों की अतिशय कलात्मकता के कारण जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों के लोक-पूजित देवालयों का तीर्थ यहां पर

और भी प्राचीनकाल से विद्यमान हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. वशिष्ठाश्रम, जहाँ पर वशिष्ठ की मूर्त्ति है।
२. कंकलेश्वर महादेव।
३. दूधलेश्वर महादेव।
४. अचलगढ़ में अचलेश्वर महादेव।
५. गुरु शिखर पर दत्तात्रेय।
६. माताजी का मंदिर है।

जोधपुर

यहाँ पर मंदिरों की संख्या काफी अधिक है और सभी मंदिरों का अपना-अपना ऐतिहासिक महत्व भक्तगण बतलाते हैं, किन्तु सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रतिमा यहाँ पर जोधपुर गढ़ के पृष्ठ भाग में १५ फुट ऊँची हनुमान जी की विकराल मूर्त्ति है।

गढ़ के ऊपर शिला में खुदी हुई ज्वालामुखी माता जी हैं। गढ़ के अंदर जंजीरों से बंधे हुए काले भैरों जी और गोरे भैरों जी हैं। राजप्रासाद में ठोस चांदी की प्रतिमा हिंगलाज माता की है और काशी विश्वनाथ भी स्थापित हैं। गिरधारी जी का मंदिर है और रघुनाथ जी का मंदिर तथा चावंड माता का मंदिर है।

रणछोर राय का वृहद् मंदिर संवत् १९८२ में महराज जसवन्त सिंहजी की राणी जाड़ेजी ने बनवाया था।

कुंजविहारी जी का मंदिर महाराज विजयसिंह जी की पासवान गुलाबरायजी ने संवत् १८४७ में बनवाया था। यहाँ पर दर्शनीय भित्तिचित्र हैं। यह कटला बाजार में है। इस मंन्दिर में स्थापित गरुड़ की मूर्त्ति राजस्थान में प्राप्त प्राचीन और अर्वाचीन गरुड़ों में से एक शोभनीय मूर्ति है। इसी के बाद उदयपुर के जगदीशजी के मंदिर में स्थापित पीतल की ८ फुट ऊँची श्मश्रुधारी गरुड़ की मूर्त्ति का स्थान आता है।

जोधपुर में सबसे ज्यादा मान्यता धनश्यामदेव जी के मंदिर की है। इसकी स्थापना संवत् १८१८ में माघ सुदी ५मी को महाराज विजय सिंह जी द्वारा हुई थी।

जोधपुर की प्राचीन राजधानी मंडोर में इस समय कुछ अधिक दर्शनीय बात नहीं रही। केवल चट्टानों में खुदी हुई ३६ कोटि देवी-देवताओं की एक ४० फुट लम्बी गैलेरी है। जेम्स टाड ने इनकी रेखानुकृतियाँ अपने ग्रंथ में प्रकाशित की थीं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि अब इन पर सफेद मसाला चढ़ा कर इसकी मौलिक अंकन-कला का नवयुगानुरूप काया-कल्प कर दिया गया है, जिसका सबसे बुरा प्रभाव यह पड़ा है कि इन पर से दिव्य भाव लुप्त हो गया हैं। इस देवरी के पृष्ठभाग में लगभग १० फुट ऊँचे जाड़ा गणेशजी हैं। और उनके अगल-बगल काले और सफेद भैरों जी हैं।

ओसिया

आज ओसिया नाम से प्रायः उस नगर का चित्र आँखों के आगे आकर ठहर जाता है, जिसे लोक-जगत ओसवालों के मूल निवास का केन्द्र मानता है। यह बात अभी इतिहास की कसौटी पर पूरी तरह से नहीं उतरी है।

ओसिया ऐतिहासिक दृष्टि से वैष्णव धर्म की नगरी थी। जोधपुर से निकलकर जब हम ओसिया में प्रवेश करते हैं तो बाईं ओर हूण सभ्यता के वैसे ही खंडहर पड़े हैं, जैसे कि हमें मेणाल में मिलते हैं। अर्थात् १२ से लेकर १५ फुट तक लम्बे और २ फुट से लेकर २॥ फुट तक मोटे शिलाखंड, जिनको बिना किसी चूने या लोहे के सहयोग से एक दूसरे के ऊपर रख कर दीवालों का तथा प्राचीरों का निर्माण किया जाता था। इस हूण सभ्यता के बाद के निर्जन मंदिर भी खड़े हैं, जो ८ वीं और ९ वीं सदी के हैं। काफी पुराने समय से यह प्रदेश यदुवंशियों का एकांत केन्द्र रहा है। रंगमहल की घाटी से लेकर ओसिया तक कृष्णभक्ति की मान्यता काफी प्रबल रही थी। यहाँ पर जो हरिहर के मंदिर विद्यमान हैं, वे एक प्रकार से उस संधि-स्थल की कहानी कहते हैं, जब कि वैष्णव मंदिरों में भी अर्थात् विष्णु मंदिरों में शिवपूजा को शिरोधार्य किया जाने लगा था। पौराणिक दृष्टि से ब्रह्मा विष्णु और महेश—ये हिन्दू-धर्म के प्रधान पूजा-देव हैं, किन्तु कालभेद से पूजातत्वों में इनके प्रति निष्ठा की न्यूनाधिक्य भावना के कारण कहीं वैष्णव मंदिर अधिक बनने लगे और कहीं शिव मंदिरों का प्रगाढ़ उन्मेष प्रगट होता रहा है। हरिहर के मंदिर वे हैं, जहाँ पर देवता की मूल प्रतिमा शिव और विष्णु की संयुक्त मूर्त्ति के रूप में निर्मित की जाती थी। यदि हम अतिरेक भावना के साथ यह कहें कि यह हरिहर मूर्ति अपने युग की प्रियता का समन्वय लेकर चली, तो उसका सबसे बड़ा परिणाम सामने यह आया कि शनैः-शनैः शैव और शाक्त मतावलम्बी राजप्रासादों व दुर्गों के अन्दर राणियों को मुक्तभाव से कृष्ण की पूजा करने की खुली छुट्टी रही! १६ वीं सदी में मीरा की कृष्णभक्ति कोई अनायास फूटे हुए ज्वालामुखी के तुल्य नहीं थी, वह तो ठोस परिपाक के रूप में नवनीत के तुल्य ऊपर निरन्तर उठ-तैर कर आई थी!! यहाँ पर एक नहीं, कई मंदिर हैं और उनमें से २-३ मुख्य रूप से हरिहर के मंदिर हैं। इनमें कृष्णलीला का व्यापक अंकन है!!!

इन मंदिरों के अध्ययन से एक बात और सामने आती है। प्रारंभ में मंदिरों की दृष्टि से विराट भावना को हृदय में अधिक प्रोत्साहित किया जाता था और शिल्पी गगनचुम्बी देवालय-शिखर बनाने में अधिक प्रोत्साहित न हो पाते थे, किन्तु इसी के बाद से ज्यों-ज्यों शैव परम्पराओं का, राजस्थानीय जलधाराओं की वर्षाकालीन तीव्रता के तुल्य उफनता हुआ प्रसार हुआ, उसी अनुपात में मंदिरों की ऊँचाई ४०-५० फुट से ऊपर उठ कर १५०-२०० फुट तक चलती चली गई। इस दृष्टि से ८वीं और ९ वीं सदी का झालावाड़ का सूर्य मंदिर अपनी बात स्पष्ट शब्दों में कहता है।

यहाँ के जैन-मंदिर का सूत्र आगे लिया जायेगा, उसकी चर्चा आवश्यक भी है।

फलोदी

जैसलमेर की दिशा जब हम ओसिया से आगे बढ़ कर १॥ घंटे की यात्रा तय कर मोटर से फलोदी पहुँचते हैं तो यहाँ पर लटियाल माता का मंदिर है। इससे आगे पोकरण से ४ मील पहले रामदेवरा आता है। रामदेवजी राजस्थान के ५ सिद्ध पुरुषों में से एक थे। यहाँ पर उनका उल्लेखनीय मंदिर है। नवलगढ़ आदि में इन्हीं की प्रतिष्ठा का लाभ उठाते हुए रामदेव के मंदिर स्थापित किये गये हैं।

जैसलमेर

सिरोही की तरह से जैसलमेर जैन मंदिरों का कोई बड़ा केन्द्र तो नहीं है, किन्तु यहाँ पर १३ वीं सदी के आसपास बने हुए लगभग ६ मंदिरों का एक समूह एक दूसरे से सटा हुआ दुर्ग के अन्दर स्थापित है। जैसलमेर का दुर्ग त्रिकुट पर्वत पर स्थित है। यदि यहाँ के पठार के किसी उच्चभाग पर खड़े होकर हम प्रदेश के भूभाग का अध्ययन करें तो अनेक रोचक तथ्य हाथ लगते हैं। प्रारंभ में यहाँ तक समुद्र की लहरें टकराया करती थीं। सरस्वती की उफनती हुई जलधाराएँ तक चली आती थीं। यदि यहाँ उत्तम वर्षा हो जाये तो अनेक जलधाराएँ अपना रूप आज भी प्रकट कर सकती हैं। जैसलमेर को इस प्रदेश के वीर पुरुषार्थी मनुष्य ने त्रिकुट पर्वत पर इस तरह से बसाया है कि मानों हथेली पर उठा कर इस दुर्गनगर को अन्तरिक्ष में बैठे हुए देवताओं को भेंट करने का दुस्साहस किया था। दो मील दूर से यह नगर ऐसा लगता है, मानो स्वर्ग से कोई कलात्मक शिल्प का विराट खंड अपने स्थान से च्युत होकर अन्तरिक्ष में झूल रहा है। इतिहास में बराबर ऐसे प्रमाण हाथ लगते हैं कि जैसलमेर विशुद्ध रूप से हिन्दू संस्कृति का प्रधान केन्द्र था। अर्जुन और कृष्ण के नाम भी इस स्थान से सम्बद्ध है। यहाँ के फलते-फूलते समृद्ध वैष्णव मंदिरों को हस्तगत करने के लोभ से ही बहुत प्रारंभ से मुसलमान आक्रान्ताओं के सांघातिक चरण पड़ने शुरू हो गये थे। यदि राजस्थान में जिन दुर्ग-नगरियों ने मुसलमानों के सांघातिक आक्रमणों की मृत्यु-यन्त्रणा सर्वाधिक झेली है तो वे हैं चित्तौड़ और जैसलमेर !

यहाँ पर एक मंदिर सूर्य का है। दूसरा मंदिर लक्ष्मीनारायण जी का है, जो एक प्रकार से राज्यवंश के इष्ट देवता थे। तालाब पर १० वीं सदी की एक त्रिमूर्त्ति शिव का उत्कीर्ण शिलाखंड भी रखा है। राजपूतों की इष्टदेवी सांगिया जी हैं, जो नगर से कुछ दूर पर मंदिर के अन्दर स्थित हैं।

नागौर

यहाँ १३१ मंदिर हैं। इनमें ३७ मंदिर बड़े सुन्दर हैं। इन सब में सुन्दरतम मंदिर ब्रह्माणी का है।

जैसलमेर से हम अपनी परिक्रमा वापिस करते हुए जोधपुर के मार्ग से सड़क-यातायात द्वारा नागौर पहुँच जाते हैं। महाभारत-काल में अहिछत्र नाम से प्रसिद्ध यह स्थान नवाबों के शासनकाल में अपना बहुत कुछ प्राचीन इतिहास धूल-धूसरित कर चुका है। अब तो यहाँ पर केवल वंशीवाले का मंदिर है और इसी में २० फुट नीचे शिवजी का लिंग स्थापित है। कारण यह है कि नागौर कम से कम २५-३० बार उजड़ा है और फिर बसा है। जिन नगरों की ऐसी दास्तान रही है, वे हमेशा पुरानी नींव पर खड़े हुए रहते हैं। यह शिव-मंदिर इतना रहस्य तो आपको अवश्य ही हाथों-हाथ सौंप देता है कि नागौर का पुराना पृथ्वीतल कहाँ पर था ! नागौर से इस परिक्रमा में बीकानेर की ओर जब हम बढ़ते हैं तो मार्ग में करणी माता का मंदिर आता है। कहने को तो बात यह सामने रखी जाती है कि यह एक पूजनीय चारणी का मंदिर है, किन्तु इस ऐतिहासिक तथ्य से हमारी दृष्टि ओझल नहीं की जा सकती कि माताओं के मंदिरों के देश में कोई भी नया देवालय किसी भी अन्तःसाक्ष्य के कच्चे सूत्र का सा सहारा पाकर वास्तव में उसी मूलभूत शक्तिपूजा को पुष्ट करता है। इस मंदिर की मान्यता भी अपने अंचल-विशेष में काफी अधिक है। अब तो इसके पूजकों में केवल राजपूत ही नहीं हैं, प्रायः सभी जातियाँ हैं। करणी माता के समान ही नागौर प्रदेश में एक दूसरा माता का मंदिर है, जिस पर दायमा ब्राह्मण अपना विशेष अधिकार जमाते हैं और उनके बच्चों की जात आदि वहीं पर दी जाती है।

करणी जी का प्रधान मंदिर देशनोक में है। इस नाम के मंदिर अन्यत्र भी लघु रूप में विद्यमान हैं। देशनोक की स्थापना करणी देवीने सन् १४१९ में की थी। उन्हें अपने जीवन-काल में ही देवी का पद प्राप्त हो गया था। एक विशेष बात यह है कि इस की अन्य सभी छः बहनें भी देवी पद को प्राप्त हुईं और उत्तर भारत में पूजी जाती हैं। करणी बीकानेर राज्य की कुलदेवी मान्य रही है।

बीकानेर

नगर में पहुँच कर सहसा ही मन आश्वस्त नहीं होता। यह तो कल का बसा हुआ नगर है। अभी तक हम मध्यकाल से पूर्व के नगरों का अध्ययन करते हुए घूम कर आये हैं। बीकानेर में पहुँचते ही ताजा इतिहास की ताजगी तो आँखों के आगे रखी हुई जरूर नजर आती है, किन्तु जो कुछ भी पुरानापन है, वह केवल जनश्रुतियों में निमज्जित है। बीकानेर के पास कपिल मुनि का स्थान है। कपिल ने अपनी तपस्या यहाँ के हरेभरे प्रदेश में की, जो सरस्वती महानद से पोषित रहा होगा और जब सरस्वती अन्तःसलिला हो गई तो कपिल ने अपना कमंडलु उठाया और वे बंगाल के ऐसे दुर्गम एकान्त में जाकर बैठे, जहां पर अन्तःसलिला के दुर्भाग्य का दर्शन तक न हो सके !

बीकानेर में जो राजकीय मंदिर हैं, वे कृष्णभक्ति परम्परा के

हैं। नगर के एक कोने में पंचमुखी हनुमान जी का मंदिर भी है। बीकानेर से बाहर दूर रेगिस्तान में अम्बा माता का मंदिर है, जहाँ पर शासकगण विशिष्ट अवसरों पर पूजा करने जाते थे। एक विशाल चौकोर प्राचीर के अन्दर महामंदिर शिवालय भी स्थापित किया हुआ है। पंचमन्दिर में सूर्य, लक्ष्मी नारायण आदि की प्रतिमाएँ हैं और यह नगर का सर्वाधिक लोकप्रिय मंदिर है। अन्य जो मंदिर हैं वे श्रेष्ठिवर्ग द्वारा निर्मित हैं, किन्तु उनमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। यहाँ पर मुख्यरूप से द्रष्टव्य दो-तीन बातें अवश्य हैं।

१—नागरी भंडार में सरस्वती जी का मंदिर। यद्यपि यह बहुत ही नया है, किन्तु सरस्वती को भवानी के रूप में श्रद्धा-भाव से माननेवालों के लिए इस मंदिर का महत्व है। प्रतिमा की स्थापना भी एक नई सूझ-बूझ से की गई है। एक जल-सरोवर है और उसके बीच में वीणाधारिणी की प्रतिष्ठा है।

समस्त विश्व में बीकानेर की जैन सरस्वती की चर्चा काफी आई है। यह प्रतिमा इस समय बीकानेर म्यूजियम में है। यद्यपि मध्य काल से पूर्व की है और पल्लु से प्राप्त ११वीं सदी की है। सिरोही के वसन्तगढ़ पर आसीन प्राचीन शारदा पीठ की परम्परा में यह मूर्ति सरस्वती के व्यापक निष्ठा-वैभव की प्रतिध्वनि मात्र है। एक सरस्वती की छोटी प्रतिमा बांसवाड़ा से ९ मील दूर तरताई माता के मंदिर के बाहर रखी हुई है। उसका अपनी शैली का शिल्प-अंकन भी कम स्तुत्य नहीं है।

२—जूनागढ़ में सम्वत् १५४५ का स्थापित चामुंडा जी का मंदिर है।

३—नगर से बाहर पंचमुखी विकराल हनुमान जी।

४—बीकानेर के निकट कोलयत आदि तीर्थस्थान हैं, जहाँ पर भैरव जी आदि की प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

पुनः भरतपुर

बीकानेर से लौट कर हम पुनः भरतपुर पहुँचते हैं।

भरतपुर के प्राचीन देवालयों के संबंध में साहित्याचार्य, रावत चतुर्भुज दास चतुर्वेदी, ओनर्स, प्रभाकर, एम० ए० ए० एस० (लन्दन), अवकाश-प्राप्त क्यूरेटर स्टेट म्यूजियम, भरतपुर, ने इस संबंध में हमें सूचित किया है—महाराज सूरज मल की महारानी किशोरी श्रीकृष्णचन्द्र जी की परम् भक्त थीं, जिनके नाम से आज भी श्रीनाथद्वारे में किशोर दर्शन होते हैं। किले के अन्दर किशोरी महल आज भी मौजूद है। किंवदन्ती है कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के मानवी लीला का तिरोधान हो जाने पर उनके कुटुम्ब के परिवार-जनों को अर्जुन इन्द्रप्रस्थ ले आये, जिनमें वज्रनाभ नाम का एक बालक था, जो भगवान का प्रपौत्र था। समय पाकर यह बालक बड़ा प्रतापी तथा यशस्वी शासक हुआ, इन्हीं वज्र नाभ ने पुनः व्रज में वास किया और यादवों का राज्य मथुरा मंडल में फिर से स्थापित किया। इन्हीं वज्र नाभ के निर्माण किये शिवालय अतीत के चिह्न-स्वरूप अब भी विद्यमान हैं, यथा भूतेश्वर मथुरा में, नील कण्ठेश्वर आगरे में, चतुर्मुख शिवलिङ्ग कुवेरपुर (अब इसका नाम कुम्हेर है, जो अब भरतपुर की सब-तहसील है; कभी यह भरतपुर के राजा बदन सिंहजी की राजधानी थी), तथा कामेश्वर नाथजी का मन्दिर कामाँ भरतपुर में है। इस मन्दिर में कुशाण काल की दो-एक मूर्त्तियां भी विराजमान हैं। कामा ऐतिहासिक तथा पौराणिक दृष्टि से अपना एक विशेष स्थान रखता है। इन शिव-मन्दिरों के अतिरिक्त वज्र नाभ ने मथुरा में श्रीकृष्ण की मूर्त्ति स्थापित की, कंस-निकन्दन के नाम से वह मन्दिर प्रसिद्ध है।

"भरतपुर में लक्ष्मण जी के भी कई मन्दिर हैं। यहाँ के मठाधीशों ने अपना प्रभाव यहाँ तक जमा लिया था कि भरतपुर राज्य की राजकीय मोहर तथा पत्रों पर 'श्री लक्ष्मण जी सदा सहाय' लिखा चला आता है। मन्दिरों में शंखचक्र और रामानुजी तिलक छाप अंकित हैं। भरतपुर के महाराजा समय-समय पर अपना ध्येय परिवर्तन करते रहे हैं; स्वर्गीय महाराज श्रीकृष्ण सिंह जी ने अपने राजकाज के पत्रों में 'गोकलेन्द्र जयति' आरम्भ किया था। उस समय 'लक्ष्मण जी सदा सहाय' नहीं रहा। वैसे यहाँ के महाराज परम वैष्णव ही रहे हैं। धार्मिक भावनाओं के कारण प्रत्येक देवी देवताओं के मन्दिर स्थापित किये गये और समय-समय पर उनके दर्शनार्थ हर मन्दिर में महाराजा जाते रहते थे। रामानुजी तिलक लगाते थे; परन्तु स्वर्गीय महाराज श्रीकृष्ण सिंह जी गोकुल नाथजी के भक्त थे। श्रीकृष्ण का तिलक खौर का मस्तक पर प्रयोग करते थे। वर्तमान नरेश भी उसी परिपाटी का अनुसरण कर रहे हैं और भरतपुर के पुराने लक्ष्मण जी के मन्दिर को अपना गुरु-द्वारा मानते हैं।"

लक्ष्मण जी की पूजा किन आधारों पर प्रचलित हुई, इसका सूक्ष्म संकेत करते हुए भरतपुर के पुराने लक्ष्मणजी के मन्दिर के महन्त-श्री ने हमें व्यक्तिगत रूप से, भरतपुर-प्रवास के समय, बताया, "नारदपंचरात्र में लक्ष्मणजी को शेषशायी क्षीराब्धीश श्री मन्नारायण कहा है। वैकुंठेशस्तु भरतः क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मणः शत्रुघ्नस्तु स्वयं भूमा रामे सेवार्थमागताः। अंतिम समय लक्ष्मण जी के तीन रूप हुए—एक से वे वैकुंठ गये, दूसरे से साकेत, तीसरे से नित्य रूप लक्ष्मण हुए। लक्ष्मणजी का पहला अवतार अनन्त हुआ, दूसरा लक्ष्मण रूप, तीसरा बलराम-रूप और चतुर्थ कलौ रामानुजो मुनि। भरतपुर में लक्ष्मण जी की जो पूजा है, वह उनकी इसी दिव्य गति की है।"

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला को राजस्थान की देन

[१५]

देवालयों और मंदिर-प्रतिमाओं व सर्वपूज्यनीय विग्रहों का विवरण हमने यथा शक्ति इतिहास-क्रम और देव-देवी क्रम से सुव्यवस्थित करने का श्रम अब तक विनीत भाव से किया है और यत्र-तत्र मूर्तिकला व स्थापत्य-कला की सूक्ष्म चर्चा की है। प्रारंभ से ही इस विषय पर कुछ लिखने से हमने संकोच किया है, न ही यह विषय इस ग्रंथ में समाविष्ट करने का हमारा विचार था। फिर भी मूर्तिकला की देन इतिहास-क्रम में राजस्थान में क्या रही है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। प्रसन्नता की बात है, उदयपुर संग्रहालय के अध्यक्ष श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल का इस विषय पर सूक्ष्म अध्ययन है। हमारे आग्रह पर आप लिखते हैं---

"राजस्थान के विविधानेक स्थानों एवं देवालयों से प्राप्त प्राचीन प्रस्तर प्रतिमाएँ एवं मृण्मूर्तियाँ भारतीयकला के क्षेत्र में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। खेद है कि कलाविदों ने अभीतक इनका समुचित मूल्यांकन नहीं किया है। ईसा-पूर्व की ही शताब्दियों से राजस्थान के तक्षणकार एवं शिल्पी वर्ग ने पर्याप्त कुशलता का परिचय प्रस्तुत किया है। भरतपुर से लगभग ४ मील दूरस्थ 'नोह' ग्राम के बाहर 'जाक्ख' (यक्ष) की एक २२०० वर्ष पुरानी पुरुषाकार प्रतिमा तो मथुरा संग्रहालय की ('परखाम' से प्राप्त) प्रख्यात प्रतिमा से पर्याप्त साम्यता रखती है। इस स्थल से कुछ वर्ष बीते मुझे सफेद लाल पत्थर (वाहिट-स्पाटेड रैड सैंड स्टोन) की एक कुषाणकालीन प्रतिमा मिली थी, जिस पर एक ही पंक्ति में मुकुटधारी एवं एक ही मुद्रा में अर्थात् अभय मुद्रा एवं कमण्डलु धारण किये, चार बोधिसत्व आकृतियां खुदी हैं। समीपवर्ती मथुरा क्षेत्र से प्राप्त ऐसी एक प्रतिमा कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष संग्रहालय में सुरक्षित है। इस वर्ग के फलक अत्यन्त अत्यल्प संख्या में मिले हैं।

"जयपुर क्षेत्रान्तर्गत 'रैढ' नामक स्थान से प्राप्त लघुमूर्ति द्वारा स्त्री का केश-विन्यास तो शुंगकालीन कला के अनुरूप ही है। यहाँ रमणी के सिर से कमर तक पीछे दो चोटियों (वेणियों) का प्रदर्शन विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। यह मूर्ति जयपुर के समीपस्थ अजमेर संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है। यहीं पर 'नगर' (कर्कोट नगर, मालवनगर) से प्राप्त श्वेत खड़िया मिट्टी के तत्कालीन फलकों में महिषमर्दिनी, मकरध्वज कामदेव[1], द्विबाहु विष्णु, गजारूढ़ इन्द्र ऐन्द्री . . . आदि प्रदर्शित हैं। इनमें महिषमर्दिनी फलक तो अपने वर्ग का अद्यावधि ज्ञात प्राचीनतम प्रतीत होता है।[2]

१ कामदेव व इन्द्र-ऐन्द्री के चित्र ग्रंथ के अंत में देखें।

२ रत्नचन्द्र अग्रवाल, ललितकला, भारत सरकार, अंक १-२ देखें।

"जयपुर से लगभग ६० मील दूरस्थ 'लालसोट' नामक ग्राम के बाहर एक बंजारे की जीर्णशीर्ण छतरी के ६ स्तम्भ तो शुंगकालीन बौद्धस्तूप से प्राप्त वेदिका स्तम्भ ही हैं।[1] भरहुत की कला से पर्याप्त साम्यता रखते हुए ये स्तम्भ तत्कालीन तक्षणकला की अनुपम निधियाँ हैं व एक स्तम्भ पर स्तूप की आकृति भी उत्कीर्ण है। इनसे उस क्षेत्र में शुंगकालीन बौद्ध स्तूप की विद्यमानता का बोध होता है। जयपुर के ही 'बैराट' नामक स्थान की खुदाई से भारत का प्राचीनतम 'वर्तुलाकार बौद्ध मंदिर', और वह भी ईंटों का बना प्रकाश में आया है। कालान्तर में राजस्थान के हाड़ोती एवं झालावाड़ क्षेत्र में बिनायगा, कोलवी व हाटियागोर की बौद्ध गुफाओं द्वारा पूर्वमध्ययुग में पूर्वी राजस्थान में बौद्धधर्म के प्रभाव की जानकारी सिद्ध होती है।[2]

"कुषाणकालीन मूर्तिकला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सामग्री भरतपुर से ७ मील दूरस्थ 'अघापुर' टीले से भी मिली है जो भरतपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। इस श्रेणी में लगभग ४ फुट ऊंचा एकमुखी शिव लिंग महत्वपूर्ण है, जिसके ऊपरी भाग में कुषाणकालीन शिरोवेष्टनवाले शिव का मस्तक खुदा है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण एवं तत्कालीन शिवलिंग मुझे पुष्कर से ६ मील दूर 'नांद' नामक ग्राम के बाहर खेत में मिला था। लालपत्थर का लगभग ६ फुटा ऊंचा यह चतुर्मुख लिंग अद्वितीय ही है, क्योंकि ऊपर से नीचे तक चार मुखों के अतिरिक्त ऊपरी भाग में चारों ओर एक-एक आसनस्थ एवं ऊर्ध्वमेढ़ 'लकुलीश' प्रतिमा खुदी है और नीचे स्थानक एवं अभय मुद्रा में बोधिसत्व, इससे भी नीचे एक ओर चक्र एवं गदाधारण-धारी विष्णु। इस प्रकार का प्राचीन शिवलिंग अभी तक अन्यत्र नहीं मिला है।[3]

"बीकानेर के क्षेत्र के रंगमहल, बड़ोपल, हनुमान गढ़ आदि स्थानों से प्राप्त एवं बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित मिट्टी के फलक तो ईसा की ३-४ शती की अनुपम कलाकृतियां हैं। ये सभी तत्कालीन मंदिरों के बाह्यभागों में जड़े होंगे, जो प्राचीन सरस्वती व दृषद्वती नदियों के किनारे पर ईंटों से बने थे। इनमें लगभग डेढ़ फुट ऊँचे फलकों पर गोवर्द्धनधर एवं दानलीला सम्बन्धी अंकित हैं। कृष्ण की क्रीड़ास्थली ब्रज में इस लीला के इतने प्राचीन फलक एवं मूर्तियां अभी तक नहीं मिली हैं। दान-लीला फलक में गोपी के सिर पर ओढ़नी व नीचे 'स्कर्ट' (S[illegible]) तो विशेषरूपेण आकर्षक है। इनसे लगभग १६०० वर्ष पूर्व उस क्षेत्र में कृष्णभक्ति

१ रत्नचन्द्र अग्रवाल, ललितकला, भारत सरकार, अंक १२।

२ ,, ,, ,, इण्डियन हिस्टो० क्वार्टरली, कलकत्ता, जून-सित० १९५६, पृ १७०-१७८।

३ ,, ,, ,, वरदा, बिसाऊ, अक्टूबर ६२, पृ० २-३।

के प्रभाव का भी बोध होता है। अभी यह कहना कठिन ही है कि इस दिशा में आभीर जन समुदाय ने कितना सहयोग प्रदान किया था। बीकानेर क्षेत्र के अन्य फलक में पार्वती धावरा व गोवर्द्धनधर प्रतिमा में कृष्ण की मूंछों का प्रदर्शन तो गान्धार-कला के प्रचुर प्रभाव का द्योतक है।[1]

"मेवाड़ क्षेत्रान्तर्गत चित्तौड़ के समीप 'नगरी' (प्राचीन माध्यमिका) से प्राप्त २री शती ईसा पूर्व के लेखों द्वारा उस स्थल पर कृष्ण-बलराम निमित्त देवगृह की विद्यमानता का बोध होता है। नगरी में ही गुप्तकालीन मंदिर के अवशेष मिले हैं। इसकी प्रस्तर-शिलाओं पर गुप्तयुग की कला में कुछ शैव-संदर्भ अंकित हैं। पूर्व में कोटा के समीप 'मुकन्दरा' नामक स्थान में गुप्तकालीन लघु शिवालय की विद्यमानता सिद्ध हुई है, जिसकी चपटी छत एवं साधारण स्तंभ थे; छत के अन्दर कमलाकृतियाँ प्रचुरमात्रा में उत्कीर्ण हैं। पश्चिम में 'मण्डोर' (जोधपुर से ५ मील दूर) नामक स्थान पर भी एक गुप्तकालीन मंदिर विद्यमान था, जिसके दो आयताकार एवं १२-१३ फुट ऊँचे स्तंभ जोधपुर संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। इन पर केवल कृष्ण-लीलाएँ अर्थात् गोवर्द्धन-धारण, केशी एवं धेनुक व प्रलम्बासुर वध, शकटभङ्ग, माखनचोरी . . . आदि संदर्भ खुदे हैं। केवल गोवर्द्धनधर-लीला ने ६ फुट ४ इन्च स्थान घेर रक्खा है। मथुरा क्षेत्र से भी इस प्रकार के गुप्तयुगीन स्तंभों की प्राप्ति अज्ञात ही है। मारवाड़ के प्राचीन शिल्पियों को कृष्णलीला विषयक सन्दर्भ पर्याप्त रुचिकर थे, यह स्पष्ट ही है। यह विचारधारा कालान्तर में भी राजस्थान में अक्षुण्ण बनी रही, जैसा कि ओसियाँ, केकींद व किराडू के देवालयों की प्रतिमाओं द्वारा स्पष्ट है। यहाँ रामायण-विषयक दृश्य भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं।[2]

"गुप्तोत्तर युग में दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में शिव-शक्ति सम्प्रदाय को पर्याप्त महत्व प्राप्त था—यह मेरी गत ८ वर्षों के शोध-खोज द्वारा सिद्ध हो चुका है। इस समय उदयपुर क्षेत्र में पारेवा (Pareva) पत्थर (Greenish Blue Schist) की बहुत-सी प्रतिमाएँ बनीं जिनमें से कुछ तो आजकल उदयपुर व डूंगरपुर के पुरातत्व कक्षों की शोभा भी बढ़ा रही हैं, (रत्न चन्द्र अग्रवाल, ललितकला—भारत सरकार, अंक १०; वही अंक ६, पृ० ६३-७१ व चित्र)। इस वर्ग की कुछ प्रतिमाएँ समीपवर्ती स्थल शामला जी से प्राप्त होकर बड़ौदा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। 'सांभर' की खुदाई द्वारा गुप्तकालीन मिट्टी की सुराही का 'हैण्डल' उपलब्ध हुआ था, जिसके ऊपर शिव की जटा से गंगावतरण दृश्य तो भारतीय मृण्मूर्ति कला की अनुपम निधि है।

१ रत्नचंद्र अग्रवाल, शोधपत्रिका, उदयपुर, जून ६१, पृ० १-८।
२ रत्नचन्द्र अग्रवाल के लेख, श्री मैथिली शरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ, शोध पत्रिका उदयपुर, जून १९५५, पृ० १-१२ व सितम्बर १९५४, पृ० १-१२; जर्नल एशियाटिक सो० आव बंगाल वर्ष २२, अंक १, १९५७, पृ० ६३-६४, फलक १-२।

"ईसा की सातवीं शती की कुछ जैन धातु मूर्तियां 'पिण्डवाड़ा' (सिरोही) से मिलीं थीं, जो पूर्वमध्ययुग के प्रारंभिक चरण की महत्वपूर्ण सामग्री हैं, (ललितकला १-२, भारत सरकार)। कुछ वर्ष बीते गुप्तोत्तर युगीन चंवरधारी पुरुष की एक धातु प्रतिमा मारवाड़ के भीनमाल (प्राचीन श्रीमाल व कवि माघ के जन्म-स्थल) नामक स्थान पर मिली थी, जो बड़ौदा संग्रहालय में सुरक्षित है। यह कहना अभी कठिन है कि लामा इतिहासकार तारानाथ द्वारा वर्णित मरुप्रदेश के कलाकार 'शृंगधर' का इस युग की कला से क्या सम्बन्ध था। वैसे सातवीं शती के नगर (मालवनगर) के एक शिलालेख में श्रीमाल के कर्मठ शिल्पियों की पर्याप्त प्रशंसा की गई है। पिण्डवाड़ा की संवत् ७४४ वाली धातु प्रतिमा को बनाने का श्रेय 'शिवनाग' नामक शिल्पी को प्राप्त था।[1]

"भरतपुर के कामां नामक स्थान पर भी कुछ गुप्तकालीन मूर्तियां मिली हैं, जिनमें कुबेर प्रतिमा लन्दन के 'विक्टोरिया एलबर्ट संग्रहालय' में है और अष्टग्रह (केवल) फलक अमरीका के 'वूरसैस्टर आर्ट म्यूज़ियम' में। अष्टग्रह फलक तो भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में अनुपम है, क्योंकि यहां नवम ग्रह 'केतु' का सर्वथाभाव है—यह पूर्ण रूपेण सुरक्षित है।

"राजस्थान की पूर्व मध्य युगीन कला के क्षेत्र में ओसियां, आबानेरी[2], मेनाल[3], चित्तौड़ का कालिका-मन्दिर (अर्थात् सूर्य भवन), मेनाल के लघु शिवालय तो अद्वितीय ही हैं। ओसियां व चित्तौड़ के सूर्य मन्दिर तो राजस्थानी सूर्य मन्दिरों की गणना में अद्यावधि ज्ञात प्राचीनतम प्रतीत होते हैं। इसके बाद 'वर्माण' (सिरोही), रानपुर (राणकपुर-मारवाड़), व टूस (उदयपुर) में बनाये गए। दसवीं शती ई० के हर्षनाथ सीकर के प्रख्यात शिवालय का निर्माण 'चण्डशिव' नामक शिल्पी ने किया था। इस मन्दिर की लिंगोद्भव[4] प्रतिमा अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित है और ऐसी तत्कालीन प्रतिमा उत्तरी भारत में अभी तक नहीं मिली है।

"गुप्तोत्तर युग की लगभग ४ फुट ऊँची अर्धनारीश्वर[5] प्रतिमा (झालावाड़ संग्रहालय), बेदला की हरिहर[6] प्रतिमा . . . आदि भी महत्वपूर्ण कृतियां हैं। उदयपुर संग्रहालय में 'वांसी' (चित्तौड़ क्षेत्र) से प्राप्त आसनस्थ व ८वीं शती की कुबेर प्रतिमा तो भारतीय मूर्तिकला की अनुपम सामग्री है, क्योंकि यहाँ देवता के मुकुट व ऊपर

१ रत्नचन्द्र अग्रवाल, राजस्थान के अज्ञात शिल्पी, मरुभारती, पिलानी, वर्ष, १०, अंक ३, पृ० ४४-४६।
२ रत्नचन्द्र अग्रवाल, ललितकला १-२।
३ " " " मरुभारती, जुलाई १९६३।
४ " " " शोधपत्रिका, ६ (२-३), पृ० १-२०। व अप्रैल १९६३, पृ० १३१-३४।
५ " " " जर्नल इण्डियन हिस्ट्री, ट्रिवेण्ड्रम, अगस्त १९५८, पृ० २२९-३२ व चित्र।
६ " " " ललितकला—भारत सरकार, ६।

सिर पर लघु जिनाकृतियां द्वारा इसके जैन प्रतिमा होने का आभास मिलता है। यह भी भारतीय मूर्तिकला की अनुपम निधि है।[1] राजस्थान के विविधानेक स्थानों पर ब्रह्मा-विष्णु-शिव-सूर्य, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, सूर्य-विष्णु, सूर्य-शिव...आदि देवों के एक रूप (Composite aspect) की भी बहुत-सी महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ मिली हैं।[2] इस प्रकार ईसा की ८वीं शती से १७वीं शती तक विष्णु की तीन मुख (नृसिंह-वराह-विष्णु) एवं बहुत अर्थात् ४, ८, १०, १२, १४, १६, २० हाथोंवाली भी उल्लेखनीय हैं, जिनके विषय में सूत्रधार 'मण्डन' (कुम्भा का राजशिल्पी, १५वीं शती) ने विशद व्याख्या प्रस्तुत की है।[3] साथ ही पशुमुखी प्रतिमाएँ भी महत्वपूर्ण हैं, जिनमें पूर्व गुप्त युगीन एवं पकायी गयी मिट्टी का बना 'अजैकपाद' फलक बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित है।[4] यह तो अद्वितीय एवं दुर्लभ ही है। मारवाड़ के 'घटियाला' नामक स्थान की 'माताजी की साल' (संवत् ९१८) के अतिरिक्त तत्कालीन विजय-स्तंभ भी प्रतिहार-युग की महत्वपूर्ण निधि है। इसके ऊपर 'सर्वतोभद्र' अर्थात् चतुर्मुखी गणपति प्रतिमा विद्यमान थी, जो भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में बेजोड़ है। इसी युग की 'योग नारायण' प्रतिमा जोधपुर (संग्रहालय) में सुरक्षित है। यहाँ चतुर्देव के ऊपर के हाथों में वनमाला है और नीचे के हाथ बद्धाञ्जलि मुद्रा में एक दूसरे के ऊपर रखे हैं। ऐसी ही एक मूर्ति मुझे कुछ वर्ष बीते 'आबानेरी' नामक स्थान पर मिली थी। ये सभी प्रतिहार-युग की मूर्तिकला की उल्लेखनीय निधियां हैं। इसी प्रकार 'किराडू' के शिवालय के बाहर जड़ी हुई केवल ४ इंच चौड़ी प्रतिमा द्वारा भीष्म पितामह[5] शर-शय्या पर लेटे हुए हैं। यह सन्दर्भ भी उत्तरी भारत की मूर्तिकला की अनुपम सामग्री है।

"राजस्थान की प्राचीन तक्षणकला में कुछ पौराणिक दृश्य भी उपलब्ध हैं तथा चित्तौड़ के कालिका-मन्दिर के बाहर बायीं ओर समुद्रमंथन, रावणानुग्रह भाव; सांभर से प्राप्त उपर्युक्त गंगावतरण विषयक सुराही का हैण्डल; गजेन्द्रमोक्ष[1] आदि। इसके अतिरिक्त भौतिक जीवन-विषयक संदर्भ भी उल्लेखनीय हैं, यथा रहट[2] वाले कुएँ का प्रदर्शन (मण्डोर से प्राप्त व जोधपुर संग्रहालय में सुरक्षित); रथ-शकट आदि यान; लोहकारों द्वारा भट्टी के अन्दर लोहे की शलाका तपा कर उसे पीटना (मीरा मन्दिर[3]—आहाड़, उदयपुर के पृष्ठ भाग का फलक, ११वीं सदी)...इत्यादि। साथ ही नाना विध सुरसुन्दरियों की आकृतियां मन्दिरों के बाह्य भागों पर जड़ी हैं, जिनसे तत्कालीन वेश-भूषा एवं आर्थिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। प्रस्तुत निबन्ध में मध्ययुग[4] तक ही कुछ राजस्थानी प्रतिमाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है, जिससे राजस्थानी मूर्तिकला के महत्व का आभास हो सकता है। आशा है, भावी शोध-खोज कार्य द्वारा इस दिशा में अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। खनन-कार्य द्वारा तो बीकानेर क्षेत्र में सिन्धु सभ्यता की पर्याप्त सामग्री मिली है और उदयपुर क्षेत्र में आहाड़ (Ahar) नामक स्थान पर उसके बाद की। इस कार्य द्वारा ईसा-पूर्व की शताब्दियों में राजस्थान की स्थापत्य एवं कला की भी प्रचुर सामग्री प्रकाश में आयी है। इसी प्रकार भरतपुर व जयपुर क्षेत्र में सलेटी रंग के चित्रित भाण्ड (Painted grey ware) जयपुर, जोधपुर, नोह, अघापुर, कामां......आदि स्थानों पर मिले हैं जिनसे प्राङ्मौर्ययुग में राजस्थानी कला एवं चित्रकारी की जानकारी हो सकती है।"

राजस्थान की प्राचीनतम प्रतिमाओं में से चार विशिष्ट मुखाकृतियां

१ रत्नचन्द्र अग्रवाल, जर्नल इंडियन म्युजियम, बम्बई, १२, पृ० ३० व चित्र ७।

२ रत्नचन्द्र अग्रवाल, रसर्चर, राजस्थान पुरातत्व विभाग की शोधपत्रिका, जयपुर, अंक २; ब्रह्मविद्या, उदयपुर, दिस० १९६२....इत्यादि।

३ " " " शोधपत्रिका, सित० १९५७, पृ० ७-१९ व चित्र २ से ६ व सम्मेलन पत्रिका, कलाअंक

४ " " " भारतीय विद्या बम्बई, १९६०-६१, पृ० ३०३—३०९ व चित्र।

५ रत्नचन्द्र अग्रवाल, मार्च ऑव इण्डिया, भारत सरकार-दिल्ली, जुलाई १९५९, पृ ३२-३४ व चित्र।

१ रत्नचन्द्र अग्रवाल, वरदा, ४ (१), १९६१, पृ० २-३,

२ यह आश्चर्य है कि आज भी इसी प्रकार के रहट (अरहट) का प्रयोग किया जाता है।

३ यह मध्यकालीन मंदिर उदयपुर से केवल दो मील दूर है। इसे मीरा-मंदिर कहा जाता है—क्योंकि पृष्ठ भाग में वंशी बजाते हुए कीचक की प्रतिमा जड़ी है। इसी के पास उत्तर कृष्ण की दधिमन्थन लीला भी पर्याप्ताकर्षक है।

४ इस युग के प्रमुख देवालय एकलिंग जी, नागदा, जगत, रामगढ़ अर्थूणा, सीकर, केकींद, मोरखाणो, अटरू, चन्द्रावती, पाडू, झालावाड़-पाटन आदि स्थानों पर विद्यमान हैं। इनमें 'जगत' का अम्बिका मंदिर तो उत्तरी भारत में १० वीं शती की अनोखी कृति ही है। अन्य मातृका भवनों की प्रतीक्षा रहेगी।

राजस्थान के दसवीं शताब्दीके पूर्व के जैन श्वेताम्बर जिनालय

[१९]

अब हम जैन-मंदिरों की बात करें। सिरोही के परम आदरणीय विद्वान श्री अचलमल जी मोदी ने इस विषय में हमें अनुगृहीत करते हुए लिखा है—

"जैन संस्कृति भारत की अग्रगण्य संस्कृतियों में से एक है। यह मुख्यतः अहिंसा-विजय पर आधारित है। इस संस्कृति का इतिहास अति प्राचीन और महत्व का है, तथा धर्मवीरों-दानवीरों व कर्मवीरों के उज्ज्वल चरित्रों से परिपूर्ण है। इस धर्म की भूतकालीन समृद्धि,उन्नत कला-जीवन और उच्च कोटि के आत्म-समर्पण के प्रतीक मन्दिर, शिल्प-स्थापत्य और कला-भावना तथा धर्म-भावना से भरे हुए तीर्थ हैं। ये तीर्थ समस्त भारतवर्ष के प्रांगण में स्थित हैं। आज के राजस्थान प्रदेश के इतिहास-निर्माण में जैन-संस्कृति का स्थान महत्वपूर्ण है। इस संस्कृति ने यहाँ के सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं धार्मिक जीवन पर अलौकिक प्रभाव डाला है। लेकिन इस संस्कृति का यहाँ कब से प्रादुर्भाव हुआ, यह निर्णय करने के साधन अभी उपलब्ध नहीं हैं। कुछ प्रभाव मात्र थोड़ा-सा प्रकाश डालते हैं। अंग्रेजों के आने के पहले मारवाड़, मेवाड़,मत्स्य आदि नाम से प्रसिद्ध सब राज्यों ने मिलकर राजपूताना का रूप धारण किया। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद यही प्रदेश 'राजस्थान' के नाम से अभिभूत हुआ।

"जैन मान्यताओं के अनुसार यह धर्म अनादिकाल से चला आ रहा है। इसकी पुष्टि में हमारे राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का कहना है कि, 'अपने पूर्व हो गये तेईस तीर्थकरों द्वारा दिये गए उपदेशों की परंपरा वर्द्धमान ने आगे चलाई। ई० सन् के पूर्व ऋषभदेव के असंख्य उपासक थे। इस तत्व को सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। खास यजुर्वेद में भी तीर्थकरों की मान्यता दी गई है। अगणित व युगानुयुग से जैन धर्म चला आ रहा है।'

"भगवान ऋषभदेव वर्तमान चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर थे। उनके लड़के भरतजी के नाम से इस देश का नाम भारत प्रसिद्ध हुआ। संभव है कि उनकी माता मरुदेवी के नाम से ही इस भूभाग का नाम 'मरुधर' पड़ा हो। भगवान महावीर के समय में उत्तर प्रदेश में (मगध, बिहार आदि) जैनों की आबादी थी, फिर संभवतः अन्य विपरीत परिस्थितियों के कारण स्थानान्तर करना पड़ा हो। वस्तुतः राज्यक्रांतियों व दूसरी परिस्थितियों के साथ जैनों को स्थानान्तर करते हुए मथुरा,राजस्थान, गुजरात, दक्षिण आदि के भूभागों में स्थायी रूप से आबाद होना पड़ा।

"अनेक आक्रमणों के कारण अनेक ऐतिहासिक साधन नष्ट हो गये लेकिन फिर भी विराट आदि में सम्राट अशोक के शिलालेख और इससे भी प्राचीन अजमेर के निकट बड़ली ग्राम में एक लेख मिला है—जो वीर निर्वाण संवत् ८४ के होने का पुरातत्व-वेत्ता बतलाते हैं। इसलिए यह लेख ई० संवत् ४४३ का माना जाता है और इसकी लिपि अशोक के लेख से भी प्राचीन ब्राह्मी लिपि है। इस दृष्टि से देखने पर ई० संवत् पूर्व की पांचवीं शताब्दी का यह लेख भारत भर में मिले हुए समस्त लेखों में प्रथम है। इससे लिपि-शास्त्रियों को अध्ययन का स्रोत मिला है। इस पर से यह मानने का कारण मिलता है कि भगवान महावीर के समय से इस प्रदेश में जैनों ने अपनी संस्कृति का विकास किया होगा।

"भगवान महावीर इस प्रदेश में विचरे,इस संबंध में कुछ प्रमाण प्राप्य हैं। भीनमाल (श्रीमाल) नगर के श्री महावीर भगवान मन्दिर से प्राप्त संवत् १३३३ के शिला-लेख तथा मूंगथला (मुंडस्थल) के मन्दिर से प्राप्त शिलालेख और तेरहवीं शताब्दी के आसपास श्री महेन्द्र सूरी रचित 'अष्टोतरी तीर्थ माला' और संवत् १४९७ में श्री जिनहर्षसूरी रचित—'वस्तुपाल चरित्र' ग्रंथस्थ उल्लेखों से यह बात प्रकट होती है। कुछ विद्वानों का मत है, और अभी तक की शोध से मालूम होता है कि भगवान महावीर इस प्रदेश में नहीं पधारे थे। लेकिन चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के शिलालेख ग्रंथस्थ प्रमाणों के पीछे कोई न कोई परम्परा अवश्य होनी चाहिए। इस विषय में विशेष शोधकार्य की आवश्यकता है। जैनों की दृष्टि से इस प्रदेश में खोज के विषय में मिस्टर वि० स्मिथ कहते हैं कि, 'शोध-कार्य का क्षेत्र बहुत विशाल है।'

"आजकल जैन धर्म मानने वाले विशेष कर राजपूताना व पश्चिमी भारत में मिलते हैं। लेकिन हमेशा ऐसा नहीं था। प्राचीन समय में भगवान महावीर का धर्म आजकल की अपेक्षा अधिक फैला हुआ था। और यह भी निश्चय है कि खोज करने पर जैन स्तूपों (मन्दिरों) के मिलने की विशेष संभावना अन्य स्थानों की अपेक्षा राजपूताना में अधिक है।

"आजतक संवत् दसवीं शताब्दी तक के जो मन्दिर विद्यमान हैं, उनका उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं।

"मुंडस्थल—यहाँ पर भगवान महावीर छद्मस्थ अवस्था में सैंतीसवें वर्ष में विचरे और कौसग्गध्यान में रहे और पूरण राजा ने मन्दिर बनवा कर पार्श्वनाथ परंपरा के श्री केशी गणधर से प्रतिष्ठा कराई, ऐसा लेख संवत् १४२६ में जीर्णोद्धार के समय उत्कीर्ण किया हुआ मिला है। भगवान महावीर के मुंडस्थल में कौसग्गध्यान में रहने की घटना की पुष्टि आचार्य महेन्द्रसूरी ने 'तीर्थ माला अष्टोतरी' में की है। इसके उपरान्त आबू के लूणवसीही की व्यवस्था के संवत् १२८७ लेख में मुंडस्थल को महातीर्थ होना लिखा है। 'उपदेश तरंगिणी' में ऐसा उल्लेख मिलता है

कि--विमलशाह ने मुंडस्थलीय प्रमुख तीन सौ साठ गाँवों के प्राग-वाटों को समृद्ध शाली बनाया था।

अर्बुदाचल--अर्बुदाचल जैनों के महान् पंच तीर्थों में से एक है। यहाँ पर संसार में पाषाण-कला की अदभुत कारीगरी के नमूने प्राप्य हैं। महामात्य विमलशाह ने संवत् १०८८ में विमलवसही बनाया। इसके पहले यहाँ पर जैन मन्दिर थे, इसका प्रमाण आदीश्वर भगवान की विशाल श्याम प्रतिमा है जो कि मन्दिर की नींव खोदते समय प्राप्त हुई थी। अभी हाल ही में विमलवसही के जीर्णोद्धार के समय प्राचीन अवशेष और मिले हैं।

कुंभारियाजी--यह स्थान भी आबूरोड स्टेशन से १४ मील पर है। परिवहन की अच्छी व्यवस्था है। यहाँ पर पांच कलात्मक जैन मन्दिर हैं। इनकी कला आबू के जैन मन्दिरों से मिलती-जुलती है। इनकी भी दसवीं शती से पहले के तीर्थ होने की प्रसिद्धि है।

चंद्रावती--किसी समय में यह एक महानगरी थी, जिसका विस्तार लगभग १५ मील तक था। सौ जैन मन्दिर थे। ये सब अब खंडहर अवस्था में हैं।

कासीदंरा--यह वड़ा प्राचीन स्थल है। आबूरोड से १० मील उत्तर की ओर आबूरोड से सिरोही जानेवाली सड़क पर स्थित है। यहाँ पर काशी विश्वेश्वर तथा असूसेश्वर महादेव के बहुत प्राचीन मन्दिर हैं और जैन मन्दिर भी हैं, जिनमें से एक की देहरी पर वि० सं० १०९१ का शिलालेख है। इससे उसके दसवीं शताब्दी से पहले के होने का प्रमाण मिलता है। 'कासींद्रगच्छ' की उत्पत्ति यहाँ से ही हुई है।

वसंतगढ़--यह भी एक प्राचीन स्थान माना जाता है। यहाँ से वि० सं० ६८२ का शिलालेख कुछ वर्ष पहले प्राप्त हुआ था जिससे राजा वरमलोत (श्रीमाल के राजा) और महाकवि माघ का समय सिद्ध होता है। यहाँ पर सूर्य तथा ब्रह्माजी के मन्दिर हैं और अनेक खंडहर स्थित हैं। यहाँ के एक जैन मन्दिर से कुछ वर्ष पहले वि० सं० ७४४ से लगाकर वि० सं० १००० तक की सर्वधात की प्रतिमाएँ निकली थीं, जो पिंडवाड़ा के जैन मन्दिर में इस समय रक्खी हुई हैं। (कहा जाता है, इन्हीं में से दो सौ सर्वधात की प्रतिमाएँ, ब्रिटिश म्यूजियम में पड़ी हुई हैं।) इस मन्दिर में संवत् ८०० का प्राचीन लिपि में एक शिलालेख भी है, जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। आज यह पूर्ण खंडहर अवस्था में है। यहाँ पर एक प्राचीन किला व एक तालाव तथा एक वावड़ी 'लहान वाण' है, जिस पर एक शिलालेख वि० सं० १०९९ का है।

झोडोली--सिरोही रोड से सिरोही जाने वाली सड़क पर सिरोही रोड से दो मील की दूरी पर स्थित है। इस मन्दिर के बाहर एक कलात्मक तोरण, स्तम्भ आदि हैं, जो चन्द्रावती से लाकर लगाये हुए मालूम होते हैं। परन्तु मन्दिर बहुत प्राचीन मालूम होता है। मूलनायक श्री शान्ति नाथ भगवान हैं।

वामनवाड़ जी--सिरोही रोड से सिरोही जानेवाली सड़क पर सिरोही रोड़ से पाँच मील की दूरी पर स्थित है। कहा जाता है कि भगवान महावीर के कान में कीलें लगाने का उपसर्ग यहीं हुआ था।

नाँदिया--यह वामनवाड़जी से लगभग चार मील दूर है। यहाँ पर एक बावन जिनालय मंदिर है। भगवान महावीर को चंड कौशिक ने यहाँ पर डसा था, ऐसी किंवदंती है और मंदिर के पास ही पहाड़ी की तलेटी में एक छत्री बनी हुई है, जिसमें भगवान की चरण पादुकाएँ तथा साँप के डसने का दृश्य दिखाया गया है और प्राचीन लिपि में कुछ लिखा हुआ है। इस मन्दिर की प्रतिमा बड़ी मनोहर है तथा एक ही पाषाण में उत्कीर्ण है।

लोटाण--नाँदिया से लगभग चार मील की दूरी पर है। एक प्राचीन मंदिर है जहाँ ऋषभदेव भगवान मूल नायक हैं। प्रतिमाएँ बड़ी सुन्दर व रमणीय हैं।

दियाणा--सरुपगंज रेल्वे स्टेशन से लगभग १० मील की दूरी पर है। मूलनायक भगवान महावीर स्वामी हैं। इस मंदिर को जीवत्स्वामी का मंदिर होना माना जाता है। यह एक बावन जिनालय मंदिर है। यहाँ अनेकों जैन-मंदिरों के खंडहर हैं। यहाँ पर वि. सं. ९०२ का एक शिलालेख मिला है और एक परिकर की गादी (pedestal), जिस पर संवत् १०२४ का शिलालेख है, जिसे परमार राजा कृष्णराज का समय निश्चित होता है।

नाणा--नाणा (NANA) रेल्वे स्टेशन से करीब दो मील पर नाणा गाँव स्थित है। यह मंदिर भी जीवत स्वामी का बनाया हुआ माना जाता है। 'नाणावलगच्छ' की उत्पत्ति मानी जाती है।

बीजापुर (हटुंडी)--जवाई बाँध रेल्वे स्टेशन से लगभग नौ मील पर, बीजापुर से एक मील दूर जंगल में बड़ा विशाल जैन मंदिर है। यह 'राता महावीर' के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान महावीर की बड़ी विशाल प्रतिमा है, जो लाल रंग की है। यहाँ पर सम्वत् ९९६ का एक शिलालेख मिला है, जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। यहाँ से 'हतुडीयागच्छ' की तथा 'हटुडीया राठौड़ गौत्र' की उत्पत्ति हुई है।

नाडोल--(नारलाई) यह प. रे. के राणी स्टेशन से लगभग ८ मील की दूरी पर पूर्वोत्तर दिशा में स्थित है। शिलालेखों में इसके नाम 'नन्दपोल', 'नड्डूल', 'नडूल', 'नर्दूल', 'नर्दूलपुर' और 'नाडोल' आदि मिलते हैं। एक समय में यह चौहानों के राज्य की राजधानी थी। उस समय इसकी शोभा व समृद्धि अपूर्व थी। किसी समय यहाँ जैनों की बस्ती अधिक होगी। यहाँ पर श्री पद्मप्रभु जिनेश्वर का बहुत विशाल मंदिर है। इसमें भगवान् श्री पद्मप्रभु की चालीस इंच ऊँची सुन्दर प्रतिमा विराजमान है।

नाडलाई—यह नाडोल से ३ मील दूर और राणी रेल्वे स्टेशन से १४ मील की दूरी पर है। गाँव के बाहर श्री आदिनाथ, अजितनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वासुपूज्य, गोड़ी पार्श्वनाथ और सुपारसनाथ के मंदिर हैं। गाँव के पूर्व की तरफ टेकरी पर शत्रुंजय अवतार तथा रेवताचल अवतार (गिरनार) के स्थापना तीर्थ हैं। संवत् ६६४ के शिलालेख से प्रथम आदिनाथ का मंदिर, यशोभद्रसूरि मंत्रशक्ति से लाया था, ऐसा उल्लेख है। यह श्री विजय सेन सूरि का जन्मस्थान है।

कोरटा—यह गाँव एरनपुरा (जवाई बाँध) रेल्वे स्टेशन से लगभग १२ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ से 'कोरंटगच्छ' की उत्पत्ति होना माना जाता है। यहाँ पर इस समय चार मंदिर हैं। श्रीरत्नप्रभु सूरि ने यहाँ के मंदिर की वीर निर्वाण संवत् ७० में प्रतिष्ठा की थी, ऐसा माना जाता है। और श्री वृद्धदेव सूरि ने भी वीर निर्वाण संवत् ५६५ में मंत्री नहाड़ के बनाये हुए मंदिर में प्रतिष्ठा की थी। संवत् १०८१ के लगभग कविवनपाल रचित 'सत्यपुरीय महावीर उत्साहस्तोत्र' में इस गाँव का उल्लेख है, अभी कुछ समय पहले यहाँ से लगभग पौन मील पर 'नहुला' नामक स्थान में, जहाँ पर एक विशाल जैन मंदिर है और बावड़ी है, 'नहाडवसई' के मंदिर में कई कलामय सुन्दर पाषाण के तोरण प्राप्त हुए हैं। आसपास में अनेक खंडहर हैं, जिससे इसकी समृद्धि का अनुमान होता है। यहाँ पर पहले बड़ा भारी किला था, जो सोलंकियों का गढ़ था।

मंडोर—जोधपुर से लगभग ५ मील की दूरी पर स्थित है। इसको प्राचीन लेखों में 'मांडव्यपुर' या मंडोर कहा गया है। यहाँ पर मंत्री नाहाड़राय ने मंदिर बनवाया था। उस समय परिहार राजा ने सम्वत् ६१८ में एक मंदिर बनवाया था। अभी यहाँ पर चार मंदिर हैं और प्राचीन किला है। किसी समय में यह परिहार वंश की राजधानी थी।

गांगाणी—यह स्थान जोधपुर से लगभग ३० मील पर है। यहाँ पर तालाब के पास ऊँची टेकरी पर एक शानदार मंदिर है। यहाँ पर अनेक जैन मंदिरों के खंडहर हैं। श्री आदिनाथ भगवान की एक धातु प्रतिमा पर संवत् ७३७ का शिलालेख मिला है, जिससे इस नगर की प्राचीनता प्रमाणित होती है।

ओसिया—जोधपुर से लगभग ३३ मील पर स्थित है। यहाँ पर एक महावीर स्वामी का बड़ा विशाल, कलामय मंदिर है जिसकी प्रतिमा वीर निर्वाण संवत् ७० में आचार्य रत्न प्रभु सूरि के हाथों होनी बताई जाती है।

नागोर—यह जोधपुर से बीकानेर जानेवाली रेल्वे लाईन पर स्थित है। यह एक अच्छा रेल्वे स्टेशन है। स्टेशन से लगभग १ मील पर गाँव स्थित है। यहाँ से 'नागपुरीयगच्छ' की उत्पत्ति मानी जाती है। विक्रम की नवमी शताब्दी में 'कणहमुनि' के शिष्य श्री जय सिंह सूरिकृत 'धर्मोपदेश माला विवरण' में यहाँ पर अनेक जैन चैत्य होने का उल्लेख है। कुमारपाल चरित महाकाव्य की प्रशस्ति में संवत् ६१७ में श्री महावीर जैन चैत्य का निर्माण नारायण सेठ ने कराया था और श्री 'कण्ठ मुनि' ने प्रतिष्ठा की थी, ऐसा उल्लेख आता है। यहाँ पर लगभग सात मंदिर हैं। 'नागौरी गौत्र' का उत्पत्ति-स्थान माना जाता है।

आहड़पुर—वर्तमान उदयपुर स्टेशन से लगभग २ मील की दूरी पर है। यहाँ पर चार मंदिर हैं। आचार्य जगचन्द्र सुरि को उत्तपा विरुद यहीं मिला था। यह बहुत प्राचीन नगरी है। ३००० वर्ष पूर्व के अवशेष हाल की खुदाई में मिले हैं।

करहेड़ा—उदयपुर चित्तौड़ लाइन पर, उदयपुर से लगभग ५४ मील दूर करहेड़ा स्टेशन है। स्टेशन से थोड़ी दूरी पर बड़ा विशाल करहेड़ा पार्श्वनाथ का मंदिर है। यह बहुत प्राचीन गिना जाता है। संवत् १०२६ में मूलनायक के दायीं बाजू की पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर श्री यशोदेव सूरि ने प्रतिष्ठा कराई, ऐसा उल्लेख है। इस मंदिर में पार्श्वनाथ भगवान के जन्म कल्याणक पोष वद १० के दिन मूलनायक जी के श्रीमुख पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है!

चित्तौड़गढ़—अजमेर से लगभग ११७ मील की दूरी पर स्थित है। यह उदयपुर चित्तौड़ लाईन पर जंकशन है। स्टेशन से लगभग २ मील की दूरी पर गाँव है। यहाँ प्रसिद्ध व प्राचीन किला है। आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र सूरि आदि अनेक प्रभावशाली आचार्यों के साथ यह स्थान संबंधित है। किले में किसी काल में अनेक मंदिर थे। लेकिन अभी ८ मंदिर हैं। 'जीजा' नाम के जैनधर्मी श्रीमंत द्वारा निर्मित श्री आदिनाथ प्रभु की याद में एक ८० फीट ऊँचा स्तम्भ कीर्ति-स्तम्भ के नाम से प्रसिद्ध है।

जालोर—समदरड़ी से राणीवाड़ा जानेवाली रेल्वे लाईन पर यह एक स्टेशन है। जैन शास्त्रों में यह स्वर्णगिरी के नाम से प्रसिद्ध है। इस गाँव के जालोर, जबालीपुर आदि नाम प्रचलित हैं। यह स्थान 'रेगिस्तान' में 'नखलिस्थान' के समान है! किसी समय में यह बड़ा भारी समृद्धिशाली नगर था। चौहान परमार व मुसलमान शासकों की यह राजधानी रहा है। कुवलयमाला की रचना यहीं हुई थी (विक्रम् संवत् ८३५ में)। इस समय यहाँ पर किले में चार मंदिर हैं और गाँव में १२ मंदिर हैं। शहर के बाहर बड़ा विशाल मंदिर है, जहाँ नन्दीश्वर द्वीप की रचना है।

भीनमाल—यह एक बहुत प्राचीन स्थान है। इसके कई प्राचीन नाम, श्री श्रीमाल, पुष्पमाल आदि मिलते हैं। श्रीमाली, प्राग्वाट आदि जाति का उत्पत्ति-स्थान माना जाता है। यहाँ पर दूर-दूर तक अनेक खंडहर हैं। अभी कुछ समय पहले खुदाई में ३००० वर्ष प्राचीन अवशेष मिले हैं। यहाँ पर इस समय चार मंदिर विद्यमान हैं। श्री महावीर भगवान के मंदिर में संवत् १३३३ का एक शिलालेख है, जिसमें चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के इस भूमि में विचरने का उल्लेख है। श्री श्रीमाल, श्रीमाल, प्राग्वाट आदि अनेक शाखाओं और गच्छों का उत्पत्ति-स्थान है।

सांचोर—समदरड़ी, राणीवाड़ा रेल्वे लाईन पर राणीवाड़ा स्टेशन से सांचोर लगभग ३० मील दूर है। इस समय यहाँ पर चार मंदिर हैं। विक्रम संवत् १३० में नहाड़ राजा ने एक बड़ा विशाल मंदिर बनवाया था, ऐसा कहा जाता है। जैन शास्त्र में अनेक जगह इसका उल्लेख आता है। कविवर धनपाल, राजा भोज से खिन्न होकर यहाँ आकर रहे थे और 'सत्यपुरीय मंडन महावीरोत्साह' नामक स्तोत्र की रचना यहीं की थी। जगचिंतामणी के चैत्यवंदन में इसका उल्लेख आता है।

वरमाण—आबूरोड़ से मंडर जानेवाली सड़क पर, आबूरोड़ से लगभग २५ मील की दूरी पर है। यहाँ पर सूर्य भगवान का सातवीं शताब्दी का मंदिर है। यह भारत में सूर्य के इनेगिने मंदिरों में से एक है। यहाँ पर अनेक खंडहर हैं। 'ब्रुमाणगच्छ' की उत्पत्ति यहीं से मानी जाती है। जिन प्रवह सूरि रचित 'विविध तीर्थ कल्प' में भगवान महावीर के चौरासी तीर्थ में इसका उल्लेख है। एक विशाल जैन मंदिर है, जिसमें भगवान महावीर की लगभग ३ फीट ऊँची प्रतिमा है।

जीरावल—वरमाण से लगभग ७ मील की दूरी पर है। यहाँ पर जीरावला पार्श्वनाथ का मंदिर है, जो जैनों में बड़ा चमत्कारिक तीर्थ माना जाता है। मंदिर बहुत प्राचीन माना जाता है (दसवीं शताब्दी)। 'जीरावलगच्छ' की उत्पत्ति भी यहीं से मानी जाती है। अनेक शिलालेख इसकी प्राचीनता के प्रमाण हैं।

मीरपुर—सिरोही से लगभग १० मील सिरोही-अनादरा रोड पर स्थित है। यहाँ पर इस वक्त चार मंदिर हैं, जिनमें श्री पार्श्वनाथ भगवान का पहाड़ की तलहटी में बड़ा विशाल मंदिर है। इसका प्राचीन नाम हम्मीरगढ़ मिलता है। मंदिर में बड़ी उत्तम कारीगरी है। गजथड़ के ऊपर के थड़ में तीर्थंकरों के जीवन की झांकियाँ उत्कीर्ण हैं। स्थान दर्शनीय है।

नाकोड़ा—उत्तर रेल्वे के बालोतरा स्टेशन से ७ मील की दूरी पर नाकोड़ा तीर्थ स्थित है। यहाँ एक बड़ी विशाल धर्मशाला और तीन मंदिर हैं। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ भगवान हैं। इस मंदिर में यहाँ के अधिष्टायक देव भैरव बड़े चमत्कारिक माने जाते हैं। इस गाँव का प्राचीन नाम वीरमपुर मिलता है, संवत् ९०९ की मिली हुई एक नोंध में यहाँ पर २७०० घर जैनों के होने का उल्लेख मिलता है। पूर्व में मूलनायक श्री चंद्रप्रभु स्वामी थे, महावीर स्वामी व तत्पश्चात् पार्श्वनाथ भगवान की स्थापना जीर्णोद्धार के समय हुई।

सांडेराव—यह गाँव प. रे. के फालना स्टेशन से लगभग ७ मील की दूरी पर आबुरोड-दिल्ली पर स्थित है। यहाँ से दसवीं शताब्दी में 'संडेरकगच्छ' की उत्पत्ति मानी जाती है। इस समय यहाँ पर दो मंदिर हैं। श्री शांतिनाथ भगवान का मंदिर राजा गंधर्वसेन के समय में बनाया हुआ माना जाता है। यह गंधर्वसेन कौन था और कब हुआ, इसका प्रमाण अभी कोई उपलब्ध नहीं है।"

आभार-प्रदर्शन

[१७]

रस-घन मूर्तियों का चित्र लेना और उनका सांगोपांग इतिहास बटोरना, इस ग्रंथ की दो मुख्य योजनायें थीं। परम्परागत शैली यही थी कि केवल मंदिरों का बाहरी चित्र देकर काम चला लिया जाता था। हमने इस ग्रंथ में उस परम्परा से संबंध -विच्छेद कर लिया है। कुछ प्रधान मंदिरों के साथ अधिकांश में मूर्तियों का ही चित्रीकरण किया गया है। इस ग्रंथ में उत्तमोत्तम मूर्तियों का दर्शन पाठकों को प्राप्त होगा। इनमें से जो मध्ययुग के बाद की हैं, वे मूर्तियाँ अधिकांश में जयपुर की बनी हुई हैं। लेकिन उस समय इतिहास मर्यादाओं के अनुपम सौंदर्य से भर जाता है जब हम अन्य कतिपय मूर्तियों को मथुरा, अमरीका और देशके अन्य भूभागों से बन कर आयी हुई पाते हैं। राजस्थान के स्थानीय कारीगरों का हस्तकौशल भी कमाल का है। पर अपरिचित यात्री का दुर्भाग्य है यह कि पुजारीगण उस का स्वागत नहीं करते, उसे चित्र लेने से रोक देते हैं। ऐसी स्थिति में यह ग्रंथ अपने वर्तमान रूप में कभी तैयार हो पाता, यह संदेह है। राजस्थान में मार्ग और यातायात के साधन भी कम दुखदायी नहीं हैं, उन मार्गों पर प्रायः अद्वितीय सौभाग्य जैसे हमारा स्वागत करने तैयार बैठा रहता था; उत्तम जनों, नागरिकों और इतिहास-प्रेमियों ने हमें अपने स्नेह पर आरुढ़ कराकर, हमारे सभी क्लिष्ट कार्यक्रमों को सरल बनाने में अथक परिश्रम किया, कठोर कष्ट उठाने में भी उन्हें संकोच न हुआ। इस ग्रंथ के प्रकाशन का सुख जब सार्थक हो रहा है, हम विनीत भाव से, हमारे दीर्घ प्रवास में प्राप्त होनेवाले समस्त सहयोगियों के प्रति आभार-प्रदर्शन करते हैं। यात्रा-क्रम से यह सूची इस प्रकार है—

जयपुर

राजस्थान सरकार के जनसम्पर्क कार्यालय के डायरेक्टर श्री राजेन्द्रशंकर भट्ट ने कृपापूर्वक राजस्थान भर में नियुक्त जनसम्पर्क अधिकारियों को आग्रह भरी अग्रिम सूचना दी कि हमारे कार्य में अत्यधिक सहयोग प्रदान करें। साथ ही, आप ने देवस्थान विभ के कमिश्नर श्री नंदलाल जी माथुर से भी आग्रह किया कि वे अ विभाग द्वारा हमारे काम को सुगम बनायें। श्री भट्ट जी ने

अप्रत्याशित अपूर्व स्नेह-सौजन्य के कारण इस ग्रंथ का संग्रह-कार्य पूर्ण हुआ है। राजस्थान सरकार के पुरातत्व विभागीय डायरेक्टर डा० सत्यप्रकाश जी ने भी इस प्रकार इतिहास-चयन में सहयोग देने के लिए राजस्थान के मुख्य नगरों में स्थापित संग्रहालय-अध्यक्षों के नाम पत्र दिया कि वे इस कार्य में आवश्यक सहायता प्रदान करें। उनके एक औपचारिक पत्र के कारण हमें दुर्लभ सूचनाओं की प्राप्ति में भी अधिक विलंब न हुआ। श्री सत्यप्रकाश जी राजस्थान इतिहास के प्रकांड विद्वान हैं। उनके इस उदात्त परिचय से हम मुग्ध रह गये हैं। जयपुर के जनसम्पर्क अधिकारी श्री अमरसिंह जी मेहता ने हमें पद्मपुर और बैराठ की यात्रा में सहृदय मित्र के रूप में संग प्रदान किया। जयपुर-स्थित देवस्थान विभाग के असिस्टेंट कमिश्नर श्री प्रेमसिंह जी राजराजा, मैनेजर श्री कन्हैयालाल जी दीक्षित, और इंस्पेक्टर श्री बद्रीप्रसाद जी तिवाड़ी ने जयपुर नगर के मंदिरों का चित्रीकरण करने में वांछित सूचनाओं के साथ उल्लेखनीय साहचर्य दिया। जयपुर उद्योग प्रतिष्ठान के प्रतिनिधि श्री श्रीचन्द्र जी मेहता, जयपुर में श्रेष्ठ मित्र सिद्ध हुए। इस ग्रंथ के वे भी संयोजक - सदस्य के रूप में हमारे प्रवास के संरक्षक बन कर रहे। जनसंपर्क-कार्यालय के महत्वपूर्ण जन के रूप में, स्टेट फोटोग्राफर श्री केसरीमल जी व्यास ने चित्रीकरण-विषयक हमारे मार्ग को प्रशस्त करने में सूचनायें दीं, बहुमूल्य सहाय्य प्रदान किया। श्री भट्टजी के आदेश पर उन्होंने हमें अपने कार्यालय से दुर्लभ चित्र-सामग्री भी प्रदान की। जयपुर में प्रवास का आतिथ्य श्री विश्वंभर दयाल जी शर्मा के निवास पर मुक्त भाव से प्राप्त हुआ। हमारे ९-१० मन सामान को इधर-उधर भेजने और बारबार पार्सल कराने में उनका परिश्रम हमें उनके प्रति विनीत बना चुका है। जयपुर में एन. सी. सी. के ओ. सी मेजर श्रीजगन्नाथ प्रसाद जी गौड़ और गलताजी की गद्दी के महन्त श्री दामोदराचार्य जी ने अपने संक्षिप्त भेंट-अवसर पर स्नेही बंधु के रूप में हमें ग्रहण किया, यह बड़ी बात थी।

शेखावाटी

इस विशाल प्रदेश के प्रवास में फतहपुर शेखावाटी में हमें श्री लालचन्द्र जी शर्मा का दीर्घ आतिथ्य प्राप्त हुआ—वे फतहपुर के पुराने यशस्वी राष्ट्रकर्मी हैं। नवलगढ़ में मोरों की कोठी पर ठहरने का आग्रह कलकत्ता से ही बंधु-द्वय श्री चंडी प्रसाद जी मोर एवं श्री विश्वनाथ जी मोर ने दिया था। वहाँ पहुँचने पर हमें भूतपूर्व एम. एल. ए. श्रीरामजी वासोतिया का अपूर्व भ्रातृत्व दीर्घ स्मृति के रूप में प्राप्त हुआ। सकराय की यात्रा आपने कराई। [illegible]लोद में गोयनका-निवास पर ठहरने की सुविधा के लिए हम [illegible]कत्ता-स्थित और बद्रीदास जी गोयनका के कृतज्ञ हैं। डूँडलोद में [illegible]यनकाओं के मुनीम जी ने हमें जीणमाता की यात्रा कराई। यहाँ [illegible]जस्थान के अग्रज साहित्यकार श्री लाल जी मिश्र, प्रधाना-[illegible] व्यापक गोयनका हाईस्कूल, ने हमारे विषय की उपयोगी सूचनाओं से हमें अवगत कराया। मुकुन्दगढ़ में गवर्नमेंट कालेज के प्रिन्सिपल श्री फूलचन्द जी सेहल का स्नेह-भाव हमारी यात्रा में एक स्थायी संस्मरण बन गया। चूरू में कलकत्ता के लोकप्रिय जनसेवी श्री हंसराज जी सुराणा ने चूरू से ४० मील दूर भालेरी गाँव अपनी ही कार में भेजने की सहृदयता प्रदान की। तथा श्री गोविन्द जी अग्रवाल एवं उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री सुबोध जी अग्रवाल ने बिसाऊ आदि की यात्रा में हमारा पथ-प्रदर्शन किया। सीकर में श्री रंगलाल जी भड़ैच ने प्रेमपूर्वक हमें अपना अतिथि एक मास तक बना कर रखा। इस सहयोग से सीकर को केन्द्र बनाकर हम खंडेला, लोसल आदि स्थान देखने में समर्थ हुए।

चित्तौड़

हिन्दी के यशस्वी पत्रकार-प्रवर पं० झाबरमल जी शर्मा के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोकुल प्रसाद जी शर्मा यहाँ पर एस. डी. ओ. हैं। आपने बूंदी तक सकुशल पहुँचाने का प्रबंध स्वयंमेव अपने हाथ में लेकर हमें आत्मीय भुजबन्धन में ग्रस्त कर लिया है। ट्रांसपोर्ट अधिकारी श्रीअनूपसिंह जी के हम ऋणी हैं कि मेनाल तक की यात्रा में वे हमारी सुख-सुविधा और भोजन के संरक्षक बन कर रहे। जनसम्पर्क अधिकारी श्री मन्नीलाल जी शुक्ल, कार्यालय के बाबू जी श्री नटवर लाल जी, जिला परिषद के सचिव श्री सत्यवीर सिंह जी त्यागी, आर्यसमाज गुरुकुल के उपाचार्य श्री भीमसेन जी चित्तौड़, गढ़ के फोर्ट-कीपर श्री खटियानी जी और राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के प्रधान अध्यापक श्री बी. पी. जोशी के हम ऋणी हैं कि इन सब सज्जनों ने चित्तौड़-प्रवास की मनोवांछित सुविधायें जुटाने में कोई संकोच न किया।

प्रतापगढ़

यहाँ के तीन दिवसीय प्रवास में श्री शंभूदत्त जी जोशी ने हमें अतिथि से अधिक कनिष्ठ भ्राता के रूप में ग्रहण किया, यह बात हमें विभोर करती है। पंचायत समिति के अध्यक्ष श्री चुन्नीलाल जी प्रभाकर ऐसे उच्च कोटि के साहित्य-मर्मज्ञ हैं कि उस एकांत नगर में उनके दर्शन से हम कृतकृत् हो गये। उनका भ्रातृत्व जीवन की मूल्यवान निधि है। इस प्रवास में यहाँ के लोकख्यात् कथाकार श्री परदेशी जी से प्रगाढ़ स्नेहभाव स्थापित हुआ है। आपने हमारे कार्य में बढ़चढ़ कर अपना समय दिया है। देवगढ़, बसाड़, गोतमेश्वर और सीतामाता का प्रवास श्री चुन्नीलाल जी के व्ययसाध्य संरक्षण में संपन्न हुआ।

बूंदी, कोटा एवं झालावाड़

बूंदी के देवस्थान विभागीय निरीक्षक श्री नंदलाल जी व्यास तथा उनके सहकारी श्री सौभाग्यमल जी और कोटा में देवस्थान विभागीय निरीक्षक श्री सुरेन्द्रनारायण जी सक्सेना एवं झालावाड़ में देवस्थान

विभागीय मैनेजर श्री जीवराज जी हाड़ा के सक्रिय सद्भाव के कारण मंदिरों से बहुमूल्य चित्रों का सुयोग प्राप्त हुआ। कोटा संग्रहालय के अध्यक्ष श्री मदनमोहन जी तथा झालावाड़ के संग्रहालय के अध्यक्ष श्री गोवर्द्धनलाल व्यास जी ने आंचलिक सूचनाओं से हमारा भंडार भरने में भरपूर रुचि ली। झालावाड़ के पुलिस सुपरिटेंडेंट श्री डी. पी. एन, सिंह जैसे मधुर स्वभाव एवं सांस्कृतिक रुचि के व्यक्ति से मिल कर हृदय पुलकित हो गया।

उदयपुर, बांसवाड़ा और डूंगरपुर

अपने सम्पूर्ण प्रवास में केवल महाराणा उदयपुर श्री भवानी सिंह जी ऐसे हिन्दू-कुल-सूर्य नाम को सार्थक करनेवाले दर्शनीय महानुभाव मिले, जिन्होंने इस ग्रंथ के लिए इतिहास-दुर्लभ चित्रों को लेने की स्वीकृति प्रदान की एवं हमारे प्रवास को अपनी शुभ कामनाओं से महामहिम बनाया। राजवंश की वंदनीय विभूति श्री शिवदान सिंह जी शिवरति जी महाराज ने भगवान एकलिंग जी, मीराके श्रीगिरवरनागर जी, उदयपुर महाराणाओं के निजी ठाकुरजी आदि के चित्र लेने के लिए हमें अपने आशीर्वाद से इतना सबल बनाया कि यह ग्रंथ सचमुच अभीप्ट पा गया! आप के साथ हम देलवाड़ा भी गये। नवजीवन साप्ताहिक के संचालक श्रीकनक मधुकर ज्येष्ठ भ्राता हैं और अपनी तप-साधना में ऋषि तुल्य हैं। आपने हमें अपने आतिथ्य से इतना अधिक संरक्षण दिया कि इस बीहड़ प्रदेश का प्रवास हमारे लिए आनंदप्रद रहा। देवस्थान विभाग के कमिश्नर श्री नंदलाल जी माथुर ने अपने हृदय की विशालता का स्मरणीय परिचय दिया। आपके औपचारिक आग्रह के कारण ही इस ग्रंथ के ५० प्रतिशत चित्र लिये जाने संभव हो पाये। स्थल-महन्त श्री मुरलीमनोहर शरण, महिला-मंडल के प्राण श्री दयाशंकर जी श्रोत्रीय, लोक-प्रिय वैद्यराज श्री भवानी शंकर जी, उदयपुर संग्रहालय के अध्यक्ष श्री रत्नचन्द्र जी अग्रवाल, उदयपुर के जनसम्पर्क अधिकारी श्री रतनचन्द्र जी मिश्र, राजस्थान विद्यापीठ के प्रतिष्ठापक श्री जनार्दन राय नागर, बांसवाड़ा के लालीवावा के महन्त जी, बांसवाड़ा में जनसम्पर्क-कार्यालय के श्री सुन्दरलाल जी श्रीमाली, बांसवाड़ा कालेज के प्रिंसिपल श्री आर. के कौशिक, तथा वाइस-प्रिंसिपल श्री भंवरलाल जी शर्मा, तलवाड़ा के ब्लाक-डिपार्टमेंट अधिकारी श्री जी. डी. भारद्वाज, डूंगरपुर में जनसम्पर्क अधिकारी श्री कमलाकर जी वर्मा तथा राजकीय माध्यमिक विद्यालय के प्रधान अध्यापक श्री महेशचन्द्र जी ने अनेक रूपों में अपने वरद्हस्त हमें प्रदान किये। ये सब श्री-युक्त सज्जन अपने अंचलों में ऐसे सुधिजन हैं, जिन से साक्षात्कार करना मानो अपने सौभाग्य को द्विगुणित करना है। कमलाकरजी के साथ हमने सोन वा माही के संगम का चित्रीकरण संभव किया। मार्ग में डूंगरपुर की पुरानी राजधानी बड़ोदा देखी। ऋषभदेव में पं० कारूलाल जी अर्थवी महाशय तथा देवस्थान विभागीय व्यवस्थापक श्री भंवरलाल जी झंवर ने केशरिया जी भगवान की सेवा में प्रवृत्त होने की जो सुविधाएँ संयोजित कीं, उनकी प्रशंसा यहाँ पर करना उनका गौरव कम करना है। ये दोनों महानुभाव परम संत हैं और इनके सत्संग से हम लाभान्वित हुए हैं। चावन्ड की यात्रा में ग्राम विद्यालय के प्रधान अध्यापक एवं वैद्यराज जी और झाड़ोल की यात्रा में राजस्थान विद्यापीठ के श्री भूरामल जी शर्मा ने हमें अपने सरस संग-सहवास मे मोह लिया।

सिरोही, आबू, जोधपुर, ओशिया, जैसलमेर और नागौर

राजस्थान के इस विशाल प्रदेश में यात्रा के लिए अग्रसर होने के लिए प्रायः सभी नवपरिचित मित्रों ने हमें रोका, लेकिन कार्य निश्चित तिथि तक पूरा करना था, इसलिए हम जब इस दिशा बढ़ ही गये, तो सब से पहले सिरोही में अपने क्षेत्र के परम वंदनीय यति श्री अचलमल जी मोदी ने हमें अपने स्नेह-संरक्षण में लिया। आबूमें उनका वरद् प्रभाव हमारे पथ को प्रशस्त करता रहा, साथ ही साथ वहाँ पर श्रीनरेन्द्र सिंह जी यादव (तहसीलदार आबू रोड) अत्युत्तम सूचना-लब्ध मित्र के रूप में मिले। जैनश्वेताम्बर धर्मशाला के व्यवस्थापक श्री प्रेमाजी शर्मा, आबू के ट्रांसपोर्ट मैनेजर श्री मणिभाई और श्री बच्चू भाई ने हाथों-हाथ हमारी यात्रा को आरामप्रद बनाने की व्यवस्था की। [illegible] में गवर्नमेंट कालेज के श्री मूलचन्द जी और श्री राजेन्द्र जी जैसे तरुणों की उत्तमता का लाभ किस रूप में मिला, वह तो अनिवर्चनीय आनन्द है, यहीं पर जनसम्पर्क-कार्यालय के श्री भगवतीलाल जी माथुर ने मानों प्राण-रक्षा कर दी, हमारे डेढ़ हजार रुपये के कैमरे की खराबी की वजह से जहाँ हमें कलकत्ता लौटने पर बाध्य होना पड़ता, उन्होंने तत्काल ही उसे ठीक कर दिया, प्रभु इन तीनों तरुणों को उत्तम यश दे! जोधपुर में देवस्थान वि[illegible] निरीक्षक श्री मूलचन्द जी व्यास एवं उनके सहयोगी श्री गंगा ऊदावत ने तथा प्रोफसर सुश्रीमोहिनी देवी शर्मा ने मेरे जैसे[illegible] को दृष्टि की दीप्ति दी। ओशिया में श्री सम्पतराज जी भंडारी और श्री प्रेमशंकर जी जैन का स्नेह-स्पर्श हमें, कठोर ग्रीष्म के क्षणों में, माधुरी-अवगाहन की अनुभूति दे गया। जैसलमेर में जोधपुर-जैसलमेर के जनसम्पर्क अधिकारी श्री कृष्णकुमार जी द्विवेदी इतिहास के विलक्षण विद्वान मिले, उनका सहवास पूरे सप्ताह भर रहा, अलबेरी व्यक्तित्व के वे दर्शनीय उदाहरण हैं। नागौर में श्री छत्रपति सिंह तरुण साहित्यकार तो हैं ही, प्रचार विभाग के स्थानीय अध्यक्ष हैं। आपका आतिथ्य कितना मधुर है, यह क्या कहा जाए।

बीकानेर में देवस्थान विभाग के मैनेजर श्री भंवरलाल शर्मा ने हमारे प्रवास में साधु सहयोग दिया, वह अभूतपूर्व है।

भरतपुर

यहाँ हम पुराने लक्ष्मण जी के मंदिर में महंत श्री गंगासिंहजी के अतिथि रहे। भरतपुर-संग्रहालय के

श्री शिवशरणलाल जी गुप्त ने प्राचीन मूर्त्तियों के चित्रीकरण में उदार हृदय से सहयोग दिया। दहीवाली गली स्थित श्री केला प्रसाद जी शर्मा ने नगर-परिक्रमा में हमारा पथ प्रशस्त किया। पुराने साहित्य-सेवी श्री रावत चतुर्भुजदास जी चतुर्वेदी की सूचनाएँ हमारे लिए परम उपयोगी रहीं।

अलवर

लालबाबा के महन्त जी महाराज ने हमें डेरे तक की यात्रा मोटर में कराई, इसलिए हम कटलास्थित बूरावाले व गुड़वाले बंधुओं के साथ उनके भी कृतज्ञ हैं।

कलकत्ता

सदैव की भाँति हिन्दी दैनिक 'विश्वमित्र' के संचालक भाई कृष्णचन्द्र जी अग्रवाल ने राजस्थान की व्यापक यात्रा के पूर्व हमें बहुमूल्य सुझाव दिये और राजस्थान में अनेक मित्रों को परिचय-पत्र देकर हमारी यात्रा का कष्ट काफी हलका किया। 'विशाल राजस्थान' के संपादक श्री ऊँकारलाल जी बोहरा तो उदयपुर के ही हैं, फिर भी हम उन्हें अब कलकत्ता का मानते हैं। इस ग्रंथ की योजना में बोहरा जी का स्मरणीय हाथ रहा है।

जिस प्रेस में यह ग्रंथ मुद्रित हुआ है, उसके संचालक भाई श्री नारायणदास जी अग्रवाल को हम किन शब्दों में धन्यवाद दें। इस ग्रंथ में जो भी सुंदर सज्जा दृष्टि-प्रिय हो सकी है, उसका सारा श्रेय उनके मुक्त हृदय सहयोग को ही है।

ग्रंथ के कलेवर की सज्जा में समय-समय पर श्री रामेश्वर जी पाटोदिया ने जो सुझाव दिये हैं, वे हमारे बहुत काम के सिद्ध होते रहे। इस दिशा में आपका उत्साह वर्द्धमान हो, यही हमारी साधु कामना है।

॥ इतिः शुभम् ॥

मुद्रक : श्री नारायणदास अग्रवाल, जनरल प्रिंटिंग वर्क्स
प्रा० लि०, ८३, ओल्ड चीना बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता-१

रंगीन व सादे
चित्रों के मुद्रक : आर० एम० आर्ट प्रेस, बांगड़ बिल्डिंग, कलकत्ता-७

आवरण-मुद्रक : जनवाणी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,
१७८, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता - ३
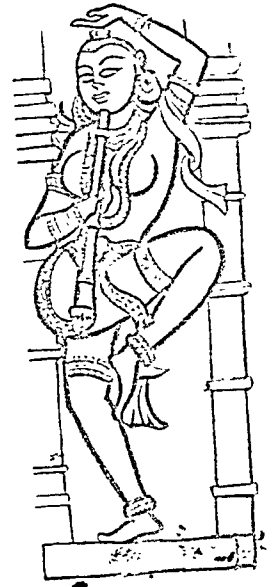
अरथूणा, जैसलमेर, सिरोही, डूँगरपुर, बीकानेर आदि में प्राप्त प्राचीन मंदिरों की प्राणवान-सजीव शृंगार-मूर्त्तियां